बिम्बविधान
और
आधुनिक हिन्दी-कविता

शिवनन्दन प्रसाद

एम०ए०(पटना), डिप०-एड्०(पटना), पी-एच० डी०(भागलपुर)

रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग

भागलपुर विश्वविद्यालय

प्रकाशक

भागलपुर विश्वविद्यालय

भागलपुर-७

BIMBA VIDHAN

SHIVANANDAN PRASAD

BHAGALPUR UNIVERSITY PUBLICATION
BHAGALPUR-7

FIRST EDITION

PRICE Rs 45·00

बिम्बविधान

शिवनन्दन प्रसाद

लेखन—१९६६-६७
संशोधन मुद्रण—१९६८-७४

भागलपुर विश्वविद्यालय प्रकाशन
भागलपुर-७

प्रथम संस्करण

मूल्य रु० ४५·००

भागलपुर
विश्वविद्यालय प्रेस
भागलपुर-७

अपनी बात

'बिम्ब' 'इमेज' का रूपान्तर, अतः पाश्चात्य काव्यालोचना से आयातित अवधारणा है। हिन्दी-काव्यालोचन में छायावादी कवियों के काव्यगत चित्रत्व-सम्बन्धी आख्यानों और शुक्लजी के बिम्बत्व-सम्बन्धी निर्वचनों के फलस्वरूप प्रचलित होकर यह शब्द अब अनेक प्रकार के वैज्ञानिक एवं सौन्दर्य-शास्त्रीय प्रभावों से मंडित हो उठा है। यह बात ठीक है कि स्वयं 'इमेज' की सौन्दर्यिक संकल्पना पर पूर्वीय कला-काव्यादि की अवधारणाओं और उपपत्तियों के प्रभाव अन्तर्भुक्त हैं, फिर भी आधुनिकीकृत 'बिम्ब' विज्ञान और मनोविज्ञान आदि शास्त्रों की धारणाओं के इतने निकट आ गया है कि प्राचीन काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं, यथा—अलंकार, लक्षणा-व्यंजना, अप्रस्तुतविधानादि के गुणधर्मों से वह अधिक प्रशस्त, और काव्य-भावना की दृष्टि से अन्तरंग गुणवत्ता से युक्त समझा जाता है। इस कारण वह नयी संवेदनीयता और नवीन भावबोध का बोधक है; क्योंकि वह मनोदैहिक प्रचुर भावासंगों एवं स्पन्दन-रसन-श्वसन-प्राणन आदि कार्य-व्यापारों का ही अवधारक नहीं है, सकल मनीषा का भी उद्घाटक है। इस अर्थ में 'बिम्ब' काव्य-मात्र के आस्वादन के लिए काव्य का निजी, अन्तरंग तथा मनोविज्ञान-सम्मत घटक और मूल्यांकन के लिए अधिक प्रशस्त अवधारणा है।

यह ग्रन्थ 'बिम्ब' के इस विधान-पक्ष की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के उद्घाटन का प्रयास आधुनिक हिन्दी-कविता के आधार पर (उनके नाम अगले पृष्ठों पर हैं) और उनके परिप्रेक्ष्य में करता है। प्रकारान्तर से इस विधानात्मक अनुशीलन के द्वारा यह भी द्योतित किया गया है कि आधुनिक हिन्दी-कविता इयत्तया इव ईदृक्तया आधुनिक जो कहलाती है, वह इस कारण भी कि वह (लोक) मानस के अधिक निकट आ गयी है, अर्थात् वह 'काव्यबिम्ब' है।

बिम्ब-विधान के अध्ययन की अनेक भूमियाँ और तदनुरूप प्रविधियाँ भी हो सकती हैं, यथा—समाजशास्त्रीय, भाषावैज्ञानिक, अर्थवैज्ञानिक, तात्त्विक, विकासात्मक अथवा ऐतिहासिक, मनोविश्लेषणात्मक आदि। इनके भेद-प्रभेद भी हो सकते हैं तथा प्रत्येक युग या कवि के बिम्ब-विधान का व्यावहारिक आकलन भी इनमें से किसी एक के अथवा सबके सहारे प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार की विश्लेषणात्मकता का संकेत करते हुए यह ग्रंथ समाकलित सैद्धान्तिक विवेचन भर प्रस्तुत करता है।

इस के द्वारा यह जानने का प्रयास किया गया है कि

हो मनःप्राणमय व्यापार नामरूपात्मक जगत् और नामरूप के लीलानैरन्तर्य का प्रकाशन कला-काव्यादि है ?

सिसृक्षा के मूल में कौन-सी वृत्ति है ? वाक्तत्व, मनस्तत्व, प्राणतत्व का वास्तुकला, संगीतकला और नाट्य-काव्य के उद्भव और निर्माण से कैसा सम्बन्ध है, तथा काव्यबिम्ब का वास्तुबिम्ब एवं नादबिम्ब से क्या लगाव है ? बिम्ब-सर्जन होता किस विधि है ? वर्णबिम्ब, बिम्बमूल, आद्यबिम्ब, वागबिम्ब भी परस्पर अन्तरंग हैं क्या ?

काव्यादि के बिम्ब की संरचना में विचारणा और भावना का क्या महत्त्व है ? चिन्तन और भावन हैं कैसी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाएँ ? विचारणा की प्रक्रिया और बिम्ब के उद्भव में एवं भावन और बिम्बन में किस प्रकार का सम्बन्ध है ?

कल्पना किस भाँति और किन रूपों में बिम्बों का कल्पलोक है ? प्रत्यक्षीकरण, स्मरण, सहचार और आसंग से कल्पना का कैसा सम्बन्ध है ? कल्पना के आख्यान की विविध दृष्टियाँ किस प्रकार बिम्ब के स्वरूप में अन्तर लाती हैं ?

शब्द और शब्द-प्रतीतियों तथा अर्थ और अर्थ-प्रतीतियों में नादात्मक, भाषिक आदि बिम्बन-प्रतीकन-प्रक्रियाओं का तात्त्विक रहस्य क्या है ? 'शब्दतत्त्व' के विन्यास की द्वितीय महायुद्ध के बाद की विविध प्रणालियों से काव्यबिम्ब किस प्रकार प्रभावित हुआ है ? और पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय संकल्पनाओं, जैसे मेटाफर, सिम्बल, मिथक आदि से काव्यबिम्ब का कैसा और कितना लगाव है ?

कला-काव्यादि के विविध 'वादों' का 'बिम्ब' पर क्या प्रभाव पड़ा है ? काव्यत्व का स्वरूप क्या 'बिम्बत्व' से अभिन्न है ?

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बिम्ब की परिभाषा क्या है ? इन्द्रियप्रणालिकाओं से बिम्ब का कैसा कितना सम्बन्ध है ? मनोवैज्ञानिक बिम्बों के कितने प्रकार हैं ?

मनोविज्ञान के बिम्ब और काव्यबिम्ब में कैसा संबंध है ? काव्यबिम्ब की परिभाषा, प्रकृति, प्रकार्य, गुण, दोष आदि क्या हैं ? भारतीय काव्यशास्त्रीय अवधारणाओं के संदर्भ में काव्यबिम्ब का प्रासंगिक महत्त्व क्या है ?

काव्यबिम्ब के वर्गीकरण की कितनी आधार-भूमियाँ हो सकती हैं ?

काव्यबिम्ब आत्ममुक्ति है, अथवा बंधन ? आधुनिक हिन्दी-कविता में उसकी जीवंत चेतना का स्वरूप और लक्ष्य क्या बंधन में मुक्ति है ?

और फिर, इस ग्रंथ की शैली ? कहना चाहूँगा कि विज्ञान और दर्शन के क्षितिज पर काव्यबिम्ब के उदय-अस्त के अंकन की विधि में वृत्ति यथाप्रसंग तटस्थ, तन्मय और उभयात्मक रही है। अतः इसकी शैली में तदनुरूप मुद्राएँ-भंगिमाएँ मिलेंगी। और क्योंकि प्रतिपादन प्रत्यभिज्ञानात्मक किया गया है, इससे इसमें आवृत्तियाँ हुई हैं, कहीं-कहीं व्यक्तित्वाभासी तेवर के साथ, जिसे तोड़ने, खोलने की भी कोशिश की गई है। पर अंदाज सर्वांशतः अध्यापकीय ही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। १९६६-६७ में लिखी गई यह किताब १९७४ में प्रकाशित हो

रही है; इस लम्बे काल की छाप, संशोधन-परिमार्जन के बावजूद, इसमें मिलेगी जरूर। उदाहरण आदि नवीन धारा से भी ले लिए गए, पर मूल बातें वे ही हैं।

काव्य, खास कर कविता के प्रति, न जाने क्यों, प्रवृत्ति कुछ वैसी होती है, जैसी आद्यकिशोरी के प्रति। अच्छा लगता है कि वह आद्यकुमारी भी रहे। पर, लगना अलग बात है, और ऐसा हो रहना कि वह वैसी लगती रहे अलग बात। इन दोनों के बीच अनायत्त और एकाधिकारी 'चित्त' जो है। फिर भी, स्वीकार करूँ कि यह अध्ययन काव्य के लिए किसी नवीन सर्वतंत्रसिद्धान्त की स्थापना का प्रयास नही है—कविता के लिए आद्य, अथवा सार्वकालिक पति के वरण का उपक्रम तो यह प्रस्तुत नही ही करता। कविता 'सहज' सह-भावन चाहती, मांगती है, न कि सामंती पति। फिर यह प्रतितन्त्र-सिद्धान्त भी उपस्थित नहीं करता। अधिकरण-सिद्धान्त या कि अभ्युपगम सिद्धान्त का भी बखान यह नही करता। इसमें जो किया गया है, उस सम्बन्ध में ड्राइडेन का कथन ही उद्धृत करना चाहूँगा—

> मैं इसके आगे जाने का अब दुस्साहस नहीं करूँगा, मैंने प्राचीनों और आधुनिकों के कुछ मन्तव्य रख दिए हैं; और साथ ही कुछ अपने विचार भी जिन सबको मैंने 'संभव' या 'संभाव्य' माना है।

क्षमा-प्रार्थी रहूँगा उन विद्वानों-रचनाकारों के प्रति जिनके विचार और भाव प्रमादवश अथवा अनायास विचलित हुए होंगे। त्रुटियाँ और दोष इसमें हैं अवश्य : निवेदन है कि उन्हें सदाशयतापूर्वक लिया जाय। अंतिम पृष्ठों पर निर्दिष्ट छापे की गलतियों को तो सुधार लेंगे ही।

आभारी हूँ उन रचयिताओं, विद्वानों, मित्रों और शिष्यों का जिनके सह-भावन, सम्बोध, सत्प्रेरण और सहयोग से,—कहा जाय, सब के सम-विषम दबाव के कारण यह कार्य सम्पन्न हो सका। और फिर विश्वविद्यालय के अधिकारियों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करूँ कि जिनकी सहृदयता के कारण यह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजना के अन्तर्गत प्रकाशनार्थ स्वीकृत भी हुआ।

श्री अशोक कुमार दास और जानकी जीवन जी ने आणविक लिपि में लिखित 'वस्तु' को मनोयोगपूर्वक टंकित कर सुपाठ्य 'रूप' देने में और प्रेस मैनेजर, श्री अशर्फी मिश्र, प्रूफ-संशोधक श्री श्यामसुन्दर पाण्डेय और कम्पोजिटर श्री योगधर मिश्र ने संशोधन के नानाविध अत्याचार सहते हुए मुद्रण-कार्य सम्पन्न करने में अनुज और भक्त-रूप को चरितार्थ किया है, सो धन्य भाग्य!

इस प्रयास से मुझे कविता को पहचानने की एक दिशा मिली है। अन्यों को भी मिले, सबको अलग-अलग, अपनी-अपनी भी, तो कृतार्थ होऊँ।

—शिवनन्दन प्रसाद

दुर्गापूजा १९७४
भागलपुर।

यह प्रबन्ध

डा० शिवनन्दन प्रसाद ने अपने 'बिम्बविधान और आधुनिक हिन्दी कविता' प्रबन्ध में अपने विषय के विश्लिष्ट और विशद विवेचन के लिये व्यापक अध्ययन और पर्याप्त अध्यवसाय का अवलम्बन किया है। यह निर्विवाद है कि आधुनिक हिन्दी-कविता ने बिम्बविधान मे पाश्चात्य काव्यक्षेत्र से प्रभाव ग्रहण करके उसका विस्तृत उपयोग किया है। पाश्चात्य काव्य में मनोविज्ञान के आधार पर बिम्बों का समावेश हुआ है। अतः यह बहुत आवश्यक था कि बिम्बो की सृष्टि के मूलतत्त्व मनोविज्ञान में पूरी तरह अन्वेषित किये जायें। वस्तुतः मानसिक प्रक्रिया में बिम्बों की रचना आज की ही घटना नहीं है। वह बहुत प्राचीन काल से मानवकृति में अंकुरित और पल्लवित होती रही है। अतः भारतीय वाङ्मय और काव्यशास्त्र में वह किस रूप में अंकित हुई है इसका विवेचन अपेक्षित हो जाता है। इस प्रकार प्रबंध-लेखक के समक्ष विषय के निम्नलिखित विवेच्य पक्ष अनिवार्य रूप मे उपस्थित थे :—

१. भारतीय साहित्य और काव्यशास्त्र मे बिम्बविधान का अंकन और शास्त्रीय विवेचन ;

२. उस शास्त्रीय विवेचन का आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में आख्यान और मनोविज्ञान के अनुसार बिम्बों का पूर्ण रूप में विश्लेषण तथा उनकी सदृश वस्तुओ से तुलना ;

३. विभिन्न बिम्बविधाओं का आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रयोग।

प्रबंधकार ने उपर्युक्त विवेच्य पक्षों की गहराई में यथासंभव प्रवेश किया है और अनेक नये तथ्यों का आकलन किया है। प्रारम्भिक अध्याय पहले दो पक्षों को प्रस्तुत करते हैं। छठे, सातवें और आठवें अध्याय बिम्ब के रूप और उनका कविता में चित्रण विशेषतः प्रस्तुत करते है और पाठक को नवीन ज्ञान सामग्री प्रदान करते हैं।

मेरी सम्मति में यह प्रबन्ध हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा।

भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर-७
तिथि ३०-११ १९६८

ह० डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव
अध्यक्ष
हिन्दी विभाग,

रही है; इस लम्बे काल की छाप, संशोधन-परिमार्जन के बावजूद, इसमें मिलेगी जरूर। उदाहरण आदि नवीन धारा से भी ले लिए गए, पर मूल बातें वे ही हैं।

काव्य, खास कर कविता के प्रति, न जाने क्यों, प्रवृत्ति कुछ वैसी होती है, जैसी आद्यकिशोरी के प्रति। अच्छा लगता है कि वह आद्यकुमारी भी रहे। पर, लगना अलग बात है, और ऐसा हो रहना कि वह वैसी लगती रहे अलग बात। इन दोनों के बीच अनायत्त और एकाधिकारी 'चित्त' जो है। फिर भी, स्वीकार करूँ कि यह अध्ययन काव्य के लिए किसी नवीन सर्वतंत्रसिद्धान्त की स्थापना का प्रयास नहीं है—कविता के लिए आद्य, अथवा सार्वकालिक पति के वरण का उपक्रम तो यह प्रस्तुत नहीं ही करता। कविता 'सहज' सह-भावन चाहती, मांगती है, न कि सामंती पति। फिर यह प्रतितन्त्र-सिद्धान्त भी उपस्थित नहीं करता। अधिकरण-सिद्धान्त या कि अभ्युपगम सिद्धान्त का भी बखान यह नहीं करता। इसमें जो किया गया है, उस सम्बन्ध में ड्राइडेन का कथन ही उद्धृत करना चाहूँगा—

> मैं इसके आगे जाने का अब दुस्साहस नहीं करूँगा; मैंने प्राचीनों और आधुनिकों के कुछ मन्तव्य रख दिए हैं, और साथ ही कुछ अपने विचार भी जिन सबको मैंने 'संभव' या 'संभाव्य' माना है।

क्षमा-प्रार्थी रहूँगा उन विद्वानों-रचनाकारों के प्रति जिनके विचार और भाव प्रमादवश अथवा अनायास विचलित हुए होंगे। त्रुटियाँ और दोष इसमें हैं अवश्य : निवेदन है कि उन्हें सदाशयतापूर्वक लिया जाय। अंतिम पृष्ठों पर निर्दिष्ट छापे की गलतियों को तो सुधार लेंगे ही।

आभारी हूँ उन रचयिताओं, विद्वानों, मित्रों और शिष्यों का जिनके सह-भावन, सम्बोध, सत्प्रेरण और सहयोग से,—कहा जाय, सब के सम-विषम दबाव के कारण यह कार्य सम्पन्न हो सका। और फिर विश्वविद्यालय के अधिकारियों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करूँ कि जिनकी सहृदयता के कारण यह विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की योजना के अन्तर्गत प्रकाशनार्थ स्वीकृत भी हुआ।

श्री अशोक कुमार दास और जानकी जीवन जी ने आणविक लिपि में लिखित 'वस्तु' को मनोयोगपूर्वक टंकित कर सुपाठ्य 'रूप' देने में और प्रेस मैनेजर, श्री अशर्फी मिश्र, प्रूफ-संशोधक श्री श्यामसुन्दर पाण्डेय और कम्पोजिटर श्री योगधर मिश्र ने संशोधन के नानाविध अत्याचार सहते हुए मुद्रण-कार्य सम्पन्न करने में अनुज और भक्त-रूप को चरितार्थ किया है, सो धन्य भाग्य!

खंड खंड पाखंड पर्व ' मणि-मधुकर
खादी के फूल : पंत और बच्चन
खुला आकाश मेरे पंख' शन्ति महरोत्रा
गजरे तारों वाले : डॉ० रामकुमार वर्मा
गाथा ' जानकी वल्लभ शास्त्री
गाँव : धूमिल
गीतिका ' निराला
गीत-गुंज . निराला
ग्राम्या ' सुमित्रानन्दन पंत
गीत फरोश : भवानी प्रसाद मिश्र
गीत संगम ' श्रीरजन सूरिदेव
गीत-हंसिनी , मदनमोहन अरविन्द
चकित है दुःख . भवानी प्रसाद मिश्र
चक्रवाल : दिनकर
चक्रव्यूह . कुंवर नारायण
चन्द्रकिरण : रामकुमार वर्मा
चाँद का मुंह टेढ़ा है : गजानन माधव मुक्तिबोध
चाँदनी चूनर शकुन्त माथुर
चित्राधार . जयशंकर प्रसाद
चिदम्बरा : पंत
चिन्ता : अज्ञेय
चेतना के गीत : अशान्त त्रिपाठी
छवि के बंधन : भारत भूषण अग्रवाल
जलसाधर : श्रीकान्त वर्मा
जागते रहो . भारत भूषण अग्रवाल
जो बँध न सका ' गिरिजा कुमार माथुर
ज्योतिष्मती . ठाकुर गोपाल शरण सिंह
जौहर ' श्यामानारायण पांडेय
झरना : जयशंकर प्रसाद
टूटा हुआ आदमी सिद्धनाथ कुमार
ठंडा लोहा तथा
अन्य कविताएँ ' धर्मवीर भारती
तप्त-गृह : केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'
तुलसीदास ' निराला
त्रिभंगिमा : बच्चन
तीर तरंग ' जानकीवल्लभ शास्त्री
तार-सप्तक : अज्ञेय (स०)
तीसरा अन्धेरा ' कैलाश वाजपेयी
तीसरा सप्तक : अज्ञेय (स०)
दमयन्ती : ताराचन्द हारीत
द्वापर मैथिलीशरण गुप्त
दिगन्त त्रिलोचन

दिवालोक ' शम्भुनाथ सिंह
दूसरा सप्तक ' अज्ञेय
देशान्तर : धर्मवीर भारती (अनुवाद) (स०)
देहान्त से हट कर : कैलाश वाजपेयी
दो चट्टानें तथा
अन्य कविताएँ ' बच्चन
द्रौपदी : नरेन्द्र शर्मा
धरती : त्रिलोचन शास्त्री
धार एक व्याकुल : खगेन्द्र प्रसाद ठाकुर
धुएँ की लकीर : लक्ष्मीकान्त, विपिन अग्रवाल, आदि
धूप के धान ' श्री गिरिजाकुमार माथुर
नकेन नलिन विलोचन शर्मा
नगे पैर : विपिन कुमार अग्रवाल
नये पत्ते : निराला
नये शिशु का जन्म . श्यामसुन्दर घोष
नये सुभाषित ' दिनकर
नाव के पाँव : जगदीश गुप्त
नाश और निर्माण : श्रीगिरिजा कुमार माथुर
निशा-निमन्त्रण बच्चन
नीम के पत्ते : दिनकर
नींद के बादल . केदारनाथ अग्रवाल
नीरजा ' महादेवी वर्मा
नीलिमा : गौरीशंकरमिश्र द्विजेन्द्र
नील कुसुम : दिनकर
नीहार ' महादेवी वर्मा
नूरजहाँ : गुरुभक्त सिंह 'भक्त'
पटकथा : धूमिल
पत्र एक राधा के नाम रामेश्वर प्रसाद सिंह
पर आँखें नहीं भरी : शिवमंगल सिंह 'सुमन'
पर गूंज रह जाती है: नन्दकिशोर प्रसाद
परिमल : निराला
परिवेश—हम तुम कुंवर नारायण
पल्लव : सुमित्रानन्दन पंत
पलाश वन : नरेन्द्र शर्मा
प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी की श्रेष्ठ रचनाएँ वाचस्पति पाठक (सं०)
प्रभात फेरी : नरेन्द्र शर्मा
प्रभाती सोहनलाल द्विवेदी
पंचवटी गुप्त

सीढ़ियों पर धूप : रघुवीर सहाय
सूर्य का स्वागत : दुष्यन्त कुमार
हथेलियों में ब्रह्मा : भगीरथ भार्गव
हरी घास पर क्षणभर : अज्ञेय
हरी बाँसुरी सुनहरी टेर : सुमित्रानन्दन पंत
हल्दीघाटी : श्यामनारायण पाण्डेय
हारे को हरिनाम : दिनकर
हिमालय : महादेवी वर्मा (स०)
हंसमाला : नरेन्द्र शर्मा
हिम-किरीटिनी : माखनलाल चतुर्वेदी
हिमबिद्ध : जगदीश गुप्त
हिम-तरंगिनी : माखनलाल चतुर्वेदी
हिल्लोल : श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन'
हुंकार : दिनकर
क्षितिजोंके काँपते अधर : महेन्द्र कार्त्तिकेय

आदि तथा पूर्वकाल की कुछ कृतियाँ और

उपेन्द्र नाथ अश्क, रामदयाल पाण्डेय, हंसकुमार तिवारी, रामावतार 'अरुण', रामदरश मिश्र, रमण, श्यामनन्दन किशोर, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, रवीन्द्र नाथ त्यागी, श्रीराम शुक्ल, सतीश जमाली, विवेकानन्द 'विवेक' मुद्राराक्षस, अजित पुष्कल, परमानन्द श्रीवास्तव, जितेन्द्र कुमार, ऋतुराज, सौमित्र मोहन, गंगा प्रसाद विमल, जगदीश चतुर्वेदी, मंगलेश डबराल, लीलाधर जगूड़ी, सैयद सफीउद्दीन, यादवेन्दु पाण्डेय, रामकुमार कम्बोज, सुबास कुमार आदि की कविताएँ एवं निम्न हिन्दी पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाएँ, आलोचनाएँ आदि भी—

अथवा	गन्तव्य	बातचीत
अवन्तिका	चौराहा	माध्यम
अर्थ	तनाव	मुमुक्षा
आधार	दिनमान	रूपाभ
आलोचना	धर्मयुग	लहर
अंतराल	नया साहित्य	वाक
अब	नयी कविता	वातायन
आइना	नयी चेतना	विप्लव
आवेश	नई धारा	बिन्दु
ओर	नये पत्ते	विविधा
इन्दु	निकष	विश्व-भारती पत्रिका
क ख ग	पतझर	सम्मेलन-पत्रिका
कल्पना	प्रतीक	साहित्य
कवि	पथिक	समालोचक
कविता (अलवर)	पक्ष	सरस्वती
कविताएँ	परिदृश्य	साप्ताहिक हिन्दुस्तान
काव्यधारा	परिशोध	संकेत
कृति	पहचान	संज्ञा
कृति-परिचय	पहल	ज्ञानोदय

अनुक्रम

उत्तरण : काव्यबिम्ब और आत्ममुक्ति

अवतरणिका

प्रातिभाद्वा सर्वम्

—योगसूत्र ३/३३

सूर्य की किरणें अखण्ड प्रवाह-रूप हैं, विभु हैं। पर उनका ग्रहण हम अणु-रूप में करते हैं। यही नही, प्रकाश-रश्मियो का प्रवाह-सातत्य अबाध तो है, पर उनमें लहर भी है, पुञ्जन भी और साथ-साथ अन्तराल भी। परन्तु लहर और पुञ्जन और अन्तराल का बोध इसलिए नहीं होता कि उनमें त्वरा है।

मन अथवा चेतना भी यद्यपि अखण्ड प्रवाह-रूप है, तथापि है वह भी अणु-परिमाणी। मन का प्रवाह-सातत्य भी, इस प्रकार, लहर और पुञ्जन की यौगपद्दिक क्रिया है। काल का दिक् में उभर आना, और दिक् का काल में अतिवाहित हो जाना, यही दिक्काल-सातत्य का मूर्त्तामूर्त्त शाश्वत व्यापार है।

कला और काव्य अखिल की इस विषम लीला की प्रस्तुति अपने अपने

प्रकाश-रश्मि काँच के त्रिपार्श्व (प्रिज्म) पर जब आपतित होती है, तो कुछ विचलित होती है। यही नहीं, रश्मि सात रंगों के वर्णपट (स्पेक्ट्रम) में विभाजित होती है। सात रंगों के इस वर्णपट में लाल और बैंगनी रगो के छोरों के बीच बैंगनी के धीरे-धीरे फीका होने और आसमानी में उभरने, फिर उसके हल्का होने और नीले रंग में उभरने, और इसी तरह, उसके फिर हरे में, हरे रंग के पीले में, पीले के नारंगी में और नारंगी के लाल में उभरने की समस्त प्रक्रिया ऐसी है कि जिसमें कम-से-कम विचलित होनेवाले लाल रंग और सबसे अधिक विचलित होनेवाले बैंगनी रंग के दो छोरों के बीच लहर और पुञ्जन के द्वारा वर्णमय होनेकी यौगपदिक प्रक्रिया परिलक्षित होती है।

सबसे कम विचलित होनेवाला लाल रग प्रखरतम वर्ण है। लाल रंग ही वर्णों की 'अग्नि' है। रूप की ज्वाला और राग की रक्तिमा भी वही है, और 'लाल की लाली' भी वही। उसके क्रमिक विलयन से ही अन्य वर्णों के स्फुटन का अनुक्रम लगता है।

हमारा मनःकाय यंत्र रश्मि-तरंगो की जो अपकिरण-प्रक्रिया प्रस्तुत कर मानस-पटल में वर्णपट बनाता है, वह काँच के त्रिपार्श्व से अधिक चैतन्य और सूक्ष्म-जटिल सम्पुञ्जन-विलयन-व्यापार है। काव्यकलादि के भावन में हमारा यह मनःकाय-'आत्मवान चेतन'-यंत्र अनुभूति अथवा रागमयता के कारण और भी आकुंचित एवं प्रखर प्रक्रियाक्षम हो जाता है। अतः वर्णपट पर कुछ आत्मनिष्ठ छायाएँ और दीप्तियाँ आच्छायित होती हैं। अर्थात्, त्रिपार्श्व-रूप चेतन इन्द्रियप्रणालिकाएँ भी छायाओं द्वारा उनमें योगदान करती हैं, और मानसिक पटलगत दीप्तियाँ भी अपनी चमक द्वारा द्युति-जाल बुनती हैं। श्यामवर्ण (वायलेट या ब्लू-जैसे) शृंगार और रक्तवर्ण रौद्र के बीच ही सारे काव्यशास्त्रीय रसवर्ण हैं जिनमें अन्यों की वर्णछायाएँ भी आच्छायित रहती हैं। यह सारी प्रक्रिया इतनी गहन और निबिड़ है, कि काव्यानुभूति के एक क्षण में हम संक्षेपण और संघनन-द्वारा वैद्विक लीला का पर-प्रत्यक्ष-सा कर लेते हैं।

काव्यानुभूति के क्षण में हमारे शारीरिक कोषों के परमाणु से लेकर मनोमय कोष तक के सारे अवयव—और यदि रक्षम हों तो, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कोष के भी अंश—जो विकासात्मक सृष्टि-प्रक्रिया के प्रति-रूप-जैसे मनःकाय यंत्र में सूक्ष्मतः अन्तर्वाही हैं, समवेत रूप में अनुनादित हो उठते हैं।

यह शरीरी ध्वनन लहर और पुञ्जन का यौगपदिक व्यापार है। हमारा चित्त भी तत्क्षण उस लहर में लहरा उठता है। उस क्षण काव्यशब्द नाना अर्थरश्मियों की आच्छाएँ (पेनम्ब्रा) हो उठते हैं; कदम्बगोलकन्याय के द्वारा वह प्रक्रिया प्रतीकित की जा सकती है। यही नहीं, रूप की ये ज्योतिरश्मियाँ अलातचक्रवत् प्रवाहित भी प्रतीत होती हैं, लघु वृत्त से उत्तरोत्तर संवर्धमान वृहत्तर वृत्त को समर्पित। काव्य की यह प्रतीति उसकी बिम्ब-प्रतीति है : सर्वथा मौलिक प्रतीति।

इस मूल प्रतीति में मूलाधार और सहस्रार, अन्नमय और आनन्दमय संवादी होते हैं। इस संवादलय में विरोधलय अन्तर्वर्ती रहती है। अर्थात्, काव्यप्रतीति समतोललय की प्रतीति है जिसमें रचना और ध्वंस की, प्रीति और भीति की, प्रवाह और सम्पुञ्जन की द्विध्रुवीय (एम्बीवैलेंट) प्रवृत्तियाँ विषम समन्विति में गुंथी हुई रहती हैं। वर्धमान परिधि की ओर से देखने पर, चित्त का वह वैपुल्य एकघनचित्तविश्रान्ति है, किन्तु प्रवृत्त्या उसमें वैकल्य है। यह वैकल्य ही उसकी मौलिक प्रक्रिया है, और उसका अपर-रूप, या नकार विश्रान्ति है। वैकल्य का ही काव्यकलादि के क्षेत्र में दूसरा नाम सिसृक्षा भी है। और, सिसृक्षा है स्वतः विघटन-संघटन की यौगपदिक क्रिया।

परिणमन और विकास की सहज प्रवृत्तिवश कलाएँ वास्तु→संगीत अथवा संगीत→वास्तु अर्थात्, अमूर्त्तन-प्रधान एवं मूर्त्तन-प्रधान विषम दोलन-प्रक्रियाएँ करती हुई युगानुरूप बदलती हैं। काव्य उनकी विशेषीकृत व्यवहार-प्रणाली की समवेतरूप में प्रस्तुति करता है। वह अधिक सूक्ष्म एवं निबिड़ सर्जन है। अतएव, उसका मूर्त्तामूर्त्त-रूप न तो मात्र वास्तुमय है, न केवल चित्रमय, न मात्र नृत्यमय है और न केवल नादमय; किन्तु है सबका संयोग, अर्थात् 'बिम्ब'। वह चक्षु और श्रवणेन्द्रिय के प्रातिनिधिक ऐन्द्रिय बोध द्वारा सृष्ट होता है। अतएव, वह सर्वेन्द्रिययोगात्मक मानसप्रतीति है। बिम्बसर्जन रूपायण अथवा आकारीकरण की मूल जैव वृत्ति से भी सम्बद्ध है।

श्रुतियों का कहना है, एक ही तत्त्व सर्वत्र ओतप्रोत है : स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु (यजुर्वेद ३२,८)। उस एक तत्त्व के अनेक नाम हैं : कोई उसको रुद्र कहता है, कोई मित्र, कोई वरुण, कोई अग्नि, कोई दिव्य सुपर्ण, कोई यम और कोई मातरिश्वा।[१] यास्क ने उस एक तत्त्व को आत्मा, ब्रह्म आदि कहा है, उसके पंचानबे भौतिक नामों का उल्लेख किया है—धर्म, यश, विभु, प्रभु,

शंभु, भूत, वर्त्तमान, भविष्यत्, ऋत, सत्य, रवि, अमृत आदि।[२] वस्तुतः, यह एक तत्त्व अनेकविध नाम धारण करता है और वह सभी नामों से व्याप्त होकर उनसे उत्तीर्ण भी है।

वाक्तत्त्व की महिमा

वह एक तत्व वाक्तत्व भी माना गया है।[३] ऋग्वेद के मंडल १०, सूक्त १२५, मंत्र १ से ८ तक में वाक्तत्व का आत्म-विवेचन अत्यधिक उदात्त और गंभीर है :

> जो मेरा साक्षात्कार करता है, मुझको अनुप्राणित करता है, मेरे वचन सुनता है, वह अन्न का उपभोग करता है।
>
> देव और मनुष्य मेरी उपासना करते है, मेरा आश्रय लेते है, मेरा उपयोग करते है। मै दयादृष्टि से जिसे चाहता हूँ, उसे उग्र बनाता हूँ, ब्रह्म बना देता हूँ ऋषि बना देता हूँ, प्रतिभाशाली बना देता हूँ।
>
> मैं ब्रह्मद्वेषी के लिये रुद्र को शक्ति-सम्पन्न करता हूँ, मानव-समाज को आनन्दयुक्त करता हूँ, आकाश और पृथ्वी में सर्वत्र व्यापक हूँ ..
>
> मैं ही वायु के तुल्य सर्वत्र गतिशील हूँ, समस्त विश्व का उत्पादक हूँ, मैं द्युलोक और पृथ्वी से परे हूँ, अनन्त महिमा के साथ सर्वत्र विद्यमान हूँ।[४]

ऋग्वेद में 'ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम', (१. १६४, ३५) के द्वारा वाक्तत्व का आधार ही ब्रह्म बतलाया गया है। देवों के द्वारा उत्पन्न यह दिव्य वाणी कामधेनु है, कामनाएँ पूर्ण करनेवाली। विद्वान् और कवि उसे अनेक रूपों में प्रस्तुत करते हैं, स्वर-छन्दादि के सात विभाग करते हैं : (८. १००-११ एवं १०.११४,५-७)।

यजुर्वेद में भी वाक्तत्त्व की ऐसी ही महिमा, ऐसी ही अनन्तता उद्घोषित है। वह विस्तीर्णता मे समुद्र है, इन्द्र की शक्ति से सम्पन्न है, अमृत-तत्त्व का द्वार है, चेतन है, बुद्धि है, यज्ञीय है, विश्वकर्मा है (४,१९ एवं १३,५८)।

अथर्ववेद के नवें कांड के सातवें सूक्त मे पहले मंत्र से लेकर छब्बीसवें मन्त्र तक वाक्-तत्व के विराट् रूप का उद्घाटन है. उस वाक्तत्व के दो सींग हैं— प्रजापति और परमेष्ठी; इन्द्र उसका सिर है, अग्नि ललाट, यम गर्दन, सोमतत्त्व मस्तिष्क, द्युलोक ऊपर का ओष्ठ, पृथ्वी अधरोष्ठ, विद्युत् जिह्वा, मरुत् दांत, धर्म वाहन, विश्व प्राणवायु, मित्र और वरुण कंधे, महादेव भुजाएँ हैं, आदि। प्रजापति-रूप में सर्वत्र व्याप्त उस वाक्तत्त्व के ही ये सारे रूप हैं। वही विश्वरूप है, सर्वरूप है, शब्दब्रह्मरूप है : एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् (९,७,२५)।

इस प्रकार अनेकविध वाक्तत्त्व की अनन्त महिमा का आख्यान हुआ है, और सर्वत्र दो विधियाँ हैं—१—नाम-द्वारा, और २—रूप-द्वारा। इन दोनों में ओतप्रोत होकर भी वह इनसे अतिव्यापक, उत्तीर्ण है, अतएव उसका नामातीत, रूपातीत सत्य भी संकेतित है, जिसे तीसरी और सूक्ष्म विषम विधि कहेंगे। वाग्वै विराट् (**शतपथ ब्राह्मण** ३, ५, १, ३४) वाक् तु सरस्वती (**ऐतरेय ब्राह्मण** ३,१; **कौषी० ब्रा०** ५,२) एकस्य ददृशे न रूपम् (**ऋग्वेद** १,१६४,४४) अथवा 'वाचा विरूपनित्यया' (**ऋ०** ८,७५,६) में क्रमशः नाम-प्रधान, रूप-प्रधान और नामरूपातीत (नकारात्मक) संज्ञान-प्रधान विधि द्वारा उस एक वाक् का आख्यान किया गया है।

वाक्तत्व, मनस्तत्व, प्राणतत्व :

बृहदारण्यकोपनिषद् में 'सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्' अर्थात् सारे वेद एक वाक्तत्व के रूप बतलाये गये हैं[१]। **शतपथ ब्राह्मण** के अनुसार ऋग्वेद और सामवेद वाक्तत्व की व्याख्या हैं और यजुर्वेद मनस्तत्व की : वागेवार्थश्च सामानि च मन एव यजूंषि…। पुनः **यजुर्वेद** के अनुसार ऋग्वेद में वाक्तत्व की, यजुर्वेद में उसके मनस्तत्व की, सामवेद मे प्राणतत्व की व्याख्या है : ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये (३६,१)। इस प्रकार वेदत्रयी वाक्तत्त्व, मनस्तत्त्व, प्राणतत्त्व के क्रमशः तीन चरण हैं।

वाक्तत्त्व आग्नेयांश है, मनस्तत्त्व वायव्यांश है, प्राणतत्त्व आदित्यांश है। वैदिक शब्दों में अग्नि, वायु और आदित्य (द्यु०, आकाश) में सब कुछ आ जाते हैं। इस त्रिक के त्रिवृत्करण से सृष्टि आविर्भूत होती है। **ऐतरेय ब्राह्मण** वाग्घ्यैन्द्री (२,२६) द्वारा, **कौषीतकी ब्राह्मण**,, वाग्वा इन्द्रः (२,७) द्वारा, **शतपथ ब्राह्मण** वागेवाग्निः (३, २, २, १३) द्वारा तथा **गोपथ उ० ब्राह्मण** 'या वाक् सोऽग्निः' (४, ११) के द्वारा जो निर्वचन करते हैं, तो उससे उसका तेजोमय ऋग्वेदीय नाम प्रत्यक्ष होता है।

वाक्तत्व और मनस्तत्व का युग्म :

ऐतरेय ब्राह्मण 'वाक् च मनश्च देवानां मिथुनम्, (५-२३), **जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण**, 'तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक् (१,५८,२) में वाक्तत्व और मनस्तत्त्व को अविनाभाव से रहनेवाला युग्म बतलाते हैं। **शतपथ ब्राह्मण** का 'वाग्वै मनसो ह्रसीयसी' (१, ४, ४, ७) एवं **जैमिनीय उ० ब्राह्मण**

का 'वागिति मनः' (४, २२, ११) उनकी अभिन्नता का द्योतक है : 'वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् (ऐत० ब्रा०) ।

वाक्तत्व और प्राणतत्व का युग्म :

फिर **शतपथ ब्राह्मण** १, ४, १, २ में 'वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम्' और १४, ६, २, १४ में 'सा ह वागुवाच यद्वा अह वसिष्ठास्मि त्वं तद् वसिष्ठोऽसीति' के द्वारा वाक् और प्राण का पति-पत्नी-रूप में आख्यान किया गया है। **छान्दोग्योपनिषद्** (अ० १, खंड १, श्लोक ५) में वाक् को ऋक्, प्राण को साम और ॐ को उद्गीथ बतला कर यह भी निर्देश किया गया है कि ऋक् और सामरूप वाक् और प्राण परस्पर मिथुन हैं ।

'वाक् धेनु का प्राण वृषभ है'— **शतपथ ब्राह्मण** के इस कथन से भी यह स्पष्ट है कि प्राण वाक्तत्त्व में बीजशक्ति प्रदान करता है । मनस्तत्त्व उसका वत्स है, अर्थात् वाक्तत्त्व से मनस्तत्त्व की उपलब्धि होती है और उसके दुग्ध से ही उसका पोषण होता है । वाचं धेनुमुपासीत…तस्या प्राण ऋषभो मनो वत्स' (१४, ८, ६, १) ।

बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय–१ ब्राह्मण–४ श्लोक–१७ एवं ब्राह्मण–५ श्लोक १ से १४ तक में दूसरी दृष्टि से वाक्, मन, प्राण के सम्बन्ध में निर्वचन है । उसका सारांश निम्न है—

'पहले एक यह आत्मा ही था । उसने कामना की कि मेरे स्त्री हो फिर मैं प्रजा-रूप से उत्पन्न होऊँ…मन ही इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है, प्राण संतान है…पिता प्रजापति ने विज्ञान और कर्म के द्वारा जिन सात अन्नों की रचना की, उनमें से तीन अन्न अपने लिये रखे : मन, वाणी और प्राण… यह आत्मा वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय है । वाक् ही यह लोक है, मन अन्तरिक्ष लोक है, प्राण स्वर्गलोक है … वाक् का पृथिवी शरीर है, यह आदित्य-रूप है, आदित्य और अग्नि मिथुन को प्राप्त हुए, तब प्राण उत्पन्न हुआ, प्राण का जल शरीर है, यह चन्द्रमा-ज्योतिरूप है ।'

इस प्रकार वाक्-प्राण युग्म और वाङ्-मनस युग्म द्वारा क्रमशः मन और प्राण के उद्भव की यह प्रकल्पना मानसिकता (मेंटेशन—**क्राइस्टोफर कॉडवेल** का शब्द) एवं चैतन्यशक्ति (जैव प्राणनशक्ति, लाइफ फोर्स, एलांवितल आदि) के उद्भव और विकास की प्रक्रिया का सूक्ष्म संकेतक है जो वाणी के नाम-निर्दिष्ट अरूप के एवं रूपोन्मीलित स्वरूप के लिये क्रमशः मूल प्रस्थान-बिन्दु हैं । नाम

और रूप के द्वारा मूल तत्व प्रकट होता है, एवं विज्ञात भी होता है। परन्तु, नाम-रूप में व्याप्त होकर भी वह उससे उत्तीर्ण भी है—उसका वह अविज्ञात, प्राण (आत्मा) है, अनन्त, अनादि; नामातीत एवं रूप से असस्पृष्ट।

प्रतिभा और सृष्टि-विकास

वाक्, मन, प्राण, इन तीनों के मूल में निवसित है प्रतिभा। यजुर्वेद ने उसे 'मेधा' अभिधान दिया है

> या मेधा देवगणा' पितरश्चोपासते।
> तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा (यजु० ३२–१४)

ऐतरेय उपनिषद्(३,१,२) में उसके अनेक नाम दिए गए हैं।[६] यथा—सज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम, वश।

यास्क ने इसका स्वरूप निर्धारित करते हुए निरुक्त १३-१६-१७ में यह भी संकेतित किया है कि उससे सृष्टि-विकास किस प्रकार होता है। वह इस प्रकार है :—

'प्रतिभा समस्त लक्षणों से ऊपर है। वह महान् आत्मा है। उसका लक्षण केवल सत्त्व है। वही परमतत्त्व है, ब्रह्म है, सत्य है, सलिल है, अव्यक्त, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगंध है; वह अमृत, शुक्ल, सबका आधार है। वह सत्त्व-रजस्-तमस्-गुणात्मक है। उस महान् का चिह्न आकाश है। शब्द उस आकाश का गुण है। आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है। वायु में दो गुण हैं—शब्द-तत्त्व के साथ स्पर्श गुण। वायु से अग्नि की उत्पत्ति होती है; उसमें शब्द-स्पर्श के साथ रूप की अधिकता है। अग्नि से जल की उत्पत्ति होती है। उसमें शब्द, रूप के अतिरिक्त रस की अधिकता है। जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है; उसमे उक्त चार गुणों के अतिरिक्त गंध की भी अधिकता है। पृथ्वी से समस्त भौतिक तत्त्वों का विकास होता है। यही स्थिति है, दिन या सृष्टि है। इसके अंत में प्रलयावस्था में पृथ्वी जल में, जल अग्नि मे, अग्नि वायु में, वायु आकाश में लीन होते चलते हैं। आकाश मनस्तत्त्व में, मनस्तत्त्व विद्या में, विद्या आत्मा में लीन होते हैं; महान् आत्मा प्रतिभा मे और प्रतिभा प्रकृति में। वह सृष्टि की स्वप्नावस्था या रात्रि है।'

आगमोक्त प्रतिभा :

इस संज्ञान अथवा प्रतिभा को ही मूल चैतन्य मानकर कहा गया है—'यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम् ।' 'स्वातंत्र्यशक्ति' रूप में प्रतिभा की महिमा आगमों में भी वर्णित है। शब्दब्रह्म के रहस्यविद् महादार्शनिक **भर्तृहरि** ने परम तत्त्व को शब्द माना और शब्द को चैतन्य बतलाया जो मूलतः एक, अविभेद्य, अविच्छिन्न, अविश्लेष्य ज्योतिरूपा प्रतिभा है। शब्दब्रह्म का विराट् संसार उससे ही प्रेरित-अनुप्राणित होकर उद्भूत होता है—पश्यन्ती, मध्यमा एवं बैखरी-रूप में। फिर उसमें ही लीन होता है।[७] **महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज** के शब्दों में—'स्वयं उदित होने के कारण इसका 'प्रतिभा' नाम पड़ा है। यह अकल्पित तथा सांसिद्धिक है। जागतिक व्यवहार के मूल में व्युत्पत्ति है तथा व्युत्पत्ति के मूल में प्रतिभा है। पशु-पक्षियों की भी अपने-अपने व्यवहार में जो निपुणता दीख पड़ती है, उसके भी मूल में यही प्रतिभा है। यह प्रत्येक प्राणी में रहती है, इसके भेद अनन्त प्रकार के हैं।...पाश्चात्य दार्शनिक भाषा में निम्न जीवस्तर में जो 'इन्स्टिंक्ट' तथा उच्च जीवस्तर में जो 'इनट्यूशन' दीख पड़ते हैं, वे भी प्रतिभा के ही एक प्रकार के रूप-भेद हैं।'[८] 'प्रतिभा' का यह निरूपण उस मूल प्रतिभा के ही उन्मीलित या अवतरित रूप का व्याख्यान है, जो 'स्वातंत्र्यशक्ति' के रूप में आगम में प्रकल्पित एवं 'प्रातिभाद्वा सर्वम्' के निर्वचन में योगशास्त्रकार **पतञ्जलि** के द्वारा निर्दिष्ट हुआ है।

सूक्ष्मा (परा) वाक् या प्रतिभा प्रतिभा-द्वारा ही बोधगम्य :

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने आगे बतलाया है : 'वस्तुतः वेद का यथार्थ स्वरूप प्रणव है,' 'स हि सर्वः शब्दार्थप्रकृतिः', 'सर्वा वाचो वेदमनुप्रविष्टा, नावेदविन्मनुते ब्रह्म किञ्चिद्'। आत्मा का स्वरूपगत आन्तर ज्ञान ही सूक्ष्मावाक् है। पुराकल्प का यह कथन सत्य है कि—

> 'या सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचम् ऋषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः पश्यन्ति तामसाक्षात्कृतधर्मेभ्यः परेभ्यः प्रतिवेदयिष्यमाणा बिल्मं समामनन्ति स्वप्ने वृत्तमिव दृष्टश्रुतानुभूतमाचिख्यासन्ते'

अर्थात्, जिन्होंने धर्मतत्त्व का साक्षात्कार किया है, वे ऋषिगण नित्य इन्द्रियातीत सूक्ष्मावाक् का प्रदर्शन करते हैं; जिन्हें साक्षात्कार नहीं हुआ, वे नहीं। ऐसे लोगों के संवेदन के लिये ऋषिगण उस अतीन्द्रिय वाणी का अभिव्यंजन इन्द्रियगम्य वेद-वेदांगादि रूपों में करते हैं। स्वप्नानुभूति के

प्रकाशन करने के लिए जैसे स्थूलेन्द्रिय गोचर वाणी का आश्रय लिया जाता है, वैसे ही अतीन्द्रिय सूक्ष्मावाक् के निरूपण के लिये भी।[९] तंत्रालोक[१०] में **अभिनवगुप्त** ने बतलाया है कि चिदात्मा परमशिव चरम अविभक्त तत्त्व है। उसे किसी की अपेक्षा नहीं। अनन्यापेक्षिता ही उसका स्वातंत्र्य है: वही प्रतिभा है, उस प्रभु की शक्ति है। यह प्रतिभा सामान्यतः ज्ञानगम्य भी नहीं; ज्ञेय होकर भी ज्ञात वह पूर्णतः नहीं हो सकती। अतएव प्रतिभा प्रतिभा-द्वारा ही गम्य है। सूक्ष्मावाक्-प्रेरित काव्य भी स्वरूपतः वागात्मक होकर तत्त्वतः बोधात्मक एवं प्रवृत्त्या अनुभवात्मक है। प्रतिभा के द्वारा ही वह बोधगम्य और अनुभूति-संचर होता है।

रूपायण की प्रक्रिया

कवि का उद्घोष है—

'आमारे भुवने तोबे
पूर्ण होबे
तोमार चरम अधिकार।' —रवीन्द्रनाथ

यह चरम अधिकार है क्या? अवश्य ही, अभिव्यक्ति का, रूपायित होने का, एक से अनेक होने का: "सोऽकामयत। बहु स्यां" (**तैत्ति० उप०** २,६,१); 'तदैक्षत बहु स्याम्' (**छान्द० उप०** ६,२,३) 'नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामाऽयमिदरूप इति' (**बृह० उप०** १,४,७) आदि। नाना प्रकार से श्रुति कहती है कि वह ब्रह्म ही अपने संकल्प से विभिन्न आकारों और चेष्टाओं से विभिन्न रूपोंवाला हुआ। क्योंकि, अकेले वह रम्य न था। स्वस्थ था पर लीन था, प्रकाशित नहीं; अधिकारी था, पर अधिकार का भोक्ता नहीं था। **छान्दोग्योपनिषद्** में जगत् के उद्भव का और इस प्रकार नाम-रूप के उद्भव का भी, वृत्तान्त षष्ठ अध्याय के प्रथम खंड के उपरान्त आरम्भ होता है:

'प्रारंभ में एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उसने ईक्षण किया कि मैं हूँ; बहुत हो जाऊँ; अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ। इस प्रकार उसने तेज उत्पन्न किया। तेज ने भी एक से अनेक होने का ईक्षण किया और उस प्रक्रिया में जल की रचना की। जल ने भी एक से अनेक होने का ईक्षण किया और उसने अन्न की रचना की (अन्न=पृथ्वी, **वेदान्त दर्शन**, पृ० १६६)। पृथ्वीरूप अन्न की रचना होने से, **छादोग्योपनिषद्** बतलाती है, अंडज, जीवज, उद्भिज जीवों के बीज हुए। उस सत् नामक तेज, अप् और अन्न की योनिभूत देवता ने

फिर ईक्षण किया कि मैं इन तीनों देवताओं में अनुप्रवेश कर नाम और रूप की अभिव्यक्ति करूँ। उसने एक-एक को त्रिवृत-त्रिवृत् कर नाम और रूप का व्याकरण किया। इस प्रकार अग्नि का लाल रंग तेज का रूप, शुक्ल रंग जल का, कृष्ण अन्न का है; आदित्य का रोहित रंग तेज का, शुक्ल जल का, कृष्ण अन्न का है; चन्द्रमा का लाल रंग तेज का, शुक्ल जल का, कृष्ण अन्न का है। अर्थात्, नाम-रूप समस्त में जो कुछ रोहित है, वह तेज का रूप है; शुक्ल है, वह जल का रूप है; कृष्ण है, वह अन्न का रूप है। और आकाश ही नाम-रूप का निर्वाहक है, नाम-रूप जिसके अन्तर्गत हैं, वह ब्रह्म है :

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म।' (८-१४-१)।

वह अमृत है, आत्मा है। रूपवान् द्रव्य में अन्य गुण भी है : रूपवान् तेज में शब्द और स्पर्श की भी उपलब्धि होती है। अतः स्पर्शगुणवाला वायु और शब्दगुणवाला आकाश भी उसमें है। रूपवान् जल में और अन्न में, उसी प्रकार, रस एवं गंध का अन्तर्भाव हो जाता है।

रूप रूपं प्रतिरूपो बभूव :

कठोपनिषद् (२-२-६) का स्पष्ट संकेत यही है, कि 'समस्त ब्रह्मांड में प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि नाना रूपों में उनके सदृश रूपवाला हो रहा है, उसी भाँति सब प्राणियों में व्याप्त अन्तरात्मा परमेश्वर एक होता हुआ भी नाना रूपों में प्रत्येक के रूपवाला-सा हो रहा है, तथा उनसे बाहर भी है; अरूप, असंस्पृष्ट, नामातीत।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।

अतएव, 'जो कुछ मूर्त्त जगत् दिखाई पड़ता है, ज्ञानस्वरूप आपका ही रूप है; अयोगी जन भ्रमपूर्ण ज्ञान के कारण उसे जगद्रूप देखते हैं'—ऐसा कह कर **'विष्णुपुराण'** उस एक परमतत्त्व की महिमा का बखान करता है :

यदेतद्दृश्यते मूर्त्तमेतज्ज्ञानात्मनस्तव।
भ्रान्तिज्ञानेन पश्यन्ति जगद्रूपमयोगिनः।—विष्णुपुराण

बृहदारण्यकोपनिषद् में (अध्याय १, ब्रा० ६, श्लोक १) बतलाया गया है कि नाम का कारण वाक् है। वाक् समस्त नामों को धारण करती है। फिर श्लोक २ में कहा गया है कि रूप का कारण चक्षु है; प्रकाश से ही सब रूप उत्पन्न होते हैं, वही सब रूपों को धारण करता है। फिर यह निर्दिष्ट है, कि कर्मों का कारण (प्राण) आत्मा है; उससे ही सारे कर्म प्रादुर्भूत होते हैं।

नाम, रूप और कर्म तीनों एक-दूसरे के आश्रित, एक दूसरे की अभिव्यक्ति के कारण, एक दूसरे में परस्पर लीन होनेवाले और परस्पर मिले हुए हैं। नाम, रूप और कर्म—इतना ही सारा व्याकृत-अव्याकृत है। वह तीन होते हुए भी एक आत्मा है और आत्मा भी एक होते हुए भी यह तीन है।

पुनः अध्याय २, ब्राह्मण : ३ श्लोक १ में, वह उपनिषद् बतलाती है कि ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त्त और अमूर्त्त, मर्त्य और अमर्त्य, स्थित और चल, सत् और न्यत्। अतः रूप के दो प्रकार हैं—१—मूर्त्त और २—अमूर्त्त।

मूर्त्त वह है, जो वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न, अस्पृष्ट-सा है। पृथ्वी, जल, अग्नि ये तीन मूर्त्त हैं। ये मर्त्य हैं, क्योंकि परिच्छिन्न हैं, स्थित है और अर्थान्तर से सम्बन्ध होने पर विरोध रखनेवाले हैं। इस प्रकार के भूत का रस सविता (द्युति) है। 'सविता' के द्वारा ही ये विभक्त हो, विभिन्न रूपोंवाले होते हैं।

दूसरी दृष्टि से मूर्त्त वह है जो प्राण से तथा आकाश से भिन्न है। इसका सार 'नेत्र' है। नेत्र है, क्योंकि चक्षु में तेज का आधान है।

अमूर्त्त वह है जो वायु और अन्तरिक्षमय है। स्वयं वायु, अन्तरिक्ष अमूर्त्त हैं। ये अमृत हैं, यत् हैं, चल हैं, अपरिच्छिन्न हैं, परोक्ष हैं। उनका रस हिरण्यगर्भ है, प्राण है या 'पुरुष' है। फिर, प्राण और शरीर के अन्तर्गत जो आकाश है, वही अमूर्त्त है। तीसरी स्थिति 'मूर्त्तामूर्त्त' की है जहाँ दोनो सम हैं।

परन्तु, स्मरणीय यह भी है, कि 'मूर्त्त' में मूर्त्तता का आधार 'आकाश' भी वर्त्तमान है, एवं उसमें भी गति है, प्राण है। साथ ही 'अमूर्त्त' में भी मूर्त्त 'पृथ्वी, जल, अग्नि' के अंश यत्किञ्चित् रहते हैं। पर यह भेद प्राधान्य के अनुसार है।

वाक् तेजोमयी कही गयी है, मन अन्न (पृथ्वी) मय, प्राण जलमय। समस्त मूर्त्त और रूपवान् में वाक् की सत्ता, तेजोमयता सर्वोपरि है, पार्थिवता और प्रवाहपूर्णता अर्थात् मन और प्राण अथवा पृथ्वी और जल की भी परिच्छिन्नता एवं गति जिनमें व्याप्त है।

ये जो अनन्त रूप हैं, उन सबका आधान, आदि-स्रोत, वह अरूप है, जिसे अमूर्त्त कहा गया है। वह तेजस् वाक् है। 'नाम' उसकी द्युति

है, 'रूप' प्रज्वलन, 'नाम' उसका आभास है, 'रूप' उद्भास। नाम-रूप एक हैं, पर आविर्भाव क्रम में। 'रूप' का अभिधान 'नाम' उसके अमूर्त्त का सूक्ष्म द्रष्टा है; वह 'दर्शन' का विषय है। 'रूप' स्वतः अपने स्वरूप का मूर्त्त भावक है; अतः वह भक्ति, काव्यादि का उन्मेषक है। 'कर्म' रूप की प्रेरणा का उद्घाटक है; अतः वह विज्ञान, पूजाकृत्यों, यज्ञों, अनुष्ठानों के रूप में धर्मादि का उत्प्रेरक है।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल[११] का कथन है कि भावों की संज्ञा रूप है। जितने व्यक्त भाव हैं, अव्यक्त से उत्पन्न हुए हैं और अव्यक्त में लीन हो रहे हैं। ......विश्व के सब रूप जिस एक बिन्दु में केन्द्रित होते हैं, वह मूल सबका प्रतिरूप है। इसे अरूप या रूपशून्य कह सकते हैं। ...शिल्पी निर्माण की इच्छा से जब ध्यान करता है, उसके ध्यान में सब रूप समाविष्ट रहते हैं। ...समस्त रूपों की समष्टि में से जब एक रूप को शिल्पी एक बिन्दु पर प्रकट कर देता है, वही शिल्प की अभिव्यक्ति हो जाती है। रूप वही अच्छा है, जो अपने प्रतिरूप का अधिकतम परिचय दे सके, जिसमें उसका सर्वोत्तम दर्शन मिल सके। जो स्वयं मूर्त्तभाव से कम-से-कम आक्रान्त होता है, वही प्रतिरूप का सबसे अधिक परिचायक है।

जो प्रतिरूप है, उसकी सबसे अधिक अभिव्यक्ति प्रतीक द्वारा ही की जा सकती है। ......प्रतीक ही अमूर्त्त की सच्ची मूर्त्ति है......भारतीय प्रतीकों का अपरिमित विस्तार है। ......पूर्ण घट, चक्र, त्रिरत्न, स्वस्तिक, नन्दिपद, वर्धमान, देवगृह, रत्नपात्र, माल्यदान, मीनयुगल, श्रीवत्स, कौस्तुभ आदि जो अनेक मांगलिक चिह्न हैं, वे भी उन प्रतीकों के रूप हैं। ये चिह्न कला की भाषा के लिए उस वर्णमात्रिका के समान है, जो अर्थ की प्रतीति के लिए आवश्यक हैं। ...अन्ततोगत्वा प्रत्येक शब्द (भी) अपने अर्थ का प्रतीकमात्र ही बन कर रह जाता है।... प्रत्येक प्रतीक एक-एक रूप है, जो विश्व के अनन्त अमूर्त्त अर्थों का मूर्त्त परिचायक बना हुआ है।...

कला की चक्षुर्मूला दृष्टि :

किसी वस्तु को देखने के लिए तीन दृष्टियाँ मानी गई हैं—शिरोमूला, पादमूला, चक्षुर्मूला। सूक्ष्म से स्थूल की ओर आना शिरोमूला दृष्टि है। इसे ही ज्ञानदृष्टि या संचर-दृष्टि भी कहते हैं। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना, अर्थात् स्थूल प्रतीक के द्वारा सूक्ष्म अर्थ तक पहुँचना यह पादमूला दृष्टि है। इसे ही प्रतिसंचर-क्रम या विज्ञान का दृष्टिकोण कहते हैं। तीसरी दृष्टि वह है

जिसमें स्थूल और सूक्ष्म अथवा ज्ञान और विज्ञान, इन दोनों का समन्वय पाया जाता है। इसे चक्षुर्मूला दृष्टि कहते है, जिसे **गीता में** ज्ञान-विज्ञान-समन्वित दृष्टि कहा गया है। वस्तुतः उत्तम कला के साथ इसी दृष्टिकोण का सम्बन्ध है। इसमें आन्तरिक भाव और बाह्य रूप दोनों में सौन्दर्य का सन्तुलित विधान पाया जाता है। शब्द-सौन्दर्य और अर्थ-सौन्दर्य दोनो एक दूसरे के साथ जहाँ समन्वित रहते हैं, उसी श्रेष्ठ-स्थिति को कवि ने वाक् और अर्थ (मन+प्राण) से सम्पृक्तकाव्य का आदर्श कहा है।'

रूप सत्य का अधिष्ठान है अरूप का संधान है। **यजुर्वेद** का कथन है, प्रजापति ने रूपो को देखकर सत्य और अनृत का व्याकरण किया। उसके अनृत मे अश्रद्धा की स्थापना की, सत्य मे श्रद्धा की प्रतिष्ठा की :—

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः । अश्रद्धामनृते दधच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः । (१९.७७)

वैयाकरणों की दृष्टि से भी प्रतिभा ही वाक्तत्त्व है। वाक्तत्त्व के परम तत्त्वज्ञ **स्फोटायन** [१२] ने वाक्तत्त्व अथवा प्रतिभा के नित्यांश और अनित्यांश नामक दो अंशों का आविष्कार किया था। नित्यांश का साक्षात्कार कर उन्होंने उसे 'स्फोट' कहा। अनित्यांश 'ध्वनि' है। सृष्टि में अविरल 'स्फोट' होता आ रहा है; उन्मेष, आविर्भाव, प्रकाशन उसका धर्म है। सृष्टि में अबाध 'ध्वनि' हो रही है; निमेष, तिरोभाव, विलय उसका लक्षण है। सृष्टि के इस उन्मीलन-निमीलन में सर्वत्र प्रतिभा व्याप्त है। सृष्टि के सहारे हम स्रष्टा का, ध्वनि के आधार पर स्फोट का, अर्थ के बल पर शब्द का, नाम-रूप द्वारा उस एक मूल शक्ति, प्रतिभा का, सज्ञान प्राप्त करते हैं। महावैयाकरण भर्तृहरि के शब्दों में :

> अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
> विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः । —वाक्यपदीय १/१

कलाएँ, एवं उनका समवेत वाग्रूप काव्य चक्षुर्मूला दृष्टि द्वारा रूप और निरूप्य की, शब्द और अर्थ की, स्फोट और ध्वनि की, युगपत् प्रस्तुति हैं। कालिदास का 'कुमारसंभव', तुलसी का 'मानस', प्रसाद की 'कामायनी' आदि चक्षुर्मूला दृष्टि द्वारा उन्मीलित कर्म-भाव-ज्ञान के सामरस्य के लीलाकमल हैं। उनका दर्शन भी वैसी ही दृष्टि के उन्मीलन से संभव है। इस लीला नृत्य में सहभोगपूर्वक ही प्रवेश किया जा सकता है। इस सहभोग में भी प्रतिभा का साक्षात् और सत्य का आभासन होता है।

वाक्‌तत्त्व, मनस्तत्त्व, प्राणतत्व क्रमशः ज्ञान, भाव, क्रिया में व्यक्त होते हैं, जिनका सम्पुटित उद्‌गीथ रूप 'ॐ' है। 'अ उ म' वर्णों में जो स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर के अभिमानी विश्व, तेजस, और प्राज्ञ क्रमशः सार रूप में गृहीत हैं, उनका अतीव मनोज्ञ दर्शन उपनिषदों में प्रस्तुत किया गया है [१३]। डा० भगवान दास ने 'समन्वय' में[१४] एक दूसरी दृष्टि से 'प्रणव' (ओंकार) के अक्षरों का निर्वचन किया है। समस्त वेदों का सार 'ओंकार' है, और फिर सारे ज्ञान-विज्ञान का स्रोत भी वही है। वह आरंभ और पर्यवसान के शाश्वत चक्र का सूक्ष्म नादात्मक रूप है-आदि-प्रतीक है। 'ॐ' है अनन्त बिम्बों का परम वृत्त। 'अ' विस्तार और प्रसरण-रूप में, 'उ' कालमान के विलगाव के रूप में, 'म' प्राज्ञ-रूप में, (इच्छा-रूप में) काव्यध्वनियों में उर्म्मित हो, लय का विश्व निर्मित करते हैं। कविता की 'वाक् सत्ता' में लय का सूक्ष्म 'नाद→नाट्य' मनःप्राणमय प्रथम स्पन्द और विस्फोट है।[१५] उसके सहारे हमारी अंतस्संज्ञा भी काव्य में प्रवेश पा जाती है। लय-संस्थान में निबंधित शब्द-झंकृतियों से अवोधपूर्व अर्थों का भान होता है। फिर, इन अर्थों का साक्षात्कार कर 'लय' में लीयमान हम परम अर्थ का भी आभासन कर लेते हैं। यह नाद→नाम, अतः मंत्र की विधि से 'प्रतिभा' या सत्य का साक्षात्कार है। नादब्रह्म का यह 'दर्शन' जितना व्यापक है, उतना ही सूक्ष्म-गंभीर भी।[१६]

रूप काल में दिक्-संस्थान है। वह आयामों में प्रसरित होता है, आकाश घेरता है, चक्षु द्वारा गम्य है, अतएव स्पृश्य भी है। काव्य भी एक संरूप में उभरता है, उसका एक विशिष्ट आकार है, जो आयामों में प्रसरित होता है, आकाश घेरता है एवं मानस-चक्षुओं द्वारा गोचर भी प्रतीत होता है। महाकाव्य, नाटक, गीत, उसके बाह्य आकार और प्रसार के सूचक शब्द हैं, विभाव-अनुभाव आदि उसके आन्तरिक संरूपण के नाम हैं, 'वस्तु' और 'नेता' उसके बाह्य-आभ्यंतर आयामों के ही नामभेद हैं; रत्यादि रस उसके विशिष्ट विभावादि-संस्थान के द्वारा आविष्कृत हैं, अतएव सोपाधि होकर तदाकार भी हैं। काव्य के रूप-सस्थान द्वारा हम मनसा वास्तु ब्रह्म का संदर्शन करते हैं।

फिर, काव्य शब्द ब्रह्म है। काव्यास्वादन के क्षण में हम वास्तु ब्रह्म और नादब्रह्म की सम्पृक्त अनुभूति में विशेषीकृत एवं सामान्यीकृत एक साथ होते हुए रसब्रह्म का साक्षात करते हैं। इस प्रकार वाक् के सहारे

वाक् से उत्तीर्ण होने—'वाचा विप्रास्तरत वाचम् (ऋ०१, ०४, १२)—का साधन काव्य में सबसे अधिक मनोज्ञ रूप में प्राप्त होता है। 'प्रतिभा' की विमला कला का सकल, समवेत रूपायण काव्य में ही होता है और रूप की अखड प्रतीति-द्वारा पूर्ण विसर्जन भी यहीं सम्भव है। रूप जिस प्रकार उन्मीलन-निमीलन का मध्य-विन्दु है, उसी प्रकार प्रज्ञा और कर्म के मध्य-विन्दु में 'बिम्ब' रूप काव्य है। यह उसकी प्रातिभ प्रतीति है। आनन्दवर्धन ने इस कारण इस शिवा-प्रतिभा की इन शब्दो में वन्दना की है—

यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्। स्वात्मायतन, विश्रान्ता तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्॥

परन्तु, उपर्युक्त उपपत्तियों का काव्य-कलादि में सामान्यतः, एवं उनके विम्बन में प्रधानतः क्या-कैसा महत्त्व है? क्या प्रतिभा की प्रक्रिया ही सिसृक्षा अथवा रूपायण है? वाक्तत्त्व, प्राणतत्त्व और मनस्तत्त्व का वास्तु-कला, संगीत-कला और काव्य-कला के उद्भव और निर्माण से कैसा सम्बन्ध है? क्या वास्तु-कला वाक्तत्त्व-प्रधान, संगीत-कला प्राणतत्त्व-प्रधान और काव्य-कला वाङ्मनःप्राणमयी संरचना है? दूसरे शब्दों में, क्या रसब्रह्म अथवा शब्दब्रह्म वास्तुब्रह्म और नादब्रह्म का मूलाधार और पर्यवसान-विन्दु है? रसब्रह्म और शब्दब्रह्म का शब्द ⟷ रस 'परामर्श' किस विधि आविष्कृत होता है? 'वाग्बिम्ब' अथवा 'बिम्बमूल' का उसमे क्या महत्त्व है? यह 'वाग्बिम्ब' 'शब्दात्मिका ज्योति' से उन्मीलित हो किस प्रकार 'काव्यबिम्ब' में सतत् अवतरित होता रहता है? इन प्रश्नों पर अगले अध्याय में, एवं से, विचार किया जायगा।

सन्दर्भ ग्रन्थादि एवं टिप्पणियाँ

१—ऋग्वेद १/१६४,४६ — इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

२—यास्क : निरुक्त १३/१३ — अक्षरं ब्रह्मणस्पतिम्०। प्रज्ञया कर्म कारयतीति। आत्मा ब्रह्मेति साक्षिमात्रोऽव्यवतिष्ठतेऽबन्धो ज्ञानकृत।

३—प्रो० सईस 'साइंस ऑफ लैंग्वेज भाग १—१
डा० भगवानदास के अनुसार 'अम्भृण ऋषि की बेटी जिसका नाम वाक् था, वागाम्भृणी ने, देवी-सूक्त ऋग्वेद का कहा है।' —समन्वय पृ० १३२

४—ऋग्वेद, मंडल १०, सूक्त १२५, मन्त्र १ से ८ तक। अन्य उद्धरणों के पाठ डा० कपिलदेव द्विवेदी के 'अर्थ-विज्ञान और व्याकरण-दर्शन' के अनुसार हैं।

५—बृहदारण्यकोपनिषद् : अध्याय ४, ब्रा० ५, श्लोक १२

६—तुलनीय—प्रसाद 'कामायनी—बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिंता, तेरे हैं कितने नाम।

७—भर्तृहरि : वाक्यपदीय, तथा आर० शास्त्री प्रणीत 'विधि विवेक' पृष्ठ ३६०-६१, एवं डा० जी० शास्त्री 'दि फिलॉसफी ऑफ वर्ड ऐंड मीनिंग पृष्ठ २६४ द्रष्टव्य।

८–म० डॉ० गोपीनाथ कविराज . तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि ' पृष्ठ २०
९–तत्रैव ' पृष्ठ ४३
१०–अभिनवगुप्त ' तन्त्रालोक तृ० आ०–६६
११–डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : संत परंपरा और साहित्य पृ० ७-१४
१२ पाणिनि ' अष्टाध्यायी ' ६/१ १२३-१२४

सर्वत्र विभाषा गो., अवङ् स्फोटायनस्य, इन्द्रे च नित्यम्

द्रष्टव्य . डा० कपिलदेव द्विवेदीकृत 'अर्थ विज्ञान और व्याकरणदर्शन' —पृष्ठ ३५०-३६८
१३–द्रष्टव्य ' छान्दो० १/१/१-२, माण्डूक० १/१-८, योगसूत्र–३३ आदि।
१४–डा० भगवानदास ' समन्वय पृष्ठ २७१-२१५
१५–गिरिजा कुमार माथुर : नयी कविता ' सीमाएँ और संभावनाएँ' पृष्ठ ४२-४३ द्रष्टव्य, इस सदर्भ में डा० शिवशंकर अवस्थीकृत 'मन्त्र और मात्रिकाओं का रहस्य' पृष्ठ १८०—१८७ एवं उपमन्युकृत टीका-सवलित 'नान्दिकेश्वर काशिका'
१६—द्रष्टव्य 'नाम' का यास्क-कृत लक्षण, सत्व (द्रव्य) की प्रधानता, निरुक्त १/१ एव नाद का स्वरूप – भास्कर राय : 'सौभाग्य-भास्कर' पृ० ६६ – मध्यमा=नादमयी, एव 'वरिवस्यारहस्य' पृ० १७, 'नवनादा ' एव 'मन्त्र' के लिए डा० शिवशकर अवस्थी 'मंत्र और मात्रिकाओं का रहस्य'। डा० के० सी० पांडेय-कृत काम्पेरेटिव एस्थेटिक्स, भाग-१ नादब्रह्म, वास्तुब्रह्म के लिए पृ० १ एवं ५१०–६१६

'नाम->नाद'–'नाम-साधना' की दो दिशाएँ हैं एक में नाम-साधना नाद में पर्यवसित होती है, दूसरी में यह दृश्याभिव्यक्ति के माध्यम से भावसाधना-पथ पर रस में पर्यवसित होती है।

म० डा० गोपीनाथ कविराज 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त-दृष्टि' पृष्ठ २९-३१ एव डा० जनार्दन मिश्र : 'भारतीय प्रतीक विद्या'–पृ० १६७

'वाक् (नाद) ही साकार सृष्टि कही गयी है जिसका प्रतीक वर्णमाला है। यही आदिरूप है। इसी का विकसित रूप नामारूपात्मक जगत है।'

श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार : भगवच्चर्चा भाग – ५, पृ० २२६–२३५ पर 'नाद ब्रह्म' रूप मोहन की मुरली में 'क+ल+ई+ – 'के संयोग 'क्लीं' को काम बीज बतलाते हैं और मुरली-ध्वनि को कामबीज मानते हैं। क=कृष्ण; ई=महामाया राधा, ल=नायक नायिका का मिलनात्मक आनन्द निर्देश एवं नादबिन्दु=माधुर्यामृत सिन्धु का परिस्फुटन, चुम्बन-आश्लेषादि बतलाये गये हैं।

दूसरी ओर यह भी कहा जाता है– 'न' प्राण है, 'द' वह्नि है और प्राण तथा वह्नि के संयोग से उत्पन्न होने के कारण यह 'नाद' कहा जाता है। और अन्त में यह भी, '

नादाब्धेस्तु पारं पारं न जानाति सरस्वती।
अद्यापि मज्जनभयात्तुम्बं वहति वक्षसि।

संगीत का काव्य में महत्व : अप्पय दीक्षितकृत 'चित्रमीमांसा' की प्रस्तावना में

'संगीतमथ साहित्यं सरस्वत्याः स्तनद्वयम्।
एकमापातमधुरं द्वितीयं लोचनामृतम्॥'

१

सिसृक्षा और वाग्बिम्ब

देवस्य पश्य काव्य महित्वाद्या ममार
स ह्यः समान'—ऋग्वेद ८,५५,१५

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' ब्रह्म जो सर्वत्र व्याप्त है, आगे है, पीछे है, दायी और बायी ओर है, नीचे और ऊपर है [1], नाम-रूप को व्याप्त करनेवाला है, वही नाम-रूपात्मक जगत् में अनुप्रविष्ट भी है। सिसृक्षा उसकी मूल वृत्ति है।

नाम, रूप और ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कला-सर्जन :

नाम-रूप एक है। फिर भी 'नाम' से 'रूप' कुछ विशिष्ट है। 'रूप' अग्नि है, 'नाम' उसका सूक्ष्म सत्व है। तेजोमय 'रूप' दृष्टि का विषय है, क्योंकि तेज की रचना पहले हुई (छा० उ०-६,२,३-४) और सूर्य का अधिष्ठान चक्षु है। फलतः चक्षु-द्वारा प्राप्त संवेदन में स्पार्श संवेदनों के ज्ञाताज्ञात संस्कारों का आभ्यन्तर अनुरणन होता रहता है। 'नाम' 'रूप' से अधिक सूक्ष्म है, क्योंकि वह, प्रधानतः, श्रुति का विषय है, आकाशधर्मी है। किन्तु, परिचित 'शब्द' या 'नाम' सुनते ही उस 'शब्द' या 'नाम' की 'आकृति' भी झलक जाती है। फलतः, हमारा व्यवहार भी 'शब्दानुरूप' या 'नामानुरूप' ही न होकर प्रायः

'रूपाकृति'-प्रेरित भी होता है। 'नाम-जप' नामी के 'रूप-प्रत्यक्ष' की ही प्रकारान्तर से महिमा है—तच्छ्रुयताम् अनाधारा धारणा न उपपद्यते,[२] अर्थात् ध्यानधारणा बिना किसी मूर्त्त विषय के नहीं सधती।

परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन सुन लेने के बाद[३], अर्जुन कृष्ण से कहते हैं—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्। यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥

अर्थात् भूतों की स्थिति, प्रलय आदि का वृत्तान्त विस्तरशः सुना, और आपके प्रभावों का भी, माहात्म्य का भी वर्णन सुना। किन्तु—

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर। द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥

किन्तु, आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, तेजयुक्त रूप भी देखना चाहता हूँ। यदि यह शक्य हो, तो दिखायें।

और, तब कृष्ण ने 'नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च' अपना रूप दिखाया, एवं कहा, 'अपने इस चक्षु से तू यह रूप न देख सकेगा। दिव्य चक्षु देता हूँ, उससे देख।' नाम-श्रवण से रूप-दर्शन अधिक ग्राह्य और परिपूर्ण होता है—इसलिये ही अर्जुन में रूप-दर्शन की उत्कंठा हुई।

'गाय' शब्द के कहने से केवल गाय का ही अस्पष्ट बोध होता है; किन्तु गाय की आकृति चित्रित कर देने से उसके आकार-प्रकार और भावभंगी का भी ज्ञान हो जाता है। शब्द भाषा-विज्ञान की अपेक्षा रखता है, किन्तु रूप सार्वभौमिक है तथा भाषा-विज्ञान-निरपेक्ष होकर प्रभावोत्पादन करता है। आँख अन्य ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा अधिक सजग एवं शक्ति-सम्पन्न इन्द्रिय है तथा विस्तार और सूक्ष्मता दोनों ग्रहण करने में वह छठी ज्ञानेन्द्रिय मन के अत्यन्त सन्निकट रहती है।[४] फलस्वरूप, उसकी माँग, मन की ही भाँति, तीव्र और आतुर होती है। रूप-चित्रण में रहस्य-भेदन का सुख और जादुई सम्मोहन भी है। श्रवण के बाद दर्शन, वैसा ही है जैसे शब्द-प्रमाण के अनन्तर उसका प्रत्यक्ष प्रमाण। श्रवण में दूरी है, श्रुत ध्वनियों (नाम) में आन्तरिक चांचल्य और फैलाव है; किन्तु, रूप-दर्शन में सान्निध्य का भोग होता है। रूप में निबंधित हमारी चेतना में स्थित्यात्मक आकुंचन या दृढ़ता आती है। आकारीकरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया, इस कारण ही, आदिम और जैविक कही जाती है। इस जैव वृत्ति के आधार पर जादू-टोने का, पूजाकृत्यों का और फिर 'रूप' की आराधना का विकास हुआ। नामोपासना उसका सूक्ष्मीकृत,

उदात्तीकृत रूप है, जो श्रुति पर अवलम्बित है। रूपोपासना भगवान के मूर्त्त रूप को लेकर सगुण भक्ति और दर्शन, यज्ञ-यागादि की ओर बढ़ी। नामोपासना तप, व्रत, उपवास, रागानुगा भक्ति और निर्गुण ब्रह्म के आश्रय से अग्रसर हुई और तंत्र-योगादि में अत्यधिक गूढ़ हुई। वस्तुतः, दोनो किसी न किसी प्रकार परस्पर पूरक-संशोधक भी रहीं।

सिसृक्षा : कला और शिल्प :

नामरूप के श्रवण-दर्शनादि के अनन्तर बहुधा आत्मसत्ता नामरूप से उत्तीर्ण हो, अभिनव संरूपों की पुनर्रचना में प्रवृत्त होती है। यही सिसृक्षा है। इसकी प्रेरणा से, अथवा प्रतिभा के उन्मीलित होने पर वाक्, मन और प्राण की अभिनव मानवसृष्टियाँ नवीन नामरूप में निर्मित होकर, पारमेश्वरी सृष्टियों को निवेदित की जाती है। इनमें से भोजराज कृत 'तत्वप्रकाश' के शब्दो में, जिनको 'प्रसाद' जी ने उद्धृत किया है, **'व्यञ्जयति कर्तृशक्ति कलेति तेनेह कथिता सा,** अर्थात्, जो मानव के कर्तृत्व का आख्यान व्यंजित करती है, एवं फिर, प्रसाद जी के ही द्वारा उद्धृत **क्षेमराज** के कथन के अनुसार जो 'नव नव स्वरूप प्रथोल्लेखशालिनी संवित् वस्तुओ में या प्रमाता मे स्व को, आत्मा को परिमित के रूप में प्रकट करती है,' उसी क्रम का नाम, एव उस अभिनव कृति का भी नाम कला है। दूसरे शब्दों में, कला—

१. मानव की सिसृक्षा, अथवा कर्तृशक्ति व्यंजित करनेवाली कृति है, (क) अर्थात् वह प्रकृति पर आश्रित है। प्रकृति की बारम्बारता और आवृत्ति-क्रम का, उसके नाना रूप, गुण, क्रिया का एवं उसके आयामो का विघटन करती है और तब अन्यथाकरण द्वारा रंजनार्थ नयी सृष्टि रचित करती है। प्रकृति मात्र 'कृतित्व' है। प्रकृति प्र-कृति है; पर प्रकृष्ट हो, निकृष्ट हो, ऐसा प्रश्न उसके विषय में नही उठता। अयाचित और निरायास दान उसकी विशेषता है। उसे संवारना, उसके उच्छल आवेग का शमन करना मानव का काम है। प्रकृति ने आकृति दी रुक्ष, श्मश्रुल, वन्यनग्न, भीमदर्शन। मानवपुत्र ने कोरे को निखारा; रुक्ष को मृदु बनाया; श्मश्रुल को संवारा; वन्यनग्न को शिष्ट, सज्जित किया; भीमदर्शन को कोमल-कान्त रूप दिया। आलक्तक, पुष्पहार, आभूषण, आदि नाना प्रसाधनों से प्रकृति-प्रदत्त शरीर पर मानव ने कलाकारी की। इसके द्वारा प्रकृति की गति उसने रुद्ध की; यौवन की रक्षा की; घर बनाये; उत्सवादि में, नृत्यगीतों में सीमा का अतिक्रमण कर निस्सीम की भी साधना की।

सारतः, नाना विधियों से मानव ने प्रकृति का गुणधर्म और प्रभाव ग्रहण कर उनका विघटन किया और फिर अन्य प्रकार से उनका विन्यास कर लीला के लिए नवीन और रम्य की रचना की।

(ख) यह काम मानव के द्वारा होता है; अतएव वह मानव-निर्मित होने के कारण कुछ कृत्रिम, यत्न-साध्य भी है और विकासात्मक भी। इसके मूल में भूतात्मक, जैव रूप-लिप्सा है।

(ग) मानव की कर्तृ शक्ति उसके द्वारा विज्ञापित-प्रचारित नहीं होती, व्यंजित होती है; अर्थात् कर्त्ता स्वयं का भी विघटन या विलयन कर लेता है।

२ (क) उसमें परिमिति है, और उस सीमा में नित्य सौन्दर्य या नित्य नवीनता का आकर्षण भी है; एवं (ख) प्रतिक्षण की नवीन भंगिमा में मुग्ध-मग्न प्रमाता तदाकार होता है और उस तदाकार-परिणति में सीमाबद्ध होकर भी उसके कारण क्षण भर को अपरिमिति का आविष्कार कर लेता है। इस हेतु क्षेमराज ने बतलाया है—

विश्रान्तिर्यस्यसंभोगे सा कला न कला मता। लीयन्ते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

उपर्युक्त १ (क), (ख) का ही आख्यान 'शिल्प' शब्द के द्वारा **शतपथब्राह्मण** (७,४,१,२४) एवं (३,२,१,५) में 'सर्वाणि हि चित्राण्यग्नि, यदवै प्रतिरूपं तच्छिल्पम', **कौषीतकी ब्राह्मण** (२६,५, २५, १२-१३) में 'त्रिवृद्वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति, प्राणाः शिल्पानि', एवं **ऐतेरय ब्राह्मण** में 'एतेषां वै शिल्पानामनुकृतिरिह शिल्पमधिगम्यते,' आदि शब्दों के द्वारा हुआ है। शिल्प में नृत्य, गीत, वाद्य और चित्र सम्मिलित है। उनका भी उद्देश्य है—'आत्मसंस्कृतिर्वै शिल्पानि'। अर्थात् उपर्युक्त विश्लेषण में १ (ग)। इससे यह स्पष्ट है, कि शिल्प में कर्तृत्व (कलाकारिता) और प्रतिरूपात्मकता अथवा सादृश्यीकरण की विशेषताएँ हैं। फलतः, शिल्प 'कौशल' से युक्त होता गया।

किन्तु, 'कला' पर नाना प्रकार के अर्थों का संस्कार पड़ा और उपर्युक्त २ (क) (ख) के अनुसार वह विशेष निर्मितियों का अभिधान हुआ। **दण्डी** ने 'नृत्यगीत प्रभृतयः कला कामार्थ संश्रयाः', एवं **दशरूपककार** ने 'धीरललित कलासक्तः सुखी मृदुः' के द्वारा एवं उनसे भी पहले 'नाट्यशास्त्र' में **भरत मुनि** ने 'न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला' के द्वारा यह द्योतित किया है कि शिल्प और कला में अन्तर है—कला में 'लालित्य' है, वह रम्य है। **अभिनवगुप्त** ने स्पष्ट बतलाया है—'शिल्पमिति मालाचित्रपुस्तादि योजनम्'

एवं 'कला गीतवाद्यादिका'। कला का पारिभाषिक, अंशगत अर्थ भी गीतवाद्यादि में तालपरिमाण और क्रमानुसंधान में स्वीकृत है। ताल-परिमाण में प्रत्येक सम संगीत की एकतान धारा में (यानी 'कामकला' के साम्य भावरूप में) निमिष भर की विश्रान्ति है, सामरस्य है, एवं साथ ही नवीन ताल का समारम्भ भी है (कामकला के द्वितीयांश का खेल: सृष्टि-स्थिति-संहार)। शिव की सृष्टि का आभासन करने से जो आनन्द होता है, कर्तृत्व से वैसा ही भोग या आनन्द कर्ता को एवं आस्वादक को भी प्राप्त होता है।[५]

प्रमाता या दर्शक में ऐसी प्रतीति प्रत्येक कलाकृति के आस्वादन में उन्मिषित होनी चाहिए कि वह क्षण-क्षण नवीनता का दर्शन करता हुआ उसका आस्वादन तन्मयता एवं तन्मनस्कतापूर्वक करता चले। इस प्रकार की लीयमानता[६] जिस मानवकृति में होगी, वह कला कहलायेगी।

कलाकृति के मुक्त और अयाचित सौन्दर्य को **हैवलाक एलिस** ने अचेतन की कृति माना है[७]। **एरिक न्यूटन** के विचार से कलाकार 'कल्पक' भी हैं, निर्माता भी; स्रष्टा भी, शिल्पी भी; अर्थात् किसी कृति में 'कला-तत्त्व' सर्जन या अनुभूति का तत्त्व है और प्रकटीकरण के समस्त उपकरण और विन्यास 'शिल्प' तत्त्व हैं।

कला : सौन्दर्य एवं द्रष्टा-दृश्य की सापेक्षिकता :

कला में संघटनात्मक तत्त्वों, रूप-विन्यासों में वाह्य-आन्तरिक कुछ तो अवश्य हैं, जो हमारी सौन्दर्यभावना की तृप्ति करते हैं। इनका विवेचन कई प्रकार से किया गया है। **एरिक न्यूटन** एवं **हर्बर्ट रीड** ने संघटनात्मक तत्त्वों को प्रकृति-प्राप्त संस्कार माना है और सौन्दर्यभावना को प्रकृति में दिखाई पड़नेवाले गुणधर्म, पारस्परिक संबंधादि के ज्ञान से विकसित संगति, सौष्ठव, भारसाम्य, व्यवस्था, संकलन आदि बतलाया है[९]। **यूंग** आदि मनो-विश्लेषकों ने उसे आदिम संस्कार और आद्यबिम्ब से संबंधित माना है; **फ्रायड** ने उसे जैवीकरण की वृत्ति, और काम भावना का प्रतिरूप घोषित किया है। सौन्दर्यभावना स्वतः आकर्षक है, चाहे वह कला में हो या अन्यत्र; आँखें सुन्दर की ओर उठ ही जाती हैं। आदमी घर-बार, कपड़े-लत्ते, मित्र-सखा सब स्वतः कुछ सुन्दर चुनता है। 'प्राणिविज्ञान की खोजों से यह भी पता लगा है कि अनेक जन्तुओं के आकार-प्रकार आज उन रूपों में इसलिये अधिजीवित (सर्वाइव) हैं कि समागम की क्रिया में आँखों को वे रंग-रूप अच्छे जँचते आ रहे हैं। इसे यौन-क्रियागत चयन पर आधारित अधिजीवन कहेंगे। इनसे

लगता है कि सौन्दर्य के प्रति व्यापक और सहज वृत्ति है।'[१०] हर्बर्ड रीड महोदय ने भी असभ्य बर्बर कही जानेवाली आदिम जातियों में सौन्दर्य के प्रति सहज मौग्ध्य देखकर यह बतलाया है कि नीति, धर्म, सभ्यता, संस्कृति से उसका लगाव नहीं; वह स्वयं एक रम्य आकर्षण है।[११] बोसांके ने समस्त सौन्दर्य प्रत्यक्ष या कल्पना में निहित बतलाया है।[१२] कॉडवेल ने सौन्दर्य का आधार सामूहिक भाव माना है; वह वस्तुगत है, क्योंकि उसका अस्तित्व व्यक्ति से अलग समाज में है।[१३] मार्क्सीय धारा के अधिकांश चिंतकों ने सौन्दर्य की सत्ता पूर्णतः वस्तुनिष्ठ ही नहीं क्रियानिष्ठ भी सिद्ध की है। और, उन्होंने हीगेलीय द्वन्द्वात्मक प्रगति का भौतिकवादी अर्थ ग्रहणकर मूल सत्ता तक की प्रकल्पना द्वन्द्व-नैरन्तर्य में स्वीकार की है।[१४] इन सबसे पृथक् किर्कगार्ड, सार्त्र-प्रभृति अस्तित्ववादियों ने जीवन-सौन्दर्य का अर्थ 'होने' और 'होते रहने' में माना है।[१५] इस प्रकार सौन्दर्यभावना के सम्बन्ध में नाना प्रकार के मतवाद हैं और उनकी दो मूल दृष्टियाँ हैं—

१. सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ है, एवं २. सौन्दर्य आत्मनिष्ठ है।

परन्तु वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य देश, काल, पात्रानुसार क्षण-क्षण बदलता है। बिहारी लाल ने ठीक ही कहा है

समै समै सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोय।
मन कि रुचि जेती जिते तित तेती रुचि होय॥

माइकल एंजेलो ने जब कहा था, 'भई, आदमी हाथ से चित्रकारी नहीं करता, मन से करता है', और लेओनार्दो विंशी ने पादरी को जब बतलाया था कि 'प्रतिभावान् जो होते हैं उनका मन उस समय ही सबसे अधिक अन्वेषण करता होता है जब वे एकदम चुप बैठे होते हैं'[१६]; तो उन्होंने सौन्दर्य की आत्मनिष्ठता का ही संकेत दिया था। किन्तु, वह यदि पूर्णतः आत्मनिष्ठ ही हो तो जितने द्रष्टा होंगे उतने सुन्दर रूप भी होंगे। निश्चय ही यह स्थिति अनवस्था की है।

अतएव, कुछ ने उसका आख्यान उभयनिष्ठ मानकर किया है। लैशफिल्ड के अनुसार सौन्दर्य मन और वस्तु नामक दो चेतन-तत्त्वों के बीच जटिल संबंध है।[१७] 'कल्पनासौन्दर्य' का अर्थ, इसी मनःपदार्थनिष्ठ सम्बन्ध का, इसी अन्तरंग परस्परता का सामंजस्य है। अवश्य ही मानससौन्दर्य, जिसका भावन कलाकृति में किया जाता है, वस्तुमात्र के प्रत्यक्षगृहीत सौन्दर्य से उच्चतर है।[१८] यही प्लेटो की भी मूल विचारसरणी है: 'जागतिक सौन्दर्य मूल सौन्दर्य की प्रतिकृतियाँ हैं।' यह बात दूसरी है कि उनकी सौन्दर्य प्रकल्पना का केन्द्रस्थ

चेतःसस्थान धर्म, नीति, सत् था जिसमें प्रवेश, संघटन, व्यवस्था, सत् या नियमवर्त्तिता से, ज्यामिति-गणित के अनुशीलन से संभव माना गया था।[१९] किन्तु उनका तत्ववाद सुन्दर 'वस्तु' और 'सौन्दर्यप्रतीति' के संबंध का व्याख्यान उसी धरातल पर करता है, जिस धरातल पर साधारणीकरण के द्वारा भारतीय मत सौन्दर्यभावन का आख्यान करता है। 'साधारण्य' 'वस्तु' का वस्तुरूप में नहीं, वस्तु की साधारणता में ग्रहण है; 'वस्तु' को मानक 'धारणा' में विभावन है। फिर अरस्तू ने प्लैटो के तत्त्ववाद का संशोधन 'रेचन-सिद्धान्त' में जिस रूप में प्रस्तुत किया, वह प्रायः 'निबिड़निजमोहसंकटता-निवारण'-जैसी ही प्रक्रिया है। यह बात दूसरी है कि उसम कुछ होमियोपैथी अथवा रासायनिक गंध है।[२०] सारतः यह तो कहा ही जा सकता है कि कलागत सौन्दर्य बाह्य वस्तु के सौन्दर्य या वस्तुगत सौन्दर्य से किञ्चित् भिन्न है।

कलासौन्दर्य की विषयनिष्ठ धारणा और समन्वयवादी विचार :

इतना निर्विवाद है कि कलानुभूति के काल में कलास्वादक की मनःस्थिति कुछ और ही हो उठती है। अतः **ए० जी० बामगार्तेन** (१७१४-६२) ने तथा उनके बाद **इमानुएल कांत** (१६२४-१८०४) ने 'सौन्दर्य' की स्वतंत्र और ज्ञान-प्रयोजन-निरपेक्ष सत्ता की घोषणा की। इसका पुनराख्यान कर **विक्टर कजिन** (१७९२-१८६७), **ज्याफ्रे** और फिर **थियोफिले गोतिये** (१८११-१८७२) ने ल' आर्त पो' ल' आर्त, 'कला लका के लिए' सिद्धान्त का प्रवर्त्तन किया था जिसमें धीरे-धीरे चित्रकार **जेम्स एबौट मैक्जील ह्विस्लर** (१८३४-१९०३), **विंसेंट वान गॉग** (१८५३-९०), कवि **जरार द नर्वाल** (१८०८-५५), **एडगर एलेन पो** (१८०९-४९), **चार्ल्स बॉदलेयर** (१८२१-१८६७), **पॉल वर्लेन** (१८४४-१८९६), **स्टिफेन मलार्मे** (१८४२-१८९८), **आर्थर रैम्बो** (१८५४-१८९१), **ऑस्कर फिंगल ओफ्लाहर्ती विल्स वाइल्ड** (१८५४-१९००) आदि एवं आलोचक **वाल्टर होरेसियो पेटर** (१८३९-१८९४) आदि प्रसिद्ध कृतिकार, किन्तु दुर्धर्ष नीति-विरोधी समर्थक हुए।[२१] इन्होंने माना था कि—**गोतिये** की शब्दावली में—'जो भी वस्तु उपयोगी है, बिलकुल कुरूप है। घर का सबसे उपयोगी भाग वह है, जिसे हम शौचालय कहते हैं।' **एलडर एलेन पो** के कथनानुसार—'कला का परम ध्येय सौन्दर्य का विधान है, भावनाओं का जागरण है, आनन्द की उत्तेजना है; और यह काम कला 'टेरर' (आतंक) के जरिए करती है, ट्रेजेडी के जरिए करती है, सनक और पागलपन के जरिए करती है, किन्तु सत्य के द्वारा कभी नहीं करती।'[२२]

आस्कर वाइल्ड ने बतलाया है—'कला अपने सिवा और किसी की भी अभिव्यक्ति कभी भी नही करती; सारी गलत कलाएँ जीवन और प्रकृति में लौटने से जनमती हैं, जो उन्हें झूठे आदर्श में गढ डालती हैं; जीवन कला का अनुकरण अधिक करता है, कला जीवन का कम; मिथ्या-कथन, सुन्दर असत्य का विवरण—यही कला का संगत लक्ष्य है।'[२३] लगभग यही बात कुछ दार्शनिक व्याख्या द्वारा हीगेल ने भी कही थी।[२४] वस्तुतः हीगेल, क्रोचे आदि दार्शनिकों ने सौन्दर्य की ज्ञानादि-निरपेक्ष, प्रयोजनातीत, एवं स्वतंत्र स्वायत्तता की भावना के विकास को प्रभूत बल दिया था। आधुनिक काल में क्लाइव बेल ने भी बतलाया है कि कलागत प्रतीति प्रमाता के सौन्दर्यभाव (एस्थेटिक इमोशन) को—जो एक विशिष्ट भाव है—उन्मिषित करती है, और इस प्रतीति के लिए संसार के किसी भी प्रकार के अनुभव की आवश्यकता नही है।[२५] उसी प्रकार ए० सी० ब्रैडले[२६] बतलाते हैं कि—वह अनुभूति (कलानुभूति) स्वोद्गत, स्वतंत्र, स्वायत्त है, उसका संसार ही पृथक् है। आइ० ए० रिचर्ड्स ने इन दोनो के मतो का प्रत्याख्यान तो किया है, किन्तु अपना जो सिद्धान्त रखा है, उसमें सौन्दर्य, लय, काव्य और प्रभाव आदि को मानसिक, अतः संशोधित रूप में आत्मनिष्ठ (मनोवैज्ञानिक धरातल पर, अतः अनुभूयमान रूप में) माना है।[२७] कालिंगउड[२८] ने भी सौन्दर्यप्रतीति में कल्पना का अंश स्वीकार किया है, अर्थात् वह मात्र 'वस्तु' नही, विभावित होने के कारण 'वस्तु' से कुछ भिन्न है। कजिन्स ने[२९] पाश्चात्य सौन्दर्य-चिन्तन का जो विकास-क्रम प्रस्तुत किया है, वह बहुत अंशों में सौन्दर्य-संबंधी धारणाओं के वर्गों का भी द्योतक है, जो तीन हैं—

१—**सौन्दर्यगत एकसत्तावाद**—जिसमें सुकरात, प्लेटो आदि आत्मनिष्ठ अतिमावादी चिंतक हैं;

२—**सौन्दर्यगत द्वैतवाद**—जिनमें अठारहवी और उन्नीसवीं शताब्दियों के विचारक हैं जो द्रष्टा-दृश्य-युगल को मान्यता देते हैं, जैसे हचेसन, होगार्थ, बिसर।

३—**सौन्दर्यगत त्रैतवाद**—जिसमें वे सारे विचारक हैं जो वस्तु, कृति (सौन्दर्य) और चेतना के त्रिक को स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार कलागत सौन्दर्य के सर्जन, अभिव्यंजन और आस्वादन की प्रक्रिया के विवेचन के स्पष्टतः तीन पक्ष हो उठते हैं :

१—वह लौकिक है, लोकाश्रित है, लोकानुभव से पृथक् नहीं, एवं उसकी सत्ता पूर्णतया वस्तुनिष्ठ है[३०] तथा

२—वह अलौकिक है, लोकेतर है, लोकानुभव से उसका लगाव नहीं, अतः (क) उसका संसार स्वतंत्र, स्वायत्त है; अथवा (ख) यदि लगाव है, तो नाममात्र का; तथा

३—वह दोनो का सामंजस्य है, अथवा वस्तु, प्रमाता और सौन्दर्य-प्रतीति इन तीनो का अयुतसिद्धावयव विशिष्ट प्रकार है।

असग या 'केवल' सौन्दर्य :

दार्शनिक मूर की स्थापना कुछ ऐसी है[३१] कि जिससे ये सौन्दर्य की सत्ता द्रष्टा-निरपेक्ष भी मानते हैं—'कल्पना करें कि एक अतीव रम्य जगत है, इतना सुन्दर कि जितने की कल्पना की जा सकती है। फिर कल्पना करें कि एक घोर घृण्य जगत है, वीभत्स, मवादों का, गंदगियो और दुर्गन्धों का जगत्। परन्तु यह भी कल्पना करें कि इन दोनों में कहीं भी मानव न है, न था, न रहेगा जो सुन्दर को देख खुश होता है या जघन्य से क्षुब्ध। अब मैं कहूँ कि, यदि सुन्दर जगत ही रहे, न कि असुन्दर, तो क्या विवेकहीन करार दिया जाऊँगा?'

सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठ द्रष्टा-निरपेक्ष सत्ता का यह तर्क, 'भोग' की भावना से उसे मुक्त कर लेने की यह विधि कुछ ऐसी सशक्त है, कि यद्यपि यह तर्क-विरुद्ध है और प्राविधिक दोष से दूषित है, तथापि उसका प्रत्याख्यान करने और उन्हें अविवेकी सिद्ध करने के लिए जरठ बौद्धिकता की अपेक्षा है। 'सुन्दर' 'असुन्दर' से तर्कातीत रूप में उत्तम तो है; किन्तु, भोक्ता-निरपेक्ष सौन्दर्य में 'भोग'-भाव की उच्छूनता न होगी—वह किसी का 'भोग्य' हो रहा है, इस समर्पण के कर्तृत्व का व्यञ्जन न होगा, जो सौन्दर्य, अथवा कला का लक्षण है[३२]—

कर्तृशक्तिव्यनक्त्यस्य कला सात· प्रयोजिका।
तत कलासमायुक्तो भागेऽणु कर्तृकारकम्॥

दूसरे शब्दो में, सौन्दर्य, और कलासौन्दर्य, प्रधानतः, अभिव्यक्ति है-यानी आन्तरिक का बाह्य प्रकटीकरण। इसमें तीन क्रम हैं, १-भोग २-रूपायण ३-अभिव्यंजन। सौंदर्य के आन्तरिक द्रव्य या पदार्थ 'भोग' में अपने मूलस्थ भाव के अनुरूप फैलते-सिमटते, कटते-छँटते हैं, और इस प्रकार समर्पित हो 'भोग' की प्रक्रिया को सार्थक करते हुए अपने तन्तुओं (इन्टर्नल टेक्सचर) को बाह्य (स्ट्रक्चरल फार्म) बनाते हैं। दूसरे चरण में पदार्थ मूलस्थ भाव से मुक्त होकर कुछ सूक्ष्म ध्वननों से गर्भित हो उठते हैं, और एक संरूप में उभरने लगते हैं जो रूपायण की प्रक्रिया है। फिर, तीसरे चरण में प्रकट

होकर अपना अभिनव अभिव्यंजन प्रस्तुत करते है—सौन्दर्य या रमणीय प्रतीति।[३३] उपर्युक्त द्रष्टा-निरपेक्ष सौन्दर्य में ये तीनों चरण तिरोभूत हैं। अतएव, वह स्पन्दन-शून्य एवं अपूर्ण है। क्रोचे ने भी रूप (फॉर्म) के द्वारा विषय (मैटर) के आभरण और निगरण में ही पूर्ण रूपायिति मानी है। सौन्दर्य का द्रष्टा-दृश्य परामर्श पर प्रकल्पित सिद्धान्त अधिक मांगलिक भी है।

कलाएँ और उनका जीवसंस्थानीय एवं सांस्कृतिक मूल्य :

'कलाएँ मानव-संस्कृति की गति-प्रगति सूचित करनेवाले गौरव स्तम्भ हैं। जीवनमूल्यों के अभिलेखों के लिए वे हमारे संचित आगार हैं। वे असाधारण व्यक्तियों के जीवन-काल की उन प्रातिभ अवधियों से फूट निकली हैं, और उन्हें अमर बनाती हैं, जब जीवनानुभव पर उनका उच्चतम अधिकार और व्यवस्थापन होता है; जब उन्हें जीवन की विविध संभावनाओं का पूर्ण साक्षात् होता है, जिनमें नाना व्यापार-स्रोतों के बीच श्रेष्ठ सूक्ष्म-गंभीर सामंजस्य-स्थापना रहती है; और जब व्यक्तिगत स्वार्थ की सीमाओं, अथवा मूढ़ और आकुल असंगतियों की जगह सूक्ष्म और प्रगाढ़ चित्तविश्रान्ति रहती है। अतएव प्रेरणा-स्रोत और उद्भव में, या रचना-प्रक्रिया में और संप्रेषण-माध्यम के रूप में, दोनों दृष्टियों से, कलाएँ अनुभव-राशियों के मूल्यों के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण निर्णयों के अभिलेख हैं।'[३४] रिचर्ड्स के ये विचार भारतीय साहित्य-शास्त्र के मंतव्यों से बहुत दूर नहीं।

रिचर्ड्स के विचारों के साथ युंग-जैसे मनोविश्लेषकों के ये विचार द्रष्टव्य हैं : 'चेतोदय (इमर्जेन्स ऑफ कांशसनेस) के साथ प्राणी के प्राक्चेतन जीवनसंस्थान और जैव अभिसंधन के बीच जो सहवर्तित्व और सहयोग का संतुलन था वह छिन्न हो उठा; भूतसमष्टि से, सारे परिवेश से, जगत् से उसका जो लयात्मक ध्वनन था, वह नष्ट हो गया। किन्तु, प्राणी प्रजनन और संरक्षण के जैव व्यापार से या प्रकृति के अंधे चक्र से 'चेतना' (कांशसनेस) के कारण ही बाहर निकल सका। यह लाभ तो हुआ, पर जीवसंस्थानीय और प्रकृतिगत एकता जो प्राणी में थी, वह दो भागों में बँट गयी। ये भाग हुए—'अहं' और 'इदं' के भाग। द्वैध की, संशय की, यह स्थिति ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से धर्म का मूलाधार है।...

'जब भी हम उस द्विधा के रहस्य का भेदन ऐसा करना चाहें, कि वह तर्क और विवेक से अधिक गहरा और पूर्ण हो, चाहे धर्म में या कला में, तब हमें प्राक्तर्कणा के अतिपुरातन और प्राथमिक मूलाधार

(मैट्रिक्स), 'अचेतन' में आना पड़ेगा—उस 'सामूहिक अचेतन' म आना पड़ेगा जो 'आद्यबिम्बों' का अनादि-अजस्र स्रोत है।[३५] मनुष्य का सबसे सशक्त आद्यबिम्बात्मक अनुभव 'ईश्वर' का है। इस अनुभव मे अचेतन-चेतन मानस के योग से द्विध्रुवीय दोलन विश्रान्त होता है; द्वैध के पूर्ण एकीकरण से तनाव दूर होजाता है। 'अहं' के इस प्रकार के विलय के कारण ही रहस्यदर्शी उस अनुभव को 'शून्य', 'न-स्थिति' आदि मानता है। उसी प्रकार सच्ची कला और धर्म के अनुभव, प्रायः समान चैतन्यशक्ति के अनुभव हैं। अतएव, कलाकार भी जब आद्यबिम्ब का साक्षात् करता है, तो जैसे वह उसको समर्पित हो उठता है और उसकी अपार विभूति मे आश्लिष्ट होते ही व्यक्ति-सत्ता विलीन हो जाती है'।[३६]

कलास्वादक की दृष्टि से भी यही बात **क्लाइव बेल** ने कही है—'आह्लाद के उन क्षणों में, जिनमें कला हमें ले चलती है, यह विश्वास सहज हो उठता है कि हम सत्य अथवा वास्तविक संसार की मूल अनुभूति से अभिषिक्त हो उठे हैं। इसे माननेवाले को यह कहना पड़ता है कि सभी पदार्थों में वह मूल तत्व है—वह सत्य है— जिससे कला सृष्ट होती है।'[३७] कहना न होगा कि नवअफलातूनी दार्शनिकों ने, **गेटे** ने, **ब्लेक** ने, **शूपेनहावर, शीलर** और **तालस्ताय** ने भी धर्म और कला में प्राय. एक ही भावानुभूति, एक ही प्रयोजन का आख्यान विविध प्रकारों से किया था।

इस प्रकार **रिचर्ड्स** के मनस्संस्थानीय सांस्कृतिक मूल्य के साथ **ऐडलर-यंग** द्वारा निर्दिष्ट अथच **क्लाइव बेल** आदि द्वारा संकेतित जीव-संस्थानीय (आर्गेनिज्मिक) एवं तात्त्विक (मेटाफिजिकल) मूल्य संयुक्त कर देने पर, कला के मूल्य-निर्धारण के लिए मनोवैज्ञानिक प्रतिमान एवं विधि आदि के संकेत मिल जाते हैं।

भारतीय दृष्टि : कला का धार्मिक-आध्यात्मिक मूल्य :

भारतीय कलाशास्त्र कलाओं का मूल उत्स मात्र इस व्यक्तिजीवन में, इस जीवन के संस्कारों में नही मानता। कला 'प्रतिभा' का उन्मीलन है। वह 'एकघननिर्विघ्नसंविदविश्रान्ति' तो है ही, 'सर्वथा रसनात्मक वीतविघ्न प्रतीति-रूप' भी है। वह आनन्द है। वह 'रस' है। यह 'रस', 'रसो वै सः' कोटि का अर्थात् 'ब्रह्मरूप' माना गया है। भारतीय काव्य-कला-प्रकल्पना में काव्यादि का रसानन्द रसब्रह्मरूप, संगीतादि की एकघनचर्वणा नादब्रह्मरूप एवं वास्तुसौन्दर्य की घन-प्रतीति वास्तुब्रह्मरूप है।

'ब्रह्मवाद' और रसब्रह्मवाद, नादब्रह्मवाद तथा वास्तुब्रह्मवाद :

रसब्रह्मवाद, नादब्रह्मवाद, वास्तुब्रह्मवाद का[३८] त्रिक भावना के क्षेत्र का अद्वैतवादी संस्थान है। साधना या चिंतना के क्षेत्र में वेदान्तियों का भावाद्वैत (ब्रह्माद्वैत), बौधों का विज्ञानाद्वैत और भर्तृहरि का शब्दाद्वैत लगभग समान त्रिक-संस्थान हैं।[३९] इस गूढ़ और जटिल तत्ववाद के परिप्रेक्ष्य में कलाओं की जो भारतीय परिकल्पना है, वह गहन और ऊर्ध्वगामी है। सारतः, वह आविर्भाव में तिरोभाव का व्यंजक है।[४०]

इलोरा के कैलाश मंदिर के भव्य विस्तार, आकार की ऐश्वर्यमयी विभूति और उत्थान की ऊर्ध्वगामी एकघनवृत्ति की प्रतीति कर अथवा प० ओंकारनाथ ठाकुर की भैरवी की एकतान आन्दोलित नाद की महाप्राण-धारा में प्रवाहित होने पर, अथवा किसी मनोहर कविता के आस्वादन-काल में हमारी जो अवस्था होती है, वह आविर्भाव में तिरोभाव की है। उस अवस्था का अतीव मनोज्ञ संकेत कालिदास ने इस रूप में दिया है।

> रम्याणिवीक्ष्य मधुराश्चनिशम्य शब्दान् पर्युत्सुकोभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
> तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि॥

उस समय हम 'अबोधपूर्व' 'कुछ' स्मरण-सा करते होते हैं। यह स्मरण योगसूत्र (४/१०) में वर्णित स्मृति और संस्कार का एकघनरूप है; अभिनवगुप्त के शब्दों में, 'प्रतिभान' है। पूर्वानुभव के बिना भी अनायास स्मृति हो रही है; पर, इस स्मरण में भावबंध अचेतन के 'आद्यबिम्ब' का साक्षात् मात्र नहीं; 'स्मरति' में तल्लीनता है, पर उतनी ही बात नहीं। वह 'जननान्तर सौहृदानि' भी है। इस स्मरण में 'समंजन' और तल्लीनता के भौतिक धरातल की 'एकघनसंवितविश्रान्ति' भी है। किंतु, साथ-साथ उसमें 'पर्युत्सुकी' भाव भी है। एक लोकेतर 'वैकल्य' (या उत्कंठा कहें) भी है। अतीव महत्त्वपूर्ण संकेत इस 'पर्युत्सुकी भवति' द्वारा द्योतित किया गया है। यह पर्युत्सुकी भाव भेद द्वारा एवं भेद में, अभेद से साक्षात् के लिए जगता है, 'अनेक' का 'एक' से 'सम्मिलन' के लिए उद्रिक्त होता है। भारतीय दर्शन-धर्म-कला उसी 'एक' की सम्प्राप्ति-हेतु चिंतन-भावन-सर्जन का एकतान उन्मेष है।

कला-सर्जन में और आस्वादन में भी हम निरन्तर 'जननान्तर' 'सौहृदानि' का 'अबोधपूर्व' स्मरण करते हुए अनेकता में एकता की प्राप्ति के

लिए विकल होते हैं। आत्मविलयन के द्वारा आत्मोलब्धि की यह प्रक्रिया उत्तरोत्तर गहन और संवर्धमान भी है। रोम्यां रोलां के शब्दों में, 'भारतीय ब्रह्मवाद का दर्शन काल की अबाध विस्तीर्णता को आलिंगित करता है। वह मानव के युग-चक्रों की संहति है, जिनमे एक-एक व्यष्टि-चक्र अनुक्रमशः एककेन्द्रिक धुरी के गुरुत्वाकर्षण में खिंचे घूमते हैं और शनैः शनैः केन्द्र की ओर बढ़ते हैं—उस केन्द्र की ओर, जो मुक्ति-केन्द्र है, जिस मुक्ति की सम्प्राप्ति कुछ महात्माओं ने कर भी ली है। इस दर्शन में नैराश्य नही, व्यर्थता नहीं। अनन्त काल उसके सामने फैला है। विफलता का रोष या क्षोभ उसे नही छूता। भ्रांति वहा पाप नहीं, कशोर है। काल का पूर्ण वृत्त उसे अपनी यात्रा-द्वारा समाप्त करना ही है। वह धीर है, चक्र घूमे और वह प्रतीक्षा करेगा। ···जीवात्माओं के विपुल आनन्त्य और मनोकामनाओं के प्रभूत वैविध्य की गति उस शाश्वत लय के साथ संवादित है, जो एकत्व की महाधारा में उन्हें संयुक्त कर देती है; जिस महाधारा का पर्यवसान उस अन्विति में है, जिसे 'एक' कहते हैं।'[४१]

ब्रह्मवाद का पूर्णवृत्त भारतीय कलाओं का भी वृत्त है। इ० बी० हैवेल[४२] ने बतलाया है कि भारतीय कला सौन्दर्य के द्वारा उसी 'एक' का अनुसंधान है; परिमिति द्वारा अपरिमेय का आविष्कार है। और, सौन्दर्य उस 'एक' के ऐश्वर्य और विभूति का संकेतक है। डा० राधाकमल मुखर्जी के शब्दों में 'भारतीय संस्कृति की भांति भारतीय कला मानववाद और प्रकृतिवाद से उच्चतर सत्यों और महत्तर मूल्यों को महत्व देती है। वह मात्र नार्सिसस (विरोचनवादी) नहीं, न मात्र प्रकृति का ध्वनन है। उसमें ब्रह्माण्ड या सृष्टिचक्र (कॉस्मस) का विपुल स्वर और वृत्ति झंकृत होता है। सृष्टि के विश्वात्मवाद और उससे भी महत्तर सत्य भारतीय कलाकृतियों के शाश्वत प्रतिमान हैं।'[४३]

भारतीय कला का त्रिक संस्थान :

प्राचीन भारतीय कला-प्रकल्पना के तीन घटक हैं :—

(१) चक्षुरिन्द्रिय-ग्राह्य वास्तुकला,

(२) श्रवणेन्द्रिय-ग्राह्य संगीतकला, एव

(३) उभयेन्द्रिय, अतः प्रातिनिधिक रूप में सर्वेन्द्रियग्राह्य नाट्य-काव्य।

जैसा कि ऊपर संकेतित किया गया, वास्तुकला वास्तुब्रह्मवाद के द्वारा, संगीतकला नादब्रह्मवाद के द्वारा एवं नाट्य-काव्य रस (ब्रह्म) द्वारा ब्रह्म-रूप माने गये एवं परिनिष्ठित हुए हैं।

वास्तुकला और वास्तुब्रह्मवाद

गुफा-कंदरा के निर्माण, शरीरी रंग-लेप आदि की जादुई वृत्ति अथवा बर्तन-भांडों आदि के उपयोगी शिल्प कब उदात्तीकृत हो, वास्तुकला का जन्म दे गये यह कहना कठिन है। [४४]इसी भाँति प्रायः समान कलाकृतियाँ दूर-दूर तक[४५] के देशों में उत्खनन से प्राप्त हुई हैं। अतः, यह कहना भी कठिन है, कि वास्तुकला का उद्भव कहां, कैसे हुआ। फिर यह भी बतलाना सामान्य नही है कि प्राथमिक कलाओं, जैसे बर्तन, भांडे बनाने की कला से भास्कर्य और चित्र का और उससे फिर वास्तु-स्थापत्य का क्रमिक विकास हुआ अथवा पर्वत-कंदराओं, तरु-कोटरों, वृक्षाच्छादनों के प्राकृतिक आवासो से उसका लगाव है। उसी भाँति उसके अलंकरण एवं भित्तिचित्रादि भीतिजन्य थे और रक्षणार्थ जादू-टोने के प्रतीक थे, और/अथवा विस्मयादि से उद्भूत हुए थे तथा रंजनार्थ देवता के प्रतीक थे, या कि समस्त वास्तुकला के मूल में आश्रय-रूप 'गर्भाशय' और 'योनि' हैं, यह भी निर्विवादरूप में नही कहा जा सकता।[४६]

भारतीय वास्तुकला के तीन प्रधान वर्ग या परम्पराएँ मिलती हैं, जिनके वास्तुशास्त्र पृथक्-पृथक् हैं: १—शैव परम्परा २—ब्रह्म-परम्परा और ३—मय-परम्परा। डा० कान्तिचन्द्र पांडेय के अनुसार शैव परंपरा सबसे प्राचीन है और उसका सम्बन्ध हड़प्पा-मोहनजोदड़ो की वास्तुकला से है, जहाँ की खुदाई से शिव की और योगसाधना की मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। शैवागमों (संख्या प्रायः ६२) में से अनेक में वास्तु और स्थापत्य से सम्बन्धित विधि-विधानों की चर्चाएँ हैं। अतएव डा० प्रसन्नकुमार आचार्य ने आगमो को वास्तुविद्या की दृष्टि से पुराणादि से भी महत्वपूर्ण माना है। [४७] दूसरी ओर डा० तारापद भट्टाचार्य[४८] वास्तुकला की दो परम्पराएँ स्वीकार करते हैं: १—उत्तरी, और २—दक्षिणी। उत्तरी परम्परा में विश्वकर्मा और दक्षिणी में मय वास्तुविद्या के प्रवर्त्तक और प्रसिद्ध स्थपति माने गये हैं। इन परम्पराओ से आगे चलकर अन्य परम्पराओं और शैलियों का विकास हुआ। **धारानरेश महाराज भोज** ने 'समरांगण सूत्रधार' में नागर, द्रविड़, भूमिज, लाट आदि शैलियों की चर्चा की है। पूर्वोक्त ब्राह्म-शैवादि परम्पराओं में प्राविधिक वास्तुशास्त्र के अनेक प्रामाणिक ग्रंथ प्रणीत हुए थे।

'सर्वजगन्मय' वास्तु में 'ध्यान', 'बिम्बमूल' और 'प्रतीक' :

ग्रन्थ ब्राह्मपरम्परा के हों या अन्य परम्पराओं के, प्रायः सभी में वास्तुविद्या-विवेचन स्थापत्य, भित्तिचित्र और प्रतिमा तीनों को लेकर हुआ है। **विष्णुधर्मोत्तर पुराण** मे ४३ अध्यायों मे स्थापत्य, भित्तिचित्र और मूर्तिकला पर विवेचन है; **मत्स्यपुराण** मे स्थापत्य और मूर्तिकला का विवेचन १५५, २५८, २६२, २६३, २६९ एवं २७० वे अध्यायो मे है। उसी भाँति **स्कन्द, गरुड़, अग्नि** आदि **पुराणों** में भी स्थापत्य, भित्तिचित्र और मूर्ति तीनों की रचना-विधि आदि का विवरण है। आगमों में भी प्रायः यही विधि है। इन सबसे इतना तो स्पष्ट होता है कि प्रतिमा के केन्द्रबिन्दुत्त्व मे ही भित्तिचित्रों और प्रासादों, और फिर पुर-पुरियों के विस्तार-विकास की परिकल्पना इन समस्त वास्तुशास्त्रों में प्रायः समान है। यह प्रकल्पना प्राण (आत्मा) और शरीर के समीकरण मे अथवा अन्तस्साधनात्मक योग और प्रकृति के बाह्योपासनात्मक यज्ञ से[४९] उद्भावित हुई, इस पर कुछ भी कहना कठिन है। किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है, कि 'वास्तुकला की प्रतिनिधि एवं प्रमुख कृति प्रासाद है। प्रासाद-कला के सिद्धान्त धर्म और दर्शन की महाभावना से नीचे से ऊपर तक अनुप्राणित हैं। प्रासाद स्वयं देव-प्रतिमा है।'[५०] इस कारण प्रासाद-निर्माता स्थपति स्वयं ब्रह्मा या विश्वकर्मा बतलाया गया है। 'समरांगण सूत्रधार' मे **भोज** कहते हैं 'स्थापकान् स्थपतींश्चापि पूजयामि स्वशक्तितः।' उसे शास्त्र, कर्म-कौशल, प्रज्ञा, शील, एवं लक्ष्यलक्षणयुक्त वास्तुविद्या[५१] में पूर्णतः योग्य होना चाहिये। **शुक्राचार्य** ने मूर्तिकार के लिए जिस ध्यानयोग का उल्लेख किया है, उससे यह पता लगता है कि इन स्थपतियों को कैसी साधना करनी पड़ती थी। **डा० कुमारस्वामी** ने[५२] बतलाया है—'उपासना और कला में ध्यान (समाधि) का महत्व समान है। ध्यान की प्रगाढ़ता के लिए स्वप्न का भी महत्व अग्निपुराण (४३) तथा पातञ्जल योगसूत्र (१,३८) कठोपनिषद् (५,८) आदि मे उल्लिखित मिलेगा।' 'देवो भूत्वा देवं भजेत्' में ध्यान की ही महिमा है। कलाकार का ध्यान एकाग्र हो, इसके लिए उसे कड़ी साधना करनी पड़ती थी। एक उदाहरण **बौद्धसूत्र** से यह है— 'कलाकार विधिवत् शुद्ध हो, निर्जन स्थान में जाता था। वहाँ उसे सात साधनाभूमियाँ पार करनी पड़ती थी। बुद्ध और बोधिसत्वों का आह्वान और उन्हें मालार्पण पहला काम था। फिर उसे मैत्री, कारुण्य, समानुभूति और निस्संगता की धारणा करनी पड़ती थी। तब उसे

'शून्य' का मनन करना पड़ता था क्योंकि शून्य की नकाररूप ध्वनि से जो आग पैदा होती है, वह अहं के पटल या ग्रंथि भस्म करती है। इसके बाद उसे 'बीजध्वनि' के द्वारा मंत्र का उच्चारण करना, और तब उस ध्येय के दिव्य रूप में तादात्म्य करना पड़ता था। तब कहीं, ध्यान-मंत्र के जाप के साथ उस 'विभूति' का प्रत्यक्षरूप आविर्भूत होता था, जैसे प्रतिबिम्ब हो, अथवा आत्म-दर्शन हो, और यह 'बिम्ब' जो प्रत्यक्षवत् झलक आता था, कलाकार का आदर्श प्रतीक (मॉडल) होता था।'

यह अनुष्ठान कुछ प्राविधिक विस्तार रखता है, पर आवश्यक पदों में कलाकार से संबद्ध मनोविज्ञान के अभिज्ञान का परिचायक है। चिंतन-क्रिया का इतर-क्षेत्रों से निरोध, अहं-चेतना का भञ्जन, सघननिजमोहसंकटता-निवारण, निर्वैयक्तीकरण (डिपर्सनलाइजेशन), आत्मरिक्तता, विश्रान्ति आदि नाम से विश्व के अनेक कलाकारों-शास्त्रविदों ने 'योग' या 'समाधि' का महत्व स्वीकार किया है। यही नहीं, शुक्राचार्य से उद्धरण अनूदित कर डा० कुमारस्वामी ने बतलाया है कि 'ईश्वर से तन्मयता हो, अर्थात् समाधि प्रगाढ़ हो तो मूर्त्तिकार की शक्ति और गुण से अधिकतर सदोष मूर्त्तियों के दोष भी लुप्त होते देखे गये हैं।'

यहाँ दो बातें द्रष्टव्य हैं, एक यह कि उपरिवर्णित बौद्धसूत्र की सप्त-भूमिकासाधना की शब्दावली, भूमिका आदि पर पातञ्जल योगसूत्र का प्रभाव है; दूसरी यह कि वास्तु, प्रतिमा आदि की निर्माण-विधियों पर एक ओर से योग का और दूसरी ओर से भक्ति-धर्म का प्रभाव पड़ता गया। फलतः, स्थापत्य, चित्र और मूर्त्तिकलाओं का सौन्दर्य आत्मप्रकाश या प्रातिभ उत्सर्जन न होकर धर्मादि के द्वारा उत्प्रेरित-अनुशासित होता गया। योग और धर्म ने वास्तुकला में विभूति और ऐश्वर्य, परम शान्ति का उदात्त औज्ज्वल्य एवं चरम ऐश्वर्य का रंगमय उद्दीप्त चांचल्य, धर्ममोक्ष एवं अर्थकाम, स्थैर्य और वेग, अर्थात् घनत्व और विस्तार के दोनों आयामों में प्रगति की प्रेरणा दी। यह प्रगति तब तक कायम रही, जब तक प्रतिमा-भंजक संस्कृति की चोटें वास्तुकला पर न पड़ीं। योग ने स्रष्टा-निर्माता को एकाग्रता की वृत्ति दी, धर्म ने आन्तरिक-सामाजिक प्रेरणा-भावना। इन दोनों के कारण कलानिर्मिति में एकतानता और भव्यता आयी।

योग और धर्म के मणिकाञ्चन संयोग से वास्तुकला में प्रतीकत्व भी उभरने लगा। वैसे, प्रतिमा और प्रासाद (मन्दिर) की प्रातीकिकता विष्णुधर्मोत्तर

पुराण आदि में अनेकशः वर्णित भी है। बतलाया गया है, कि स्थापत्य प्रतिमा के रूप-गुण का ही बृहद् प्रसारण है; वास्तु 'सर्वजगन्मयं' प्रस्तुति है। इसलिये खड़ी प्रतिमा के लिए स्थानक; उपविष्ट के लिए आसन; लेटी हो, तो शयन-मन्दिर के स्थापत्य अलग-अलग हैं। मन्दिरों में स्तम्भ भी देवता के अनुरूप कल्पित किये गये हैं: ब्रह्मकान्त, ईशकान्त, विष्णुकान्त, जो क्रमशः वर्गाकार, वर्तुल और पहलदार है (प्रलम्बाटभुजं विष्णुं अथवापि चतुर्भुजम्)। सम्पूर्ण मन्दिर की स्थापत्य-शैली प्रतिमा की प्रधान मुद्रा के अनुरूप परिकल्पित हुई है। स्तम्भ, भित्तियाँ, शिखर भी समतोल रूप में दृढ एवं एक ही लय में एकतान उत्थित बतलाये गये हैं। प्रतिमा के अंग, आभूषणादि भी प्रतीक हैं; यथा—'देवी' के हाथ में 'दर्पण' निर्मल ज्ञान का प्रतीक है। ब्रह्मा के विन्यास के प्रतीक इस प्रकार हैं—

ब्रह्मा = रजोगुण = रक्तवर्ण; ज्ञानी = चार वेद = चतुर्मुख;
व्याप्त = चार दिशाएँ=चार हाथ; स्रष्टा = चराचर जगत्=कमंडल;
अतीत = काल = अक्षमाला; त्यागमय=यज्ञीय बलि=कृष्ण मृगछाला;
शुभ्र, लोकन्यायी=सप्तालोक उज्ज्वल = सात हंस। [५३]

भित्तिचित्रों, पाषाणचित्रों में प्रतिमा के ही अन्य गुणादि का आलेखित करने का विधान है। इस प्रकार प्रतिमा और प्रासाद, भाव और प्रतिमा की प्रकल्पना जन्यजनक रूप में वैसी ही की गयी है जैसे न्यायवैशेषिक समाधिकरण्य में भोगायतनं शरीरम् की मानी गयी है। प्रतिमा का मूलस्थ भाव परम भाव का आविर्भूत प्रतीक माना गया है। मूल प्रतिमा केन्द्रीय तत्त्व है, भित्तिप्रतिमाएँ अथवा चित्रादि उनके विशिष्ट गुणादि की सहचर भाव-मूर्तियाँ हैं और प्रासाद उनका बाह्य प्रकट शरीर है। इस प्रकार प्रतिमा→भित्तिप्रतिमा→प्रासाद, अथवा मूर्तिकला→चित्रकला→स्थापत्य-कला के प्रस्थानक्रम को समाहित करनेवाली वास्तुकला भी स्वयं ब्रह्मरूप मानी गई है। 'निवेश्य वास्तु में 'पुरुष' की प्रकल्पना से उस पद विशेष की सत्ता का विश्व की सत्ता के साथ ऐकात्म्य स्थापित करना अभिप्रेत है'; हरिवंश (अ० १) का यह मंतव्य प्रतिमापुरुष और प्रासाद के अन्तरंग सम्बन्ध का द्योतन करता है।

महाराज भोज ने, इस कारण, वास्तुकला-प्रकल्पना में वास्तुब्रह्मवाद की जो उद्भावना की, वह मात्र अन्य ब्रह्मवादों की प्रतिध्वनि न थी, और न मात्र आध्यात्मीकरण की प्रवृत्ति ही। वस्तुतः वह वास्तुकला की महिमामयी मंगल मूर्ति के लिए कितनी दीर्घ और नैष्ठिक साधना अपेक्षित है इसकी स्वीकृति है।

वास्तु ब्रह्मा ससार्जादौ विश्वमप्यखिलं तथा।...
देवः स पातु भुवनत्रयसूत्रधारस्त्वां बालचन्द्रकलिकाङ्कितजूटकोटिः।
एतत् समग्रमपि कारणमन्तरेण कात्स्न्यादसूत्रितमसूत्र्यत येन विश्वम्।।५४

संगीतकला और नादब्रह्मवाद :

वास्तुकला आपाततः दृश्य है; संगीतकला सम्पूर्णतः श्रव्य। वह मात्र नर्त्तन में दृश्य है। वास्तुकला दृढ़ ठोस सनातन है; पर संगीत प्रतिपल परिवर्तित या विलीयमान एक स्पन्द है। वह अपनी आकृति (कान्टेन्ट) में भरी हुई है। इसमें कोई आकृति है ही नहीं; जो है, वह बस, नाद। फलतः अर्थ का वह जमाव है—पदार्थ-रूप है। यह अर्थतत्व से सर्वथा अलिप्त है। अतएव गेटे ने जो कहा था, कि स्थापत्य जड़ीभूत संगीत है और उसका भारसाम्य दृढ़ीभूत लय, वह पूर्णतः युक्तियुक्त कहा था। शोपेनहावर ने जब संगीत को दृश्य जगत् से पूर्णतः मुक्त माना था, यथार्थ से अवच्छिन्न, राग-विराग से रिक्त, आभ्यंतर प्रकृति के संवेग को उद्बुद्ध करनेवाला, मूल इच्छाशक्ति की प्रतिकृति, एक 'केवल' स्थिति, तो उन्होंने भी लगभग वही बात कही थी।५५ वास्तुकला में बुद्धि से जितनी प्रबल वार्त्ता संभव है अथवा अपेक्षित भी, संगीतकला में बुद्धि से वैसी ही निस्संगता अपेक्षित है; और बुद्धि से जो सूक्ष्मतर है, उससे उसकी वार्ता चलती है। अतएव, ये दोनो कलाएँ द्विध्रुवीय संस्थानवत् हैं। वह तादात्म्य की साधना है, जो प्रतिमा के मूलभाव में जाकर तन्मनस्क होती है। यह तन्मनस्क भाव की आराधना है, जो नर्त्तन में बद्ध हो तादात्म्य का संधान करती है।

सगीत में गीतवाद्यनर्त्तन तीनों सन्निविष्ट हैं : गीतं वाद्यं नर्त्तनं च संगीतमुच्यते (**श्री दामोदर शास्त्री**)। '**शा र्ङ्गदेव**' के अनुसार वाद्य एवं नृत्य गीत के उपरंजक एवं उत्कर्ष-विधायक हैं—नृत्तं वाद्यनुगं प्रोक्तं वाद्यं गीतानुवर्त्ति च५६। इनसे यह स्पष्ट होता है कि संगीत का मूल और प्रधान तत्त्व है गीत, अथवा आलाप। वाद्यसंगीत उसकी मध्यभूमि या मध्यमा-रूप, अथवा उपरंजक है। नर्त्तन उसका पूर्ण विकास है। नर्त्तन में नृत्त का संगीत से योग भी होता है। इस दृष्टि से संगीत का प्रस्थान-क्रम है—गीत (आलाप)→वाद्य-संगीत→नर्त्तन। वास्तुकला का लयक्रम, जैसा कि हम देख चुके हैं, है स्थापत्य→भित्तिप्रतिमाचित्रादि→मूर्त्ति। मजब है, कि विद्युत्-तरंगों में तरलायित भावदेहरूप 'नर्त्तन' वही है, जो पाषाण में स्थिरीकृत भावप्रतीक 'मूर्त्ति' है।

संगीतकला के शास्त्रीय एवं मौलिक प्रस्थानविन्दु वेद है, जिनमें सामवेद प्रधान है। ऋग्वेद में भी 'साम' के उल्लेख हैं—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः, सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥—१०-१०-६

नाना प्रकार के वाद्ययंत्रों के भी उल्लेख ऋग्वेद में मिलते हैं। सामवेदी परम्परा संगीत की बड़ी विस्तृत परम्परा थी—सामवेदं सहस्रेण शाखानं च विभेदतः (कूर्म पुराण-४६,५१,८)। वेद-पाठ के नाना स्वरों में से उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को मूल सांगीतिक स्वर मान कर उनका ही उपबृंहण संगीत के स्वर में किया गया। ५७ सामवेद के उपवेद गांधर्ववेद में संगीत का अत्यधिक विस्तृत विवेचन है। उसके छत्तीस हजार ग्रंथ हैं (अभिनवगुप्त : गान्धर्ववेदः षट्त्रिंशत्सहस्रग्रन्थसंमितः, यत्र सप्तस्वरोत्पत्तिकथनं परिकीर्त्यते) जिनमें गान, वाद्य, नर्त्तन का सांगोपांग विवरण, विधि आदि वर्णित हैं। (अस्य गन्धर्वाय गानमिति साम योनिः—अभिनवगुप्त)। इनसे यह सूचित होता है कि संगीत का प्राथमिक रूप गान था। 'गान' प्रधानतः यज्ञादि में उद्गाता का काम था, जिसमें वाद्ययंत्रों द्वारा संगत गंधर्वादि करते थे, और अन्य तीन पुरोहित उद्गाता के स्वर के निर्वंश (टेक) की आवृत्ति करते थे। इनसे ही संगीत के कई भाग निकले—गायन, अलंकरण, वादन, टेक या आवृत्ति, लय आदि। गानविद्या में १-'ग्रामेगेयगान' एवं २-'अरण्येगेयगान' प्राथमिक गान स्वीकार किये गये हैं, जिनसे पता लगता है कि ग्राम (लोक) गीतों की चाल ही गान के माधुर्य का मूलाधार थी।

पाणिनि के समय तक षडज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद स्वर-सप्तक विकसित हो गये थे।

उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्ते ऋषभधैवतौ।
स्वरित प्रभवाह्यते षडजमध्यमपञ्चमा ॥

पाणिनि के समकालीन **नंदिकेश्वर** थे। वे नन्दिकेश्वर-काशिका के रचयिता बतलाये जाते हैं। उन्होंने माहेश्वर-सूत्र के दो अर्थ-प्रस्थान प्रस्तुत किये हैं : १—माहेश्वर सूत्र-रूप में शैवाद्वैती सृष्टिक्रम-सम्बन्धी अर्थ; एवं

२—रुद्र-डमरू-नाद सूत्ररूप में संगीतोद्भवक्रम-सम्बन्धी अर्थ।

दूसरे अर्थ में जो व्याख्या उन्होंने की है, वह लगभग इस प्रकार की है—'अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्'—इनमें नौ स्वर हैं। पर ऋ लृ स्वरवत् हैं। अतः सात स्वर हुए। इनमें अ इ उ लघु हैं, ए ओ गुरु हैं, ऐ औ प्लुत हैं। पहले

वर्ग के स्वर एक मात्रा के, दूसरे दो के, तीसरे तीन मात्रा-काल के है। अ इ उ 'स रे ग' हैं; ए ओ 'म प' हैं, ऐ औ 'ध नि' हैं, आदि। इस प्रकार, संगीत के स्वर को नन्दिकेश्वर वैदिक 'नाद' से संगीत की 'श्रुति' की ओर ले आते है। क्योंकि, वे माहेश्वरसूत्र की व्याख्या 'स्वर' प्रधान ही नही कालमान-प्रधान यानी लय-प्रधान करते है।

फिर, उन्होने 'लय' के दस तत्त्व माने हैं—१-काल, २-काल-अंश या मार्ग, ३-क्रिया, ४-अग, ५-ग्रह (आरंभिक स्वर), ६-जाति, ७-कला (मात्रा), ८-लय, ९-यति, १०-प्रस्तार।

बाह्यतः संगीत के दो प्रधान तत्त्व हैं :

१—नाद का श्रुति-रूप शुद्ध 'स्वर' जिसमें तीन गुण आवश्यक हैं—(क) आस यानी नैरन्तर्य, टूटन न हो ,(ख) कास यानी भराव हो; एवं (ग) रस, यानी रंजित हो, भावपूर्ण हो निष्प्राण न हो ;[५८]

२—लय जिसके दस तत्त्व ऊपर द्योतित किये गये।

'स्वर' उसका सर्जन-पक्ष है, लय विसर्जन-पक्ष। स्वर की धारा अप्रतिहत प्रवाहित होती रहती है, लय उसे १-सम्पुंजित कर बंधन में बाँधती एवं २-फिर दृढ़ रूप देती है। लय से ही अरूप 'स्वर' नाना ऊर्मियो मे बॅधकर उठता-गिरता है और एक जीवंत धारा प्रस्तुत करता है। यह लय कालाधृत मानक है। उसकी काल-सीमा ही ताल है। इस प्रकार 'लय' स्वतः एक निर्बंधित प्रवाह है। निर्बंधित उसे 'ताल' करता है। ताल के छोटे अंशो को मात्रा कहते हैं। प्रत्येक शास्त्रीय ताल की मात्राएं निश्चित हैं, जैसे दादरा में छह मात्राएँ, त्रिताल में आठ, झूमर में चौदह, आदि। लय की गति तीव्र की जा सकती है, या धीमी। प्रधानतः विलम्बित, मध्य और द्रुत तीन लय-प्रकार हैं। लय बदल सकती है,पर ताल वही का वही रह सकता है; उसी भाँति ताल बदल सकता है, लय अपरिवर्त्तित रह सकती है। लय के परिवर्त्तन से प्रभाव बदलता है। शृंगार, रौद्र, वीर आदि द्रुत लय से और शांति, भक्ति, कारुण्य आदि विलम्बित लय से निष्पन्न होते है।

संगीत के उपरिवर्णित दो तत्त्व उसके बाह्य, शास्त्रीय या वैज्ञानिक तत्त्व हैं। संगीत की मूल चेतनधारा है 'राग'—रंजयति इति रागः। यह 'स्वर' की आत्मा है। **आचार्य भातखंडे के शब्दो में**—

योऽयं ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषित
रंजको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधै ॥[५९]

यह 'रंजन' मूल मनोभावों के प्रकाशन से ही संभव है। मूल मनोभाव तभी प्रकाशित होंगे, जब गायक उनकी निर्मल प्रतीति कर ले, उनके साथ एक मन, प्राण हो उठे। इससे ही प्रतिभा का उन्मीलन होता है। प्रतिभा के कारण आतिशय्य अथवा अतिरिक्त रागमयता आती है। इस अतिरेक के कारण नाना अलंकरण भी उद्भूत होते हैं। शास्त्रीय परम्परा में ये अलंकरण खटक, मुरकी, मीड़, आन्दोलन, कम्पित, स्पर्श, कण, तान आदि नाम से नाना प्रकार के बतलाये गये हैं।

इन सबसे अलग संगीत में एक साहित्यिक शास्त्रीय परम्परा, एवं सामुदायिकता भी है जिनके बिना वह विधिवत् अपना व्यक्तित्व उभार न सकेगा। ये तत्व पूर्णतः शिक्षा-दीक्षा पर आश्रित हैं, एवं नैष्ठिक बाह्य अवदान हैं।

इस प्रकार संगीत के सप्तदीप[६०] है—१—शुद्ध श्रुतिसुखद स्वर, २—रागरस, ३—लय, ४—अलंकरण, ५—साहित्य, ६—सम्प्रदाय, ७—आनन्द। इनमें तीन ही मूल हैं—राग, स्वर और लय अथवा भ (भाव), र (रस) और त (ताल)।

संगीत की सांकेतिकता अथवा प्रतीकत्व :

संगीत सांकेतिक, व्यंजनात्मक और प्रतीक-प्रधान कला है। कुछ स्वर या अंश-स्वर की, स्वतः अथवा अपने गमक के साथ, झंकृति राग का 'बिम्ब' प्रस्तुत कर देती है। जैसे कोमल निषाद का स्पन्दन भैरवी का बिम्ब प्रस्तुत कर देगा; षडज का हलका उतार उचित श्रुति के तीव्र धैवत पर हो, तो 'कम्बोज' का बिम्ब कम्पित होगा। इस प्रकार संगीत सूक्ष्म और सांकेतिक कला है। उसकी चाल, या लय से भावों का उतार-चढ़ाव चित्रित होता है। नर्त्तन में पहुँच कर संगीत का सूक्ष्म प्रतीक अधिक स्फुट और मूर्त्तित रूप ग्रहण करता है। नर्त्तन भावबिम्ब की आन्दोलित मूर्त्ति अथवा मूर्त्तित आन्दोलन है।

इस स्थल पर भारतीय **माधुर्य** और पाश्चात्य **समन्विति** (हार्मनी) की चर्चा भी अपेक्षित है। माधुर्य एक स्वर की 'अन्विति' का रस है, समन्विति विविध प्रकार के स्वरों का पंचमेल है। वह भावप्रधान है, यह मनः प्रधान। भाव-प्रधान होने के कारण ही माधुर्य एकघन है : 'अविभागैकरूपत्वं माधुर्यम्'।

किसी राग का प्रधान या मूलस्थ स्वर उसका 'वादी' स्वर कहलाता है। उस वादी स्वर से कुछ मिलते-जुलते स्वर 'अनुवादी', और जिनमें मेल न हो, वे 'विवादी' कहलाते हैं। 'वादी' और 'विवादी' का अन्तर रागाश्रित है, और अनुक्रम में है।

भारतीय संगीत-सिद्धान्त में पहली बात तो यह कि सारे वाद्य एक स्वर में मिले होंगे। दूसरी बात यह कि सबसे एक ही स्वर एक अनुक्रम में निकलेगा, और यह अनुक्रम रागानुरूप वादी-अनुवादी स्वरों का कालानुक्रम होगा। विवादी स्वर कालानुक्रम में नही आयेंगे।

पाश्चात्य संगीत के वाद्यादि एक स्वर में बंधे नही होते। फलतः सबसे भिन्न-भिन्न सप्तकों की ध्वनियाँ निकलती हैं। उनमे विवादी स्वर भी उभरते चलते हैं और ये विवादी स्वर कालानुक्रम में जब-तब छिड़ते-से रहते हैं।

भारतीय संगीत में इस कारण एक अबाध धाराप्रवाह है; आनन्त्य है। वह भरा-पूरा है। पाश्चात्य संगीत विवादी स्वरो के कारण फाँक-फाँक में टूटता-जुटता चलता है। सातत्य के स्थान पर उसमें अलातचक्र का 'सन्तान' है। भारतीय संगीत समभौमिक प्रसार है, यह विक्षेपकर आन्दोलन।

अतः भारतीय संगीत की धारा में से एक अञ्जलि उलीच लें तो उसमें नाना वाद्ययंत्रो के स्वर से जैसे | स नि स | की गूंज निकलती प्रतीत होगी। इस 'सनिस' में एकस्वरता का माधुर्य इस कारण है, कि 'स' के बाद 'नि' उसका 'अनुवादी' स्वर है, उसी प्रकार 'नि' के बाद 'स' भी। अर्थात् एक स्वर से प्रायः वैसा ही दूसरा स्वर निकलता होता है। उसके समर्पण और इसके निष्पादन में आत्मीय लगाव है। वह स्वतः स्फूर्त है। इन दोनो के संधिकाल मे, और अनुक्रम मे माधुर्य है। उसी प्रकार पाश्चात्य संगीत-धारा से, एक अंश काट लें तो उसमे एक क्षण में रेगध या

रे ग ध

तीन मिश्र ध्वनियाँ मिलेंगी। मन इन विषम ध्वनियों का समञ्जन करता चलता है। फलतः एक समन्वित श्रुति-सौख्य की अनुभूति होती है।

इसका अर्थ यह नही कि भारतीय सगीत में समन्विति का तत्त्व नहीं है। 'स नि स' स्वर को लें, तो पायेंगे कि 'स' स्वर में ह्रस्वश्रुति है; फिर अनुरणन; यानी प्रथम कम्प, फिर उसका प्रकम्प। 'स' के प्रकम्प मे यानी अनुरणन में, 'नि' का प्रथम कम्प हो चुका रहेगा। अतः उस क्षण वह

स् नि

रूप रहेगा। यह समन्विति है। दूसरे शब्दों में, भारतीय संगीत में समन्विति मूलस्थ है। पर, पाश्चात्य संगीत में वह शीर्षस्थ है। मूलस्थ समन्विति मनोवैज्ञानिक तो

है ही, इस गूढ़ दार्शनिक तत्त्व का भी निदर्शक है, कि एक मूल चेतना से द्वयता कैसे निष्पन्न होती है। भारतीय संगीत, इस प्रकार, अपनी मूलस्थ समन्विति और शीर्षस्थ माधुर्य से श्रोता को सदा किसी अतीन्द्रिय की ओर ले चलता है, वैसी अनुभूति की ओर जो स्वर और लय, राग और ताल में प्रगाढ़ हो व्यतीत नहीं होती, उनसे उत्तीर्ण भी होती है। इस कारण संगीत ध्यान, धारणा और समाधि की अनुप्रेरणा का योग है। ताल और लय में बंधते हुए धीरे-धीरे हम एकाग्र हो उसके स्वर-प्रवाह से उद्‌गत होने-से लगते हैं। परिमिति के द्वारा अपरिमेय अनन्त की लहरियों में प्रवाहित कर देना, यही भारतीय संगीत की व्यंजनात्मकता और प्रतीकत्व है। यही उसका रस और नादब्रह्म का आनन्द भी है। इसके विपरीत पाश्चात्य संगीत अपने विविध स्वरों से हमें सदा जगाये रखता है। वह मन का आकर्षक खाद्य हो उठता है। उसके अनुसंधान में लगा चित्त चंचल और वृत्तियाँ दीप्त रहती हैं। वह 'साध्य' नहीं साधन है, भावन नहीं, बोध है। उसमें लय है, पर वह विलीयमान या निवेदित नहीं है।

भारतीय संगीत, इस कारण, एकायामी है, या बिन्दु मात्र है। पाश्चात्य संगीत द्वि-आयामी है।[६१] फलतः, उसमें प्राचुर्य है, पर प्रस्तार नहीं; इसमें वैविध्य है, पर घनत्व नहीं। सर ह्युबर्ट पेरी के शब्दों में, 'माधुर्य में लम्बाई है, पर चौड़ाई नहीं। अतः वह अपना संदेश देर से प्रेषित करता है। 'समन्विति' तो तुरत संप्रेषण प्रारम्भ कर देती है।'[६२] परन्तु भारतीय संगीत 'सम्प्रेषण' नहीं है; अभिव्यक्ति है। यह बात दूसरी है कि आधुनिक भारतीय संगीत-कला नाना साम्प्रदायिक, साहित्यिक, कलात्मक, राजनैतिक प्रभाव ग्रहण करती हुई वैविध्य और वैशद्य की ओर भी बढ़ी है।

नादब्रह्म और शब्दब्रह्म :

संगीत का प्रभाव बड़ा गंभीर और तन्मयकारी होता है। प्राणवायु के स्पन्दन से और गूढ़ भावासंगों से बड़े जटिल रूप में सम्बद्ध होने के कारण, संगीत हमारी आभ्यन्तर लयों को जगा देता है, अन्तस्संज्ञा के आद्यबिम्बों को स्फुट कर देता है, जिससे हमारी चैतन्य शक्ति में कुछ अतिरिक्त प्राणमय ऊर्जा भर आती है; अथवा हमारी ग्रंथियों, आभ्यन्तर अवयवों के रसन-प्राणनादि व्यापारों में वेग या शैथिल्य आता है। श्रोता में स्वसत्ता से उत्तर, कुछ उदात्त-अनुदात्त उन्मन भाव छा जाता है। गीतामृत से रोता शिशु हर्षित होता, मृगशावक आकृष्ट हो प्राण गँवाता है।[६३] संगीत के प्रभाव से प्रहर्षित पौधे अधिक पुष्पों, अधिक फलों का उत्पादन करते हैं; दुग्ध-

शालाओं में संगीत के प्रताप से मवेशियों से कुछ अधिक दूध प्राप्त कर लिया जाता है; मिलों-कारखानों में मनुष्यों से कुछ अधिक और उत्तम श्रम प्राप्त होता है। रणबाँकुरे वीरों, माननियों एवं सिद्धों और योगियों पर भी संगीत का विह्वल और उन्मद प्रभाव पड़ते देखा जाता है। छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार :—

'तद्य इमे वीणायां गायन्त्येत ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः।' (१.७.६)

अर्थात्— 'पृथिव्यवोषधिपुरुषवागृक्साम्ना सप्तानां रसानां रसतमोऽष्टम उद्गीथाख्यश्च ॐकारः परमः परमात्मप्रापकत्वात् परस्य ब्रह्मणोऽर्ध स्थानं तदर्हतीति परार्ध्य इत्यर्थः'—(रत्नप्रभा ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य—३-४-३-२१) [६४]

इस प्रकार वीणा में गान करनेवाले उसी 'एक' का गान करते हैं। उस गान से वे ब्रह्म में एकाकार होते हैं। अतः संगीत का 'नाद' नादब्रह्म है। वागात्मा 'नाद' का निर्वचन और उपयोग आत्मोपलब्धि, आत्मैक्य भाव की सम्प्राप्ति अथवा ब्रह्म के साक्षात् के लिए स्फोट-दर्शन, शब्दब्रह्मवाद, एवं त्रिक और त्रिपुर दर्शन, योग और वैष्णव सिद्धान्तों आदि में कई प्रकार से होता आ रहा था। अतएव संगीतकला में 'नादब्रह्मवाद,' यद्यपि शार्ङ्गदेव द्वारा प्रवर्त्तित माना जाता है, तथापि यह उनकी स्वतन्त्र उद्भावना नहीं, आध्यात्मिक-दार्शनिक विविध प्रवाह-स्रोतों का संगीत में पुनराख्यान और प्रातिभ एकीकरण है।

'नादब्रह्मवाद' और काव्य-साहित्यगत 'रसब्रह्मवाद' के साथ भर्तृहरि के 'शब्दब्रह्मवाद' का भी बड़ा गहरा सम्बन्ध है।

यह हमने पहले ही जाना है कि वाक्तत्व, मनस्तत्व प्राणतत्व के त्रिक में जो परम शक्ति है, वह 'प्रतिभा' या ब्रह्म ही है। सांख्य के गुणत्रय, और प्रकृति-पुरुष, तथा वैयाकरण के कृत्तद्धितसमासाश्च (अथवा नाम, आख्यात, उपसर्ग) एवं प्रातिपदिक आदि की प्रकल्पना में त्रिवृत्करण की प्रक्रिया एवं उनकी मूलस्थ एक अखण्ड सत्ता ही स्वक्षेत्रीय सृष्टिक्रम की दृष्टि से पुनराख्यायित हुई है। महावैयाकरण भर्तृहरि ने उस मूलतत्व को 'वाचः परमोरसः' कहा :—

वाग्रूपता यदुत्क्रमादेववोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ १.१२४

फिर उन्होंने इसकी प्रकाशन-प्रक्रिया के तीन रूप क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा वैखरी बतलाये।[६५] यह प्रकाशन प्रतिभा-द्वारा उन्मीलित होता है।[६६] भर्तृहरि ने समस्त जगत को इससे व्याप्त माना और इस कारण इसके सूक्ष्म अतिवाही

व्यापक 'वाग्' रूप को ध्यान में रखते हुए, क्रमानुसंधानी पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी रूप का अभिधान 'शब्दब्रह्म' दिया —

'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरं।
विवर्त्ततेऽर्थभवेन प्रक्रियाजगतोयातः।'

भर्तृहरि के अनुसार शब्द-मात्र में दो तत्त्व है : (१) स्फोट जो नित्य है और महर्षि स्फोटायन के नाम के कारण 'स्फोट' कहलाता है, एवं (२) ध्वनि जो तज्जन्य हैं, प्रकाशित हैं और प्रकाशित होकर अपने प्रकाश्य स्फोट को ही ज्योतित करती हैं। इस ध्वनि के कारण ही क्रमादि भासित होते हैं। इन दो तत्त्वोंको पतञ्जलि ने भी स्वीकार किया था। स्फोट में पदार्थ नित्य हैं, निराकार, अरूप हैं। ध्वनि की अवस्था में उनमें आकृति, रूप, रंग के गुण आ जाते हैं। स्फोट है जातिचित्ररूप, समग्रता का चित्र। ध्वनि उसमें विशिष्टता लाती है। स्फोट से जो अर्थ प्रथम-प्रथम गृहीत होता है, वह सकल एवं अखंड चित्रात्मक ही होता है। बाद में ध्वनि की प्रक्रिया से उसमें विशिष्ट लक्षण उभरते हैं।

भर्तृहरि का शब्दब्रह्म भी अन्य ब्रह्म-प्रकल्पनाओं की ही भाँति ज्योति-स्वरूप, अनादि अखण्ड, सद्रूप, चिद्रूप, स्वतंत्र है। उसकी स्वातंत्र्यशक्ति ही कालशक्ति है। वह शब्दब्रह्म से अभिन्न है। भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म को प्रतिभा भी माना है। वह चैतन्य है। यह प्रतिभा ही पूर्ण अवस्था में पश्यन्ती है। वह शब्दब्रह्म की परम प्रज्ञारूप है। भर्तृहरि की प्रतिभा की परिकल्पना ऐसी है, कि वह पशुओं की बुद्धि और सहज वृत्ति में भी अवतरित होती है। कह सकते हैं, भर्तृहरि की प्रतिभा बर्गसाँ के 'इन्ट्यूशन', क्रोचे के 'जिनियस' (इन्ट्यूशन) और महिम भट्ट को 'प्रतिभा' आदि की प्रकल्पनाओं के समान है, अर्थात् सर्वव्यापी है।[६७]

इस प्रकार भर्तृहरि ने 'शब्दब्रह्म' की अत्यधिक गूढ़ और व्यापक परिकल्पना कर शब्दतत्त्व और अर्थतत्त्व का सूक्ष्म-गंभीर निर्वचन किया था। उनकी प्रकल्पित शब्दब्रह्म की स्वातंत्र्यादि शक्तियाँ, शब्दोद्भव के चरण और नाम एवं उनका विवेचन तथा स्फोट, ध्वनि, प्रतिभा-संबंधी उनके मन्तव्य आदि अनेक तत्त्व संगीत, काव्यादि में पुनराख्यायित या/और उपन्यस्त हुए तथा शैवादि दर्शनों में आत्मसात् भी कर लिए गए।

नादब्रह्म, शब्दब्रह्म और आगमों का दर्शन :

त्रिकदर्शन और त्रिपुरदर्शन में, फिर पूर्वकालीन एवं परवर्ती शैवादि दार्शनिकों के 'शब्द' 'नाद' आदि के तत्त्व-विचारों में कुछ भिन्नताएँ हैं। हम इस प्रपंच में न पड़कर, सामान्य विशेषताएँ ही ग्रहण करेंगे। आगम शास्त्रों में परमशिव की अवस्था पूर्णता की चरम अवस्था है। इसी में शिव और शक्ति का

सामरस्य प्रकट होता है। शिव परम प्रकाश हैं, स्वयंप्रकाश भी हैं। इस प्रकाश की आत्मविश्रान्ति या 'अहं'-रूप से विमर्शन ही 'शक्ति' है। शक्ति के स्फुरण से विश्व का उदय होता है और शक्ति के स्फुरण से ही विश्व की स्थिति और लय भी होती है। इसलिए शक्ति की उन्मेषावस्था में विश्व का आभास बराबर रहता है।

पूर्ण तत्त्व 'सदचित्आनन्द' है। गंभीरतम स्थिति उनकी ऐसी है जहाँ ये तीनों नही। वह स्थिति 'सत्' है, बस। 'सन्मात्र' की इस स्थिति में, आत्मप्रकाश में ही, इनकी एक कला या शक्ति निकलती है, जो 'चित्' कहलाती है—'अनुत्तर' भी नाम है उसका। वर्णमाला का आदि अक्षर 'अ' है वह। इसे ऐसे भी माना जाता है कि सन्मात्र, एक ओर से निस्पन्द-सा है, दूसरी ओर से स्पन्दनयुक्त है—बाह्य प्रकाश के लिए स्पन्दनशील है। अर्थात् वह परमनादरूप है; पर बाहर की ओर से नादमय है और भीतर से नादहीन।

'चित्' से, फिर, 'चित्' और 'आनन्द' दो अंश वैसे ही समझने चाहिए जैसे सत् से सत् और चित्। चित् से आनन्द का आविर्भाव होते ही, प्रथम चित् अपने ही दूसरे अंश आनन्द में अपना ही प्रतिबिम्ब देख, जैसे अपने को पहचान, मुदित या आनन्दित होता है। यह 'स्थिति' 'आ' अक्षर के द्वारा भी बतलाई जाती है।

आनन्द के सूक्ष्म कण आनन्द के मूलकण से जब निकलते हैं, तब आवरण में पड़ जाते हैं। यह आवरण है 'इच्छा' का। इसे 'इ' के द्वारा प्रतीकित किया जाता है। 'इ' अर्थात् 'इच्छा' 'आनन्द' की खोज के लिए ही है। पर 'आवरण' के कारण वह सृष्टि-विकास की ओर प्रकाशित होती है। घनीभूत 'इच्छाशक्ति' संवेगादि के द्वारा स्पन्दित होने पर 'ई'—रूप में प्रतीकित होती है। इस घनीभूत इच्छाशक्ति में ज्ञेय रूप का उदय होता है। वह अपने को 'ज्ञेय'-जैसा प्रकट करता है। इच्छाशक्ति का अंश ज्ञानशक्ति हो उठता है। यही उन्मेष कहलाता है। इसका प्रतीक है-'उ'। ज्ञान का विषय ज्ञानशक्ति से कुछ आगे का संधान है। ज्ञान का विषय 'ऊ' है, 'उ' का घनीभूत रूप। यह 'ऊ' जमा हुआ ज्ञान है—ज्ञेयमात्र, और 'उ' प्रवाहरूप ज्ञान। 'ऊ' बर्फ है; 'उ' जल। **कामायनी** मे

> **नीचे जल था, ऊपर हिम था, एक तरल था, एक सघन;**
> **एक तत्त्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन।**

के द्वारा वही अवस्था निर्दिष्ट की गयी है।

ज्ञान ज्ञेय से पृथक् नहीं है; पर अविद्यावश वह पृथक् प्रतीत होता है। इस अविद्या को क्रियाशक्ति भी कहते हैं। क्रियाशक्ति अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर, स्फुटतम—चार अवस्थाओं में प्रकट होती है। उन्हें क्रमशः ए, ऐ, ओ, औ मे प्रतीकित किया जाता है। 'कामायनी' में क्रिया शक्ति 'वासना 'सर्ग तक में अस्फुट, 'कर्म सर्ग' में स्फुट, 'इड़ा' मे स्फुटतर, 'संघर्ष' में स्फुटतम रूप मे चित्रित की गयी है। इस प्रकार चित् और आनन्द, ये दो स्वरूप-शक्ति की और इच्छा, ज्ञान, क्रिया ये तीन बहिरंग शक्ति की—पाँच कलाएँ हैं। इस कारण ही शिव के पाँच मुखों की कल्पना की गयी है। ध्यातव्य है, कि तीन बहिरंग शक्तियाँ, इच्छा, ज्ञान, क्रिया, त्रिकोणरूप विश्वयोनि या महामाया भी कही जाती हैं। 'कामायनी' का सामरस्य उनके एकीकरण में ही है पूर्णता में ही है।

क्रियाशक्ति की पूर्णता मे बहिर्मुख धारा का अन्त होता है। प्रवृत्ति की धारा जब अन्तर्मुख होने लगती है, तब सारी शक्तियाँ या कलाएँ स्पन्दनवश एक ही समष्टिभाव को प्राप्त होती हैं। इस एकत्र भाव या जमाव को 'विन्दु' कहते हैं। यह 'विन्दु' स्वभावतः अनुत्तर या 'अ' का आश्रय ग्रहण करता है, अतः 'अ' रूप है। वैन्दव सृष्टि' अ से 'अं' तक की है, सूक्ष्म सृष्टि। इसके बाद 'अं' से सृष्टि चलती है—एक विन्दु से दो विन्दु 'अः' की ओर। वह वैसर्गिक सृष्टि है। यह व्यंजनो की सृष्टि है; प्रारंभिक से लेकर 'ह' तक की सृष्टि उसका प्रतीक है। तंत्र की भाषा मे यही तात्त्विक सृष्टि है।

वैन्दव सृष्टि 'अ' में पर्यवसित होती है, तात्त्विक या वैसर्गिक सृष्टि उसी प्रकार 'अहं' में। फिर इस 'अहं' से उसी प्रकार सृष्टि चल पड़ती है, जैसे 'अं' से इसके पहले चली थी, और 'अ' से उसके पहले। 'अहं' वास्तव मे 'पूर्णाहं' है—शिवरूप। इस 'पूर्णाहं' में 'स्वातंत्र्यवश' 'इदं' का भी विकास होता रहता है, जैसे 'सत्' में 'चित्' का। 'पूर्णाहं' और 'इदं' से विश्वसृष्टि चलती है।

इस अति संक्षिप्त विवरण द्वारा हमें परमशिव और विमर्शन के, अथवा स्वातंत्र्यरूप उनकी शक्ति के, फिर उनके द्वारा प्रकाशित सृष्टि के, सृष्टि के क्रम के, एवं 'अ' से लेकर 'ह' तक की वर्णमातृकाओं के उद्भव और विकास के रहस्य का किञ्चित बोध हो जाता है।

परमशिव ही परावाक् और परानाद हैं। किन्तु दूसरी ओर से, परावाक् और परानाद परमशिव के आविर्भावेच्छा का, चैतन्य के विमर्श का प्रकाशन है। यही उनकी विमर्शन-शक्ति है। इसलिए परावाक् और परानाद विमर्शशक्ति है। फिर पूर्व निर्दिष्ट क्रम से ज्ञानशक्ति पश्यन्ती है, चैतन्य ज्योतिस्वरूप; और क्रियाशक्ति है मध्यमा, सूक्ष्म बौद्धिक अवस्था में अगोचर भेद प्रस्तुत करनेवाली। बैखरी बाह्य अवस्था है, बाह्य भेद को पूर्णतः प्रगट करनेवाली।

इस प्रकार आगमों मे भर्तृहरि का शब्दब्रह्म पूर्णतया स्वीकृत एवं प्रधानतः अंगीकृत हुआ है। शक्ति और शक्तिमत् की एकता, भर्तृहरि द्वारा प्रकल्पित शब्दब्रह्म और कालशक्ति की अभिन्नता-जैसी है। विमर्शशक्ति और कालशक्ति, अथवा स्वातंत्र्यशक्ति भी समान रूप में प्रकल्पित हैं। शैव दर्शन के 'आभास' पर भी भर्तृहरि के दर्शन का प्रभाव है। अतः आगमो मे 'नाद', 'शब्द' आदि का आध्यात्मीकरण और फिर मूर्त्तीकरण हुआ।

योग की नादसाधना और आगमों की नादसाधना तथा संगीत :

योग की साधनाओं—प्राणायाम, प्रत्याहारादि—में वाक् प्राणवायु है, प्राण-स्पन्दन या प्रसरण है। चैतन्यशक्ति शांत-सी होकर भी, प्राणन-व्यापार निरन्तर करती रहती है। उसका यह व्यापार सृष्टि में अबाध है। साधक उस परमतत्व की सम्प्राप्ति के लिए १—बुद्धि द्वारा अथवा/और २—प्राणव्यापार द्वारा अथवा/और ३—शरीरांग द्वारा दैहिक-आंगिक मुद्रादि-क्रियाओं का सम्पादन करता है। बुद्धि और शरीरादि की क्रिया द्वारा की गई साधना कुछ बाह्य बतलाई जाती है। किन्तु साधक बुद्धिभूमि, प्राणभूमि, देहभूमि के अनुरूप साधना-पथ चुनता है। प्राणभूमि की साधना अन्तरंग साधना है। प्राण का स्वाभाविक धर्म उच्चार है। इसकी दो वृत्तियाँ हैं—१. सामान्य स्पन्द; एवं २. विशिष्ट प्राणात्मक, समानात्मक, व्यानात्मक, उदानात्मक, अपानात्मक पाँच प्रकार की। शरीर में सामान्य स्पन्द अनवरत होता रहता है। उस 'स्पन्द' का नाम अनाहत है। इसकी ही पृष्ठभूमि पर विशिष्ट उच्चार होता है। अनाहत नाद में वर्ण नही, पर वह समस्त वर्णों की उत्पत्ति का निमित्त है। सामान्यतः सृष्टि-क्रम में परावाक् से बैखरी वाक् तक की गति है; किन्तु साधना में बैखरी से परा की गति अपनानी पड़ती है। यह प्रत्याहार से ही संभव है। योगी को इड़ा-पिंगला नाड़ियों के द्वन्द्व में, प्राण और अपान के विरोधी प्रवाह में साम्य लाना पड़ता है। साम्य आने पर मूलाधार स्थित

कुण्डलिनी का जागरण होता है। कुण्डलिनी शब्द-मातृका है। इसे ही बिन्दु या विशुद्ध सत्व कहते हैं। उद्बुद्धि से प्राण और मन में संस्कार जगते हैं और उनका ऊर्ध्व-संचार कुण्डलिनी या बिन्दु को ऊपर प्रवाहित करता है। यह ऊर्ध्व संचार 'नाद' कहलाता है। नाद सुषुम्ना नाडी में अधिष्ठित है। साधनावश नाद सुषुम्ना के मार्ग से ब्रह्मरंध्र तक पहुँचता है। वहीं या उससे भी ऊर्ध्व स्थान में उसकी विश्रान्ति होती है। यह विश्रान्ति ही चैतन्यशक्ति की शांति है, जो ऊपर उल्लिखित हुई है। 'नाद' अव्यक्त ध्वनि, अचल अक्षर है। नादसाधना द्वारा साधक देहस्थित नाना चक्रों का भेदन करता हुआ—इनकी संख्या ५, या ६, या ८ या १० भी बतलायी गयी है—अनाहत नाद तक पहुँच जाता है। इस मार्ग में उसे नाना ध्वनियाँ, श्रुतिमधुर नाद सुनने में आते है। किन्तु नाद-साधना का लक्ष्य 'अनाहत' नाद है। वही परम-शिव है, परमब्रह्म है। **भास्कर राय** ने 'मध्यमा' को नादमयी मानकर ही कहा है :—

> अथ तदेव ब्रह्म तेनैव वायुना हृदयपर्यन्तमभिव्यज्यमानं निश्चयात्मिकया
> बुद्ध्यायुक्त' विशेषस्पन्दप्रकाशरूपनादमयं सन्मध्या वागित्युच्यते।[६८]

नाद के फिर नव सूक्ष्म और नव स्थूल भेद भी है। नवनाद जो बतलाये गये है, वे हैं—१—चिणि, २—चिणचिणि, ३—घण्टानाद, ४—शंखनाद, ५—तन्त्रीनाद, ६—तालनाद, ७—वेणुनाद, ८—भेरीनाद, और ९—मृदङ्गनाद। ये नाद सूक्ष्म रूप में योगियों द्वारा (समाधिबलेन) श्रोत्रग्राह्य होने के कारण 'मध्यमा' नव-नादमयी कही गयी है। इनसे नववर्गात्मक भूतलिपि-स्वरूप स्थूल नाद—अ, क, च, ट, त, प, य, श, ल, का उद्भव होता है। फिर इनसे स्थूल वर्ण का जन्म होता है। इसके विपरीत **स्वच्छन्द तन्त्र** में नाद के नव रूप हैं—१-घोष, २-राव, ३-स्वन, ४-शब्द, ५-स्फोट, ६-ध्वनि, ७-झाकार, एवं ८-ध्वङ्कृति (कान में उँगली डालने से उत्पन्न गुनगुन, कांसा आदि के टूटने की आवाज, बांस की ध्वनि, भ्रमरीरव, वाक्यस्फोट, तान, वीणा, झंकृति, मेघरव) और ९-उनका आधार मूल नाद।

भास्कर राय ने 'शब्दब्रह्म' को जन्य माना, आदि-अन्त उसका निश्चित है। अतएव उनकी दृष्टि में शब्दब्रह्म परमतत्व नहीं है। उनकी दृष्टि में समरसस्थित कारणबिन्दु ही शक्ति, पिंड, कुंडलिनी आदि है और मूलाधार चक्र में वह स्थित है। उसमें कार्यबिन्दु आदि के लिए उन्मुखता का भेदन होते ही अव्यक्त शब्दब्रह्म नामक रव उत्पन्न होता है। यही कारणबिन्द्वात्मक अभिव्यक्त शब्दब्रह्म, परावाक् है, वक्तुरिच्छा से स्पंदित होने पर

उद्भूत होकर, एवं पवनो-श्वासादि से प्रेरित होकर नाभिप्रदेश में पश्यन्ती. फिर आगे आने पर हृदय-प्रवेश में नादरूप होकर मध्यमा, और क्रियारूप में कंठादि से उच्चरित बैखरी हो उठता है।

अभिनवगुप्त ने तंत्रालोक [६९] में पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी के स्थूल, सूक्ष्म, पर, ये तीन-तीन भेद बतलाये हैं और संगीत को 'पश्यन्ती' का एक भेद माना है। सारतः वे निम्न सारणी में द्रष्टव्य हैं—

	पश्यन्ती	मध्यमा	बैखरी
१—स्थूल	आलाप	मृदंग पर कराघात निर्गत ध्वनि	शाब्द (गायन) रूप
२—सूक्ष्म	गायनेच्छा रूप	मृदंगवादनेच्छारूप	वक्तुरिच्छा-रूप
३—परा	शुद्ध चैतन्य	शुद्ध चैतन्य	शुद्ध चैतन्य

इससे यह स्पष्ट होता है कि संगीत में 'आलाप' श्रेष्ठ है। अस्पष्ट एकतान धारा होने के कारण एवं पूर्ण गीत का 'बिम्बमूल' अनायास प्रस्तुत कर देने की स्फुटतावश 'आलाप' संगीत का श्रेष्ठ एवं पश्यन्ती-रूप माना गया है। मृदंगवादन मध्यमा है, क्योंकि वह अस्पष्ट तो है, पर सायास एवं क्रमान्दोलित है। 'आलाप' स्वरमूल है, रंजक-उपरंजक स्वर मात्र; मृदंग की ध्वनि स्फुटतर है एवं शब्द गायनादि व्यञ्जन-प्रधान हैं। अतएव, वह पश्यन्ती, मृदंग-ध्वनि मध्यमा, शाब्द गायनादि बैखरी है। इस प्रकार **अभिनवगुप्त** ने संगीत को 'पश्यन्ती', अतः 'नादब्रह्म' रूप भी माना।

शार्ङ्गदेव ने दूसरी विधि से नाद का महत्त्व प्रतिपादित किया। नादानुसंधान योगियों के लिए भी अनुसंधान का साधन है, तांत्रिकों में भी नाद-साधना का महत्त्व है, पर वहां वह साधन-रूप ही है। संगीत 'अनाहत' का महत्त्व स्वीकार तो करता है, पर 'आहत' नाद ही की साधना उसकी परम साधना है। अतएव **शार्ङ्गदेव** ने 'नाद' का महत्त्व 'आहत' नाद-सिद्धि की दृष्टि से, न कि 'अनाहत'-सिद्धि की दृष्टि से प्रस्तुत की। **कल्लिनाथ** ने उनके सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि आहतनाद 'ध्यान' से सुकर, सुखकर, रंजक, भयभंजक है। अनाहत श्रेय हो, पर आहत 'प्रेय' है, और श्रेय से कम नहीं :

ध्यानमेकाग्रचित्तैकसाध्यं न सुकरं नृणाम्। तस्मादत्र सुखोपायं श्रीमन्नादमनाहतम्॥
गुरूपदिष्टमार्गेण मुनयः समुपासते। सोऽपि शक्तिविहीनत्वात् मनोरञ्जको नृणाम्॥
तस्मादाहतनादस्य श्रुत्यादिद्वारतोऽखिलम्। गेयं वितन्वतो लोकरञ्जनं भवभञ्जनम्॥[७०]

यही नहीं, नाद को उन्होंने 'स्फोट' माना अर्थात् उसे भर्तृहरि का 'शब्दब्रह्म' या आगमों की परावाक्-जैसा स्वीकार किया।

नादो हि स्फोटात्मना समस्तपदार्थप्रकाशकत्व साधर्म्येण चैतन्यारोपविषयत्वाच्चैतन्यम् ।

इस प्रकार आहतनादरूप संगीतकला के क्षेत्र में शार्ङ्गदेव ने जिस 'नादब्रह्मवाद' की प्रकल्पना की, उसमें ऊपरि द्योतित अनेक स्रोतों में उद्भावित, 'ब्रह्मवाद' की ही प्रतिष्ठा हुई।

संगीत और मूर्त्तन : वर्णमातृकाएँ एवं स्वरमूर्त्तियाँ :

संगीत का श्रेष्ठ रूप 'आलाप' है। वह राग के 'विम्बमूल' की अस्पष्ट, किन्तु स्फुट एक स्वरधारा मात्र है। उसकी स्वर-श्रुतियाँ निबद्ध नही, तालाश्रित नही। मूलतः संगीत श्रवणेन्द्रिय का विषय है और वह प्रकृत्या अमूर्त्त, अरूप है। फिर भी वह मूर्त्तन की ओर, रूपाश्रयण की ओर अग्रसर होता है। उसके मूलस्थ स्वर भी स्वयं मूर्त्त-रूप धारण करते हैं।

ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में स्वरों आदि की मूर्त्त परिकल्पनाएँ हैं। **छान्दोग्योपनिषद्** में उदगीथोपासना के अनन्तर स्वरादि वर्णों की भी देवात्मकता के सम्बन्ध में कहा गया है—सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानः···।' (अ० २, खंड २२, ३)। इसी भांति मंत्रो आदि की भी देवात्मकता का आख्यान है। योगादि में चक्रों की वर्णात्मकता और उनकी मूर्त्तियाँ भी प्रकल्पित हैं। तांत्रिकों ने भी वर्णों के सम्बन्ध में आध्यात्मिक दर्शन प्रस्तुत किया था। वर्णमातृकाएँ साक्षात् ब्रह्मराशि, सम्पूर्णविद्या, सर्वज्ञताकरी मानी जाती है। वाग्देवता वर्णतनु हैं। **ललितासहस्रनाम** में एवं **श्रीतन्त्रसद्भाव** में प्रत्येक वर्ण को मंत्र और शक्त्यात्मक माना गया है। वर्ण वाचक-पक्ष में समस्त विश्व का उन्मेषक है एवं वाच्य पक्ष में षटत्रिंशतत्त्व के रूप में, मातृका के रूप में, प्रकल्पित हैं।[७१]

'मातृकाविलास' में **मुनिवर सौभरि** ही मातृका के स्वरों, व्यंजनों, मात्राओं के स्थापक एवं व्याख्याकार बतलाये गये हैं। किन्तु उनकी मातृका का क्रम **पाणिनि** के माहेश्वर सूत्रक्रम से भिन्न है। माहेश्वर सूत्र के **नन्दिकेश्वर**-कृत नादात्मक अर्थ-प्रस्थान के अतिरिक्त एक दूसरा अर्थ-प्रस्थान भी ऊपर संकेतित किया गया है। उन्होंने उन वर्णों-वर्णक्रमों में सृष्टिक्रम-सूचक अर्थ भी निर्दिष्ट किया है। नन्दिकेश्वर-काशिका की उपमन्यु-कृत टीका में प्रत्येक अक्षर अर्थवत्ता और मूर्तिमत्ता से युक्त इस प्रकार बतलाया गया है :

अ इ उ ण्—अकारोब्रह्मरूपः स्यान्निर्गुणः सर्ववस्तुषु ।
चित्कलामिं समाश्रित्य जगद्रूप उणीश्वरः ।

'अ' कार ब्रह्म है। 'अः' परमेश्वर निर्गुण है, 'इ' मायाश्रित, 'उः' व्यापक सगुण ईश्वर, 'ण्' अर्थात् था। इसी भाँति समस्त माहेश्वर सूत्र की व्याख्या की गयी है ।

पचास वर्ण (**भास्कर राय** के अनुसार शरीरस्थ इक्यावन शक्तिपीठों के कारण ५१) महाशक्ति के कंठ की मुंडमाला माने गये हैं—ममकण्ठे स्थितं बीजं पञ्चाशद्वर्णमद्भुतम् (**कामधेनु तंत्र**)। तंत्रालोक (तृ० आ०) में **अभिनवगुप्त** ने 'अ' को भैरव माना है; 'अ' से विसर्ग-पर्यन्त सोलह वर्ण को स्वर या बीज और 'क' आदि को योनि। क से लेकर 'श' तक सप्तवर्गों द्वारा द्योतित अ, क, च, ट, त, प, य—सप्तमातृकाएँ पूज्य हैं। 'क्ष' इनका प्रत्याहारक भैरवी है, उमा। स्वरों में ह्रस्व पुरुष हैं, दीर्घ स्त्री; वे शिवरूप, ये शक्तिरूप; और ऋ लृ आदि नपुंसक है। 'क' से 'श' तक में पूज्य भावना उनकी विमर्शन लीलावश ही मानी गयी है ।

वर्णों के रूप, रंग, देवता, महिमा, शक्ति, ऋषि, छन्दादि का भी विस्तृत उल्लेख किया गया है। वर्णनो में अन्तर भी हैं। कहीं समस्त वर्ण निर्मल, अमृतमय (**सूतसंहिता**–४७) हैं, तो कहीं स्वरों को धूम्रवर्णा, 'क' से 'ट' तक को सिन्दूराभ, 'ड' से 'फ' तक को गौर, ब-आदि को अरुण लकारादि को स्वर्ण एवं ह, क्ष को तड़ित कहा गया है (**सनत्कुमार संहिता**)। **भास्कर राय** की राय में-अकारं सर्वदेवत्यं रक्तं सर्वशङ्करम् ।(**सौभाग्यभास्कर**)

कामधेनु तंत्र के अनुसार कुसुमकलिका और उसके बीज के गर्भ में जिस प्रकार गंध, शुचिता, स्मिति, ज्योति आदि तत्व हैं, उसी प्रकार वर्णों में इच्छा, ज्ञान, आदि क्रियाशक्तियाँ हैं। उनमें पाँचों तत्वों के पंचदेव और पाँचो प्राणों के पंचप्राण हैं; यथा—

अ–शरच्चन्द्रसदृश, पञ्चकोषमय, शक्तित्रययुक्त, निर्गुण, कैवल्यमूर्ति, प्रकृतिस्वरूप;

आ–शंखज्योतिर्मय, ब्रह्माविष्णुरुद्ररूप, पञ्चप्राणमय, परमकुंडली-रूप;

इ–कुसुमच्छवि सदा शक्तिमय, गुणत्रययुक्त, मूर्तिमान कुण्डली;

उ–पीतचम्पक सदृश, अधः कुण्डलिनी, चतुर्वर्गप्रद;

क–जपायावक सिन्दूर सदृश, चतुर्भुजा कदम्बकोरकाकारस्तनद्वयुक्त, रत्नकंकणकेयूरशोभित, पुष्पहारयुक्त, परमेश्वरी कामिनी-रूप ।

द्रष्टव्य यह है कि 'क' की छवि पूर्णत कामिनी-रूप में उद्भावित हुई है। **कामधेनु वर्णोद्धार** आदि तन्त्रों में पचास वर्णों की पचास युवतियों के रूप में भी प्रकल्पना है : एवं हि कामिनी ध्यात्वा ककारं दशधा जपेत। **स्वामी शंकरानन्द**[७२] ने 'ऋग्वेदिक कल्चर ऑफ दि प्रिहिस्ट्रिक इंडिया' में यह संकेत किया है कि प्रत्येक वर्ग के वर्ण अपने-अपने वर्गों के बिम्ब प्रस्तुत करते हैं। वायुवर्ग के वर्ण वायु के बिम्ब, अग्निवर्ग के वर्ण अग्नि के, व्योमवर्ग के वर्ण आकाश के बिम्ब किसी न किसी प्रकार समेटे हुए हैं।

उच्चरित वर्णों में ही नहीं, संगीत में भी राग-रागिनियों की चित्रवत् अथवा मूर्त्तिवत् प्रकल्पनाएँ हैं। **नारदकृत** 'संगीत मकरन्द' में रागों का वर्गीकरण पुरुषराग, स्त्रीराग और नपुंसक रागों के नाम से किया गया है।[७३] **पं० दामोदर मिश्र प्रणीत** 'संगीत दर्पण' में (जो जहाँगीर के समय में अर्थात् १६२५ ई० में रचित होकर इतना प्रसिद्ध ग्रन्थ हुआ कि अट्ठारहवीं शताब्दी में [७४] फारसी में भी अनूदित हुआ) राग-रागनियों के बड़े आकर्षक रूप 'ध्यान' शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तुत किये गये हैं : यथा 'भूपाली' का चित्र है—

> **गौरद्युति· कुंकुमालिप्तदेहा। तुंगस्तनी चन्द्रमुखी मनोज्ञा।**
> **कान्तं स्मरति विरहेण दूना। भूपालिकेयं रसशान्ति युक्ता॥ ७५**

पाश्चात्य कुछ लेखक भी, जो राग-रागिनियों के स्वरूप के विषय में नहीं जानते, 'ध्रुपद' की धीर-गंभीर प्रकृति का आभास पा लेते हैं और उसे पौरुष-प्रधान, शौर्य और शक्ति का राग मानते हैं[७६] और ठुमरी को स्त्रैण। यह भारतीय राग-रागिनियों की विशेषता है कि उनके निजी स्वरूप ही इस प्रकार उभरते हैं। **लक्ष्मण पिल्ले** के शब्दों में तोड़ी और भैरवी विभूति और ऐश्वर्य का प्रतीकन करती हैं: ऐसी उनकी चाल है कि जैसे महामहिम महाराज अपने समस्त राजोचित सम्मान, भव्यता, अलंकरण और पार्षदों के साथ सज्जित हो कर चल रहे हों। असावरी आदि करुणाविल हैं। इस प्रकार प्रत्येक राग-रागिनी की निजी प्रकृति है, जिसका रूप श्रोता पर अंकित होता है।[७७] राग-रागिनियों की ठाठ, चालादि से, गायन-विधि से, अथवा स्वर-ताल लयादि के सन्निवेश से अथवा इन सबके सम्मिलित प्रभाव से उनका एक रूप उभरता है। 'रागमाला' में राजपूत-चित्रकला ने उनके इन रूपों के अनेक चित्र उरेहे हैं। श्रव्य को, नश्वर ध्वनि को दृश्य अविनश्वर-सा बना कर देख लेने का यह प्रयास राजपूत-चित्रकला की मोहक उपलब्धियों में से एक है।

रागों के मूल में अर्थात् स्वरों में स्वतः कुछ ऐसी प्रवृत्ति-प्रकृति है, कि बरबस उनकी रूप-कल्पना हो उठती है। स्वर्गीय गोविन्द एस० ताम्बे के अनुसार ७८ षडज अन्य छह स्वरों का आदि स्रोत है; ध्यानस्थ योगी-सा है, अपरिवर्त्तित; कोमल ऋषभ अर्धोन्मीलित स्वर है, तन्द्रिल-सा, उन्मन-उन्मत्त; तीव्र ऋषभ पूर्ण जाग्रत स्वर है। कोमल गान्धार मुग्धमृदु स्वर है, मोहक भी, जैसे विषादग्रस्त सुन्दरी आकर्षक हो। तीव्र गान्धार तेज, जिज्ञासु और सजग है; चुस्त बच्चे की तरह प्रश्न पर प्रश्न पूछता चलता है—कहाँ, क्यों, कैसे? मस्त और खुशमिजाज स्वर है यह, वातावरण ताजा और सुखद बनानेवाला। इसके बाद है कोमल मध्यम, जो गंभीर, उदार और बलशाली स्वर है—मौका पाते ही सब पर छा जाता है और वातावरण पर अपनी रंगत ले आता है। तीव्र मध्यम अत्यंत संवेदनशील, चंचल (फिक्ल), विलासी और वासनामय है। नटखट प्रकृति का होने के कारण अपने पार्श्व के पंचम स्वर को, जिसकी ओर यह रहस्यात्मक रूप से रीझा रहता है, छेड़ते रहने का मौका कभी नहीं चूकता। पार्श्व का पंचम स्वर बड़ा कान्तिमान स्वर है, आत्महीन-सा, अप्रभावित और मुदित रहनेवाला कि लगता है जैसे वह षडज की अर्द्धांगिनी हो। सदा षडज से मिल-जुल कर ही रहने की उसकी प्रकृति-प्रवृत्ति है, जिससे सप्त-स्वरों के परिवार में दीप्ति है; सबको आत्मप्रकाश का अवसर मिलता है। उसमें सौन्दर्य तो है ही, उसकी मोहक स्मिति कुलीन शालीनता का भी परिचायक है। कोमल धैवत में बड़ा बेधक दुःख और करुणा है। तीव्र धैवत की प्रकृति गठी हुई मांस-पेशियोंवाले अति बलशाली खिलाड़ी की है; व्यवहार में तो इसमें कामुकता की सीमा स्पर्श करनेवाली अशिष्ट वृत्ति देखी जा सकती है। कोमल निषाद मृदु, प्रसन्न और अनुरागमय, किन्तु थोड़ा दर्दीला स्वर है। पर कभी-कभी यह गंभीर रुख भी अख्तियार करता है। सभी से मैत्री रखने के कारण यह अनेक भावों-रसों के प्रकाशन में प्रयुक्त होता है, जैसे शृंगार, वीर, करुणादि। इस सप्त-सदन में तीव्र निषाद की अंतिम, किन्तु, अद्वितीय सत्ता है। इसमें तीक्ष्ण बेधकता है, जैसे तेज भाले की चुभन हो। इस स्वर के श्रवण-मात्र से श्रोता में षडज के पुनः श्रवण के लिये बेचैनी आ जाती है। अंत में फिर षडज की अवतारणा से राग सम्पूर्णतः प्रकट होता है और श्रोता राग के समग्र रूप का प्रत्यक्ष करता है।'

श्री ताम्बे के इस विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि इन स्वरों की मूल प्रकृति क्या है, आपसी व्यवहार में वे कैसे हैं, और वायु-तरंगों में उनका

आचरण क्या प्रभाव डालता है। श्री ताम्बे ने उनके इन्ही संरूपो (पैटर्न्स) का बिम्बात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है। पाश्चात्य विद्वानों में भी कुछ हैं [७१] जो राग-रागिनियों, अथवा संगीत-पटलों को रूपाबद्ध मानते हैं। **पर्सी-ब्राउन** ने शिक्षणादि की दृष्टि से 'दृश्य-संगीत' की उपयोगिता महत्वपूर्ण बतलायी थी, क्योंकि राग-रागिनी के चित्रों से उनके रूप खड़े-से हो जाते हैं, जिनसे ऋतु, काम, ठाठ, चाल, शैली आदि का बोध हो जाता है, जिसकी भावना से फिर स्वर में उन्हे उतारना सरल होता है। प्रि० ब्राउन ने भी उन प्रयोगों की चर्चा की है जो संगीत और रंग में क्या-कितना संबंध है, यह सिद्ध करने के लिए पाश्चात्य देशों में हुए हैं। इनसे यह स्पष्ट होता है कि नाद और ध्वनि से तथा उनके संरूपों से 'रूप' उभरते हैं और वे रूप-रंगादि से भी युक्त हो चित्र-विचित्र प्रतीत होते है।

वास्तुकला और संगीत-कला का अन्तरंग सम्बन्ध :

संगीत 'आलाप' की मूल अन्तस्थ पश्यन्ती से वीणा-मृदंगादि ने, अथवा उनके सहयोग से भी मध्यमा-रूप में स्फुटतर एवं गायन-नर्त्तनादि में वैखरी-रूप प्राप्त कर पूर्णतः प्रकट होता है। 'नर्त्तन' संगीत का जीवंत अवतरण है।

फिर 'मूर्त्ति' की शरीरयष्टि आदि उसके अन्तस्थ भाव के ही बाह्य प्रकाशित रूप हैं। 'रूप' के द्वारा मूर्त्ति और चित्र में जो मूर्त्तित-चित्रित होता है, 'गति' के द्वारा नर्त्तन में वही प्रकाशित होता है।

'वास्तुकला' मूर्त्ति और चित्र में छेनी-हथौड़े के साथ कूची और रंग के सूक्ष्म अंकन के क्षेत्र में भी उतरती है और इस क्षेत्र का सम्बन्ध क्योंकि 'नर्तन' से है, इसलिए वह संगीत के 'नादमय' क्षेत्र में भी प्रवेश कर जाती है।

भारतीय प्रतिमाओं की विशेषता है कि वे मौन है, पर जड़ नही। उनकी श्वासनिःश्वास और उनकी धड़कन भी सुनाई-सी पड़ती मालूम होती है, क्योंकि कलाकार ने शरीरांगों में प्रतिच्छायित श्वसनादि और उनकी लयों तक का अंकन प्रतिमा की नासिका, वक्ष-प्रदेश, भुजाओं, उंगलियों के पोर-पोर में गत्यात्मक रूप से किया है। इन आन्तरिक सूक्ष्म लयांकनो के ऊपर मुख, पाणि आदि की मुद्राओं का अतीव पुष्ट और सार्वभौम भावांकन है—अंजलि-मुद्रा (भक्ति), ज्ञान-मुद्रा (उद्बोधन), अभयमुद्रा (आश्वस्तता) वर-मुद्रा (सौम्यभाव) आदि। उसी भांति आसनों मे भी पद्मासन, ध्यानासन या वज्रपर्यंक में समाधि का, ललितासन और भद्रासन में लालित्य और मैत्रीभाव का, आलीढ़ासन में आत्मानुसंधान की साधना का, ताण्डव एवं नृत्यासन में भूतसमष्टि के संहारादि का, आलिंगनासन अथवा युगनद्ध मूर्त्तियों में

अद्वययोग अथवा सृष्टि-प्रक्रिया का सार्वकालिक भावांकन है। प्रतिमा की इन मुद्राओं और नृत्य की मुद्राओं, अंगहारों-करणों में अद्भुत साम्य है।

'समराङ्गणसूत्रधार' में भोज ने चित्र की महत्ता इस प्रकार बतलाई है: 'चित्रं हि सर्वशिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्'। सभी शिल्पों का 'मुख'-रूप यह 'चित्र' अपनी 'मुखाकृति' के व्यक्तीकरण के लिए तीन तत्वों पर निर्भर है—१—रेखाक्रम, २—वर्णक्रम, और ३—वर्त्तना, अर्थात् रूपयोजना और भारसाम्य। तीन आयामों में आकारबद्ध करते हुए भी उसे सौम्य और हल्का रखना—यही तीनों का योग है। 'रेखाक्रम' चित्र की आत्मा है। पाश्चात्य कवि-चित्रकार ब्लेक ने दार्शनिक पुट देकर कहा था—कला और जीवन का महत्त्वपूर्ण और स्वर्ण-नियम यह है: जितनी स्पष्ट, प्रखर और गहन सीमारेखा होगी, उतनी ही पूर्णता रहेगी।[50] विष्णुधर्मोत्तर पुराण ने तो बतलाया है कि रेखा की ही प्रशंसा स्वामी करते हैं। क्योंकि रेखाओं में आकृति-योजना, अंग-भंगिमा के लयात्मक रूपनिबंधन की कैसी शक्ति है, यह केवल कलामर्मज्ञ ही जान सकते हैं। प्रकाशादि की विभक्तता की सराहना दर्शक करते हैं; अलंकरण स्त्रियों को मोहक लगता है और शेष समाज वर्णना का अवलोकन करता है। अजंता, बाघ, एलोरा और तंजोर के भित्तिचित्रों में रेखा की अद्भुत लयात्मकता और वर्ण की सुकुमार मसृणता है। अंगों की मृदु लय शरीर के भारसाम्य के साथ अतीव कोमल ढग के संतुलन में उभरती हुई अंकित की गयी है। उनके प्रलम्बन और आकुंचन में जो 'वर्तना' है, उनसे मूलस्थ भाव में त्रि-आयामी विस्तार और गति आ जाती है।

हल्की कोमल रेखाओं और मृदु वर्णक्रमों के द्वारा शरीर के अंगों की मांसपेशीय एवं अन्तरावयवी क्रियाओं के अंकन के साथ-साथ सूक्ष्म भावों के अभिव्यंजन की जो प्रखरता मूर्तियों और चित्रों में दिखाई पड़ती है, वही मूलस्थ भाव स्पंदित अंग-भंगिमाओं के द्वारा नृत्य के थिरकनों के द्वारा भी अवतरित की जाती है। भारतीय चित्रों में जो झटिति-प्रतीति है, अथवा परिप्रेक्ष्य का अभाव है—दूसरे शब्दों में, ठोस मूर्त्तन अथवा परिमा (व्हॉल्यूम) के तृतीय आयाम द्वारा दृश्य को प्रत्यक्षवत् प्रस्तुत कर देने की जो विशेषता है—उसके मूल में है स्थापत्य और चित्रकला का नृत्यकला से अभिन्न सम्बन्ध। विष्णुधर्मोत्तर पुराण का स्पष्ट कथन है कि नृत्य के परिज्ञान के बिना भावाभिव्यक्ति की प्रवीणता चित्रकार में विकसित नहीं हो सकती। इसका कारण था 'लय' का महत्त्व। शरीरयष्टि का स्थानविशेष में भावानुरूप स्थिर संतुलित

अचल रूप; फिर कर, पद, कटि, कंठ की भंगिमा; अंगाहार; तथा हाथ और उंगलियों की मुद्राएँ, ये चल रूप, नृत्य के इन चार तत्त्वों तथा इनके नाना भेदोपभेदों, करणों, मात्रिकाओं का परिज्ञान न हो, तो भित्तिमूर्त्तियाँ, प्रतिमाएँ नाना भावों का लयात्मक ध्वनन करती हुई गढ़ी नहीं जा सकतीं। साँची भरहुत, बोधगया, अमरावती, मामल्लापुरम्, बोरोबुदुर की छोटी-बड़ी सभी मूर्त्तियाँ इतनी जीवंत और नृत्यमयी इसलिये ही प्रतीत होती हैं कि उनके मूल में कलाकार की नृत्य-साधना है। **विष्णुधर्मोत्तर पुराण** के अनुसार—

यथानृत्ते तथाचित्रे त्रैलोक्यानुकृति स्मृता। दृष्टयश्च तथाभावाअङ्गोपाङ्गानिसर्वशः।
कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम। त एव विज्ञेया नृत्ते चित्रे परं मतम्।

इस प्रकार नृत्य मुग्धकर चित्रात्मक प्रस्तुति है; मुग्धकर, क्योंकि वह प्राणतत्वयुक्त है। मंदिरों में इस कारण नृत्यशालाएँ भी थीं। देवता को पूजन नृत्य द्वारा अर्पित होता था। नर्त्तन प्राण-निवेदन था : प्राण की सुरभि, जैसे देहकलिका को बिजली का फूल बना देवता के चरणों में समर्पित होने को आकुल हो, ऐसे मुग्ध वैकल्य का प्रस्फुटन नर्त्तन था। नृत्य आध्यात्मिक प्रतीक है : 'नटराज' के महानृत्य का प्रतिबिम्ब, अथवा कृष्ण के 'रास' में समर्पण। नृत्य अरूप का रूप-सधान भी है, और वह रूप का अरूप में समर्पण भी है। अरूप रूप में अवतरण-हेतु जिस लीलावृत्ति से, और रूप अरूप में निवेदित होने के लिए जिस उत्कठा से आन्दोलित होता है, नर्त्तन उस 'प्राण' का गतिचित्र है। प्रथम है सृष्टि-लीला, पार्वती का लास्य जो ऐश्वर्यपूर्ण है ; द्वितीय है, विसर्जन की महालीला, नटराज का ताण्डव, जो चिन्मय है, एवं उदात्त-गंभीर है। भूतसमष्टि और चेतना के बीच, जगदात्मा और विश्वात्मा के मध्य अहर्निश जो 'प्राण' का 'पर्युत्सुकी' भाव ऐश्वर्याविभूतिमय रूप में चल रहा है, नर्त्तन उसे अपनी थिरकनों, अंगहारों, करणों, मुद्राओं में प्रस्फुटित करता है। **येट्स** ने जो यह माना था कि नृत्य में देह आत्मा हो उठती है, अतएव अद्भुत अद्वययोग है, काव्य और जीवन का श्रेष्ठ द्युतिमान प्रतीक है, सो कुछ इन्हीं कारणों से। **श्रीमती अमला शंकर ने**, इस कारण ही कहा है—'नृत्य, आत्मा और हृदय का ध्वनित संगीत है।'[८१] नर्त्तन की साधना से भारतीय स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र के कलाकारों को शरीर के अंगो-उपांगों-प्रत्यंगों, एवं उनकी लोच और भंगिमाओं के सम्बन्ध में इतनी सूक्ष्म-गंभीर अन्तर्दृष्टि मिली कि परुष पाषाणों की मूक भूमि पर उन्होंने नटराज और पार्वती के ताण्डव और लास्य नृत्य की, कृष्ण और बुद्ध की जीवनलीलाओं और नर्त्तित छवियों की एवं देवों, गंधर्वों,

यक्षकिन्नरों, अप्सरियों की प्रमत्त भंगिमाओं की और पशु-पक्षियों की छलांगों-उड़ानों और कमलकोरकों के हल्के प्रस्फुटन तक की गाढ़-सूक्ष्म आन्दोलनमयी नाना लीलाएँ इस प्रकार उकेर दी हैं कि आज भी लगता है कि जैसे उनका लहराना बस, अभी-अभी थमा हो।

भारतीय कला की प्रधान वृत्ति प्रशान्ति है, शम है। शिव, बोधिसत्व, विष्णु, सरस्वती, प्रज्ञापारमिता, तारा के मुख पर जो स्थिर सौमनस्य है, वह भारतीय कला का ऊर्ध्व पक्ष है। पद्मासीन अचल समाधि-मुद्रा में भी यही भाव प्रकट किया गया है। इस उदात्त भाव-मुद्रा के साथ-साथ अवलोकितेश्वर, लोकनाथ, पार्वती आदि की अभय मुद्राएँ हैं, जिनकी दृष्टि ममत्वपूर्ण और प्रसन्न है। वे ललितासन पर आसीन हैं। इनमें उनकी कारुण्य-भावना प्रतीकित होती है। और फिर दुर्गा, चामुण्डा, काली, डाकिनी, महाकाल, कालभैरव आदि की मूर्त्तियों-चित्रों में भयानक, रौद्र और प्रलयंकर भाव मूर्त्तित हैं। 'लाओकून' में लेसिंग ने कहा है, 'मूर्त्ति-चित्रादि में अतीव भयंकर का, रौद्र और बीभत्स का भी मूर्त्तन रम्य नहीं।'[८१] किन्तु भारतीय कला में 'ताण्डव' की, कालभैरव, काली, आदि की मूर्त्तियाँ बनी हैं। भारतीय भावना 'क्षय' से भीत नहीं होती; मंगलमय विभु पर विश्वास करती है। उसके सामने यही जीवन नहीं कि भीतियाँ उसे त्रस्त करें। भारतीय कला-प्रकल्पना उपरिनिर्दिष्ट सौम्य भाव और भयंकर संहारभाव की विराट्ता के बीच नाना रम्य भावों की स्थिति-गति के चित्र उरेहती, नृत्य प्रस्तुत करती है। उनमें एक भंगिमा, 'त्रिभंग', भारतीय चित्र-मूर्त्ति-नृत्य कला की अतीव मुग्धकर भंगिमा है। अधिकांशतः यह नारीदेह की लावण्ययोजना की 'वर्त्तना' है। पाषाण पर (अथवा पट पर) यह लुभावनी मुद्रा अति संतुलित संचेलयता की लहर-सी कोर जाती है। इस भंगिमा में शालभंजिका, आदि की नारी-मूर्त्तियाँ तो मिलती ही हैं, मैत्री भाव में खड़े बुद्ध, वज्रपाणि, कृष्ण आदि की भी प्रभूत मूर्त्तियाँ चित्र-छवियाँ मिलती हैं। यह नृत्य की भी अतीव मनोहर भंगिमा है। 'त्रिभंग' अनेक मोहक रहस्यों का प्रतीक है; 'कामकला' का वह मुग्धकर 'मोटिफ' है, जिसमें जगदात्मा और विश्वात्मा का 'हृदय-संवाद' स्फुट-अस्फुट रहता है। काव्य में शब्द और अर्थ का अद्वययोगरूप विदग्ध-भङ्गिभणित्ति अथवा वक्रोक्ति वाक्याभिनयात्मक 'रङ्ग' में एक प्रकार से 'त्रिभंग' का ही पुनराख्यान है।

सकल कला मौलिभूत नाट्य :

समरांगण सूत्रधार (८२, ३३, ३४) में भोज ने कहा है कि मुद्रा या भंगिमा का प्रकाशन तो रसदृष्टि ही करती है। मुद्रा और 'चितवन' के कारण

मूर्ति में वैसी ही प्राणवत्ता आ जाती है जैसी रंगमंच पर नाट्य द्वारा। 'सर्वाभिनयदर्शनवद्' मूर्तियों में नाट्य और प्रतिमा का अर्थात् आंगिक अभिनय (नाट्य) और वर्णाभिनय (चित्र) का योग है। नृत्य, चित्र और मूर्ति तीनों रसदृष्टि, मुद्रा और करण पर आश्रित हैं। फिर, मूर्तियों के रस, आसन, रसदृष्टि पर हम दृष्टिपात करें, तो पायेंगे कि 'नृत्य' और 'नाट्य' के भी मूल भावबिम्ब में अद्भुत साम्य है :—

रस	आसन	रसदृष्टि	उदाहरण
शांत	वज्रपर्यङ्क	स्थिर	ब्रह्मा, शिव, बुद्ध की मूर्त्ति—चित्रादि
शृङ्गार	ललित	ललित, विभ्रम	विष्णुलक्ष्मी, शिवपार्वती, राधाकृष्ण की मूर्त्ति—चित्रादि।
हास्य	नाट्य	विकसित	सभी की प्रसन्न मूर्त्ति-चित्रादि
करुण	भद्र	दीन	बुद्ध, बोधिसत्व की मूर्त्ति चित्रादि।
रौद्र	आलीढ़	भृकुटि विकृत	रुद्र, काली ,, ,,
वीर	आलीढ़	दृप्त	आदिवराह ,, ,,
भयानक	प्रत्यालीढ़	विकृत	महाकाल ,, ,,
बीभत्स	प्रत्यालीढ़	विकृत	शीतला, वज्रचर्चिका,, ,,
अद्भुत	ताण्डव	जिह्म	शिव, भैरव, गणेश ,, ,,

नृत्य में और नाट्य में भी रसानुरूप स्थायी भावों की मूल दृष्टियाँ ये ही हैं, जिन्हें रसोन्मीलन-हेतु नर्त्तक-नर्त्तकी और नटादि प्रदर्शित करते हैं। अतः इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'नाट्य' 'नृत्य' का ही विशद रूप है उसकी भी आत्मा नृत्य की ही है। यह नृत्य के प्राचीन भेद 'भरतनाट्यम्' के नाम में आज भी स्वीकृत है। कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र (१/४) में नृत्य और नाट्य की एकात्मकता के कारण ही उसके दो भेद ताण्डव और लास्य (अद्भुत और रम्य) संकेतित किए—

> देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
> रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
> त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
> नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधकं।

भरत मुनि का नाट्यशास्त्र 'नाट्य' का ही नहीं, नृत्य-कला, गायन-कला एवं वाद्य-विद्या के लिए संगीत-शास्त्र का भी प्रामाणिक आकर ग्रंथ है। संगीत-नृत्यादि के महत्व का प्रतिपादन उसके नाट्योत्पत्ति नामक प्रथम अध्याय से ही प्रारंभ होता है और संभवतः किसी अध्याय में

उसका सूत्र छूटता नहीं। वह सर्वत्र वर्णित है।[८३] 'नाट्यशास्त्र' में 'नृत्य' के प्रयोग की विधि शिव द्वारा निर्दिष्ट है। उनके वचन हैं—जिस प्रकार संध्याकाल में 'नानाकरणसंयुक्तैरङ्गहारैर्विभूषितम्' नृत्य का स्मरण करते हुए हम नृत्य करते हैं, उसी प्रकार 'नाट्य' में भी नृत्त/नृत्य का योग हो, तो 'एभिर्विमिश्रितश्चायं चित्रं नाम भविष्यति' (४।१६)।

परन्तु, नृत्त तो पद-निक्षेप मात्र है। नाट्य में अभिनय और गीत का प्रयोग भावों-अर्थों की अभिव्यक्ति के लिये तो हो सकता है, पर नृत्त क्यों? इसका उत्तर है, शोभा बढ़ाने के लिये, सर्वलोक का यह स्वभावरूप अंग-निक्षेप है, इस हेतु (४/२६६)। साथ ही, उस नृत्त में यदि गीत भी युक्त हों, तो वह शोभादायक भी होगा और अर्थ-प्रकर्षक भी। फिर अभिनवगुप्त कोहलाचार्य के मतानुसार (४/२७४-५)[८४] यह भी बतलाते हैं कि जिसमें लय प्रयुक्त हो वह राग है, जिसमें कथा का सुन्दर निर्वाह हो, वह काव्य है, और गीत जो नृत्त के साथ युक्त हो रहा है, वह वास्तविक 'काव्यांश' है। 'प्रथमं त्वभिनेयं स्याद्गीतके सर्ववस्तुकम्'(४/२८६) द्वारा यह निर्देश किया गया है कि पहले गीत की समस्त वस्तु का अभिनय किया जाना चाहिये, तब पुनः उसी वस्तु का प्रदर्शन नृत्त एवं वाद्यादि के सहारे किया जाना चाहिये। अर्थात् गीत-वस्तु के कथांश और वाद्यादि के योग से नृत्त होना चाहिये। इस विधि से नृत्त 'नृत्य' हो उठता है। यह नृत्य भी 'भावाभिनय' ही है। यही नहीं 'नाट्य' की वृत्तियों में सबसे रम्य कैशिकी वृत्ति 'नृत्ताङ्गहारसम्पन्ना रसभावक्रियात्मिका' वृत्ति है; वह शिव के शृङ्गारमय नृत्त से सम्बद्ध है और सभी रसों का प्राणभूत सौन्दर्य है। इस प्रकार, 'नाट्य' में नृत्त/नृत्य का महत्त्व नानाविध स्वीकृत हुआ है।

फिर, नाट्यशास्त्र में अट्ठाइसवें से तैंतीसवें अध्याय तक में संगीत-शास्त्र के अंगों का सविस्तर प्रतिपादन और वाद्यों आदि का वर्णन है। पूरे चौथे अध्याय में तो (३२० श्लोक हैं) नृत्य के १०८ करणों, ३२ आङ्गहारों, ४ रेचकों एवं उनके स्थानों, चारियों, पिंडीबंधों का पूर्ण विवरण प्रयोग-विधि आदि के साथ प्रस्तुत किया गया है; एवं पंचम अध्याय में गान-तालादि की प्रयोगविधि का 'पूर्वरङ्गविधान' में निर्देश है।

अतः कहा जा सकता है कि गीत और संगीत 'नाट्य' की शय्या ही नहीं है, 'नाट्य' का प्राण है—'प्राणभूतं तावद् ध्रुवागानं प्रयोगस्य'। भरत मुनि ने यह बतलाया है कि 'जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च', अर्थात् सामवेद

के गीत का ग्रहण कर ही 'नाट्यवेद' का द्वितीय भाग (ब्रह्मा द्वारा) रचित हुआ। और 'च' का सूक्ष्म संकेत **अभिनवगुप्त** के अनुसार 'पाठ्य' और 'गीत' की तुल्यकक्षता भी है। साथ ही, वे अपने **गुरु भट्टतोत** का मत भी बतलाते हैं कि रस का आस्वादन गीत के द्वारा होता है; अर्थात 'गीत' वस्तु को सम्प्रेष्य एव सवेद्य बनाते हैं। वस्तुतः गीत नाट्य की प्रत्यक्षवत्ता का विलयन करते, स्थापत्यगत उसकी अचलता को चञ्चल बनाते हैं।

भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र के षष्ठ अध्याय श्लोक १० में अपने पूर्व के **कोहलाचार्य** के नाट्यांगों की जो प्रस्तुति सग्रह-रूप में की है, उसमें सगीतकला और नाट्य के तत्त्वों के साथ 'स्थापत्य' का भी अद्भुत योग है।

रसा भावा ह्यभिनया धर्मी वृत्ति प्रवृत्तयः। सिद्धि स्वरास्तथातोद्य गानं रङ्गश्च सङ्ग्रह।

इसमें 'रङ्ग' स्पष्टतः स्थापत्य से सम्बन्धित है। स्थापत्य का परोक्ष और भावानात्मक रूप तो समस्त नाट्य मे आच्छायित भी है। अर्थात् चारो प्रकार के अभिनय, दोनों प्रकार की धर्मिता, चारो प्रकार की वृत्ति, पाँचों प्रकार की प्रवृत्ति, वाद्य, गान, नृत्यादि के सुष्ठु संयोजनादि में भी परोक्षतः स्थापत्य की ही उपस्थिति है। यही नही, भरतमुनि ने नृत्त/नृत्य की अवतारणा के लिये भी स्थापत्यात्मकता का निर्देश किया है। नाट्यशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में महेश्वर शिव 'नाट्य' के 'चित्र' रूप में प्रस्तुति के लिए ब्रह्मा से कहते हैं कि इस प्रकार की प्रस्तुति के लिए तण्डु से नृत्य, अङ्गहारादि सीख लो। नृत्त/नृत्य पिंडीबध हो (श्लोक १६ एव २५७, २६६)। अंगहार और करण आदि के प्रयोग से नृत्य में जो निश्चित आकृति-विशेष (पोज़) उभरती है, वह, **अग्निपुराण** (भाग—१/पृ० १७०-७१) के अनुसार पिण्डीबन्ध कहलाती है। **शारदातनय** ने भावप्रकाश में 'पिण्डीबन्ध' का अर्थ नर्त्तक-नर्त्तकियो का 'संरूपण' (पैटर्निंग) लिया है। स्थापत्यात्मकता और लोकधर्मिता 'नाट्य' का क्षितितत्त्व है, सांगीतिकता और नाट्यधर्मिता आकाशतत्त्व।

इस प्रकार गीत, वाद्य और नृत्त/नृत्य से समन्वित 'नाट्य' 'मूर्त्तन-अमूर्त्तन' के कला-व्यापार का चित्र-विचित्र योग है—'एभिर्विमिश्रितश्चायं चित्र नाम भविष्यति' जो शिव का वचन था, उसे सम्पूर्णरूप में सत्य सिद्ध करनेवाला।

रस और रस ब्रह्मवाद :

सकल कलाओं के अद्भुत संयोग-रूप 'नाट्य' से निष्पन्न होनेवाले 'सत्त्व' का नाम भरत मुनि ने 'रस' दिया। वह क्षिति, अर्थात 'वाक्तत्त्व' और आकाश, अर्थात 'प्राणतत्त्व' के मिलन का अग्निरूप द्रव है।

उनके द्वारा स्वीकृत आठ/नौ रस काव्य के भी मूल और प्रधान रस हैं **विष्णुधर्मोत्तर** पुराण (प्रायः तीसरी चौथी शती ई०) में भी वे ही रस परिगणित हैं। **भोज** ने 'समरांगण सूत्रधार'(ग्यारहवीं शती ई०) में ग्यारह रस तो माने, पर प्रधानता नौ की ही बतलाई।

भरत मुनि की रस-प्रकल्पना और रस-मूर्त्तियाँ वास्तु, मूर्त्ति, चित्रादि सभी कलाओं एवं काव्य में भी प्रतिष्ठित हुई हैं। निम्न सारणी में 'नाट्यशास्त्र' और 'शिल्प रत्न' की रस-मूर्त्तियाँ द्रष्टव्य है :—

भरत मुनि के अनुसार—			'शिल्परत्न' के अनुसार—	
रस	**देवमूर्त्ति**	**रंग**	**प्रतिमादि के भाव**	**वर्णयोजना**
शृंगार	विष्णु (अभिनव: कामदेव)		शृंगार (रति)	श्याम या हरिताभ
—हास्य	प्रमथ	सित	हास्य (लास्य)	उज्ज्वल
रौद्र	रुद्र	रक्त	रौद्र (क्रोध)	रक्तताभ
—करुण	यम	कपोत	करुण	कपोत
वीर	महेन्द्र	गौर	वीर	नारंगी
—अद्भुत	ब्रह्मा	पीत	अद्भुत	पीला
बीभत्स	महाकाल	नील	बीभत्स	नीला
—भयानक	कालदेव	कृष्ण	भयानक	काला
शांत	(अभिनव-'बुद्ध')	निर्मल	शांत	निर्मल शुभ्र

भरत मुनि के द्वारा निर्दिष्ट 'वर्ण'[८५] ही शिल्परत्न में मूर्त्ति-चित्रादि के लिए भी स्वीकृत हैं। **डा० राधाकमल मुखर्जी** ने[८६] निश्चित भावों के निश्चित वर्णों द्वारा प्रतीकित करने की यह विशेषता अजंता, बाघ एवं अन्य स्थानों की मूर्त्तियों में तथा समस्त उत्तरी भारत, नेपाल, तिब्बत में प्राप्त भूर्जपत्रों आदि के चित्रों में प्रायः समान रूप से प्रयुक्त पायी है। अतः 'नाट्यशास्त्र' की रससम्बन्धी वर्णयोजना मात्र नाट्यशास्त्रीय नहीं है। **अभिनवगुप्त** का कथन है कि चित्र और शिल्प भी नाटक के अर्थभाग के सार-रूप है, जैसे सर्गबंधादि महाकाव्य के शब्दभाग के सार-रूप हैं (अभिनव-भारती, पृ०५०६)। नाटक के अर्थभाग के सार-रूप 'चित्र' और 'शिल्प' एवं उनकी मूलात्मा 'रस' समस्त वास्तुकला के स्थापत्य, मूर्त्ति एवं चित्र को नानाविध प्रभावित कर गये हैं।

इस प्रकार, वास्तुकला की मूल प्राणवत्ता प्रतिमा में है, प्रतिमा का मुख इसकी वर्णात्मकता या 'चित्र' में है (चित्रं हि सर्वशिल्पानां मुखं), चित्र

की श्रेष्ठ प्रस्तुति नृत्त में है (नृत्तं चित्रं परम मतम्)। फिर 'नृत्त' की पूर्णता भावाश्रित-रागाश्रित नृत्य में है। नृत्य में अंगादि-निक्षेप रूप शरीर ध्वनन भावाभिनयात्मक हो उठता है और नाट्य की ओर सम्प्रसारित होता है। अतः 'नृत्य' की विवृति ही 'नाट्य' है। और फिर, 'नाट्य' की संवृति काव्य है।

ऐसी कला-प्रकल्पना से उद्भावित वास्तुकलागत 'प्रतिमा-पुरुष' और नाट्य-काव्य-कलागत 'काव्यपुरुष' में इतनी सघन समानता है कि स्थापत्य→भित्तिचित्र→प्रतिमा के वास्तु-कलागत, एवं विभाव→अनुभाव व्यभिचारी-भाव→स्थायी के नाट्यकाव्यकलागत त्रिसंस्थानीय रसोन्मुखी प्रस्थान में अथवा उनकी रचना-प्रक्रिया में अन्तर मात्र भोग (मैटर बिकमिंग फॉर्म) का है।

भारतीय कलाओं की एककेन्द्रिकता/कोन्मुखता यह घोषित करती है कि भारतीय धर्म जिस उदात्त और महत् की सम्प्राप्ति के लिए, अध्यात्म-दर्शन जिस सत् की उपलब्धि के लिए द्वन्द्वात्मक और वैषम्यमूलक जीवन-जगत् के ग्रंथिल आवरण-भंग का महत्त्व कर्म और ज्ञान द्वारा प्रस्तुत करते हैं, ये कलाएँ भी वही काम भावों के द्वारा करती हैं। भावों की महाधारा में सत् और असत्, पुरुष और प्रकृति, चेतन और जड़ की समस्त द्वयता विश्वात्मा और जगदात्मा के ऐकात्म्य-भाव में तिरोभूत-सी होती है।

काव्य एवं कलाओं के ऐकात्म्य भाव की धारा ऐकोन्मुखी है। वह जहाँ पर्यवसित होती है, उसका ही शास्त्रीय नाम है 'रस'। 'रस' की मूल भावना के अन्तर्गत ही 'नादब्रह्मवाद' और 'वास्तुब्रह्मवाद' की प्रस्थान-भेदजन्य उद्भावनाएँ हुईं। यह 'रस' उन-उन कलाओं का भावित सार है : द्रवित निर्मल प्रकाशरूप प्रवाह—जैसे कि दर्पण हो, जिसमें आत्मसत्ता अथवा ब्रह्म अपनी छवि प्रति-बिम्बित पाता है। इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि 'रस' प्रत्येक कला की स्वसाधना का भावित सार है, अतएव तद्निर्विशिष्ट नहीं।

तब प्रश्न होता है कि वास्तुब्रह्मवाद, नादब्रह्मवाद, रसब्रह्मवाद यदि एक हैं, तो फिर भिन्न-भिन्न नाम क्यों? पृथक् हैं, तो व्यभिचरित होते हैं; ऐसा क्यों? महावैयाकरण भर्तृहरि ने इसका उत्तर दिया है। वह यह, कि है वह एक, परन्तु भिन्न-भिन्न शक्तियों से सम्बद्ध होकर अथवा व्यापारों का आश्रयण कर वह पृथक् भासता है।

एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यापाश्रयात्। अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथकत्वेन भासते।

उस एक ब्रह्म से जिस शक्ति का जैसा विमर्शन होता है, वैसा ही उसका प्रकाशन होता है। प्रकाशन में क्रम है। आध्यात्मिक क्षेत्र में शैवतान्त्रिकों ने उसे चित्त, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया का प्रकाशन मान कर क्रमशः शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, विद्या के रूप में कल्पित भी किया है।

वैसे भी, डा० **देवव्रत सेन गुप्त**[५७] ने 'तत्व' पर विचार करते हुए बतलाया है, कि तत्व के दो पक्ष हैं १—विभु-पक्ष (मैक्रोकॉस्मिक) एव २—अणु-पक्ष (माइक्रोकॉस्मिक)। विभु या ब्रह्माण्डीय-रूप में वह ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और उपादान कारण है। अणु-रूप में वह व्यष्टि-रूप शरीर है। इसके साथ, तत्त्व का चैतन्य लक्षण भी स्मरणीय है, जिसके कारण आगमों में 'तत्व' परम सत् (शिव) का एक पहलू (फेज) मात्र माना गया—परम सत् से आविर्भूत होने के क्रम में एक क्षण अथवा चरण-विशेष। आगमों और सांख्य के तत्व-विवेचन के संयोग से तत्व में एक और लक्षण परिकल्पित हो उठता है। वह यह कि तत्वों में उत्तरोत्तर संवर्धमान महत्तत्व की कोटियाँ (हायरार्की) हैं। उच्च 'तत्वों' में सूक्ष्मता और स्वातंत्र्य है, निजी अन्तरंग विशिष्टताएँ हैं, केन्द्रानुगामिता है। निम्न तत्वों में स्थूलता और बाह्य प्रसरण की विशेषता है। प्रत्येक निम्नकोटिक को उत्तरोत्तर पूर्व के उच्चकोटिक तत्व से जीवनी शक्ति और संरक्षण प्राप्त होता है। तत्वो का यह संस्थान नाना संवर्धमान वृत्तों में परिकल्पित हो सकता है, जिसमें उच्चतम या महत् की परिधि सबसे व्यापक है और निम्नस्थ की सबसे छोटी है। महत् के अन्तर्गत सारे क्रमिक लघु तत्व-वृत्त आश्रित और अन्तर्लीन हैं, और लघुतम तत्व के अन्तर्गत अपनी लघु परिधि में भी, यथाक्षम, महत् के उन समस्त अनुतत्व-वृत्तों के सार हैं, जिनसे वे जीवनरस पाते हैं। कलाओं के क्षेत्र में भी रूप-ग्रहण अथवा तत्वाविर्भाव में क्रम है, संवर्धमान महत्तत्व की कोटियाँ हैं। रसब्रह्म सबसे महत् और सूक्ष्म, अन्तःप्रवेशी वृत्त है; नादब्रह्म और वास्तुब्रह्म उत्तरोत्तर स्थूल कोटियों में बाह्यप्रसारी हैं। किन्तु रसान्तर्गत सभी हैं। उनका 'ब्रह्म' अंश उनको रस की उन्मुखता अथवा अनुगतता का सूचक है, वैश्विक रूप का निदर्शक है; एवं 'नाद' और 'वास्तु' अंश स्व-रूप का, व्यक्तिता का परिचायक है।

कलाकोटियाँ एवं काव्य का महत्त्व :

यह विचारणीय हो सकता है कि कलाओं में श्रेष्ठ कौन है तथा श्रेष्ठता का आधार क्या है। यह भी, कि काव्य क्यों इनसे अधिक महिमामय कहलाता

है। पाश्चात्यों में से प्रधानतः हीगेल और क्रोचे ने कलाओं के तारतम्य पर पूर्णतः अतिवादी विचार प्रकट किये हैं। उनके विचार सारतः निम्न हैं।

हीगेल और क्रोचे की कलाधारणा :

जार्ज विल्हेल्म हीगेल (१७७०-१८३१) ने अपने दर्शन का विशाल भवन **फिश्ते** और **शिलिंग** की दार्शनिक उद्भावनाओं की नींव पर रखा, पर उस नीव की शिला उन्होंने बदल डाली। प्रकृति, चित् और तर्क में वे ऐकात्म्य स्वीकार नहीं करते। प्रकृति आश्रिता है, आश्रय उससे महत् है। तर्क सर्वत्र है; जहाँ तक उसकी गति है, वहाँ तक सत् है। ब्रह्माण्ड तर्काश्रित है, परमतत्त्व (सत्) भी पूर्ण तर्क है, सत्य है। हीगेल ने तर्क और अध्यात्म को तत्त्व के मात्र दो पक्ष माना। प्रकृति सतत गतिशील है : उच्च स्थिति पूर्व की निम्न स्थिति की आकांक्षा की परिपूर्त्ति है, उसका 'सत्य' है, प्रयोजनसिद्धि है। निम्न तत्त्व अपने परवर्त्ती महत्तर तत्व में नकारात्मक हो उठता है, फिर भी वह परिवर्तित-परिणमित रूप में उसमें अनुप्रविष्ट तो रहता है। हीगेल के दर्शन में प्रत्येक तत्त्व में वैषम्य की अन्तवर्त्ती वृत्ति, उसकी विखंडन-प्रक्रिया एवं परवर्त्ती क्रम में नवीन सामंजस्य का आविर्भाव इस वैशद्य और गूढता से प्रकल्पित है कि **रसेल** ने उसे दुर्ज्ञेय दार्शनिकों में एक माना है।[८८]

'तत्व' के सम्बन्ध में उपरिसंकेतित भारतीय विमर्शन-प्रकाशन-प्रक्रिया से हीगेलीय प्रक्रिया इस मानी में पृथक् है कि हीगेल ने 'नकार' या 'विखंडन' पर बल दिया है एवं अपने दर्शन को सामाहारात्मक दर्शन के स्थान पर द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का विराट् विज्ञान बना डाला है। उसके सूत्रवाक्य दर्शन के प्रकाश के साथ चिनगारियाँ भी हैं। इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में परिवर्त्तन पहली बार **हेराक्लिटस** से भी बुलन्द ढंग से प्रकट हुआ और विज्ञान के कधों पर चढ़ दर्शन ने प्रथम बार अपना विराट् रूप प्रत्यक्ष किया। द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में चरम विकास परम मन या आत्मा में होता है। परम मन अपनी ही स्वतंत्र निस्सीम आत्मचेतना में लीन रहता है। उत्तम स्थिति में आने के लिये इसे तीन अवस्थाओं से उत्तीर्ण होना पड़ता है। ये हैं—१. कला में, फिर २. धर्म में, एवं फिर ३. दर्शन में आत्म-प्रकाशन की अवस्थाएँ। चैतन्य के सत् का प्रातिभ आत्म-प्रकाशन कला है, कल्पनात्मक-प्रतिरूप प्रतिस्थापन धर्म है, एवं प्रत्ययात्मक शुद्ध तर्कसंभूत सद्रूप में संज्ञान दर्शन है। व्यक्तिमन भी अपने आन्तरिक सत् की पूर्ण स्वतंत्रतापूर्वक प्रतीति करता है, तो वह कलात्मक है, और जब निष्ठा-भक्ति से प्रपन्न हो उसकी कल्पना में विभोर

होता है, तो वह धर्ममय है, तथा निर्मल विचार में उसके प्रत्ययात्मक सद्रूप का साक्षात करता है, तो 'दर्शन' है।[८९] कला→धर्म→दर्शन के इस प्रस्थान के कारण विकास-प्रक्रिया में कला दर्शन से निम्नस्तरीय भूमि में आ गयी।

मन की उत्तरोत्तर तीन वृत्तियाँ दूसरी दृष्टि से भी प्रकल्पित हैं: आत्मनिष्ठ→वस्तुनिष्ठ→परम। आत्मनिष्ठ स्थिति में प्रातीकिक कलाओं का सर्जन होता है, वस्तुनिष्ठ स्थिति में शास्त्र निष्ठ कलाओं का और परम स्थिति में स्वच्छन्दतावादी या रोमांटिक कलाओं का। प्रातीकिक कला में पिण्डीबद्धता रहती है, अर्थात् वास्तविक प्रस्तुति कम, किन्तु गोचर आकारीकरण के लिये मात्र प्रयोग अधिक रहता है।[९०] वस्तुनिष्ठ या क्लैसिकल कला में प्रत्यय का सौन्दर्यात्मक मूर्त्तन होता है, वस्तु (आइडिया) और बिम्ब (इमेज) में एकात्मता-सी आती है। किन्तु यह भी प्रत्यक्षवत्ता और ठोस शरीरी मूर्त्तता के कारण सीमाबद्ध कला ही है। स्वच्छन्द अथवा रोमांटिक कला में ही अन्यथाकरण (डिस्टार्शन), अतएव सूक्ष्मीकरण की आत्मचेतन स्वच्छन्द वृत्ति का उन्मेष देखा जाता है। अतएव यह अन्यों से उत्तम है। अन्य दो कलाएँ जहाँ 'स्व' के तट में ही भटकती रहती हैं, वहाँ यह उसकी गहराइयों में भी उतर कर आध्यात्मिक हो उठती है, उसके गहन अंश की अभिव्यक्ति करनेवाली भी। यह कला मानव के आत्म-जगत् का बाह्यजगत् पर सूक्ष्म सत्ताधिष्ठान भी है।

इस दृष्टि से हीगेल के अनुसार 'प्रातीकिक कला→शास्त्रनिष्ठ कला→स्वच्छन्द कला' के प्रस्थानक्रम में क्रमशः वास्तुकला—मूर्त्तिकला—चित्र→संगीत और→काव्यकलाएँ वर्गीकृत होती हैं। स्पष्ट है कि इस वर्गीकरण के मूल में उपरिवर्णित त्रिक है: कला→धर्म→दर्शन, यानी आत्मनिष्ठ→वस्तुनिष्ठ→परम। अतएव वर्गीकरण शिरोमूला दृष्टि से किया गया है। दूसरी बात यह कि वर्गीकरण दो चरणों पर स्थित है: १—दर्शन, एवं २—विज्ञान (इतिहास); जिनमें से प्रथम स्थिर है, दूसरा गतिशील। फलस्वरूप प्रथम चरण की गति कला की स्वतंत्र सत्ता की जब तक प्रतिष्ठा करती है, दूसरा चरण उसे खंडित कर आगे निकल जाता है। अतएव **शीलर**, **हार्टमन** आदि ने इसका खंडन किया था। **बोसांके** ने इस उभयनिष्ठ दृष्टि पर आधारित वर्गीकरण पर आपत्तियाँ उठानेवालों का प्रतिवाद 'हिस्ट्री ऑफ एस्थेटिक्स' (पृ० ३५०—२) में किया है। भारतीय साहित्य में **'प्रसाद'** ने **हीगेल** के मूर्त्तामूर्त्त आधार पर किये गये वर्गीकरण का खंडन 'काव्यकला तथा अन्य निबंध' में भारतीय

कला और दर्शन की अभिन्नता तथा ब्रह्म के मूर्त्तामूर्त्त पक्षो की एकात्मता की भावना के व्यापक सांस्कृतिक फलक पर किया है और स्पष्टतः प्रतिपादित किया है कि 'काव्य स्वतः अध्यात्म है, उससे ऊँची अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नही।'

हीगेल युगान्तरकारी चिन्तक था। उसके कला-दर्शन ने प्रत्येक कला को अपने मूल वृत्त से कुछ स्वतन्त्र, स्वच्छन्द होने की प्रेरणा दी; नवीन कला-मूल्यो के लिये चेतना जगाई, काव्य को श्रेष्ठ कला की महिमा दी। हीगेल के दर्शन ने परवर्त्ती समस्त विघटनकारी, विभज्यावादी, और विक्षोभकारी प्रवृत्तियों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रेरित-प्रभावित किया है। **बेनिदितो क्रोचे** ने हीगेल से उद्धरणादि देकर सिद्ध किया है कि उसके जैसे कला-मर्मज्ञ और सरस कलानुरागी को भी अपने तर्क की जिद पर अडोल रह कर प्रायः प्लेटो की ही भांति कला की मृत्यु की घोषणा करनी पडी। 'कला अपने चरम रूप में विगत की वस्तु है और हमारे लिए तद्वत् अवश्य ही रहेगी।' ऐसा कह कर हीगेल ने जो सौन्दर्य-दर्शन दिया है वह वास्तव में दिवंगत कला पर शोक-सभा के उद्गार हैं। और फिर, कला के क्रम-विकास पर विहंगमदृष्टि डाल कर उसकी क्षयिष्णु वृत्ति का परिचय देते हुए हीगेल इसे पूरी तरह दफना देते हैं। रह जाता है कब्र पर अकेला 'दर्शन' चार अक्षर उसके स्मारक पर चीत देने को।[९१] क्रोचे ने यह भी बतलाया है कि कला, धर्म और दर्शन के त्रिक ने अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियों के सौन्दर्य-विषयक चिन्तकों को किस प्रकार गोटी बिठाने की नयी सूझों में व्यस्त रखा था। हीगेल का क्रम था कला—धर्म—दर्शन, **प्रो० रिक थियाडोर विशर** नामक जर्मन सौन्दर्यवादी चिन्तक का क्रम था, धर्म—कला—दर्शन। **शीलिंग** का था, दर्शन—धर्म—कला; **वाइएसे** का दर्शन—कला—धर्म; **विर्द** का धर्म—दर्शन—कला। शेष केवल कला—दर्शन—धर्म का प्रस्थानक्रम है; (जिसे धार्मिक रहस्यदर्शी-संतों के कलाराधकों ने अपनाया ही है)।

क्रोचे ने कला के स्थान पर कला-प्रकल्पना का दर्शन प्रस्तुत किया है; प्रस्तुत अथवा बाह्याभिव्यक्त कला, जिसका यान्त्रिक अथवा कौशलमाध्य मात्र रूपान्तर या अनुवाद है। अन्तस्थ कला (सहजानुभूति या इन्ट्यूशन=प्रतिभा=कला) का आख्यान उसने गहन और सूक्ष्म रूप मे किया है। क्रोचे का 'एस्थेटिक' चेतना का चार क्षणों में क्रमिक, विकासशील वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करता है। **ये चार क्षण हैं :—**

१—सहजानुभूति-परक (कल्पना-प्रेरित; अतः) 'सुन्दर' का क्षण; एवं तदनुप्राणित
२—प्रमा-परक (बुद्धि-जन्य, अतः तर्काश्रित) 'सत्य' का क्षण—ये दो प्रमा-क्षण
एवं तदुद्भावित क्रमशः
३—योगक्षेम-परक (अर्थमूलक, अतः) 'प्रेय' का क्षण, एवं तद्व्यापृत
४—मंगलभाव-परक (नीतिभाव-प्रधान) 'श्रेय' का क्षण—ये दो संकल्प अथवा **कर्म के क्षण**।

इस कारण क्रोचे ने इन चारों क्षेत्रों में प्रतिभा के भी चार प्रकार स्वीकार किये हैं। क्रोचे ने सहजानुभूति की प्राथमिक क्रिया में कल्पना को स्थान दिया है, जो काव्य-कला का मूलाधार है। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने सहजानुभूतिपरक, अर्थात् सौन्दर्य-दर्शन के, संज्ञान को तर्कपरक प्रमा से पृथक्, पर पूरक एवं प्राथमिक और महत्वपूर्ण बतलाया है—'दर्शन सत् के व्यापक प्रत्ययों का तर्क-द्वारा विचारणा है, कला सत् की सहजानुभूति है'। 'सहजानुभूति' से 'मंगल' तक की एक समान ऊर्जस्वित इस एकतान स्वच्छन्द सहज धारा में जिसका आस्पद अभिव्यंजना-क्रिया का विज्ञान है (एस्थे० १५५) वादग्रस्त होकर रचना करना सर्जन नहीं, गढ़ना ही कहा जायगा (वही १५०)। अतएव, क्रोचे ने सुखवादी, उपयोगितावादी, नीतिवादी, शुद्धतावादी, संवेदनावादी नाना धार्मिक दार्शनिक मनोदैहिक मतवादों, यहाँ तक कि सत्य, शिव, सुन्दर की विभज्यावादी धारणा का भी प्रत्याख्यान कर सहजानुभूतिमयी (प्रातिभ) कला की परिकल्पना एवं विवेचना तलस्पर्शी मुक्त चैतन्य की उत्तरोत्तर फैलती चलनेवाली विमल धारा के रूप में की है। उसके अभिव्यंजनावाद में कला सहजानुभूति की सहज स्वच्छन्द और निर्मल क्रिया है, पर निस्संग नहीं। प्रमा, योगक्षेम, नीति-मंगल का वह मूलस्थ भाव भी है; फिर भी न तो वह प्रयोजन का आग्रही है, न कांट आदि की भाँति अथवा कलावादियों की भाँति निष्प्रयोजकता का वादी। क्रोचे के मूल सिद्धान्तों में समस्त कलाओं की जो ऐकान्तिक दृष्टि और समाहारात्मक विशेषता है इस कारण हर्बर्ट रीड ने पूर्वोद्भावित सारे सिद्धान्तों से उसे उत्तम एवं मौलिक माना है।[६२]

हीगेल ने अपने कला-दर्शन का नाम **'फिलासफी ऑफ एस्थेटिक्स'** तो दिया पर प्रस्तुत विज्ञान ही किया है, वैसा ही वक्रगामी, विखंडनपरक; तथा क्रोचे ने उसे **'एस्थेटिक, ऐज साइंस ऑफ एक्सप्रेसन…'** नाम देकर

प्रस्तुत किया है 'दर्शन', वैसा ही ऋजु, उतना ही प्रत्यय-प्रधान। क्रोचे की कला-प्रकल्पना में कला-कोटियाँ मान्य नहीं है। ठीक, जैसे पश्यन्ती क्रमहीन है, उसी भाँति कला एक है। वह निर्मल सहजानुभूति की अखण्ड चेतना है। स्पष्टतः यह दृष्टि हीगेल की प्रतिपूरक-जैसी है।

कला एवं काव्यकृतियों में तारतम्य के निर्धारण के लिए प्रतीति की साक्षात्कारात्मकता और उसके प्राचुर्य एवं आभोग के पुष्कलत्व का आधार ग्रहण करना लालित्यसर्जना की दृष्टि से अधिक वैज्ञानिक होगा। साक्षात्कारात्मकता 'वाक्' है, 'भोग' का पक्ष है; पुष्कलत्व 'प्राण' है, 'सत्' का पक्ष है। इनका संयोग ही चिन्मय कहा जा सकता है। यह चिन्मयत्व इन्द्रियों और मनस् का मिथुनीभूत भाव है। लालित्यसर्जना की दृष्टि से नेत्र और श्रवणेन्द्रिय, दो इन्द्रियाँ ही तादात्म्य-ताटस्थ्य की युगपत् वृत्तियों से युक्त हैं। ये इन्द्रियाँ विषयसम्पर्क में न तो स्वतः लीन होती हैं, जैसे त्वक्; न विषय को निःशेष ही करती हैं, जैसे रसना, और न घुलती-घोलती ही हैं, जैसे घ्राण। अतएव ये शरीरी सम्पर्क के द्वारा मन को प्रतीति नहीं कराती, एवं विषय को अन्यों के लिये यथावत् एवं अपने में स्वतंत्र छोड़े रहती है। सबसे बड़ी बात यह, कि इनके द्वारा गृहीत प्रत्यक्ष के वृत्त में केन्द्र और केन्द्रबाह्य नाना वृतों-आकारों के उन्मीलन-निमीलन के लिए अन्तराल भी रहता है जिसमें नई प्रतीतियाँ, स्मृतियाँ आदि उभरती हैं जो प्रत्यक्ष को अभिनव आसंग-कल्पना आदि से मंडित करती हैं। अतः इन इन्द्रियों में सर्जन-क्षमता है। प्रकृतिप्रदत्त आयाम छोड़कर स्वनिर्मित आयाम में विषय की व्यंजना करना—अन्यथाकरण और किञ्चिदन्वितीकरण—यही तो कला-सर्जन है। कालिदास के दुष्यंत ने शकुन्तला का चित्र बना कर कुछ ऐसा ही कहा था—

'यद्यत्साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्॥' ६-१४

परन्तु, नेत्रेन्द्रियाश्रयी वास्तुकला दिक् में क्षिति का महत्त्व अधिष्ठित करती है, 'वाक्' अथवा रूप की प्रतिष्ठा करती है। उसमें गति नहीं है। कालतत्त्व वहाँ अस्वीकृत है: सनातन रूप, शाश्वत दृढ़ स्तम्भ, चिरन्तन त्रि-आयामी प्रासाद। आकार में स्वयं बँधी होने के कारण वह अपने आप को भी नकार नहीं सकती। दर्शक भी आछन्न हो स्वतंत्रचेता नहीं रहता। डॉ० स्तेला क्रेमिश के शब्दों में—'कोणार्क में वातावरण तक को पदार्थ बना लिया गया है: भारतीय दर्शन-शस्त्र की मान्यता कि 'दिक् काल का ही उभार है, एक कल्पना है', कोणार्क में अद्वितीय रूप से प्रत्यक्ष की गई है। सूर्यमंदिर से घोड़े दूर पड़े हैं;

दोनों के बीच अन्तराल है। पर मंदिर कुछ ऐसा गढ़ा गया है और घोड़े इस रूप में जीवंत-से चल पड़ते-हुए प्रतीत होते हैं, कि दोनों के बीच का रिक्त दिक् मंदिर और घोड़े का अभिन्न बन कर उभर आता है। विशाल सूर्यमंदिर पहियोवाले रथ और घोड़ों से युक्त बना होने के कारण, वास्तुकला यहाँ बड़े विस्तृत और भव्य प्रसार में स्थापत्य कला हो गयी है।'[८३] इसी तरह वह माध्यम में लय और लोच पैदा कर सकती है; महामाया की आनन्दलहरियों की ऐश्वर्यदीप्त शिखाएँ, उनकी जलती-काँपती लौ प्रस्तुत कर सकती है, पर माध्यम का विलयन नहीं कर सकती। स्वयं वह यह नहीं कह सकती कि बाह्यरतिलीलाएँ मिथ्या छायाभास हैं, आन्तरिक विभूति ही सत्य है। अर्थात्, वास्तुकला का अन्यस्थ माध्यम पूर्णतः अन्तस्थ नहीं होता; दक्ष प्रतिभा के नीचे वह झुक तो जाता है, संगीत और कविता 'लिख' भी जाता है, पर स्वयं अपना आपा नहीं खो सकता। अनुभूति उस पर बाहर से बिठाई या उभारी ही जाती है। उसकी साक्षात्कारात्मकता प्रचुर नहीं है। वह उसके पुष्कलत्व पर आच्छन्न भी रहती है; क्योंकि वह सादृश्य-योजना पर आश्रित है। आज के चित्रकारों-मूर्तिकारों ने अमूर्त्त कला, घनवादी कला आदि कौशलों के द्वारा उसकी सादृश्य-योजना का विघटन कर उसके माध्यम के परस्थ भाव को परास्त करना चाहा है, एवं विश्रान्ति (रिपोज) की कला को लम्बवत् उद्गति या उद्वेग की कला बनाना चाहा है। फिर भी, वह व्यस्त परिमिति के सीमाबंधन में विलीयमानता की प्रस्तुति नहीं ही कर सकती जैसी श्रवणेन्द्रियग्राह्य कला। हारमोनियम के पृथक्-पृथक् बँधे सरगम की तरह वास्तु, मूर्त्ति और चित्र बहुत करेंगे तो स्वरों की चढ़ा-उतरी और ठेलमठेल ही झंकृत कर सकते हैं। श्रुतियाँ और विलयन वे नहीं ही ला सकते।

श्रवणेन्द्रियग्राह्य संगीतकला के लिए नाद माध्यम है। नाद भी प्रसरणशील है। परन्तु उसका प्रसार सूक्ष्म है, दिग्गत नहीं, कालगत है, अतः उसमें खड़ी रेखा की उठान है। वह 'प्राण'-तत्त्वमय है। इस कारण अपनी सूक्ष्मता में वह अप्रतिम है। उसमें लय और तान रूप और गठन लाते हैं अवश्य, और इस कारण नाद-संरूपों (पैटन्र्स) की छवियाँ भी बनती हैं तथा राग-रागिनियों आदि में चित्रबंध हो कर ये बिम्बादि रंजक भी लगते हैं। माध्यम रूप नाद भी गायक की अनुभूति के ही साथ-साथ उसके अन्तस् से फूटता है। प्रसरणशील हो कर भी, उसकी नाद-छवियाँ वास्तु की भाँति दृढ़ और पृथुल —अचल—नहीं होतीं। इन अर्थों में संगीत वास्तुकला से उच्चतर है। किन्तु, उसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति अपने नाद में ही आच्छन्न-सी रहती हैं।

फिर, **डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी** के शब्दो में, 'संगीत आदि-मानव का प्रथम आविष्कार नहीं है, प्रथम प्रयत्न-साध्य त्याज्य वस्तु है। ……इदंताप्रधान बाह्य जगत में परिदृश्यमान अनुकूलता जब अहंताप्रधान अन्तर्जगत् के श्वासप्रश्वास, नाडी-स्पन्दन से प्रतिवाहित अनुक्रमता से मेल खाती है तो ताल का उद्भव होता है, और संगीत का कारबार शुरू होता है। संगीत में जिसे स्वर कहते हैं, वह एक प्रकार का वेग ही है। बाह्य अर्थों से मुक्त होने पर वह नियत आवेग के रूप में प्रकट होता है।'[६४] अतएव नादेतर उसके बाह्य पक्ष, जैसे भाव, विचारादि वैसे स्फुट नही होते; अर्थात् उसमें प्रत्यक्षवत्ता अत्यल्प है। दूसरे शब्दों में वह जीवन-जगत् से विछिन्न अस्पष्ट आत्ममुग्ध 'आलाप' मात्र है। चक्षु-ग्राह्य कला मूर्त्ति/चित्र का शरीरी छन्द, ताल, लय में ध्वनन नृत्य है। शरीरांग ही उसके माध्यम हैं जिनसे गति का स्रोत उमड़ता है। अतः नृत्य काल में स्पन्दन है। शरीर में बद्ध होने के कारण वह दिग्गत भी है। संगीत की ही भांति नृत्य आदिम है और मानव का सहजात धर्म है। मूर्त्ति-चित्र से उसका बिम्ब पृथक् इसलिए है कि वह स्पन्दनमय है। परन्तु, उसमें भी प्राचुर्य और पुष्कलत्व नही है। समस्त कलाओं का समाहार-सा 'नाट्य' है। उसका माध्यम नट का 'नाट्य' है। उसका संवेद्य भाव माध्यम से इतर और अतिशय है और दिक्काल से अवच्छिन्न भी। अन्य सभी कलाओं की साक्षात्कारात्मकता उसमें अनुप्रविष्ट रहती है। साथ ही उसमें आभोग का पुष्कलत्व भी है क्योंकि दर्शक में जो मनोमूर्त्तियाँ उनके चित्र-मूर्त्तिवत् नाट्य से जगती हैं, वे अन्यथाकृत, भावित, साधारण्य होती हैं; अतः 'रस'रूप हैं। अतएव, नाट्य कलाओं मे श्रेष्ठ है।

भट्टतौत के अनुसार काव्य दशरूपात्मक है। भाषा-व्यापार, काकु आदि के कारण वह नाट्यात्म है। पर वाक्याभिनयरूप काव्य में केवल वक्रोक्ति-रूप वाक्य-त्रिभंग की अभिनयात्मक मुद्राएँ ही नही रहती, वह उनसे 'अतिशय' भी है।[६५] काव्य कवि-व्यक्ति का 'तप' है। उसके तप की साधना में अवश्य ही समाज के 'यज्ञ' का भी अंश रहता है। परन्तु, काव्य की विशेषता यह है कि वह उसका भी अन्यथाकरण कर कुछ नवीन की प्रस्तुति करता है। 'यज्ञ-रूप' नाटक चक्षुनेत्रयोग-द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन-श्रवण है। किन्तु, काव्य प्रत्यक्ष वस्तु-दर्शन नही, वस्तु-प्रतीक का ग्रहण है। वह मानसग्राह्य है। अतएव, काव्य में ध्यान-धारणा की समधिक आवश्यकता होती है। फलतः, प्रमाता को गाढ़ अनुभूति संवेद्य होती है। उस अनुभूति में प्रमाता का मनोयोग भी रहता है।

काव्य में भावक जितना स्वतंत्रचेता रहता है उतना अन्यत्र नहीं। मानस-प्रतीति होने के कारण उसमें वास्तुकला का स्थैर्य और विस्तार तो है, पर दाढ्‌र्य नहीं; स्थापत्य के बंध, विन्यास, समायोजन, संग्रन्थन, भारसाम्यादि हैं, पर आयाम नहीं; मूर्त्ति-जैसे मूर्त्त जीवत विभाव हैं, उनके चित्रात्मक चरित, घटनाएँ, अनुभावादि हैं, प्राकृतिक दृश्यों की, उद्दीपनों की चित्रछवियाँ हैं, विवरणादि हैं, नानावर्णी चित्रात्मक उल्लखन (पिक्टोरियल लीम्न) हैं, पर वे मन के फलक पर प्रसरित होकर भी सीमित और आकारबद्ध नहीं होते एवं वे निजी रेखारंगों से अधिक गाढ़ अर्थपूर्ण प्रभावों की रंगबिरंगी लहरियाँ फेंकते हैं। उदाहरणस्वरूप एलीफैंटा की 'त्रिमूर्त्ति' लें। यह कला-मर्मज्ञ रोडिन के द्वारा संसार की श्रेष्ठ कलाकृति घोषित हुई थी। इसमें तादात्म्य और ताटस्थ्य की, 'जगद्रूप' और 'विश्वरूप' की मुग्धकर लीलामूर्त्ति प्रस्तुत की गयी है। वृत्ति तीन प्रकार की हो सकती है—अनुकूल, प्रतिकूल और तटस्थ (अद्भुत)। अनुकूल तन्मयत्व है। प्रतिकूल विरोध या वैषम्य है। अद्भुत या ताटस्थ्य की वृत्ति में उत्तीर्णता या सामरस्य का भाव है। त्रिमूर्त्ति की मध्य आकृति तत्पुरुष सदाशिव हैं—अखण्ड, पूर्ण एवं विश्रान्त, जगद्रूप के तटस्थ द्रष्टा। दाहिनी ओर उमा हैं, अनुकूल वृत्ति अथवा जगलीला का विकास प्रस्तुत करती हुई। बायी ओर अघोर भैरव हैं—निस्संग, प्रतिकूल, संहार-भाव के प्रतीक। स्वीकृति-अस्वीकृति के दो पक्ष सर्जन-विसर्जन के दो रूप हैं, जो उमा और भैरव में 'जगद्रूप' का मूर्त्तन करते हैं। 'प्रकृति' की लीला के ये दो ही पक्ष हैं। इस जगदात्मारूप से उत्तीर्ण हैं विश्वात्मारूप मध्यस्थित अखण्ड, समरस, पूर्ण 'पुरुष', सदाशिव। अतएव कलाकार ने इनकी आकृति में वृत्तात्मक गोलाई की 'वर्त्तना' दी है और प्रशस्तता की भावना भरी है। पार्श्व की लीलामयी आकृतियाँ ज्यामितिक लावण्य और कोणात्मक भंगिमा में प्रस्तुत की गयी हैं। दक्षिणी कला की मातृसत्ताक और उत्तरी कला की पितृसत्ताक भावनाओं का यहाँ अपूर्व समन्वय है। अतः दर्शन, धर्म और कला की एकात्मकता की अप्रतिम प्रतीक है यहत्रिमूर्त्ति।

इस त्रिमूर्त्ति-जैसा काव्यबिम्ब अभिज्ञानशाकुन्तलम् में उससे भी सूक्ष्म रूप में मिलता है। शाकुन्तलम् के प्रथम तीन अंकों में अनुकूल वृत्ति है। वे तन्मयता की आनन्दलहरियाँ हैं। पंचम अंक का प्रत्याख्यान प्रतिकूल वृत्ति है। वह अघोर भैरव की कृष्ण-छाया की कुञ्चित सघनता से आच्छन्न है। दुष्यन्त अब कहते हैं—'स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीषु संदृश्यते किमुत याः प्रतिबोधवत्यः।' और शकुन्तला कहती है 'अनार्य! तुम सबके हृदय को

अपने ही समान खोटा समझते हो। तुम्हें छोड़कर और कौन ऐसा नीच होगा जो घास-फूस से ढके कुएँ के समान धर्म का ढोंग रच कर ऐसा खोटा काम कर सके?' और फिर, सप्तम अंक के उत्तरार्द्ध का सारा दृश्य 'अद्भुत' है। मारीच और अदिति के निकट का सामरस्य अखण्ड और परिपूर्ण की सम्प्राप्ति का दृश्य है। द्रष्टव्य यह है, कि काव्यबंध में पड़ कर जगदात्मा और विश्वात्मा की लीलानुभूति नये आयामों का, अनन्त प्रगाढ़ भावनाओं का प्रतीक हुई है।

'टोडी' के आलाप से जो एक प्रकार की उदासी और विरह-व्याकुल वेदना उमड़ पड़ती है वह विश्वजनीन होती है, पर निःसंग या 'ऐब्स्ट्रैक्ट' होने के कारण उसकी अनुभूति अहेतुक ही है। किन्तु काव्य का संगीत शब्द-प्रकाश्य अर्थों के द्वारा बाह्य विषयसत्ता में बँधा रहता है। अतः उसमें प्राचुर्य और पुष्कलत्व दोनों रहते हैं। पुनः, काव्य जिस भांति गति-बिम्ब प्रस्तुत कर सकता है 'दिग्विजय' के अश्व का—उस भाँति अन्य कलाएँ नहीं—

> अभी, बिल्कुल, अभी,
> दिग्विजय का अश्व इस पथ से गया है,
> मकानों पर उड़ रही है धूल,
> पेड़ थर थर काँपते हैं। ......
> खिड़कियों को तोड़ता हर हाँक पीछे छोड़ता—अनसुना, अनजान,
> इस पथ से गया है — अभी, बिल्कुल, अभी।

इस 'अनसुने अनजाने' को चित्र और मूर्त्ति-कलाएँ कोर नहीं सकतीं। फिर, कविता के वाक्य में अन्तस्थ नादपट भी है; स्वरों की तान और व्यंजनों की नृत्यमयी चिच्छित्तियाँ हैं, छन्दों की यतिगतिमयी लय है, भावों के आरोह-अवरोह में प्रगाढ़ अथवा सुकुमार रंगोंभरा संगीत है। पर वह बाह्य विषयसत्ता से रिक्त नाद मात्र नहीं है। कविता का नादपट संगीत से सूक्ष्म भी होता है और अर्थानुसंग से स्पन्दितवर्णित होने के कारण पुष्कल भी। काव्य प्रवृत्या बिम्बात्मक है। इस प्रकार का होने के कारण ही वह अपने देशगत क्रमस्थापन-रूप लय में करता चलता है। दिक् काल में लीन होता चलता है, जिससे दिक्कालसातत्य का अलातचक्रवत् बिम्ब उभरता है। इस प्रकार काव्य गति के द्वारा स्थिति उत्पन्न करता है—एक कठिन कार्य। यह स्थिति ही 'बिम्ब' है, जो झलक कर दूसरे बड़े बिम्ब में अनुप्रविष्ट होता चलता है। दूसरे शब्दों में, काव्य देशगत लम्बाई-चौड़ाई-मोटाई में प्रसरित होता है, पर 'नियत' नहीं है; 'नियतिकृत नियमरहित' है। उसका माध्यम शब्द-ध्वनि है; ध्यान और श्रुतरूप यह माध्यम अन्य कलामाध्यमों से स्वतः सूक्ष्म है। फिर यह माध्यम ही भाषा

के भी नाम से संबोधित होता है—भाषा, जो मानव विचारों और भावो के बिम्बो का पुञ्ज है, प्रतीक-रूप है। उसके विग्रह में जो शब्द हैं, वे शताब्दियो के विपुल भावों-विचारो के स्पन्दन से चैतन्य बने हैं। मूर्तिकार की मृत्तिका या पाषाण की भाँति वे कोरे कभी नहीं हैं। अतएव काव्य के शब्द में, अक्षर-वर्ण तक में ज्ञाताज्ञात नानावर्णी बिम्ब अनुप्रविष्ट हैं, जैसे काष्ठ में अग्नि। आसंग-द्वारा श्रोता-पाठक को इस कारण ही वे भावमय बनाते हैं।[६६] और यह काव्य है कि अन्ततः अपने इस माध्यम को भी नकार जाता है। काव्यास्वादन में सारा शब्द-तंत्र बाहर ही पड़ा रह जाता है; प्रमाता के अन्तर्लोक में उसके द्वारा उद्भावित एक ज्योतिर्मय रसबिम्ब ही प्रवेश करता है। अन्ततः वही शेष भी रह जाता है।

काव्य की यह पूर्ण विसर्जन-लीला जितनी करुण है, उतनी ही उदात्त भी। इस कारण ही उसमें उन्मुक्त (एबंडन) आत्मदान की विशेषता भी है। उस 'प्रातिभवपु' का रश्मिस्पर्श पाकर समस्त कलाओं-विद्याशाखाओं में ज्योतितरंगें लहरा आती हैं। परिपूर्णता इसे ही कहते हैं। अन्य कलाएँ अपने में निबद्ध तदात्मक और साधारण हैं, किन्तु काव्य तदात्मक एवं तद्प्रभव एक साथ है। तभी वह अनन्त भावों का उन्मेषक है, 'मनुष्य-मनुष्य के बीच विद्यमान एकत्व का प्रतिष्ठापक'—अपने आपको परम एक के साथ एकमेक करने की व्याकुल सिसृक्षा का शाब्द लीलावतार है।

भारतीय वास्तुकला की क्षिति-साधना में, संगीतकला की नाद-साधना में तांत्रिकों के मंत्रानुसंधान की विधियों में, दार्शनिकों और वैयाकरणो की 'तत्त्व' अथवा 'शब्द'-साधना में अथवा नाट्य एवं काव्य की 'रस'-साधना में सिसृक्षा के दो चरणों की गति अर्थात् आविर्भाव और तिरोभाव की युगपत् संहति पिछले पृष्ठों पर अनेकशः वर्णित हुई है। अतएव भारतीय कलाप्रकल्पना के उत्तरोत्तर संवर्धमान वृत्त में अनुक्रमशः मूलस्थ समन्विति और शीर्षस्थ माधुर्य का लयप्रवाह स्पन्दित मिलता है। समन्विति (सिम्फॉनिक सिनथेसिस) उसका आविर्भाव-पक्ष है, और माधुर्य (हार्मोनिक यूनिटी) उसकी तिरोभावी वृत्ति। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि वास्तुकला के सर्वजगन्मय समुत्थान में प्रधानतः विभु (एक्स्ट्रोवर्ट एवं मैक्रोस्कोपिक) दृष्टि और समभौमिक परिप्रेक्ष्य गृहीत हुआ है, जो मातृमत्ताक निर्मिति है और संगीतकला की आत्ममय नादानुसंधान में अणु- (इन्ट्रोवर्ट एवं माइक्रोस्कोपिक) दृष्टि एवं लम्बवत् उद्गति का परिप्रेक्ष्य स्वीकृत है पितृसत्ताक भावना इसके मूल में है इन दोनों को

करनेवाले 'नाट्य' में दोनों अन्तर्दृष्टियाँ, परिप्रेक्ष्य एवं सत्ता-भावना इस प्रकार एकाकार की गयी हैं कि पुरुषार्थ-चतुष्टय की उपलब्धि के लिए उसकी आठ-नौ रसात्मक भूमियाँ सर्वजन-सुलभ हो सकी हैं। इस रससाधना में पड़ीरेखा और खड़ीरेखा की साधनाएँ जैसे मिल कर 'धन' चिह्नवत् रूप धारण करती हैं। काव्य इसका सूक्ष्मीकृत एवं गत्वर रूप प्रस्तुत करता है। यह स्वस्तिक-रूप है—स्वस्तिक, जो अनेक त्रिभुजों को समाहित करनेवाला सतत गतिमय, खुला वृत्त है; अथवा अनन्त बिम्बमूलों का आद्यबिम्ब, अथवा समस्त ध्यान-धारणा और कर्म का आदिमूल और पर्यवसान-बिन्दु है। यह लीलाकमल का भी भव्य प्रतीक है, एवं वाग्बिम्ब का भी।

वर्णबिम्ब, बिम्बमूल, आद्यबिम्ब और वाग्बिम्ब

भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' मे बतलाया है कि नाट्य में रस और भाव की व्यवस्था होती है।[६७] कलाकाव्यादि की व्यवस्था कई प्रकार से विवेचित की गयी है; यथा—लोक-संग्रह→समाधि→निर्माण; दर्शन→भावन सर्जन: वर्णमयता→चिन्मयता→परावाग्रूपता: पश्यन्ती→मध्यमा→ बैखरी आदि।

कलाकाव्यादि की इन तीन अवस्थाओं का पुनः क्रमानुसंधान के द्वारा स्फुट, स्फुटतर, स्फुटतम की तीन-तीन स्थितियों में विभाजन कर उनकी 'नौ' अवस्थाएँ यद्यपि उसी भाँति मानी जा सकती हैं, जिस प्रकार **अभिनवगुप्त** ने पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी के आविर्भावक्रम में प्रकल्पित की है, तथापि 'नौ' की मिथकीय एवं रहस्यमूलक भावना से तटस्थ होने पर तीन प्रधान अवस्थाएँ तो अवश्य ही स्वीकारयोग्य ठहरती हैं।

कलाकाव्यादि की समस्त कृतियाँ प्रथमतः अनुभूयमान स्थिति में अगणित-सी होती हैं, जहाँ वे अस्फुट-स्फुट-सी रहती हैं; फिर वे अनुभूति में ढल जाने के लिए रूपायण-प्रक्रिया में पड़ती हैं, जहाँ वे स्फुट से स्फुटतर भी होती हैं; एवं अन्ततः रूपायित होकर वे अभिव्यंजित होती हैं तथा स्फुटतम स्थिति में आ जाती हैं।

काव्यादि की यह व्यवस्था आस्वादकों की भी आस्वादन-प्रक्रिया की है; यथा—

१. नाद एवं लयाश्रित 'अपर्यालोचित अर्थ' का अस्फुट-स्फुट आभासन;
२. शब्दार्थगत बद्ध एवं स्वच्छन्द बिम्बादि की प्रतीति; एवं
३. श्रुत, स्मृत बिम्बों के साथ नाना सहचर भावासंगों की अन्वित और संश्लिष्ट रूपायिति;

कलाकाव्यादि की व्यवस्था के विवेचन की एक दिशा और हो सकती है। प्रत्येक कलाकार और कृतिकार को अनुभूयमान के सम्यक् रूपायण के लिए तदनुरूप 'बिम्बमूल' के साक्षात्कार-हेतु साधना करनी पड़ती है। पिछले पृष्ठ ३२ पर उल्लिखित बौद्धसूत्र की सप्तभूमिकासाधना के द्वारा कलाकार का प्रयोजन होता था ध्येय के दिव्य रूप में तादात्म्य की प्राप्ति। साधना के उपरान्त ध्यानमंत्र के जाप के साथ जब वह अपने इष्ट से एकाकार होता था, तब अभिलषित 'विभूति' का प्रत्यक्षरूप उसके समक्ष आविर्भूत होता था, जैसे प्रतिबिम्ब अथवा आत्मदर्शन हो। यह उसके इष्ट का 'बिम्बमूल' ही होता था। इसके साक्षात्कार के अनन्तर वह तद्वत् उसे गढ़ सकने में अपने को समर्थ पाता था; क्योंकि वह उसके बाह्य शरीरांगों से लेकर आत्मा के भीतर तक अनुप्रविष्ट और अन्तस्स्पन्दित रहता था।

चित्रकार, संगतीकार, नर्त्तक और नाट्यकार को तथा कवियों को भी अनुभूयमान के 'बिम्बमूल' के साक्षात्कार के लिए साधना करनी पड़ती है। विधि-विधान में अन्तर हो सकता है और प्रत्येक बार भिन्न-भिन्न अनुष्ठानों की भी प्राविधिक भूमिकाएँ आवश्यक हो सकती हैं। किन्तु 'बिम्बमूल' की सम्प्राप्ति सर्जन की अनिवार्य शर्त्त है। 'बिम्बमूल' का प्रत्यक्ष जितना निर्मल, पुष्कल और प्रगाढ़ होगा, अभिव्यंजन उतना ही स्वच्छ, विशद, सान्द्र होगा। शर्त्त केवल यह कि 'बिम्बमूल' के बाह्य माध्यमों में सम्मूर्त्तन के लिए भी वैसा ही 'योगःकर्मसु कौशलम्'-रूप योग किया गया हो जैसा 'बिम्बमूल' की सम्प्राप्ति के लिए 'चित्तवृत्ति निरोध'-रूप योग किया गया था :

चित्रकार सिजान ने स्फुरित होती हुई भावनाओं के 'बिम्बमूल' के साक्षात्कार का महत्त्व इस प्रकार बतलाया है।

'अरूप, अस्पष्ट भावनाओं की स्पष्ट प्रस्तुति कठिन कार्य है। ऐसी भावना की तद्वत् रूपायिति के लिए आन्तरिक, वेग तो उमड़ सकता है, सजीवता भी आ सकती है, पर उसमें अनुरूपता न होगी; और सबसे बड़ी बात, कि रूप-रंग की वह जटिल एकात्मता न उभर सकेगी जिसकी समरस लय में संतुलित होकर कला समन्विति का संगीत झंकृत करती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति मात्र अमूर्त्त भावनाओं पर निर्भर रहने से नहीं हो सकती। इस हेतु कलाकार को अपनी सचेतयता पर, ऐन्द्रिय रागों पर उतरना पड़ता है। वह इसी धरातल पर अरूप और अमूर्त्त सपनों-जैसे झिलमिले भावों का रूपान्तर कर सकता है

दूसरे शब्दो में सिजान ने अनुभूयमान के 'बिम्बमूल' से साक्षात्कार के
ए ऐन्द्रिय रागों की भूमि में उतरना आवश्यक माना है। चित्रकार
त्तसे[६८] अनुभूति के रूपायित होने की प्रक्रिया का आपबीती विवरण प्रस्तुत
रते हुए कहते है :

'मै फलक पर तीन रंगो के चिह्न तीन स्थलों पर बनाता हूँ, तो वे तीन नही रहते। अपना आपा खो वे सफेद फलक पर कई प्रकार से उभरने लगते हैं। अब फिर मैं चित्र की मूल वस्तु को आँखों पर उतार कर देखता हूँ कि वह किस रग की दीखती है। वस्तु का रग आँखों में नाच जाता है और वही रग, जैसे मान लें लाल रंग, मैं फलक पर चढ़ाता हूँ। फिर उसके अनुसार उसकी भूमि का रंग उस पर चीतता हूँ। ये रंग एक दूसरे से और पूरे फलक से तथा पार्श्व के अन्तराल से घुलने-मिलने लगते हैं। यानी अपना आपा खो वे रंगहीन-से होने लगते हैं। उनसे तब रंग की एक मिश्र स्वरता (टोन) निष्पन्न होने लगती है। उनके सम्बन्धसूत्रों से झकृत होनेवाली इस स्वरता की रक्षा मैं करना चाहता हूँ। अतएव अपने मूल चित्र की भावना और रंगो की स्वरता में सामजस्य लाने के लिये मुझे अपार अनुसंधान करना पडता है, ताकि न तो भावना मारी जाय और न स्वरता टूटे। एक नये रग के आनुपातिक प्रयोग से यह संभव है—ऐसी सूझ जैसे ही आती है, मेरा प्रयोग चल पड़ता है। उस रंग के व्यवहार के बाद, ऐसा भी देखता हूँ कि पहले जहाँ लाल रंग की मुख्य स्वरता में अन्यों की संगति थी, वहाँ अब हरे रंग की केन्द्रीय स्वरता में दूसरे रंग लयात्मक हो उठे हैं। यह सब इसलिये भी जरूरी है कि चित्र-द्रष्टा को हम चित्र के केन्द्र में अनायास खीच लेना चाहते हैं, ताकि वह वही देखे जो चित्र द्वारा हम दिखाना चाहते हैं। हम यह भी नही चाहते कि उसे चकित करके चित्रमूल में धकेल दें, और यह भी नही कि उसे चित्र के खण्ड-खण्ड पर बेकार रोके रहें। चमत्कार या आकस्मिकता की दुर्बलता यह है कि वह द्रष्टा के ध्यान को जकड़े लेती है; जबकि कला का काम मुक्ति है।'

मत्तिसे ने 'चित्र की मूल वस्तु' 'रंग की मिश्र स्वरता' और 'उस स्वरता
ी रक्षा' की जो बात बतलाई है उसमें स्रष्टा-निर्माता से मुक्त होकर
नुभूयमान के अपने ही वास्तविक 'बिम्बमूल' में उद्भूत होने की प्रक्रिया और
ी सूक्ष्म रूप से वर्णित हुई है। 'बिम्बमूल' की मुक्त उद्भावना यहाँ 'कला की
क्ति' बतलायी गयी है और कला की इस मुक्ति के लिए, चित्रमूल की
ावना और रंगो की स्वरता में सामंजस्य लाने के लिए कलाकार के 'अपार
नुसंधान' की भी बात कही गयी है।

काव्य में 'बिम्बमूल' के प्रत्यक्ष की कविमानसगत प्रक्रिया अन्य कलाओं से
छ भिन्न है, क्योंकि काव्य सबसे अधिक और सूक्ष्मीकृत साधना है

सूक्ष्मीकरण और आभ्यन्तरीकरण के कारण काव्य की भूमि विराट तो हुई, साध्य अनन्त 'अर्थ' तो हुए, पर साधन 'मात्र' शब्द रहे। यह बात ठीक है कि पचास-इक्यावन अक्षरों में प्रस्तार विधि (पर्मुटेशन) द्वारा जितनी बड़ी संख्या में शब्द-निर्माण की शक्ति है, निर्मित शब्दों के क्रम-निर्बंधन, यति-गति, बल, स्वराघात आदि के कारण एवं अभिधा, लक्षणा, व्यजना के योग से उनमें उतनी ही अपार अर्थ-ध्वनियाँ प्रकट कर देने की लोच भी है। शब्द युगों से काव्य रचते आ रहे हैं एवं लगभग उन्हीं शब्दों के द्वारा लोक-व्यवहार का भी वैचारिक विनिमय चलता है और शास्त्र-विज्ञान-दर्शनादि समस्त विद्याशाखाओं का भी चिन्तन-अनुसंधानादि। इसी लोकभूमि से संवादित होकर काव्य अनुभूति-परामर्श पर अपने माध्यम का आविष्कार करता है। अतएव, काव्य के लिए उपयुक्त शब्दानुसंधान की साधना सूक्ष्म-गंभीर साधना है। जर्मनी के कवि **रायनर मेरिया रिल्के** (१८७५-१९२६) का कथन है[११] कि :—

> 'पद्य जैसा, कि सामान्य जन समझते हैं, मात्र भावना नहीं, अनुभव-राशियाँ हैं। मात्र एक पद्य लिखने के लिये अनेक शहरों, मनुष्यों, विषयों का परिचय अनिवार्य है। यही नहीं, पशुओं की जानकारी और पक्षियों के उड़ने और लघु कलिकाओं की सुबह मे चटकने की अदा की भी खबर रखनी जरूरी है। विचारों में यह भी आवश्यक है कि अनदेखे क्षेत्रों और अप्रत्याशित मुठभेड़ों का मार्ग वे अपना सकें, चिराशंकित बिछोह का भी प्रत्यक्ष कर सकें, बचपन के धुँधलके मे पहुच सकें—प्रेम-पुलकित रातों की, जो प्रत्येक दूसरी से भिन्न होती है, प्रसव में चीखती नारी की और शिशु के साथ सोई, चुसी, हल्की, सिमटी-सी स्त्री की स्मृतियाँ भी आवश्यक है और मौत की तड़प और मरण का भी स्मरण, अथवा कहें, प्रगाढ अनुभव अपेक्षित है। साथ ही उनका विस्मरण भी उतना ही महत्वपूर्ण है। फिर, अपार सहिष्णुता से उन विस्मृत अनुभवों के स्मरण-रूप में पुनः उदित हो जाने की धीर प्रतिक्षा करनी भी कम महत्वपूर्ण नहीं। क्योंकि, अन्ततोगत्वा स्मृतियाँ ही प्रधान तत्व हैं। जब वे हमारे अन्तस् में पैठ कर रक्त-रूप हो उठती हैं, हमारी दृष्टिभंगिमा, मुद्रादि में अनुप्रविष्ट हो कर हमारे व्यक्तित्व में घुलमिल कर नामग्राम सब कुछ खो देती हैं, तभी किसी दुर्लभ क्षण में कुछ ऐसा होता है कि उन सबकी झंकृतियों के बीच से कविता का प्रथम शब्द स्फुरित होता है और उनसे निकल कर अलग चल देता है।'

रिल्के के इस विवरण से शब्दानुसंधान की साधना की विकटता द्योतित होती है। द्रष्टव्य यह है कि रिल्के काव्य मात्र के 'बिम्बमूलों' के साक्षात्कार की

त प्रायः उसी रूप में करते हैं जिस रूप में सिजान के द्वारा एवं बौद्धसूत्र के रा बतलायी गयी है।

'अज्ञेय' ने एक कविता के 'बिम्बमूल' के साक्षात्कार की बात और स्पष्ट रूप में इस प्रकार[100] प्रस्तुत की है :

'मैं आन्तरिक विवशता से मुक्ति पाने के लिए लिखता हूँ—यह भीतरी विवशता क्या है—इसे बतलाना बड़ा कठिन है। मैं विज्ञान का विद्यार्थी रहा हूँ—अणु क्या होता है—रेडियमधर्मिता के क्या प्रभाव होते हैं—इन सब का पुस्तकीय या सैद्धान्तिक ज्ञान तो मुझे था। फिर जब हिरोशिमा में बम गिरा तब उसके समाचार मैंने पढ़े और उसके परवर्ती प्रभावों का भी विवरण पढ़ता रहा।… बुद्धि का विद्रोह स्वाभाविक था, मैंने लेखादि में कुछ लिखा भी। पर अनुभूति के स्तर पर जो विवशता होती है, वह बौद्धिक पकड़ से आगे की बात है; और उसकी तर्कसंगति भी अलग होती है। इसलिये कविता मैंने इस विषय में नहीं लिखी। पिछले वर्ष जापान जाने पर—हिरोशिमा भी गया और वह अस्पताल भी देखा जहाँ रेडियम-पदार्थ से आहत लोग वर्षों से कष्ट पा रहे थे। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव भी हुआ। पर अनुभव से अनुभूति गहरी चीज है; कम से कम कृतिकार के लिए अनुभव तो घटित का होता है। पर अनुभूति संवेदना और कल्पना के सहारे उस सत्य को आत्मसात् कर लेती है। एक दिन वहीं सड़क पर घूमते हुए देखा कि एक जले हुए पत्थर पर लम्बी उजली छाया है··· विस्फोट के समय कोई वहाँ खड़ा रहा होगा और विस्फोट के बिखरे हुए रेडियमधर्मी पदार्थ की किरणे उससे रुद्ध हुई होंगी···जो आस-पास से आगे बढ गईं, उन्होंने पत्थर को झुलसा दिया, जो उस व्यक्ति पर अटकी, उन्होंने उसे भाप बनाकर उड़ा दिया होगा ··इस प्रकार समूची ट्रेजेडी, जैसे पत्थर पर लिख गई। उस छाया को देखकर जैसे एक थप्पड़-सा लगा। अवाक् इतिहास जैसे भीतर कहीं सहसा एक जलते हुए सूरज-सा उग आया और डूब गया। मैं कहूँ कि उस क्षण मे अणु-विस्फोट मेरे अनुभूति-प्रत्यक्ष में आ गया—एक अर्थ मे मैं स्वयं हिरोशिमा-विस्फोट का भोक्ता बन गया। इसीमें वह विवशता जग गई। भीतर की आकुलता बुद्धि के क्षेत्र से बढकर संवेदना के क्षेत्र में आ गयी—फिर धीरे-धीरे मैं उससे अपने को अलग कर सका और एक दिन मैंने हिरोशिमा पर कविता लिखी—जापान मे नही, भारत में लौट कर ··मैं कहूँ कि कृतिकार या कवि जब सत्य से ऐसा भीतरी साक्षात् करता है, तब मानो वह एक बलि-पुरुष की तरह देवताओं का मनोनीत हो जाता है। और काव्यकृति ही उसका आत्मबलिदान है, जिसके द्वारा वह देवताओं से उऋण हो जाता है।'

'अनुभूति प्रत्यक्ष' के इस वर्णन में अज्ञेय ने हिरोशिमा की ट्रेजेडी के म्बमूल' के ही साक्षात्कार का आख्यान मनोवैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किय 'बिम्बमूल' के प्रत्यक्ष में ग्रहीता दृश्य का 'भोक्ता' होता है। उसत मया

वस्था में स्रष्टा कलाकार की स्वचेतना विगलित होती है। 'एक थप्पड़-सा लगा' 'अवाक् इतिहास जैसे एक जलते सूरज-सा उग आया और डूब गया' आदि के द्वारा वही बात कही गयी है। द्रष्टव्य यह भी है कि इस अनुभूति-प्रत्यक्ष के लिए अनुभवराशियाँ बहुत पहले से एकत्र हो रही थी। किन्तु, कविता लिखी गयी बाद में, भारत पहुँचने पर और एक ही बैठक में।

इस प्रकार, प्रत्येक कलाकार और कवि अपनी विभिन्न कृतियों के लिए भिन्न-भिन्न 'बिम्बमूलों' का साक्षात्कार-सा तो करता ही है, उसकी समग्र जीवन-सा धना एक अप्रतिम 'बिम्बमूल' के अन्वेषण की भी होती है। युग भी कृतिकारों के माध्यम से दिक्कालविशिष्ट 'बिम्बमूल' की सम्प्राप्ति के लिए निरन्तर विकल रहता है। इस कारण ही युग की श्रेष्ठ कृति उस काल का बिम्ब-प्रतीक या 'मेटॅफर' कहलाती है। इनमें से कुछ कृतियाँ दिक्काल-निर्विशिष्ट भी हो उठती हैं और उनमें आभासित कवि-विवक्षा का 'बिम्बमूल' किसी वृहत्तर, वैश्विक बिम्ब-प्रतीक में अनुप्रविष्ट होता चलता है। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्', विद्यापति और सूरदास के 'राधाकृष्ण', तुलसी के 'मानस' और 'सियाराम' में एवं प्रसाद की 'कामायनी' तथा 'श्रद्धा' में 'बिम्ब-मूलों' की वैसी ही कालनिरवच्छिन्न विशदता और पुष्कलत्व है। मनोविश्लेषक युंग इस वृहत्तर, वैश्विक बिम्ब-प्रतीक का अभिधान 'आद्यबिम्ब' देते हैं।

समस्त कलाओं, कविताओं, चिन्तन-भावन की क्रियाओं आदि के 'बिम्बमूलों' की समष्टि जिस अतल मनोलोक से उद्भावित होती है, उसे मनोविश्लेषक युंग ने 'सामूहिक अचेतन' का नाम दिया है और बतलाया है कि वह मानव के आनुवंशिक सम्पूर्ण क्रियाकलापों के सूक्ष्मीकृत संस्कारों की मानसवृत्ति है। चेतना का आविर्भाव इससे ही होता है। सामूहिक अचेतन सकल मनीषा (टोटल साइकी) का कालनिरपेक्ष आद्यमनोभूमि है। वह मनीषा की मनःप्रणालिका है। उसकी चिरन्तन वर्त्तमानता है। पर वह स्थिति-रूप नहीं है; सतत प्रवाहमय है। परन्तु मनःप्रवाहरूप होकर भी वह निस्तरंग है। निस्तरंग, मनःप्रवाहरूप अचेतन आद्यबिम्बों का अगम रत्नाकर है। आद्यबिम्ब ऐतिहासिक मनुष्यों से भी अधिक पुराकालीन हैं। पीढियाँ और पीढ़ियाँ गुजरती जाती है, पर ये उसी भाँति अक्षय और अच्युत हैं, सदा संजीवित। आर्किबाल्ड मैकलीश के शब्दों में 'ये आद्यबिम्ब शाश्वत काल से निपतित उल्काराशियों की भाँति घनीभूत हैं एवं आत्मा के लिए चुम्बक-जैसे हैं। ये सृष्ट या निर्मित नहीं होते'[१०१] मनस की समस्त उद्भावनाएँ,

चाहे वे कलाकाव्यादि की हों अथवा स्वप्नों, मिथकों, विचारणाओं, क्रिया-कलापादि की हों, अपने नैसर्गिक आद्यरूपों में अचेतन मानस के इन्ही आद्य-बिम्बो मे समाहित है। अपनी कृतियों के बिम्बमूलो के अनुसंधान-आविष्कार की साधना के समय कलाकार और कवि का अपने अचेतन के आद्यबिम्बो से निरन्तर, अबोधपूर्व रूप में, मौनालाप-सा होता है। इस मौनालाप का आभासन जिस कृतिकार में जितना हो सकेगा, उसके अभीष्ट बिम्बमूल मे आद्यबिम्ब का उतना ही त्रिज्यास्पर्श होगा। युंग के कथनानुसार जब भी सामूहिक अचेतन का साक्षात्कार गाढ़ हुआ है, युग की कृतियाँ अभिनव सृष्टियाँ हो उठी हैं और उन कलाकृतियों से पीढ़ियो तक के मानव को संदेश प्राप्त होते रहे हैं। कारण यह है कि सामूहिक अचेतन से संवादित जीवन ही पूर्ण जीवन है।[१०२]

अभिनवगुप्त ने 'तंत्रालोक' (आ०-३) में अद्वितीय चित् तत्त्व के आविष्कार के सम्बन्ध में बतलाया है कि निर्मल दर्पण रूप में प्रतिबिम्बित जैसे भूमि जल आदि परस्पर भिन्न-भिन्न रूप-आकार विशेष, दर्पण से अनतिरिक्त होने पर भी अतिरिक्त के सदृश भासित होते हैं, वैसे ही अद्वितीय चित् तत्त्व में सम्पूर्ण विश्ववृत्तियाँ प्रतिबिम्बित होती हैं।

निर्मले मुकुरे यद्वद्भान्ति भूमिजलादय । अमिश्रास्तद्वदेकस्मिश्चिन्नाथे विश्ववृत्तय' ॥४॥

भगवान के द्वारा दर्पणादि में आभास-मात्र जिनका सार है ऐसे, पदार्थ अवभासित किये जाते हैं, वैसे ही संवित्तत्व-रूप भित्ति में विश्व भासित होता है। इस संवित्तत्व को ऐश्वर्य भी कहा गया है। ऐश्वर्य स्वातंत्र्य से भिन्न नही है। अनन्त रूपों में स्फुरित होता हुआ भी वह स्वरूपतः अखण्ड है। आनन्द इसका दूसरा नाम है। यह ऐश्वर्य, अथवा स्वातंत्र्य नित्य 'उदित परावाक्' है। तत्त्वज्ञ इसी को विमर्शात्मा चिति के नाम से जानते हैं।

अद्वितीय चित् तत्त्व और विमर्शात्मा चिति, मनोविश्लेपक युंग के सामूहिक अचेतन से बहुत भिन्न नही है। निरवधि निस्तरंग, शाश्वत अचेतन की ही भाँति वह भी 'अखण्ड' है ; एवं 'स्वातन्त्र्य' अथवा 'ऐश्वर्य' से युक्त है। आद्यबिम्ब उसकी भाषा है, तो 'नित्य उदित परावाक्' इसकी विमर्शन लीला है। उसी भाँति तांत्रिको का यह भी निर्देश है कि 'चित्' स्वातन्त्र्यात्मक है; किन्तु जब वह संकुचित होता है, तो 'चित्त' कहलाता है। यह 'चित्त' जब अन्तर्मुख होकर चिद्रूपता के साथ अभेद-विमर्श सम्पादित करता है तो

यह क्रिया उसकी 'गुप्तमन्त्रणा' कहलाती है। इस 'गुप्तमन्त्रणा' अर्थात् पारमैश्वर्य के समुल्लसित मनन-रूप एवं भेदात्मक सांसारिक अवस्था की दृष्टि से त्राण-रूप मंत्र के द्वारा चित्त पुनः चिद्रूपता और परावागात्मक अनुभूति से एकात्मता स्थापित करता है। युंग के द्वारा बतलाई गयी चेतन और अचेतन के अद्वययोग की बात और तांत्रिकों की चित्त की चिद्रूपता और परावागात्मक अनुभूति के समुदित होने की बात प्रायः समान हैं।

अभिनवगुप्त ने आनन्दनिर्भरा सर्वात्मिका संवित् की उछलती हुई किरणों का अतीव उल्लासमय एवं ऐश्वर्यपूर्ण रूप भी प्रस्तुत किया है। समष्टि चेतना का यह आह्लाद पूर्णानन्द का आस्वादन है :[१०३]

संवित्सर्वात्मिका देहभेदाद् या संकुचिता तु सा।
मेलकेऽन्योन्यसङ्घट्टप्रतिबिम्बाद्विकस्वरा ।
उच्छलन्निजरश्म्योघः संवित्सु प्रतिबिम्बतः।
बहुदर्पणवद्दीप्तः सर्वायेताप्ययत्नतः ॥
अतएव नृत्तगीतप्रभृतौ बहुपर्षदि।
यः सर्वतन्मयीभावो ह्लादो नत्वेकैकस्य स ॥
आनन्दनिर्भरा संवित् प्रत्यक्षं स तथैकताम्।
नृत्तादौ विषये प्राप्ता पूर्णानन्दत्वमश्नुते ॥

अर्थात् जो चेतना सर्वात्मक होती है, (किन्तु) देह-भेद से संकुचित हुई रहती है, वह (बहुतों के) सम्मेलन में एक दूसरे के संघट्ट-रूप में प्रतिबिम्बित होने के कारण विकसित हो जाती है। (उस सर्वात्मक चेतना की) उछलती हुई अपनी किरणों का समूह संवेदनाओं में प्रतिबिम्बित होकर बहुत से दर्पणों (में प्रतिबिम्बित सूर्य के प्रकाश) के समान बिना प्रयत्न के सर्वायित भी हो सकता है। इसलिए बहुतों की सभा में नृत्य, गीत इत्यादि में सभी की तन्मयता के रूप में जो आनन्द होता है, वह एक-एक का पृथक्-पृथक् नहीं होता। इस प्रकार आनन्दनिर्भरा चेतना नृत्यादि में प्रत्यक्ष रूप में एकता को प्राप्त होकर पूर्ण आनन्दरूपता का आस्वादन करती है।

युंग ने भी बतलाया है कि सामूहिक अचेतन की जीवंत अनुभूति प्राप्त कर रची गयी कृतियों का प्रभाव समष्टि-चेतना पर अतीव दीर्घकालव्यापी और गहरा पड़ता है। प्रकारान्तर से वैसी ही बात संघट्टरूपता के द्वारा अभिनवगुप्त ने भी कही है। युंग के 'अचेतन' और भारतीय मनीषा के 'चेतना' शब्दों में भेद मात्र दृष्टि का है, और/अथवा शब्द का है, क्योंकि युंग ने 'अचेतन' को 'चेतन' का मूल जनक, प्रेरक और उससे अतिवाही माना है।

अतः अचेतन के साथ अभेदानुभूति मानें अथवा चित्त की चिद्रूपता में उद्गति, अर्थात् विमर्शात्माचिति और अद्वितीय चित् तत्त्व की एकरूपता समझें, आद्यबिम्ब का प्रत्यक्षीकरण कहें अथवा आनन्दनिर्भरा सर्वात्मिका संवित् का समुदय नाम दें, कलाकाव्यादि का आदिस्रोत और चरम पर्यवसान बिन्दु वही है। उनकी अवस्था का आद्य प्रस्थानक्रम यहीं से चलता है। इस आद्यस्थिति को उपर्युक्त समस्त अभिधानों से अधिक प्रशस्त और पुष्कल नाम 'वाग्बिम्ब' का दिया जा सकता है। वाग्बिम्ब की आद्यस्थिति में समस्त कलाकाव्यादि एकघन, अखण्ड और चिन्मय हैं। यह लोकचेतना की विमल भूमि है, अथवा आनन्दमय-विज्ञानमय कोष का अन्तर्लोक है। युंग के अनुसार यह 'सामाजिक अचेतन' है। इस चिन्मय लोक के वाग्बिम्ब को, अथवा 'असमष्ट काव्य' (ऋग्वेद—६, ७६, ४; २, २१, ४) को लक्ष्य करके कहा गया है—

पश्य देवस्य काव्यं यन्न ममार न जीर्यति

'बिम्बमूल' की स्थिति वाग्बिम्ब का दूसरी अवस्था में अवतरण है। इस अवस्था में कलाकाव्यादि अपने-अपने माध्यमों से एकालाप करते हुए कलाकार और आस्वादक के मनोमय कोष में मध्यमारूप हैं। इसी अवस्था से वे अपने-अपने 'बिम्बमूल' से भिन्न भिन्न कृतियों में आविर्भूत होने के लिए विभाजित भी होते चलते हैं। यहीं वे स्थापत्य, तक्षण, आलेख्य, संगीत, नाट्य, काव्य आदि ललित अभिव्यक्तियों के रूप में पृथकशः प्रकट हो चलने को विकल हैं।

नाना प्रकार की रचनाओं में पूर्णतः एक-एक रूप में पृथकशः 'वर्णात्मक' हो उठने की तीसरी अवस्था में उनकी वाग्रूपता अधिकांशतः स्वोद्भूत माध्यम के गुणधर्म से आच्छादित रहती है। अतः, यहाँ वे 'वर्णिक' हैं और उनका बैखरी-रूप समुदित है। इस अवस्था में एक-एक कृति एकल 'वर्णबिम्ब' है, चाहे सभी किसी एक ही कवि की हों अथवा एक युग की, एक ही कलाकार की हों, अथवा अनेक की समान कृतियाँ ही क्यों न हों। भावक की दृष्टि से भी इस अवस्था में उनका 'वर्णबिम्बत्व' स्फुटतम रहता है। इस प्रकार कलाकाव्यादि का अवतरण क्रम है : वाग्बिम्ब→बिम्बमूल→वर्णबिम्ब और लयक्रम है वर्णबिम्ब→बिम्बमूल→वाग्बिम्ब। 'वर्ण' काव्य में 'शब्द' ही है।

स्थिति की दृष्टि से कलाकाव्यादि की दो ही प्रधान स्थितियाँ हैं (ये भी स्थितियाँ हैं या नहीं, यह शंका स्वागतयोग्य तो है ही): १. अन्तर्वर्त्ती अथवा

'वागविम्ब' की स्थिति और २. प्रकट रूपायिति अथवा 'वर्णबिम्ब' की स्थिति। प्रथम स्थिति काव्यादि का अरूप चक्र है; द्वितीय रूप-चक्र। पहली स्थिति में काव्य अमृत काव्य है, निष्कल और विभु है; दूसरी में द्वैतता से युक्त शब्दादि से आच्छन्न, पूर्णतः प्रकट है। परन्तु सच पूछा जाय तो अनुभूयमान का कथञ्चित् ही पूर्ण रूपायण होता है, और रूपायिति किसी दुर्लभ क्षण में ही पूर्ण निष्फल होती है। वैसे भी कलाकाव्यादि न तो पहली में, न दूसरी में ही स्थितिरूप होकर अपने मूलभूत गुणधर्म के अनुरूप हो सकते हैं। रूपायण-क्रिया के नैरन्तर्य में सतत गतिशील होकर ही वे मूर्त्तामूर्त्त युगपत् हैं। यह स्थितिगतिरूपता काव्य में सर्वाधिक ऊर्जस्वित रहती है। अतः प्रकट 'वर्णबिम्ब' का, अथवा कलाकाव्य का रूपचक्र निरन्तर 'वागबिम्ब' के अरूप-चक्र में समर्प्यमाण रहता है। उनके इस गति-नैरन्तर्य का ही आख्यान इस प्रकार किया गया है—

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार सह्यः समान।—ऋग्वेद ८, ५५, ५

यह काव्य नित्य मरता है, नित्य जीवित होता है। वह मरता है क्योंकि वह स्फुट है; किन्तु जीवित भी रहता है क्योंकि उसमें 'बिम्बमूल' की झलक है और 'वागबिम्ब' का यत्किञ्चित आभासन भी। उसकी पुनःपुनर्जायमानता उसकी सिसृक्षा, अतः अनादि-अनन्त वैकल्य है, और उसके अमृतत्व में आनन्द है, वागरूपता है, स्रष्टा का ऐश्वर्य है। दूसरी ओर से यह भी कहा जा सकता है कि सिसृक्षा में नवरूपायण का आनन्द भी है, और अमरत्व में स्थिरता के कारण वैकल्य भी।

काव्य का शब्दस्टेरस-बिम्बत्व :

किसी भी कलाकृति अथवा काव्य का प्रकट 'वर्णबिम्ब' अपने अभिव्यंजन माध्यम से एकाकार रहता है। उसकी तादात्म्यापन्नता अनुभूति और अभिव्यक्ति में अन्तर्व्याप्त रहती है। अतः, प्रत्येक कृति की अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी है। देवमन्दिर, विहागरागिनी और अभिज्ञानशाकुंतलम् की रसात्मकता आपाततः एक ही होगी, तीनों की प्रतीति के साधारण्य में सारी विशिष्टता समाप्त हो जायगी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह अन्तर्भुक्त होगी, पर लुप्त नहीं। 'मान लें हम बुद्ध के 'महाभिनिष्क्रमण' की एक मूर्त्ति देखते हैं, 'परिनिर्वाण' की दूसरी और 'अवलोकितेश्वर पद्मपाणि' की तीसरी। तीनों परस्पर विशिष्ट अनुभूतियाँ हैं : एक में निर्वेद साकार है, दूसरी में विश्रान्ति की अभिव्यक्ति है, और तीसरी में 'करुणा' मूर्तिमती है।

यदि हम इनके सामान्य और व्यापक तत्वों पर ही ध्यान दें, और देखें कि किस प्रकार शिला की कठोरता में कारुण्य की कोमलता का आविर्भाव हो गया है, रूपहीन से सुरूप जग उठा है, इत्यादि, तो हम देखेंगे कि अनुभूति के स्थान पर केवल विचारों का जाल शेष रह गया है। यह प्रतीत होगा कि अनुभूति में जो जीवन की ऊष्मा, गति या स्पन्दन रहते हैं, वे सामान्यीकरण के द्वारा विचारों की शीत जडता में ठिठुर गये। अनुभूति की विशिष्टता उसका जीवन तत्व है'।[१०४] यह विशिष्टता 'साधारण्य' के उन्मीलन में सतत ज्योतिस्फोट-सी जो करती चलती है सो अपनी ही विधि से, अपनी ही प्रकृति के अनुरूप। आलोक का अनावरण जो होता चलता है वह विशिष्ट रीति, वर्णादि से अनुभासित हो कर ही। यही शब्द⇌रस-परामर्श है।

विभावानुभावव्यभिचारी के संयोग से जो समूहावलम्बनात्मक रस निष्पन्न होता है, वह भी केन्द्रस्थ विशिष्ट के ही द्वारा उन्मिषित हो कर 'साधारण्य' की ओर लहराता है, अथवा सम्पुञ्जित होता है। उसकी विशिष्टता स्थायीभाव की भी विशिष्टता है, विभावादि की भी। तभी उसे शृंगार, रौद्र, हास्यादि स्थायीभावानुरूप यथाविशिष्टावयव नाम दिया जाता है; एवं भावक उसके अन्तर्वर्ती प्रसाद, ओज, माधुर्य आदि शब्द-भाव-स्वभावगत गुणों से यथा-प्रस्तुत प्रवाहित, दीप्त या द्रुत होते हैं। विभावादि द्वारा एवं कविगत रचनाकौशल से 'रस' संचरित और विशिष्ट होता है : यथा—राधा-कृष्ण का 'शृंगार' दुष्यन्त शकुन्तला और उर्वशी-पुरूरवा के शृंगार से भिन्न प्रतीत होगा; बालमीकि के 'राम' के, 'रामचरित मानस' के राम के एवं 'साकेत' के राम के उत्साहादि में अन्तर की प्रतीति होती चलेगी। काव्य-रस में तारतम्य, भाव-बंधों आदि में पार्थक्य जो प्रतीत होते हैं, वे काव्य-रस अथवा भाव-प्रतीतियों में विशिष्टता के निदर्शक हैं। अभिनवगुप्त के द्वारा प्रकल्पित 'महारस' अखण्ड चिन्मय 'एक' तो है, परन्तु संभवतः, उसमें भी प्रमेयगत एवं प्रमाताजन्य विशिष्टता की प्रच्छाया-उपच्छाया (आम्ब्रा-पेनम्ब्रा) रहेगी। यह विशिष्ट अंश वह केन्द्रीय बिन्दु है, जिससे 'साधारण्य' वैशद्य की ओर, जातिचित्र की ओर, अथवा वाग्‌बिम्ब की ओर फैलता है। किसी भी रसात्मक कविता की इस सूक्ष्म नाभि-मंडलीय विशिष्टता को अन्तर्भावित करती हुई साधारणीकृत मानस-प्रतीति उस कविता का रस-बिम्ब है। रसरूप बिम्ब में अवश्य ही प्रबंध-काव्य हो, तो प्रबंध, प्रकरण, घटनादि के चित्रवत्, पात्रादि के मूर्तिवत् एवं रचनाविन्यासादि के स्थापत्यवत् बिम्ब भी संश्लिष्ट रहते हैं; तथा उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार और रूप-रंगादि के

अन्य बिम्बों के भी अलातचक्र घूमते हुए-से गतिशील रहते हैं इस प्रकार तथा प्रत्येक लघु बिम्बवृत्त उत्तरोत्तर बड़े बिम्बवृत्त को समर्पित होता चलता है। अतः सम्पूर्ण काव्य का बिम्ब एक बिम्बवृत्त है। ऐसा भी कह सकते हैं कि श्रेष्ठ काव्य श्रेष्ठ बिम्ब उतने नहीं जितने दर्पण हैं—पारदर्शी और निर्मल दर्पण।

सी० डी० लिवीस ने बिम्बों का आख्यान करते हुए बतलाया है, कि "कविता में बिम्ब दर्पणों का भिन्न-भिन्न कोणों में अनुक्रम है, जिससे कि कथानक जैसे-जैसे प्रगति करता है, वैसे ही वैसे विविध पहलुओं में उन बिम्ब-दर्पणों में वह प्रतिफलित होता चलता है। यही नहीं, वे जादुई बिम्ब भी हैं, क्योंकि न केवल वे कथानक की छाया प्रस्तुत करते हैं, अपितु उन्हें जीवत और रूपमय भी बनाते हैं। उनमें आत्मा को दृश्य बनाने की शक्ति है।[१०५] लिवीस के 'बिम्ब-दर्पणों का अनुक्रम' हीं ऊपर अलातचक्र के द्वारा द्योतित किया गया है। पिछले पृष्ठ पर उद्धृत अभिनवगुप्त के 'निर्मल दर्पण' का आध्यात्मिक आख्यान यह भी संकेतित करता है कि काव्य-भावन के उस क्षण में चित्त अद्वितीय चिति का आविष्कार-सा कर लेता है। अर्थात्, उस काव्यबिम्बरूप दर्पण में आत्मसत्ता और जागतिक सत्ता, शब्द और अर्थ, वर्णबिम्ब और वाग्बिम्ब मिथुनीभूत प्रतिबिम्बत होते हैं। पूर्व पृष्ठों पर भारतीय ब्रह्मवाद के दर्शन की विराट्ता का संकेत हम रोम्याँ रोला के शब्दों में पा चुके हैं, 'जो मानव के युगचक्रों की संहति है, जिनमें एक-एक व्यष्टिचक्र अनुक्रमशः एक केन्द्रीय धुरी के गुरुत्वाकर्षण में खिंचा हुआ घूमता है और शनैः शनैः वृत्त की ओर बढ़ता है। जीवात्माओं के विपुल आनन्त्य और मनोकामनाओं के प्रभूत वैविध्य की गति उस शाश्वत लय के साथ संवादित है, जो एकत्व की महाधारा में उन्हें संयुक्त कर देती है।' उसी प्रकार तत्त्वों के निम्न और उच्च प्रकार नाना संवर्धमान वृत्तों में परिकल्पित हैं, जिनमें महत् के अन्तर्गत सारे क्रमिक लघु तत्त्व-वृत्त आश्रित और अन्तर्लीन हैं। इन तत्त्वों के भी वृत्त-चक्र अपने संस्थान में अनुक्षण केन्द्रीय धुरी से खिंचे घूमते हैं और शनैः शनैः महद की ओर बढ़ते हैं। काव्य के बिम्बों की भी ऐसी ही प्रक्रिया है। फिर काव्यबिम्ब का वृत्त भी अपने छोटे-बड़े बिम्बों एवं बिम्ब-चक्रों के साथ अन्यान्य बिम्ब-चक्रों के वृत्तों को संयुक्त करता हुआ तत्त्व-वृत्त और जीवन-वृत्त की अजस्र लयधारा में सतत प्रवहमान रहता है।

कविता में 'वर्णबिम्ब' का 'वर्ण' 'शब्द' अथवा 'वाक्य' है। 'वाक्य ⇄ काव्य'-रूप अथवा 'शब्द ⇄ रस'-रूप बिम्ब 'बिम्बमूल' और 'वाग्बिम्ब' में

सम्बन्धित तो है; परन्तु वह सम्बन्ध किस विधि 'दर्शना' और 'वर्णना' के द्वारा, अथवा कहें, भावना में घटित होता है ? 'दर्शना' और 'वर्णना' हैं क्या ? कवि की यह प्रक्रिया क्या लोकाश्रयी है ? फिर उसे 'अ-लौकिक' कहा क्यों जाता है ? क्या काव्य 'अविचारित रमणीय' है ? यह रमणीयता विचारणा से किस प्रकार सम्बन्धित अथवा असम्बन्धित है ? विचारणा है क्या ? उसकी प्रक्रिया क्या है ? भाव से उसका कैसा लगाव है ? काव्यादि के भाव क्या 'भवन्ति इति भावाः' हैं ? 'भावन' क्या है ? अगले अध्याय में 'काव्यबिम्ब' के आन्तरिक अवयवों एव प्रवृत्तियों का निरूपण करते हुए इन प्रश्नों पर विचार किया जायगा और बिम्ब की संरचनात्मक प्रक्रिया के विवेचन के द्वारा यह भी स्पष्ट किया जायगा कि 'काव्यबिम्ब' के उद्भव की प्रक्रिया क्या है तथा उसमें किन वृत्तियों का संयोग किस विधि होता है एवं इस 'संयोग' के विवेचन की कितनी दिशाएँ हैं।

१—सन्दर्भ ग्रन्थादि एवं टिप्पणियाँ

१—मुण्डकोपनिषद् २/२-११—ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥

२—डॉ भगवानदास द्वारा 'समन्वय' पृ० ७३ पर उद्धृत ।

३—गीता अध्याय ११ ।

४—डॉ जगदीश गुप्त : भारतीय कला के पदचिह्न पृ० ८ ।

५—अभिनवगुप्त तन्त्रालोक—कर्तृ शक्ति व्यनक्त्यस्य कला सात पयोजिका ।
तत कलासमायुक्तो भागेऽणु कर्तृकारकम् ॥ (नवम आह्निक)

६—बाल सीताराम मर्ढेकर—'१. सवाद लय, २. विरोध लय, एवं ३ समतोल लय की लीयमानता—सौन्दर्य आणिसाहित्य, पृ० १२१-१५३, सुरेन्द्र बारलिंगे द्वारा 'सौन्दर्यतत्त्व और काव्य सिद्धान्त' में उद्धृत ।

७—(ग्रथ में) हैवलाक एलिस दि डास ऑफ लाइफ पृ० ४ ।

८—(अगला वाक्य) एरिक न्यूटन यूरापियन पेटिंग ऐड स्कल्पचर पृ० १० ।

९—हर्बर्ट रीड : दि मीनिंग ऑफ आर्ट, पृ० १६-५३ ।

१०—जी. सन्तायन . दि सेंस ऑफ ब्यूटी ' स्टडिज इन सोशल एस्थेटिक्स, पृ० १६७ ।

११—हर्बर्ट रीड ' दि मीनिंग ऑफ आर्ट, तत्रैव ।

१२—बी. बोसाके ए हिस्ट्री ऑफ एस्थेटिक्स, पृ० ३ ।

१३—क्रा. कॉडवेल : इल्यूजन ऐड रियलिटी, पृ० ११, १६-३० एवं २६७-८ ।

१४—लेनिन ऑन आर्ट ऐंड लिटरेचर, पृ० ४१-४५ ।
द्रष्टव्य—चेर्नीशेव्सकी एव बेलिन्स्की के विचार आलोचना अक १ (१९५३), पृ० ११२-११८;
तॉल्सताय . ह्वाट इज आर्ट ।

१५—एफ. एच हाइनेमन : एक्जिस्टेंशियलिज्म ऐड दि माडर्न प्रेडिकामेंट—'Sartre s philosophy arises from a combination and analysis of two experiences, that is, of liberty in resistance, and of the apparant absurdity of being and existence, both of which are primarily negative ' (पृ० ११६)

'He maintains that reality is never beautiful, therefore, beauty can only be found in the realm of the imaginary, the unreal and of nothingness. ...The result is that existentialism becomes the philosophy of man against himself' (पृष्ठ १३२ एवं १२६)

१६—बी. क्रोचे : एस्थेटिक, पृ० १० ।

१७—लैंगफिल्ड : एस्थेटिक ऐटिच्यूड, पृ० १०८ ।

१८—विलियम नाइट : 'दि फिलासफी ऑफ दि ब्यूटिफुल' में प्लेटो का सिद्धान्त विवेचित ।

१९—प्लेटो : फिलेबस (मर्रा) पृ० ६४—'The principle of goodness has reduced itself to the law of beauty, for measure and proportion always pass into beauty and excellence'.

द्रष्टव्य 'सिम्पाजियम' (२१०-१२) एवं 'फिड्रा' (२४६-२५७) जिनमे प्रेम के द्वारा रूप से रूपातीत के क्रमिक भावन का दर्शन प्रस्तुत किया गया है। 'फिडो' में प्लेटो ने रूप-सौन्दर्य को 'मूल सौन्दर्य' का सहभागी बतलाया है। 'टिमियस' में प्लेटो का कहना है—I do not mean by beauty of form such beauty as that of animals or pictures · but·· mean straight lines and circles, and plain or solid figures . they are eternally and absolutely beautiful. (५३०-६० अनुवाद पृ० २१०-१२)

अरस्तू : मेटाफिजिक्स पृ० १०८७ द्रष्टव्य . 'The main species (elements) of beauty are order, symmetry, definite limitations, and these are the chief properties that the mathematical sciences draw attention to'.

२०—स्मरणीय यह है कि भारतीय 'रसवाद' (साधारणीकरण) 'अलौकिक' तक का स्पर्श करता है, अतः आध्यात्मिक आयाम में भी प्रसारित है, परन्तु यूनानी आइडियलिज्म और कैथार्सिस में उस तत्त्व का वैसा प्रकर्ष नहीं है। लांजाइनस ने उदात्त तत्त्व द्वारा उसे उन्नत स्तर पर अधिष्ठित किया। द्रष्टव्य बी० बासांके 'हिस्ट्री ऑफ एस्थेटिक्स'

'Beauty was regarded as essentially the sensuous expression not of the beautiful nor of the good—but simply of the real.'

२१—(क) इ० कांट—'Beauty is in its subjective meaning that which in general and necessarily without reasoning and without practical advantages pleases and in its objective meaning it is the form of an object suitable for its purpose in so far as that object is perceived without any conception of its utility'. (उद्धृत : कला का विवेचन पृष्ठ १२०)

(ख) विलियम गाउट : दि एस्थेटिक ऐडवेंचर पृ० १८-२४ एवं १२५ तथा १५१-१८८ ।

२२—दिनकर—शुद्ध कविता की खोज पृ० ४०-४१ ।

२३—आस्कर वाइल्ड, दि वर्क्स ऑफ दि डिके ऑफ लाइंग, पृ० ९३०-३१ ।

२४—हीगेल—Man creates more adequate forms of beauty than he finds already existing in the world about him. Art is superior to nature'.

२५—क्लाइव बेल : आर्ट पृष्ठ २५ ।

२६—ए. सी. ब्रैडले : ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स ऑन पोएट्री पृष्ठ ५ ।

२७—आइ. ए. रिचर्ड्स (एवं आग्डेन) : 'फाउन्डेशन्स ऑफ एस्थेटिक्स' तथा 'प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' ।

२८—आर जी. कालिंगउड · दि प्रिंसिपल्स ऑफ आर्ट—पृ० १४४।
'The music to which we listen is not the heard sound but the sound as a mended in various ways by the listeners' imagination'.

२९—जेम्स एच. कजिन्स : दि फिलासफी ऑफ ब्यूटी, पृ० १२-२८।

३०—डॉ रामविलास शर्मा सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास . 'समालोचना', सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक पृष्ठ १७३-१८३।

३१—जी. ई. मूर : प्रिन्सिपिया एथिका—सी. ई. एम. जोड द्वारा 'गाइड टू फिलासफी' पुस्तक के 'दि फिलासफी ऑफ एस्थेटिक्स' लेख में पृ० ३४७ पर उद्धृत।

३२—अभिनवगुप्त : तन्त्रालोक, पूर्वोद्धृत।

३३—डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा : सौन्दर्यशास्त्र। द्रष्टव्य यह है कि इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (११वें संस्करण) में एस्थेटिक्स में तीन तत्त्व अनुक्रम में बतलाये गये हैं—
१–ऐन्द्रिय सौन्दर्य २–रूपगत सौन्दर्य और ३–अभिव्यंजन सौन्दर्य। 'भोग' का विवेचन वैशेषिक और सांख्य दर्शन में भी किया गया है। स्यात् डा० शर्मा के भोगादि के विवेचन में इन सबका एकत्र भाव हो।

३४—आइ ए. रिचर्ड्स : प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृ० ३२।

३५—सी. जी. युंग—कट्रीब्यूशन्स टु ऐनेलिटिकल साइकॉलॉजी, पृष्ठ ११६—
'As the totality of all archetypes (it is) the deposit of all human experience back to its most remote beginnings'.

३६—जी. ऐडलर · स्टडीज इन ऐनेलिटिकल साइकॉलॉजी : पृष्ठ १५८-१८०।

३७—क्लाइव बेल : आर्ट, पृष्ठ ५४।

३८ डॉ के सी पांडेय . कम्पेयरेटिव एस्थेटिक्स—१, इंडियन एस्थेटिक्स; पृ० १-२, ५७१ एवं ६०१।

३९—डॉ. गौरीनाथ शास्त्री दि फिलॉसफी ऑफ वर्ड ऐंड मीनिंग पृ० XXIV (भूमिका)।

४०—डॉ. कुमारस्वामी · दि डांस ऑफ शिव, पृ० १८०-१९३। इ० जी० रिस्सीओत्तो कानूदो—'It is certain that the secret of all art lies in the faculty of self-oblivion.' 'Music as a religion of the future' से कुमारस्वामी द्वारा उद्धृत।

४१—रोम्याँ रोला : 'दि डांस ऑफ शिव' फोरवर्ड, पृ० १०।

४२—इ. बी. हैवेल : आइडियल्स ऑफ इंडियन आर्ट · पृ० ३२।
'Indian Art is not concerned with the conscious striving after beauty and a thing worthy to be sought after for its own sake; its main endeavour is always directed towards the realisation of an idea, reaching through the finite to the infinite convinced always that through the constant effort to express the spiritual origin of earthly beauty, the human mind will take in more and more of the perfect beauty of divinity.
द्रष्टव्य डॉ० एस० राधाकृष्णन : इंडियन फिलॉसफी I, पृष्ठ १७३-१८०—'Intellect and Intuition'-Mere reasoning will not help us to it·· Abstract intellect will lead us to false philosophy·· ··In *Ananad* man is most and deepest in reality. Intellectual systems disdain to descend deep into the rich mine of life.

एवं वेबर—'Art religion and revelation are one and the same thin superior even to philosophy. Philosophy conceives God, Art is God'.

४३—राधाकमल मुखर्जी : दि कॉस्मिक आर्ट ऑफ इण्डिया (प्रिफेस) पृष्ठ ५ एवं २-४ एवं डा० श्रीमती स्तेला क्रै मिश्र : दि हिन्दू टेम्पल भाग II, पृष्ठ २२।
द्रष्टव्य : हैवेल इण्डियन आर्किटेक्चर, अध्याय २, जहाँ कमल, कलश आदि के प्रतीकों का महत्व वर्णित है।
डॉ. जनार्दन मिश्र : भारतीय प्रतीक विद्या : ब्रह्म का वृत्तरूप, ५०३, मंदिर प्रतीक पृष्ठ २६९—२८१।

४४—सर विलियम आर्पेन (स.)—आउटलाइन ऑफ आर्ट, पृष्ठ १।

४५—डॉ. भागवतशरण उपाध्याय : साहित्य और कला, पृष्ठ १५८-१६१,
डॉ. जगदीश गुप्त : भारतीय कला के पदचिह्न, पृष्ठ ५;
डॉ. गुप्त : डॉ० कान्तिचन्द्र पांडेय द्वारा इण्डियन एस्थेटिक्स, पृष्ठ ५६५ पर उद्धृत;
श्री चमन लाल : 'हिन्दू अमेरिका ?' पृष्ठ १६२-२१६,
मैकेंजी : मिथ्स ऑफ प्रिकालम्बीयन अमेरिका, पृष्ठ २४३-२५५,
श्री जे. एन. मिश्र दि डिनामिक्स ऑफ दि रामायण—पृष्ठ ६७- ११३ एवं
डॉ. ज्वाला प्रसाद सिंह : 'स्फिंक्स स्पोक्स'।

४६—एरिक फ्रॉम : दि आर्ट ऑफ लव, एवं सर विलियम आर्पेन : आउटलाइन ऑफ आर्ट, पृष्ठ १ तथा ६१३।
'Edmund Selous suggests that the nest of birds is the chief early form of building and the creation of nest may have first arisen out of their ecstatic sexual dance' ['Zoologist', Dec. 1901.—ज्ञानाचार्य ए. सी. पांडेय के द्वारा 'दि आर्ट ऑफ कथकलि' पृष्ठ २४ पर उद्धृत]

४७—डॉ. प्रसन्नकुमार आचार्य (हि. आ. इ. उ.) समरांगण सूत्राधार में पृ० २१ पर उद्धृत।

४८—डॉ. तारापद भट्टाचार्य ए स्टडी ऑफ वास्तुविद्या और केनन्स ऑफ इण्डियन एस्थेटिक्स 'समरांगण सूत्राधार' में उद्धृत।

४९—डॉ एस. राधाकृष्णन : 'हिन्दू विउ ऑफ लाइफ' पृष्ठ ३९-४७।

५०—श्री द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल : भारतीय वास्तुशास्त्र—'समरांगण सूत्राधार' पृष्ठ ५७ पर उद्धृत।

५१—भोज : समराङ्गण सूत्राधार—श्री द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल : उपरिवत्, पृष्ठ २२८ एवं २४६।

५२—डॉ. आ. कुमारस्वामी : डास ऑफ शिव, पृष्ठ—४३-४५।

५३—डॉ कांतिचन्द्र पाण्डेय : कम्पेयरेटिव एस्थेटिक्स, पृष्ठ ५९१-९६,
एवं डॉ. जनार्दन मिश्र : प्रतीकविद्या, डॉ. राधाकमल मुखर्जी कॉस्मिक आर्ट, तथा पर्सी ब्राउन 'इन्डियन आर्किटेक्चर' पृष्ठ १ भी द्रष्टव्य।

५४—भोज : समरांगण सूत्रधार—श्री द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल—१/२/४।

५५—गेटे : 'स्टोरी ऑफ फिलासफी' मे पृष्ठ ३३७-३३८ पर विल डुरा द्वारा उद्धृत
शूपेनहावर : दि वर्ल्ड ऐज विल ऐंड आइडिया, खंड-१ पृष्ठ ३४,
जी. टी. डब्ल्यू. पैट्रिक : 'इंट्रोडक्शन टु फिलॉसिफी' पृष्ठ ४७।

५६—श्री शार्ङ्गदेव : 'संगीत रत्नाकर' पृष्ठ ६ 'गान च वादनंनृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते' कह कर उन्होंने भी तीनों को एक माना और उनकी देशी जाति भी स्वीकार की।

५७—डॉ कान्तिचन्द्र पाण्डेय कम्पेयरेटिव एस्थेटिक्स पृष्ठ ५२१ पर उद्धृत

५८—श्री बी. आर. जोशी : 'अंडरस्टैंडिंग इण्डियन म्यूजिक' पृष्ठ १३।

५९—प. व्ही एन. भातखण्डे : संगीतपद्धति भाग २/६।

६०—श्री टी व्ही. सुब्बाराव . स्टडीज इन म्यूजिक पृष्ठ २२४-२३१;
एवं एच. ऐंटक्लिफ ' शार्ट स्टडिज इन दि नेचर ऑफ म्यूजिक पृष्ठ ४६—संगीत के पाँच तत्त्व उन्होंने स्वीकार किये हैं—हार्मनी, फार्म, मूवमेंट या रीदम, एक्सप्रेसिव एक्सटेन्ट या डिस्लामेशन एवं टोन कलर।

६१—के. एस. रामास्वामी ' इण्डियन एस्थेटिक्स, पृष्ठ १८।

६२—ह्यु बर्ट पैरी. ऐंटक्लिफ द्वारा 'शार्ट स्टडजि इन दि नेचर ऑफ म्यूजिक' पृष्ठ ३६ पर उद्धृत।

६३—शाङ्र्गदेव : संगीतरत्नाकर पृष्ठ ७।

६४—छान्दोग्योपनिषद्—१/७/६, डा. के. सी. पांडेय—कम्पेयरेटिव एस्थिटिक्स पृष्ठ ७१४।

६५—भर्तृहरि. वाक्यपदीय। १२ एवं १-१२५,
डॉ. कपिलदेव द्विवेदी अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन पृष्ठ ३९, ४०, ६३,
डॉ. सत्यकाम वर्मा . भाषातत्त्व और वाक्यपदीय पृष्ठ ३७, एवं
प्रत्यभिज्ञाहृदय पृष्ठ १८ भी द्रष्टव्य। 'वाक्' के तीन पाद और चार पाद के संबंध में विद्वानों में मतभेद है तीन चरण स्पष्टतः उल्लिखित है, चतुर्थ संकेतित है। द्रष्टव्य डॉ. जी. शास्त्री . फिलासफी ऑफ वर्ड ऐंड मीनिंग, पृष्ठ ६०-७० भी।

६६—भर्तृहरि . वाक्यपदीय :
द्रष्टव्य : हेलाराज कृत वाक्यपदीय तृ० खंड की टीका का मंगलाचरण भी एवं
डॉ. जी. शास्त्री का फिलॉसफी ऑफ वर्ड ऐंड मीनिंग पृष्ठ २५-६४।

६७—डॉ. जी शास्त्री : फिलॉसफी ऑफ वर्ड ऐंड मीनिंग ' पृष्ठ २५-६४।

६८—भास्कर राय : सौभाग्य भास्कर पृष्ठ ९९।

६९—अभिनवगुप्त तंत्रालोक '—

तत्र या स्वरसन्दर्भसुभगा नादरूपिणी। सा स्थूला खलु पश्यन्ती वर्णाद्यविभागत ॥
अविभागैकरूपत्वं माधुय शक्तिरुच्यते। स्थानवाय्वादिघर्षोत्था स्फुटतैव च पारुषी॥
यत्तु चर्मानद्धादि किञ्चित्तद्विषयो ध्वनिः। स स्फुटास्फुटरूपत्वान्मध्यमास्थूलरूपिणी॥
या तु स्फुटाना वर्णानामुत्पत्तौ कारण भवेत्। सा स्थूल । बैखरी यस्या कार्यं वाक्यादि भूयसा॥
अस्मिन्स्थूलत्रये यत्तदनुसन्धानमादिवत्। पृथक्-पृथक् तत्त्रितयं सूक्ष्ममित्यभिशब्द्यते॥

७०—शाङ्र्गदेव—कल्लिनाथ टीका—संगीतरत्नाकर पृ० ३०-३१।

७१—अस्यवामीय सूक्त—

सप्तयुञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
इमं रथमधि ये सप्त तस्थु' सप्तचक्रं' वहन्त्यश्वा'।
सप्तस्वसारो अभिसवनन्ते यत्र गवा निहिता सप्तनाम।

इसे 'अक्षरेण मिमते सप्तवाणी' के साथ पढकर मनीषियो ने इसमें सप्तमातृकाओं का बीज पाया है।
ललिता सहस्रनाम—मातृकावर्णरूपिणी। (१६७)
स्वच्छंदतंत्र—न विद्या मातृकापरा (पटल ११, श्लोक १९९)।
तुलनीय—महाभाष्य—सोऽयं वाक्यसमाम्नायो वर्ण समाम्नाय· पुष्पित· फलितश्चन्द्र-तारकवत्प्रतिमंडितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः।

७२—स्वामी शंकरानन्द ऋग्वेदिक कल्चर ऑफ दि प्रिहिस्ट्रिक इंडिया, पृष्ठ ५३।

७३—डॉ उमा मिश्र . काव्य और संगीत पृष्ठ ६८।

७४—प. व्ही. एन. भातखण्डे : ए शार्ट हिस्टारिकल सर्वे ऑफ दि म्यूजिक ऑफ इंडिया, पृष्ठ ५२।

७५—दामोदर मिश्र : सगीत-दर्पण—डॉ विश्वम्भरनाथ भट्ट द्वारा अनूदित, पृष्ठ ११२।

७६—कैप्टन विल्लार्ड : ट्रिटाइज आन दि म्यूजिक ऑफ हिन्दुस्तान, पृष्ठ ८८, (ध्रुपद)—
'This may properly be conceived as the heroic song of Hindusthan · The style is masculine.'

७७—लक्ष्मण पिल्लै : आई एम. जे, पृष्ठ ७१-७२।

७८—(स्वर्गीय) गोविन्द दास ताम्बे : आस्पेक्ट्स ऑफ इंडियन म्यूजिक, (पब्लिकेशन्स डिवीजन ऑफ इंडिया) पृष्ठ २१।

७९—एच. ए. पौपली—म्यूजिक ऑफ इंडिया, पृष्ठ ६१।

८०—हर्बर्ट रीड दि मीनिंग ऑफ आर्ट, पृष्ठ ३१ पर उद्धृत।

८१—श्रीमती अमला शंकर (उदय शंकर) धर्मयुग १७ दिसम्बर १९६७।

८२—जी. ई. लेसिंग : लाओकून—पृष्ठ १२।

८३—आ. कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति की पुस्तक 'भरत के सङ्गीत सिद्धान्त', द्रष्टव्य सप्तकों एव राग-रागिनियों के स्थायी भावों एवं रसादि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन।

८४—भरत का नाट्यशास्त्र=अनुवादक 'रघुवंश', पृ० १५५।

८५—द्रष्टव्य—(क) 'हिन्दी अभिनव भारती' अभिनवगुप्त ने विष्णु का अर्थ 'कामदेव' लिया है और शांत को बुद्ध-रूप माना है।
(ख) हिन्दी अभिनव भारती पृ० ५३० पर शांत का रग 'पीत' अशुद्ध है।
(ग) विष्णुधर्मोत्तरपुराण में—नाट्य, गान, नृत, चित्र, मूर्ति में रसों का विवेचन। सभी में 'नव रस' मान्य है।

८६—डॉ. राधाकमल मुखर्जी 'दि कॉस्मिक आर्ट ऑफ इण्डिया', पृष्ठ ११०।

८७—डॉ. देवव्रत सेन गुप्त शास्त्री 'डॉ. म. गोपीनाथ अभिनन्दन ग्रन्थ', पृष्ठ १९८-२०२।

८८—बी. रसेल : 'हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलासफी', पृष्ठ ७५७-७७३।

८९—फ्रैंकथिल्ली : 'ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी',, पृष्ठ ४६३-४७७।

९०—हीगेल 'फिलॉसफी ऑफ फाइन आर्ट्स', पृष्ठ १०३।

९१—बी. क्रोचे : 'एस्थेटिक', पृष्ठ २९८-३०३।

९२—हर्बर्ट रीड 'दि मीनिंग ऑफ आर्ट', पृष्ठ १८।

९३—डॉ. स्तेला क्रेमिश : 'हिन्दू टेम्पल्स', भाग-२।

९४—डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'काव्यशास्त्र', पृष्ठ १२७।

९५—भट्टतौत उनके मत के उल्लेख के लिए द्रष्टव्य अभिनव भारती (हिन्दी) पृष्ठ ५०४-५०५ एव डॉ. नगेन्द्र 'रस-सिद्धान्त' पृष्ठ ३५-३६; अर्विन ऐडमैन ने 'आर्ट्स ऐंड दि मैन' में पृष्ठ ५४ पर बतलाया है कि कविता संकर-कला है। यह धारणा भ्रान्त है। द्रष्टव्य—म. एस. कुप्पुस्वामी शास्त्री : 'हाइवेज ऐंड बाइवेज ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत', पृष्ठ ११ से २२ तक।
Poetic art is superior kind of art and in this art· ·the principle renders possible the synthesis between 'Law' and 'Liberty'.

९६—स्टीफेन मलार्मे डिवेगेशन प्रिमाइयर १९० एवं क्राइस डि वर्स, पृष्ठ २५६—
'The verse which from several vocables re-creates one integral word, new, a stranger to language, almost incantational achieves the unique perfection of speech. एव ए. मैक्लीश पोएट्री ऐंड एक्सपियरिंस पृष्ठ—२७ 'the sounds of words are obviously not the plastic

material of poetry as the stone is the plastic material of the art of sculpture.

—भरत मुनि नाट्यशास्त्र अध्याय ७।१२९।

—सिजान और मत्तिसे के विवरण के लिए हर्बर्ट रीड 'दी मीनिंग ऑफ आर्ट' पृष्ठ १४६ एवं १८६ द्रष्टव्य। ब्रिउस्टर घिसेलिन दि क्रिएटिव प्रोसेस', पिटर मैककेलर 'इमैजिनेशन ऐंड थिंकिंग' तथा स्टीफेन स्पेंडर 'दि मेकिंग ऑफ ए पोएम' भी पठनीय है।

—रायनर मेरिया रिल्के—दि नोटबुक ऑफ माल्टे लारिड्स ब्रिग्स, अनुवादक—जान लिन्टर्न।

—अज्ञेय—मैं क्यों लिखता हूँ—रणधीर सिन्हा : आधुनिक कविताएँ, पृष्ठ २२-२५।

—आर्काइबॉल्ड मैक्लीश पोएट्री ऐंड एक्सपिरिएंस, पृष्ठ ७५—

'In Jung·· symbols are not means at all but primordial angels, first things They cannot be contrived by poets, because they are evolved out of racial memory They are magnets of the soul fallen like meteors out of eternity.'

—कार्ल गुस्ताफ युंग. 'मॉडर्न मैन इन सर्च ऑफ ए सोल' पृष्ठ १९०-१९१-१९८—

'We mean by collective unconscious a certain psychic disposition shaped by the forces of heredity; from it consciousness has developed. ...Whenever the collective unconscious becomes a living experience and is brought to bear upon the conscious outlook of an age, this event is a creative act. A work of art is produced that contains what may truthfully be called a message to generations of men ..' 'The secret of artistic creation and of the effectiveness of the art is to be found in a return to the state of *participation mystique*......'

—अभिनव गुप्त तन्त्रालोक, हिन्दी अनुवाद डॉ० नगेन्द्र . 'रससिद्धान्त', पृष्ठ १७६।

—डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा · 'रस और रसास्वादन', पृष्ठ १६७।

—सी० डी० लिवीस . 'दि पोएटिक इमेज', पृष्ठ ८०।

२

विचारणा और भावन :
काव्यबिम्ब के उद्भव की प्रक्रिया

अस्तु नाम नि सीमार्थ सार्थ । किन्तु द्विरूप एवासौ
विचारितसुस्थोऽविचारितरमणीयश्च·· इत्योद्भटा' ।–राजशेखर

एरिक न्यूटन[1] के अनुसार प्रकृति एक द्वि-आयामी प्रसार है। अतः प्रकृति के द्वारा दी गयी परिभाषाएँ युक्लिड की सीधी रेखा की परिभाषा के समान ही होगी। युक्लिड की परिभाषा है—'सीधी रेखा दो बिन्दुओं के बीच लघुतम दूरी है।' इसके ही समान प्रकृति आम्रवृक्ष की परिभाषा इस प्रकार देगी—'आम्रवृक्ष आम के दो उत्पादनों के बीच लघुतम दूरी है।' किन्तु कलाकार की दृष्टि ऐसी व्यवहार-मूलक नहीं होती। उसकी कला में त्रि-आयामी विशिष्टता होती है, जिसमें गहराइयाँ और घनत्व हैं। उसमें परतें हैं। उसे हम प्याज मान सकते हैं। सामान्यतः कलाकृतियाँ अपने मूल की प्रतिकृतियाँ हैं, स्थानापन्न-जैसी हैं। इस सादृश्य-योजना से दर्शक को पहचानने का तोष मिलता है। यह प्याज का ऊपरी छिलका-सा है। कलाकार यहाँ अनुकरण-प्रधान होता है। वह 'कैमरा' होता है—वह लोकधर्मी है, 'इतिवृत्तिनिर्वाहक' मात्र है। इस चमड़ी-जैसे बाहरी छिलके के नीचे की परत पर कलाकार वानस्पतिक, जैविक रूपावरणादि

में नये रूप-संस्थान का, नवीन संबंधों का विन्यास करता है। वह वस्तु की जगह वस्तु के रूप-रंग या गुण की प्रखरता सामने लाता है। कलाकार अब प्रकृति का आलोचक हो चलता है; वह अपनी टिप्पणी देता चलता है; मनोदशा प्रकट करता चलता है। इस परत के नीचे कलाकार और भी विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण हो उठता है। वह जीवन जगत् पर अपने मंतव्य प्रकट करने लगता है। यहाँ कलाकार पूर्व स्थिति से कुछ अधिक स्वतंत्र है; विषय-वस्तु के जड़-दबाव से मुक्त होता हुआ-सा है। यहीं वह जीवनदृष्टि के अनुसार 'विषय' का अन्यथाकरण करता है; वह उसे अपनी रुचि के रंग-रूप, शैली से मंडित करता है। इस धरातल पर ही आलेखित गुलाब से कलाकार का मात्र गुलाब के प्रति प्रेम नहीं, अपितु नाम-रूपात्मक जगत् के प्रति प्रेम व्यंजित होता है। इसलिए, इस धरातल पर गुलाब की जगह 'जूते' या 'पर्वत' से भी प्रेम का प्रतीकन सम्भव है। 'विषयनिष्ठत्व' का यह अन्तिम स्तर था। पर, इसके नीचे के स्तरों को बखानना जरा मुश्किल है। यह नन्दतिक अनुभूति या सौन्दर्य का क्षेत्र है। इन स्तरों में से पहले में तो कलाकार विषय, वस्तु, या मनुष्यादि से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। फिर, धीरे-धीरे वह उनके गुणात्मक, रूपात्मक, वर्णात्मक विन्यास करता है; भारसाम्य, समता-विषमता, नैकट्य-दूरी आदि के चित्रण शुरू करता है और अन्ततः, कलाकार यथातथ्य वर्णन की भाषा छोड़ देता है तथा पुलकित स्वर-लहरियों में जैसे गा भी उठता है। उसके चित्रण में तब लय आ जाती है; रूपरंग के विन्यास संगीत की भाँति अमूर्त और अर्थभारहीन हो उठते हैं। अब हमलोग लगभग प्याज के भीतरी गूदे में पहुँच रहे हैं। इस धरातल पर आ कर कलाएँ प्रायः एकरूप हो उठती हैं—एक जादुई परिवेश से मंडित। कलाकार यहाँ स्वप्नद्रष्टा है। वह नवीन छवियों, आकर्षणों से कलाकृति को सजाकर सम्मोहन का जाल फैलाता है। यह रेशमी आवरण बुद्धि को ठेस पहुँचाता है; पर इन स्वर्ण झालरों की जादुई शक्ति यह है कि उनके कारण संवेदना-ग्रहण के क्षेत्र से भावोद्रेक की गुफा तक की यात्रा संक्षेपीकृत हो उठती है। (आजकल इस अलंकरण के चाकचिक्य की जगह अनाभरण अथवा अनावृत्त विवरण के लिए आकर्षण दिखाई पड़ रहा है, अथवा विद्रूपमय विरूप के ही चित्रण मिलते हैं।) और तब, अन्ततः हम प्याज के आखिरी छिलके को छीलते हैं और बीच के मूल में पहुँचते हैं। यह सबसे अज्ञेय अंश है। कलाकार की पकड़ में भी यह नहीं आता। केवल दो बातें उसके संबंध में कही जा सकती हैं; प्रथम यह कि, कलाकार भी इससे अनभिज्ञ है, और द्वितीय यह, कि वही हिस्सा सारे प्याज में ठोस है। आश्चर्य यह है, कि इस ठोस,

भौतिक को प्याज के मुलायम रसभरे छिलके, इस प्रकार किस भाँति और क्यों छिपाए हुए थे। लगता है, कि शरीर आत्मा का निवास न होकर, आत्मा-द्वारा ही घिरा है, रक्षित और पोषित है; कि जीवन का मूल शरीर है, न कि आत्मा। यह मूल, वस्तुतः, कलाकार के अचेतन मानस और कला-माध्यम का रासायनिक मिश्रण है। आश्चर्य यह है कि अज्ञात प्रेरणाओं से एक छोटी-सी ठोस और भौतिक वस्तु, कलामाध्यम और अचेतन के अद्वययोग में पड़कर अभिनव-सृष्टि रूप में किस भाँति निर्मित हो जाती है कि जिसमें कई तहों में कलाकार और जगत् के अन्तरंग संवाद अनुगुंजित रहते हैं। और, कला-सर्जन का यही मूल रहस्य है।

इस प्रकार कलाकृति की अनेक तहें एक अनुक्रम में गुंथी होती हैं और एकमेक होकर बढ़ती हैं। पहली तह में कलाकार द्रष्टा है, फिर वह विश्लेषक है। उसके नीचे वह स्वप्न-द्रष्टा है। नाभि-मंडल में वह स्रष्टा है। प्रत्येक कदम पर वह दृश्य-जगत् को छोड़ता-सा चलता है और अन्त में वह अदृश्य अरूप को पा लेता है। उसे पाते ही वह उसके अभिव्यंजन के लिए रूप, मूर्ति, या प्रतीक ढूँढ़ता है। यह 'प्रतीक' ही कलाकार की उपलब्धि का सम्मूर्त्तन करता है; उसके निजी व्यक्तित्व के बाह्य-रूपान्तरण का प्रतीकन करता है। परन्तु कलाकृति की ये तहें इतनी अलग-अलग और अनुक्रमशः दिखाई नहीं ही पड़तीं। वे सब की सब अनुप्रविष्ट रहती हैं और एक साथ सारी की सारी तहें प्रतीति में आती हैं। अतएव सामान्यतः किसी का भी पृथकशः प्रत्यक्ष-बोध नहीं होता।

जिस अदृश्य, अरूप की प्राप्ति और प्रतीक-द्वारा जिसके मूर्त्तन की बात एरिक न्यूटन ने कही है, वह है 'विज्ञानमय काव्य'। वह अमर है। वर्णमय होकर अथवा 'वाक्यत्व' के योग से वह धीरे-धीरे बनता हुआ मनोमय से अन्नमय तक आकर जब प्रकट होता है तब वह 'पुनर्पुनर्जायमान काव्य' है। 'वाक्यत्व' का अर्थ है कवि+वाक् का संयोग अथवा वाक् का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादि में प्रकट होना। काव्यत्व-वाक्यत्व-योग की चक्राकार प्रक्रिया का विश्लेषण करें, तो उसके प्रधानतः चार प्रस्थान-बिन्दु मिलेंगे :

१—मूलबिन्दु : लोक २—आरम्भ बिन्दु : कवि,

३—मध्य बिन्दु : काव्य और ४—पर्यवसान बिन्दु : सहृदय।

'लोक' काव्यादिके 'बिम्बमूल' और 'वाग्बिम्ब' का आदि-स्रोत, अखण्ड प्रवाह-धारा और अन्तिम पर्यवसान बिन्दु है। लोक के 'गर्भमंडलीय गहन गर्त' से ही कवि काव्यबिम्ब सृष्ट अथवा निर्मित करता है।

यह काव्यबिम्ब 'सहृदय' में पुनः सृष्ट होकर प्रत्यावर्तित रूप से लोक में अन्तर्लीन होता चलता है। यही इसका चक्रक्रम है।

लोक :—महर्षि व्यास ने महाभारत के उद्योग पर्व में बतलाया है कि वह व्यक्ति अधूरा है जो लोक से दूर है। जो अपनी समस्त इन्द्रियों से लोक का ज्ञान प्राप्त करता है, वही सब कुछ जानता है : प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः (४३/३६)। लोक काव्य का मूलाधार, गर्भस्थानीय है। भरत मुनि की पूर्वोद्धृत (पृष्ठ-५७) संग्रहकारिका पर विचार करने से प्रतीत होगा कि प्रेरणा, हेतु, उपयोग, प्रयोजन आदि रूपों में 'लोक' समस्त नाट्यांग में स्वीकृत है।[१] लोक-स्वभाव ही 'लोकधर्मी' नाम से नाट्यांग कहलाता है। प्रत्युत् 'लोकधर्म' के सिवा और कोई विषय नाट्य का है नहीं। अभिनवगुप्त के शब्दों में, 'यद्यपि लोकधर्मव्यतिरेकेण नाट्ये न कश्चिद्धर्मोऽस्ति, तथापि सः लोकगत प्रक्रियाक्रमो रंजनाधिक्य प्राधान्यमधिरोहयितुं कवि नटव्यापारे वैचित्र्यं स्वीकुर्वन् नाट्यधर्मी इत्युच्यते।' अर्थात् लोकधर्मी में ही कवि-नट कुछ ऐसे व्यापार प्रस्तुत करते हैं कि जो रंजनाधिक्य-रूप होते हैं। ये ही व्यापार नाट्यधर्मी कहलाते हैं। और इस नाट्यधर्मी का भी आधार है लोकगत सहज भाव[२] :—

सर्वस्य सहजोभावः सर्वोह्यभिनयोऽर्थतः।
अङ्गालंकारचेष्टा तु नाट्यधर्मी प्रकीर्तिता ॥ना० शास्त्र १३।८५

लोकधर्मी भित्तिस्थानीय है, नाट्यधर्मी तत्रालेखित चित्रवत्। भावाभिनय के वास्तविक आधार लोकधर्मी हैं, और जब नाट्य में उनका स्तरीकृत, विशिष्ट एवं प्रखर अभिनय किया जाता है, तो वे नाट्यधर्मी कहलाते हैं। अभिनवगुप्त ने यह भी बतलाया है—'न अज्ञातलौकिकरत्यादिचित्तवृत्तेःकवेर्नटस्य वा तद्विषयविशिष्टविभावाद्याहरणंशक्यम्।' उसी भाँति वामन ने भी 'लोको-विद्याप्रकीर्णश्चकाव्यांगानि' सूत्र द्वारा लोक का महत्त्व प्राथमिक बतलाया है। विद्या और प्रकीर्ण भी लोकसम्बद्ध ज्ञानादि ही हैं। लोकज्ञान के बिना प्रस्तुत किया गया भाव नाट्यकाव्य में वाचनीय होंगे, वे रूपबाहुल्य योगसम्पन्न (दण्डी) न होंगे, अथवा 'दर्शितस्पष्टरसपूर्ण, (भामह) अर्थात् साक्षात्कारात्मक नहीं होंगे। द्रष्टा और दृश्य के, अथवा कवि और लोक के अन्तरंग अनुप्रवेश का आख्यान अनेकशः किया गया है। इसे योग या अभेदप्रतीतिरूप समाधि भी माना गया है। अभेद प्रतीति 'माध्यम' के द्वारा संभव भी होती है और व्यक्त भी। जिस विभावन-प्रक्रिया द्वारा 'कारण' 'विभाव' होता है, वह नाट्यधर्मी प्रक्रिया है। उसी भाँति जिस अनुभावन-सामर्थ्य से 'कार्य' 'अनुभाव' होता है, वह भी नाट्यधर्मी प्रक्रिया है। यह समस्त प्रक्रिया 'माध्यम' में और 'माध्यम' के द्वारा

घटित होती है। यह 'माध्यम' भी लोकाश्रयी है। पुनः भरत मुनि का यह स्पष्ट कथन है कि विभाव-अनुभाव लोक-स्वभावसंसिद्ध और लोकयात्रानुगामी हों।[४]

मैथ्यू आर्नल्ड का सुविदित अभिमत है कि 'काव्य मूलतः जीवन की आलोचना है और कवि का महत्त्व इस पर निर्भर करता है कि उस ओजस्वी कवि के सुन्दर विचारों का उपयोग जीवन के मूल संप्रश्न पर—यानी जीवनयापन की उचित विधि पर—कैसा-कितना प्रभावी है।' सेंट ब्यूव ने भी बतलाया था कि 'मेरी दृष्टि से साहित्य मनुष्य और मानव-संस्थान से भिन्न नहीं है। आस्वादक तो कृति का मैं होता हूँ, पर मनुष्य के सर्वांगीण ज्ञान से स्वतंत्र हो कर उसका मूल्यांकन करना मेरे लिये कठिन है।[५] उन्नीसवीं शती के प्रारंभ में, प्रायः ब्यूव के समकालीन हिप्पोलाइत एदाल्फी तार्य ने लोकभावना का महत्त्व तीन शब्दों द्वारा सूत्रबद्ध किया था: जाति,वातावरण और क्षणोत्प्रेरण (रेस, मिल्यु, मोमेंट=मोमेंटम)। उनके सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कलाकृति कलाकार की जातीय विशिष्टता, युगीन सांस्कृतिक वातावरण और तत्कालीन प्रवृत्ति के त्रिक द्वारा प्रेरित-अनुशासित रहती है। लोक ही युग-जीवन और कलाकार कवि के जीवन-दर्शन (वेल्तानसांग) के रूप में कृति में प्रतिच्छायित रहता है। घोर कलावादी बादलेयर ने भी जब कहा था, कि 'सत्य के साम्राज्य की रानी कल्पना है, सामंजस्य उसके अनेक प्रान्तों में एक है', तो उसने लोक-सत्ता का बहिष्कार नहीं किया था। तथाकथित पलायनवादी वाइल्ड, रैम्बो, मालार्मे आदि ने काव्य से इतर किसी भी अन्य सत्ता को नकारा था, परन्तु काव्यसर्जन द्वारा लोक-मंगल की ही प्रतिष्ठा उनकी भी मूल भावना थी। विधि उनकी 'अनुकूल' की न होकर 'प्रतिकूल' की थी। लोकमंगल तात्सताय का भी अभिप्रेत है, और पं० रामचन्द्र शुक्ल का भी, पर तात्सताय कारुण्य पर बल देते हैं, और शुक्ल जी सात्त्विक ओज और कर्म पर।[६] भरत मुनि ने 'नानाभावोपसम्पन्नं लोकवृत्तानुकरण'-रूप नाट्य के तीन प्रयोजन बतलाये हैं: 'हितोपदेश' एवं 'धृतिक्रीड़ासुखादि' तथा आर्तों के लिये 'विश्रान्ति'।[७] रोमन काव्य-मीमांसक होरेस (प्रथम शती ई० पू०) ने भी अपने 'आर्स पोएटिका' में काव्य का प्रयोजन उपदेश (युटाइल) और मनोरंजन (डल्सी)[८] बतलाया था। भरत मुनि ने नाट्य के प्रयोजनों में यह भी बतलाया है कि यह नाट्य धर्म का जनक, यश को प्रदान करने वाला, आयुष्य, कल्याणकारी, बुद्धि को बढ़ानेवाला और लोकोपदेशजनक होगा।[९] ये समस्त प्रयोजन लोकगत ही हैं।

धर्म्यं, यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्धनम् ।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति ॥१।११५

उत्तरवर्त्ती आचार्यों ने इसी के आधार[10] पर काव्य-प्रयोजनों का निरूपण किया था। आधुनिक काल में काव्य-प्रयोजन लोकधर्म के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक पक्ष से जुड़ता जा रहा है। हीगेल ने काव्य की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का आख्यान दर्शन के परम (आत्मा) तत्त्व के अधीन किया था। मार्क्स[11] आदि ने काव्य की समस्त प्रक्रिया के मूल में भौतिक सत्ता को एक मात्र तत्त्व घोषित किया : भौतिक जीवन की उत्पादन-विधि ही सामाजिक, राजनैतिक और बौद्धिक जीवन के व्यवहार की विधि बतलाती है। फलतः, लोक का अर्थ भौतिक आयाम और काव्यकाल का मतलब औजार-हथियार हुआ : 'कला वर्ग-संघर्ष का विशिष्ट यंत्र है, जिसका विकास गरीब श्रमिकों के द्वारा अस्त्र के रूप में होना ही चाहिये।'[12] दूसरी ओर किर्केगार्ड की जीवन के अस्तित्व-सम्बन्धी परिभाषा थी 'मात्र स्यात्'। नीत्से ने उसे बदल कर किया 'भयानक स्यात्'। किन्तु, जीवन के लिए, उसके अस्तित्व के लिए ही उन्होंने अतिमानव (सुपरमैन) की परिकल्पना की है। कार्ल जैस्पर्स के अनुसार नीत्से की भावना की अभिव्यक्ति है—

> 'सैकड़ों आइनों के बीच जो तुम्हारे अक्स हैं झूठे
> अपने ही जाल में दम तोड़ते, आत्मज्ञानी !
> आत्मवधिक ! दो 'नहियों' के बीच कुचले हुए तुम—एक प्रश्न चिह्न हो।[13]

इस प्रकार की भावना में भी लोक का सूत्र अन्तश्चेतना में छिपा मिलता है। जो पॉल सार्त्र[14] की अस्तित्व की मुक्ति के लिये नकार-वृत्ति में और साहित्य के सर्वतंत्र स्वातन्त्र्य की घोषणा में, भले ही प्रत्यक्षतः समाज और लोक की समस्त प्रवृत्तियों, विधि-विधानों के विखंडन द्वारा न-अहं और अहं की द्वन्द्वाग्नि को उकसाने, और, प्रकारान्तर से, नैष्कर्म्य का पक्ष ग्रहण किया गया है, तथापि उनके 'होने' और 'होते रहने'-रूप साहित्य की सार्थकता के सिद्धान्त में 'अस्तित्व' अथवा 'लोक' (जीवन) की ही स्वीकृति है।

मनोविज्ञानी स्प्रेंगर ने मनुष्य के जीवन-मूल्यों का सम्बन्ध जीवनोद्देश्य से जोड़ कर सात जीवन-लक्ष्य निर्धारित किये थे। ये सातों लक्ष्य लोक अथवा जीवन के सात परस्परालंबित अंग हैं—

१—जैविक (आत्मरक्षण और प्रजनन) २—सैद्धान्तिक-(ज्ञानात्मक) ३—सौन्दर्यात्मक ४—व्यावहारिक-आर्थिक ५—धार्मिक ६—सामाजिक-रागात्मक ७—राजनैतिक अथवा व्यवस्थात्मक। मध्ययुग तक (साहित्यिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में) जीवन प्रधानतः ५, ६, ३, २ संख्यक लक्ष्यों के द्वारा परिचालित था; किन्तु आज जीवन, संभवतः, इन सात घोड़ों पर सवार

और पहले ने अकेला होना भी ठान लिया है। स्पष्टतः कहें कि लोक का पक्ष तो आज और भी प्रबल हो उठा है। 'लोक' की सत्ता काव्यादि में आज जैव धरातल पर गृहीत है, पर रागात्मक-भावात्मक आयाम सर्वथा अस्वीकृत हो, ऐसी बात नहीं।

कवि—'कवि' शब्द 'कु' धातु से भी निष्पन्न होता है और 'कव' धातु से भी। प्रथम 'अमृतकवि' है, द्वितीय 'वाक् कवि' है। वह काव्य का कल्पक, स्रष्टा-निर्माता, और प्रधान प्रस्थान-बिन्दु है। वही अपने 'काव्य' में नाभिस्थानीय लोकसत्ता अथवा वाग्बिम्ब का प्रकाशन-आभासन करता है। आनन्दवर्धन के शब्दों में वह 'रसविश्व' का प्रजापति है।[१५]

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते॥
शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्। स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥

कवि जिस शक्ति के द्वारा 'लोक' का दर्शन, 'भावन' और अन्ततः 'वर्णन' करता है, वह है 'प्रतिभा'।

कवि की 'प्रतिभा' को महिम भट्ट[१६] ने शिव का तृतीय नेत्र माना है :—

सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात् करोत्येष भावाँस्त्रैलोक्यवर्त्तिनः।

उसके उन्मीलन से ही पदार्थ का विशिष्ट रूप गोचर होता है—

विशिष्टमस्य यद्रूपं तत प्रत्यक्षस्य गोचरम्।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्।

सुप्रसिद्ध विचारक इमर्सन की रोचक कल्पना है कि तीन बालक विश्व में साथ-साथ अवतरित हुए—ज्ञाता (दि नोवर), कर्त्ता (दि डूवर) और वक्ता (दि सेयर)। पहला सत्यं का अनुरागी है, दूसरा शिवं का, तीसरा सुन्दर का। यही तीसरा कवि है, जो वक्ता है, 'वस्तु' को 'नाम' देता है: शेक्सपीयर के शब्दों में (गिव्स टु एयरी नथिंग ए लोकल हैबिटेशन एँड ए नेम—) 'वायवी शून्य को भी स्थिति देता है और एक संबोधन भी।' इस प्रकार इन तीनों ने भी, कवि को 'प्रजापति' अथवा 'स्रष्टा' माना है।

कुछ विद्वान् 'प्रतिभा' को कवि की मूल शक्ति मानते हैं, 'कवित्व बीजं प्रतिभानम्'; तो कुछ व्युत्पत्ति को : 'व्युत्पत्तिः श्रेयसी'[१७]

पंडितराज जगन्नाथ प्रतिभा को व्युत्पत्ति और अभ्यास का परिपाक मानते हैं[१८]। प्रतिभा सहजा भी होती है (जिनियस के अर्थ में) और कारणजन्या या औपाधिकी भी ('टेलेन्ट' के अर्थ में)। हेमचन्द्र की 'सहजा' प्रतिभा 'पूर्ववासना गुणानिबन्धि' (दण्डी), 'जन्मजन्मान्तरसंस्कारविशेष' (वामन) 'अनादिप्राक्तनसंस्कार' (अभिनवगुप्त) भिन्न नहीं है और 'औपाधिकी'

व्युत्पत्तिवादियों की उत्पाद्या है । रुद्रट की ही भाँति राजशेखर ने भी शक्ति को काव्यहेतु माना है । उन्होंने श्यामदेव के द्वारा प्रतिपादित 'समाधि' या एकाग्र होने की क्षमता को और मंगल के द्वारा प्रतिपादित 'अभ्यास' को, अथवा कहें, १—प्रतिभा एवं २—व्युत्पत्ति दोनों की संयुक्त शक्ति को काव्य-रचना में प्रधान कारण माना है। उनका कथन है—'प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ ।······प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते' ।[१९] मम्मट ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और शक्ति तीनों की अर्थपरम्पराओं को एकत्र करते हुए एकवचन में काव्य-कारणता इस प्रकार बतलायी है—

> शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात् ।
> काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ।।१।३

प्रतीत ऐसा होता है कि प्राचीन भारतीय काव्यमीमांसकों में प्रतिभावादियों और व्युत्पत्तिवादियों की अलग-अलग कोटियाँ थीं । आनन्दवर्धन, महिमभट्ट, अभिनवगुप्त आदि प्रतिभावादियों में माने जायेंगे और मंगल, पंडितराज जगन्नाथ आदि व्युत्पत्ति को प्रधान माननेवालों में ।

पाश्चात्य विद्वानों में होरेस का मत राजशेखर के विचार से मिलता-जुलता है । वे कहते हैं—'प्रश्न है कि अच्छे गीत की रचना कैसे होती है? सहज ही, या कला-निर्मिति द्वारा? मैं न तो इस पर विश्वास करता हूँ कि मेधाशक्ति के आलोड़न के बिना मात्र परिश्रम कृतकार्य हो सकेगा और न इस पर ही कि अभ्यास और शिक्षा से रहित मात्र सहजा शक्ति ही सफल निर्माण कर सकेगी ।'[२०] कॉलरिज ने सहजा प्रतिभा (जिनियस) को उत्पाद्या (टैलेन्ट) से और कल्पना (इमैजिनेशन) को उल्वण उड़ान (फैंसी) से उत्तम माना है, क्योंकि प्रतिभा और कल्पना में सामंजस्य और संहति की शक्ति है; शेष पारम्परीण, यांत्रिक और सहचार-प्रधान हैं ।[२१] इलियट ने उल्वण कल्पना-सम्बन्धी उनके विचारों का खंडन किया है और व्यवस्थापन एवं अनुभूति को समान महत्त्व दिया है ।[२२]

प्रातिभ कवि कुछ अधिक सूक्ष्मावगाही और अन्तरंग होते हैं । वे विज्ञानमय कोष के निकट के अमृत कवि हैं । औपाधिकी कवि मनोमय कोष के इस पार के निवासी हैं । वे अधिक स्फुट, और बाह्यार्थ-निरूपक होते हैं । पाश्चात्य शास्त्रविदों की दृष्टि से भी १—द्रष्टा-कवि (स्रष्टा या 'सियर') और २—निर्माता-कवि (मेकर, आर्टिस्ट) की दो कोटियाँ पृथकशः वर्णित हैं ।[२३]

प्रतिभा-सम्पन्न अथवा द्रष्टास्रष्टा कवि अधिक पुरातन और आदिम प्राणी है; आत्माह्लादी, त्रिकालज्ञ, आशुकवि है वे। संभवतः ऐसे आत्माह्लादी आदि-कवि की परम्परा में अन्य प्रवृत्तियों के योग से कालान्तर में रोमांटिक, अभिव्यंजनावादी, सुररियलिस्ट आदि स्वच्छन्दपंथियों का विकास हुआ और निर्माता-कवियों की संयमित-मर्यादित चैतन्यधारा में श्रेण्यवादी, आचारवादी, नीतिवादी आदि धीर मनस्वियों का। इन दो प्रकार के कवियों द्वारा सृष्ट एवं निर्मित काव्य-बिम्बों की कोटियाँ भी अलग-अलग प्रतीत होती हैं। परन्तु; उत्तम कवियों, जैसे—कालिदास, होमर, तुलसी, सूर, शेक्सपीयर, मिल्टन, देव, प्रसाद, निराला, इलियट, अज्ञेय आदि में स्रष्टा और निर्माता की युगपत् विशेषताएं मिलती हैं। उनकी क्रान्तदृष्टि जैसी अपूर्व है, कलानैपुण्य भी उतना ही अद्भुत है।[२४]

कीट्स ने, और फिर, इलियट ने कवि के लिए नकार-क्षमता (निगेटिव कैपेबिलिटी)[२५] के महत्त्व का आख्यान व्यक्तित्व के प्रकाशन की दृष्टि से किया है। कीट्स ने अपने पत्रों में (हर्बर्ट रीड : फार्म इन मॉडर्न पोयट्री के पृष्ठ ३७७,३९ एवं ७८ पर उद्धृत) लिखा है : "ऐसा लगता है कि प्रतिभावान् व्यक्ति निष्क्रिय मेधा के द्रव्य पर वायवीय रसायन की भाँति क्रियाशील रहते हैं, परन्तु उनमें वैयक्तिकता अथवा निश्चयात्मक चारित्रिक विशेषता नहीं रहती; इसके विपरीत दूसरे लोग जो शीर्ष पर रहते हैं और उनका 'स्व' प्रखर रहता है, वे शक्तिमान व्यक्ति हैं।" कवि की 'न-कार' की क्षमता कहें, अथवा भट्टनायक के 'हृदयदर्पण' के अनुसार उसे 'हृदय की पूर्णता मानें'[२६] मुक्त व्यक्तित्व के कृतिकार अपने व्यक्तित्व को लोक और कृति में समर्पित कर देते हैं। दूसरी ओर, कुछ ऐसे समर्थ रचनाकार होते हैं, जिनकी प्रभुत्वक्षमता प्रबल होती है; वे सब कुछ को अपने रंग में रँग कर प्रस्तुत करते हैं। वाल्मीकि, कालिदास (अभिज्ञानशाकुन्तलम् में) भास, सूर, शेक्सपीयर, पंत, (प्रेमचन्द्र) आदि में आत्म-विसर्जन की वृत्ति अपेक्षया अधिक है, तो भवभूति, बाणभट्ट, तुलसी, मिल्टन, बिहारी, प्रसाद, निराला, इलिएट, अज्ञेय प्रभृति रचनाकारों में द्वितीय वृत्ति अपेक्षया प्रबल दीखती है।

कवि अपने युग की दौड़ में सबसे चैतन्य बिन्दु पर होता है, अथवा रिचर्ड्स की शब्दावली में, उस बिन्दु पर होता है, जहाँ मन अपनी संवृद्धि का निदर्शन प्रस्तुत करता है।[२७] तन्मयता उसकी विशेषता है;

जिससे उसे समवत और विशद अनुभव प्राप्त होते हैं। प्रगाढ़ और सूक्ष्म व्यवस्थापन के द्वारा समायोजित ये अनुभव अनायास अन्य अनुभवों में सहचरित भी होते हैं एवं उन्हें सघन, जटिल और अर्थपूर्ण बनाते हैं। इस सम्पुंजन और सघनन के कारण कवि के संस्कार यथावसर स्वतः प्रत्याहूत होते हैं। फलतः, समाहित-चित्त कवि में शब्द और अर्थ के सारे रहस्य खुल-से जाते हैं। आनन्दवर्धन [१८] के शब्दों में कहें, तो रस-समाहित प्रतिभा-सम्पन्न कवि के पास शब्द, अलंकारादि 'मैं पहले, मैं पहले' कहते हुए दौड़े आते हैं। इलियट के शब्दों में यही बात इस प्रकार प्रकट हुई है—'काव्य-रचना के ऐसे मौकों पर जो होता है, वह कुछ नकारात्मक है; यानी, सामान्यतः जिसे 'स्फुरण' कहते हैं, वह नहीं होता; पर कुछ सख्त, स्वभावगत सीमाएँ टूटती-सी हैं; कुछ बंधन अचानक खुल-से जाते हैं। कोई धनात्मक सुख नहीं मालूम पड़ता। असह्य भार, जैसे हल्का हो जाता हो, वैसा ही मालूम पड़ता है।'[१९]

भारतीय परिकल्पना में प्रायः सभी आचार्यों ने काव्य-सर्जन के क्षणों में भी कवि को 'सवासन' स्वीकार किया है, जबकि इलियट व्यक्तित्व के विलयन पर बल देते हैं और कवि की तत्कालीन दशा को निर्वैयक्तिकता (डिपर्सनलाइजेशन) की दशा मानते हैं। उनके अनुसार कवि को कोई 'व्यक्तित्व' प्रकाशनार्थ नहीं होता है, किन्तु केवल एक विशेष माध्यम होता है, जो सिर्फ माध्यम ही है···जिसमें प्रभाव और अनुभव आश्चर्य-जनक और आशातीत ढंग से घुलमिल जाते हैं। रचनाकार की तत्कालीन स्थिति के सम्बन्ध में भी उनका कथन है, कि कवि की स्थिति रसायन-विज्ञान के 'कैटलाइजर' की रहती है; जो स्वयं अपनी विद्यमानता से तत्त्वों का विघटन कर नये द्रव्य उद्भूत तो करा देता है, पर खुद निर्लिप्त और अक्षुण्ण-सा रहता है। भारतीय और पाश्चात्य मतों में अन्तर का कारण है, भारतीय मनीषा का विश्वास, कि वाक्-कवि वही है जो अमृत कवि। अतः यहाँ पूर्ववासना ही प्रतिभा कही गयी है—'पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् (दण्डी), जन्मान्तरागत संस्कारविशेषः (वामन), अनादिप्राक्तन-संस्कार प्रतिभा-नमयः (अभिनवगुप्त); प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाक प्रौढ़ा प्रतिभा (कुन्तक)। इस हेतु ही अभिनवगुप्त ने वाल्मीकि, कालिदास आदि की प्रतिभा के मूल में 'प्राग्जन्मार्जित क्रमाभ्यास समुदित पाटवोत्पादितः ज्ञानातिशयः' माना है (अ० भा० २/२९३)। साधारणीकरण-प्रक्रिया में भी जो क्रिया घटित होती है उसे निर्वैयक्तिकता अथवा 'डिपर्सनलाइजेशन' न कह कर अभिव्यक्तिता

अथवा 'ट्रानस्पर्सलाइजेशन' कहेंगे ।[३०] कार्ल युंग के मतानुसार, सामूहिक आवश्यकताओं के दबाव से, विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न कवि के अन्तश्चेतन में स्थित आदिम मानव वृत्तियाँ प्रबल वेग से सक्रिय हो उठती हैं । चेतन के साथ इनका सम्पर्क ही कला-सर्जन है । इस प्रकार युंग का मनोविश्लेषणात्मक विश्लेषण भारतीय सिद्धान्त की 'सवासनता' को ही संपुष्ट करता है ।[३१]

काव्य—काव्य है कविकर्म : कवेः कर्म काव्यम् (कुन्तक : व० जी०१/२)। वह काव्यचक्र का मध्य बिन्दु है । इसे लोक और कवि के हृदयसंवाद का साक्षीभूत जीवतबिम्ब भी कह सकते हैं । अनुभूयमान की रूपायिति होकर काव्य विगत से सम्बद्ध है, पर लोक में समर्पित होने के कारण, चारुत्व-प्रतीति-रूप होकर अथवा क्षण-क्षण नवता का आविष्कार कराने वाला रमणीय रूप होकर, वह सतत अग्रगामी है । काव्य व्यतीत कभी नहीं होता ।

काव्य की अभिव्यक्ति का प्रारंभ विज्ञानमय कोश में होता है, जो सूक्ष्मतम है । आगे के मनोमय, प्राणमय कोशों में वह कुछ अधिक स्फुट होता और अन्नमय में स्थूल होता है । इस दृष्टि से काव्य के निम्न प्रकार हैं :

क्षणिक भाव	अन्नमय कोश	सचारी काव्य, वाक्की प्रधानता, क्षण मात्र आस्वाद्य
स्थायी भाव	प्राणमय कोश	स्थायी काव्य, काव्यत्व की प्रधानता, दीर्घ काल के लिए आस्वाद्य
नवरसात्मक	मनोमय कोश	रसमय काव्य, सर्वकाल के लिए आस्वाद्य
महारसात्मक	विज्ञानमय कोश	उपर्युक्त काव्यका चरम रूप ।[३१]

अतएव, 'तंत्रीनाद' और 'कवित्तरस' में 'सब अंग बूड़ने' की जो बात कही गयी है, वह इस 'महारसात्मक काव्य' को लक्ष्य कर ही । इस प्रकार भारतीय काव्य-प्रकल्पना में महारस की सार्वकालिक अलक्ष्य अनन्त धारा के साथ संचारियों के तरंगायमान काव्य भी स्वीकृत हैं । वर्ड्सवर्थ आदि महाकवियों ने भी 'मोमेंट्स ऑफ इल्यूमिनेशन' में (द्रष्टव्य टिंटर्न एब्बी) अनात्म से आत्मरूप हो जाने की प्रायः वैसी ही महारस-निमग्नता की बात बतलायी है । अतः काव्य मात्र 'रेस, मिल्यु, मोमेंट' से परिच्छिन्न नहीं माना जा सकता । तायँ के इस त्रिक से जो सम्बद्ध है, वह उसका वाक्‌पक्ष है ।

इतिहासवाद और सापेक्ष्यवाद में काव्य ऐतिहासिक घटना माना जाता है और उसकी सत्ता युगादि-सापेक्ष्य गृहीत होती है ।[३२] परन्तु, युग एक काल्पनिक इकाई है, व्यावहारिक सुभीते के लिये शाब्दिक व्यपदेश । युग है; कालिक आयाम का मानवनिर्मित दिग्बद्ध छन्द । काव्य

उसमें लय-संधान करता है, पर विलीन नहीं होता। पाश्चात्य मनीषियों ने दार्शनिक, मनोविश्लेषणात्मक एवं सौन्दर्यिक दृष्टियों से इसे स्वीकार किया है कि 'वर्त्तमान-कालिकता' ही वास्तविक स्थिति है, 'हर क्षण में अतीत और अनागत विद्यमान है,' 'होमर से लेकर समस्त यूरोपीय साहित्य का यौगपदिक अस्तित्व है और वह यौगपदिक क्रम का निर्माण करता है'।[३४] अतएव, काव्य युग-पर्यवसायी न होकर, अतिवाही भी होता है; व्यतीत न होकर, सदैव वर्त्तमान रहता है। अतएव, तायँ द्वारा बतलाये गये लक्षण काव्य के बाह्य पक्ष के ही द्योतक हैं।

दूसरी बात यह, कि काव्य है प्रतिभा का बाह्य प्रकाशन। फलतः काव्य-ग्रहण से प्रातिभ मानस में भी तदनुरूप संस्कारों का उन्मीलन होता है। संस्कार के बाह्य पटल ही युगावच्छिन्न होते हैं। अनादि वासना तो दिक्काल से उत्तीर्ण है। उसे ही 'वाक्बिम्ब' भी कहते हैं। काव्य का लक्ष्य काव्य-बिम्ब द्वारा उसके वाक्बिम्ब की ही प्रतीति है।

परिपूर्णतावाद में काव्य अपने रचनाकाल से या उसके भी पहले से अगणित अर्थसमूहों का समाकलन अथवा उनका नाभिस्थानीय ऊर्जामंडल (न्यूक्लियस) स्वीकार किया जाता है। काव्य नाना प्रकारके अर्थग्रहीताओं के लिये मानक (नार्म) केन्द्रबिन्दु है, जिसके चतुर्दिक एक प्रभामंडलीय आच्छाया (पेनम्ब्रा) होती है। यह आच्छाया उन अर्थरश्मियों की है, जो कालप्रवाह में उसके उद्भव के पूर्व से, सामान्यतः, एवं प्रवर्त्तन के अनन्तर, विशेषतः, उस के चारों ओर सम्पुंजित होती चली आयी है। फलतः, 'मेघदूत' का अध्ययन हम रचना में प्रवृत्त कालिदास की दृष्टि से नहीं कर सकते; न विपुलापृथ्वी और अनन्त काल में कभी कोई 'भवभूति का समानधर्मा' सम्भाव्य है। हमारी चेतोधारा (स्ट्रीम ऑफ कान्शसनेस) को, (हैराक्लिटस ने बतलाया था कि किसी नदी को हम दो बार पार नहीं कर सकते) कोई भी अनुभव दो बार पार नहीं कर सकता। हमारे चेतना-प्रवाह को 'मेघदूत' के समान, खंडशः और समाकलित बिम्बों की प्रभूत राशियाँ पार चुकी हैं। उस रचना पर अनेकानेक विद्वानों के द्वारा सुचिंतित व्याख्यायें प्रस्तुत हुई हैं और वे उसकी विविध अर्थराशियों को आच्छादित करती हैं। इनके अनुप्रकाश में ही उसका सम्यक् अर्थमंडल है। अतएव, परिपूर्णतावाद की दृष्टि से काव्य अपने समस्त अर्थासंगों से आच्छायित सकलप्रतीति है। तत्वतः 'परिपूर्णतावाद' उत्तम है, किन्तु प्रकारान्तर से वह शास्त्रीयता, जैविक संस्थानवाद, व्यक्तिवादिता, अनेकार्थकता

गूढ़ार्थकता, अनिश्चयतावादिता, ऊहात्मकता आदि का उपस्थापक है।[३५] उसकी अवधारणा में 'अंश' निरर्थक या खण्ड-प्रतीति है; सर्वांगीण विशुद्धता उसका गमक है। पूर्ण, एकरूप, अविकल समष्टि ही उसकी दृष्टि में 'सुन्दर' है। इसके आनन्त्य का शमन कर एवं सापेक्ष्यवाद के स्थैर्य में विस्तार लाकर कुछ विद्वानों ने 'परिप्रेक्ष्यवाद' के महत्त्व का स्वर छेड़ा है,[३६] जिसके अनुसार काव्य की चिरन्तन प्रवहमान सत्ता भी स्वीकृत है, क्योंकि वह सदा सर्वत्र संवेद्य है, और उसकी ऐतिहासिक सापेक्षिकता भी स्वीकृत है, क्योंकि उसमें देशकालगत आच्छन्नता रहती ही है।

आधुनिक काल में काव्य कुछ नये आयाम में विकसित होने लगा है। उसमें नये संस्कार उभरने लगे हैं। फलतः, काव्य ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों के अधिक समीप आ गया है। भावात्मक-रागात्मक गहराई के साथ-साथ उसमें बौद्धिक तेजस्विता और वैज्ञानिक प्रखरता भी आ गई है। अभिनवगुप्त ने 'उत्तरकर्त्तव्योन्मुख्येन लौकिकत्वात्' द्वारा एकघनसंविद्-विश्रान्ति-रूप रस में उद्वेग का निषेध किया था। परन्तु आज काव्य में 'उद्वेग' के भी 'रसत्व' का अनेकविध आख्यान हुआ है।[३७]

सहृदय

प्रमाता, (सामाजिक, प्रेक्षक आदि) काव्यचक्र का अन्तिम बिन्दु है; काव्य-बिम्ब का निर्मल अवधारक दर्पण है। सहृदय में ही काव्य-बिम्ब का प्रस्फुटन और काव्य-रस का पर्यवसान होता है। भारतीय साहित्यशास्त्र में रसानुभव[३८] की दो परम्पराएँ प्रतीत होती हैं : १—'स्थायी भाव ही रस होता है' एवं २—'रस स्थायिविलक्षण है'। सहृदय का महत्त्व दोनों में है।

'रस' की झटिति प्रतीति हो, इस हेतु सहृदय में रसास्वाद के लिये कुछ विशिष्ट गुण अपेक्षित हैं। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में काव्यास्वादक को 'सुमनस्' नाम दिया है और उसके लक्षण इस प्रकार बतलाये हैं :[३९]

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रेक्षकाणां तु लक्षणम्। चारित्राभिजनोपेता शान्तिवृत्तश्रुतान्विता।
यशोधर्मरताश्चैव मध्यस्था वयसान्विताः। षडङ्गनाट्यकुशलाः प्रबुद्धाः शुचयः समाः॥
चतुरातोद्यकुशला नेपथ्यज्ञाः सुधार्मिकाः। देशभाषाविधानज्ञाः कलाशिल्पविचक्षणाः।
चतुराभिनयज्ञाश्च सूक्ष्मज्ञा रसभावयोः। शब्दच्छन्दोविधानज्ञाः नानाशास्त्रविचक्षणाः॥
एवंविधास्तु कर्तव्याः प्रेक्षका नाट्यदर्शने। अव्यग्रैरिन्द्रियैः शुद्धा ऊहापोहविशारदाः।
त्यक्तदोषोऽनुरागी च स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः। यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च।
दैन्ये दीनत्वमभ्येति स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः।

उनके अनुसार प्रेक्षक में प्रधानतः १—चरित्र २—विद्या एवं शास्त्रज्ञान ३—कलाभ्यास ४—देशभाषा-छन्दादि का ज्ञान ५—अभिनय, गान, वाद्य का संज्ञान और उनके प्रति रुचि ६—एकाग्रता एवं सूक्ष्म सहज बोध ७—समत्व भाव, एवं ८—सवेदनशीलता के गुण होने चाहिए।

फिर भी, यह आवश्यक नहीं कि सभी प्रेक्षकों को एक समान रस-प्रतीति हो। अवस्था, रुचि, जाति, वृत्ति के अनुसार प्रेक्षक नाट्य का रस लेता है :—

तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते। अर्थेष्वपिराश्चैव मोक्षेष्वर्थ विरागिणा'
नानाशीला: प्रकृत्य शाले नाट्य प्रतिष्ठितम्। बालामूर्खा: स्त्रियश्चैव हास्यनेपथ्ययोः सदा॥

अतः, भरत ने प्रेक्षक की सबसे बड़ी विशेषता नाट्य के भावानुकरण में प्रवेश अथवा तादात्म्य-क्षमता मानी है।

एवं भावानुकरणेर्या यस्मिन् प्रविशेन्नर। प्रेक्षकस्तु स मन्तव्यो गुणैरेतैलंकृत:॥

अभिनवगुप्त के अनुसार 'भावानुकरण-प्रवेश-क्षमता' अर्थात् 'तन्मयीभवन-योग्यता' ही 'सहृदय' होने की विशेषता है। उनके शब्दों में 'सहृदय' की परिभाषा है : येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय-तन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।[४०] अभिनवगुप्त ने रस-क्षण में मन के निर्मलत्व, हृदय के तन्मयत्व और शरीर के ईषत् संज्ञा शून्यत्व का आख्यान किया है। इनमें से कोई भी रसानुभव के अनुकूल न हो, जैसे शरीर-धर्म ही प्रबल रहे, या मन चञ्चल हो, तो 'तन्मयीभवनयोग्यता' प्रतिहत होगी। क्योंकि अभिनवगुप्त के शब्दों में, काव्य का अधिकारी है— 'अधिकारी चात्र विमल प्रतिभानशाली सहृदयः।'

सहृदय का व्यक्तित्व :

साहित्यशास्त्र में 'रसिक' का व्यक्तित्व सामान्य जन के व्यक्तित्व से कुछ विशिष्ट माना गया है—काव्यानुशीलन के शिक्षाभ्यासवश उसकी सवेदनशीलता विशद, तीक्ष्ण एवं प्रखर रहती है। 'प्रेक्षक', 'प्रमाता', 'नागरक' 'सामाजिक' 'सुमनस्' 'सहृदय' आदि शब्दों के द्वारा रसिक की अन्य जनों से पृथक् कोटि संकेतित है।[४१] किन्तु, सामान्य व्यक्तित्व तो उसका उसी प्रकार विकसित होता है, जैसे अन्यों का।

मनोविज्ञान के अनुसार सामान्य व्यक्तित्व के विकास का प्रारम्भ माता के निकट से होता है। यद्यपि आनुवंशिक अनेक प्रवृत्तियाँ अलक्ष्य रूप में शिशु के व्यक्तित्व के मूल में रहती हैं, तथापि प्रत्यक्षतः उसका संस्कार माता

के द्वारा शुरू होता है। माता और फिर पिता एवं तदुपरान्त परिवार के अन्य सदस्यों के कारण शिशु पर १—निर्भरता एवं २—अनुशासन के दो विषम सामाजिक चाप पड़ते है, जिनसे उसकी सहज क्रियाएँ, यथा क्षुधातृप्ति, मल-विसर्जन आदि की, तृप्त एवं मर्यादित होने लगती हैं। धीरे-धीरे उसमें 'मै' का अथवा अपनी 'व्यक्तिता' का भाव उभरता है। यानी, वह अपने में अन्तःप्रवेश करने लगता है। यह आभ्यतरण (इन्टर्नलाइजेशन) बाह्य क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का ही सहज आत्मबोध-रूप है। मनोविज्ञानी जार्ज एच० मीड के अनुसार सम्प्रेषण, तादात्म्यीकरण, दूसरे के क्रियाकलापों का अनुकरण (कम्यूनिकेशन, आइडेंटिफिकेशन, रोल-टेकिंग) ही 'स्व' के बोधोदय (सेल्फ-कांशसनेस) की मूल प्रवृत्तियाँ हैं। 'स्व' धीरे-धीरे 'मैं' और 'मेरे' में भेदपूर्वक क्रियाप्रतिक्रिया द्वारा उभरता है और व्यक्तिता (इन्डीविडुअल) भी धुंधलके की तरह बनती चलती है[४२]। 'मैं' के जैविक आदिम संस्कार के 'मेरे' द्वारा दबाये जाने की और 'नैतिक 'मै' के उदय की प्रक्रिया में राग-विराग, हर्ष-द्वेषादि के नाना भावों का, और सहजवृत्तियों का सामाजिकीकरण होता चलता है। मित्र, पड़ोसी, मुहल्ले, शिक्षण-संस्थान आदि आवेष्टनों के वृत्त जैसे-जैसे बढ़ते हैं, व्यक्ति की 'व्यक्तिता' भी अपनी विशिष्ट क्रिया-प्रतिक्रिया की एक लीक-सी बनाती चलती है, और नाना प्रकार के संस्कार उत्तरोत्तर जटिल संघटन करते जाते हैं। उनमें एकसूत्रता भी आती जाती है।

व्यक्तित्व एकसूत्रित, जटिल और संश्लिष्ट विन्यास है, जिसके निर्माण में जैव और नृतत्वशास्त्रीय तत्व, मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरण और लक्ष्यों के अंश, एवं गृह, शिक्षणसंस्थान, सामाजिक, सांस्कृतिक संस्थाओं के चाप तथा मनोभावों, जीवनमूल्यों, उच्चाकांक्षाओं, उद्देश्यों के प्रेरक तत्व रहते हैं। अतः व्यक्ति को व्यक्तित्व होता नहीं है, वह व्यक्तित्व ही है।[४३] मनोविज्ञान के पंडित व्यक्तित्व में अनेक परतें और घटकें मान कर उसके आयामों की जाँच-पड़ताल भी करते रहे हैं। जी० जी० डब्लू० आलपोर्ट ने वृत्तियों (ट्रैट्स) को मूल मान कर उनमें उनसे संबंधित संस्थितियों, आदतों आदि का व्यवहार-घटक विवेचित किया है।[४४] ए० अन्गायल ने व्यक्तित्व के उर्ध्वगामी आयाम, समभौमिक आयाम, कोणात्मक आयाम का विवेचन किया है : प्रथम में व्यक्ति के पुरातन या विगत घटनाओं के प्रतिपालन में किये गये व्यवहार-पुंज माने गए हैं, दूसरे में लक्ष्यप्रेरित व्यापारादि, और तीसरे में सामान्य दैनन्दिन जीवन के छोटे-मोटे व्यवहारो का ग्रंथन ।[४५] नीचे के चित्रों में सी० डब्ल्यू० ऑलपोर्ट

द्वारा व्यक्तित्व के वृत्ति-परक-रूप अंकित किए गए हैं। वृत्तियाँ व्यि
, बीजाणुरूप हैं। वे केन्द्रस्थ स्नायविक-मानसिक संस्थान हैं और व्यव
ष्टि में सामान्यीकृत प्रेरण-पुंज-सी होती हैं। चित्र 'क' में वृत्तियों
ंज दिखाए गए हैं और 'ख' में उनका नाभिमंडलीय रूप।

क ख

[सी० डब्ल्यू० ऑलपोर्ट . पर्सनालिटी . ए सायकॉलॉजिकल इन्टरप्रटेशन, पृष्ठ २४६]

मनोविज्ञानी ए० मर्रे, गार्डिनर मर्फी, ए० एच० मेस्लो आदि ने
व्यक्तित्व के आयामों का अपने-अपने ढंग से विश्लेषण किया है। उदा
स्वरूप मेस्लो ने व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न आयामों की प्रकल्पना मंजूषान
टिकाओं में जिस प्रकार की है, उसे निम्न रेखांकन के द्वारा समझा
सकता है। इसमें व्यक्तित्व के चार आयाम दिखाए गए हैं।

[ए० एच० मेस्लो द्वारा प्रस्तुत व्यक्तित्व के आयाम]

मनोविज्ञानी आर० बी० कैटल ने व्यक्तित्व का विश्लेषण-वि
:न्विति-प्रधान दृष्टि से किया है। उन्होंने वृत्तियों में एकसूत्रता या स

को स्वीकार करते हुए उसके बाह्य प्रसारण में तीन स्तर माने हैं। १—प्रवृत्ति-स्तर (डिस्पोजिशन लेवल) २—भावकोश-स्तर (सेंटिमेंट लेवल) और ३—मनोदशा या संस्थितिस्तर (ऐटिच्यूड लेवल)। इस तीसरे के बाद व्यक्ति बाह्य व्यापार करता है। प्रथम स्तर कलाई के रूप में रेखांकित है, द्वितीय
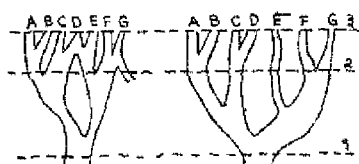
क ख

पहला आदमी दूसरा आदमी

[आर० बी० कैटल डिस्क्रिप्शन ऐंड मेजरमेंट ऑफ पर्सनालिटी, पृष्ठ—५७६]

दो तीन शाखाओं के रूप में, जहाँ से उँगलियों की भाँति तीसरा स्तर कई-कई प्रशाखाओं में फूट कर संस्थिति-स्तर का प्रारम्भ करता है, जो प्रशाखाएँ फिर बाह्य व्यवहार में आकर और भी प्रशाखाओं में फूट चलती हैं।[४६] इस विश्लेषण से यह स्पष्टतः द्योतित होता है कि हर आदमी का व्यक्तित्व स्वायत्त है। 'क' और 'ख' चित्रों में दो पृथक व्यक्तियों के व्यक्तित्व चित्र-रूप में देखे जा सकते हैं। यहाँ यह भी स्मरण कर लेना आवश्यक है, कि फ्रायड ने व्यक्तित्व के तीन स्तर माने हैं—१—इड (दमित अहं) अथवा सहज वृत्तियों का अवचेतन मानस, २—इगो या सेल्फ (चेतन अहं), अथवा जिसका चेतन-बोध व्यक्ति को होता है और सामान्यतः जिसके अनुसार व्यक्ति व्यवहार करता-सा अपने को समझता है, एवं ३—सुपर इगो (अत्यहम्) अथवा 'इगो' का आदर्शीकृत वह रूप जिसकी सम्प्राप्ति व्यक्ति उत्तम व्यवहार आदि द्वारा करना चाहता है। यह सामाजिकीकृत सुसभ्य उदात्त अहं है। फ्रायड का 'इड' कैटेल की पहली (मूल) परत के नीचे स्थान पायेगा और 'इगो' और 'सुपर इगो' दोनों दूसरी परत में। पृष्ठ ६५ पर वर्णित स्प्रेंगर के जीवन-मूल्यों और लक्ष्यों का भी स्मरण यहाँ कर लेना चाहिए।[४७] स्पष्ट है कि उन सात जीवन-लक्ष्यों के योग और प्रस्तार से व्यक्तित्व के स्तरों में नाना प्रकार के भेद आ जाते हैं। और, इन घटकों के अलावा शरीर और स्नायु-रक्तादि संस्थानों के घटक भी हैं। मनोदैहिक व्यापार व्यक्तित्व के मूल में

सदैव रहते हैं। अतएव; यदि हम चेतोव्यापार के नीचे मनोदैहिक व्यापार के घटक, अवचेतन-उपचेतनादि के व्यवहार के घटक एवं फिर ऊपर आदर्श 'व्यक्तिता' के घटक मान लें, तो व्यक्तित्व के तीन प्रधान धरातल होते है १—सामान्य चेतन अहं, जिनमें फिर नाना स्तर हैं; २—निम्न दैहिक, जैविक, अवचेतनादि से सम्बद्ध अचेतन-उपचेतन का 'स्व' और ३—आदर्श एवं उदात्त अहं। सामान्यतः चेतन-अहं द्विध्रुवीय दोलन में रहता है, कभी दूसरे के साथ, कभी तीसरे के साथ। तनावों और प्रतिबद्धताओं को छिपा कर संतुलन और सामजस्य द्वारा ही 'अहं' का व्यवहारपरक बाह्य रूप उभरता है, कभी स्वार्थी कभी त्यागी। उच्च के साथ सामंजस्य आत्म-रूप-सा विशद है; निम्न के साथ समझौता 'स्व' मूलक और व्यावहारिक है। आवेष्टन के प्रति उन्मुखता में ऐसा सामजस्य ही हमारा जागतिक व्यवहार कहलाता है, यानी व्यक्तित्व का प्रतिफलन ही चरित्र कहलाता है। (द्रष्टव्य :-हर्बर्ट रीड : फॉर्म इन मोडर्न पोएट्री, पृष्ठ ११-२५) हमारे चरित्र का जगत् में जो समाकलन है, जगत् उसे ही हमारा 'व्यक्तित्व' समझता है। इस प्रकार हम हैं मूलतः 'आत्म'; अथवा वस्तुतः 'अहं' (अस्मिता), किन्तु भासित होते हैं हम इन दोनों से इतर। दूसरे शब्दों में हमारा 'व्यक्तित्व' ही प्रतिच्छायित रहता है। इस दृष्टि से 'व्यक्तित्व' का अंग्रेजी शब्द 'पर्सनैलिटी' लातिनी 'पर्सोना' से व्युत्पन्न शब्द है बड़ा सार्थक। 'पर्सोना' का अर्थ है, मुखौटा, जिसे लगा कर नट रंगमच पर अभिनय करने आते थे।

काव्यानुशीलन और शिक्षाभ्यास से विशदीभूत व्यक्ति का मनोमुकुर निर्मल होता है, क्योंकि अन्तर्मन की दमित-शमित इच्छाएँ काव्यादि में विरेचित, (कैथार्सिस), अथवा मार्दवीकृत हो जाती हैं। कामादि वासनाएँ प्रतिरूपात्मक ढंग से तृप्त हुई रहती है। काव्यादि कलाएँ कैटेल के द्वारा वर्णित भावपुंज के स्तर को संबोधित होती है। इसलिए वे अतिशीघ्र व्यक्तित्व की तीसरी या निम्न परत तक पहुँच जाती हैं। फलतः, व्यक्तित्व के टेढ़े-मेढ़े अथवा खाई-गड्ढेवाले अश एक सिधाई में आकर घुलमिल-से जाते हैं। यह वैशद्य का दूसरा रूप हुआ। काव्यादि पठन-श्रवण से भावपुंजों में संघनन-शक्ति विकसित होती है और उनमें सूक्ष्म विन्यास होताहै। अभ्यास-वश उन्नाभ चरित्र, महत् भाव, सुकुमार कल्पना में तन्मय होने की योग्यता विकसित होती है। इस प्रकार व्यक्ति 'स-हृदय' भी होता है, 'सामाजिक' भी। मनोविज्ञान की शब्दावली में कह सकते हैं, कि काव्यानुशीलना-

ध्यासी का व्यक्तित्व भी विशिष्ट अभिसंधन-प्रक्रियावश (कन्डीशनिंग) उसी रूप में परिणमित होता हुआ प्रकल्पित किया गया है, जिस रूप में रिचर्ड्स और लेविस ने कवि के 'व्यक्तित्व' के विकास का निर्देश किया है। भट्टतौत के 'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः' कथन द्वारा भी इसकी सम्पुष्टि होती है।[४८] राजशेखर ने तो दोनों को एक ही प्रतिभा के दो रूप बतलाया—'सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च।' कवि कारयित्री प्रतिभा के धनी हैं, सहृदय भावयित्री के—कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भावकश्च कविः।[४९] अन्ततः रसास्वाद के क्षणों में व्यक्तित्व के द्वन्द्व, उसके मिथ्यारूप, तिरोभूत-से होते हैं।

सहृदय में काव्य-रस की अभिव्यक्ति तभी होगी जब वह 'काव्य' में तन्मयीकृत हो जाय। विलियम एम्पसन[५०] के कथनानुसार आस्वादक को भी कवि के सदृश सृष्टि-रचना की प्रक्रिया में तन्मय होना पड़ता है। जैक् मैरिटेन के शब्दों में—जिस प्रकार लोक की वस्तु से तन्मय होकर ही कवि ने काव्य की रचना की थी, उसी प्रकार काव्य की सौन्दर्यानुभूति अथवा उसकी पुनराभिव्यक्ति आस्वादक में तभी होगी जब वह काव्यवस्तु से एकमेक हो जायगा। आलोचना रचना-प्रक्रिया की ही पुनरावृत्ति-सी है।[५१]

सहृदय और भावक अथवा आलोचक लोक के ही प्रतिनिधि और प्रतिरूप हैं। इस प्रकार लोक से उद्भूत काव्य-बिम्ब पुनः लोक को समर्पित होता चलता है। इस समर्पण में काव्य-बिम्ब भी अनेक रूपों-रंगों की आभाओं से मंडित होकर उत्तरोत्तर बहुवर्णी भी होता चलता है।

काव्य : अविचारित रमणीय ?

नाट्य के सम्बन्ध में भरत मुनि का उद्घोष है—

> न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
> ना सौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥ १/११६

उसी भाँति अभिनवगुप्त ने बतलाया है कि काव्य बुद्धि को विवर्धित करता है[५२]। परन्तु, फिर भी प्राचीन काल से ही नाट्य एवं काव्यादि कलाओं पर नाना प्रकार के आक्षेप होते रहे हैं। वैदिक कर्मकांड के उपासकों ने तो काव्य को नीति और धर्म के विरुद्ध एवं उन्मार्गगामी बतलाकर घोषित किया था—काव्यालापांश्च वर्जयेत्। तार्किक, नीतिवादी

शाब्दिक आदि ने भी काव्य को मिथ्या भ्रम उत्पन्न करने वाला तथा असत्य, अनर्गल और अश्लील वर्णन द्वारा अनीति का प्रचार करने वाला बतलाया है। उनका यह भी कहना है कि काव्य की तर्क-पद्धति दूषित रहती है और शब्द-प्रयोग भी अशुद्ध रहता है। यूनानी दार्शनिक प्लेटो यद्यपि स्वयं प्रतिभा-सम्पन्न मर्मी, सहृदय और तत्वज्ञ थे, तथापि उन्होंने भी अपने 'आदर्श राज्य' से कवि-जनों का बहिष्कार किया था। उनका कहना है कि कवि मूल प्रत्यय की प्रतिकृति-रूप प्रकृति की नकल करते हैं। साथही वे भ्रांति भी उत्पन्न करते हैं, देवताओं को मानववत् और मनुष्यों को देववत् चित्रित करते हैं। फिर वे इन्द्रियरागों को पुष्ट करते हैं। इससे तो राज्य में आमोद-प्रमोद और दुःखादि की भावनाओं का ही प्राबल्य रहेगा, जिससे हृदय कोमल और दुर्बल होता है। 'इस कारण ऐसे प्रतिकृतिकार सज्जन आयें, तो हमलोग उनके चरणों पर गिरेंगे, पूजन करेंगे, क्योंकि वे मृदु, पुनीत और विमुग्धकर हैं; किन्तु साथ ही, हम उन्हें यह भी बता देंगे कि हमारे-जैसे राज्य में उनका रहना वर्ज्य है; यहाँ के नियम उन्हें रहने का अधिकार नहीं देंगे।'[५३] भारतीय नीतिज्ञों का भी कथन है, 'असदुपदेशकत्वात् तर्हि नोपदेष्टव्य काव्यम्।' काव्य में अशोभन, नीतिविरुद्ध विगर्हणीय तत्त्व रहते हैं। अतः काव्य का उपदेश वर्ज्य है।

कलाकारों, नाट्यकारों आदि के साथ ज्ञान के अन्य तत्त्वज्ञों का वैमनस्य प्राचीन काल से रहा है। कालान्तर में कवियों से उनका विरोध इस अर्थ में अपेक्षया अल्प हुआ कि काव्यकृति दृश्य प्रत्यक्षाश्रित अन्य कलाओं की तुलना में उतनी ठोस और मूर्त्त नहीं होती। वह 'बिम्ब' ही प्रस्तुत करती है। फिर वह शब्दार्थ पर आश्रित होने के कारण मानसी सृष्टि है। परन्तु, काव्य का विरोध दूसरे कारणों से प्रबलतर भी हुआ। काव्य शब्द-द्वारा अभिव्यक्त होता है और शब्दानुशासन वैयाकरण का क्षेत्र है। काव्य में चिंतन-प्रवाह है और उसमें एक संगति भी है। चिंतन का क्षेत्र तर्क और न्याय का है। काव्य में जगत् के ही अर्थ है और जगत् के तत्वद्रष्टा और उसके प्रयोजन के नियामक नीतिवादी दार्शनिक आदि हैं। इस प्रकार वैयाकरणों, नैयायिकों और नीतिवादियों से कवि का वैर चला। आगे चल कर मीमांसकों से भी (ध्वनिवाद के प्रवर्तन के उपरान्त) वैमत्य हुआ और आज के युग में विज्ञान से उसकी मुठभेड़ है।

इस प्रकार के विरोध के कारण व्याकरण और न्यायादि शास्त्रों के पंडितों को प्राचीन काव्य-शास्त्री भामह आदि ने आड़े हाथों लिया है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी इन पंडितों की खबर ली है–शब्दार्थ शासन ज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते। वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्। और क्षेमेन्द्र ने बतलाया है कि किसी शब्द-पंडित या तर्क-पंडित को गुरु मत बनाओ; वे तो काव्य समझ ही नहीं सकते—न शाब्दिकं केवलतार्किकं वा कुर्वीत गुरुं सूक्तिविकासविघ्नम्॥ भामह ने तो शास्त्र से काव्य को बीस ही सिद्ध किया है। अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' के मंगलाचरण के अनन्तर ही वे कहते हैं–चतुर्विध पुरुषार्थ एवं कलाओं में निपुण तो सत्काव्यनिर्माण बनाता ही है, यह तो शास्त्र भी करता है, पर काव्य उससे अधिक भी लाभ कराता है–'करोति कीर्तिप्रीति च'। सत्कवित्व न हो, तो वाणी या वाग्विदग्धता का क्या मूल्य? शास्त्र का ज्ञान तो गुरु के निकट पढ़ कर कोई भी जड़बुद्धि प्राप्त कर सकता है, काव्य तो कोई विरला प्रतिभावान् ही रच सकता है। 'काव्यशब्द-शुद्धि' में उन्होंने शास्त्र से काव्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर वैयाकरण को बतलाया है कि व्याकरण-स्थित शब्दसाधुत्व और काव्यगत शब्द-साधुत्व में कितना अन्तर है। 'पश्यति' और 'विलोकयति' दोनों व्याकरण की दृष्टि से समान शुद्ध हैं; पर काव्य की दृष्टि में जहाँ 'पश्यति' शुद्ध होगा, वहाँ 'विलोकयति' शुद्ध नहीं होगा। व्याकरण में शब्द की शुद्धि सुप्तिङ्व्युत्पत्ति से सम्बद्ध है, किन्तु काव्य में शब्द-शुद्धि उस शुद्धि के ऊपर; अर्थ की व्युत्पत्ति, अर्थात् वक्रोक्ति की दृष्टि से जाँची जायगी। यह वक्रोक्ति काव्य का महत्वपूर्ण तत्त्व है–उसीसे सर्वत्र काव्यार्थ का विभावन होता है, उसके बिना अलकार का अलंकारत्व क्या? [५४] यह वक्रोक्ति ही समस्त काव्यार्थ को 'नाट्य' की भाँति प्रत्यक्षवत् प्रस्तुत करती है। वक्रोक्ति को लेकर भामह को तार्किकों से उलझना पड़ा। इस हेतु उन्होंने 'काव्यन्यायनिर्णय' परिच्छेद (पांचवाँ) लिख कर बतलाया है कि काव्य शास्त्र को महत्व देता है, उसके तत्त्व को उचित समझता है। पर काव्य में उतना ही न्याय नहीं है। काव्य-न्याय शास्त्र-न्याय से भिन्न है, काव्यप्रत्यक्ष शास्त्रप्रत्यक्ष से पृथक् है; काव्यानुमान शास्त्रानुमान से अलग है। काव्य का न्याय लोकाश्रयी है। लोकानुभव की दृष्टि से आकाश नीला चित्रित होगा; नदियों के जल का भी स्थिर होना कहा जायगा। इस प्रकार भामह ने वैयाकरण और नैयायिक दोनों के सम्मुख

काव्य की श्रेष्ठता प्रतिपादित की और शास्त्रों के समान काव्य को प्रतिष्ठित कराया। दूसरा काम उन्होंने नाट्य की अभिनेयता को वक्रोक्ति की प्रकल्पना में समाहित कर काव्यार्थ की स्वभिनीतता का आख्यान किया, जिससे उत्तरवर्ती साहित्यविवेचकों ने (क) नाट्य को काव्य में अन्तर्भुक्त करने, एवं (ख) वक्रोक्ति की महिमा सिद्ध करने की प्रेरणा ली।

परन्तु, वक्रोक्ति नैयायिक और वैयाकरण को स्वीकृत न थी। वक्रोक्ति के मूल में है, दण्डी द्वारा निर्दिष्ट शब्द को गौणवृत्ति—तेऽमी प्रयोगमार्गेषु गौणवृत्तिव्यापाश्रयाः। अत्यन्त सुन्दराः। (दण्डी-१/६५) दण्डी ने एकवस्तु के धर्म का अन्यत्र आरोप; समाधिगुण माना है, यथा—'कुमुद मुंद रहे हैं, कमल उन्मीलित हो रहे हैं' में आंख के मुंदने-खुलने की क्रिया का अध्यास कुमुद-कमल पर हुआ है। अध्यास है, अन्यत्र अन्य धर्मारोप। इस अध्यास का ही भाषिक नाम है लक्षणावृत्ति-व्यापार। यही शब्द की गौणवृत्ति है। आगे चल कर वामन और उद्भट ने इस गौणवृत्ति-व्यापार का, अर्थात् लक्षणा का महत्त्व विवेचित किया। वामन की दृष्टि में वक्रोक्ति 'सादृश्याल्लक्षणा' हुई। और उदाहरण भी दण्डी का ही 'उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवं च निमिमील मुहूर्तात्' दे कर उन्होंने यह बतलाया कि 'अत्र नेत्रधर्मौ उन्मीलन-निमीलने सादृश्याद् विकासंकोचौ लक्षयतः।' इस प्रकार वक्रोक्ति के स्थान पर 'लक्षणा' मान कर उद्भट और वामन ने जब काव्य-विवेचन किया, तो नैयायिकों और वैयाकरणों ने लक्षणा का घोर विरोध किया। नैयायिकों के द्वारा लक्षणा अनुमान में और वैयाकरणों के द्वारा लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ में अन्तर्भुक्त माने जाते थे। काव्यविदों ने मीमांसा का आश्रय लिया। बाद में आनन्दवर्धन ने जब ध्वनि-सिद्धान्त का आख्यान किया, तो मीमांसकों के द्वारा विरोध हुआ। उनके उत्तर में ही आनन्दवर्धन की 'व्यंजना' प्रस्थापित हुई।

भामह के बाद उद्भट ने 'काव्यालंकार सारसंग्रह' में शब्दव्यापार और काव्यन्याय पर अपना अभिमत दिया है। काव्यन्याय के संबंध में उनका मंतव्य है कि अर्थ के दो विभाग हैं — विचारितसुस्थ और अविचारित रमणीय। शास्त्र का अर्थ है विचारित सुस्थ और काव्य का है अविचारित रमणीय। विचारित सुस्थ में कार्यकारणादि विवेक है, अविचारित में कार्यकारणादि विवेक के लिए विशेष स्थान नहीं; मात्र रमणीयता उसकी विशेषता है। यह एक महत्वपूर्ण विभाजन है; जिसका भेदक है विचार। अतएव काव्यगत

विचार और शास्त्रगत विचार के सम्यक् विवेचन के लिए 'विचार' और 'चिंतन-प्रक्रिया' पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

विचारणा और चिंतन-प्रक्रिया—

विचारशीलता मनुष्य की परिभाषा के लिए विशिष्ट और अनिवार्य गुण मानी गयी है। मन और द्रव्य (मैटर) में अन्तर ही यह माना गया है कि मन में विचारणा की क्षमता है। सुश्रुत-संहिता के अनुसार अन्तः करण के विषय में कहा गया है—तस्यसुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानौ उन्मेष-निमेषौ बुद्धिः मनः संकल्पो विचारणा स्मृतिः विज्ञान अध्यवसाय: विषयोप-लब्धिश्च गुणाः (शा० स्था० अध्याय १ १७)। मनोविज्ञानी हम्फ्री ने बतलाया है कि विचारणा किसी भी प्राणी (चाहे वह मानव हो या पशु) के अनुभव में घटित होनेवाली वैसी प्रक्रिया है जो समस्या का सामना करने, पहिचानने या हल करने में घटित होती है[५५]। जान डिवी ने भी इसे स्वीकार किया है, पर कामचलाऊ रूप में। वस्तुतः, विचारणा अनेकार्थी शब्द है जिसमें निर्बंध उड़ानों, दिवास्वप्नों, अस्पष्ट धारणाओं आदि की अनैच्छिक-ऐच्छिक एवं सप्रयोजन क्रियाएँ भी आती हैं, तो साथ-साथ स्मरणादि से संबंधित क्रियाएँ भी शामिल हैं। अनिश्चित निर्बाध विचार-तरंगों और सुनिश्चित योजनाबद्ध स्मृतियों के साथ ही साथ विचारणा में वह क्षेत्र भी शुमार कर लिया जाता है जिसे कल्पना कहते हैं। चौथा अर्थ है, विचारणा का क्रिया-सम्पादन, अथवा व्यवहार, या तत्संबंधी उचित मनोदशा या वृत्ति का समायोजन। और पाँचवां अर्थ है, विश्वास, आस्था, सिद्धान्त आदि। इन सबसे पृथक् छठा अर्थ है, तर्कणा, मनन, चिन्तन आदि बौद्धिक क्रियाओं से सम्बद्ध अर्थ। अतएव 'विचारणा' में अर्थ के नाना पटल हैं।

समस्त 'विचारणा' पर दृष्टिपात करें, तो स्वतः प्रतीत होगा कि यह एक जटिल प्रक्रिया है। आनुवंशिक विशिष्टताओं के चेतन-अचेतन लक्षणों के साथ-साथ शिक्षणादि से भी इसका गहरा सम्बन्ध है। अतएव, जन्मग्रहण से ही विचार करने की प्रक्रिया अनायास प्रारंभ हो जाती है एवं वह दिनानुदिन उत्तरोत्तर परिवर्तनशील एव जटिल होते जानेवाले वर्तमान परिवेश और विकासशील मन के बीच होने वाली नाना क्रियाओं-

प्रतिक्रियाओं के कारण अभिनियोजित होती चलती है। फलतः, विचारणा आनुवंशिक संस्कारों एवं अवचेतन, अचेतन, चेतन प्रक्रियाओं तथा अभिसंधान आदि से प्रेरित होती रहती है। प्राथमिक विचार सामान्यतः साधारण आसंगों, सहचार-सम्बन्धों आदि के स्थापन से प्रारंभ होते हैं। तदुपरान्त वे स्थानान्तरण, सामान्यीकरण आदि की वृत्तियों से प्रेरित होकर सामान्य प्रत्ययों एवं तत्सम्बन्धी शब्दावली के सहारे उत्तरोत्तर प्रशस्त और जटिल होते चलते हैं।

अन्य क्रियाओं की भाँति विचारणा भी, बहुधा, मानसिक लक्ष्य, सुस्थिति एवं तत्परता (सेट) से प्रेरित होती है। इस तत्परता की दृष्टि से विचारणा में मस्तिष्क मूर्त्त वस्तुओं, गुणों, रंगों आदि की ओर अमूर्त्त, अरूप आदि की तुलना में अधिक आसानी से खिंचता है। उनका प्रभाव भी दीर्घकालीन पड़ता है। मनोविज्ञानियों ने — ई० हाफमैन एवं जे० कैसेनिन आदि के विशेषतो परीक्षण के द्वारा — यह भी निर्धारित किया है कि कुछ व्यक्ति प्रत्यक्षद्रष्टा होते हैं, जो मूर्त्त के प्रति तत्पर होते हैं, तो कुछ प्रत्यक्षस्रष्टा होते हैं, जो मूर्त्तों में भी अमूर्त्त की एकसूत्रता की कल्पना या दर्शन कर लेते हैं[५६]। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि मानव-मस्तिष्क की दो कोटियाँ हैं : (१) मूर्त्त दर्शक की एवं (२) अमूर्त्त धारक की। मूर्त्त दर्शक को अमूर्त्त नाद, स्वर, संगीत-लहरी आदि में भो, जैसा कि पूर्व पृष्ठों (६९-७४) पर निर्दिष्ट किया गया है, छवियों, चित्रों, गोचर बिम्बों की प्रतीति-सी होगी और अमूर्त्त का भावक स्थूल मूर्त्ति देख कर भी मात्र प्रत्ययों का प्रत्यक्ष करेगा।

विचारणा और प्रतीकात्मकता : —

मनोविज्ञानी जे० पी० गिल्फोर्ड[५७] के अनुसार विचारणा प्रतीकात्मक व्यापार है। प्रतीकात्मक, इसलिये कि विचारणा में मानस-व्यापार वास्तविक वस्तुओं के सहारे न चलकर उनके स्थानापन्न धारणा या बिम्ब के सहारे प्रेरित होता है। विचारणा की आकृति (कंटेंट) में प्रत्यक्षीकृत पदार्थ के स्थान पर उनके मानस-प्रतिरूप ही रहते हैं। यही नहीं, सारे मानस-प्रस्थानीय एवं मनोदैहिक व्यापार भी प्रतीकात्मक रूप में, अर्थात् संक्षेपीकृत

प्रतिरूपता में घटित होते हैं। सामान्य व्यवहार में प्रतिक्रिया का क्रम सामान्यतः है—उद्दीपन→प्रत्यक्ष→प्रतिक्रिया। नीचे के रेखांकन में यह
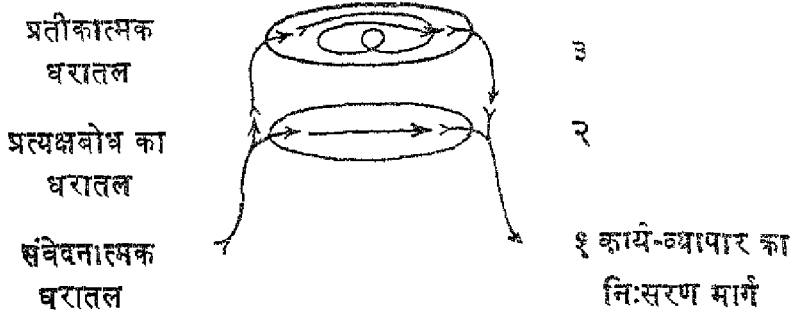
(प्रत्यक्षीकरण-प्रक्रिया के सामान्य धरातल पर अध्यारोपित प्रतीकात्मक धरातल की प्रक्रिया)

'संवेदनात्मक धरातल' और 'कार्य-व्यापार के निःसरण मार्ग' में निदर्शित है। किन्तु प्रतीकात्कम व्यापार में उद्दीपन के प्रत्यक्ष के बाद किसी कारणवश प्रतिक्रिया रुद्ध सी हो जाती है; तब रुद्ध प्रतिक्रिया संवेदनात्मक धरातल से ऊपर उठकर प्रतीकात्मक धरातल पर आती है, और विचारणा की प्रक्रिया चल पड़ती है। कार्य-व्यापार तब ३, २, १ के ऊपरिनिर्दिष्ट क्रम से होता है। फलस्वरूप सामान्य प्रक्रिया में घटित होने वाली सारी क्रियाएँ प्रतीकात्मक रूप से अभिनियोजित होती हैं। सारांशतः, विचारणा

(१) मूर्त्त प्रत्यक्ष वस्तु के स्थान पर उसके मानस प्रतिरूपों के सहारे चलनेवाली प्रक्रिया है, तथा

(२) व्यक्ति को प्रत्यक्ष वस्तुओं से उद्दीप्त आंगिक, मांसपेशीय, स्नायविक, ऐन्द्रिय एवं मानस प्रतिक्रियाओं के स्थान पर उनकी पूर्वकालीन प्रतिक्रियाओं के सूक्ष्म प्रतिरूपों में, अर्थात् प्रतीकात्मक प्रतिक्रियाओं में अभिनियोजित करती है।

इस प्रतीकात्मकता के कारण विचारणा मनोदैहिक स्थूल प्रतिक्रिया में लाघव लाती है; श्रम से मुक्ति देती है। इससे विचारशील प्राणी को संरक्षा और अधिजीवन (सर्वाइवल) का अवसर मिलता है।

प्रतीकात्मक व्यापार : बिम्ब, प्रतीक आदि :—प्राणी, विशेषतः मनुष्य अपने अनुभव का कुछ अंश भविष्य की प्रक्रियाओं के लिये, जैसे, अंकित कर लेता है। इस प्रकार के प्रत्यंकन के अनेक प्रकार हैं। इन

समस्त प्रत्यंकनों को समग्रतः मनोदैहिक 'प्रतीक' माना जा सकता है। मनोदैहिक संस्थान में ऐसे प्रतीक अनेक हैं और निरन्तर बनते भी रहते हैं। वैसा ही एक प्रतीक मांसपेशीय तत्परता (मस्क्यूलर सेट) है। इनसे भी कुछ विशिष्ट प्रतीक 'बिम्ब' कहलाते हैं। 'बिम्ब' अनुभूत पदार्थों (उद्दीपकों) के मानसिक पुनरुद्भव अथवा प्रतिकृतियाँ हैं। साधारणतः वे वस्तुओं के प्रत्यक्ष-गृहीत रूपों से क्षीण और अपूर्ण होते हैं। परन्तु कुछ लोगों के लिए, यथा मूर्त द्रष्टाओं के लिए, वे बड़े स्पष्ट और प्रखर होते हैं, तथा उनके लिये वे वास्तविक सत्ता रखते हैं। दूसरे प्रकार के लोग, अर्थात् अमूर्त चिंतक, उनके स्थान पर या तो अन्य प्रतीकों का जैसे मांसपेशीय तत्परता का, अथवा प्रत्ययों और भाषिक विचारों का उपयोग करते हैं। अमूर्त चिंतन करने में, जैसे गणितादि की समस्याएँ हल करते समय बिम्बात्मक चिंतन से उलझन भी बढ़ सकती है। दर्शन, राजनीति आदि विषयों में चिंतन शाब्द होकर विस्पष्ट एवं सुकर होगा, बिम्बात्मक होकर नहीं।

'प्रत्यय' भी प्रतीक है। प्रत्यय वस्तु की जातिगत विशिष्टता का प्रतीक है। अनेक गौओं के प्रत्यक्ष से 'गोत्व' की जो जातिगत धारणा बनती है, वह 'गो' का प्रत्यय है। प्रत्यय में दो प्रतिक्रियाएँ होती हैं। १—विश्लेषण एवं सूक्ष्मीकरण की, तथा २—सामान्यीकरण की। विश्लेषण और सूक्ष्मीकरण के द्वारा वस्तु का वैसा विशिष्ट लक्षण विश्लिष्ट किया जाता है, जो उस जाति या वर्ग में सामान्य हो। सामान्यीकरण द्वारा उस लक्षण या पहलू को उस जाति या वर्ग के सभी सदस्यों में विशद किया जाता है। यही नहीं उसमें भविष्य के सम्भावित सदस्यों के लिए भी संवाहकत्व रहता है। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि 'प्रत्यय' का मुँह बंद नहीं रहता है। वह रूढ़ एवं दृढ सत्ता नहीं, सतत वर्धमान मानस-संरचना है।

एक और प्रकार का प्रतीक भी विकसित हुआ है, जो मनुष्य के लिये अतिसामान्य और अत्यधिक उपयोगी है। वह है भाषिक प्रतीक। भाषिक प्रतीक 'विचारणा' के बहुलांश के भारवाहक हैं। भाषिक प्रतीकों के कारण विचारणा सुगमता से संप्रेष्य होती है। भाषिक चिन्तन सामाजिकता से सम्बद्ध है।

विचारणा और भाषा :—

मनोवैज्ञानिक अर्नेस्ट आर० हिलगार्ड एवं हेडेगार्ड दोनों ने अपने-अपने ग्रंथों में वैज्ञानिक आइन्स्टाइन के विचार उद्धृत किये हैं कि वे शाब्द

चिन्तन कभी-कभी ही करते है, "विचार स्वतः आते हैं और बाद में वे शब्दों में बंधते हैं, फिर व्यक्त किये जाते हैं।[५८] दूसरी ओर विख्यात मनोविज्ञानी ई० बी० टिचनर हैं, जो अपनी पुस्तक[५९] में लिखते है—'मेरा मन है बिम्बमय..... मैने बराबर बड़े पैमाने पर बिम्बों का व्यवहार किया है और अब भी प्रभूत बिम्ब संजोए हूँ, क्योंकि आशंकित रहता हूँ कि उम्र पकने के साथ-साथ आदमी भाषिक कोटि में जाने लगता है। इसलिये उन्हें उपस्करों की भांति पुनर्निर्मित करता रहता हूँ। मै उनका रेखाक्रम, रंग, रूप, स्पष्ट रूप में नही बतला सकता, परन्तु वे मात्र ज्यामितिक नहीं हैं; सफेद पट पर काले रेखांकन ही नही है। उनमें कुछ मटमैले लाल रंग के हैं और उनके कुछ कोण भी संकेतित होते हैं......सामान्य व्यवहार में मेरे मन को चित्रप्रदर्शनी ही कहा जा सकता है, परन्तु यह प्रदर्शनी पूरे किये हुए चित्रों की नहीं है, बल्कि प्रभाववादी चित्र-प्रारूपों की है।'

ये दोनों विचार संसार-प्रसिद्ध मनीषियों के हैं, और एक दूसरे के विपरीत हैं। यह प्रश्न प्राचीन काल से ही दार्शनिकों-मनोविज्ञानियों के बीच विवाद का विषय रहा है कि विचारणा मूर्त्त होती है या अमूर्त्त। वुडवर्ड ने[६०] इस विवाद की संक्षिप्त विवरणिका प्रस्तुत की थी। परन्तु, उससे कुछ सिद्ध-असिद्ध नहीं होने के कारण, वह समस्या ही वन्ध्या समझी गयी। निर्बिम्ब विचारक, आइन्स्टाइन की भांति (रिचर्ड्स, आग्डेन आदि भी इसी कोटि में हैं।) अमूर्त्त धारक की कोटि में आयेंगे, और सबिम्ब चिंतक, टिचनर आदि की तरह मूर्त्त दर्शक की कोटि में। मनोविज्ञानी राइल ने बताया है कि मनुष्य अक्सर ऐसे विचार भी करता होता है, जिनमें शब्द-व्यवहार का प्रमाण नहीं मिलता। उन्होंने यह भी ध्यान दिलाया है कि विशिष्ट अवसरों पर बड़बड़ाना भाषण नहीं, चिंतन ही है। फिर चिंतन में भाषा ही एकमात्र अपेक्षित तत्व नही है। चिंतन, अधिकांशतः, मन में विराजमान शब्दों के प्रकटीकरण की प्रक्रिया उस मात्रा में नहीं जिस मात्रा में शब्द-संधान में अकुलाने, शब्द-प्राप्ति में सफल अथवा विफल होने की प्रक्रिया है[६१]। प्लेटो की तो यह बात ठीक है कि चिंतन में मनुष्य अपने आप से बातें करता होता है, और वाटसन की भी धारणा ठीक है कि चिंतन मूक भाषण है, परन्तु समस्त विचारणा भाषिक नहीं होती। भर्त्तृहरि ने उसके अक्रम-अस्फुट रूप को पश्यन्ती में प्रकल्पित किया था। मनोविज्ञानियों ने भी प्रयोगादि द्वारा सिद्ध कर यह बतलाया है कि विचारणा की प्रक्रिया शाब्द

या भाषिक स्फुटता के बिना भी आरंभ हो जाती है। विचारित तत्व को बहुधा शब्द बांध नहीं पाते। प्रेषण के लिये अवसर शब्द असमर्थ प्रतीत होते हैं, और प्रेषण के समय जो हम प्रेषित करते होते हैं, वे उन वाक्यों-शब्दों में निबंधित नहीं होते, जिनमें हम प्रेषण करते होते हैं, अपितु प्रेष्य अस्पष्ट बिम्बों, धारणाओं के धुँधलके में अनुद्भूत या ईषदुद्भूत रहता है। विचारणा वास्तव में अन्वेषण, सन्धान, संघर्ष की ओर झुका हुआ गूढ़ और अपेक्षया अधिक जटिल व्यापार है और शब्द-व्यवहार अथवा कथन-भाषणादि की भांति वह धरातल पर तैरने की क्रिया नहीं है।

परन्तु, शब्द या भाषा इसलिये महत्त्वपूर्ण हो उठती है, कि उससे विचारित तत्त्व का या अनुभूयमान अमूर्त्त भाव या प्रत्यय का बिम्बन-मूर्त्तन संभव है। उससे तज्जन्य तत्परता में दृढ़ता तथा एकरूपता आती है जिसमें क्रिया-व्यापार नियमित होता एवं दिशा-निर्देश प्राप्त करता है[६२]। मानव-मस्तिष्क के विकास में भी भाषा-व्यवहार-क्षमता का योगदान है। उससे ही उसके कार्य-कलाप में सामुदायिकता का भाव आया है[६३]। भाषा की प्रतीक-पद्धति ने हथियार चलानेवाले और औजार-पुर्जे की तरह अनगढ़ व्यवहार करनेवाले द्विपदों को सुघड़ मानव बनाया है।[६४] संस्कृति के दो मौलिक तत्त्वों में भाषा-व्यवहार और लेखन-प्रणाली हैं, जो जीवन-जगत् की समस्त क्रिया-प्रणालियों से घने रूप में सम्बद्ध हैं। भाषा ही विचारणा का सम्बन्ध पिछले अनुभवों से जोड़ती है, क्योंकि शब्द पूर्व अनुभूत का प्रतीकन करते हैं। साथ ही साथ भाषा आगे के लिए तत्पर भी बनाती है। अतएव भाषा ने मनुष्य को गत, वर्त्तमान और अनागत के भावन और संचालन की क्षमता दी है।[६५] उससे सातत्य का भाव विकसित हुआ है और काल की सुदीर्घ अनन्त कल्पना संभव हो सकी है। बर्गसाँ के अनुसार भाषा की शक्ति सामान्यीकरण की विशिष्टता ही नहीं, अपितु यह भी है कि वह गत्वर है। उसमें अद्भुत बहाव है, उड़ चलने की क्षमता है। शब्द ने ही प्रत्यक्ष को वस्तु-वस्तु में स्थानान्तरण-क्षमता दी, उसे स्मृत रूप देने में, बिम्ब-रूप देने में और उसके अमूर्त्त भाव-विचार तक की धारणा बनाने में योगदान किया है।[६६] शब्द-ब्रह्म (लोगोस पोयटिकोस) द्वारा बाह्य जगत् के नाटक का दृश्य हम अपने अन्तःकरण में पुनः रचते हैं। कथन या भाषण में उस रचित नाटक का प्रकटीकरण करते हैं। इस प्रकार, 'वाक्' कलासृष्टियों में सबसे महान् तत्त्व है—यह सृष्टि की ऋचा है[६७]। पाश्चात्य मनीषियों के इन विचारों के

द्वारा हम वैदिक 'वाक्' तत्व और भर्त्तृहरि के शब्द-ब्रह्म के इतने समीप आ जाते हैं कि उनकी उपपत्तियाँ आवृत्त-सी होती मालूम पड़ती हैं।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।

(वाक्य पदीयः ब्रह्मकाड ।।१२४)

विचारणा के प्रकार और द्विध्रुवीयता :—विचारणा के मूलतः दो प्रकार माने जा सकते हैं—

(१) सहचारी सम्बंधों से सम्बद्ध चिंतन—जिसके दो भेद हैं—[६८]
(क) स्वछन्द, यथा—दिवास्वप्न, स्वान्तः चिन्तन आदि;
(ख) अनुशासित, यथा—समस्यापूर्त्ति, भाषण, श्रवणादि से सम्बद्ध चिंतन;
(२) निर्दिष्ट चिंतन—जिसके दो भेद हैं :—
(क) आलोचनात्मक, यथा—तार्किक चिंतन, मूल्यनिर्धारणादि;
(ख) सर्जनात्मक, यथा—अनुसंधानादि से सम्बद्ध चिन्तन एवं काव्यादि से सम्बद्ध सर्जनात्मक चिन्तन।

मनोविज्ञानी विन्नाके की उपलब्धियों के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि चिंतन दो ध्रुवों के बीच दोलायमान क्रमिक प्रक्रिया है। ये ध्रुव हैं (१) यथार्थ एवं (२) कल्पना के। यथार्थ चिंतन विषयनिष्ठ, वैज्ञानिक या तार्किक और तटस्थ चिंतन है। कल्पना-प्रधान चिंतन आत्मनिष्ठ, स्वकेन्द्रित, भावात्मक; एवं वैयक्तिक अभिप्रेरणाओं से रंजित चिंतन है। यथार्थ चिंतन विषयनिष्ठत्व के कारण स्वाधीन उतना नहीं, जितना कल्पना-प्रधान चिंतन है। कल्पना-प्रधान चिंतन में विचारक इन्द्रियों आदि से प्राप्त समस्त प्रत्यक्षों पर अपने प्रयोग करने को स्वतंत्र है। वह धारणाएँ; प्रत्यय, मंतव्य, बिम्ब, संकेतादि के निर्माण के लिये मुक्त-सा है। सामान्यतः चिंतन प्रथम ध्रुव की सुसंगति, व्यवस्था और अनुशासित निर्देशादि से सम्बद्ध हो कर ठोस और गरिमामय होता है, तो दूसरे ध्रुव की कल्पनाशीलता, निर्बंध उन्मुक्तता और वैयक्तिक मानवीय संस्पर्शों से युक्त हो कर उतना ही चमकदार और चुम्बकीय होता है। सामान्य चिंतना में इन दोनों की विशेषताओं के मिश्रण के उदाहरण ही अधिक मिलते हैं [६९]।

चिंतन-प्रक्रिया में द्विध्रुवीय दोलन के अतिरिक्त केन्द्रण और प्रसारण की भी दो गतियाँ हैं जिनके कारण चिंतना में क्रमशः निश्चयात्मकता (यथातथ्यता) एवं विस्तार के गुण आते हैं।[७०]

भाव-प्रेरित अथवा संवेग-संचालित चिन्तन सामान्य चिंतन से भिन्न, विशिष्ट स्वरूप का हो जाता है। आवेश के कारण चिन्तन-धारा उद्वेलित और गदली भी हो जाती है। परन्तु, संसार के श्रेष्ठ चिन्तनकण किसी मान्यता को प्रमाणित करने की या समस्या के निदान प्रस्तुत करने की भावाभिभूत संचेष्टा ही की उपलब्धि है। भावावेश विवेक के बिना अंधा है, विवेक भावहीन हो कर निष्प्राण है···विचार में भाव या इच्छा की ऊष्मा न हो तो गति ही न आये। भाव या इच्छा में विवेक की ज्योति न हो तो प्रकाश ही न मिले। यह भी स्मरणीय है कि आवेश तभी तक आवेश है, जब तक उसका सम्यक् बोध या ज्ञान न हो। समस्त इच्छाएँ आविष्ट हैं, यदि उनके मूल में अल्पज्ञान है; परन्तु वे गुण हैं, यदि उनके मूल में सम्यक् बोध है[७१]।

जिसे वस्तुनिष्ठ या '१ + १ = २' कोटि का, विषयगत चिंतन कहते हैं, वह भी भावाविष्ट चिंतन हो उठेगा यदि उसका प्रतिवाद कर हम कहे कि '१' सत्ता नहीं, क्योंकि संख्या है, वस्तु नहीं; और वस्तु-व्यतिरिक्त संख्या काल्पनिक है या भ्रम है, अतएव भ्रम होकर शून्य है और शून्य का शून्य से योग भ्रान्ति है; अथवा यह कहे, कि '१' यदि वस्तु का निर्देशक प्रतीक है तो १ वस्तु + १वस्तु = २ वस्तुएँ सदा सर्वत्र सत्य नहीं, क्योंकि प्रत्येक आँख एक-एक बिम्ब मानस-पटल पर प्रस्तुत करती है, फिर भी '१' वस्तु + १ वस्तु = २ वस्तुएँ न हो कर एक ही वस्तु दृश्य होती है; अथवा द्रष्टा १ + दृश्य १ का योग कभी एक, कभी अनेक होता है, आदि, तो इस वितंडा से वक्ता की वस्तुनिष्ठ चिंतनप्रक्रिया की मंद शीतल—धारा में उफान और उष्णता आ जायगी। अत:हम डा॰ नगेन्द्र के शब्दों में कह सकते हैं—'ज्ञान और भाव वास्तव में एक दूसरे के विपरीत न हो कर चेतना के दो संस्थान हैं। ज्ञान पहला संस्थान है, भाव दूसरा ··· कभी तो ऐसा होता है कि कोई प्रतीक-विशेष हमारी चेतना में किसी वस्तुका ज्ञान मात्र ही जगा कर रह जाता है और कभी ज्ञान के आगे उसका भावन भी करा देता है[७२]। काव्यमुख से किये गये इस विवरण में ज्ञान और भाव के अनुक्रम पर जीव-विज्ञानादि की ओर से शंका हो सकती है, पर उनकी दोलायमान प्रकिया में उससे अन्तर नहीं आता। ज्ञानात्मक यथार्थ-चिंतन में हमारी ताटस्थ्य की दृष्टि और कल्पनामय भावात्मक चिंतन में हमारी तादात्म्य की, व्याप्ति की विशेषताएँ रहती हैं। प्रवृत्तियाँ आदिम भूतोन्मुखी प्रवृत्तियाँ और सामाजिक सांस्कृतिक

मानवोन्मुखी वृत्तियों के बड़े जटिल संघटन से बनी है। मानव का अतिजैव जीवनी-संस्थान समाज और संस्कृति की विराट शक्ति द्वारा गढ़ा जा रहा है, जिसमें (१)विषय (२)संस्कार की प्रविधि एवं (३) प्रयोजन-प्रेरक धारणाएँ, तीन तत्व हैं। ज्ञान और भाव की द्विध्रुवीयता में ताटस्थ्य और तादात्म्य की वृत्तियाँ संस्कृति के उपर्युक्त तीनों तत्वों से आकृति और दोलन-गति, आदि प्राप्त करती है।[७३]

विचारणा के संबंध में मनोविज्ञान के पंडितों की इन उपपत्तियों के सहारे हम उद्भट की स्थापना, कि 'शास्त्र विचारितसुस्थ है और काव्य अविचारित रमणीय' का परीक्षण करेंगे। इस अर्थ-विभाग की निष्पत्तियाँ ये हो सकती हैं—

१—विचारित में विचार की सत्यता स्वीकृत है, फलतः
२—अविचारित उससे पृथक यानी असत्य हो उठता है, एवं
३—विचारित सत्य हो कर सुस्थ भी है, पर
४—अविचारित मात्र रमणीय है।

उद्भट की यह स्थापना आज भी बहुविध ध्वनित-प्रतिध्वनित होती सुनाई पड़ती है। मैक्स ईस्टमैन[७४] स्वीकार नहीं करते कि 'साहित्यकार सत्य का अनुसंधित्सु हो सकता है, क्योंकि उसका मन प्राग्वैज्ञानिक युगों का अविशेषीकृत शिशुमन है, जो अपनी वाक्-शक्ति का लाभ उठाकर ऐसा प्रभाव जमाता है कि मानों वह महत्वपूर्ण 'सत्यों' का उद्घोष कर रहा हो। सत्य यदि है, तो सर्वत्र एक है, यथा काव्य में, क्या शास्त्रविज्ञान में।' अर्थात् वह विचारितसुस्थ-रूप है, वह सर्वप्रामाण्य है। उपरिनिर्दिष्ट उपपत्तियों के साथ फ्रायड के मंतव्यों पर ध्यान दें, कि 'कलाकार ऐसा व्यक्ति है जिसे बहुत प्रबल रूप में और प्रचंड वेग से प्राकृतिक आवश्यकताएँ प्रेरित करती हैं। वह सम्मान, शक्ति, धन, यश और स्त्रियों का प्रेम पाने की लालसा रखता है। पर, उसके पास इन सन्तुष्टियों के लिए साधन नहीं है। इसलिये, असंतुष्ट लालसावाले अन्य व्यक्तियों की तरह वह यथार्थ से हट जाता है और अपनी सारी दिलचस्पी और सारा राग कल्पना के जीवन में अपनी इच्छा की सृष्टि पर ले जाता है।[७५] तब उपर्युक्त चारों के साथ पाँचवां निष्कर्ष भी रखना पड़ेगा; अर्थात्

५—अविचारित रमणीय दमित इच्छादि की पूर्ति है।

हो चुका है, कि वह जटिल प्रक्रिया है, इतनी जटिल कि वर्डस्वर्थ ने स्वीकार किया है, कि 'उसके समस्त तत्वो का परिमाण निकाल लेना दुस्साध्य है।[७६] वहीं यह भी बतलाया गया है कि उसके भेदो में से २ (क) संख्यक भेद मे, अर्थात् निर्णयोन्मुखी आलोचनात्मक, तर्काश्रित न्यायादि के प्रत्यय-प्रधान वर्ग मे शास्त्र-विज्ञानादि हैं, और २ (ख) संख्यक कोटि में, अर्थात् नवनवोन्मेषशाली सर्जनात्मक चिंतन के वर्ग मे काव्य है। शास्त्र के चिंतन का बहुलाश विषयनिष्ठ, तटस्थ चिंतन होगा, और काव्य में कल्पना-प्रधान आत्मनिष्ठ, भावात्मक चिंतन का ही आधिक्य और प्राबल्य होगा। इससे इतना भर स्पष्ट हो जाता है कि 'काव्य' भी 'विचारित' की कोटि का ही एक प्रकार है। वह सर्वथा 'अविचारित' नही।

उपनिषद्-वाक्य है—नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः। इस प्रकार की ही बात काव्य-कथन में, जैसे 'कामायनी' मे इस रूप मे कही जाय

अरे तुम इतने हुए अधीर !
हार बैठे जीवन का दाँव
जीतते मर कर जिसको वीर···

अथवा,

'यह नीड मनोहर कृतियों का यह विश्व कर्म रंगस्थल है,
है परम्परा लग रही यहाँ ठहरा जिसमें जितना बल है।

तो प्रथम कथन को 'विचारितसुस्थ' एव सत्य बताना और द्वितीय को 'अविचारित' रमणीय मात्र मानना और असत्य घोषित करना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। फ्रांसिस स्कार्फ[७७] ने ठीक ही कहा है, कि जो 'काव्य-सत्य' की समस्या उठाते है, वे शायद यह नहीं समझते कि जब **स्टिफेन स्पेंडर** लिखता है—'आदमी होगा आदमी ही' तो वह वैसा ही महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन करता होता है, जैसा अर्थशास्त्री, जब वह न्यूनतम वेतन या मजदूरी पर बोलता होता है। अंतर केवल कथन-ढग का है।'

सत्य एक है, —एकमद्वितीयम्। उसकी विशेषता आनन्त्य की है। अन्यथा, वह दिक्काल-विशिष्ट होगा। **एडिथ सितवेल** ने **ह्विटमैन** के उद्धरण द्वारा उसे इस प्रकार प्रस्तुत किया है—'सत्य ! सत्य तो सर्वत्र सभी वस्तुओं मे प्रतीक्षा कर रहा है।'[७८] सत्य, समग्रता से उपजता है। **ईस्टमैन** का सत्य, यदि वह काव्य मे नही है, तो दूसरे प्रकार का सत्य है। हो सकता है वह विज्ञानी का तथ्य हो, न कि कवि का सत्य।

यह द्योतित किया जा चुका है कि आधुनिक युग मे काव्य का विरोध विज्ञान से भी है। काव्य और विज्ञान के अन्तर को स्पष्ट करते हुए **हालब्रुक जैक्सन** का कहना है, कि काव्य-कला रूपबद्ध अनुभूति है और विज्ञान नियमबद्ध प्रज्ञा।[७९] परन्तु, यह द्वैध बहुत अंशो मे भ्रात इसलिये है कि विज्ञान मे भी अनुभूति और रूपपक्ष का महत्वपूर्ण योग है। **हेनरी प्वोयनकेयर** गणित मे भी सौन्दर्य का, सख्याओं के सामजस्यपूर्ण चारुत्व का, ज्यामितिक भव्यता का आख्यान करते हैं, और **जे० डब्ल्यू० सुलिवान** बतलाते हैं कि 'मैने पाया कि न केवल आइन्स्टाइन किन्तु प्लैंक और **श्राडिंगर** भी विज्ञान मे आत्मतत्व (व्यक्तिनिष्ठत्व) को पूर्णत· स्वीकार करते थे। प्लैंक तो विज्ञान को कलात्मक रचना ही मानते है।[८०] फिर काव्य मे बुद्धि का योग तो है ही; वही अनुसधान करती, विन्यास की योजना बनाती है। संरचनात्मक वाचकत्व (स्ट्रक्चरल आर्टिकुलेशन) और कवि के जीवन-दर्शन (वेल्टेनसाग) की परिकल्पना प्रज्ञा द्वारा ही योजित होती है। काव्य मे शब्द-व्यवहार का उद्देश्य है, **रिचर्ड्स** की दृष्टि से, आस्वादक को उचित मनोदशा या सस्थिति मे ले चलना और **भामह** का कथन है, कि यह वक्रोक्ति द्वारा सभव है : 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्ति अनयार्थो विभाव्यते।' काव्य की अभिप्रेत मनोदशा भावकोटि की है। वह प्रमाता को भी भोगे हुए सत्य का भोक्ता बनाता है। शास्त्र-विज्ञानादि का उद्देश्य तथ्य अथवा सत्य का प्रेषण है। इस दृष्टि से दोनो के शब्द-व्यवहार में मनोवैज्ञानिक अन्तर है।

राजशेखर ने तो उद्भट्ट का खडन यह कह कर किया है कि इस प्रकार का विभाजन ही असत्य और अविचारित है। दो पृथक् विभाग उपपन्न ही नही होते, तो फिर कोटि-निर्धारण क्यो? शास्त्र का अर्थ अलग है, काव्य का अर्थ मूलतः भिन्न है। दोनों की कक्षाएँ पृथक्-पृथक् हैं। अतएव, एक को सत्य और दूसरे को असत्य बतलाना भ्रान्त धारणाजन्य है। विश्व में विषय जैसे हैं, उसी रूप में उनका विवरण शास्त्र का काम है। पर, काव्य का काम स्वरूप-वर्णन करना नही होता। वस्तु, जैसी है, वैसी ही नही, किन्तु जैसी वह दीखती है, उसी प्रतीति-रूप मे उसका वर्णन कविकर्म है। वस्तु जैसी है, उसे उसके उसी रूप मे मन के द्वारा अथवा भाषा के द्वारा पकड़ना सर्वथा सभव भी नही। इसके लिए उसका कुछ अन्यथाकरण आवश्यक है। शास्त्र का उद्देश्य है, वस्तु का स्वरूप-निबधन, उसके स्वालक्षण्य की प्रस्तुति। काव्य का लक्ष्य है, वस्तु के प्रतिभासित रूप की

प्रस्तुति। अत:, काव्य मे प्रतिभास-निबंधन होता है। यह 'प्रतिभास' दण्डी द्वारा समाधिगुण में चर्चित 'अध्यास' का ही रूप है—अध्यास, अर्थात् अन्यत्र अन्य धर्मारोप (यानी लक्षणा = वक्रोक्ति : **वामन**)। शास्त्र कहेगा—कुमुद बंद हुए, कमल खिले। कवि कहेगा—कुमुद निमीलित हुए, कमल उन्मीलित हुए। नेत्रधर्म के व्यापार कवि को स्वत: कुमुद-कमल मे प्रतिभासित प्रतीत हुए। इस कारण, उसका वर्णन प्रतिभास-निबद्ध वर्णन है। प्रतिभास प्रतीतिपरक रूप है, पर वस्तु से वह प्रतीति तादात्म्यसम्बन्धबद्ध नहीं होती। वह प्रतीति लोकव्यवहार और लोकानुभव से सवादी होती है। अत: उसमे भी सत्यता होती है। शास्त्रप्रत्यक्ष की सत्यता कल्पनापोढ है, वह स्वरूप-निबंधन है इसलिए। काव्यप्रत्यक्ष मे वह पृथक् है। काव्य मे प्रतिभास-निबन्धन के कारण प्रत्यक्ष कल्पित—कुछ अन्यथाकृत, कुछ नव्यकृत—होता है। परन्तु, यह भ्रम नही है। प्रतिभास को वस्तु-स्वरूप समझ कर वैसा ही व्यवहार करने वाले में भ्रम की अवस्था होगी। कुमुद के निमीलन और कमल के उन्मीलन मे प्रातिभासिक नेत्रधर्म को उत्कट मानकर यदि हम उसकी आँखो के पीछे दौड पड़े, तो यह 'भ्रम' होगा। प्रतिभास लोकाश्रितता और सभवनीयता की दो सीमाओ के मध्य स्फुरित होता है। इस प्रतीतिभेद के कारण, यानी प्रतिभास-निबन्धन के कारण ही काव्य सदा रम्य है। समस्त अलकारादि के मूल मे उसीका वैलक्षण्य है। राजशेखर ने फिर यह बतलाया है कि काव्य मे 'रमणीयता' भी वस्तु की रसवत्ता से नही, किंतु कवि की प्रतीति से निबंधित है। कवि ही उसे जैसा चाहे रूप-रस देता है। रसवत्ता कविप्रतीतिनिष्ठ है, अत: काव्य मे जो वर्णित 'वस्तु' है, उसकी सत्ता 'प्रातिभासिक' है।

राजशेखर की इस स्थापना और श्रीमती **सुजान लैंगर** की इस सम्बन्ध की विवेचना प्राय: समान हैं। उनका कहना है—भाषा से दो प्रकार के प्रतीक बनते हैं—(१) विवरणात्मक, एवं (२) प्रस्तुतिपरक। वाक्यो मे भाषा वस्तु के शाब्द प्रतीकों का विन्यास वस्तुवत् ही करती है, अत: वाक्य जटिल प्रतीकपुंज हो उठते है। इन वाक्यों से जो तथ्य द्योतित होते हैं, उनमे वही तर्क रहता है, जो वे वस्तुगत रूप मे रखते हैं। अब, फिर यह भी याद रहे, कि प्रस्तुतिपरक प्रतीकपुंज तर्कसम्बन्धों से ही बधे और उनके सहारे ही क्रियाशील नहीं होते, किन्तु सीधे मूर्त्तन करते हैं। सगीत की

ध्वनियाँ वैसी ही ध्वनित प्रतीत होती है जैसी भावनाओं की लहरियां। कृति अनन्य, अखण्ड, अकेली होती है। वह किसी भावना-संरूप की प्रातीकिक रूपाकृति है। उसकी वस्तुनिष्ठ सत्ता प्रातिभासिक सत्ता है। वह वस्तुरूप सत्ता नही है, वह तत्रस्थ सत्ता है, अन्यत्र उसकी सत्ता नहीं होती। वह कृतिकार से भी पृथक्कृत है, पर उसकी भावना (प्रतीति) का अभिव्यंजक भी है। वह स्वय एक मूर्त्त सत्ता है, पूर्णतः वास्तविक। अपनी परिधि से अलग अन्य सन्दर्भों की उसे अपेक्षा नही है।"[८१] इस प्रकार सुजान लैंगर ने भी काव्य को प्रतिभास-निबन्धन-रूप माना। उन्होंने प्रमाणित किया कि काव्य में वस्तु की प्रातिभासिक या लाक्षणिक (वर्चुअल एक्जीस्टेंस) सत्ता है, भाव की भी काव्य-निबद्ध ही रसवत्ता है।

चिंतन की रूपायिति और बिम्बन

विचारणा के सन्दर्भ मे यह स्पष्ट हुआ है कि प्रतीकात्मक चिंतन की धारा मांसपेशीय तत्परता, बिम्ब, प्रत्यय और भाषिक प्रतीकों में प्रवाहित रहती है। दर्शन, विज्ञानादि शास्त्रो में चिंतन का भाषिक प्रवाह साधारणतः प्रत्ययात्मक प्रतीकों के सहारे चलता है, जिससे चिंतन में लाघव आता है, और वह विस्पष्ट रूप मे विषय का स्वरूप प्रस्तुत कर सकता है। काव्य मे चिंतन का भाषिक प्रवाह सामान्यतः बिम्बात्मक प्रतीको के सहारे उपनीत होता है, जिससे भावों की अभिव्यक्ति सहज सम्प्रेषणीय होती है। परन्तु, शास्त्रादि में भी मूर्त्त रूपको, भावात्मक बिम्बों के प्रयोग के प्रभूत उदाहरण मिलते हैं, क्योंकि भूत-समष्टि का गुरु-भार हम उतार कर फेंक नहीं सकते। और यह भी कह सकते हैं, कि शास्त्रादि ने जहाँ मूर्त्तता, बिम्बात्मकता का उपयोग किया है, वहाँ-वहाँ वह गभीर मूर्त्तिमत्ता के साथ उभर आया है, अतः सहज ही प्रेष्य और बेधक हो उठा है। इस सम्बन्ध मे दो बातें विचारणीय हैं—

(१) चिंतन-प्रवाह और चेतना-प्रवाह में मूर्त्तन या बिम्बन का रूप;
एवं (२) वस्तु का स्वरूप।

विलियम जेम्स ने चेतना-प्रवाह रूप में चिंतन-प्रवाह की परिकल्पना की है। उनके अनुसार मन चेतोधारा में बहता रहता है। ——— यह

प्रवाह अवाध है। पर किसी भी आन्तरिक या बाह्य कारणवश उसमे साधारण-सा भी अन्तर आया नही कि हिलोर या लहरियाँ उठ चलती है। ये लहरियाँ आभ्यंतर अथवा बाह्य परिवेश की सहज प्रतिक्रियाएँ है। अत उनमे तदनुरूप उभार आते है। ऐसे उभरे हुए-से बिम्बो मे से प्रत्येक उस मुक्त जल में डूबा हुआ और रँगा हुआ प्रतीत होगा, जो उसके चारो ओर बहता रहता है। उस बिम्ब का अर्थ और उसका मूल्य उसी आच्छाया या ज्योतिर्मडल मे है, जो उसके चारो ओर विराजता है और उसे निमित-निर्दिष्ट करता है। चेतना कटी-छँटी पृथक्-पृथक् नहीं प्रतीत होती, वरन् प्रवाह-रूप मे अबाध प्रतीत होती है। यह प्रवाह ही चेतोधारा अथवा चिंतन-प्रवाह या आत्मप्रवाह है।[८१] इसका अर्थ यह हुआ कि चेतोधार मे जितनी उफान-सी होगी, अथवा वह जीवन को जैसी प्रगाढता-विशदता से एव व्यापकता से स्पर्श कर चैतन्य होगी, बिम्ब उतने ही प्रखर और प्रशस्त रूप में उभरेगे। ऐसी स्थिति शास्त्र मे भी होगी काव्य मे भी। जब भी चिंतन मे स्पष्टता के साथ-साथ भावमग्नता आएगी आकारीकरण के साथ रूपायण भी होगा। यानी मन स्वतः विषय का ग्रहण रूपाकृति में करेगा। इन बिम्बों के अर्थ एव मूल्य उसी आच्छाया या ज्योतिर्मडल में रहते हैं, जिनमे वे प्रवहमान हैं।

दूसरी बात वस्तु के सम्बन्ध मे है। वस्तु के दो स्वरूप हैं—१—तन्मात्रात्मक एव २—महाभूतात्मक। इनका सम्बन्ध ज्ञाता-ज्ञेय, स्थूल-सूक्ष्म-जैसा है। तन्मात्रात्मक स्वरूप का दर्शन सामान्य प्रत्यक्ष नही है। उसे महाभूतात्मक रूप में ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है। मान भी लें, कि शास्त्रकार और कवि तन्मात्रात्मक स्वरूप तक का दर्शन कर लेते है, तो भी वर्णना तो महाभूतात्मक स्वरूप का ही, और में ही, होगा। अन्तर यह है कि शास्त्र उसे 'प्रत्यय' में वर्णित करेगा; कवि सवेदनात्मक, ऐन्द्रिय अनुभूतिमय 'बिम्ब' में प्रस्तुत करेगा। 'प्रत्यय' भी बिम्ब ही हैं; पर वे विशद और सूक्ष्म बिम्ब है। 'गोत्व, 'गो' व्यक्ति का ही अमूर्त्त एवं सामान्यीकृत जातीय बिम्ब का विशद प्रसार है। परन्तु, शास्त्र इन प्रतीको और बिम्बो में स्वरूप प्रस्तुत नही करता, 'उनसे' स्वरूप प्रस्तुत करता है। काव्य प्रतीको-बिम्बो 'में' स्वरूप प्रस्तुत करता है। यानी, शास्त्र में प्रतीक चाहे भाषिक हो, या प्रत्ययात्मक हों या बिम्बात्मक हो, प्रतीक = स्थानापन्न। काव्य मे प्रतीक = प्रतीक अर्थात् स्थानापन्न + स्वयभू। काव्य का लक्ष्य है रसाभि-

व्यक्ति। 'रस' निष्पन्न हो, इस हेतु विभावादि का मूर्त्तन आवश्यक है। जार्ज ह्वेले ने येट्स को उद्धृत कर बतलाया है, कि 'सच्ची कला अभिव्यक्ति है और प्रतीकात्मक भी, क्योंकि उसके प्रत्येक रूप, ध्वनि, वर्ण, भंगिमा आदि सभी किसी अविश्लेष्य रस के हस्ताक्षर हैं'।[८३] विभावादि 'रस' के मूर्त्त धारक और निष्पादक है। ये 'विभाव' भी मात्र 'व्यक्ति' या सीमित 'मूर्त्त' नही होते। कारण यह कि काव्य मे व्यक्ति 'सामान्य' का प्रतीक होता है।

हमारा चिन्तन बाहर के विषयो का होता है यानी चिंतन का चिंत्य तत्व उसके बाहर का होता है। काव्यादि के श्रवण-वाचन मे सुनते-पढते तो हैं हम शब्द, ग्रहण करते है ध्वान या शाब्द बिम्ब, पर संकेत वे अपने से भिन्न उत्पन्न करते है। उनके द्वारा जो विचार-प्रक्रिया चलती है, उस चिंतन में चिन्तन के तत्व न तो ध्वान बिम्ब होते है, न शाब्द बिम्ब। उनके स्थान पर होते है, उनके संकेतित भाव या वस्तु आदि जिनके मानसबिम्ब मन में संस्कार-रूप मे है। फलतः इन शब्द-ध्वनियो के कारण भाव-वस्तु आदि में और उत्थित विचार मे एक प्रकार का अन्तराल आ जाता है। दूसरे शब्दों मे कह सकते हैं कि हमारा चिन्तन या बोध तत्परिणामी होता है; कार्यकारण-सम्बद्ध होता है। घंटे की ध्वनि इन्द्रियार्थसन्निकर्षज प्रतीति है, अतएव तत्परिणामी है, कार्यकारण-सम्बद्ध है, स्पष्ट है। पर, शाब्द प्रत्यक्ष पारिणामिक नहीं, प्रातीकिक है; साक्षात् नही, स्मरण पर आधृत है, अतएव प्रातिनिधिक है। इसलिए, 'कमल' देख कर जैसा स्पष्ट बोध होगा, 'कमल' सुनकर वैसा स्पष्ट बोध नही होगा। 'कमल' शब्द वस्तु कमल का प्रतीक है, इसलिए वह मानस में अनेक प्रकार के भावो-विचारो का झिलमिलाता रूप प्रस्तुत करेगा। वह कुछ-कुछ 'कमल' जैसा, कुछ-कुछ 'न-कमल' जैसा धुंधला बिम्ब उद्भूत करेगा। शब्द निश्चित और दृढ बोध नही देता है। इस कारण ही वस्तु कमल और विचार प्रवाह मे, 'कमल' शब्द अन्तराल या फाँक-सा लायेगा। क्योंकि शब्द सामान्यावधारणप्रधान होते हैं। अतएव, काव्य-प्रणेता और काव्य-गृहीता दोनों समानाधिकरण्य की भूमि पर आ सके, इसलिये यह आवश्यक है कि शब्द का ऐसा व्यवहार हो कि आन्तरालिक व्यवधान कम हो जाय। यह 'बिम्बन' द्वारा संभव है।[८४] बिम्बन, शब्द के द्वारा सांकेतित वस्तु की भावमूर्त्ति को प्रस्तुत कर देने का उत्तम साधन है। **'पुरुष देख रहा था'** कहने से जो सामान्य-सा धुंधला बोध होता है, **'एक पुरुष भींगे नयनों से देख रहा था'** कहने से वह विशिष्टावधारक हो जाता है। इससे, प्रथमतः शब्द-

संकेतित वस्तु देशकाल-बद्ध होती है, वह आकार में उभरती है। द्वितीयत: वह मूल कथ्य की प्रतिच्छाया में रूपायित हो चलती है। बिम्बो के माध्यम से काव्यग्रहण, भावात्मक दृष्टि से, प्राय: वैसा ही वास्तविक मानसव्यापार हो जाता है, जैसा ठोस वस्तुओं के बाह्य संसार मे हमारा लौकिक व्यवहार ठोस और वास्तविक होता है। यही बात कुछ तत्त्ववाद के आवेश में टी० ई० ह्यू म ने भी कही थी, कि बिम्बो के माध्यम से हम कथ्य को हाथोंहाथ सौंप देना चाहते हैं।

विचार कभी शब्द-संकेतो या प्रतीको का ही प्रवाह है कभी 'प्रतीकित विषय' का, कभी उनकी स्मृत भावनाओ-इच्छाओं का, और कभी सबका मिश्र प्रवाह। विज्ञान प्रतीकित विषय-वस्तुओ मे व्यवस्था देना और नयी उपलब्धियों का अपने संस्थान मे सुसगत रूप से समाहित करना चाहता है। उसका विचारप्रवाह प्रतीको या शब्द-सकेतो के माध्यम से प्रतीकित या संकेतित विषय-वस्तुओं की ओर ही गतिशील है। निर्भ्रान्तत:, वैज्ञानिक शब्द को मात्र प्रतीक (साधन, स्थानापन्न) मान कर ही शब्द-प्रपच मे पड़ता है, और विटगेंस्टाइन की सीढ़ी की तरह, ऊपर चढ कर उसे फेंक देता है। ऐसा वह अपनी प्रविधि को भावनामूलक समस्त परम्पराओ से मुक्त कर और उसे धर्मादि के घोर प्रत्याख्यान पर आश्रित रख कर ही कर सकता है।

उक्तियाँ यदि संकेतितो के लिए प्रयुक्त हो, तो स्वभावोक्तियाँ है, किन्तु यदि भावोद्‌बोधन के लिये व्यवहृत हुई है, तो वक्रोक्तियाँ हैं।[८५] प्रथम में शब्द का व्यवहार स्वरूप-निबंधन-रूप या विज्ञानवत् होता है, द्वितीय में भावसचार की दृष्टि से। साराश यह, कि विज्ञानादि में भाषिक व्यवहार (१) मात्र प्रतीक या स्थानापन्न है, और (२) स्वभावोक्ति है; एव क्योकि, शब्द निश्चित वस्तु के प्रतीक रूप मे शब्दानुशासन के नियम-व्यवस्थानुसार व्यवहृत होते हैं, अतएव (३) 'सामान्य' के विरोधी 'विशेष' रूप मे भाषा के तार्किक रूप को प्रकट करते हुए फार्मूलो के रूप मे परिभाषाबद्ध और संक्षिप्त, एव दृढ संकेत हो जाते है, एव फलत:, (४) इन शब्दो द्वारा प्रेष्य तत्त्व सब में समान रूप से प्रेषित होता है; इस दृष्टि से (५) प्रेष्य तत्त्व पूर्णत: शब्दाश्रित है। भट्टनायक ने लगभग हजार वर्ष पहले यही बात इस प्रकार कही कहा थी—शब्दप्रधानमाश्रित्य तत्र शास्त्र पृथग् विदु:।

वृत्तान्त, विवरणादि में शब्द के स्थान पर 'अर्थ' प्रधान रहता है। काव्य में या तो शब्द-अर्थ दोनों में से किसी की प्रधानता नही होती, मूल

अनुभूति, रस की ही प्रधानता रहती है क्योंकि वहाँ विशेष' भी सामान्य का विरोधी नही होता, और न भाषा का तार्किक पक्ष ही प्रधान होता है; अथवा **महिमभट्ट** और **भोज** एवं **कुन्तक** की दृष्टि से दोनों की प्रधानता रहती है, शब्द के स्फोट और ध्वान रूप दोनों प्रधान हो उठते है। रूप और अर्थ, अभिधा और व्यजना दोनो का अद्वययोग ही साहित्य है। अतएव, **भट्टनायक** ने आगे बतलाया है—

'अर्थतत्त्वेनयुक्ते तु वदन्त्याख्यानमेतयोः ।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापार प्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् ।

इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि विज्ञान 'स्वभावोक्तियो' का सुदृढ़ नियमबद्ध प्रयोग द्वारा ही अपने उद्देश्य में आगे बढ़ सकता है। यदि उसके भाषिक प्रतीक सकेतितियो से इतर सकेत-ग्रह कराते हैं, तो उसका उद्देश्य ही विफल हो जायगा। परन्तु काव्य के भावात्मक भाषिक प्रतीकों के व्यवहार से सकेतितियों मे अपार अन्तर आ भी जाय, जैसे 'कामायनी' के 'मनु' की कथा को औपनिषद् पंचकोषों से सम्बद्ध माने, या शैवागम से सम्बद्ध मानें अथवा पूर्णतः मनोविज्ञान और नृतत्व-शास्त्र से उसका संबंध जोड़ कर मन और मानव की विकास-कथा का उसे प्रतीक माने, यदि 'भावात्मक सस्थिति' विवक्षित रूप मे उभर रही हो, तो संकेत-ग्रहण का अन्तर व्यवधान न डालेगा। इस कारण विज्ञान के भाषिक प्रतीक वैज्ञानिक व्यवस्था और निश्चित तर्क-प्रणाली से प्रयुक्त होते हैं। पर भावात्मक रचना में तर्क का वह रूप और विधि अनिवार्यतः स्वीकृत नही है। वैसी तर्क-प्रणाली तो वहाँ निरोधक होगी।[८६] **रूसो** ने इसे दूसरे रूप मे यह कह कर सकेतित किया था कि मस्तिष्क के तर्क के ऊपर है हृदय का उद्वेलित भाव। **पेस्कल** के शब्दो में—'हृदय को अपने तर्क है, दिमाग जिसे कभी समझ नहीं सकता।'[८७] इससे यह निष्कर्ष निकलता है, कि 'सत्य' को शास्त्रविज्ञानादि भिन्न प्रकार से प्रतीकित करते है, काव्य भिन्न रूप से। सकेतितियों की यथावत्ता के सूचक यदि सकेत है, तो उस संकेत-प्रणाली को भी हम यथार्थ, या सत्य कह सकते हैं। काव्य में यह सकेत-प्रणाली सत्य की प्रस्तुति के लिए, सो भी भावात्मक परिपूर्णता मे प्रस्तुति के लिए आतिशय्य-मडित होती है, शास्त्र-विज्ञान मे यथार्थमूलक ही रहती है। यह इस कारण कि काव्य का प्रयोजन है भावाभिव्यक्ति, परन्तु शास्त्र-विज्ञानादि का लक्ष्य है स्पष्ट सूचन। भावाभिव्यक्ति की चरम स्थिति है 'रस मग्नता'—तन्मय आह्लाद और उस आह्लाद

मे भी वैकल्य। सूचन की चरम उपलब्धि है—ज्ञान-सम्प्राप्ति। अतः, काव्य, कवि और रसिक की साध्य-सिद्धि का प्रतीक है—'० ÷ ० = ?' परन्तु शास्त्र-विज्ञानादि की साध्य-सिद्धि का प्रतीक है— '१ ÷ १ = १. विम्सेट ने बतलाया है कि कविता $\sqrt{2}$ अथवा π ('रूट-ओवर टू' या पाई) की तरह 'कुछ' है। उसकी आलोचना १.४१४'' अथवा ३.१४१६''''जैसे अंको में प्रकटीकरण की क्रिया है, जो कभी पूर्ण नही होती, पर अपूर्ण होकर भी उपयोगी है।[८८] भारतीय मत में अनुभूति की रस-समाहित वेद्यान्तरशून्य निर्वेश विश्रान्ति मे कुछ भी शेष रहता नही। पाश्चात्य मत वैज्ञानिकतावश 'कुछ' तो शेष चाहता है। यह अन्तर ही दोनों के पार्थक्य मे है।

भावा : इति कस्मात्

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के सातवें अध्याय के आरंभ में एक प्रश्न समुपस्थित किया है।

> भावा' इति कस्माद्। किं भवन्ति इति भावा, किंवा भावयन्ति इति भावा'।
> वागगसत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावाः।'

इस प्रकार भरत मुनि ने लौकिक भाव और नाट्यभाव में अन्तर सूचित किया है। आगे चलकर उन्होने यह भी निर्दिष्ट किया है कि कवि के भाव ही 'भाव' है—

> कवेर्न्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते। (७/२)

इस कथन पर कुछ स्पष्टता से विचार करना अपेक्षित है ताकि 'भाव' के लक्षण और प्रकारादि समझे जा सकें।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विचारणा का एक प्रकार 'भावात्मक' है तथा यद्यपि ज्ञान और भाव हमारी चेतना के दो ध्रुवीय सत्ताएँ हैं, तथापि काव्य मे भावात्मक सत्ता की ही प्रधानता रहती है। कवि विलियम वर्ड्सवर्थ ने कविता-सर्जन के मनोविज्ञान का वर्णन किया है। उनका कहना है, कि 'सभी उत्तम कविता सशक्त भावो का स्वयंजात प्लावन है। यह बात सत्य तो है, किन्तु मूल्यवान् कृति, चाहे वह किसी भी विषय पर रचित हो, सामान्य जैविक सवेदन-शीलता से अधिक तीव्र संचेत्यता वाले ऐसे मनुष्य की कृति होगी, जिसने सक्षुब्ध होकर दीर्घ एवं गूढ़ चिन्तन किया होगा।'[८९] मिड्लटन मरी के विचार भी इससे मिलते-जुलते है—'साहित्य का कलाकार साधारण जन से अधिक सवेदनशील होता है—उस पर गहरे और निश्चित प्रभाव पड़ते हैं। ये

घुलते-मिलते चलते है और प्रौढ़ कृतिकारों में सारे प्रभाव एक सुसगत भावात्मक केन्द्र का उन्मेष करते हैं। फिर तात्विक विचार के द्वारा उसमें सुसम्बद्धता लायी जाती है। ये विचार दार्शनिक के विचार-जैसे सामान्यीकृत नहीं होते, अथवा इस प्रकार कहे, कि कवि का सामान्यीकरण अमूर्त्त नही होता। चिन्तन वह जितना भी करे, जीवन के सम्बन्ध मे उसके विचार प्रबल और प्रधान रूप मे भावात्मक होते हैं। तार्किक शुष्कता के स्थान पर उसके चिन्तन में उन भावनाओं के शेषांश के गुण-धर्म अधिक मिलेगे, जो उनको उत्पन्न करने वाले वस्तुओं मे प्रतीकीकृत थी। नाना प्रकार की जीवंत प्रतीतियों एवं उनके भावात्मक सहचारियो के कारण कवि में सर्वाङ्ग जीवन-सम्बन्धी गुणात्मक अर्थ का उन्मेष होता है—उसकी भावनाएं एक दूसरी से घुलती-मिलती हुई, शनै. शनैः एक भावात्मक पुञ्ज या भावकोश अथवा मानसिक अन्तर्दृष्टि का उन्मीलन कर जाती है। इसके फलस्वरूप उस पर कुछ प्रकार की वस्तुओं- घटनाओं का विलक्षण भार और प्रभाव पड़ता है। यही उस कवि की भावात्मक अन्तर्वृत्ति है। कर्ता की कृति मे यही प्रतिच्छायित होती है। प्रौढ़ कवि विगत भावों के रहस्यमय सम्पुजन द्वारा ही विशेष में निर्विशेष का गुरुत्व और महिमा ले आता है।'[६०] दूसरी ओर है टी० एस० इलियट जिनका कहना है, 'हमें इस पर आश्वस्त होना ही है कि 'विश्रान्ति में भावों का अनुस्मरण' कविता की अवास्तविक प्रकल्पना है। कविता 'भावों का प्लावन' नही, भावों से मुक्ति है, व्यक्तित्व का प्रकाशन नही, व्यक्तित्व से पलायन है।' लसेला एबरक्राम्बी ने भी कविता को सशक्त भावो का स्वत स्फूर्त प्लावन नही मानने पर बल दिया है। 'महान् कविताएँ सुदीर्घ चिन्तन और गूढ भावन का प्रतिफलन हैं—लम्बी साधना से वे उपजती हैं; न कि भाव की बाढ़ से।'

ये विचार एक दूसरे के विरोधी उतने है नही, जितने प्रतीत होते है। वर्डस्वर्थ ने छोटी कविताओं के, सो भी अनुभूयमान कविताओं के रूपायण की प्रक्रिया को द्योतित किया है, इलियट ने रूपायण-प्रक्रिया में कवि की निस्संगता अथवा 'वीतविघ्नप्रतीति' का संकेत करते हुए सर्जन-क्षणो में कवि की उस अवश अवस्था का वर्णन किया है, जिसे 'हृदयदर्पण' में भट्टनायक ने 'यावत्पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्युमुम्' कहा था। मरी और ऐबरक्राम्बी ने महाकाव्यों अथवा प्रबंधकाव्यों-जैसी बड़ी और लम्बी कविताओं की रचना-प्रक्रिया का मनोविज्ञान निर्दिष्ट किया है। द्रष्टव्य यह है, कि

'भाव' का आख्यान सबने किया है। इलियट ने भी उसी के अभिव्यजन को उसमे मुक्ति मानी है। फिर, सबने 'गूढ चिन्तन' का भी महत्व बतलाया है। यह 'गूढ़ चिन्तन' क्या है ? पहले हम 'भाव' के लक्षणादि से परिचित हो लेगे। तब 'गूढ़ चिन्तन' से उसके सम्बन्ध का उद्घाटन करेंगे।

भवन्ति इति भावा: —

'भाव' के लिए अंग्रेजी मे 'इमोशन' शब्द का व्यवहार किया जाता है। डा० भगवान दास ने 'भाव' के जो पर्याय दिये है, वे हैं—क्षोभ, संरम्भ संवेग, उद्वेग, आवेग, आवेश, जोश, जज्बा, (अंगरेजी) इमोशन, पैशन आदि।[६१] हिन्दी मनोविज्ञान मे 'संवेग' शब्द प्रचलित है।

इस संवेग की परिभाषा एव विवरण के विषय मे मनोविज्ञानी एक-मत नही है। मनोविज्ञान के पंडितों का तो यहाँ तक कहना है कि अब 'इमोशन' शब्द भी निरर्थक है। **एफ० एफ० मेयर** के अनुसार—'मेरी भविष्यवाणी है। वैज्ञानिक मन शास्त्र से आज इच्छाशक्ति का प्राय: बहिष्कार हो चुका है, संवेग के साथ भी यही होना है'। मनोविज्ञान मे इसके अध्ययन का सूत्रपात शताब्दी के प्रारम्भ से तो हुआ पर उसके एक-एक पहलू को ले कर। किसी ने उसके सहजप्रवृत्यात्मक स्वरूप को प्रधान माना, जैसे **मैकडूगल** आदि ने; किसी ने उसकी सुखद-दुखद वेदनजन्य अनुभूति को प्रधान मान कर उसका अध्ययन किया, जैसे **वुन्ड, टिचनर** आदि ने। कोई उसके कारण होने वाले आभ्यन्तर स्नत-व्यापार को लक्ष्य बना कर अध्ययन में प्रवृत्त हुआ, दूसरे ने उसके बाह्य लक्षणो को, मुखमडलगत परिवर्तनो को लक्ष्य बनाया। **जेम्स-लैग** ने चेतना के रूप में सवेग का विवरण इस प्रकार दिया है–'सहजवृत्यात्मक कार्यव्यापार मे सचेष्ट मासपेशियों-अंगों आदि का अनुभावन ही संवेग है। उसका बोध क्रिया-व्यापार के अनन्तर होता है।' मनोविज्ञानी वुंड ने शारीरिक लक्षणो के अनुसार संवेगों के विशेषी-करण के सिद्धान्त का खंडन कर यह बतलाया कि संवेग मात्र शरीरधर्म से परिभाषित नही हो सकता। संवेग प्राणी के बाह्यपरिस्थिति पर अधिकार पाने की प्रक्रिया है।।

कैनन और **बार्ड** ने अपने प्रयोगो (१९३४) के आधार पर जेम्स-लैंग सिद्धान्त का खण्डन किया है और बतलाया है कि संवेग की संचेतना मस्तिष्क

में हाइपोथेलमस के भाववश ऊपरी किया है, न कि मासपेशियो से मस्तिष्क को लौटने वाले मनोवेगो की प्रतिक्रिया, जैसा कि जेम्स-लैंग सिद्धान्त मानता है। वाल्टर बी० कैनन ने ही सवेग के आपाती सिद्धान्त (इमर्जेन्शी थियोरी) के मूल बिन्दु दिये। 'समस्त शरीर सवेग की स्थिति में किसी काल्पनिक अथवा वास्तविक विस्फोटक घटना का सामना करने को सक्षुब्ध और सन्नद्ध हो उठता है।' दशाब्दियों तक इनके खण्डन-मंडन होते रहे, और धीरे-धीरे सवेग का सर्वाङ्ग संक्षोभक रूप उभरने लगा। **पी० ओ० यग ने** जब बतलाया कि 'संवेग है व्यक्ति के सर्वाङ्ग का उग्र संक्षोभ, जो मूलतः मानसिक है, किन्तु जिसकी लपेट में व्यवहार, चेतन अनुभव एव आन्तरिक क्रियाएँ भी रहती हैं', तब उसके व्यापकत्व पर उचित दृष्टि पड़ती मालूम हुई। वैसी स्थिति में ही कहा गया है, 'हम सवेग के कामचलाऊ इस वर्णन से ही सतुष्ट रहे कि यह एक मानसिक अवस्था है, जिसका प्रधान लक्षण है भावना और प्रवृत्ति जो बाह्य वास्तविक वस्तु के प्रत्यक्ष से उद्बुद्ध होती है अथवा आन्तरिक मानस-प्रतीति, स्मृति, कल्पनादि के कारण स्फूर्त होती है।' **जेम्स ड्रेवर** ने उपरिलिखित प्रधान लक्षणों को ध्यान मे रखते हुए सवेग का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है—'सवेग (भाव) का वर्णन और विवेचन विभिन्न मनोविज्ञानियो ने विभिन्न रीतियों से किया है। किन्तु, इस बात मे सभी सहमत है कि वह जैविक विधान की एक संकर अवस्था है, जिसमे शरीर मे अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे कि श्वास-प्रक्रिया में, नाडी मे, ग्रंथियों की रसन-प्रक्रिया में; मानसिक दृष्टि से वह उत्तेजक या उद्वेग की स्थिति है जिसमे प्रबल अनुभूति और सामान्यतः एक निश्चित प्रकार के व्यवहार के प्रति प्रवृत्ति रहती है। यदि भाव (संवेग) तीव्र होता है, तो बुद्धि की क्रियाएँ भी थोडी-बहुत अस्तव्यस्त हो जाती हैं—कुछ सीमा तक सम्बन्ध-क्रम टूट जाता है और एक क्रमहीन या अस्पष्ट व्यवहार के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।'[६१]

इधर श्रीमती ई० डफ्फी ने (१९३४, ४१, ५१) सवेग-सम्बन्धी ऊर्जा-संयोजना का (एनर्जी मोबिलाइजेशन) सिद्धान्त रखा है और डी० बी० लिंडस्ले ने (१९५१) सचेष्टा का (ऐक्टिवेशन थियोरी)।

इनमें से 'सचेष्टा सिद्धान्त' सवेग की ग्रथिगत, मानसिक, शारीरिक समस्त क्रिया-प्रतिक्रियाओं को समाहित करने वाला, कैनन तथा डफ्फी के

आपाती एवं ऊर्जा-सिद्धांतों को भी अन्तर्भुक्त कर लेने वाला, प्रशस्त सिद्धान्त है। अतएव, यह सिद्धांत मान्य हो चला है।

सारांशत: यह सिद्धान्त इस प्रकार है : ऊर्जा या संचेष्टा-प्रवाह सतत और अबाध है। तीव्र संवेग की स्थिति इसकी एक उच्चतम छोर है, और निद्रित अथवा निश्चेष्ट व्यक्ति मे इसकी स्थिति दूसरी छोर पर है। सोये हुए व्यक्ति में—परन्तु, कॉलरिज की तरह कुबला खा की रचना मे अनायास संलग्न नहीं—विद्युत्प्रवाह यदाकदा ही स्फुट होता है, मॉसपेशियाँ उसकी शिथिल रहती हैं, कदाचित् ही सवेदना मस्तिष्क मे प्रेषित होती है और स्नायु-मंडल का आरक्षक-संस्थान भी निष्क्रिय-सा रहता है। परन्तु, व्यक्ति जैसे ही जगता है, मासपेशियाँ सक्रिय होती है। सवेदन के तार आने-जाने लगते है। शरीरी ग्रंथियाँ रसन-व्यापार शुरू कर देती हैं। आड्रेनिन आदि के स्राव से शरीर मे ओज का संचार होने लगता है। मस्तिष्क से विद्युत्तरंगे भी अंग-प्रत्यगों में दौड़ने लगती हैं। व्यक्ति में जो निश्चेष्टता थी, वह संचेष्टा का रूप धारण करने लगती है और व्यक्ति अब स-अवधान दीख पड़ता है। यह संचेष्टा के प्रारंभ की दशा है, प्रथम स्पन्दन है। अब, यदि उसे कोई वादा याद आ गया, जिसके टूट जाने की आशका विलम्बवश हो रही हो, और जलपानादि में कुछ देर भी हो रही हो, तो उसे हल्की खीज होगी। उसकी सचेष्टा मे अब अपेक्षया तीव्रता आएगी। उसकी मांसपेशियों की सवेदनशीलता भी तीक्ष्ण और व्यापक हो जायगी। आभ्यतर शरीरागों मे हाइपोथेलमस के स्राव कुछ अधिक होंगे, जिनका प्रभाव सम्पूर्ण मनोदैहिक सस्थान पर पड़ेगा। फिर, यदि उसी समय वह कुछ ढूँढने भी लग जाय और आवश्यक कागज-पत्र न मिले, तो उसका पारा चढ़ने लगेगा, सचेष्टा तीव्र से तीव्रतर होगी। ऐसी स्थिति मे, यदि कोई आदमी बकाया वसूल करने आ जाय और जरा कड़े शब्दों में पुकार कर मांग पेश कर दे, तो उसका अमर्ष आक्रोश मे और थोडी ही ठेस पर, क्रोध मे फूट पडेगा। वह फिर उबल पड़ सकता है, आग हो जा सकता है, आदि। 'उबल पड़ना' संचेष्टा या ऊर्जा की ही बाढ है। उस समय शरीर के भीतरी अंगों में हाइपोथेलमस के स्राव का प्लावन होता है, जिससे शरीर के अंग-प्रत्यग की सुष्ठु कार्यक्षमता और मानस के शालीन शिष्ट सतुलन के संस्कार, ये दोनो किनारे, डूब जाते हैं। आग तो जैसे उसके

समायोजन-क्षमता मे लगती है; उसकी व्यवहार-प्रणाली से प्रतीत होगा कि उसे मस्तिष्क है ही नही। सवेग की यह महत्तम छोर है।

सवेग के ये क्रम उसे नये सदर्भ मे समुपस्थित करते है। निष्कर्षत हम कह सकते है—

१— ऊर्जा या सचेष्टा व्यक्ति मे सतत विद्यमान है। सवेग, विशिष्ट अभिभूत-प्रक्रिया ही नही है; सम स्थिति से लेकर शीर्ष तक सम्पूर्ण गत्यात्मक स्थितियाँ संवेग का अनुक्रम और प्रकार है।

२— सामान्यत:, वह सम स्थिति मे निस्पन्द और समभौमिक रेखावत् रहती है।

३— सक्षुब्ध स्थिति मे वह परवलयिक गति से अर्थात् पठार-सी बनाती हुई स्पन्दित और क्रियाशील होती है।

४— सवेग का सबध सहज प्रवृत्ति से, जीवन-प्रेरणा से है। अतएव मैक्डूगल ने उसे सहजप्रवृत्ति (इन्सटिंक्ट) का बाह्य प्रकट रूप तथा जीवनी-सस्थान से सम्बद्ध माना। (ऊपर के उदाहरण मे 'दादा' की याद से सचेष्टा मे तीव्रता आयी।)

५— मद्धिम रूप मे सवेग समायोजित व्यवहार-प्रणाली मे व्यवस्था एव प्रेरणा लाता है; क्योकि असंगत-क्रिया पद्धति को रुद्ध करता है। ऊपर के उदाहरण मे हल्की खीझ से लेकर कागज-पत्र न मिलने तक की स्थिति में व्यक्ति लक्ष्योन्मुखी क्रियाशीलता मे, मांसपेशीय संवेदनशीलता में तीव्रतर रूप से अभियोजित है।

६— सचेष्टा या प्रेरणा जीवनी-संस्थानीय तत्त्वो पर जितनी तीक्ष्णता और व्यापकता से दबाव डालती जाती है, संक्षोभ भी तीव्र होता चलता है और फलत. व्यवहार-प्रणाली वैसे-वैसे ही यांत्रिक और स्थूल होती चलती है, एवं ऐन्द्रिय क्षेत्रों में रुद्धता आती-जाती है।

७— तीव्रतम सवेग म व्यवहार-प्रणाली निम्नस्थ आनुवंशिक स्नायविक सस्थान से परिचालित होती है, न कि उच्चकेन्द्रीय अर्जित शील-सस्थान से। व्यक्ति प्रचण्ड क्रोध मे सभ्यतादि के सारे सस्कार समाप्त कर सामान्य प्राणी-जैसा व्यवहार करने लगता है।[६३]

८— सवेग (क) आन्तरिक जीवनी-प्रेरणावश स्वतः गतिशील होते है, (ख) लक्ष्य की प्राप्ति मे रुद्धता के आ जाने पर तीव्र होते है, जैसे आवश्यक कागज-पत्र न मिलने की खीझ; एवं (ग) जब लक्ष्य हठात् प्राप्त हो जाय या प्रेरणा ही अनावश्यक हो उठे, तब भी (ख) और (क) की नकारात्मक स्थितिवश सवेग में तीव्रता की अवस्था आ सकती है।[६४]

९— सवेगो के बाह्याभिव्यजक रूप (क) बाह्य व्यवहार में, शरीर के ढंग-ढर्रे मे, मुखमुद्रा मे, अग-भंगिमाओ, वाचिक स्वरता और वाणीगत लयात्मकता मे देखे जा सकते हैं, (ख) इनके मूल मे आभ्यतर स्नायविक, श्वास-प्रश्वास-सबंधी, रसन-व्यापार-सबधी पाचन-क्रिया-सबधी, रक्त-चाप-सबधी, नाना व्यापार है। इनसे प्रभावित-प्रवृत्त रूप ही बाह्य अनुभावादि है। (ग) आन्तरिक और बाह्य इन व्यापारो के मध्य मे मानस सस्थान का समायोजन रहता है—लक्ष्य रूप में चेतन मानस का भी, और अन्तत अलक्ष्य अ—चेतनादि का भी।

ड्रेवर ने सवेगो के पाँच और स्टाउट ने छह लक्षण बतलाये हैं। ड्रेवर बताये गये लक्षण निम्न है—

(क) सवेग किसी प्रत्यक्ष/अप्रत्यक्ष वस्तु से सवेदनात्मक (अफेक्टिव) सम्बन्ध रखते हैं।

(ख) प्रायः सदा सुख-दुख से रंजित रहते हैं; कुछ के अनुसार यहं इनका चित्तगत लक्षण है।

(ग) इनमे जैवी स्पन्दन सामान्यतः तीव्र रहता है। जेम्स से भी पहले डेकार्टे, मैलब्राके आदि ने उसे प्रमुख लक्षण माना था।

(घ) भावनात्मक सस्थिति विशिष्ट प्रकार की कार्य-दिशा मे रुचि लेती है; चेतना परिसीमित हो उठती है; विशेषीकृत भी। फलतः सवेग बोधवृत्ति और प्रवृत्ति पर हावी होते हैं—प्रतिरोधी होकर भी एव उपस्कारक होकर भी।

(ङ) सवेग म आवेगात्मक शक्ति रहती है, ध्येयोन्मुखता के वे प्रेरणा-स्रोत हो उठते हैं, और यदि तीव्र हुए, तो उच्च मानसिक क्रियाओं को निरुद्ध तथा सद्यःजात क्रियाशीलता की त्वरा मे प्रयोजन, सकल्प, सिद्धान्त को निरस्त कर डालते हैं।[६५]

स्टाउट द्वारा निर्दिष्ट लक्षण इस प्रकार है :—(क) क्षेत्र की व्यापकता (ख) उद्भव के कारणों का वैविध्य जिनमें जीवनवृत्तियाँ प्रधान हैं, (ग) बोध से सम्बद्ध होना; चाहे प्रत्यक्ष वस्तु के बोध से या अमूर्त्त विचारादि के बोध से (घ) सामान्य क्रियादिशा में प्रवृत्ति जो परिस्थिति के अनुसार निर्दिष्ट और विशेषीकृत होती चलती है, (ङ) अन्यमुखापेक्षिता और (च) जैव सवेदनात्मकता-द्वारा चेतना की आच्छन्नता।[६६] इन दोनों ने जो लक्षण दिये है, उनमें मौलिक और प्रधान तीन है :—(१) बोध, (२) सवेदना या राग अथवा भावनात्मक अनुभूति (अफेक्टिव फीलिंग) और (३) प्रवृत्ति। अन्य लक्षण तज्जन्य परिणाम या प्रकार हैं।

सवेग के उपरिविवेचित प्रधान लक्षणो का सश्लिष्ट रूप आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की भाव-विषयक परिभाषा मे मिलता है : 'प्रत्यक्ष बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम भाव है।[६७] दूसरे स्थान पर उन्होने शरीर धर्म को भी तीनों के साथ जोडकर परिभाषा को वैज्ञानिक बना लिया है।

भावना (राग) और (भाव) संवेग :—

सवेग में अनुभूति (भावना, राग) का तत्त्व रहता है, पर भावना ही सवेग नहीं है। भावना या राग और संवेग (फीलिंग ऐंड इमोशन) के सम्बन्ध के परिज्ञान के लिये मनोविज्ञानी **उंड** और **टिचनर** आदि ने राग या भावना (फीलिंग) के आयामों का परीक्षण किया था। उन्होने सुख और असुख को मूल मान कर उनके साथ-साथ तीव्र-शिथिल आदि को सहचारी माना है। भावना और सवेग में मनोविज्ञानी इतनी समानता तो स्वीकार करते है कि दोनों व्यक्ति की सस्थित्यात्मक प्रतिक्रियाएँ है और जैविक प्रयोजकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। अत: भावना, संवेग की मूल प्रस्ताविका या निष्पादिका भी है : कुछ असुख का भाव-सा होता है, फिर स्थिति के अनुसार क्रोध या भय उभरने लगता है। परन्तु, कभी-कभी सवेदना या भावना (फीलिंग टोन) मात्र स्वेदनात्मक या भावनात्मक होकर भी रह जा सकती है : कोई व्यक्ति 'अरुचिकर' ही प्रतीत हो सकता है, उसके प्रति क्रोध, भय, घृणा के भाव नहीं भी जग सकते है। या फिर,हल्का भाव जग भी सकता है। सवेग की स्थिति, हल्की अरुचि अथवा सौमनस्यके भाव से लेकर भयंकर क्रोध अथवा तन्मयीभाव तक मे क्रमश: वर्धमान मानी जायगी। भावना या राग सभी संवेग मे रहता है- किंतु सवेग सभी राग में

हो, ऐसी बात नही । राग अधिक मौलिक जीवनी-सस्थानीय वृत्ति है, और सवेग जैसे उसकी सुरक्षा, पोषण, सवर्धन से सम्बद्ध शक्ति या ऊर्जा हो। सहजवृत्ति इन दोनो की मिश्र प्रतिक्रिया है । उसके द्वारा बाह्य अभिनियोजन सम्भव होता है । इस कारण तीव्रतम सवेग मे, भावना और सहजवृत्ति इस प्रकार घुलमिल जाती है, कि मनुष्य प्राणीवत् अथवा भूतात्मक हो उठता है । यह स्थिति काव्य-रचना के लिए उपयुक्त और अनुकूल नही हो सकती । इसलिये ही 'चर्वणा' का महत्त्व है ।

कविगत भाव लौकिक सवेग का चर्वित रूप है । वर्ड्स्वर्थ ने उसे दीर्घ और गम्भीर चिन्तन के द्वारा संशोधित तथा विश्रान्ति के क्षणो मे सचयित माना है । मरी ने बतलाया है कि भावनाएँ घलती-मिलती हैं, तथा भावात्मक पुन्ज या भावकोश अथवा मानसिक अन्तर्दृष्टि का उन्मीलन कर जाती हैं। स्मरणीय है, कि लौकिक सवेग से अभिभूत हो अज्ञेय ने 'हिरोशिमा' कविता नही लिखी थी । किन्तु, कवि जब उससे तटस्थ हो गया अथवा उसे चर्वित कर चुका तब वह रेलगाड़ी मे स्वत लिख गयी । कवि चर्वणा द्वारा ही निस्सग अथवा 'प्रवननिजमोहसकटता' से उत्तीर्ण होता है ।

भावना (राग) और सवेग (भाव) के बीच के अन्तर को डा० भगवान दास ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है —'चैतन्य का परोक्ष नाम आत्मा, एव अपरोक्ष नाम 'अह' है । अस्मिता से, अहकार मे, रागद्वेष की उत्पत्ति हुई । जो सुख दे वह राग का, जो दुख दे वह द्वेष का विषय है—अह की वृद्धि का अनुभव सुख, ह्रास का अनुभव दुःख है । प्रथम की ओर आसक्ति है, काम है, दूसरे की ओर अमर्ष है, क्रोध है, द्वेष है । इनकी प्रवृत्ति से ही भाव की शाखाएँ फूटती हैं—विशिष्ट के प्रति, तुल्य के प्रति और हीन के प्रति होकर कई प्रकार के भाव उठते हैं, जैसे—सम्मान, मैत्री, दया एव भय, क्रोध, दर्प आदि ।'[६८] 'जीवो जानाति, इच्छति, यजते' की न्यायसूत्रीय वृत्ति के अनुसार इच्छा के उदय होते ही जीव की अस्मिता इच्छानुरूप चित्त की ओर हो उठती है और चित्त इच्छा के परिस्पन्द से, जो हो उठता है वही जीव है । अस्मिता में इच्छित वस्तु का यह परिस्पन्द जीव को तदनुरूप 'भावित' करता है, वासित करता है । इस कारण वह वही हो उठता है ।[६९] भरत मुनि ने भी भाव की राग-द्वेषमयता (अफेक्टिव आस्पेक्ट) का सकेत इस प्रकार किया है—

> यो यं स्वभावो लोकस्य सुखदुःख समन्वितः ।
> सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते । १।११९

परन्तु साहित्य मे 'भाव' का यही अर्थ नहीं है। वहाँ 'भाव' चित्त की विशेष अवस्था है। सो भी ज्ञानात्मक और क्रियात्मक अवस्था नही, किन्तु इच्छा के जो मूल भेद हैं, राग और द्वेष तदात्मक, अर्थात् चित्त की रागात्मक और द्वेषात्मक जो बहुत प्रकार की अवस्थाएँ हैं, वृत्तियाँ है, वर्त्तन, प्रकार है, वे 'भाव' है, इसीसे 'भावुक' शब्द क्षमालु, भावशील, 'इमोशनल' का द्योतक है। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से भाव का निर्वचन है 'नाना विषयो के सम्बन्ध मे रसो का उद्भावन, उत्पादन करते हैं, इसलिये भाव।' दर्शन की दृष्टि से भाव का सामान्य अर्थ, चित्त की उत्कट इच्छात्मक अवस्था, चाहे उससे किसी को रस उत्पन्न हो, या नही।'[००]

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 'भाव' के तीन रूप निर्दिष्ट किये हैं— १—सत्तात्मक रूप, २—व्याप्तित्वमूलक रूप एवं ३—निष्पादक रूप। 'भवन्तीति भावा:' भाव का सत्तात्मक मनोवैज्ञानिक या जैव रूप है, 'भावयन्तीति भावा:' यह उसके व्याप्तित्व को द्योतित करता है एवं 'दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्ति', न तु रसेभ्यो भावानामभिनिवृत्तिरिति', यह उसके निष्पादकत्व का आख्यान है।

भाव एवं भावकोश तथा स्थायीभाव (रस):— मनोविज्ञानी शैंड के अनुसार शुक्लजी ने भावों मे नियमन और व्यवस्थापन की प्रक्रिया का उल्लेख किया है। भावकोश की स्थिर प्रणाली के भीतर भावों के न्यास की प्रक्रिया से व्यक्ति मे कुछ विषयो के प्रति भावनाएँ एकरूप, दृढ एव स्वरीकृत हो उठती हैं और इन भावपुंजो मे अनेक भाव चेतन-व्यवस्था को केन्द्र बना कर, घुलते-जुटते रहते हैं, जिससे भावकोश अथवा मनोवृत्ति (सेंटिमेंट) का उद्भव होता है। मैकडुगल आदि मनोविज्ञानियो ने 'सेंटिमेंट' को '(१) सहजवृत्ति + (२) विषय से दीर्घ सम्पर्क + (३) बुद्धि' से निष्पन्न माना है। सहजवृत्ति भावगर्भ जैव वृत्ति है। अतएव शैंड या शुक्लजी के विवेचन से मैकडुगल के विवेचन मे मौलिक अन्तर नही, मात्र दृष्टि-भेद है। इस 'मनोवृत्ति' का विवेचन वर्ड्स्वर्थ, मरो आदि ने भी प्राय इसी क्रम मे किया है। 'सवेग' और 'भाव' तात्कालिक है, कुछ चचल भी, परन्तु मनोवृत्ति धीर और सयत-प्रणाली है। वह एकरूप क्रिया-व्यवहारों का उन्मेष करती है। मनोवृत्ति विषयबद्ध भावकोश नही है, व्यक्ति में स्वत स्वभाव बनी हुई-सी 'भाववृत्ति' है। इससे शील या आचरण की प्रतिष्ठा होती है। कोई स्वभाव से ही द्वेषी होता है, तो कोई रसिक; कोई उग्र होता है, तो कोई शात।

साहित्य में रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, आश्चर्य, जुगुप्सा और निर्वेद—ये नव स्थायी भाव माने गए है। इनमें से हास, उत्साह और निर्वेद को छोड कर शेष भाव मनोविज्ञानियो द्वारा माने गये मूल भाव हैं। मनोविज्ञान में क्रोध, भय, आनन्द और शोक को मूल भाव बतलाया गया है। इनमे जो त्याग-ग्रहण का भेद है, वह रसविधान की दृष्टि से है। दूसरी बात यह, कि भरत ने चार मूल स्थायी भाव और उनके रस माने है और वह भी दो युग्मो मे। शृंगार तथा वीर रस नायकगत माने गए है और रौद्र तथा बीभत्स उनके प्रतिकूल हैं। इस प्रकार, इनकी प्रकल्पना मे द्वन्द्वात्मकता है। शृंगार के विरोध मे बीभत्स है, वीर के विरोध मे रौद्र है। फिर, तीसरी बात यह, कि शृंगार से हास्य का, रौद्र से करुण का, वीर से अद्भुत का और बीभत्स से भयानक का हेतुहेतुमद्भाव भी द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया-रूप मे प्रकल्पित है। तैंतीस सचारियो का विभाजन भी इन मूल एव तद्भव रसो मे कुछ इस प्रकार है, कि समस्त रस-प्रकल्पना स्वत 'नाट्य' रूप मे द्वन्द्वात्मक गति से गतिशील और डा० के० वेडेकर के [१०१] अनुसार राम-रावण-युद्ध-रूप मे प्रवृत्त वर्तुलाकार चित्रवत् प्रतीत होती है। आठ रस तो नायक के पुरुषार्थनिष्ठ व्यापार हैं, शात रस नाट्य एवं काव्य का, अभिनवगुप्त के अनुसार, अतिम फल है। आठ रसों का चार पुरुषार्थो की प्रवृत्ति से अनुकूलतया अथवा प्रतिकूलतया सम्बन्ध है। नवे का दोनो से पृथक् परम विश्रान्ति से अथवा कहे, अद्भुत से, सम्बन्ध है। मानव की मूल चित्तवृत्तियाँ इन्ही नव प्रकारो से पुरुषार्थनिष्ठ होकर संवित्-विश्रान्ति प्राप्त करती हैं। अतएव रस प्रधानत नव माने गये हे। रस की यह प्रकल्पना नाट्य-बिम्ब रूप है।

भावन-व्यापार और कवि का 'भाव'

नाट्य और काव्य मे जो नाना भाव हैं वे रचयिता के 'भावित' भाव है। उसी भाँति आस्वादक भी प्रकारान्तर से कवि के भावित भाव का भावन करता है। भावन-व्यापार के द्वारा ही लौकिक भाव कवि के अन्तस् का 'भाव' बनता है।

भरतमुनि ने 'भावन' का उल्लेख कई स्थलो पर किया है। जैसे बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न पदार्थो से व्यंजन भावित होता है, उसी प्रकार भाव अभिनयो के साथ मिलकर रसो को भावित करते हैं। भाव और रस

परस्पर एक दूसरे को भावित करते हैं। अभिनवगुप्त ने 'भावयन्ति' का अर्थ इन स्थलो पर 'सम्पादयन्ति' या 'निष्पादयन्ति' किया है। यह वस्तु-परक अर्थ है। 'भावयन्ति भावा.' में भावित करना उत्पत्ति-परक न होकर 'संस्कार्य'-क्रिया का भी द्योतक है। आयुर्वेदादि में जिस प्रकार व्यजनों-द्रव्यो मे भावना दी जाती है, उन्हे वासित किया जाता है, उसी प्रकार भाव अभिनयादि से मिलकर रस को भावित करते हैं। पुन ये भाव अभिनयादि के द्वारा कवि के हृदयगत भाव को सहृदय-समाज के चित्त मे भावित करते हैं। इस प्रकार भावन-व्यापार वस्तुपरक 'उत्पत्ति' के अर्थ के साथ-साथ 'व्याप्ति' अर्थ का द्योतक भी है।

मोनियर विलियम्स आदि के कोशो मे भावन के अनेक अर्थ मिलते है। उनमें से प्रसंग के अनुकूल दो-तीन ही है; यथा—चिन्तन का विषय होना, कल्पना का विषय होना, व्यक्त होना, आदि। डॉ० नगेन्द्र ने 'कल्पना का विषय होना' अर्थ स्वीकार किया है। पर, कदाचित्, 'चिन्तन का विषय होना' अधिक उपयुक्त है। पातजल योग-दर्शन मे 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (१/२८) मे भावन तदर्थगाढचिन्तन (ध्यान) के अर्थ में आया है। मंत्र, नामजप, कीर्त्तनादि जो भक्ति के अनेक साधन हैं उनमे भी 'भावन' का महत्त्व है। उसे हम 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाना सुखदु खपुण्यापुण्यविषयाणा भावनाश्चित्त-प्रसादनम्' माने, अथवा ध्यान, धारणा, समाधि आदि नाम दें, इन सब मे चिंतन को एकतान,, प्रगाढ और एकध्येयी बनाकर तन्मय होने के विधि-विधान हैं। भक्त उपासना और भक्ति के द्वारा भावन से ही वह पाता है 'यं लब्ध्वा मत्तोभवति। आत्मारामो भवति (नारद भक्ति-सूत्र)।' डा० राधाकृष्णन का कथन है—'चिंतन की ऐसी एकतानता कि चिंतन दर्शन हो जाय, सोचना देखना हो जाय, आध्यात्मिक ही होना है। [१०१]

भरतमुनि ने जिस 'भावन' का निर्देश किया है, उसे लोल्लट ने अनु-संधान-रूप माना है। अनुसंधान में आरोप, अभिमान, योजन के क्रम से प्राप्त तादात्म्य (आइडेंटिफिकेशन) या व्याप्ति का ही अर्थ है। तादात्म्य का ही मात्रा-भेद 'आरोप' है जिसे मनोवैज्ञानिक शब्दावली में प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) कहते हैं।

शंकुक ने भावन को 'अनुमीयमानोऽपि....अनुमीयमान विलक्षण' माना है। हेमचन्द्र ने इसका स्पष्टीकरण यह बता कर किया है कि कषाय

फल खाने वाले की चेष्टाओं को देखकर जैसे हमें भान हो जाता है कि वह कषाय फल खा रहा है और हमारे मुँह में भी पानी भर आता है, वैसी ही प्रतीति 'भावन' द्वारा संभव है। मनोविज्ञानी डब्ल्यू० एस० हंटर द्वारा विवेचित 'प्रातीकिक स्मरण' की प्रक्रिया भी प्राय. समान है।

भट्टनायक ने भावन का आख्यान 'भावकत्व' व्यापार की प्रकल्पना के द्वारा किया है। 'भावकत्व' की प्रकल्पना अपने आप मे एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक उपलब्धि है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में-'भावना का अर्थ है कल्पनात्मक प्रतीति और स्थायीभाव के भावन का अर्थ है—भावकत्व व्यापार के फलस्वरूप रत्यादि की प्रत्यक्ष प्रतीति की कल्पनात्मक प्रतीति मे परिणति। परिणामतः स्थायी भाव की 'कल्पनात्मक प्रतीति' और उसके 'साधारणीकरण' में कोई भेद नही रह जाता, क्योंकि व्यक्तिबद्ध प्रत्यक्ष कल्पना-प्रतीति का विषय बन कर स्वतन्त्र एव साधारणीकृत ही हो जाता है। कल्पना का कार्य है बिम्ब का निर्माण और बिम्ब-रूप होते ही विशिष्ट अनुभूति व्यक्ति ससर्गों से मुक्त होकर सर्वगम्य हो जाती है'। [१०३] इस प्रकार भावकत्व-व्यापार साधारणीकरण-प्रक्रिया द्वारा कर्त्ता (कवि), अभिनेता-नायक और 'भावक'-आस्वादक को एक बना देता है—'नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः (भट्टतौत)।

अभिनवगुप्त ने काव्य-चर्वणा को योगीकी समाधि से भिन्न माना है। यह परसंवेदनात्मक, अस्फुट और अबाध होतीहै, तथा आह्लादकत्व शून्य भी है, पर काव्य-प्रतीति वैसी नहींहोती। उनके मत से पृथक् मत पं० केशवप्रसाद मिश्र का है। उन्होने काव्यास्वाद को मधुमती भूमिका की योगी-प्रतीति के समान बतलाया है। प० रामचन्द्र शुक्ल ने भी कवि को 'अनुभूति योगी' और कविकर्म को 'भावयोग' तथा रस को 'हृदय की मुक्तावस्था' माना है। उनके अनुसार उपासना भावयोग का ही एक अंग है। पुराने धार्मिक लोग उपासना का अर्थ ध्यान ही लिया करते हैं। जो वस्तु हमसे अलग हैं, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्त्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है। साहित्यवाले इसी को 'भावना' कहते हैं और आजकल के लोग 'कल्पना'। [१०४] इस प्रकार, शुक्ल जी का विवेचन एक ओर तो पातंजल-योगसूत्र, शाण्डिल्य और नारद के भक्तिसूत्र तथा शुक्र-नीति-वर्णित मूर्त्तिकार की 'समाधि' आदि (द्रष्टव्य पृष्ठ ३१-३२) को

सम्पुटित करता हुआ प्रतीत होता है, तो दूसरी ओर आधुनिक मनोविज्ञान के भी निकट पहुँच जाता है।

'भावन' मीमासाशास्त्र में भी एक सज्ञा है—'भवितुर्भवनानुकूलो भावकव्यापारविशेषो', अर्थात् निर्माण होने वाली वस्तु के प्रति अनुकूल निर्माता का व्यापार ही भावन, या भावना है। शुक्ल जी का विवेचन इस अर्थ को भी सकेतित करता है।

अभिनवगुप्त ने १–सभावनाविरह, २–स्वगतपरगतदेशकालविशेषावेश, ३–निजसुखादिविवशीभाव, ४–प्रतीत्युपायवैकल्य, ५–स्फुटत्वाभाव, ६–अप्रधानता तथा ७–सशययोग, कविगत, रसिकगत एव उभयगत सात रस-विघ्नों के निरास का महत्व जो बतलाया है, वह इसी उद्देश्य से कि एकघननिर्विघ्नसवित्विश्रान्ति संभव हो सके, अर्थात् 'भावन' समाधि की कोटि की हो सके। 'समाधि' गुण दण्डी के द्वारा काव्य-सर्वस्व (काव्यालकार —१/१००) माना गया है एव वामन के द्वारा नवीन अर्थदृष्टि का उन्मेषक। 'लाक्षणिकता' और 'वक्रता' के मूल मे 'समाधि' ही है। काव्यगत दोषो मे 'शिथिल समाधि-दोष' सामान्य त्रुटि नही है।

परन्तु, इतना तो मानना ही पडेगा कि योगगत 'भावन' और काव्यगत 'भावन' मे अन्तर है। योगसूत्रादि मे भावन चित्तवृत्ति-निरोधपूर्वक योग है, जिसका क्रम अन्तत है—ध्यान, धारणा, समाधि। इसका लक्ष्य मन को विरजस्क करना और ऋतम्भरा-प्रज्ञा है। यह निर्विकल्प एव निर्बीज समाधि की निस्सग और ज्ञानमूलक कृच्छ्रसाधना है। अतएव योगी की समाधि यदि १/१ कोटि की हो, तो कवि आदि की समाधि १/१ २/२ ३/३ ४/४ ५/५ ६/६ ७/७ ८/८ ९/९ कोटि की मानी जायगी। दोनों अपनी-अपनी विधियों से ०—० होना चाहते हैं।

भामह ने 'भाविक' को 'भाविकत्वमिति प्राहु: प्रबंधविषय गुणम्' मान कर उसकी विशेषता बतलायी थी—'प्रत्यक्ष इव दृश्यन्ते यत्रार्थ भूतभावित.।' इस 'भाविक' का सम्बन्ध भाव, भावन, भावित, उद्भावन आदि से है, एव लास्य नृत्य के बारहवे अंग 'भाव-भावित' से माना जाता है, जिसमे प्रिय प्रिया को स्वप्न मे देखकर उसकी भावना मे विभोर हो, ऐसा समझती है कि वह सामने ही है और मुदित हो नाचती है। बाद के आचार्यो ने 'भाविक' को प्रबधगुण न मान कर अलंकार माना। पर, प्रतिहारेन्दु ने भाविक में 'अगित्यर्थप्रतीतिकारिता' की विशेषता मानी। रुय्यक ने उसे 'कवि-

गतोभाव आशय' मानकर 'श्रोता मे उसका प्रतिबिम्बन' अर्थ लिया। निष्कर्ष यह है कि 'भावन'-व्यापार के कारण स्वभावोक्ति हो, या वक्रोक्ति-रसोक्ति हो, इन सबका प्रत्यक्षवत् प्रतिबिम्बन और प्रतीति होती है।[१०५] ऐसी प्रत्यक्षवत्ता तभी सभव है, जब कवि-चित्त समाहित हो। रुद्रट का कथन है—

> मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधेयस्य।
> अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥
> (रुद्रट ; काव्यालंकार १/१५)

पाश्चात्य चिन्तकों ने भी अपने-अपने ढग से 'भावन' का आख्यान किया है। प्लेटो ने कलाकार और कवि में दैवी सत्ता की विशेषता बतलाई है और यह भी प्रतिपादित किया है कि कलास्वादक उसके सम्मोहन से अभिभूत होकर ऊर्ध्वगमन करता है। अरस्तू ने रेचन और सभावना-सिद्धान्तों मे प्रकारान्तर से 'भावन' का महत्त्व स्वीकार किया है। लांजाइनस के उदात्त-तत्त्व, होरेस के रम्य उन्नयन, ड्राइडेन के अनुसंधित्सा-सिद्धांत, कॉलरिज के कलागत सामंजस्य और सांगीतिकता-सम्बन्धी उपस्थापन मे तथा क्रोचे के कल्पना और सहजानुभूति-विषयक प्रतिपादन मे 'भावन' की विशेषताओं का सकेत मिल जाता है। क्रोचे ने तो स्पष्ट बतलाया है कि 'दांते के आस्वादन के लिए हमे भी दांते के धरातल पर उठना पडेगा ...भावन के उस क्षण मे हमारी चेतना कवि की चेतना के साथ एकाकार होती है। इस तादात्म्य-भावना मे ही वह सभावना रहती है कि हमारी लघु आत्मा उन महान् आत्माओं के साथ मिलकर विराट् की विभुता का प्रत्यक्ष कर सकती है।[१०६] आधुनिक अस्तित्ववादी दार्शनिक जीं० पाल सार्त्र के अनुसार भावन जादुई सम्मोहन के द्वारा ग्रस्त होना है।[१०७]

भावन की विविध विवेचनाएँ मनोवैज्ञानिक विधि से भी हुई है; यथा— मनोदैहिक सहजक्रिया के रूप मे, नैसर्गिक क्रीडावृत्ति के रूप में, आदिम अहं-इद के ऐकात्म्य-रूप मे एव फिर सामाजिक ध्वनन के रूप मे।

भावन और सह-अनुभूति :—

मनोदैहिक सहज क्रिया के रूप मे 'भावन' का आख्यान आभ्यतर गत्वरता मान कर किया जाता है। अनैच्छिक बाह्य अगचालन अथवा आभ्यतर ध्वनन प्रत्येक प्रत्यक्षग्रहण मे अनायास होता है। यह सिद्धान्त

जर्मनी के मनोविज्ञानी थियोडोर लिप्स के द्वारा (१८९१-१९००) 'आइनफुह्लु ग' (टिचनर के द्वारा 'सिम्पैथी' के मेल मे इसका नाम 'इम्पैथी' दिया गया।) नाम से प्रस्तावित किया गया था। अलग से व्यायलेट पैजेट अथवा वर्नन ली ने भी तत्समान शरीरी ध्वनन और गत्वरता का (इम्पैथी का) सिद्धान्त रखा था। इस सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता है कि प्रत्यक्षीकरण अनायास प्रत्यक्षोत्प्रेरित गतिबिम्बो के प्रभाववश होता है। 'गोल' करते खिलाडी के पाँव के साथ दर्शक के पाँव मे भी गेंद ठुकराने की हरकत-जैसी क्रिया होती है। 'पोलजम्प' करते हुए व्यक्ति को देख कर हमारे अगो मे भी आन्तरिक चालन और उड्गति हो जाती है। मूर्त्ति देख कर उसकी बाहो का करण हमारी बाहो मे उतर आता है। भवन के स्तम्भो की दृढता हमारी टागो और शरीर-सस्थान की दृढ़ता मे परिणत होती है। चित्र की रंग-रेखाएँ हमारे मन मे एव आभ्यतर अगो मे सघनता, प्रसार, गतिशीलता ले आती हैं। गीत सुन कर हमारा कोई अंग अनायास उसकी लय के साथ गति-यति-सम पर उठता-गिरता चलता और साथ हो लेता है। कविता का ग्रहण भी हम उसकी लय में प्रवाहित हो कर एव उसके बिम्बो मे तद्वत् बिम्बित-प्रतिबिम्बित होते हुए करते है और कंठ या होठों से मनभावन शब्दो-पंक्तियो को दुहराते भी चलते है।[१०८] यही नही, हममे साक्षात् वस्तुप्रत्यक्ष से जो-जो सवेग या अनुभूति आदि जगी थी, उसे प्रतीकित करनेवाले शब्द-प्रत्यक्ष से भी हममे वसी ही मांसपेशीय हरकते अन्दर-अन्दर होती है।[१०९] प्रत्यक्ष-ग्रहण मे लिप्स के द्वारा वर्णित मनोदैहिक गत्वरता का विवेचन मनोविज्ञानियो ने आत्म-प्रक्षेप (अत: अनुकरण से पृथक्) मान कर किया और क्रोचे ने तादात्म्य मान कर। विषय विषयी मे खिच आता हो, अथवा विषयि ही विषय मे प्रक्षिप्त हो जाता हो, या दोनो ही होते हो, 'भावन' मे इसका योग स्वीकार्य है। द्रष्टव्य यह है कि १—सवेग के पूर्वानुभूत सक्षेपीकृत स्मरण (ज्ञान-लक्षण प्रत्यासत्ति) के सिद्धान्त के साथ, २—लिप्स के द्वारा वर्णित सह-ध्वनन अथवा सह-अनुभूति का यह सिद्धान्त, 'भावन' का विस्तार एक नये आयाम मे करता है। काव्य-भावन मे तब 'भावन' का अर्थ काव्य-बिम्बों में अन्तर्लीन हमारी चेतना का अलक्ष्य नर्त्तन हो जाता है, अगों, मांसपेशियो, पुट्ठों आभ्यतर अवयवो एवं समस्त इन्द्रियो आदि का अनायास स्पन्दन हो उठता है। दूसरे शब्दों मे कह सकते हैं कि प्रत्यक्षीकरण एव काव्यप्रतीति मे भावन हमारा अनायास किन्तु स्वत स्फूर्त्त जैव सहयोग है—गत्वर एवं क्रियाशील परन्तु

अनैच्छिक सह-अनुभूति है। आगे यह स्पष्ट किया जायगा कि इस सह-अनुभूति में १-मूर्त्तन एवं २-अमूर्त्तन की दो प्रक्रियायें युगपत् होती हैं।

भावन और क्रीड़ावृत्ति :—

काव्यकलादि के भावन-व्यापार को कवि शीलर और उनके बाद हर्बर्ट स्पेंसर ने नैसर्गिक क्रीड़ावृत्ति के रूप में प्रस्तुत किया था।[110] क्रीड़ा के सम्बन्ध में मनोविज्ञानियों के अनेक मत हैं। मैक्डूगल ने उसे सहज प्रवृत्त्यात्मक माना था, स्पेंसर ने अतिरिक्त शक्ति का उच्छलन, कार्ल ग्रूस ने भावी जीवन की तैयारी या आत्मविकासात्मक प्रवृत्ति, स्टैनले हाल ने आदिम एवं पूर्व जीवन की संक्षिप्त आवृत्ति एवं [illegible] ने जीवन को ही क्रीड़ा माना है, क्रीड़ा को ही जीवन बतलाया है। भारतीय मनीषा ने ब्रह्मसूत्र के 'लोकवत्तु लीला-कैवल्यं' एवं मनु के 'क्रीडन्निव एतत् कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः' के अनुसार नानाभावोपसम्पन्न नाट्य को भी '[illegible] क्वचिद्धर्मः क्वचित् क्रीडा-' माना है। क्रीड़ा निष्प्रयोजन, प्रायः अनैच्छिक एवं लोक-कर्म से अलग एक मनबहलाव है। साथ ही उसमें 'स्व' के उत्सर्जन की भी वृत्ति रहती है। क्रीड़ा में आत्मविसर्जन की भी प्रक्रिया इसलिए रहती है, कि जिससे खेल खेला जाता है, उससे व्यक्ति का तादात्म्य हो उठता है।

मनोविश्लेषकों का कहना है, कि क्रीड़ा में जो आत्मविलयन है, उसमें व्यक्ति अपने 'लिबिडो' से वस्तु को अतिक्रान्त करता है। इसके फलस्वरूप क्रीड़ा जादुई क्रिया हो उठती है। कल्पना और यथार्थ के बीच क्रीड़ा सेतु का काम करती है जिसमें व्यक्ति का आत्मसम्मोहित 'लिबिडो' क्रियाशील रहता है। फ्रायड ने रसानुशीलन या भावन को अवचेतन 'लिबिडो' का ही शिशुमन द्वारा उच्छलन माना है। ऐसे कलाकार लिओनार्दो द विंची की भाँति सदा शिशु रहते है, और स्वप्नक्रीड़ारत रहते हैं।[111]

एक अन्य विचारक का कथन है कि हमलोगों ने आदिम एवं दुर्दान्त क्रीडणोत्सव खो दिये हैं, परन्तु उनके स्थान पर कलाएँ है[112], जिनकी मध्यस्थता से हमें तत्समान रंजन प्राप्त होता है—रेचन के द्वारा भी एवं दमित अवांछनीय अतुष्ट इच्छाओं की तिर्यक् तृप्ति के द्वारा भी। फिर क्रीड़ा के जीवजन्तु जिनसे आदिम मनुष्य और बालक खेलते हैं और खेलते आये हैं और जिनमें जादुई सम्मोहनवश तादात्म्य करते आये है, धीरे-धीरे

विकसित और वयस्क मनुष्यों के लिये, सब्बे जीवजन्तु हो उठते है। प्रकृति का ऐसा ही नैसर्गिक व्यवहार है। सम्मोहन, फिर वशीकरण, फिर मारण; अर्थात् खिलौने के रूप मे उभारना, खेलाना और फिर लील जाना। इस प्रकार खेल मे जीवन और प्रकृति की क्रीड़ा का गभीर भाव छिपा है। उसका व्यवहार सर्प-जैसा अनिश्चित पर लक्ष्य से कभी दूर नही जानेवाला होता है। क्रीडा मे भी लक्ष्याभिमुखता है, पर वह पूर्णतः गुप्त है।

'भावन' का उत्स, कहा जाता है, 'क्रीडा-वृत्ति' है। रजनात्मक कला में भी क्रीडा का सम्मोहक तादात्म्य-भाव रहता है। पर, भाव, भावन और क्रीड़ा के गह्वर में बुद्धि या ज्ञान की 'कुण्डलिनी' भी रहती है— तद्विशिष्ट बना कर तल्लीन कर लेने की, एव अन्तत लील जाने की प्रच्छन्न शक्ति होती है।[११३]

काव्यकला के पंडितों ने क्रीडावृत्ति के मनोविज्ञान-दर्शन को काव्यादि में बड़े व्यापक रूप में घटित किया है। लय का उद्भव, उनका छन्दोमूर्त्तियो में स्फुरण, भाषा का तदनुकूलित होना, इन दोनों का नाना प्रकार के स्वर-व्यंजनात्मक नादबिम्बों मे, एव फिर शब्दबिम्बों, भावबिम्बो मे स्फुट होते हुए अलातचक्रवत् घूर्णित हो रसबिम्बो को रूपायित करना—यह सब क्रीडा ही है। कवि प्रजापति की भाँति इन बिम्बो से लीला करता है और सहृदय भी। दशरूपककार ने जब बतलाया था, कि

> क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभि. ।
> स्वोत्साह. स्वदते तद्वच्छ्रोतृणामर्जुनादिभि ॥ (४-४१-४२)

तो लगता है, कि क्रीडा के मनोविज्ञान की ही, जैसे, पूर्ण कल्पना कर डाली थी। काव्य के ससार मे हमारे अहेरी मन को कुछ पारिवारिक वातावरण मिलता है, भूले-बिसरे घर की शान्ति-सी प्रशाँति मिलती है, जैसे इसी लोक के लिये हममे पर्युत्सुकी भाव रहता हो। आस्वादक आदिम गोचारण के दृश्यों मे और उससे भी पहले के मिथकीय दृश्यों में रम जाने के लिए शिशुवत् हो जाता है। अतएव आज के कवि सचेष्ट हो गुडियो, घरौंदो, जीवजन्तुओं और शिशुकल्पनाओं के, अनिश्चित रागद्वेष के बालमानसवत् विस्फोटक दृश्यादि प्रस्तुत करते हैं, एव आदिम जातियो के पर्व-त्यौहारो, सवेदनो-प्रतरूपो, मुहावरो, यहाँ तक कि तुतली भाषा, उखड़े-पुखड़े स्वरादि का भी प्रयोग करते है, ताकि युग के भार से कवि-पाठक मुक्त हो सकें, लादी गई सभ्यता एव तत्परिणामी

भाषिक तंत्रवाद के जुओं को उतार कर क्षण भर को हल्का हुआ जा सके। स्पष्टतः, इस अर्थ-परंपरा में 'भावन' अश्रुत-अपूर्व के साथ श्रुत-सम्भावित का योग है, अनेकता में एकत्व का उपस्थापन है, अपने विस्मृत रूप का प्रत्यभिज्ञान है, पुनः प्राप्त आदिम और असीम चेतना (आत्म, अचेतन) से 'स्व' की लीला है।

डॉ० राधाकृष्णन ने बृहदारण्यकोपनिषद् (३-५-१) से यह उद्धरण 'तस्मात् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'—दे कर डॉसेन की साक्षी पर 'बाल्येन' का 'शिशुवत् आचरण करना' अर्थ लिया है और यह बतलाया है कि बुद्धि से सहजानुभूति (इंटेलेक्ट से इन्ट्यूशन) की शक्ति अधिक है। यह प्राचीन ऋषियों को भी मान्य था। कवि सहजानुभूति के स्तर पर उद्गत रहने वाला व्यक्ति तो है ही। वह निर्विशेष भावन के लोक में पहुँचता और पहुँचाता भी है।[११४]

भावन : सामाजिक स्वनन :—

हर्न ने एक दूसरी दिशा में भावन की व्याख्या का निर्देश किया है। यह है समाज की दिशा। उसकी दृष्टि से काव्य और कलाएँ सामाजिक स्वनन की प्रत्याशी हैं। वे मूलतः समाजनिष्ठ एवं समाज-पर्यवसायी हैं। कृतिकार चाहता है कि उसकी रचना समाज में अनुनादित हो। कवि के गीत जब समाज की कंठ-ध्वनि में चढ़ कर संगीत होते हैं, उसके चरित्र जब समाज के जीवन व्यवहार होते हैं, तो उसे वैयक्तिक तोष से कुछ अधिक की प्राप्ति होती है भूमा की सम्प्राप्ति-सी होती है। रचयिता की मूल वृत्ति है :

तुम गा दो, मेरा गीत अमर हो जाए। (बच्चन)

सामाजिक स्वनन का यह प्रारूप भामह-वामन द्वारा प्रकल्पित 'कीर्ति' अथवा मम्मट द्वारा निर्दिष्ट 'यश' से कुछ विशिष्ट है। इसका सम्बन्ध प्लेटो-प्रकल्पित आवेग के जैव स्वनन-व्यापार में है। ड्रेवर ने ('इन्सटिंक्ट्स इन मैन' के पृष्ठ १५८-१५९ पर) संवेगों के लक्षण बतलाते हुए, 'जैव स्वनन' (आर्गेनिक रिज़ानैंस) को उनका तीसरा लक्षण माना था। संवेगों में यह 'जैव स्वनन' समायोजन-हेतु होता है और समायोजन परिस्थिति अथवा समाज से सम्बद्ध है। व्यक्ति समूह को स्वनित-प्रतिस्वनित करने की तीव्र जादुई शक्ति आदिम नृत्य-गायनादि में भी विकसित करता था। तत्कालीन कला-काव्यादि से लेकर आज तक की कृतियों में जो ओज और जीवन-वेग है, वह समाज में अनुगुंजित होने के लिए ही है। यह मात्र सहानुभूति का

आकांक्षी भी नही । प्रत्युत्, इसकी माँग कृति में अनुनादित हो उठने की है, उसका सहभोक्ता बन जाने की है। सह-भोगपूर्वक काव्यानुभूति का ग्रहण, उसकी लयो, रूपमुद्राओ आदि मे वाह्यन. ही नही अन्तस्थित नर्तन. इस दृष्टि से, अधिक जीवनी-संस्थानीय ग्रहण है। हर्न ने एक घटना का भी वर्णन किया है, कि नर्त्तक-समाज को जज के यहाँ कार्य-व्यापार में बाधा डालने के अपराध पर जब प्रस्तुत किया गया, तो जज ने उस समाज मे जानना चाहा कि वह क्या-कुछ करता है कि काम ठप पड जाता है । उत्तर मे नर्त्तक-समाज ने जो नर्त्तन प्रस्तुत किया, तो कुछ ही काल बाद जज विवश हो उस नृत्य मे शामिल हो गया । इजलास को छुट्टी देनी पडी । कवि अपनी कृति का समाज में ऐसा ही ध्वनन चाहता है । वह स्वयं भी तो समाज मे, प्रकृति मे, जगत् मे इसी प्रकार अनुनादित होकर काव्य-सामग्री का सचयन करता है। अतएव सामाजिक ध्वनन की उसकी आभ्यतर माँग न अनुचित है और न अहेतुक । [११५] हर्न की यह व्याख्या 'भावन' के 'जैव ध्वनन' वाले सिद्धान्त का सामाजिक धरातल पर विशदीकरण है। इस दृष्टि से 'भावन' का अर्थ कवि के लिए दो धरातलों का 'हृदय-संवाद' होगा—अनुभूति के चर्वण के लिए अन्तस् के धरातल का, और अनुभूति के लोकचित्त मे सक्रमण की दृष्टि से बाह्य लोक के धरातल का । 'साधारणीकरण' का भी अन्तत: यही प्रयोजन है।

साधारण्य = भीड़वाद

किन्तु यह 'लोक' अथवा 'साधारण जन' है कौन ? इतिहासकार आर्नल्ड टॉयनबी का मत है कि हर सभ्यता जरूरत से ज्यादा सभ्य होकर ह्रास को प्राप्त होती है और कोई नई बर्बरता उसे जीत लेती है। टॉयनबी साम्यवाद को वैसी ही नई बर्बरता मानते थे। तो 'साधारण जन' यही बर्बर मानव' है क्या ? कि वह नैतिक, धार्मिक और शिष्ट मानव है ? स्पेनिक इतिहासकार और दार्शनिक होसे ओर्तेगा इ गास्से के अनुसार ३० वर्ष से लेकर ४५ वर्ष तक के लोग नई दुनियाँ लाने की कोशिश करते हैं और ४५ वर्ष से लेकर ६० वर्ष तक के लोग लायी गयी नयी दुनियाँ की रक्षा के लिये उन नवयुवकों को आडे लेते हैं, जो पीढी-परिवर्त्तन के साथ-साथ नयी से और भी नयी दुनियाँ लाने को उतावले दीखते है। इस प्रकार दो धरातलों में तनाव रहता है। 'साधारण जन' इनमें से किस धरातल का मनुष्य है ? कलाकाव्यादि के क्षेत्र मे आज भी 'पुराणमित्येव न साधुसर्वं न चापि काव्यं नवमित्यविद्यम् ।' एवं

'उत्पस्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा' का कालिदास और भवभूति के समान उद्घोष करने वाले किशोर विद्रोही ही की आवाज बुलन्द है। अन्य कलाओं को छोड़ मात्र काव्य मे बीटनीक, विट्ल, और अधुनातन हिप्पी आज जिस रूप मे चर्चित हैं, उनसे 'सामाजिक ध्वनन' के सिद्धान्त का व्यवहार-पक्ष यही सिद्ध करना है कि 'साधारण जन' आज का सभ्य मानव नही, अपितु किशोर-कल्पना का वह मानव है, जो लादी गयी सभ्यता-शिष्टता से निस्संग, मुक्त और स्वच्छन्द है। बीटनिक और विट्ल अपने को 'आहत' मानते हैं। हिप्पियों का कहना है—'समग्र अनुभव के लिये सभी इन्द्रियो पर प्रहार करना आवश्यक है।' इसलिये रैम्बो की भांति चरस गाँजा आदि सारे मादक द्रव्य और समस्त सुन्दरियाँ सेवनीय है। इनके सेवन से अन्दर का जो मानव बाहर आ जाता है, वही सच्चे कलाकार का 'मानव' है। सारा भीतरी तत्व द्रव रूप मे जब बाहर आ रहा हो, इन्द्रियों के पूर्ण आभोग से व्यक्ति पिघला हुआ बाहर कढा आ रहा हो, तो इन्द्रियो के प्रहार से उपजा हुआ पूर्ण मानव इन्द्रियो के आवरण को भेद कर, इन्द्रियो के परे उतर जाता है। इन नये आन्दोलनकर्त्ताओं ने इस युग के समस्त तर्क और नीति को पुराने आन्दोलन-कर्त्ताओं की भाँति संशोधित करना नहीं चाहा है, परन्तु पूरी तरह छोड देना चाहा है। बुद्ध ने राजकीय यवनिकापात किया था, ये लोग सामाजिक यवनिकापात चाहते हैं। नीत्से ने कहा था अतिमानव आयेगा। ये कहते है—बर्बर आयेगा। होसे आर्तेगा इ गास्से के अनुसार आज समूह-मानव और भीड़वाद हर कही छा गया है। विज्ञानवाद और लोकतंत्र ही परोक्षरूप से इस भीडवाद अथवा बर्बरता को लाने के लिये उत्तरदायी हैं। आबादी बढी है, तकनीकी तेजी मे आदमी की चिन्तन और व्यवहारक्षमता तेज हुई है। ज्ञानराशि इतनी बढ गयी है, कि ज्ञान को अपने दायरे से बाहर लाकर सोचने-समझने और समग्र सत्य को पा सकने का अवकाश नहीं। अतः सभी क्षेत्रों मे 'भीड़' का आदमी ही सम्बोधित है, निर्णायक है, कर्ता है। 'भीड़ की नीति' ही नीति है, भीड़ का ज्ञान ही ज्ञान है। हम भीड़ से आक्रान्त हैं। विज्ञान वैज्ञानिक उतना नही जितना भीड-तन्त्र द्वारा व्यवहृत, अत. अवैज्ञानिक है। सत्य, नीति, न्याय, मूल्यभावना आज फिर उसी भाँति डगमगा गयी है, जैसे उस समय डगमगायी थी, जब मनुष्य ने परलोकवाद और ईश्वर पर से आस्था उठा ली थी। तब उसने विज्ञानवाद और मानव मे आस्था टिका कर अस्तित्व संभाला था। आज ये दोनो ही काँप रहे हैं। मनुष्य अपनी

सभ्यता और तर्क से ओछा पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में कला और काव्य का 'साधारण जन' कौन है? तर्काधीन मानव या तर्कातीत मनुष्य? सत्य उस ओर है या इस ओर? काव्य कहाँ सामाजिक ध्वनन करता है? ये सारे प्रश्न आज के मीमांसकों को मथ रहे हैं। अभी इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि कला और काव्य का 'साधारण जन' सामयिक मानव नहीं होता, वह प्रत्यक्षतः आगामी युग का मानव होता है। परवर्ती युग ही पूर्ववर्ती युग का मूल्य-निर्धारक है। साथ ही साथ 'साधारणजन' परोक्षतः निर्विशेष और कालातीत मानव होता है। इस प्रकार 'सामाजिक ध्वनन' उतना सामयिक रंजन नहीं जितना उत्सर्जन है। अर्थात् काव्य 'सामूहिक अचेतन' को सम्बोधित है। 'सामूहिक अचेतन' का ध्वनन ही सामाजिक ध्वनन है। वही 'साधारण्य' द्वारा ध्वनित होता है। 'सामाजिक ध्वनन' की हर्न जैसी प्रकल्पना, किन्तु आत्मा के धरातल परे, भारतीय काव्य-कला में भी की गयी है। पृष्ठ ७८ पर यह वर्णित हुआ है कि अभिनवगुप्त ने आत्मचेतना के समष्टि-चेतना में प्रगाढ़-प्रसार की विशद और भव्य कल्पना प्रस्तुत की है, जिसमें सर्वात्मक चेतना की उछलती हुई किरणों का समूह समस्त दर्शक-समुदाय के हृदयों में प्रतिबिम्बित होकर बहुत से दर्पणों में झलकती हुई किरण की तरह सबको एकत्व में प्रभामंडित कर देती है। काव्यकलादि का लोकचित्त के निर्मल दर्पण में इस प्रकार का बिम्ब-प्रतिबिम्ब अंकन, रागात्मक ध्वनन और तन्मयकारी गुंजन वही तो है सकलप्रयोजनमौलिभूत 'सद्यःपरनिर्वृत्ति'। सामाजिक ध्वनन का यह आख्यान 'भावन' को अपूर्व विस्तार देता है तथा काव्य-सर्जन की एवं काव्यास्वादन की सामाजिकता का आधुनिक अर्थ-निर्देश प्रस्तुत करता है। भारतीय काव्य और कला-कल्पना की अन्तर्मुखी वृत्ति की प्रधानता में भी बहिर्मुखी प्रवृत्ति अन्तर्निहित है—[११६] यह अभिनवगुप्त के विवेचन से स्पष्ट होता है।

भावन, रसास्वादन और व्यक्तित्व-विलयन :

'भावन' द्वारा काव्यास्वादक 'रसदशा' में उद्गत होता है। उस दशा में प्राणवंत आत्मसत्ता के तरंगायमान सिन्धु में हमारा लघु व्यक्तित्व तिरता होता है। हमारी चेतनसत्ता के दो रूप हैं।

१—सहज आत्मरूप (मनोवेत्ताओं का अचेतन, बौद्धों का शून्य, बर्गसाँ का 'एला विताल' आदि) और

२—सोपाधि आत्मरूप अथवा व्यावहारिक चेतनरूप। यह व्यावहारिक सोपाधि चेतनसत्ता ही हमारा व्यक्तित्व है। अव्यक्त-सी या आभ्यन्तरिक-सी शुद्धबुद्ध असीम सत्ता जब व्यक्त हो कर जीवनजगत् में प्रतिक्षण देशकालानुवर्त्तिनी होती है यथार्थ से स्पृष्ट हो प्रतिपल विघटित-संघटित होती चलती है तो उसका समवेत रूप हमारा 'व्यक्तित्व' कहलाता है, जिसमे विकासङ्कन, लक्षण आदि नाना परतो एवं आयामो का रहता है। रसदशा मे यह व्यक्तित्व द्विध्रुवीय दोलन मे आन्दोलित रहता है[११७]। वस्तून्मुखी होने के कारण, व्यक्तित्व की तदाकार परिणति होती है—यह तादात्म्य, आत्मानुनाद, परकाया-प्रवेशादि शब्दो के द्वारा व्यक्त किया जाता है। यह प्रक्रिया मूर्त्तन (कान्क्रिटाइजेशन) की है। फिर, आत्मोन्मुखी रूप हो, व्यक्तित्व का सूक्ष्म अश व्यक्त और मूर्त के बहाव को अव्यक्त और अमूर्त की ओर ले चलता है। पहली प्रक्रिया द्वारा 'सौन्दर्य' का प्रभाव, अर्थात् सवेदनादि ग्रहण किया जाता है, जिसमे धीरे-धीरे अन्यथाकरण और विघटन की भी (विषय एवं विषयी दोनो में) क्रिया होती है। यही द्रष्टा-दृश्य का हृदय-सवाद है। फिर ध्यानस्थ-सा हो, उन प्रभावों को अन्वित और आत्मसात् करने के लिये द्रष्टा आत्मकेन्द्रित होता है और पाता है, कि निमिष भर को उस आत्मसत्ता मे उसका व्यक्तित्व एकाकार हो, लहरा उठा है। व्यक्तित्व का तिरता अश सौन्दर्यानुभूति की विशिष्टता का अश है, जिसके कारण सौन्दर्यानुभूति, या चित्र, मूर्त्ति, सगीत, नृत्य, शृगार रस की कविता आदि की अनुभूतियाँ विशिष्ट और अपने रग मे रँगी प्रतीत होती हैं। व्यक्तित्व का जो विशद अंश तद्रूप होकर आत्मतत्व को चुम्बित कर जाता हैं, उससे उसमे एकात्म भाव और आह्लाद भर आता है। उसे एकघनसवित्-विश्रान्ति, आह्लाद, आत्मोपलब्धि आदि शब्दो मे व्यक्त किया गया है। व्यक्तित्व की ऐन्द्रिय, सवेदनात्मक, चेत संस्थानीय, बोधात्मक, भावात्मक, क्रियात्मक, जीवन-सस्थानीय एव चेतन-अचेतन परते उस क्षण समाकल सघन वैशद्य मे कुछ इस प्रकार खुल जाती है कि सबकी विशिष्टताओ को सूक्ष्मीकृत रूप में, कहे प्रातीकिक विधि द्वारा प्रतिनिधित्व (रिप्रेजेन्टेशन) प्राप्त हो जाता है। तब सबके अपने-अपने वृत्ति-चक्रों की अनेक गतियो की चाले एक भव्य वृत्त के अनुनाद में सवादित हो उठती है। नाना रुचियाँ, आकांक्षाएँ कुछ तिर्यंग-रूप मे कुछ ऋजु रूप मे, प्रातिनिधिक तृप्ति पाती हैं। व्यक्तित्व का विलय हो जाता है, अथवा निस्सगता, निर्वैयक्तिकता आदि नकारात्मक क्रियाओ-शब्दो के द्वारा

हम उस सर्वाशित स्वीकारात्मक मनोदशा का आख्यान कुछ नेतिनेतिवाद की पद्धति पर करते हैं। उस क्षण हम सज्ञान मे प्रबुद्ध रहते है। वह संकल्प-परक ऊर्जस्वित मनोदशा है जो समस्त कर्मों का बीज है। परम नुदेश की यह मनोदशा, व्यक्तित्व-विलय की उतनी नही, जितनी सार-सत्ता मे उसके अखण्ड और पूर्ण बोध की है, उदात्तीकरण की है [११८]। यह मनोदशा द्रष्टा-दृश्य-संघात अथवा विषय-विषयि-यौगपद्य की है। व्यक्तित्व की सोपाधि आत्मसत्ता और निरुपाधि असीम सत्ता के क्षणिक मिलन के कारण इस मनोदशा में आह्लाद और वैकल्य दोनो मे पूर्ण एकस्वरता रहती है।

भाव, भावन तथा बिम्बोद्भव

भाव की लयमयता : विचारणा के दो ध्रुवों मे शुष्क तार्किक चिंतन के ध्रुव में शैत्य है और उसकी गति भी सम एवं मन्द रहती है, पर दूसरे ध्रुव, भावावेश की स्थिति वैसी नही होती। प्रेम, श्रद्धा, करुणा, क्रोधादि की अवस्था मे लोकभाव और वाङ्मय मे हृदय की प्रवृत्ति को महत्त्व दिया गया है। आयुर्वेद भी भाव-भावनादि मे हृदय की ही प्रवृत्ति मानता है। आज का मनोविज्ञान संवेग और भाव को अन्तरावयवों से—रसन, श्वसन, रक्तचाप, हृद्कम्पादि से—सम्बद्ध बतला कर 'भाव हृदय से सम्बद्ध है' की लोक-प्रसिद्धि का पुनराख्यान-सा कर रहा है।

भाव कुछ अधिक व्यापक और आदिम है। वह हृदय का स्वराज्य है, आत्मा की राजस विभुता है। ज्ञान हमारी आत्मा के तटस्थ (ट्रेन्सेन्डेन्ट) स्वरूप का संकेतक है, रागात्मक हृदय उसके व्यापक (इमानेंट) स्वरूप का' (शुक्लजी)। भावसत्ता लीनता द्वारा व्याप्त होना चाहती है, ज्ञानसत्ता ताटस्थ्य द्वारा उत्तीर्ण होना चाहती है। भाव की मनोदशा प्राथमिक और मूलभूत जैव दशा है। किन्तु ज्ञानदशा मनोमय कोश के उद्भव के अनन्तर विकासक्रम में बाद की उद्गति है। इसलिये, समस्त धर्मों में ज्ञान के कठोर पाश से मुक्त हो, भावलोक मे प्रवेश के लिये नाना भूमिकाएँ, क्रिया-कल्पादि वर्णित हैं। [११९] जादू, टोने, सम्मोहन एवं मंत्र आदि उसके अनेक प्रकारो मे से कुछ विशिष्ट प्रकार है। शैंड के अनुसार समस्त संकल्पात्मिका और निश्चयात्मिका वृत्तियाँ किसी भाव या मनोवेग द्वारा प्रेरित होती हैं और उसके शासन में रहकर उसके लक्ष्य के अनुकूल चलती हैं। [१२०] कहा जाता है, मनुष्य की भाषा ने स्वर प्रकृति की भाषा से सीखा। बादलों-झंझाओं, जजती

धूप और छिटकती चाँदनी, हहराती गिरि-सरिताओं और प्रशांत गिरिशृंगों, दहाडते पशु और चहचहाती चिडियों की भाषा में ही मनुष्य की भाषा ने स्वर और नाद-प्रकम्प पाये। आदिम अवस्था की रागात्मक भावमयता से मनुष्य की भाषा में स्वर-स्वारस्य, लयसाम्य और नादमाधुर्य भर गयी है। आदि-मानव की भाषा इस कारण ही लयात्मक रही होगी। उत्कट मनोवेगों और उद्दीप्त क्षणों में आज भी व्यक्ति आदिमानव की लयात्मकता, स्वरता और नादात्मक ध्वन्यात्मकता के समीप पहुँच जाता है।

चिंतन भावाविष्ट होकर त्वरित, और वेगयुक्त हो चलता है। उसमें तीव्रता और सघनता भी आती है। फिर लक्ष्योन्मुखी होने के कारण वह आकुल भी रहता है। भाव की यह अतिरिक्त ऊर्जा विचारणा और भाषा-व्यवहार को स्फूर्त, रफील एवं सबलित करती है। वैसे भी, भावहीन बोध अथवा निरपेक्ष ज्ञान कृच्छ्रसाधना है। हम प्रतिक्षण भावात्मक रूप से संबोधित, और संबंधित होते रहते हैं। उगते सूरज, चहकती चिडियाँ, उमडते बादल, रंभाती गाय, चटकती कली और उचकती किरण आदि जगत के नाना शब्द, रूप, रस, गंध, गति के दृश्य अनायास हमारे किसी भाव को स्पर्श कर जगा देते है और उनके प्रति हम अभिनियोजित होते हैं। बहुधा भाव द्वारा ही हम अशुद्ध प्रत्यक्ष से शुद्ध रूप का स्मरण करते हैं, सुसंगत सुनियोजित वस्तु देख संतुलित होते हैं; असंगत व्यवहार देख झेंपते हैं, अनगढ टील्हा चारु प्रतीत होता है, अपरिचित चेहरे में सौमनस्य झलकता है, अन्यमनस्क मित्र का घर खामोश और भारी-भारी मालूम पडता है; धवल अट्टालिका में अनदेखे अज-नबियों के चेहरे और जम्हाइयाँ छाई मालूम पडती हैं; शाबाशी की बुलन्द आवाज के पीछे डाह की खामोश नीली आँखें झाँकती दीखती हैं और किसी की निश्चल मौन मुद्रा में सौहार्द उमडता प्रतीत होता है। यह दर्शन भावानु-प्रवेश द्वारा ही संभव है, विषय के स्वालक्षण्य के बोध से नहीं। हमारे जागतिक व्यवहार और अभिनियोजन, चित्तवृत्तियों के तदात्मक अथवा तद्प्रभव संतुलन इसी प्रकार की सामान्य भावदशा द्वारा अनुक्षण प्रेरित रहते हैं।[११] भावपरामर्श के ये सहज व्यापार मनुष्य के जीवन में जटिल प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करते हैं जिनके कारण उसकी मनोवृत्ति सदा विशद और गाढ होती चलती है। भावदशा में गृहीत होने पर प्राकृतिक दृश्य धार्मिक तंत्र और 'पुराण' बन जाते हैं; महापुरुष की जीवनी में तब गाथाएँ जुटती हैं, इतिहास मिथक लोक-कथा और पुराकल्प में बदलने लगता है।

फिर, भाव भी महाभाव में पर्यवसित होना चाहता है; व्यक्ति देही से भावदेही होना चाहता है। दर्शन और धर्म मिलकर भावमयी 'भक्ति' का आख्यान करते हैं। इनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाव की महिमा ज्ञान से अधिक है। किन्तु प्रत्येक भावधारा के अन्तर मे ज्ञान की रेत पड़ी तो रहती ही है।

भाव-दशा और भाषा-व्यवहार में बिम्बात्मकता

'भाव' में हमारी अवस्था कुछ असामान्य रहती है। 'संवेगात्मक व्यवहार' प्रतिक्रियात्मक मनोदशा का व्यवहार है। उस समय चेतना मे जटिल और विविध अनुभव होते रहते हैं एव उनकी रागात्मक प्रगाढता और वासनात्मक एकध्येयता में चेतना लीन-सी रहती है। उसमें बिम्ब है, तो लक्ष्यगत। परन्तु, उस आछन्न अवस्था मे उसका पृथक् बोध नही होता। यदि हम उसके प्रति ही चैतन्य हो उठें, तो अनुभूत भाव मानस-पटल पर बिम्बित तो होगा, पर तब भावात्मक अवस्था ही तिरोहित हो जायगी। किन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि भाव की धीर और सयत दशा में हमारी चेतना का रूप-रंग वही होता है जो उस क्षण अनुभूति (राग), प्रत्यक्ष-बोध और अन्तरावयवी रसनादि-क्रिया-व्यापारो का रहता है। उसमें आलम्बन के नाना पार्श्वों के बिम्ब स्पन्दित रहते हैं।[१११]

भावदशा आतुर, तीक्ष्ण सवेदनशील और तीव्र लक्ष्योन्मुखी दशा है। ऐसी दशा में सामान्य जीवन मे भी हमारे व्यवहार लोकसामान्य भूमि के न होकर, कुछ-बहुत काव्य-भूमि के व्यवहार-जैसे होते हैं। तभी युवावस्था में उच्चावचता को देख, 'वपुर्विभिन्नं नवयौवनेव' कह उठते हैं। आयुर्वेद के अनुसार, भावदशा वातसंक्षुब्ध दशा है, जिससे प्राणतत्व मे वृद्धि आती है। 'उदानोनामयस्तुर्ध्वमुपेति पवनोत्तम' के कारण [११२] यह दशा अतिरिक्त सप्राणता की दशा है, परिस्थिति के प्रति त्वरित समायोजन की दशा है।

परन्तु किसी कारण भाव-प्रेरित अतिरिक्त ऊर्जा जब कर्म में निस्सरित नहीं होती और उसके स्थान पर वाणी में फूटती है, तो उस बाढ़ को मध्यम मार्ग का अवलम्बन करना पडता है। ऐसी दशा में ऊर्जा, ऐन्द्रिय सवेदना (अनुभूति या राग) एवं वेगादि की अभिव्यक्ति विशद, तेजोमय, अलंकृत, अतिशयोक्तिपूर्ण और वक्र भाषा-व्यवहार के द्वारा होती है। व्यक्ति अपने भाव की बाढ़के नि.सरण हेतु भाषा के वक्र प्रयोग का सहारा लेता और प्रकारान्तर

से भाव की प्रपन्न दशा से हल्का होता है।[१२४] इसके विपरीत, ऊर्जा यदि अप्रतिहत और निर्बाध प्रकट हुई, तो वैसी स्थिति नहीं होती। वह निर्बाध कर्म की महादशा है। 'उत्साह' के देवता जो 'महेन्द्र' माने गए हैं, और गौर वर्ण हैं, वह सभवत: इसी कारण। जभी क्रोध (यानी रुद्ध ऊर्जा) के देवता रुद्र हैं, जो रक्त वर्ण हैं। वीरमुद्रा कर्मप्रवाही है, किन्तु रौद्र रुद्ध, सक्षुब्ध मुद्रा है।

रिचर्ड्स एवं आग्डेन के अनुसार भाषा के पाँच लक्ष्य हैं। उनमें से एकाधिक के त्याग और शेष के वैशद्य द्वारा भाव अपना रूप प्रकट करता है।[१२५] इसका प्रभाव शब्द-चयन, क्रम-विन्यास, लय-प्रवाह, स्वर-तारता आदि पर पडता है। हम व्यक्ति को सामान्य व्यवहार मे जिन शब्दो के द्वारा सम्बोधित करते हैं, क्रुद्ध होने पर उन शब्दो के द्वारा नही। उपकृत होने पर भी हमारे शब्द-प्रयोग एव स्वर-प्रवाह बदल जाते हैं। शब्द तब भाव, आलम्बनादि के अनुसार चयित एव विन्यस्त होते है। ये भावात्मक शब्द तब शब्द की भाषिक प्रातीकिकता और स्थूलता को द्रवित करते हैं एव नयी प्रातीकिकता और बिम्बात्मकता उभारते हैं। '**मेरे मन में आज अचानक** राक्षस जागा' में '**राक्षस**' अपनी पुरानी प्रातीकिकता और स्थूलता खण्डित कर कवि के अन्तर्गत जो तमोगुणी वृत्ति उस क्षण उदित हुई है उसका प्रतीकन करता है। इस प्रकार भाषा-द्वारा भावाभिव्यक्ति करने की प्रक्रिया मे वक्ता अनुभूत भाव को शब्दमूर्त्ति में उडेल कर साक्षात् जगत से क्रियापरक समायोजन के स्थान पर भाषिक समायोजन करता है।

भाव मे राग या अनुभूति का अंश रहता है। वाणी अथवा शब्द-प्रयोग मे जब भाव का प्रकाशन होता है, तब राग-द्वेष का अनुभूत्यात्मक अश क्रिया मे प्रवाहित नहीं होने के कारण रुद्ध हो जाता है। इस अवरोध के कारण वाणी मे लयात्मकता आती है। शब्द-क्रम में तब आरोह-अवरोह, विस्तार-संकोच, विवृत्त-संवृत्त स्वरों की लय आती है। वह स्वराघात, बल आदि वश स्पर्श, ऊष्म व्यंजनों में प्रकम्पित होती हुई प्रकट होती है। यह भी कह सकते हैं कि शरीरी, बाह्य एव आभ्यतर कम्पन-रसनादि भाव के लक्षण शब्दो को भी तद्वत् स्पन्दित और प्रकम्पित करते हैं। नाद की स्वरता पा कर शब्द अपने प्रतीकत्व से ऊपर उठ कर ध्वन्यात्मक भी हो उठते हैं। इस ध्वन्यात्मकता और उपरिवर्णित लयात्मकता के कारण शब्द-क्रम में नाना सहचर आसगो, पूर्वानुभूत घटनाओं-अनुभूतियों के आभ्यंतर संस्कारो को छेड़ने और जगा देने

की अद्भुत शक्ति आ जाती है[१२६]। जर्मनी के काव्य-मनीषी जे० जी० हर्डर (अठारहवी शताब्दी) ने बतलाया था कि संवेग (भाव) की प्रथम संतान शोकगीति है, जो कविता का आदिस्रोत भी है और जीवन का मूल भी। हर्बर्ट रीड की धारणा है, कि आदिम स्वर जैसे ही वस्तु से सम्बन्धित या भाव से स्पंदित हुआ होगा, और उसमें प्रतीकात्मकता आई होगी, ताकि सारा समाज उसे तद्वत् ग्रहण करे, वैसे ही उसकी स्वरता लय बन गई होगी[१२७]।

यही कारण है कि प्राय सर्वत्र तीव्र भावों की भाषा मे दीर्घस्वरो, और संयुक्त व्यंजनों का क्रम अधिक रहता है, जैसे—

'हिमाद्रि तुंग शृंग से, प्रबुद्ध शुद्ध भारती'

अथवा

आह, मेरा श्वास है उत्तप्त, प्यार है अभिशप्त
धमनियों में उमड आयी है लहू की धार
तुम कहाँ हो नारि ?

प्राचीन भारतीय मनीषियो, यथा वामन, कुंतक आदि ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर ही भाव और रसानुरूप वृत्तियों तथा गुणों का विवेचन किया था। भाषा मे लय का आविर्भाव नाद के आरोह-अवरोह के नैरन्तर्य से होता है। भाषागत ध्वनिसाम्य एव अनुप्रासादि से उसमे सम्मोहन के तत्त्व उभरते हैं। लय का प्रभाव बड़ा व्यापक और गभीर है। उससे श्रोता के ऐन्द्रिय सवेदन में भावानुरूप तीव्र संवेदनशीलता आती है, चेतना अधिक प्रगाढ़ होती है और मानस के अन्तर्लोक में सहज विश्वसनीयता के उदय के साथ आदिम आस्था का, अर्थात् जादुई, मिथकीय वातावरण की आच्छन्नता का मडल घिर आता है। अनुप्रासादि के ध्वनिसाम्य के कारण श्रोता की विवेक-और निर्णयात्मिका शक्ति कुछ सम्मोहन निद्रा मे डूबने लगती है, सचेत तर्कणा की बुद्धि मद पड़ने लगती है और उसका 'अहं' विगलित होने लगता है। वह सज्ञा-हीन अथवा चेतना-शून्य (ऐनस्थेसिया)-सा हो जाता है। स्वरों-व्यंजनों के आरोह-अवरोह और विस्फार-सकोचादि से बना हुआ यह चित्रविचित्र नादपट उसकी अवधारणा को एक परिवृत्त मे घेरता है। लय भाव-निष्पन्न विभ्रम और वक्र कथनों, प्रतीकों, अतिशयोक्तियों के वैधर्म्यों और विसंगतियो को मृदु भी बनाती और उनमे सामंजस्य लाती है तथा भाव की बाढ को प्रशमित भी करती है। वही शब्द से लेकर बिम्बों-प्रतीकों और पूर्ण कथ्य तक को एक अन्विति मे बाँधती है। इसमे मूल भाव प्रेषणीय और सहज सवेद्य हो

जाता है। लय के चापो मे पडे हुए सारे विभाव, अनुभाव, संचारी भावादि के बिम्ब एवं उन्हे निष्पादित करने वाले हल्के, भारी, कठोर अन्य बिम्बादि इस प्रकार उपनीत होते है, जैसे दौड़ती सिंहनी के मुह मे पड़ा हुआ सिंह-शावक। इलियट ने एजरा पाउंड का महत्त्व बतलाते हुए लय की प्रकारान्तर से महिमा यह बतलायी है कि जो आदमी नयी लय का संधान करता है, वह मनुष्य की सवेदनशीलता को नये प्रकार से सूक्ष्म और गाढ़ बनाता है। इस हेतु ही छन्दस्, आदि कवि को अभिनव सृष्टि-सा लगा।[१२८]

इस कारण, कुछ लयबध भिन्न-भिन्न भावों की छन्दोमूत्तियाँ मान ली गयी हैं। 'मालिनी' छन्द मे छह वर्ण शुरू मे लघु होते हैं, फिर तीन गुरु। छह लघुवर्णो मे शीघ्रता, विह्वलता, हर्षादि सूचित हो जाते है और अन्तिम तीन उनकी क्षिप्रता को सौम्य भाव में बाँधते हैं। 'मन्दाक्रान्ता' मे गुरु-लघु विन्यास ऐसा है कि लगता है कि जैसे कोई विरहिनी सिसकती हुई अश्रुपात कर रही हो। अत: क्षेमेन्द्र की सम्मति है 'प्रावृट्प्रवासकथनं मन्दाक्रान्ता विराजते' (सवृत्त तिलक)। शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, उपजाति, बशस्थ, वसन्ततिलकादि की छन्दोमूत्तियाँ भी भावानुरूप लयात्मक ध्वनन के आधार पर प्रकल्पित हैं।[१२९] इस प्रकार साक्षात् कर्म-प्रवाह मे प्रकट न होकर भाव जब प्रतीकात्मक और वक्र मार्ग के द्वारा वाणी अथवा काव्य-शब्द में प्रकट होता है, तो उसमें नाना प्रकार की अतिशयतादि के तत्त्व आते हैं जिन्हे लय, वक्रता, रीति-अलकृति आदि नाम दिए गए है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि उस समय भाषा अपने भाव को प्रतिमूत्तित करती है। वह उसका 'बिम्ब' है, अपने भाव का शब्दादि के द्वारा प्रस्तुत किया गया 'अभिनय' है। काव्य, इसी कारण, 'वाक्याभिनय' कहलाता है।

काव्य का वाक्याभिनयत्व और बिम्ब

नृत्यादि कलाओं में त्रिभंग मुद्रा किस प्रकार अनस्तित्व और अस्तित्व की सम-स्थितियों के बीच वैषम्य का ललित प्रतीक है, यह पिछले पृष्ठ ५४ पर वर्णित हुआ है। नाट्यधर्मी तत्त्व भी प्राय: वैसी ही विशिष्ट प्रक्रिया प्रस्तुत करते हैं। उनसे सम-प्रवाह में कुछ अतिशय रंजनात्मक, चित्ताकर्षक, और चामत्कारिक तत्त्व का सयोग होता है। यही काम काव्य मे स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के द्वारा सम्पन्न किया जाता है अभिनवगुप्त के शब्दो मे—काव्येऽपि च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेनस्वभावोक्ति-

वक्रोक्तिप्रकारद्वयेन अलौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसमर्प्यमाणविभावादियोगा-दिमेव रसवार्ता ।[११०] इस उपपत्ति के मूल में सुदीर्घ विचार-मंथन का इतिहास प्रतीत होता है। इसके द्वारा 'नाट्यशास्त्र' के समस्त अंग, धीरे-धीरे काव्य और काव्य-चर्चा में गृहीत और पुनराख्यायित होते गये। 'शब्दार्थमय' काव्य भी 'अर्थक्रियोपेत नाट्य' की तरह अभिनय-रूप में समझा जाने लगा। अन्तर यह कि काव्य 'वाक्याभिनय' रूप है, नाट्य साक्षात् अभिनय है। तभी वामन ने कहा—काव्य के सभी प्रकार नाट्य से ही कल्पित हैं—'ततोऽन्यभेदप्रक्लृप्तिः·········दशरूपकस्यैव इदं सर्वं विलसितं यच्च कथाख्यायिके महाकाव्य च।' और अभिनवगुप्त ने भी बतलाया—'काव्येऽपि सर्वो नाट्यायमान एवार्थः।' कालान्तर में भरत मुनि द्वारा उल्लिखित छत्तीस लक्षण 'काव्यबन्धास्तु कर्त्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्वित', काव्यचर्चा में 'काव्यालंकार' नाम से विकसित हुए। अतएव दण्डी ने—

> 'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।
> ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कात्स्न्येन वक्ष्यति ॥

परिकल्पना का निर्देश भी दिया। वामन ने आगे चलकर 'दीप्तरसत्व कान्तिः' (का० सू० वृत्ति ३/२/१५) द्वारा बतलाया कि जिस काव्य में 'रसवत्' अलंकार होता है, उसमें 'कान्ति' गुण है और रुद्रट का कथन है, कि ऐसे काव्य में 'रस' होता है—तस्मात् तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् (काव्या० १२/२)। इस प्रकार काव्य में भी नाट्यशास्त्रीय परम्परानुसार 'अलंकार' या 'रसवत् अलंकार' से 'कान्तिरस' और फिर 'रस' की प्रतिष्ठा हुई। दूसरी बात यह, कि नाटकीय आहार्य, आंगिक, सात्त्विक अभिनय काव्य में शब्दाधृत हुए—'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कह कर भामह ने, 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावलि' द्वारा दण्डी ने अपनी-अपनी परिभाषाओं के विवेचन में इसका द्योतन किया है। 'अभिनीत' होकर नाट्यार्थ प्रतीत होता है, पर काव्य में अभिनय तो संभव नहीं। इसलिए, उसकी पूर्त्ति लोकातिक्रान्तगोचर वचन से, सामान्य (ग्राम्य) भाषा से अधिक रंजक या लोकविलक्षण रूप में शब्द-प्रयोग द्वारा करने का निर्देश है :

> निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
> मन्यन्तेतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ॥ (२-८१)

ऐसी उक्ति अतिशयोक्ति कहलायगी। फिर, लोक-विलक्षणता की दृष्टि से इसे वक्रोक्ति कह सकते हैं। 'सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिः अनयार्थो विभाव्यते।'

इससे ही लौकिक अर्थ 'विभाव' में परिणत होता है। इसके बिना 'अलंकार' या सौन्दर्य नहीं आ सकता। दूसरे शब्दो में, भामह की दृष्टि में नाट्य के जो साधन रसनिर्माण मे विभावादिरूप हैं, उन सभी का काम श्रव्यकाव्य मे 'वक्रोक्ति' से होता है। अभिनवगुप्त ने इसी कारण वक्रोक्ति को नाट्यधर्मी-रूप माना है। दण्डी ने इसे वैदग्ध्यभंगिभणिति, अतः अग्राम्यता-रूप बतलाया और 'माधुर्य' को भी इसमें ही प्रतिष्ठित माना। वामन ने भी उक्तिवैचित्र्य को 'माधुर्य'-रूप स्वीकार किया। इस प्रकार नाट्य के सौन्दर्याविर्भाव के वेश-दृश्य-संगीत, अभिनयादि साधन काव्य और काव्य-चर्चा मे शब्द-विन्यासगत 'वक्रोक्ति' द्वारा साध्य हुए। शब्द-विन्यास से जब वक्रोक्ति-रूप मे अर्थ की व्यंजना होती है तब प्रसंग 'प्रत्यक्षवत्' स्फुट प्रतीत होता है। भामह के अनुसार प्रत्यक्षवत्ता 'भाविकत्व' गुण से स्फुट होती है—

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम् ।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः ॥ (३-५३)

भाविकत्व गुण लाने के लिये कवि के तीन आवश्यक तत्व हैं—१–चित्र, उदात्त और अद्भुत काव्यार्थ, २–कथा में वर्णनादि की स्वभिनीतता एवं ३–शब्दानुकूलता।

चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते। (३-५४)

'कथायाः स्वभिनीतता'—यह महत्वपूर्ण संकेत है। अनुकूल शब्दो मे वर्णित होकर काव्यार्थ अभिनीत प्रतीत होता है, जिससे विगत और अनागत के अर्थ भी प्रत्यक्षवत् हो उठते हैं। वामन ने भी इसी गुण का निर्देश दूसरे शब्दो मे किया है—'सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। कस्मात् तदाह-तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात् (का० सू० वृ० १/३–३०/३१)। यही नहीं, उन्होंने कान्तिहीन काव्य को (अर्थात् उपरिनिर्दिष्ट विवेचन के अनुसार, 'औज्ज्वल्य कान्तिः'—३/१/२५ एवं 'दीप्तारसा शृंगारदयो यस्य स दीप्तरसः। तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्तिः' ३/२/१५—सूत्र द्वारा, रसहीन काव्य को) पुराणचित्रच्छाया बतलाया है—

औज्ज्वल्य कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदा। पुराणचित्रस्थानीयं तेनवन्ध्यं कवेर्वचः॥
(३/१/२५)

भट्टतौत ने भी ऐसी ही बात 'प्रौढ़ोक्ति' के सम्बन्ध में कही है—काव्य में जब तक 'प्रयोगत्व' यानी 'स्वभिनीतता' नहीं आती, तब तक रसास्वाद

संभव नहीं। इसके लिये काव्य-पदार्थों का प्रत्यक्षवत् स्फुट होना आवश्यक है—

प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये ना स्वादसंभवः। वर्णनोत्कलिकाभोगप्रौढ़ोक्त्या सम्यगर्पिता' उद्यानकान्ताचन्द्राद्या' भावा प्रत्यक्षवत्स्फुटाः (अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत भ० ना० शास्त्र)

व्यवहारत, यह 'प्रौढोक्ति' भामह की वक्रोक्ति ही है। भामह ने इस प्रकार 'वक्रोक्ति' और 'अलंकार' की प्रकल्पना-द्वारा काव्य-शास्त्र के विकास मे महत्वपूर्ण उपपत्तिया रखी। दण्डी ने काव्य मे 'गौणवृत्ति का आश्रय' अर्थात् समाधि' महत्त्वपूर्ण मानकर बतलाया कि 'तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः (१/१००)'। इस गुण का 'अध्यास' भाषिक व्यवहार मे 'लक्षणा' द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। यह लक्षणा ही वक्रोक्ति का भाषिक बीज है। यह 'अध्यास' राजशेखर के द्वारा 'प्रतिभास' रूप मे विशद हुआ। यह समाधिगुण चित्तवृत्ति की एकाग्रता, है (भाविकत्व गुण के कारण) और अध्यास के 'अन्यत्र अन्य धर्मारोप' लक्षण के कारण वह अभेद-प्रतीति भी है। यही 'भाविकत्वगर्भ वक्रोक्ति' का मनोवैज्ञानिक मूल है।

राजशेखर ने प्रतिभासनिबंधन के निर्वचन द्वारा काव्योक्ति को लोक-व्यवहार से सवादी सिद्ध कर, भ्रान्ति और मिथ्या से पृथक् किया था। दूसरी ओर आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति के भाषिक बीज लक्षणा के हेतु का उद्घाटन कर व्यंग्य या प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर वास्तविक अर्थ सिद्ध करते हुए अभिधा और लक्षणा से अतिरिक्त व्यंजना नामक शब्द-शक्ति का महत्त्व प्रतिष्ठित किया।

तीसरी ओर कवि-व्यापार की दृष्टि से शब्द और अर्थ एवं अन्य सारे अंग-अंगी के सहभाव की अवस्थिति किस प्रकार वक्रोक्ति के विशद एव अन्तरंग व्यापार से सम्पन्न होती है, इसे 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' में सूक्ष्म-गहन रूप से प्रतिपादित करते हुए कुन्तक ने बतलाया कि रीति, गुण और वैचित्र्य द्योतित करने वाले सारे अलंकार तथा वृत्ति, औचित्य और रस से निष्पन्न परिपोष, ये सभी—

स्पर्धया विद्यते यत्र यथास्वमुभयोरपि।
सा काऽप्यवस्थितिस्तद्विदानन्दस्पन्दसुंदराः।
पदादिवाक्परिस्पन्दसार' साहित्यमुच्यते॥

इस प्रकार भामह के पूर्वकाल से ही नाट्यशास्त्र की समस्त उपयोगी उपपत्तियो को उपचित कर लेने की उपाचयी प्रक्रिया के ऐतिहासिक आरम्भ

बिन्दु भामह-दण्डी आदि है, और उसकी परवलयिक उपनति के शीर्ष बिन्दु मे अभिनवगुप्त हैं। तभी दण्डी की निम्न उक्ति 'यच्च सध्यंग वृत्त्यलक्षणा न्यायमान्तरे। व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव न'। (का० २/३६६) और भट्टतौत की निम्न विवेचना मे अन्तर यदि कुछ है तो मात्र सूक्ष्म और विशद का ही है :—

लक्षणालंकृतिगुणा दोषाः शब्दप्रवृत्तय'। वृत्तिसध्यंगसंरम्भः संहारो य कवेः किल ॥
अन्योन्यस्यानुकूल्येन सम्भूयैव समुत्थितैः। झटित्येव रसा यत्र व्यज्यन्ते ह्लादिभिर्गुणैः।
वृत्तैः सरलबन्धैर्मुग्धैश्चूर्णपदैरपि। अश्लिष्टहृद्ययघटनं भाषया सुप्रसिद्धया।
यच्चैवंकाव्यमात्रं सद्रसभावानुभावनम्। सामान्याभिनये प्रोक्तं वाच्याभिनय संज्ञया।
एवं प्रकारं यत्किंचिद्वस्तुजातं (कथार्पितम्)। अन्यूनाधिकसामग्री परिपोषोन्मिषद्रसम्।

—ह० अ० भा० १४

अर्थात् लक्षण, अलकार, गुण, दोष, शब्द-वृत्ति, प्रवृत्ति और संध्यंगो मे अभिनिवेश—ये जो कवि के आवश्यक उपकरण कहे जाते है, इनका एक दूसरे की अनुकूलता के साथ मिल कर समुत्थान होना चाहिए। इस प्रकार आनन्ददायक गुणो से जिस काव्य मे रस शीघ्र ही अभिव्यक्त हो जाते हे, जिस काव्य की रचना सरल बन्ध वाले छन्दो से कोमल और स्निग्ध विलक्षण प्रयोगो के साथ सुप्रसिद्ध भाषा के द्वारा इस प्रकार की जाती है कि उनकी सघटना श्लेषरहित होने के कारण हृदय को प्रिय प्रतीत होती है; इस प्रकार का जितना भी काव्य होता है, वह रस और भाव का अनुभावक होता है। इस काव्य का कथन वाच्याभिनय की सज्ञा से सामान्याभिनय के प्रसंग में किया गया है। इस प्रकार की समस्त वस्तु का जब कथा मे अर्पण किया जाता है और उससे ऐसी सामग्री का उपादान किया जाता है, जो आवश्यकता से न न्यून हो और न अधिक, तो उससे रस का उन्मेष हो जाता है।

—डा० नगेन्द्र रस सिद्धान्त पृ० ३५६

काव्य में बिम्ब की स्थिति :—

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे प्रस्तुत इस विकास-क्रम से सूचित होता है कि नाट्य की उपपत्तियाँ काव्य और काव्यशास्त्र में किस प्रकार अन्तर्भुक्त हुई। इस विवेचन क्रम मे यह भी सकेतित होता है कि काव्य में बिम्बों की स्थिति क्या है।

१. काव्य की 'अभिनीतता', 'प्रत्यक्षवत्ता' आदि सिद्ध करते हुए भारतीय साहित्य-शास्त्री प्रकारान्तर से 'बिम्ब' की प्रकल्पना तक पहुँच गए थे।

२. काव्य स्वतः नाट्यमूल है और उसकी शास्त्रीय प्रकल्पना मूलतः नाट्य-शास्त्रीय है—इसका आविष्कार 'नाट्यशास्त्र' की उपपत्तियों को अन्तर्भुक्त करने की प्रक्रिया मे स्पष्ट हो गया था। इलियट की स्थापना कि 'समस्त कविता नाटकीय है' [१११] भामह, दण्डी, भट्टलोल, अभिनवगुप्त के निर्वचनों मे जैसे प्रत्याशित-सी थी।

३. काव्य में द्वन्द्वमूलकता है, पर रसोन्मुखता भी है—इसका भी संकेत प्राचीनो ने अनेकविध दिया है। रिचर्ड्स की दृष्टि मे उसका वैषम्य उसकी प्रधान विशेषता है और उसका पर्यवसान संतुलित एवं विशद सामंजस्य मे होता है। जॉन क्रो रैन्सम कविता के आभ्यन्तर गठन (टेक्सचर) को 'विशेष' और बाह्य रूपात्मक संरचना (स्ट्रक्चर) को 'सामान्य' बतलाकर गठन और संरचना के आन्तरिक द्वन्द्व की प्रक्रिया द्वारा उभरती हुई विषम मानसस्थिति को 'कविता' नाम देते है। इलियट एक दूसरी दृष्टि से काव्य को विषम संघात मानते हैं। उनकी दृष्टि से कविता मे भाव और विचार का संवनन होता है (और यह संवनन, रिचर्ड्स की भाषा-विषयक उस धारणा के विरुद्ध है, जिसके अनुसार उन्होंने भाषा-व्यवहार के दो घटक माने हैं—१–वैज्ञानिक और २–भावात्मक)। तीसरी ओर, ईस्टमैन ने अतिसंवेद्यता (हाइपर सेन्सिटिवनेस) के लिए विषम वस्तुओ, भावो आदि के योग का महत्व प्रतिपादित किया है। इसकी तीव्र आलोचना रिचर्ड्स ने की है। आधुनिक कालीन इस द्वन्द्वात्मक ऊहापोह से कविता की एक विशेषता का, 'तनाव' की विशेषता का, (पोएट्री ऐज टेनसन) महत्त्वपूर्ण ढंग से आख्यान हुआ है।[११२]

भारतीय काव्य-प्रकल्पना की 'नाट्यधर्मी-रूप वक्रोक्ति' मे 'तनाव' की इस कल्पना का बीज है। परन्तु भारतीय काव्य-चर्चा में 'वक्रोक्ति' जिस रूप में प्रकल्पित है, एवं पाश्चात्य काव्य-विवेचना में वैषम्यादि की जो त्रासदी-मूलक परिकल्पना है, उनमें प्रायः वही अन्तर है जो संगीत की एकान्विति-प्रधान माधुर्य की भारतीय धारणा और वैषम्य-प्रधान समन्विति की पाश्चात्य धारणा मे है (द्रष्टव्य पृ० ३७-३९)। वक्रोक्ति का परस्पर-स्पर्धित्व यहाँ मूलस्थ है, परन्तु पाश्चात्य काव्यचर्चा में वह शीर्षस्थ और प्रधान है। वक्रोक्ति का 'परस्परस्पर्धित्व' यहाँ साहित्य-विरह में पर्यवसित नहीं, अपितु—

समसर्वगुणो सन्तौ सुहृदावेव संगतौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतोयथा। (व० जी० १.१७)

राजशेखर ने 'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या' कह कर जिस 'सहभाव' को द्योतित किया था, उस सहभाव का पर्यवसान भोज ने 'रसोक्ति' में माना। सारतः, पाश्चात्य काव्य-प्रकल्पना ज्यामितिक, अतएव कोणात्मक वृत्ति पर बल देती है; भारतीय दृष्टि जीवनी-संस्थानीय, अतएव वृत्तात्मक एव परिपूर्णता का अवगाही है।

४. काव्य सर्जनात्मक चिंतन है। इस चिंतन-प्रक्रिया के क्षणो मे व्यक्ति की चेतोधारा में चाहे वह कवि हो या भावक, कुछ अधिक संचेत्यता रहती है। उसे अनुभव कुछ गहन होता है। विलियम जेम्स ने चेतना-प्रवाह रूप मे विचारणा के पॉच लक्षण बतलाये थे—(क) वह व्यक्तिगत चेतना का अग होती है, (ख) चेतन-परिधि मे प्रति पल बदलती रहती है, (ग) फिर भी उसकी एकतान धारा बनी रहती है (घ) विचारणा अपने से इतर विषय में सजग रहती है, और (ङ) तत्क्षण किसी एक विषय मे केन्द्रित रहती है, और अन्यो का परित्याग करती रहती है। काव्यगत चेतना-प्रवाह मे विचारणा के पाँचों लक्षण सामान्य से कुछ अधिक तीव्र और प्रगाढ़ रहते हैं। यही नही, समस्त काव्य-प्रवाह में कुछ स्थल, कुछ क्षण, कुछ शब्द बीच-बीच मे अपेक्षया उभरे हुए या चामात्कारिक प्रतीत होते हैं। वे रम्य अर्थपुंजों के आकर्षक स्थल हैं। ये अंश, फिर भी, सामान्य चेतना-प्रवाह की अकूत जलराशि से ही अर्थ ग्रहण करते हैं। मनोविज्ञानी स्टर्न के शब्दो में, व्यक्तित्व के उस प्रवाह में जो भाग गिरिशृंगवत् (प्रगाढ़ प्रतीति एवं रागात्मक सचेष्टा) उन्नत एवं पृथक् सरचना-जैसा प्रतीत होता हे, वह वस्तुतः न पृथक् है और न रहता ही है। वह चोटी पर्वत-शृंखला (भावना) के आधार पर टिकी होती है; यही नही नीचे की धरती (जीवन-जगत के विचार) से भी जुडी रहती है एवं तल (चेतनादि) के अदृश्य एवं प्रायः सर्वसामान्य अग की ही रूपान्तर है।[१३]

भामह ने 'भाविकत्व' गुण के तीन आवश्यक तत्व—चित्रोदात्तादभुतार्थ, कथायाः स्वभिनीतता और शब्दानुकूलता के द्वारा तथा वामन ने 'विशिष्टापद-रचनारीतिः' 'विरोधी गुणात्मा'—एतासु तिसृषु रीतिषु रेखास्विव चित्र काव्य प्रतिष्ठितम्' आदि के द्वारा तथा अभिनवगुप्त ने लोकधर्मी-रूप स्वभावोक्ति को भित्तिस्थानीय एवं नाट्य-धर्मी-रूप वक्रोक्ति को चित्र-स्थानीय मान कर प्रकारान्तर से यह संकेत किया, कि काव्य मे मन का प्रवाह शब्दार्थ द्वारा उपनिबंधित होता है तथा भावित विचारधारा मे गुणात्मक पद-रचना के

कारण नाना छबियाँ तिरती-उतराती प्रतीत होती हैं—अनुकूल शब्दों में चित्र उदात्त और अद्भुत अर्थ से युक्त कथा, जैसे उस चेतोधारा में अभिनय करती हुई प्रवाहित होती है। काव्य का यह शब्दाभिनीत प्रवाह मूर्त्त दृश्यावलियाँ प्रस्तुत करने में किसी क्षण गाढ होता है, तो दूसरे क्षण मूर्त्तता का विलयन भी करता है। मूर्त्तन-अमूर्त्तन का यह अनुक्रम प्रायः 'आरोहावरोहनिमित्त समाधि' रूप है (वामन काव्य० सू० वृ० ३/१/१९)।

५ फ्रैंसिस गाल्टन (१८२२-१९११) ने प्रत्याह्वान का विश्लेषण कर (१८६९-८०) बतलाया था कि मन में प्रत्याहूत भावों-विचारों के तीन प्रकार है, जिनकी प्रतिशतताएँ निम्न है [१३४]

(क) विगत अनुभवों के दृश्यादि बिम्बों में स्फुट होनेवाले···३२·५%

(ख) उनके नाट्यकृत रूपादि, जैसे लज्जादि के अनुभवों का मानसिक नाट्य ··· २२.५%

(ग) पूर्णत. वाचनिक रूप, जैसे नामादि, शब्दादि मात्र ··· ···४५%

ये सामान्य स्मरण की प्रतिशतताएँ हैं। अवश्य ही काव्य-ग्रहणादि के भावमय क्षणों में प्रत्याह्वानादि की बिम्बन और नाट्यकरण की प्रतिशतताएँ मात्रा और गुण में वृद्धि कर लेगी। काव्यग्रहण के समय गृहीता की चेतोधारा बिम्बों में स्फुट होती है और जीवंत अभिनयात्मक रूपों में मीनवत् झलकें प्रस्तुत करती हुई प्रवहमान रहती है। इस तथ्य के साथ-साथ, अभिनवगुप्त ने चेतोधारा की नाट्यधर्मी-रूप वक्रोक्तियों की नाट्यछवियों में एक और विशेषता बतलाई है। उसका सम्बन्ध है, बिम्ब की प्रवाह-प्रवृत्ति से।

काव्य में बिम्बों की प्रवृत्ति

बिम्ब कविता में उपनिबधित हो, श्रोता और पाठक के मानस-पटल पर उभर आते हैं।

नेत्रों के माध्यम से कविताएँ जितनी तेजी से पढ़ी जा सकती हैं, उतनी तेजी से उनका वाचन सभव नहीं है; क्योंकि मौन पाठ में उच्चारण-संस्थान के नाना आभ्यतर अवयवों को पूर्णत· क्रियाशील नही बनाना पड़ता, चाक्षुष बिम्बों को नाद-बिम्बों मे रूपान्तरित करने का श्रम और समय नहीं लगाना पड़ता है। इस दृष्टि से श्रवणेन्द्रिय की गति, चक्षु से भी तीव्र और तीक्ष्ण है। श्रवणेन्द्रिय जितने कम समय में जितना अधिक सुन कर मन को

प्रेषित कर सकती है, चक्षुरिन्द्रिय उतने समय मे उतना नही। श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण मे एक और विशेषता है—सूक्ष्मता और अन्यथाकरण की। चक्षुरिन्द्रिय द्वारा गृहीत प्रत्यक्ष मे जैसे स्पार्श तत्त्व भी अन्तर्वर्त्ती रहते हैं। चित्त को वे आच्छन्न करते हैं। श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत ध्वानबिम्ब स्वत आकाशधर्मी हैं, अर्थात् सूक्ष्मतम भूतात्मक है, एव सदा चाक्षुष प्रत्यक्षो द्वारा खण्डित-स्पन्दित रहते हैं। वे चित्त को पूर्णत: आच्छन्न भी नही करते; अपितु अन्तराल प्रस्तुत करते चलते है। फलत दृश्यकाव्य मे श्रव्यकाव्य अधिक सूक्ष्म है। चित्त मे बद्धता के स्थान पर वह अन्तरालों का उत्प्रेरक है। वह मन मे स्वातंत्र्य-शक्ति का उद्‌बोधक है। इन अन्तरालो का उपयोग श्रोता स्मृत, कल्पित भाव-विचारो के सकेत मे निजी बिम्बादि के ऐच्छिक-अनैच्छिक उद्‌भावन द्वारा करता है, जिनसे श्रुत तत्त्व कभी प्रगाढ होता है, कभी गहन और कभी खडित भी। ये स्मृत भावविचारादि उपरिवर्णित गॉल्टन की प्रत्याह्वानसम्बन्धी प्रतिशतताओं से गुण-मात्रा मे बद्ध कर उभरते है। यहाँ, यह भी स्मरणीय है, कि आन्तरालिक तत्त्व व्यवधान न उपस्थित कर दे, इस हेतु काव्य मे लयात्मक रूपाकृति (फार्म) का महत्व है। 'नाद-पट' या 'लय' की नाना विशेषताओं मे एक यह तो है ही कि वह चित्त को देशकालबद्ध और द्रवणशील बनाती है।

काव्य-श्रवण के समय श्रोता के पूर्वानुभूत भाव-सवेगादि की मासपेशीय स्नायविक संस्कार-राशियो में भी सहज ध्वनन-प्रक्रिया प्रारभ हो जाती है। ऐसे समय मे विचारणा मासपेशीय गत्वरता से युक्त होकर अलक्ष्य रूप मे नाना आभ्यंतर अवयवों, ग्रथियो आदि को सक्रिय बना देती है। वाटसन ने (१९१४) चिंतन को गत्वर या माशपेशीय चालन-प्रक्रिया माना भी था। बोलते समय स्वरयंत्रादि चालित होते हैं, सोचते समय भी वे अलक्ष्य रूप मे स्पन्दित रहते हैं। चिंतन अस्फुट वाचन जो माना जाता है, वह इसी अर्थ में। जैकोबसन, शॉ, आइरिस्की और क्लीटमन ने (१९३२, ४०, ४३) यह बतलाया है कि कुछ चिन्तन, (खासकर, यदि तीक्ष्ण हुआ, तो और भी) मास-पेशियो मे निश्चित रूप से गति लाते है, जैसे हथौडा खोजने वाला व्यक्ति हाथ में काल्पनिक हथौड़ा हिलाता हुआ खोजता है। कल्पना की प्रक्रिया मे भी सम्बन्धित इन्द्रियों मे स्पन्दन-सा होता है। यह बात ठीक है, कि कुछ तनाव भरी स्थितियो मे गति अवरुद्ध भी हो जाती है, व्यक्ति स्तम्भित या मूढ-सा हो जाता है। पर अन्य सामान्य स्थितियो मे चिन्तन के समय इच्छित

वस्तु आदि से सम्बन्धित इन्द्रियो एव मासपेशियो मे अलक्ष्य गत्वरता रहती है। फलतः, श्रुतकाव्य से प्रत्यक्षवत् जो बिम्ब उभरते होते है, उस समय मन में जो बोधान्तर अवकाश-सा आता-चलता है, उसकी पूर्ति श्रोता-पाठक सम्बद्ध एव स्वतत्र स्मृत सहचारी, काल्पनिक बिम्बो की उद्भावना के द्वारा करता चलता है। श्रुत काव्यादि विषय मे, एवं उनसे सम्बद्ध स्वतत्र विचारणादि में (क) बिम्बात्मक (ख) नाट्यात्मक एव (ग) ऐन्द्रिय, मासपेशीय आभ्यंतर आवयविक गत्वरता की विशेषताएँ तो रहती ही हैं, उनके कारण (घ) रसन, श्वसन आदि जैविक व्यापारो में भी प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं।

श्रवण-प्रक्रिया मे श्रुत ध्वनि कैसे श्रवणेन्द्रिय के स्नायुओ द्वारा गृहीत और मानस को प्रेषित होती हैं, इस सम्बन्ध मे अनेकानेक सिद्धान्तो की परीक्षा कर वीवर एवं ब्रे ने (१६३० से १६४६ तक) अपना सिद्धान्त दिया है, जो अब अनेक मनोविज्ञानियो द्वारा मान्य है। यह सिद्धान्त 'वाली थियोरी' या पुंज-वर्षण-सिद्धान्त कहलाता है। वह इस प्रकार है :—

कल्पना करे कि सैनिको की एक टुकड़ी है जिसके सैनिक विलम्बित गति से भरे जाने वाली बन्दूको से लैस हैं। उनमे कुछ फुर्त्ती से कारतूस भरते हैं, कुछ मद्धिम गति से। अगर कप्तान सारी की सारी बन्दूके भरी जाने पर गोली दागने का हुक्म देता है, तो एक समय पूरी टुकड़ी से गोलियों की वर्षा होती है, पर बाद में कुछ नही। और अगर, कप्तान यह हुक्म दे कि 'गोली भरो और दागो' तो लगातार एक-दो बन्दूक गोली दागती जायगी, पर वर्षा कभी न होगी। इन दोनो स्थितियों से अलग, अगर कप्तान कुछ निश्चित अन्तराल पर गोली दागने का हुक्म देता जाय, तो पहले हुक्म से पाँच-दस गोलियो की वर्षा होगी, फुर्तीबाज सिपाहियों की गोलियाँ छूटेंगी और वे फिर गोली भरने लगेंगे, दूसरे हुक्म से मद्धिम गति से भरने वाले सिपाही गोली दागेंगे और फिर पाँच-दस की वर्षा होगी; तीसरे हुक्म से फिसड्डियों की गोली छूटेगी, और फिर चौथे हुक्म से फुर्तीबाजों की गोलियाँ पुनः वर्षा करेंगी। इस प्रकार कप्तान गोलियो की वर्षा में तेजी भी ले आता है और उसकी गति अविच्छिन्न-सी रहती है।

सुनते समय हमारी श्रवणेन्द्रियों और स्नायुओं में लगभग ऐसी ही पुंज-वर्षण प्रक्रिया चलती रहती है। स्नायविक तन्तुओं में ऊर्जा (इनर्जी) है।

स्पन्दित होते ही यह ऊर्जा बारूद की नलिका (फ्यूज) मे रहनेवाली कणिका की तरह जल उठती है। जल कर पास की बारूदकणिका को जैसे नलिका जलाती है, स्नायविक तन्तु भी निकट की ऊर्जा को जलाती है। परन्तु बारूद जल कर नि:शेष हो जाता है, स्नायविक तन्तु की ऊर्जा जल जाने के बाद, कुछ ही क्षणों मे फिर जीवित हो उठती है। बड़े तन्तु शीघ्र संजीवित होते है, पतले रेशे कुछ देर मे। सामान्यतः सभी प्रकार के एवं प्रधानत. काव्यादि के श्रवण-काल मे श्रुति-स्नायु सस्थान भी पुंज वर्षण-प्रक्रिया से गोली दागने जैसी त्रिया करता होता है। बंदूक भरने की प्रत्रिया बडे तन्तुओं और रेशो मे पुनः ऊर्जा-सचार के समतुल्य है। श्रुति के उद्दीपन को यदि तीव्र कर दिया जाय, अर्थात् काव्य-पाठ का स्वर यदि तार कर दिया जाय, तो स्नायु-तन्तुओ की संख्या मे वृद्धि होगी, जो पुंज-वर्षण क्रिया में योग देंगे, किन्तु उसका प्रभाव पुंज-वर्षा की प्रति सेकड की संख्या पर न पडेगा।[१३५]

श्रोता को शब्द और शब्द-विन्यास का ध्वान-बिम्ब अथवा लय पहले श्रुत होती है। लय-प्रवाह फुर्तीले सैनिक जैसे हैं, जो शीघ्रता से बन्दूक भर कर गोलियों की वर्षा करते हैं।

तदुपरान्त लयाधृत एवं शब्दार्थ-आधृत बद्ध एवं स्वच्छन्द बिम्ब (रिचर्ड्स द्वारा प्रकल्पित टाइड और फ्री इमेजेज) कुछ काव्य द्वारा प्रत्यक्षीकृत एवं कुछ श्रोता के मानसिक अन्तराल में स्वतः उद्भावित, (श्रुत कविता के शब्दों के या बिम्बो के सहचारी, स्मृत या काल्पनिक) श्रोता के चित्त में उभरते हैं। इन दो प्रकार के बिम्बो की वर्षा लय अथवा ध्वान-बिम्बो की वर्षा करने वाले सैनिको के थोड़े ही बाद होती है।

इसके बाद, अथवा लगभग साथ-साथ, शब्दार्थ आधृत बिम्ब-पुंजों का बोध होता है। उपरि-निर्दिष्ट बद्ध और स्वच्छन्द बिम्ब यहाँ घुलमिल कर एक अन्विति को समर्प्यमाण होने लगते हैं।

फिर इन नाना बिम्बों का सश्लिष्ट भाव उभरने लगता है। वस्तुतः भाव तो अलक्ष्य रूप मे पहले ही उभरता होता है, पर संश्लिष्ट मानस-प्रभाव तनिक बाद आपन्न करता है।

अन्त में, सम्पूर्ण काव्य का अन्वित प्रभाव आता है। यह अन्वित प्रभाव काव्य का पूर्ण बिम्ब है। यह पूर्ण बिम्ब बिम्बमूल और बाग्बिम्ब का अभेद-दर्शन है और एकघनसंवितृचर्वणा-रूप माना जाता है।

सम और विषम प्रवाह : बिम्ब का प्रवाह कही सम, कही विषम और कही मिश्र होता है। सम बिम्बों की गत्यात्मक प्रवृत्ति पंत की 'सुख दुख' कविता की निम्न पंक्तियो मे द्रष्टव्य है —

मैं नही चाहता चिर सुख मै नहीं चाहता चिर दुख।
सुखदुख की खेल मिचानी खोले जीवन अपना मुख।
सुखदुख के मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरण।
फिर घन में ओझल हो शशि, फिर शशि मे ओझल हो घन।

इस कविता के ध्वान बिम्बो मे उभरता हुआ 'खेल मिचौनी' का दृश्य ही प्रमुख बिम्ब है। उपरिवर्णित मनोदैहिक मनोविज्ञानादि के निष्कर्षों का संकलन कर हम सारतः देख सकते है कि 'खेल मिचौनी' का बाल-सहज क्रीडा-प्रधान बिम्ब किस प्रकार 'मुख' खोलता हुआ 'मधुर मिलन' के किशोर भाव मे, जीवन को परिपूरित करता हुआ युवा-भाव मे, और फिर 'शशि-घन' के खेल के प्रौढ भाव मे धरनी-आकाश को एक तार मे अनुस्यूत कर विशदीभूत होता है, एव समग्रजीवनके अन्वित प्रभाव का पूर्ण बिम्ब मानस-पटल पर अकित कर जाता है। दृश्य बिम्बो की इस एकतान धारा मे, नाट्यात्मकता भी दर्शनीय है। **विषम बिम्बों** का प्रवाह शमशेर की निम्न पंक्तियो में द्रष्टव्य है .

गाएँ मैली सफेद काली भूरी।
पत्थर लुढके। पेड स्थिर नीरव।
दो पहाडियाँ धूम विनिर्मित पावन।

इसमे दृश्य, श्रव्य एव गत्वर बिम्बो का विषम प्रवाह है। विषम-प्रवाह मे बिम्ब अनेक इन्द्रियो के, अथवा मूर्त्त एवं अमूर्त्त (पर गोचर) होते हैं, एवं एक दूसरे को काटते छाटते या सँपुजित करते हुए नाटक के पात्रवत् मच पर आते-जाते प्रतीत होते हैं। पूर्व पृष्ठों पर (पृष्ठ ५३-५५) वर्णित सगीत के एकान्वित और समन्वित प्रभावो की भाँति क्रमश सम और विषम बिम्ब-प्रवाहो का प्रभाव सान्द्र अथवा निविड़ (जटिल) पडता है।

बिम्बो की इस सामूहिक प्रवृत्ति के साथ-साथ बिम्ब मे अपनी भी १- विशिष्ट ऐन्द्रियता २- ऐकान्तिकता (बिम्बमूल अथवा रसमयता) और ३- प्रातीकिकता रहती है। इन प्रवृत्तियो को संकेतित करने वाले कुछ छायाचित्र मनीषियों द्वारा निम्न रूप मे वर्णित है —

(क) प्लैटो ने 'रिपब्लिक' के सातवें खंड मे छाया-चित्रो का एक दृश्य प्रस्तुत किया है। एक गुफा मे कैदियों की एक कतार बैठी है। कैदियों को इस प्रकार निगड़बद्ध किया गया है कि वे बस एक दिशा की ओर

ही देख सकते है। कैदियों के पीछे आग जल रही है। इस अग्निकुण्ड और कैदियों की कतार के बीच एक ऊँचा-सा चबूतरा है जिसके पास से अनेक वस्तुएँ, जीव आदि गुजरते रहते हैं। कैदी उन वस्तुओं, जीवों आदि को प्रत्यक्षतः देख नही सकते, परन्तु उनकी छाया-चित्रों को, जो कैदियों की सामने की दीवाल पर पड़ती होती हैं, वे देख सकते है। और क्योंकि वे सिर भी घुमा नही सकते, इसलिए छायाओं के मूल के सम्बन्ध में कुछ भी देख-जान नही सकते। कविता में बिम्बादि का जो पुंज सतत गतिशील रहता है, वह क्या इन छायाभासो की भाति होता है ?

(ख) कार्ल ग्रूस ने बिम्बों के पुंज की गतिशीलता के लिए जो चित्र दिया है, वह कुछ भिन्न है। उनके मत मे बिम्ब अपनी प्रातिनिधिक सत्ता और स्वरूप में चेतना के पटल पर उसी प्रकार गतिशील प्रतीत होते हैं, जिस प्रकार किसी पुल के ऊपर से गुजरती अनेक लोगों की जमात मालूम होती है—हर व्यक्ति अपने-अपने प्रयोजन-व्यापार में मस्त। किन्तु जब कोई व्यक्ति पुल पर रुक कर, उस दृश्य पर दृष्टिपात करता है, तो प्रयोजन-व्यापारादि से मुक्त छुट्टी के दिन-सा सौख्य आ विराजता है और सारे दृश्य में सौंदर्यानुभूति उभर आती है।[१३६]

(ग) आनन्दवर्धन ने बताया है कि बिम्बादि (अलंकरादि) रस-समाहित-चेत प्रतिभा-सम्पन्न कवि के पास 'अहम्पूर्विकया' अर्थात् 'मैं पहले, मैं पहले' कहते हुए दौड़े आते हैं (देखें पृष्ठ ९९)। रसाक्षिप्त रूप में प्रयुक्त एवं बिना किसी पृथक् यत्न से उद्भूत स्वाभाविक रूप में काव्यबंध में आये हुए ये बिम्ब 'आश्चर्यभूत' प्रतीत होगे। इन बिम्बों की निष्पत्ति 'आश्चर्यभूत' प्रतीत तो होती है, परन्तु साथ ही साथ आनन्दवर्धन 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ' कह कर उनमें उनके शब्दगत एवं अर्थगत प्रतीयमान चारुत्व का उपसर्जन भी मानते हैं।[१३७]

अभिनवगुप्त काव्य में नाटक के लोकधर्मी और नाट्यधर्मी तत्वों के समान क्रमशः स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति (अर्थात् तथ्यकथन-रूप बिम्ब एवं भाव बिम्ब) के दोनों प्रकारों में, अर्थात् समस्त काव्य के शब्द और अर्थगत बिम्बों में, अलौकिक (अद्भुत), प्रसन्न, मधुर और ओजस्वी शब्दों का समर्पण-भाव मानते है। इस प्रकार सारे बिम्ब समर्प्यमाण-रूप से अग्रसर होते हैं, और प्रति-क्षण लघु बिम्ब समर्पित हो कर कुछ उन्नत, कुछ बड़े बिम्ब

का सर्जन करते चलते हैं। लघु से बृहत्तर बिम्बों की इस प्रवाहपूर्ण उद्गति से विभावादि के बिम्ब उभरते हैं, (देखें पृष्ठ ८१-८२) और विभावादि के ऐसे संयोग से ही रसरूप बिम्ब निष्पन्न होता है। बिम्बों की 'समर्प्यमाणता' का महत्त्व यहाँ द्रष्टव्य है।

सर जेम्स जीन्स ने 'दि मिस्टीरियस यूनिवर्स' में बताया है कि प्लैटो के द्वारा उपरिवर्णित छायाचित्र पदार्थ-विज्ञानी द्वारा प्रस्तुत जगत् के चित्र के समान है। पदार्थविज्ञानी जगत् का जो चित्र देते हैं, वे वस्तु-जगत् के दिखाई पड़ने वाले मात्र छायाभास हैं। उनमें वस्तु की वास्तविकता ओझल रहती है।[११८] प्लैटो का छाया-चित्र काव्यगत बिम्बों की वैज्ञानिक वास्तविकता और उसकी प्रतीकात्मकता का रूप प्रस्तुत करता है। कार्ल ग्रूस द्वारा प्रस्तुत दृश्य काव्यबिम्ब का प्रत्ययात्मक दर्शन है। सब में गति है, परन्तु सब धारणाग्रस्त है। सबमें 'जातीय चेतना' है, पर, 'विशेष' की अधिचेतना नहीं है। सभी ऐकान्तिक हैं।

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने कविता के शब्दों और अर्थों की प्रवृत्ति का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह काव्यदृष्टि से उपस्थित किया गया दृश्य है। कविता में बिम्ब इस रूप में गतिशील रहता अवश्य है, परन्तु साथ ही साथ उसमें कार्ल ग्रूस की ऐकान्तिकता और प्लैटो द्वारा वर्णित छायाभास-रूप प्रतीकात्मकता भी रहनी ही है (द्रष्टव्य अध्याय-७; काव्यबिम्ब : स्वरूप और प्रकृति)।

बिम्बन और सन्यासवादी चिन्तन बनाम भोगवादी चिंतन :

कवियों के चिन्तन-प्रवाह में चिन्तन-लक्ष्य के लिए चिंतन-विषय और चिंतन-माध्यम (शब्दादि) का चिंतन-प्रक्रिया के द्वारा निबंधन होता है। चिंतन के इन चारों तत्त्वों में और उनके विनियोग में पुरातन काव्य-चिंतन-प्रक्रिया से आधुनिक काव्य-चिंतन-प्रक्रिया पृथक् होती हुई मालूम पड़ती है। 'प्रिय-प्रवास' की राधा और कृष्ण की चिंतन-वृत्ति 'साकेत' के राम, लक्ष्मण, सीता, उर्मिला की चिंतन-वृत्ति से भिन्न है। 'कामायनी' के मनु और श्रद्धा का चिंतन-प्रकार कुछ और भिन्न है और 'कुरुक्षेत्र' के भीष्म और युधिष्ठिर की चिंतन-प्रक्रिया में पुनः अन्तर आ गया है। परन्तु इन सबमें चिंतन समभौमिक और भावनात्मक रहा है और लगता है कि सबके मूल में एक निष्ठा है। सीधे वाक्य हैं, स्पष्ट अभिप्रेत अर्थ को व्यक्त करने वाले सर्ग-

अनुच्छेद-बंधादि हैं। रचनाकारो में उमग है और निर्धारित लक्ष्यवाले संसार की रचना करने का उत्साह निराला आदि की कुछ रचनाओं को छोड कर प्रायः सभी में प्रकट हुआ है। पर लगभग १९४० के बाद के कवियों के चितन मे निःसगता आई है, त्वरा, उद्वेग और आक्रोश दिखाई पडते हैं। पहले के कवियों की मनोदशा में एकस्वरता थी, एकतान धारा थी। वे अपनी कृतियों में शुक्लजी की शब्दावली में 'शीलदशा' को पहुँचे हुए-से प्रतीत होते हैं। परन्तु आज के कवियों का मनोभाव हर कविता मे खण्ड-खण्ड-सा विलक्षण दिखाई पडता है। उनका लहजा, शब्द-प्रयोग आदि भी विचक्षण और प्रति पल बदलते प्रतीत होते हैं। चिंतन अब बौद्धिक स्मरण और व्यक्तिगत आवेश के तीखे ज्वार में उफनाता चलता है। विचार-प्रवाह उठना-गिरता, टूटता-बिखरता, साथ ही अपने को नकार कर यह भी निनादित करता हुआ दिखाई-सुनाई पड़ता है कि हम पोले है, हम है ही नहीं, जो है वह वेश्लालय है, या निर्वीर्य है अथवा वहाँ 'नहीं' भी नही है (देखें अध्याय-४, आधुनिक सन्दर्भ मे 'काव्यशब्द और बिम्ब,' तथा अध्याय-७, 'अविवेकीकरण की प्रवृत्ति')। चिन्तन की क्रमिक बौद्धिक गति भी नहीं दीखती, भावात्मक प्रसार और निविड़ एकतानता भी नही दीखती। दूर की ध्वनियां जैसे तहखानों से उठती हुई आती हैं, और कब्रो के चीड़ से टकराती हों, वैसी ही गूंजों-अनुगूंजों का माहौल है। यह चिंतन बोधवृत्ति को सहज गम्य नहीं होता। इसके अनेक कारण हैं, यथा—सुनिश्चित लक्ष्य का अभाव, समाज का विखंडन, स्व का विदारण, पूर्वकालीन पड़ी रेखा-जैसी चिन्तन-धारा की ऊर्ध्वगामी चिन्तन-प्रवाह के आधुनिक आन्दोलन से टकराहट, आदि। परम्परा, रीति, अनुबंधादि एवं सन्दर्भण-कलाएँ भी आज चूल से हिल गयी हैं। फलतः चिंतन-माध्यम भी और का और हो गया है। परिणाम-स्वरूप हर कवि को अपना आलोचक पहले होना पड़ता है। उसे अपना बाजार भी तैयार करना पड़ता है। कवि और आलोचक आज दोनों एकजूट इसलिए ही हैं कि दोनों की परम्पराएँ विच्छिन्न हैं।[११]

किन्तु, यह नवलेखन की चिंतन-धारा का प्रारम्भिक रूप ही था जिसका आरम्भ १९४३ (तार-सप्तक की प्रकाशन-तिथि) के कुछ पहले हुआ था। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद आदि काव्यवाद नवलेखन के ठीक पहले के कवि-चित्त की स्थिति के निदर्शक हैं। 'नयी कविता' के प्रकाशन-काल, अर्थात् द्वितीय महायुद्ध के बाद, लगभग १९५० ई० से, एक दूसरे प्रकार की चिन्तन-

प्रक्रिया अरुणित हुई। उसमें कवि की स्वचेतना और बौद्धिकता आधुनिक सन्दर्भ या परिप्रेक्ष्य से न तो त्रस्त प्रतीत होती है, न अपने आप की छाया-जैसी अथवा अभिशप्त। अपने दायित्व का अनुभव कवि को होने लगा है और वह भाराक्रान्तता से ऊपर उठने लगा है। लोक-संपृक्ति का भाव उसमें आने लगी है। जीवन के प्रति आस्था और विश्वास दृढ होने लगे हैं। अज्ञेय के परवर्त्ती काव्य-संग्रह में तथा भारती, भवानी प्रसाद, सर्वेश्वर, कुँवर नारायण, केदार नाथ, भारत भूषण, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विपिन अग्रवाल, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, आदि में इसके प्रमाण मिलते हैं। यथा—

'दुःख सबको माँजता है'
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किंतु
उन्हें वह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।
और—
जिनको माँजता है
(अज्ञेय : नदी के द्वीप)

कहा जाता है, 'अपनी मौलिक प्रकृति के अनुरूप नयी कविता वास्तविक रूप में एक तीक्ष्ण धारा है, जिसमें 'द्वीपों' का सामान्यतः अस्तित्व नहीं।[४०] परन्तु 'नयी कविता' क्षण और सामान्य जन की कविता होकर भी भिन्न प्रकार की महाकाव्यात्मक रचनाएँ, जैसे—अन्धायुग, चाँद का मुँह टेढ़ा है, आदि दे सकी है, यह अपवाद शायद उसकी सामर्थ्य को सूचित करता है।

एक ओर काव्य-चिंतन बौद्धिक-वैज्ञानिक रूप में नाना अर्थ-स्तरों को सम्पुंजित करने वाले शब्दों का विस्मयकारी स्तूप खड़ा करता आ रहा है, जिसका विश्लेषण भी कठिन प्रतीत होता है; दूसरी ओर दर्शन पूर्णतः प्रत्ययात्मक और आणविक चिन्तन करता हुआ अतिभाषा (मेटा-लैंग्वेज) के क्षेत्र में प्रवेश कर शब्द से सारे अर्थासंगों को झाड कर ऐसी भूमि में प्रवेश कर रहा है जो विचारों की शुद्ध संन्यास-भूमि है।' तीसरी ओर विज्ञान पूर्णत. भूतात्मक चिंतन की ओर प्रयाण कर रहा है। चौथी दिशा भोगवादी भीड़तंत्र की—बिटनिक, हिप्पी, बुभुक्षित समुदाय आदि की चिन्तन-प्रणाली की है। इस प्रकार के भोगवादी और संन्यासवादी चिंतन-प्रवाह की लम्बवत् खड़ी रेखा को भूतात्मक और बौद्धिक चिंतन-धारा की पड़ी रेखा स्थल-स्थल पर काटती-छाँटती, मोड़ती-तोड़ती, दबाती-रौंदती, घुलाती-मिलाती अथवा आन्दोलित करती बढ़ रही है। फलस्वरूप आधुनिक काल मे चिन्तन-माध्यम के इतने विविध प्रकार आविष्कृत हो रहे हैं कि जितने पिछले युगों मे सम्मिलित रूप में भी नहीं हो सके थे। उन सभी मे त्वरा और वेग है, और इनके कारण चिन्तन कम-से-कम शब्दों के द्वारा सम्मूर्त्त किया जाता है।

फलतः 'बिम्ब' आधुनिक चिन्तन-प्रवृत्ति का महत्त्वपूर्ण चिन्तन-माध्यम हो उठा है। बिम्बों मे अनेकानेक परतें होती हैं। अतः काव्य की आलोचना मे भी अब प्याज के छिलके उतारने-जैसी प्रक्रिया के द्वारा अर्थों की परत उघारी जा रही है—भाषावैज्ञानिक, अर्थवैज्ञानिक, नादात्मक, मिथकीय (नृतत्त्व- एवं पुरातत्ववादी), ऐतिहासिक, सामाजिक, कवि-जीवन-सम्बन्धी, काव्य-कथ्य-सम्बन्धी, सौन्दर्यमूलक, नैतिक, मनोदैहिक, वर्णात्मक आदि-आदि। अनेकार्थक, गूढ़ार्थक काव्यों की भी संख्या इतनी ही तेजी से बढ रही है।[१४१]

चिंतन एक प्रवाह है। पर वह एकध्येयी होकर भी सतत एकनिष्ठ नहीं होता; उसमें उत्क्षेपण और अन्तराल रहते है। वह एक अलातचक्रवत् अबाध-धारा है। चिन्तन-प्रवाह का एक चुल्लू उलीच लें, तो उसमें कुछ एकोन्मुखी सप्रयोजन चिंतन-कण मिलेगे, कुछ निरर्थक इधर-उधर की ध्वनियाँ भिड़ती-टकराती मिलेंगी; कुछ अपने मन और शरीर के बाहरी-भीतरी अंगों की कुलबुलाहट के अंश मिलेंगे, कुछ प्रयोजन के अनुरूप संवादी-अनुवादी और कुछ विसंवादी-विरोधी तत्त्व मिलेंगे, तो कुछ दूसरो के विचारों की भी अनुगूंजें मिलेंगी। उनमें नाना प्रकार के तत्त्व मिलेंगे। इन सबके बीच कुछ फाँक-फाँक भी रहेगा। इन सारे विषम कणों-तत्त्वों एवं अन्तरालो को जोड़ती रहती है चेतोधारा की मूल में रहनेवाली अस्मिता। यह काम अस्मिता प्रकरणानुबंध, विचारानुबंध, भावानुबंध आदि के तन्तुओ के सहारे करती है। कवि साधारण्य की भूमि पर आरूढ हो सामूहिक अचेतनादि को जगाता है तथा इसके सहारे वह आस्वादक की अस्मिता को राग-प्रबुद्ध करता है। वैसे, किसी व्यक्ति का एक चम्मच चिन्तन दूसरे व्यक्ति मे हठात् डाल देने से अपरीक्षित, अपरिशोधित रक्त-संचार की गड़बडी पैदा कर सकता है। रक्तदान की शब्दावली में कवि चिन्तन का श्रेष्ठ दाता है, सहृदय है श्रेष्ठ गृहीता। परन्तु, कवि सदा आगे रहता है, सहृदय अथवा आलोचक परिनिष्ठित हो जाने के कारण पिछड़ा-सा रहता है।[१४२] अतएव दाता कवि और आलोचक का दायित्व और भी बढ़ जाता है। इस हेतु ही उन्हें लोक-सामान्य भावभूमि पर आना होता है, जहाँ से वे भूतात्मक ठोस भाषा और दर्शन की अतिभाषा के मध्य संवादी हो सकते हैं। इसके लिए उन्हें परम्पराओ को आत्मसात् करना पड़ता है तथा अपने चिंतन को भावन द्वारा प्रगाढ़ बनाना और शब्द-द्वारा प्रत्यक्षवत् गोचर और वेधक रूप देना पड़ता है।

भावित चिन्तन लयात्मक और बिम्बात्मक होने के कारण दूसरे के चित्त मे सहज सप्रेष्य होता है और वहाँ भावन ही के द्वारा बिना किसी दौरा या गडबडी पैदा किए अभिव्यक्त होकर नव प्राणरस का उत्प्रेरक बनता है। भावित चिन्तन प्रातिभ चिन्तन का विशिष्ट प्रकार है। इस कारण वह भाव-पर्यवसायी भी होता है। काव्य-चिन्तन संन्यासवादी शुद्ध प्रत्यायात्मक, आणविक विचारणा तथा और भोगवादी स्थूल चिन्तन-प्रकारो के बीच सामंजस्य इसलिए लाता है कि वह कवि का बिम्बात्मक प्रस्थानक्रम है।[१४] अलेक्जेंडर ने कविता को पूर्णवृत्त माना है, क्योंकि वह न तो विज्ञान की भांति साधन है, न धर्मादि की भाँति साध्य।[१४] उसकी पूर्णता यही है कि भावन के फलस्वरूप वह अपने चिन्तन-लक्ष्य, और चिन्तन-माध्यम मे सर्वांशत: अखड और सम्पूर्ण घटना हो जाती है और विषय एवं विषयी को एकाकार कर लेती है।

काव्यबिम्ब का अनादि और अनन्त स्रोत लोक-मानस है। वही से निसर्गत: उसका उद्भव होता है और वही उसका पर्यवसान भी होता है। इस प्रक्रिया में माध्यम है कवि। कवि माध्यम इस कारण है कि वह उसके सूक्ष्मतम-रूप वाग्बिम्ब का आविष्कर्त्ता या द्रष्टा है। यही नहीं, अपनी दर्शना को कवि 'चर्वणा' द्वारा देशकाल आदि की सीमा से उद्गत भी करता है। अतएव 'काव्य' मे उसकी 'वर्णना' लोकाश्रयी होकर भी लोकोत्तर, अथवा अ-लौकिक-सी हो उठती है। कवि का 'काव्य' उसके महत्तम जीवन-क्षणो के श्रेष्ठ भावो का शाब्द बिम्ब है। उसमे कवि का प्रगाढ़ चिन्तन और भावन अन्तर्लीन रहता है। अत: इस प्रकार के शाब्द बिम्ब से निर्माता कवि की भावना-चिन्तना का नव-नव अभिनय-सा प्रस्तुत होता है।

प्रगाढ़ चिन्तन और भावन प्रतिभा के द्वारा ही संभव है। तभी कवि का सर्जन प्रातिभ सर्जन कहलाता है। 'भावन' से बिम्ब सृष्ट होता है। तो, क्या 'भावन' वही व्यापार है जिसे मनोविज्ञान में 'कल्पना' अभिधान दिया गया है? 'कल्पना' क्या है, उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति क्या हैं? इन प्रश्नो पर अगले अध्याय में विचार अपेक्षित है।

२—सन्दर्भग्रन्थादि एवं टिप्पणियाँ

१—एरिक न्यूटन : दि मीनिंग ऑफ ब्यूटी—७०-८६;
२—भरतनाट्यशास्त्र : हिन्दी अभिनव भारती : पृष्ठ ४१६;
३—नाट्यशास्त्र : अध्याय १२;
स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम् । यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मी तु सा स्मृता ।
अतिवाक्यक्रियोपेतमतिसत्त्वातिभावकम् । लीलाङ्गहाराभिनय नाट्य लक्षणलक्षितम्
स्वरालंकार सयुक्तमस्वस्थपुरुषाश्रयम् । यदीदृश भवेन्नाट्य नाट्यधर्मी तु सा स्मृता
(७१-७४)
तुलनीय श्लीयर मेखर—बेनिदित्तो क्रोचे द्वारा एस्थैटिक्स पृष्ठ ३१३-२३ पर उद्धृत
४—भरतमुनि : नाट्यशास्त्र—अध्याय ७, श्लोक ६;
५—स्कॉट जेम्स, आर० ए० दि मेकिंग ऑफ लिटरेचर : पृष्ठ २४६ पर उद्धृत;
६—पं० रामचन्द्र शुक्ल चिंतामणि पृष्ठ ४३,
७—भरत मुनि नाट्यशास्त्र अध्याय—१ कारिका ११३-११४,
८—होरेस : आर्स पोएटिका ३४३-४;
Omne tulit punctum qui miscuit utile dulci,
lectorem delectando pariterque monendo.
९—भरतमुनि : तत्रैव, कारिका—११५,
१०—हिन्दी अभिनव-भारती पृ० ६०५ एव ५६३, ५२५ भी द्रष्टव्य ;
११—कार्ल मार्क्स ऐंड फ्रे० एंजिल्स : लिटरेचर ऐंड आर्ट, भाग १ पृष्ठ १।
१२—द्रष्टव्य 'अपवर्ड'—दि माइंड इन चेन्स का एक कथन—No book written at the present time can be good, unless it is written from a Marxist or near-Marxist point of view।
१३—कार्ल यास्पर्स—रिज्न ऐंड एक्जिस्टेंस पृष्ठ ३३ ·
Among a hundred mirrors, before yourself false
Strangled in your net Self-knower !
Self-executioner !
Crammed between two nothings
A question- mark ·
१४—जी पाल सार्त्र : ह्वाट इज लिटरेचर पृष्ठ ३५;
१५—आनन्दवर्धन : हिन्दी ध्वन्यालोक तृतीय उद्द्योत पृ० ५३० ;
१६—महिम भट्ट व्यक्तिविवेक पृष्ठ १०८ ;
१७—वामन : काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।३।१६ एवं राजशेखर : काव्यमीमांसा १।११६ ,
१८—पं० जगन्नाथ : रसगंगाधर (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ ८ ;
१९—राजशेखर : काव्य-मीमांसा पृष्ठ २६ से ४० तक ;
२० होरेस : आर्स पोएटिका पृ० ४०८-११ ;
२१—कॉलरिज लिटररी बॉयग्राफिया, इलियट एव रिचर्ड्स द्वारा उनके ग्रंथों में उद्धृत ।
२२—इलियट : दि यूज ऑफ पोएट्री ऐंड दि यूज ऑफ क्रिटिसिज्म पृ० ५५-७, ७६-७, १४६,
Organisation is necessary as well as inspiration.
२३—लॉवेल : वर्क्स II पृ० ४३२-३३ ;
२४—डब्ल्यू० एस० ऑडेन : दि आर्ट्स टु डे I, २१ एवं आस्टिन वारेन-रैनी वेल्लेक : थियोरी ऑफ लिटरेचर पृ० ७६ ;

२५—जी० जैकोबी : दि साइकॉलॉजी ऑफ सी० जी० युंग पृष्ठ ११-३० ;
टी० एस० इलियट : दि यूज ऑफ पोएट्री आदि पृ० १४४ एव १०१ भी; कीट्स की 'न-कार' वृत्ति के लिए द्रष्टव्य 'पोएट्री ऐंड क्रिटिसिज्म ऑफ दि रोमांटिक मूवमेंट' पृष्ठ ६१८ ;

२६—भट्टनायक : 'हृदय-दर्पण'—यावत्पूर्णोन चैतेन तावन्नैव चमत्यमुम्' आनन्दवर्धन कृत ध्वन्यालोक में अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत . हिन्दी ध्वन्यालोक पृ० ८८ ;

२७—एफ० आर० लीविस : न्यू बेयरिंग्स ऑन इंग्लिश पोएट्री पृ० १३ ;

२८—आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक (हिन्दी 'लोचन') ३।१५ पृ० २३४ ;

२९—टी० एस० इलियट दि यूज ऑफ· ·पृ० १४४ ;

३०—जी० बी० मोहन : रिसपास टु पोएट्री, पृष्ठ ५७-७१ ;

३१—डा० नगेन्द्र आ० भा० काव्यशास्त्र की परम्परा पृ० २२१-२३५ ;
(क) 'वासना' और 'संस्कार' के अर्थ में डॉ० सुशील कुमार दे ने अन्तर माना है। द्रष्टव्य जी० बी० मोहन 'रिसपास टु पोएट्री', पृष्ठ १४ ;
(ख) इलियट ने व्यक्तित्व का अर्थ लौकिक व्यक्तित्व ('मैन' न कि 'पोएट' का व्यक्तित्व) लिया है—द्रष्टव्य विंसेंट बक्ले : पोएट्री ऐंड मोरालिटी, पृ० ११३ एवं ११८ ;

३२—डा० फत्तेसिंह : भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका पृ० ८०-८६ ;

३३—एफ० ए० पौट्ल : 'दि इडियम ऑफ पोएट्री' एवं
हार्डिन क्रेग : लिटरेरी स्टडी ऐंड स्कॉलर्ली प्रोफेशन' पृ० ७० एव १२६-७ ;

३४—तुलनीय : ब्लेक—To see a world in a grain of sand,
And a Heaven in a wild flower,
Hold Infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour.

—Ogries of Innocence

टी० एस० इलियट—Time present and time past,
Are both perhaps present in time future
And time future contained in time past
In all time is eternal present,
All time is unredeamable.

टी० एस० इलियट—सैक्रेड उड—ट्रैडिशन ऐंड इंडिविडुअल टैलेंट पृ० ४२ ;

३५—आर० एस० उडवर्थ : दि कन्टेम्पोररी स्कूल्स ऑफ साइकॉलॉजी में द्रष्टव्य परिपूर्णतावाद के प्रधान दो प्रकार (१) आर्गेनिज्मिक (२) पर्सनलिस्टिक—
आर्गेनिज्मक वर्ग के मनोविज्ञानी मन और देह के द्वैध को मिटा कर मानव-व्यापार को युगपत्, मनोदैहिक व्यापार सिद्ध करते हैं, विषयविषयि समवाय-रूप में। पर्सनलिस्टिक वर्ग के पंडित मानव के क्रिया-व्यापारादि का सामाजिक समष्टिगत, अतः व्यापक एव परिपूर्ण आकलन करना चाहते हैं। ध्यातव्य है कि 'रसवाद' भी परिपूर्णतावादी काव्य-सिद्धान्त है, पर 'रमणीयता' में परिप्रेक्ष्यवादी दृष्टि स्वीकृत है। कॉलरिज परिपूर्णतावादी दृष्टि अपनाते हैं, रिचर्ड्स भी।

३६—आस्टिन वारेन ऐंड रैनी वेलेक : थियोरी ऑफ लिटरेचर पृ० ३५;

३७—श्री विद्याधर वामन भिडे आदि ने 'उद्वेग' रस की प्रकल्पना की है : डा० नगेन्द्र ने रस सिद्धान्त पृष्ठ २४८ पर इसका विवेचन किया है। द्रष्टव्य
डा०—मनोहर काले—आ० हि० तथा म० में का० शा० अ० पृष्ठ १७१ ; पुन द्रष्टव्य
डा० उर्वशी ज० सूरती कृत 'आधुनिक हिन्दी कविता में मनोविज्ञान' पृष्ठ १२७ से १४३ जहाँ 'उद्वेग रस' का विवेचन है।

—दण्डी, वामन, लोल्लट, शंकुक, भोज, रामचन्द्र-गुणचन्द्र प्रभृति प्राचीन आचार्य एवं पं० रामचन्द्र शुक्ल, बारलिंगे आदि आधुनिक विद्वान परिपुष्टिवादी हैं और रस को लौकिक, एवं व्यक्ति-संबद्ध मानते हैं। दूसरी ओर अभिव्यक्तिवादी आचार्य, जैसे आनन्दवर्धन, भट्टतौत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र आदि प्राचीन विद्वान् एवं पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, बाबू गुलाबराय, डा० नगेन्द्र आदि रस को विलक्षण मानते हैं। रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा 'चिन्तामणि' भाग—१ एवं २: तथा 'रस-मीमांसा' में प्रकृति में भी रस-स्थिति का आख्यान हुआ है; पर यह रस वस्तुतः काव्येतर है।

—भरत नाट्यशास्त्र, अध्याय २७;

—आनन्दवर्धन अभिनवगुप्त. हिन्दी ध्वन्यालोक-लोचन पृ० ३६-४०;

—वात्स्यायन : कामसूत्र १/४ , जयमंगला १/४/२१ एवं राजशेखर—काव्यमीमांसा पृ० ५१ तथा दण्डी आदि द्वारा वर्णित विदग्धगोष्ठी, काव्यसभा में नागरक, रसिक, सामाजिक के विवरण।

—के० यंग—हैंडबुक ऑफ सोशल साइकॉलॉजी पृ० १३०-१४८;

—लुइ पी० थार्प एवं एलेन एम० श्मूलर : पर्सनालिटी १९५८ पृ० ४;

द्रष्टव्य अज्ञेय की कविता 'मैं-मेरा, तू-तेरा'

जो मैं हूँ वह एक पुंज है दुर्दम आकांक्षा का,
पर उसके बल पर जो मेरा है मैं बराबर देता हूँ।
जो तू है वह अनासक्त पारमिता
पर उसके वातायन से जो तेरा है तू मुझसे
इससे, उससे सबसे फिर फिर भर भर स्मित, निर्विकल्प ले लेता है।

—जी० डब्ल्यू० ऑलपोर्ट · पर्सनालिटी ऐन इन्टरप्रेटेशन, १९३७ पृ० ११४;

—ए० अंगायल · फाउंडेशन्स फोर ए साइंस ऑफ पर्सनालिटी १९५१, पृ० २२१;

—आर पी० कैटेल : डिस्क्रिप्शन ऐंड मेजरमेंट ऑफ पर्सनालिटी १९४६, पृ० ५७६;

—स्प्रेंगर के लिए द्रष्टव्य आर०एस०उडवर्थ : कान्टेम्परेरी स्कूल्स ऑफ साइकॉलॉजी पृष्ठ २५०

—हिन्दी ध्वन्यालोक लोचन पृष्ठ ९३;

—राजशेखर : काव्यमीमांसा पृष्ठ २९-३१।

भावक या आलोचक की श्रेणियाँ वामन और राजशेखर ने बताई हैं। राजशेखर के अनुसार वे हैं :—१-अरोचकी (नाम से ही गुण द्योतित है) २—सतृणाभ्यवहारी अर्थात् सभी रचनाएँ पसन्द करने वाले ३—मत्सरी (ईर्ष्यालु) और ४-तत्वाभिनिवेशी अर्थात् निष्पक्ष सच्चे समालोचक। कवि और (भावक) आलोचक में कैसा सम्बन्ध है, इस विषय पर आनन्दवर्धन का कथन है, एक की दृष्टि रसयित्री है, दूसरे की परिनिष्ठितार्थ विषयोन्मेषक वैपश्चिती। राजशेखर ने कालिदास को कवि और भावक में भिन्नता माननेवालों में बताया है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् १-२, रघुवंश १-१३, मालविकाग्निमित्र १/२ के श्लोकों के आधार पर संभवत ऐसा कथन है। राजशेखर ने वैसा ही एक और मत प्रस्तुत किया है—

एकः सूते कनकमुपलस्तत्परीक्षाक्षमोऽन्य'।

कुन्तक का कहना है—सूक्ष्मसुभगतत्त्व गिराकृष्यते निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदम् वाचैव यो वहि।

वन्दे द्वावपि ताभ्यां कविवरौ वन्देतरां तान् पुनर्यो विज्ञात परिश्रमोऽयमन्योर- भावबतारक्षामः।

स्कॉट जेम्स कवि को ही प्रथम आलोचक मानता है। आलोचक प्रज्ञावान है, कवि प्रतिभावान—यह अन्तर ही उन्हें दो बनाता है।

५०—विलियम एम्पसन ' सेवन टाइप्स ऑफ ऐम्बिग्विटिज ' पृष्ठ २८-३० एवं अंतिम अध्याय।
पोप :एसेज इन क्रिटिसिज्म (पार्ट II/II-२३२-२३४)

A perfect judge will read each work of wit
With the same spirit that its author writ.

५१—जेक् मेरिटेन : क्रिएटिव इन्ट्यूशन इन आर्ट ऐंड पोएट्री (१९५३) पृष्ठ ३६.

५२—अभिनवगुप्त . हिन्दी अभिनव भारती १।२०४-११;

५३ प्लेटो : रिपब्लिक X, ६०७ एवं III ३६८;

५४—भामह ' काव्यलंकार २।८५;
तुलनीय महाभारत : आदिपर्व ५६।३३—
धर्मेचार्थे कामे च मोक्षे च भरतर्षभ। यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तद्क्वचित्।
आनन्द कुमार स्वामी ' दि डांस ऑफ शिव (१९५६) पृ० ४२

In later times the defence of any art such as poetry or drama was characteristically based on the fact that it could contribute to the achievement of all or any of the four aims of life.

५५—जो० हम्फ्री ' थिंकिंग : राबर्ट टाम्सन द्वारा 'दि साइकॉलॉजी ऑफ थिंकिंग' में उद्धृत

५६—ई० हान्फमैन एवं जे० कैसेनिन के प्रयोग . जी० मर्फी० : ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी पृष्ठ २१२ पर उद्धृत,

५७—जे० पी० गिलफोर्ड : जेनेरल साइकॉलॉजी पृ० ४२२-२३.

५८—आलवर्ट आइन्सटाइन : These thoughts did not come in any verbal. formulation, I very rarely think in words at all. A thought comes, and I may try to express it in words afterward.
हिलगार्ड ' ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी पृष्ठ ३६१-६६ पर उद्धृत;
आर० एस० उडवर्थ . एक्सपेरिमेंटल साइ० पृ० ८१७ Hadamard quotes Einstein as testifying that he thinks mathematically in signs and images, and not in words.

५९—इ० बी० टिचनर ' लेक्चरर्स ऑन दि एक्सपेरिमेन्टल साइकॉलॉजी ऑफ दि थॉट प्रोसेस (एन० वाई०) १९०९, पृ० ७-१३;

६०—उडवर्थ : एक्सपेरिमेंटल साइकॉलॉजी : प्रथम संस्करण पृष्ठ ७८४-७८९;

६१—जी० राइल : थिंकिंग ऐंड लैंग्वेज :

Much thinking is not so much a case of having words in mind as rummaging for and finding, or failing to find words.

राबर्ट टाम्सन : दि साइकॉलॉजी ऑफ थिंकिंग पृष्ठ १६४-१८० पर उद्धृत;

६२—जी० मर्फी : ऐन इन्ट्रोडक्सन टु साइकॉलॉजी, पृष्ठ २१४;

६३—हेनरी बर्गसाँ : क्रियेटिव इवाल्यूशन पृष्ठ १७३;

६४—लिसी व्हाइट—नारायण शास्त्री द्रविड कृत 'भारतीय मनोविज्ञान' में पृष्ठ ११७ पर उद्धृत।
हिलगार्ड ने 'हर्फ' की स्थापना (पृष्ठ ३४८ पर) उद्धृत की है कि भाषा-सामर्थ्य का प्रभाव जगद्दर्शन पर पड़ता है The world is conceived differently by those whose languages are of completely unlike structure.

६५—किम्बाल यंग —ए हैंडबुक ऑफ सोशल साइकॉलॉजी, पृष्ठ ३६;

६६—हेनरी बर्गसाँ—तत्रैव पृष्ठ १७४-१७५;
तुलनीय-कीट्स : Poetry alone can tell her dreams
With the fine spell of words alone can save

Imagination from the sable chain
And dumb enchantment. (दि फॉल ऑफ हाइपेरियन)

६७—एच० एम० मैकलुहान : साइट, साउंड ऐंड दि फ्यूरी, पृष्ठ ७-११;

६८—अर्नस्ट आर० हिलगार्ड : इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलॉजी पृष्ठ ३३६-७,

६९—राबर्ट टामसन : तत्रैव पृष्ठ १८५ एवं किम्बाल यंग : तत्रैव पृष्ठ १६८;

७०—आग्डेन एवं रिचर्ड्स : मीनिंग ऑफ मीनिंग पृष्ठ ६४;

In all thought processes two tendencies are, one towards greater definiteness or precision, the other towards wider scope and range.

७१—विल डुरॉ : दि स्टारी आफ फिलासफी-स्पिनोजा के दर्शन में पृष्ठ १८४ पर उद्धृत,

७२—डा० नगेन्द्र : रससिद्धान्त पृष्ठ २१३;

पी० सोरोकिन : सोसाइटी, कल्चर ऐंड पर्सनालिटी, पृष्ठ ३४२;

ई० आर० माउनर डिसआर्गेनाइजेशन : पर्सनल ऐंड सोशल पृष्ठ ४०

७४—मैक्स ईस्टमैन दि लिटररी माइंड : इट्स प्लेस इन ऐन एज आफ साइंस, पृष्ठ १५५,

७५—सिग्मंड फ्रायड : मनोविज्ञान (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ ३३४-३५,

७६—आर० एस उडवर्थ : एक्सपेरिमेंटल साइकॉलॉजी, पृष्ठ ८१६-१८;

७७—फ्रांसिस स्कार्फ : नये प्रतिमान पुराने निकष' पृष्ठ १८६ पर लक्ष्मीकान्त वर्मा द्वारा उद्धृत

७८—एडिथ सितवेल : ए पोएट्स नोटबुक पृष्ठ, ७;

द्रष्टव्य अज्ञेय की कविता से मिलता-जुलता भाव-अकबर इलाहाबादी में

फिलसफा को बहस के अन्दर खुदा मिलता नहीं।
उसको सुलझा रहा है और सिरा मिलता नहीं।

७९—हॉलब्रूक जैक्सन : रीडिंग ऑफ बुक्स (१९४६) पृष्ठ २५५,

८०—हेनरी प्वायन केयर साइंस ऐंड मेथड, पृष्ठ ५८;

जे० डब्ल्यू० सुलिवान : सी० इ० एम० जाड द्वारा 'गाइड टु मॉडर्न थॉट', पृष्ठ १३६ पर उद्धृत।

८१—सुजन लैंगर : प्रोब्लेम्स ऑफ आर्ट (१९६०) एवं फीलिंग ऐंड फार्म (१९५३);

८२—विलियम जेम्स : प्रिन्सिपल्स ऑफ साइकॉलॉजी (१९१०);

एव आर० एस० उडवर्थ काटेम्पररी स्कूल ऑफ साइकॉलॉजी, पृष्ठ २४२;

८३—आर्ज ह्ले : पोएटिक प्रोसेस (१९२९) पृष्ठ १६४-६,

८४—एल० एस० स्टेब्बिंग : ए माडर्न इंट्राडक्शन टु लौजिक पृष्ठ ५०१;

The reference of all the sentences we use is indirect, only a pictorial sentence could express the fact which makes the sentence capable of being so used as to say what is true……we can not use sentences pictorially. All that is possible is to decrease the departure from pictorialness.

द्रष्टव्य विन्टगेंस्टाइन : ट्रैक्टेटस (जहाँ दार्शनिक विटगेंस्टाइन ने 'चित्रभाषा' (पिक्चर थ्योरी) की उत्तमता : A Proposition is a picture of reality.'—प्रतिपादित की है। बाद में उन्होंने इस सिद्धान्त को त्याग दिया)

देखें जी० एच० वानराइट : बायोग्राफिकल स्कैच जहाँ वर्णित है कि यह सिद्धान्त विटगेंस्टाइन को कैसे सूझा होगा।

पठनीय जार्ज पिचर की पुस्तक : दि फिलॉसफी ऑफ विटगेंस्टाइन पृष्ठ ७५-१०१

८५—कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम् एवं आई० ए० रिचर्ड्स : प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म तथा प्रिंसिपल्स ऑफ लि० क्रि० पृष्ठ २६८-७१;

८६—आइ० ए० रिचर्ड्स : प्रिंसिप्ल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म पृष्ठ २६७;
८७—विल डुराँ · दि स्टोरी ऑफ फिलॉसफी· पृष्ठ २७८;
८८—डब्ल्यू के० विमसेट · 'दि वर्बल आइकन' से फ्रैंक कर्मोड द्वारा 'दि रोमांटिक इमेज' में पृष्ठ १५१ पर उद्धृत।
८९—विलियम वर्ड्सवर्थ : प्रिफेस टु लीरिकल बैलेड्स (द्वितीय संस्करण):
९०—मिड्ल्टन मरी : प्रोब्लेम ऑफ स्टाइल पृष्ठ २०-३०;
९१—डा० भगवानदास · पुरुषार्थ पृष्ठ ११८ एवं १३५;
९२—जेम्स लैंग—दो अलग-अलग व्यक्ति जेम्स और लैंग ने प्रायः एक ही समय अपने-अपने समान सिद्धान्त दिये।
डब्ल्यू० बी कैनन : बॉडिली चेंजेज इन पेन, हंगर, फीयर ऐंड रेज', पृष्ठ १०९-१७९ एवं दि विजडम ऑफ दि बॉडी—'स्पिनोजा' ने इमोशन-पैसन का जो वर्णन दिया था, वह कैनन-बार्ड सिद्धान्त से मिलता-जुलता है—द्रष्टव्य—स्टोरी ऑफ फिला०, पृष्ठ १८०)
पी० बार्ड : इमोशन १, हैंडबुक ऑफ जेनरल एक्सपेरिमेंटल साइकॉलॉजी।
पी० टी० यंग : इमोशन इन मैन ऐंड एनिमल, पृष्ठ ६०;
जेम्स ड्रेवर : 'इन्स्टिंक्ट्स इन मैन' पृ० १५८;
मेलो ऐंड क्रुम्मंड : एलिमेंट्स आफ साइकॉलॉजी, डा० नगेन्द्र द्वारा 'रस-सिद्धान्त' में पृष्ठ २११ पर अनूदित।
विलियम मैक्डूगल : 'आउट लाइन ऑफ साइकॉलॉजी : इमोशन में बताया है कि **Primary emotions are essentially indicators of the working of the instinctive impulses.**
आर० एस० उडवर्थ : साइकॉलॉजी : पृष्ठ ३३८,
९३—आर० एस० उडवर्थ—एक्सपेरिमेंटल साइकॉलॉजी, पृष्ठ-११०;
९४—जे० पी० गिलफोर्ड : जेनेरल साइकॉलॉजी पृष्ठ १७०-१७३,
९५—जेम्स ड्रेवर : इंस्टिंक्ट इन मैन, पृष्ठ १५८-१५९;
९६—जी० एफ० स्टाउट · मैन्युअल ऑफ साइकॉलॉजी पृष्ठ, ४०५;
एफ० एच० लुड · इमोशनन्स पृष्ठ ११३-११४;
९७—प० रामचन्द्र शुक्ल : रस मीमांसा एवं चिंतामणि (द्वितीय भाग)
९८—डा० भगवान दास : साइन्स ऑफ इमोशन्स एवं पुरुषार्थ (पृ० १२०-१ एवं ३३)
९९—योगवाशिष्ट · ३।१४ जीवश्चित्त परिस्पन्द पुंसा चित्तं स एव च।
गीता-यं यं वाऽपि स्मरण भावं त्यजति अंते कलेवरं।
तं त एव एति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः।
१००—डा० भगवानदास-तत्रैव
१०१—दि० के० बेडेकर : आलोचना (आलोचना विशेषांक, पृष्ठ ४४-४६) : सुरेन्द्र बारलिंगे ने 'सौन्दर्यतत्व और काव्यसिद्धान्त' (१४६-८ पृष्ठ) में बताया है कि रस श्रव्य-दृश्य भाषा का निर्देशक है। कान्तिरेवाति विस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते (नाट्यशास्त्र २६।८२) से कान्ति=दीप्ति का अर्थ स्पष्ट सूचित होता है। अतः रस=विजुअल इमेज=दृश्यप्रतिमा
१०२—डा० राधाकृष्णन · **To be spiritual is to think so hard that thinking becomes viewing.**
१०३—डा० नगेन्द्र : रससिद्धान्त पृष्ठ १६६;
१०४—रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि भाग १ पृष्ठ ७, १९२-३, २०६-७, २११-२०
१०५—व्ही० राघवन : सम कान्सेप्ट्स ऑफ दि अलंकारशास्त्र ; पृष्ठ ११८
उक्तप्रयुक्त भावं (वे) च वास्यांगापि विदुर्बुधा।

दृष्ट्वा स्वप्ने प्रियं यत्र मदनानलतापिता।
करोति विविधान् भावान् तदेव भावितमुच्यते।
—बे० क्रोचे : एस्थेटिक्स, पृष्ठ १२१
—जीं पॉल सात्र : स्केच फार ए थियोरी आफ इमोशंस, पृष्ठ ६१-६६;
—आर० एस० उडवर्थ : एक्सपेरि० साइ० पृष्ठ ४१६ : जी० टी० डब्ल्यू पैट्रिक : इन्ट्रोडक्शन टु फिलासफी, पृष्ठ ४६४-४६५ एवं बे० क्रोचे एस्थेटिक्स, पृष्ठ ४०७;
हर्बर्ट सिडनी लैंगफेल्ड : दि एस्थेटिक ऐटिच्युड, पृष्ठ ११०;
—सी० इ० ऑसगुड : देखें आगे पृष्ठ-२६६ और ३०१ तथा जी० एच० स्टाउट : मैनुअल आफ साइकालाजी, पृष्ठ ६६६;
—हर्बर्ट स्पेंसर : प्रिंसिपल आफ साइकालाजी, वाल्यूम-१, पार्ट IX;
—सि० फ्रायड : लिवोनार्दो दा विन्ची, पृष्ठ ११०;
—हैवलॉक एलिस : एसे ओन केसेनोवा इन एफर्मेशन, पृ० ११५;
—जी० एडलर ऐनालिटिकल साइकालाजी, पृष्ठ ३८ एवं ८७ एवं शर्ल बोदुआ : साइकोएनालिसिस ऐंड एस्थेटिक्स, पृष्ठ २५;
—एस० राधाकृष्णन : इंडियन फिलासफी १; पृष्ठ १७७;
जे० एम० थार्नबर्न : आर्ट ऐंड दि अनकांशस पृष्ठ ७०,
The poet must ·· ··be regarded as striving after the simplicity of a childish utterance. His goal is to think as a child, to understand as a child.
—इर्ज हर्न : आरिजिन्स आफ आर्ट (मैकमिलन ऐंड कम्पनी) अध्याय ६, ७, ८;
पैट्रिक. 'इंट्रोडक्शन टु फिलासफी' में उद्धृत।
जेम्स ड्रेवर : इन्सिटंक्ट इन मैन, पृष्ठ १५८-५६—in the third place organic resonnance is well marked
विल दुराँ : दि स्टोरी आफ फिलासफी : पृष्ठ २२; 'इमोशन' के सम्बन्ध में—प्लेटो के विचार 'Human behaviour flows from three main sources-desire, emotion and knowleoge· · Emotion has its seat in the heart, in the flow and force of blood, it is the organic resonnance of experience and desire.
—थॉमस मुनरो : ओरिएन्टल एस्थेटिक्स, भाग २, पृष्ठ ६१-६०;
डा० के० सी० पाण्डेय : कम्पेयरेटिव ऐस्थेटिक्स, भाग १;
—कर्ट गोल्डस्टाइन : व्यक्ति परिवेश का मूर्त्तन करता है या अमूर्त्तन। प्रथम स्थूल है। द्वितीय सूक्ष्म। आर० एस० उडवर्थ कांटम्पेररी स्कूल्स आफ साइकालाजी; पृष्ठ २३८
—हर्बर्ट रीड : दि मीनिंग आफ आर्ट, पृष्ठ ३१-३२;
—बर्टण्ड रसल—हिस्ट्री आफ वेस्टर्न फिलासोफिकल थॉट, पृष्ठ ३४—Much of what is greatest in human achievement, involves some element of intoxication, some sweeping away of prudence by passion. Without the Baachic element life would be uninteresting, with it dangerous.
द्रष्टव्य—फ्रेजर : दि गोल्डेन बाउ, पृष्ठ ११.
—शैंड : फाउन्डेशन ऑफ कैरेक्टर : All intellectual and voluntary processes are elicited by the system of some impulse, emotion or sentiment, and subordinated to its ends.

१२१—विलियम बटलर यीट्स : All sounds evoke indefinite and yet precise emotions ·· · ·or I prefer to think, 'call down among us certain disembodied powers whose footsteps over our hearts we call emotions.' आग्डेन ऐंड रिचर्ड्स · मीनिंग ऑफ मीनिंग, पृ० ४५;

१२२—इ० जी० बोरिंग, एच० एस० लैंगफेल्ड, एच० पी० वोल्ड · फाउन्डेशन्स आफ साइकालाजी, पृष्ठ १००; आई० ए० रिचर्ड्स—प्रिंसिपल्स आफ लि० क्रि०; १०२ · 'These sensations or images of them are the main ingredients of an emotional experience.'

१२३—आयुर्वेद—उदात्तीनामयस्तूर्ध्व· ·। वाग्भट्ट ने उदान वायु के विषय में बताया है कि 'कर्मवाक् प्रवृत्ति प्रयत्नोर्जा बलवर्णस्मृतिक्रिया।'

१२४—व्ही० राघवन : सम कान्सेप्ट्स ऑफ दि अलकारशास्त्र पृष्ठ, ६१ एवं, जे० एस० ब्राउन : वर्ल्ड आफ इमेजरी—श्री के० ए० सुब्रह्मण्या 'इमेजरी ऑफ दि रामायण' वौल्यूम III में उद्धृत।

१२५—आग्डेन ऐंड रिचर्ड्स · मीनिंग ऑफ मीनिग—पृष्ठ २२३-२७ भाषा के प्रतीकत्व के पाँच प्रकार्य है—

१. संकेत अर्थात् विचारादि का प्रतीकन;
२. श्रोता में मनोदशा का प्रकाशन;
३. संकेतित वस्तु आदि के प्रति होने वाली मनोदशा का प्रकाशन,
४. अभिप्रेत प्रभाव या प्रयोजन की सिद्धि, अर्थात् विवक्षा का प्रकाशन; और
५. संकेत अर्थात विचारादि के प्रति उठने वाले हल्केपन-भारीपन के अहसास का अनुमोदन।

१२६—रिग्नैनो, वर्कले, रिबाट के विचारों द्वारा प्रतिपादित उपविरत पृष्ठ ४२-४३

१२७-(क) जे० जी० हर्डर : वर्क खण्ड ३२; The first born child of emotions; the origin of poetry, the genre of life is the Ode. (विमसेट एवं ब्रुक्स द्वारा उद्धृत)

(ख) हर्बर्ट रीड : पेज आफ इंग्लिश पोएट्री, पृष्ठ १३;
The most primitive vocal noise, once it was identified with a particular object or emotion and once its meaning or symbolic association was shared by a whole community, the noise could be beaten into rhythm.

१२८—रिचर्ड्स एवं आग्डेन : मीनिंग आफ मीनिंग-उपरिवत
टी० एस० इलियट · A man who devices new rhythm is a man who extends and refines our sensibility —एफ० आर० लिवीस · न्यू बेयरिंग्स इन इंग्लिश पोयट्री—१३३ थाटे : वैदिक मीटर · The language of nature clothes itself in metre ··deep strong passions express themselves in metre उद्धृत रघुनन्दन शास्त्री · हिन्दी छन्दप्रकाश, पृष्ठ ३;

१२९ क्षेमेन्द्र · सुवृत्त तिलक। द्रष्टव्य—डा० राम कुमार वर्मा : साहित्यशास्त्र, पृष्ठ १२४;
जी० एफ० ब्रैडबी · एबाउट इंग्लिश पोएट्री, पृ० ४५;
Quick light rhythms suggest dancing or running water and are exciting and cheerful. Slow measured rhythms suggest solemnity or sadness.
एवं पंत : पल्लव-प्रवेश, पृ० २२-२३; निराला : पंत और पल्लव पृष्ठ ४४;
तथा : परिमल, भूमिका पृष्ठ २२-२३;

—अभिनवगुप्त · ध्वन्यालोक लोचन पृष्ठ ११७;
—टी० एस० इलियट सेलेक्टेड एसेज, पृष्ठ ३३;
—जान क्रा रैन्सम · न्यू क्रिटिसिज्म पृष्ठ ७३ एवं १८४-८५;
मैक्स ईस्टमैन : दि लिटररी माइंड, पृष्ठ २०५, २६७,
रिचर्ड्स · दि फिलासफी ऑफ रिटेरिक्स, पृ० १२४;
—आर० एस० उडवर्थ : कन्टेम्परेरी स्कूल्स आफ साइकालाजी पृष्ठ २४७;
—फ्रैंसिस गाल्टन : आर० एस० उडवर्थ द्वारा एक्सपेरिमेंटल साइकालाजी पृ० ४४ पर उद्धृत,
—आर० एस० उडवर्थ · एक्सपेरिमेंटल साइकालाजी पृष्ठ, ३२८-३३०;
—कार्ल ग्रूस : बे० क्रोचे के 'एक्थेटिक्स' में उद्धृत पृष्ठ ४०८;
—आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक लोचन (हिन्दी १।१३ पृ० १०२ एवं २।१६ पृष्ठ २३२-४;
—सर जेम्स जीन्स . दिस मिस्टीरियस यूनिवर्स, पृ० १२०-२५;
—एफ० आर० लीविस : न्यू बेयरिंग्स इन इंगलिश पोएट्री, पृष्ठ १९६;
—रामस्वरूप चतुर्वेदी · हिन्दी नवलेखन, पृष्ठ ६४;
—विलियम एम्पसन : सेवन टाइप्स ऑफ ऐम्बीग्विटिज एवं
मैल्कोम काउले दि लिटररी सिच्युएशन, पृष्ठ १० एवं ५३।
—टी० एस० एलियट : यूज आफ पोएट्री…पृष्ठ ३० : The critical mind in poetry … …may always be in advance of the critical mind operating in poetry·
—हर्बर्ट रीड : इंग्लिस प्रोज स्टाइल Words used as epithets are words used to analyse a direct statement…whereas metaphor is in the synthesis of several units of observation into one commanding image . it is the expression of a complex idea not by analysis, nor by direct statement, but by a sudden perception of an object relation. एम्पसन द्वारा 'सेवन टाइप्स…में पृष्ठ २ पर उद्धृत
—अलैनटेट : थ्री टाइप्स आफ पोएट्री · आन दि लिमिट्स आफ पोएट्री (न्यूयार्क १९४८) पृष्ठ ११३ ..उन्होंने कविता को पूर्ण वृत्त माना है…पूर्ण घटना। यह वृत्त या घटना साधन नहीं, जैसा विज्ञान है, यह साध्य नहीं, जैसा धर्म है। जिस पूर्णता का दर्शन कविता प्रस्तुत करती है वह तर्क गम्य नहीं होती
The vision of the whole is not susceptible of logical demonstration

३

कल्पना : बिम्बों का कल्पलोक

प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा,
तस्या विशेषो रसावेशवैशद्य सौन्दर्य काव्यनिर्माणक्षमत्वम्
अभिनवगुप्त लोचन पृष्ठ १४-१५

चिंतन में ग्रहण और त्याग दोनों वृत्तियाँ एक साथ मिलकर सहज रूप में इस प्रकार काम करती हैं कि दोनों में से किसी मे बल पड़ते ही बर्नार्ड हार्ट के शब्दो में 'विचारशीलता की डींग'[१] उभर आती है। उदाहरण-स्वरूप चिंतन में यदि ग्रहण की वृत्ति प्रबल हुई, तो सब कुछ लील जाने की ऐसी प्रवृत्ति होगी कि रावण अवतरित होगा, और उसे अपने किए का फल भोगना पड़ेगा। इसके स्थान पर, यदि त्याग की वृत्ति प्रचंड हुई तो फिर हम प्रत्ययो के लोक में रहेगे। सर्वथा शुद्ध विचार अथवा 'केवल विचार' का अनुशासन अन्ततः किर्कगार्ड[२] के शब्दो में 'वैसा ही है, जैसे 'डेनमार्क के पर्यटन के लिये युरप के छोटे नक्शे को आधार बनाना, जिसमें वह शहर आलपीन की नोंक से भी छोटा है,—अथवा उससे भी अग्राह्य, असंभव है।'

काव्य-सर्जना और कल्पना :

ग्रहण और त्याग की यह प्रवृत्ति जीवन-जगत् में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। समस्त प्रकार की आच्छन्नता में ग्रहण की वृत्ति है और मुक्तता में त्याग की वृत्ति। भौतिकता आच्छन्न करती है, आध्यात्मिकता मुक्त। भूत-समष्टि से सम्बन्धित होने के कारण इन्द्रियाँ आच्छन्न करती हैं, किन्तु मानस में मुक्तता है। काव्य-सर्जन पूर्ण आच्छन्नता और सर्वांग मुक्ति के दो छोरों की मिलन-भूमि में होता है। इस कारण ही काव्य तथ्य के उस आच्छन्न रूप को एवं सत्य के इस प्रत्ययात्मक केवल-रूप को समाहित करता है। हमारे मन की यही स्वाभाविक और प्रसन्न वृत्ति भी है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'हमारा मन जिस ज्ञानराज्य में विचरण कर रहा है वह दोमुँहा पदार्थ है। उसकी एक ओर है तथ्य और दूसरी ओर सत्य। जैसा वह है, वैसे ही भाव को तथ्य कहते हैं, और वह तथ्य जिसे आश्रय करके टिका है वह सत्य है। तथ्य खण्डित है, स्वतन्त्र है; सत्य के भीतर ही वह अपने वृहत् ऐक्य को प्रकाशित करता है। चूँकि साहित्य और ललित कला का काम ही प्रकाश करना है, इसलिए तथ्य के पात्र को आश्रय करके हमारे मन को सत्य का स्वाद देना ही उसका काम है। यह स्वाद एक है, असीम का है। अखण्ड ऐक्य को आश्रय करके ही सत्य प्रकाशित होता है।'[१]

कवि शरीर और इन्द्रियों से तथ्य का प्रत्यक्ष ग्रहण करता है तथा मनस् से उसमें अन्तर्निहित सत्य का दर्शन करता है। वह तथ्य और सत्य को समाहित कर उसका अभिव्यंजन भी इस प्रकार करता है कि अभिव्यक्त 'बिम्ब' में दोनों प्रतिभासित होते हैं। इस प्रकार कवि बिम्बगत तथ्य के दर्पण में असीम सत्य का आभासन करता है।

बिम्ब-ग्रहण और बिम्ब-सर्जन कविता में तथ्य, गुणात्मक तथ्य और नव-निर्मित तथ्य तीनों क्षेत्रों में होता है। इन तीनों के उदाहरण-स्वरूप क्रमशः कुत्ता, सफेद कुत्ता और पखदार कुत्ता—तीन शब्द, निर्मितियाँ लें। 'कुत्ता' सामान्य वस्तुनिष्ठ भाषा (आब्जेक्ट लैंग्वेज : कार्नेप) की इकाई है। वह एक विशिष्ट चौपाए वर्ग के प्राणी के लिए शब्द संकेत है। 'सफेद कुत्ता' उस विशिष्ट चौपाए वर्ग के प्राणियों में से और भी विशिष्ट है। 'सफेद-कुत्ता' की कोटि अन्य 'कुत्ता' वर्गों से रंगों के विशिष्ट वर्ग 'सफेद' 'रंग' की

इकाई से युक्त होने के कारण पृथक् है। 'कुत्ता' और 'सफेद कुत्ता' के जो प्रत्यय मन के द्वारा धारण किए जायँगे, वे इन्द्रिय-प्रदत्तो (सेंस डाटा) के पुंज होंगे एवं बाह्य-जगत के उनके द्वारा संकलित चौपायों मे उनकी यथातथ्यता सदा अनुरूप होगी। परन्तु 'पखदार कुत्ता' एक ऐसी शब्द-निर्मिति है, जिसके लिए वस्तुगत निजी इन्द्रिय-प्रदत्त नही है और न है उनकी वास्तविक स्थिति। ऐसे निर्मित शब्द आन्तरिक माग और बाहरी स्थिति के चाप से उद्भूत (थीमेटिक) 'संभावनामूलक वास्तविकता' के तथ्य को प्रतीकित करने वाले शब्द हैं। कवि तीनो का बिम्बन करता है चाहे तथ्य सहज वास्तविक हो, विशेष हो अथवा संभवनीय हो।

हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठ शिला की शीतल छांह,
एक पुरुष, भींगे नयनों मे देख रहा था प्रलय प्रवाह।

में 'हिमगिरि' 'उत्तुंग शिखर' 'भीगे नयन' उपर्युक्त तीन रूपो के क्रमश उदाहरण माने जा सकते है। यहाँ 'भीगे नयन' ही कवि-निर्मिति नही 'हिमगिरि' और 'उत्तुंग शिखर' भी कवि-निर्मितियाँ है। यानी, 'हिमगिरि' भूगोलादि शास्त्रों मे वास्तविक हिमालय जैसा हो सकता है, परन्तु यहाँ वह वैसा नही भी हो सकता है। यहाँ वह कवि की मनोनिर्मित है—राजशेखर के शब्दो मे वह प्रतिभास-निबंधित है। सूजन लैंगर के अनुसार उसकी काव्यगत लाक्षणिक सत्ता है। अतएव, हिमगिरि और वट को हिमालय-जैसा मानने (आचार्य चन्द्रवली पाण्डेय) एवं रात में मनु की आँखो के चमकने की (डा० रामधारी सिंह 'दिनकर') समस्या काव्येतर समस्या है। हिमालयादि से उसका बाहरी सादृश्य एरिक न्यूटन की शब्दावली मे कलाकृति-रूप प्याज का मात्र बाहरी छिलका है। आनन्दवर्धन के अनुसार

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥ —ध्वन्यालोकः ४।४

अर्थात् पहले देखे हुए भी अर्थ काव्य मे रसपरिग्रह से नवीन लगते हैं, जैसे वसंत मे वृक्ष।

सारांशतः 'काव्य' कवि की अभिनव सृष्टि है। वह कविकृत एक और अखंड 'कल्प-लोक' है। कवि-प्रतिभा द्वारा सृष्ट इस रचना की प्रातिभासिक सत्ता है। मनोविज्ञान में इस प्रकार की मनोनिर्मित कल्पना-निर्मिति मानी जाती है।

कल्पना और प्रतिभा

कवि की सर्जनात्मक चिन्तना का अभिधान प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र मे 'प्रतिभा' है। संस्कृत काव्यशास्त्र मे जिसे अभिनवगुप्त ने कवि-प्रतिभा कहा है, उसका विवेचन पाश्चात्य साहित्यशास्त्रविदो एव मनोविज्ञानियो ने 'इमेजिनेशन नाम से किया है। 'इमेजिनेशन' अर्थात् 'इमेज', या बिम्ब, प्रतिमा, मूर्त्ति आदि कुछ इस प्रकार की गढ़ लेने की शक्ति जो अपूर्व हो, अद्भुत हो। भारतीय शास्त्रो मे इधर इसके पर्याय मे 'कल्पना' शब्द चल पडा है।[४]

भारतीय वाङ्मय में 'क्लृप्' के तीन रूप प्रकट करनेवाले शब्द हैं— संकल्प, विकल्प, और कल्पना। एक ही तत्त्व-रूप 'कल्प' (सृष्टि) 'सम्' से सश्लेषण का, एव 'वि' से विश्लेषण का अर्थ द्योतित करता है। सकल्प इच्छाशक्ति ही है जो मनस् की वृत्ति है। भाव सकल्पात्मक होते हैं, क्योकि भाव मे प्रत्यय सश्लिष्ट रहता है। ईश्वर को 'सर्वविकल्प विहीन शुद्ध शान्त' (परमार्थ सार ११) आदि कहा गया है।

'कल्पना' मे 'कृपसामर्थ्ये' धातु है। इसमे 'ऋ' 'ल' है। इस धातु का प्रेरणार्थक रूप ग्रहण कर 'कल्पना' शब्द की (कृदन्त सज्ञापदरूप) निष्पत्ति होती है। अत. कल्पना मे शक्ति (सामर्थ्य) और प्रेरणा (क्रिया) दोनो तत्त्व हैं। प्रेरक परम शिव हैं, जिनकी शक्ति ही 'कल्पना' है। वह सर्वकर्तृत्व शक्ति अपने सकुचित रूप मे 'कला' नाम ग्रहण करती हैं। कला कल्पना से सम्बद्ध है। उससे ही प्रेरित भी है। कला सृष्टि है और वह मूलत: 'शक्ति' है। यह शक्ति ही प्रेरक-रूप मे 'कल्पना' कही जाती है। कारण-रूप इस 'शक्ति' से कार्यरूप कला-सृष्टि अभिन्न भी होती है। अत कला-सृष्टि भी 'कल्पना' कही जाती है। भारतीय दृष्टि से 'कल्पना' का ऐसा विवेचन भी सभव है। किन्तु भारतीय शास्त्र में 'प्रतिभा' या 'शक्ति' ही प्रेरक-तत्त्व रूप में प्रचलित है। 'कल्पना' का प्रयोग नया है। आनन्दवर्धन ने 'प्रतिभा' की ही वन्दना की है—

> यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्
> स्वात्मायतन विश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम् ॥ (ध्वन्यालोक लोचन पृ० १७२)

कल्पना (इमेजिनेशन) और काव्य-कला मे उसकी अर्थ-परम्परा

काव्यालोचन में 'इमेजिनेशन' के छह गृहीत अर्थों का निर्देशन आइ०ए० रिचर्ड्स[५] ने किया है, जो हैं दृश्य बिम्बोद्भाविका शक्ति, अलङ्कृत भाषा-

शक्ति, ग्रहणशीलता की शक्ति, अनुसंधित्सा, सम्बन्ध-स्थापना की शक्ति, और सम्मूर्त्तन की शक्ति। इनमें से छठा अर्थ कॉलरिज के द्वारा प्रदत्त अर्थ है। कॉलरिज ने काव्य-कला मे 'इमेजिनेशन' का महत्त्व व्यापकता और गहनता से स्थापित किया था। 'इमेजिनेशन' को यह अर्थ-परम्परा पहले प्राप्त न था।

प्लैटो ने गायक, कवि आदि को अनुकृति का कर्त्ता माना था, फिर भी उन्होने यह संकेतित किया था कि ग्रहपोन्माद के क्षणों में वे अविष्कर्त्ता हो उठते हैं और इन्द्रियों आदि मे उत्तीर्ण और मुक्त हो जाते हैं। प्लैटो ने १. आइकास्टिक अर्थात् पूर्वानुरूप निर्माण और २. फैंटास्टिक अर्थात् कलाकार की स्वोद्भूत रचना के दो अनुकरण-प्रकार भी द्योतित किए थे। अरस्तू ने जिस आनुरूप्य की विवेचना की थी उसमे भी उन्होंने सभाव्य का सर्जन वाछनीय माना था। उनके धुँधले मनोविज्ञान मे 'फैन्टेसी', 'फैन्टेज्मा' आदि की चर्चा है जो बिम्ब-निर्मात्री शक्तियाँ है। फैन्टेज्म' अरस्तू द्वारा प्रकल्पित ऐसी मानसिक वृत्ति है, जो 'इमेजिनेशन' के अति निकट पहुँच जाती है; पर उसमें सृजनशीलता का अर्थ नही था।

'इमेजिनेशन' शब्द का प्रायः आधुनिक अर्थ-सन्दर्भों-जैसा सबसे पहले प्रयोग करने वाले है फ्लेवियस फिलोस्ट्रेटस नामक टार्सस के दार्शनिक (१७२-२४५ ई०) जिन्होंने 'लाइफ ऑफ एपोलोनियस' नामक ग्रंथ में इस शब्द के द्वारा मन की उस शक्ति का अर्थ लिया था, जो नवीन बिम्ब रचती है 'अनुकरण द्वारा उसीका निर्माण होगा जो देखा गया हो, किन्तु 'इमेजिनेशन' या कल्पना उस ओर भी बढ़ चलेगी जिसको नहीं देखा-सुना गया हो, और जिसे वह यथार्थ का प्रतिमान मानेगी (छठा भाग १९)[१]। लगभग फिलोस्ट्रेटस के ही समकालीन रोम के नव-अफलातूनी दार्शनिक प्लॉटिनस ने ऐसी ही बात फीडियस और जिउस की मूर्त्ति के निर्माण के संबध मे इन्नीड में कही है—कलाओ का तिरस्कार इसलिये नही होना चाहिये कि वे प्राकृतिक वस्तुओं का अनुकरण कर ही सर्जन करती है। क्योकि, ये प्राकृतिक वस्तु स्वयं अनुकृतियाँ हैं। (अतः अनुकरण हेय नही) दूसरी बात यह, कि कलाएँ वस्तुओ की यथावत् नग्न प्रतिकृति नहीं प्रस्तुत करती, किन्तु उस मूल प्रत्यय या आइडिया तक भी पहुँच जाती हैं, जिससे प्रकृति अपना निर्माण करती है। फिर तीसरी बात यह, कि उनके कार्य में अधिकांशतः उनकी बिल्कुल अपनी कृति रहती है—ये सौन्दर्य के प्रतिमान प्रस्तुत करती हैं और जहाँ प्रकृति में अभाव रहता है, वहाँ वे अपनी ओर से जोड़ती हैं इसी भाँति

फीडियस ने जिउस को गढा, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त वस्तुओं के नमूने पर नहीं गढ़ा; किन्तु इस कल्पना-प्रतीति द्वारा सृष्ट किया कि यदि जिउस को चक्षुरिन्द्रिय द्वारा गृहीत एव सम्मूर्तित बनाना चाहते हैं, तो उसे किस रूपाकृति में गढा जाय।*

प्लॉटिनस ने 'कल्पना' के दर्शन-पक्ष का निरूपण भी इतना सटीक किया है, कि वह 'कल्पना' के उद्भावको में अग्रगण्य-सा माना जाता है। बाद के विचारकों ने 'इमेजिनेशन' और 'फैन्टेसी-फैन्सी' शब्दो पर अपनी-अपनी दृष्टि से कुछ इस प्रकार के विचार दिए कि कभी फैटेन्सी-फैन्सी प्रधान वृत्ति के रूप में आख्यायित हुई, कभी 'इमेजिनेशन'। टॉमस हॉब्स (१५८८-१६७६) ने लेविएथन, अध्याय-२ मे लिखा है—'वस्तु को हटा देने पर, अथवा आँख बन्द कर लेने पर, हम देखी गई वस्तु का बिम्ब धारण किए रहते है, यद्यपि यह प्रत्यक्षीकृत वस्तु से धुँधला होता है। इसी को लातनवी भाषा मे 'इमेजिनेशन' कहते है। बिम्ब या इमेज को दृश्य-प्रत्यक्ष के लगाव में मान कर ही ऐसा कहा जाता है और अन्य इन्द्रियो के प्रत्यकन मे भी उसे ही प्रयुक्त करते है : यह युक्तियुक्त नही। यूनानियो की भाषा में उसे 'फैन्सी' कहा जाता है।' " इमेजिनेशन इस प्रकार क्षीण होता हुआ इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (डिकेइग सेन्स) है। उसके क्षीयमान रूप का दूसरा नाम 'मेमरी' या स्मरण है। इस प्रकार कल्पना और स्मरण बस एक-से ही ठहरते हैं।" फिर उन्होने अध्याय-८ मे विवेक (विट) या प्रौढि और 'फैन्सी' पर काव्यकला के सन्दर्भ मे अपने विचार देते हुए बतलाया है कि वास्तविक 'प्रौढि' या 'विट' मे दो गुण है—(क) स्पष्ट नव कल्पना, यानी विचारो में प्रवाह, एव (ख) एकाग्र लक्ष्योन्मुखता। वैषम्य मे एकत्व के दर्शक को विवेकवान् कहा जाता है, अर्थात् उन्हे उत्तम 'फैन्सी' है; और जो उनमे अन्तर, विषमता, पार्थक्य के दर्शक है, उन्हे निर्णायक, मूल्यलोचक कहेगे। अच्छी कविता मे 'फैंसी' और मूल्यबोध दोनो आवश्यक हैं, किन्तु 'फैन्सी' प्रधान रूप मे, क्योकि 'फैंसी' रजक आनिशय्य है। इतिहास में मूल्यबोध प्रधान है। फिर वक्तृता, स्तुति आदि मे 'फैंसी' का महत्त्व है। बेकन ने भी (१६०५) विज्ञान को बुद्धि से, इतिहास को स्मृति से और कविता को इमेजिनेशन या फैंसी से सम्बद्ध माना था।

'फैन्सी' से व्यतिरिक्त मूल्यबोध विवेक, प्रौढ़ि या 'विट' है। 'फैंसी' मन के भीतर की गत्वरता है, इन्द्रिय-प्रणालियो के स्पन्दन का शेषांश है।* जॉन लॉक ने 'एसे कनसर्निग ह्यूमन अडरस्टैडिग' (१६९०) मे 'फैंसी' का सम्बन्ध

सुन्दर मनभावन निर्मितियो से उसी प्रकार माना जिस प्रकार हाब्स ने (अध्याय-२)। परन्तु उसने मन को सफेद कागज की भांति, प्रवृत्तिशून्य माना[९]। एडमण्ड बर्क ने मन की तीन शक्तियो की चर्चा की थी– १–ऐन्द्रिय, २–इमेजिनेशन या कल्पना, जो प्रत्यक्षगृहीत वस्तुओं को तद्रूप तत्क्रम में प्रस्तुत करती या इनके संश्लेष से नवीन का निर्माण करती है, तथा ३–मूल्यबोध अथवा तर्कशक्ति।[१०] बर्क ने यह भी बतलाया है कि 'सौन्दर्य' से अन्दर-अन्दर द्रवण और वैकल्य का अनुभव होता है। सौन्दर्य सम्पूर्ण संस्थान के दार्ढ्य गुण के मार्दव या द्रवण द्वारा आच्छन्न करता है।[११]

जोसेफ एडिसन ने जून-जुलाई १७१२ में स्पैक्टेटर के ४११ से ४२१ तक के दस अकों मे 'आन दि प्लेजर्स ऑफ दि इमैजिनेशन' मे कल्पना के रूप, प्रवृत्ति और आनन्द की विशद विवेचना जॉन लॉक और हाब्स के सिद्धान्तो को मिलाजुला कर की। फलत: उनकी स्थापना मे वदतो-व्याघात दोष के प्रमाण अनेक है। एडिसन ने कल्पनानन्द के दो प्रकार माने–

१–प्राथमिक, जिसमे प्रकृति के वास्तविक प्रत्यक्षदर्शन का आनन्द है (शुक्ल जी से तुलनीय) एवं

२–माध्यमिक, जो प्रत्यक्षप्राप्त उन्ही दृश्यो की सुन्दर प्रतिकृतियो (कलागत प्रस्तुतियो) का आनन्द है।

यह कल्पनानन्द इन्द्रियानन्द-सा स्थूल भी नही और बौद्धिक आनन्द-सा सूक्ष्म भी नही। साथ ही यह कल्पनानन्द 'विट' अर्थात् काव्यादि के आन्तरिक तत्त्व के औचित्य से सम्बन्धित है। एडिसन ने कौशल रूप निर्मिति समझी जानेवाली कला-काव्य-रचना को लालित्यसर्जन की मूल धारा से पुन संयुक्त कर देने का काम किया। इटली के विचारक ग्यामबत्तिस्ता विको ने इमेजिनेशन का महत्त्व 'न्यू साइंस' मे स्पष्ट किया। उनका कथन है कि मनुष्य को पहले प्रतिभान होता है, बाद मे उसे बोध होता है और उस बोध मे आन्तरिक विकलता भी रहती है; अन्त में वह शांत मन द्वारा चिंतन-मनन करता है। यह 'प्रतिभान' कल्पना है, जो कवि की प्राथमिक वृत्ति है। दार्शनिक उसे चिन्तन-मनन द्वारा प्राप्त करता है। दर्शन का काम है बालरुचियों आदि से मन को खींच लाना, पर काव्य उसी में निमग्न करता है, दर्शन इन्द्रियज्ञान को दृढ़ करता है, काव्य उन्मुक्त वृद्धि; दर्शन कल्पना को क्षीण करता है, कविता संवर्धित। फलतः, कविता में भूतसमष्टि का अलंकरण तत्त्व रहेगा

दर्शन में नहीं। कवि मानवजाति की इन्द्रियाँ हैं, दार्शनिक बुद्धि। कल्पना उतनी ही प्रबल होगी, जितनी बुद्धि की लगाम ढीली रहेगी। महान् कवि चिन्तन-मनन के युग में नहीं उत्पन्न होते, कल्पना के उद्दाम प्रवाह वाले उस युग मे प्रादुर्भूत होते हैं, जिसे बर्बर युग भी कहते है। कल्पना की सामान्यावधारणा-प्रधान परिकथाएँ पहले सृष्ट हुई, तब उनकी तर्कणा द्वारा दार्शनिक सामान्यावधारणा-प्रधान विचार या दर्शन प्रणीत हुए।

विको की काव्य-कल्पना-सबधी उपपत्तियों को दार्शनिक इमेनूएल कांत ने ग्रहण कर बतलाया कि कविता विचार और सवेदन का समन्वित व्यापार है। कला और कविता का सौन्दर्य शुद्ध सौन्दर्य नही, प्रत्युत् प्रत्यय का सलग्नक-रूप होकर सौन्दर्य है। प्रतिभा के दो उपादानभूत तत्व है– १–कल्पना, और २–बुद्धि (प्रज्ञा)। इनके योग से उस आनन्दप्रद प्रवृत्ति का उन्मेष होता है, जो सामान्य प्रत्यक्ष के लिए विशिष्ट भाव-विचार प्रस्तुत करती है और अभिव्यजना माध्यम का भी चयन करती है जिससे रूपायिति का प्रेषण सभव होता है। कांत ने आत्मा (मन) की वृत्तियों मे ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व, कर्तृत्व की चर्चा की, और 'कल्पना' को सवेदनादि के अन्तर्गत रखा। फलत: कांत ने कल्पना के दो भेद माने – १–पुनरावृत्यात्मक एव २–सहचर। उनके दर्शन मे सर्जनात्मक कल्पना को अथवा कल्पना की मुख्य आत्मा को स्थान न मिला।

जीं॰ पॉल राइख्तर ने (१८०४) सर्जनात्मक कल्पना का निर्वचन कर उसके कई भेद बतलाये – यथा सामान्य मेधा, निष्क्रिय या स्त्रैण कल्पना; सक्रिय या पुमर्थनिष्ठ कल्पना, जो श्रेष्ठ कल्पना है आदि। फ्रेडरिक शीलिंग ने (१८००-१८०४) कल्पना को शुद्ध बुद्धि और तर्क से नितान्त पृथक् माना। उसने 'फैंसी' से भी कल्पना को पृथक् माना। फैंसी काव्यसामग्री के संचय और व्यवस्थापन की वृत्ति है। कल्पना काव्यसामग्री का प्रातिभ बोध है, उद्भाविका है एवं प्रस्तुति करने वाली है। प्रज्ञा और तर्क में जो सम्बन्ध है, कल्पना और फैंसी मे प्राय: वैसा ही सम्बन्ध है। इस प्रकार उनके मत में कल्पना कला का प्रज्ञात्मक प्रातिभबोध है।

ड्राइडेन ने सतरहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'फैंसी' और 'इमेजिनेशन' का प्राय: समानार्थी प्रयोग करते हुए यूनानी ग्रहपोन्माद, उद्गति आदि का एक प्रकार से पुनराख्यान-सा किया था। उसने बतलाया था कि

'इमैजिनैशन' कवि की ऐसी अन्ध और भंजक वृत्ति है कि उसे तीव्रगामी स्पैनियल कुत्ते की भाँति कुछ बंधन में रखना चाहिये, यानी छन्दों के बंधन में, ताकि वह मूल्यबोध को छलाँग न जाय। फैंसी वह अवकाश देती है कि मूल्यबोध आकर अपना काम करे। ड्राइडेन फैंसी को प्रधान वृत्ति मानता है। काव्य-सर्जन की दृष्टि से उनकी महत्वपूर्ण स्थापना यह है—

१—कवि की कल्पना का पहला आनन्द है, उचित अनुसंधित्सा, अथवा कथ्य विचार की खोज;

२—दूसरा है, फैंसी का आनन्द, अथवा उस विचार का विषयवस्तु के औचित्य की दृष्टि से मूल्यबोध के आलोक में संशोधन, परिवर्धन, परिवर्त्तन; और

३—तीसरा है, भाषण अथवा अनुरूप, साभिप्राय ध्वन्यात्मक वर्णमय शब्दों द्वारा उस विचार के रूप-प्रसाधन की कला।

ड्राइडेन के अनुसार कल्पना की त्वरा अनुसंधित्सा मे, उत्पादकत्व फैंसी मे, आनुरूप्य अभिव्यंजन में दिखाई पड़ते है।[१२]

रोमांटिक कवियो ने आध्यात्मिक और अतिरेकी मुद्रा मे 'कल्पना' को तर्क और बुद्धि से महत्तर और दिव्य आसन दिया। ब्लेक ने कल्पना की शक्ति का आध्यात्मिक आख्यान प्रस्तुत किया—'कल्पना' का संसार शाश्वत संसार है। वह दैवी हृदय है, जहाँ इस वानस्पतिक शरीर के झड जाने पर हम सब पहुँचते है। 'एक ही शक्ति है जो कवि बना सकती है वह है कल्पना—दैवी दृष्टि।' 'कल्पना अखिल और चिरन्तन है'। वर्ड्सवर्थ ने भी कल्पना को परमशक्ति का ही नाम-भेद माना। कल्पना अन्तर्दृष्टि है, मन की विभा, जिसकी ज्योति में सब कुछ स्वच्छ और पारदर्शी दिखाई पडता है। वह तर्क या विवेक की चरम दशा है।

शेली का कथन है कि 'जब हम तर्कसंभूत विचार करते है, तो इच्छा बोधगम्यता की रहती है, किन्तु जब कल्पना करते है तो चाहते हैं कि मन मे सृष्ट वायवीय सन्तान दूसरे के चित्त में फिर से जन्म ले लें।' इससे 'कल्पना' का प्रयोजन स्पष्ट होता है। पर उसकी प्रवृत्ति का द्योतन न हो सका। कविता-विषयक उसकी परिभाषा 'सामान्य अर्थों' में कविता कल्पना का प्रकाशन है', से 'कल्पना'-विषयक उसकी धारणा अलग पड़ जाती है तर्क और कल्पना में विरोध हो जाता है दार्शनिक की 'कल्पना' और

लालित्य-स्रष्टा की 'कल्पना' में पारिभाषिक और प्राविधिक अन्तर आ जाता है। इसे दूर करने का प्रयास कॉलरिज ने किया।

कॉलरिज का मतव्य है, कि उत्तम कवि जब प्रकृति-प्रदत्त सामग्रियो को—सवेदन, राग, भाव, विचारादि को—रूपायित करता है तब उनमे अद्भुत विकास आ जाता है। वे अपनी निजता नही खोती, परन्तु समग्रता मे ग्रथित होकर ऐसी एकान्विति प्रस्तुत करती है कि उनसे अभिनव सौन्दर्य और महत्तर उद्देश्य की अभिव्यक्ति होने लगती है। हृदय उस अन्विति से आकृष्ट होता है, बोधवृत्ति उससे तुष्ट होती है, तर्कणा को भी संतोष प्राप्त होता है। एकीकरण और सामंजस्य-स्थापन की इस शक्ति का नाम कॉलरिज ने **'संकुल कल्पना'**—*इन्सेमप्लास्टिक इमेजिनेशन*—दिया है। यह कल्पना समून्र्त्तन की शक्ति है, सर्जन की वृत्ति है।

कॉलरिज ने यह मानने से इनकार कर दिया कि इन्द्रिय-सवेदन चेतना पर बाहर से लादे जाते हैं। उसने यह माना कि चेतना पदार्थ की निर्णायिका है और पदार्थ चेतना का निर्धारक। कालरिज और फिर **शीलिंग** ने बतलाया कि प्रत्यक्षीकरण मे प्रत्यक्ष-द्रष्टा और प्रत्यक्षीकृत दृश्य चैतन्य आत्मा मे समाहित रहते है। कल्पना की समन्वयवृत्ति से ही अपरिमेय (द्रष्टा) और परिमित (दृश्य) दोनो एकीकृत रहते है। तत्क्षण एक पक्ष से वह विषयी है, दूसरे से विषय। इन दोनो के वैषम्य और समाहार में, विरोधस्थिति और समता मे ही सर्जन और जीवन का रहस्य है। कॉलरिज ने कल्पना-सम्बन्धी समन्वय का जो विवरण दिया है, वह बिन्दुक्रम में इस प्रकार है—

१—कल्पना की (विषयीगत) समन्वय-शक्ति एकता लाती है—

(क) समता और वैषम्य मे, (ख) सामान्य और विशेष मे,
(ग) विचार (प्रत्यय) और बिम्ब मे, (घ) प्रतिनिधि और व्यक्ति मे,
(ङ) नवता और प्राचीनता मे, (च) *असाधारण आवेग और असामान्य संयम मे*
(छ) धीर एवं प्रबुद्ध मूल्यबोध और स्फूर्त्त, प्रगाढ भावनामयता मे (ज) कृत्रिम और प्राकृतिक में
(झ) चाँदनी और धूप में, (ञ) प्रकाश और छाया में
(ट) बाह्य और आन्तरिक मे, (ठ) प्रकृति और विचार मे
(ड) आन्तरिक चेतना और बाह्य अध्यात्म में (ढ) लय, छन्द (आवेग) और व्यवस्था (संयम) मे

२—कल्पना की (विषयगत) अनुशासन-शक्ति के तीन प्रधान उदाहरण हैं—(क) कला प्रकृति के द्वारा (ख) वर्णन वर्ण्य के द्वारा तथा (ग) (कवि की) आशंसा (काव्य के प्रति) सहानुभूति द्वारा अनुशासित रहती है।

इस व्यापक समन्वय और एकीकरण द्वारा कवि अनेकता में एकता का आविष्कार कर लेता है और विभिन्न विचारों-भावों के पुंज को एक विशेष भाव-विचार की अन्विति में प्रस्तुत करता है। कॉलरिज का विश्वास था कि विषय-रूप प्रकृति और विषयी-रूप मनुष्य के बीच सामंजस्य कला ही लाती है। इन दो विषम तत्त्वों में एकीकरण के चरम विन्दु का नाम उसने दिया 'शाश्वत मैं हूँ'। इस 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' की अपूर्व शक्ति ही कल्पना या प्रतिभा है। **टी० एस० इलियट** एवं रिचर्ड्स दोनों ने अपने काव्य-सिद्धान्तों में कल्पना की कॉलरिज के द्वारा निर्दिष्ट समन्वय-शक्ति स्वीकार की है। तभी इलियट ने काव्य-गुण में 'विट' को महत्त्व दिया और रिचर्ड्स ने विद्रूप-व्यंग्य (आयरनी) की सह्यता का आख्यान किया। ऐसी प्रतिभा में कॉलरिज ने चार गुण माने हैं—

१—सांगीतिक माधुर्य का भाव तथा उसके निष्पादन की क्षमता, जो सहजा-शक्ति है और जिसके सम्मोहक स्पर्श से सब में एकोन्मुखी लयात्मक प्रवाह आता है,

२—विषय के चयनादि में निस्संगता और आत्मविसर्जन की शक्ति;

३—चिंतन अथवा ध्यान एवं मनन की शक्ति जिसमें ज्ञान अभ्यस्त होकर प्रज्ञा में परिवर्त्तित होता है और प्रज्ञा भाव-वृत्ति में लग्न होती है। कोई व्यक्ति तब तक महान् कवि नहीं कहला सका है, जब तक वह गंभीर दार्शनिक भी साथ-साथ न हुआ हो। क्योंकि कविता मानवीय ज्ञान, विचार, आवेग, भाव, भाषा का विकसन और परिमल प्रसार है।[१३]

४—बिम्बोद्भावना में भाव-प्रेषण की क्षमता। सच्चे कवियों की बिम्बोद्भाविका शक्ति भाव-प्रेरित रहती है। बिम्ब मौलिक प्रतिभा के प्रमाण तभी होते हैं, जब

(क) वे प्रबल भावों से सशोधित होकर प्रस्तुत किये गये हो, अथवा

(ख) भावों के सहचारी विचारों-बिम्बों द्वारा परिशोधित हुए हो; अथवा

(ग) उनमें अनेकता को एकता में संकलित कर लेने की क्षमता हो; अथवा

(घ) क्षण को काल-सातत्य मे ध्वनित करने की शक्ति हो; अथवा
(ङ) उनमे कवि की निजी आत्मा मे उद्‌भूत मानवीय और बौद्धिक जीवन का सस्पर्श सक्रमित होता हो।

कॉलरिज ने कल्पना के दो प्रकार भी बतलाये हैं—१-प्राथमिक, एव २--माध्यमिक।

१—प्राथमिक कल्पना को उसने मानवीय प्रत्यक्षीकरण की जीवत शक्ति और मूल प्रेरक माना—"मैं हूँ" की असीम अस्मिता मे विद्यमान सर्जन की शाश्वत प्रक्रिया की अखिल मानस में आवृत्ति।

२—इस कल्पना के आधार पर 'माध्यमिक कल्पना' का उन्मेष होता है। यह प्रथम की ही गूंज है। अत: यह चेतन इच्छा की सहवर्त्तिनी है। यह घुल जाती है, विकीर्ण हो उठती है, ताकि पुनर्रचना की जा सके। 'प्राथमिक कल्पना' मौलिक और मानवीय ज्ञानशक्ति है और 'माध्यमिक कल्पना' विशिष्ट कला-सधान क शक्ति है।

वस्तुत: ये दो भेद एकीकरण की प्रक्रिया की दो स्थितियाँ है जिनी प्रकार-भेद नही, मात्रा-भेद है।

मनोविज्ञान मे 'फैंसी' कल्पना की एक शाखा मानी गयी है। परन्तु लालित्यमर्जना के क्षेत्र मे उन दोनो का बलाबल और प्रवृत्ति कभी पृथक्कृत नही हो सकी है। वर्ड्‌सवर्थ ने उस काल के पर्यायवाची-कोश-निर्माता विलियम टेलर के द्वारा 'इमेजिनेशन' के वर्णनशक्ति के रूप मे और 'फैंसी' के उद्‌भाविका एव गुम्फन-शक्ति रूप में प्रस्तुत पारिभाषिक अन्तर का प्रबल विरोध कर 'इमेजिनेशन' को 'फैंसी' से महत्तर मानने का तर्क दिया था। वर्ड्‌सवर्थ ने फैंसी को कौतुकप्रिय, आकस्मिक, रोचक, सुकुमार या करुण आदि विशेषनाओ से युक्त विकीरण-शक्ति माना और 'इमेजिनेशन' को सामान्यीकरण, सशोधन सम्मिश्रण, और एकीकरण की शक्ति। उसने दो प्रकार की अनुसधित्मा मानी—१--रोचक, कौतुकप्रिय और २--गभीर तथा महत्तर।

कॉलरिज ने वर्ड्‌सवर्थ में भी फैंसी' को कुछ महत्व देने की प्रवृत्ति देखी। उसने इसका खडन किया। ड्राइडेन ने भी 'फैंसी' और 'इमेजिनेशन' को समान माना था।

कॉलरिज की दृष्टि मे 'फैसी' और 'कल्पना' एक नही है। 'फैन्सी' में मात्र निश्चित और रूढ़ तत्व रहते है। वह स्मृति की ही देशकालमुक्त दशा है, और इच्छाप्रेरित रुचि द्वारा विन्यस्त होती है या संशोधित भी।[१६] कॉलरिज ने व्यजना द्वारा यह भी घोषित किया था कि 'कल्पना' महनीय है, 'फैसी' विगर्हणीय। सारत:, उसका मत यह था कि 'कल्पना-निर्मिति' विवेक के द्वारा अनुशासित होगी, फैसी की निर्मिति नही। उदाहरण-स्वरूप 'साकेत' की निम्न पक्तियाँ ली जाएँ —

जन प्राची जननी ने शशि शिशु को जो किया डिठौना।
उसे कलक कहना, यह भी मानो कठोर टोना है।

पूर्व दिशा-रूपी जननी ने चन्द्रमा-रूपी बच्चे को जन्म दिया और बच्चे को नजर न लग जाय इसलिए डिठौना लगा दिया। पर लोग उस काले टीके को कलक कहते है। यह भी कितना कठोर टोना है। इसके विम्ब-विन्यास मे कॉलरिज के अनुसार फैसी की करामात है; क्योकि कवि ने पारिवारिक टोने-टोटके के स्मृत-बिम्ब को देशकाल की सीमा से निकालकर उसका आरोप इच्छाप्रेरित रुचि के द्वारा प्राची दिशा मे उगते हुए चाँद और उसमें दिखाई पड़नेवाले काले धब्बे पर किया है। इस विन्यास में कवि की हल्की कौतुक-प्रियता है। उसी भाँति फैसी के द्वारा निर्मित निम्न बिम्बो में रूढ स्मृत तत्वों को उनके देशकाल की सीमा से हटाकर अन्यत्र, अर्थात् आकाश और तारो पर आरोपित किया गया है —

नैश गगन के गात्र मे पड़े फफोले हाय।
तो क्या मै निःश्वास भी न लूँ आज निरुपाय ?

* *

किसने मेरी स्मृति को बना दिया है निशीथ में मतवाला ?
नीलम के प्याले में बुदबुद देकर उफन रही वह हाला। —साकेत

उर्मिला के प्रथम कथन मे तारे फफोले हो गए है और द्वितीय में तारे शराब के झाग हैं, रात हाला है और आकाश नीलम का प्याला। मतवाला (?) है 'स्मृति'। इन सभी मे 'फैसी' की करामात है। परन्तु, कल्पना-निर्मित बिम्ब इतने हल्के नही होते। यथा, 'प्रसाद' की निम्न कविता ली जाय—

बीती विभावरी जाग री!
अम्बर पनघट में डुबो रही—तारा-घट ऊषा नागरी।
खग-कुल कुल-कुल-सा बोल रहा, किसलय का अञ्चल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—मधु मुकुल नवल रस गागरी। —लहर

इसमें पूरे व्यापक परिवेश के साथ प्रातःकालीन भारतीय दृश्य—शब्द, रूप, रस, गंध आदि सहित—संश्लिष्ट होकर उतर आया है। चित्र मे स्फूर्ति, चेतना, उल्लास की गतिमयता भी है—डुबो रही, डोल रहा, लो लतिका भी भर लाई। दूर तक समान गति से चलनेवाली और बारीक काम करनेवाली ऐसी कल्पना वर्ण्य विषय को विरूपित नही करती, क्योंकि इसके पीछे चेतन विवेक रहता है। किन्तु फैंसी के पीछे अचेतन मानस का इंगित रहता है। अतः इससे ऊहात्मक, कौतुकपूर्ण, चामत्कारिक और विलक्षण बिम्ब सृष्ट होते हैं।

अनेक कवि और विचारक कॉलरिज से सहमत नहीं, तथा आज भी 'फैन्सी' और 'कल्पना' के महत्त्व पर मतैक्य नही है। **टी० एस० इलियट** दोनो की महत्ता स्वीकार करते है। फैंसी की अपेक्षा 'इमेजिनेशन' में रूढ़ि-विखंडन की प्रवृत्ति नही होती, गुम्फन और संघनन की प्रवृत्ति रहती है। अतः वह परिनिष्ठित होती है। इलियट आदि आज के कवियो एवं आलोचकों का और आधुनिक अनेक हिन्दी-कवियों का भी झुकाव 'फैंसी' की ओर है। उनसे रिचर्ड्‌स, शुक्लजी आदि पृथक् है, जो परिनिष्ठित कल्पना को मान्यता देते हे।

कल्पना के विवेचन की कुछ पृथक् दृष्टियाँ भी है, यथा **कार्लाइल** ने अन्तर्दृष्टि (इनसाइट) नाम से उस शक्ति का आख्यान किया था जिससे कवि विषय की पारमार्थिक यथार्थता का दर्शन करता है। **इ० एस० दल्लास** ने कल्पना को अचेतन मानस की क्रिया बतलाया था। **जॉन रस्किन** के अनुसार रचयिता की कल्पना नैतिक प्रवृति के अनुसार गुण-धर्म प्राप्त करती है।

इस प्रकार फिलोस्टेट्स द्वारा प्रवर्त्तित 'इमेजिनेशन' शब्द पर **प्लेटो**, अरस्तू, लांजाइनस आदि द्वारा वर्णित प्रहर्षोन्माद और लोकोत्तर-उद्‌गति की जो आच्छाया पडी थी, वह नयी अर्थ-रश्मियों के साथ वलयित हुई। अनेक चिंतको से उसे विवेक और प्रज्ञा की शक्ति मिली, एडिसन का प्रचार-तंत्र मिला, ब्लेक का मिथकीय धर्म मिला, रोमांटिक कवियो के पूजन-अर्चन प्राप्त हुए और विको, श्लीगेल आदि के दर्शन प्राप्त हुए। कालान्तर मे कॉलरिज के 'कल्पना'-संबंधी तत्त्व-दर्शन से और **बेनिदितो क्रोचे** के 'सहजानुभूति' और 'कल्पना' से सम्बन्धित सिद्धान्त-दर्शन आदि से 'इमेजिनेशन' अथवा 'कल्पना' को लगभग वही अर्थवत्ता प्राप्त हुई जो भारतीय काव्यशास्त्रादि में 'प्रतिभा' को प्राप्त थी।

कल्पना : मनोवैज्ञानिक स्वरूप

मनोविज्ञान में 'कल्पना' नव-सर्जन की वृत्ति मानी गई है। नव-सर्जन, पूर्वानुभूत सामग्रियो पर आश्रित तो है, किन्तु सदा अभिनव रूप-संस्थान का उपस्थापक है। [१५] निर्मित वस्तु के तत्वो मे सामान्यत कोई नवीनता नही रहती, किन्तु उनके सम्बन्धों के विन्यास मे, समग्र थन की दृष्टि मे नवीनता रहती है। ड्रेवर ने कल्पना की परिभाषा इस प्रकार दी है :—'विगत प्रातीकिक अनुभव का, प्रत्यय के सूक्ष्म धरातल पर, वर्त्तमान अनुभव मे बिम्बात्मक पुनरुज्जीवन द्वारा निर्माणात्मक विनियोग, जो सर्वथा सर्जनात्मक नही कहला सकता, और जो अपनी पूर्णान्विति मे पूर्वानुभव की मात्र प्रति-कृति नही, अपितु वह एक नया संस्थान है, जिसमे सामग्रियाँ ही पूर्वानुभव की है : ऐसे निर्माणों को या तो सर्जनात्मक कहेगे या अनुकरणात्मक; सर्जनात्मक इसलिये कि वे कल्पक की निजी अन्त:प्रेरणा और व्यवस्था द्वारा निर्मित हुए हैं, और निर्माणात्मक इसलिये कि उनमें दूसरे की कृतियो की अन्त:प्रेरणा और व्यवस्थापन की नकल है।' [१६]

कल्पना मे नवीनता का उन्मेष कल्पक की १—वृत्ति, २—परिवेश-मडल और ३—तत्परता के द्वारा होता है। कवि, उपन्यासकार और अर्थशास्त्री अपनी-अपनी वृत्तियों के भेद से भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ करते है। उसी प्रकार मध्ययुगीन एव आधुनिक समानधर्मा संतो मे नैतिक वृत्ति तो समान होगी, फिर भी परिस्थिति-जन्य कल्पना-भेद दिखेगा। तत्परता के उदाहरण के लिए किसी कवि के सामने किसी दूसरे कवि की प्रशंसा कर दी जाय और देखा जाय कि पहले में प्रशसित कवि से उत्तम रचना प्रसूत कर देने की कैसी कल्पना जग गई है।

कल्पना के विधायक मानसिक तत्व है—प्रत्यक्ष और स्मरण। कल्पना स्मृति पर आश्रित है, और स्मृति प्रत्यक्ष पर। अतएव, प्रत्यक्ष के अनुभवों के कारण स्मरण में एवं फिर कल्पना में सामान्यत: भेद-प्रभेद होता है।

प्रत्यक्षीकरण और प्रत्यक्षबोध :—प्रत्यक्षस्य किं प्रमाणं ? कह कर प्रत्यक्ष को प्रमाणो में सबसे प्रधान माना गया है। न्यायसूत्र में कहा गया है—'समस्त प्रमा की परिसमाप्ति प्रत्यक्ष में होती है; [१७] क्योकि प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञान है। अतएव इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य विषय-वस्तु का बोध या ज्ञान

प्रत्यक्ष है—इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञानं प्रत्यक्षम् । परन्तु, प्रत्यक्ष यदि मात्र इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य है, तब फिर संवेदन और प्रत्यक्ष मे क्या अन्तर है ?

भारतीय दर्शन में डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा के अनुसार [१८] सवेदन के लिये कम से कम चार शब्द महत्त्वपूर्ण रूप में व्यवहृत मिलते हैं, और उनसे 'सवेदन' की विशेषताएँ जानी जा सकती हैं । ये शब्द है—

१—इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष (न्यायकोष–पूना पृ० १४५)

२—रूप (बौद्ध-दर्शन, स्कंध, पाली-खंड, डा० दास गुप्त द्वारा हिस्ट्री ऑफ इ० फिलॉ० पृष्ठ ९३-९४ मे द्योतित ।)

३—इन्द्रिय-बुद्धि (सेंस अफेक्शन) (चरक-संहिता 'पंचेन्द्रिय-बुद्धि : (१, ८, १२), तः पुनिरिन्द्रियार्थसत्त्वात्मसन्निकर्षः ।')

४—व्यवसाय (गौतम १, १, ४) ।

परन्तु ये चारों विशेषताएँ 'संवेदन' से अधिक प्रत्यक्ष की हैं । मनोविज्ञान की दृष्टि से 'संवेदन' मात्र स्नायविक, ऐन्द्रिय, अतएव दैहिक प्रक्रिया है; बुद्धि का योग होते ही वह 'प्रत्यक्ष' होता है ।

हेमहॉज के अनुसार संवेदन-ग्रहण साधारण प्रक्रिया नहीं है । मान लिया जाय हम आँखो से देखकर मेज का प्रत्यक्ष ग्रहण कर रहे हैं । मेज का सवेदन ग्रहण करते समय हमारे चक्षु प्रमुख साधन है । परन्तु जब वर्णमाला के प्राय: ५१ या ५४ अक्षरों से हम सारा वाङ्मय निर्मित कर लेते है, तो चक्षु के स्नायु-सस्थान के २,५०,००० स्नायुओं के द्वारा कितना विशाल और कितना जटिल संवेदन और कितना सूक्ष्म ज्ञान हमें प्राप्त हो सकता है, यह अनुमेय है । [१९] अतः, किसी भी दो आदमी का अथवा एक ही व्यक्ति का भिन्नकालीन प्रत्यक्षीकरण समान न होगा ।

इन्द्रिय प्रणालिकाएँ :—

मन और बाह्य विषय के सन्निकर्ष का माध्यम जो इन्द्रिय है, उसकी परिभाषा डॉ० कुप्पुस्वामी द्वारा [२०] उद्धृत इस प्रकार है —'शब्देतरोद्भूत विशेष गुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमन:संयोगाश्रयत्व इन्द्रियत्वम् ।' इसे समझने के लिये एक उदाहरण लिया जाय । जब हम सामने की मेज देखते होते हैं, तो नेत्रेन्द्रिय का सन्निकर्ष मेज के एक भाग से होता है । तब वायु-तरंगो से होकर, जिनमें प्रकाश-किरणें भी हैं. एक प्रकाशित अंश मेज की ओर से एवं

अन्य दिशाओ से भी नेत्रेन्द्रिय पर आ रहा है। इस क्षण देखते तो होते है हम अश, पर उस चिह्न को पूर्ण अर्थ दे देते है; वह अश भी जोड देते हैं, जो अभी प्रत्यक्ष नही हुआ है। अतः, इन्द्रिय 'ज्ञानकारणमनस्संयोगाश्रय' कही गयी है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष आँखो के सामने के सम्पूर्ण दृश्य का नही होता। व्यक्ति असंख्य परिवर्त्तनो में से कुछ का ही प्रत्यक्ष-बोध करता है, और यह आंशिक ग्रहण भी द्रष्टा के द्वारा चयन करके होता है। चयन द्रष्टा और दृश्य के अनायास सयोग से अथवा इच्छापूर्वक एव अनैच्छिक सहज क्रियावश (द्रष्टा की इच्छा एवं दृश्य की आकस्मिक तीक्ष्णता के कारण) होता है। मनोविज्ञानी एच० ए० मर्रे[२१] के शब्दो मे (१) आवश्यकता (लक्ष्य) एव (२) आवेष्टन का चाप दोनो मिलकर एक 'थीमा' बनाते हैं और उसके संयोग से ही प्रत्यक्ष-बोध होता है। इस आंशिक प्रत्यक्ष से पूर्णता का बोध इसलिए होता है कि उससे तात्कालिक आवश्यकता की पूर्त्ति होती है।

गेस्टाल्ट सिद्धान्त :—यहाँ मेज के अश मात्र के सवेदन-ग्रहण से पूर्ण मेज का प्रत्यक्ष जिस प्रकार वर्णित हुआ है, उससे गेस्टाल्ट सिद्धान्त बहुत दूर नही है। गेस्टाल्ट सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि प्रत्यक्ष और विचार एक अवस्थान मे स्थित और पूर्ण मात्र इसलिये प्रतीत होते है कि उनके अवयवो की पारस्परिकता और उनकी अन्तरावलम्बित गतिमयता उन्हे पूर्ण और अखड रूपाकृति देती है। यह अखड रूप ही गेस्टाल्टन है।[२२] **बर्दाइमर** ने गेस्टाल्ट-आकृति के नियम दिये है; वे ये हैं :—

पूर्ण के ही प्रत्यक्ष की हमारी प्रवृत्ति रहती है;—पूर्णतान्वेषण का तत्त्व
प्रत्यक्ष गृहीत वस्तु मे अवयव या तत्त्व होते हैं;— अवयव के तत्त्व
ये अवयव एक दूसरे के समीप होते है—सामीप्य या सन्निधि का तत्त्व
या, ये एक दूसरे के समान होते है— समरूपता
अथवा, रूप-सस्थान का एक सातत्य प्रस्तुत करते है— समनियतिबधन;
या, दिक् या लक्ष्योन्मुखी भाव मे सम है— समगतिशीलता
अथवा, क्षेत्र सीमित करने मे प्रवृत्त हैं— सीमा-निर्धारण
या, ये अनुभव-संसूच्य एकान्विति का प्रभाव प्रस्तुत करते है— अन्विति

बर्दाइमर द्वारा बतलाये गये इन तत्त्वों एवं इनसे सम्बन्धित अन्य अनुमानित और अनुभूत तत्वों के समाकलन द्वारा ही किसी वस्तु का पूर्ण प्रत्यक्षीकरण किया जाता है, अथवा उसकी अद्वितीय प्रतीति होती है।[२३]

बर्दाइमर द्वारा प्रकल्पित 'गेस्टाल्टन' मे इधर के गेस्टाल्टवादी मनोविज्ञानियो ने १–समता, २–नैकट्य, ३–अविच्छिन्नता, ४–सुन्दरता, ५–समगतित्व आदि के गुण-धर्म और नियम बतलाये हैं। दूसरे मनोविज्ञानियों ने, जैसे मुसात्ती (१९३१) ने, उन गेस्टाल्ट-नियमों को समजन या व्यवस्थापन के व्यापक नियम के प्रकार ही सिद्ध किये हैं, उदाहरण-स्वरूप गुणगत सामंजस्य इनकी दृष्टि से समता है, दिग्गत होकर नैकट्य है, गतिगत ही अविच्छिन्नता है आदि। इन नियमों का सारांश यह है कि अनेक दृश्यों में जो दृश्य समान होंगे वे मिल कर एक साथ उभर आयेंगे। उसी प्रकार निकट की ध्वनियाँ मिलकर संगीत-जैसी उभार ले लेंगी; टूटी हुई रेखाएँ अविच्छिन्न प्रतीत होंगी,आदि। जो सरलता से गृहीत होगा, वह शीघ्र प्रत्यक्षीकृत होगा। परन्तु जिस पक्ष मे समस्त के ग्रहण कर लेने का वैशद्य होगा, वह सफल और अधिक संतोषप्रद होकर उत्तम माना जायगा। इस प्रकार गेस्टाल्ट मनोविज्ञानियो ने परिपूर्णता के ग्रहण की मानवीय वृत्ति का विशद विवेचन किया है।

गौतम-सूत्र मे प्रत्यक्ष की व्यवहारपरक विशेषता द्योतित की गयी है—'इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञान अव्यपदेश अव्यभिचारी व्यवसयात्मकं प्रत्यक्षं।' इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्ष 'अव्यपदेश और अव्यभिचारी' अर्थात् परिमित होता है, परन्तु वह व्यवहारपरक (व्यवसायात्मक) होकर परिपूर्ण भी है; क्रियोन्मेषक भी। अतएव कहा जा सकता है, कि 'प्रत्यक्ष मात्र संवेदन-ग्रहण नही,चाहे वह संवेदन खण्ड हो या अखंड। यह संवेदन-निर्धारण (अर्थापन) भी नहीं। प्रत्यक्ष' स्नायु-स्पन्दन की प्रक्रिया का समापन भी नहीं, यद्यपि यह न हो, तो संभवतः प्रत्यक्ष भी न हो। प्रत्यक्ष विषय का एक विशिष्ट प्रकार से ग्रहण और तदनुरूप उसके प्रति व्यवहार है। इस व्यवहार-प्रणाली मे स्वेच्छया ही अर्थापन होता हो, ऐसी बात नही। अर्थापन की क्रिया अनायास होती है या पहले भी सम्पन्न हुई मानी जा सकती है। दूसरी ओर, योग-दर्शन के व्यासभाष्य मे प्रत्यक्ष विशेषावधारण-प्रधान माना गया है—'इन्द्रिय प्रणालिकया चित्तस्य बाह्य वस्तुपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारप्रधानावृत्तिः प्रत्यक्षम्।' लगभग यही बात दिङ्नाग ने 'प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढम्' और धर्मकीर्ति ने 'प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढमभ्रान्तम्' कह कर बतलायी थी।[२४] अर्थात्, प्रत्यक्ष की कम से कम दो विशेषताएँ हैं—

(१) वह अव्ययदेश, अव्यभिचारी अथवा विशेषावधारणप्रधान है, एवं

(२) वह गृहीता को विशिष्ट रूप से अभियोजित करता है।

प्रत्यक्षबोध में प्रतीकात्मकता :—

प्रत्यक्ष मे ज्ञानेन्द्रियाँ अन्तरावलम्बित प्रक्रियाएँ करती हैं—देखते समय व्यक्ति कुछ सुनता-सूँघता और चाक्षुष स्पर्श भी करता होता है।[२५] **थियोडोर लिप्स** के अनुसार प्रत्यक्षीकरण में शरीरोध्वनन और आत्म-प्रक्षेपण होता है। दृढ़ स्तम्भों को देखकर द्रष्टा के शरीर में, उसके अंगों, पाँवों, हाथों मे अनायास दृढता आ जाती है। प्रत्यक्ष ग्रहण करते ही मनोदैहिक संस्थान मे पूर्वानुभव की गूढ़ प्रतिक्रिया भी शुरू हो जाती है। 'हम द्रष्टा के सामने एक सफेद कागज भी लायेंगे, तो उसके अनुभव-संस्थान मे अनन्त प्रतिक्रियाएँ उद्भूत कर देंगे।'[२६] श्मशान देख कर कभी दुर्गंध का, कभी भय का या मृत संबंधी का स्मरण जो होता है और भावना भी तदनुसार जो जगती है इससे यह प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष से गृहीता के भीतर कुछ प्रतीकात्मक और रागात्मक क्रियाएँ जगती हैं। 'मा' शब्द से अपनी मा का स्मरण और भावना जग जाय, तो 'मा' शब्द प्रतीक रूप में उभर कर बिम्बवत् मानस-पटल पर प्रतिच्छायित होगा।[२७] प्रत्यक्ष में इस प्रकार के स्मरण और भावोदय को मनोविज्ञानी **हंटर** ने प्रतीकात्मक प्रणाली नाम दिया है और उसके अनेक प्रकार-भेद बतलाये हैं। **राजशेखर** ने 'शब्दस्य सामान्यमभिधेय विशेषश्चार्थः' में उदाहरणपूर्वक बतलाया है कि 'स्त्री' नाम से मेरे मन में अपनी सुलोचन प्रियतमा का स्मरण होता है—'स्त्रीकाचिदित्यभिहिते सतत मनोमेतामेव वामनयना विषयी करोती।' भारतीय दर्शन में निर्विकल्प से सविकल्प प्रत्यक्ष की ओर बढ़ने पर जो 'ज्ञानलक्षण प्रत्यासत्ति' है उसके द्वारा इसे अनुमोदित किया जा सकता है।[२८] यही नही, **गौतमसूत्र** ३-१-१२ में इन्द्रिय-सहचारी क्रिया भी प्रत्यक्ष में संकेतित है—खट्टी वस्तु, आचार वगैरह देखकर (दृश्य) मुँह से राल टपकने लगती है (स्वाद का स्मरण)।[२९]

इस प्रकार की प्रतीक-प्रतिक्रिया के कारण एक व्यक्ति क्षितिज को—

'दूर उन खेतों के पार, जहाँ तक गई नील झंकार' —पंत

मानेगा, तो दूसरा उसमे

'इनका प्रकाश, जग के विशाल शव का सफेद परिधान साफ' —मुक्तिबोध

का प्रत्यक्ष करेगा। और तीसरा थोड़ा आगे बढ़ कर उसमे शुक्ल जी की भाँति रसास्वादन भी करेगा। दूसरे शब्दों में भिन्न-भिन्न क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के कारण प्रत्यक्षबोध से मनुष्य की चेतना विशिष्ट रूप में उपनिबंधित होती है।

प्रत्यक्षबोध और चेतना—विलियम जेम्स आदि कुछ मनोविज्ञानियो के अनुसार प्रत्यक्ष के इस अनुभव-पक्ष का नाम 'चेतना' है। चेतना के व्यवहार-पक्ष मे बोध, समायोजन, ज्ञान, भावन आदि हैं।

चेतना प्रवाह-रूप है। जगत् भी नाना प्रकाशरश्मियों और वायुतरगो का अजस्र प्रवाह है। व्यक्ति उनमे से जैसे ही किसी का ऐच्छिक अथवा अनैच्छिक प्रत्यक्ष ग्रहण-कर उसके प्रति क्रियाशील होता है, प्रत्यक्षगृहीता व्यक्ति की अप्रतिहत गतिशील, अतः एकरूप चेतना मे विशिष्ट आकार-सा उभर जाता है—जैसे नदी में द्वीप हो। अनेक ध्वनि-प्रकाश-तरगों के **विलियम जेम्स** द्वारा प्रकल्पित शोरो-गुल का आलम (बूमिंग बजिंग यूनिवर्स) उस क्षण एक विशिष्ट आकार में सिमट-सा आता है। इस आकारीकरण में जितना ग्रहण होता है, उससे अपार त्याग या अग्रहण रहता है।

आकारीकरण अथवा परिवेष्टन प्रत्यक्ष की एक प्रधान विशेषता है। मन की यह प्राथमिक प्रवृत्ति है—कुछ मनोविज्ञानियों के अनुसार जन्मजात अथवा आदिम भी।[३०] परन्तु, उसको जन्मजात सिद्ध या असिद्ध करना कठिन है। यह अवश्य है, कि जो आकार सहज ही अन्वित होकर प्रत्यक्षीकृत होता है, वह उसका सरलतम पहलू है और प्रायः सबको तद्वत् सवेद्य भी होता है।[३१] मूल आकार इसी कारण स्मरणीय भी कहा गया है और संस्कृति द्वारा दीर्घ काल तक स्वीकृति भी पाता है। इस कारण ही ज्यामितिक आकार सुखद हैं। वृत्त और त्रिभुज ससार भर के मागलिक एव धार्मिक अनुष्ठानों में एवं काव्य-कला के प्रतीक-बिम्बो में—स्वस्तिका, पद्म, चक्रादि में—स्वीकृत हैं।[३२]

आकार और पष्ठाधार :—

आकार का रूप-सस्थान परिपार्श्व के पृष्ठाधार पर ही उभरता है। मनोविज्ञानी रूबिन ने (१९१५-२१) उनके अन्तरावलम्बन के कई सिद्धांत दिये है। उन्होंने यह बतलाया है कि (१) आकार रूपनिष्ठ है, पृष्ठाधार रूपहीन; (२) सीमाओं में बँधकर आकार कुछ ठोस होता है, वस्तुनिष्ठ है, पर पृष्ठाधार अपेक्षया निराकार सामग्री-रूप रहता है। (३) रूप में उभर कर आकार प्रभविष्णु होता है, अर्थ-सन्दर्भों से स्पन्दित, और स्मरणीय भी होता है, पर पृष्ठाधार मात्र उसकी भूमिका या पीठिका भर रहता है; (४) रूपसंस्थान होकर आकार सामने उभरता प्रतीत होता है, पृष्ठाधार उसके पीछे अवलम्ब

दिये रहता है; (५) आकार उभर कर भी पृष्ठाधार को रुद्ध या खडित नही करता। परन्तु, पृष्ठाधार में अपेक्षया एक अनन्तता, अखण्डता और सातत्य रहता है, आकार के पीछे भी वह ओझल, पर वर्त्तमान रहता है। श्रुत प्रत्यक्षो में मनोविज्ञानी **बर्नन** (१९३४-३५) ने आकार और पृष्ठाधार के अंश बतलाये हैं—समरूप नाद-प्रवाह पृष्ठ है, जिसके ऊपर अपेक्षया तीव्र ध्वनियों का संरूपित उभार (पैटर्न्स ऑफ ओवरटोन्स) जो अधिक स्फुट एवं व्यवस्थित होता है, जैसे राग-रागिनियो आदि मे श्रुति का आकारीकृत रूप है। उसी प्रकार शरीर की गति-भंगिमाएँ, आंगिक विन्यास, अदाएँ आदि रूप हैं और उस मुद्रा को अवलम्बित किए समस्त शरीर, अवयव, पुट्ठे, सचालन आदि हैं; ये उसे रूप तत्व में उभारते है तथा उस आकार-समष्टि के लिए पृष्ठाधार हैं।

अरस्तू के द्वारा प्रकल्पित 'फार्म' और 'मैटर' का सम्बन्ध आकार और पृष्ठाधार के सम्बन्ध-जैसा है। कविता की नाद लय और कथ्यादि का सम्बन्ध भी वैसा ही है, तथा प्रस्तुत-अप्रस्तुत, अलकार्य-अलंकार आदि रूप-रूपाधार के सम्बन्ध भी आकार और पृष्ठाधार के सम्बन्ध की भांति कल्पनीय। उसी तरह दिक् भी आकाश का प्रस्फुटन या विकार रूप है,–एक स्थिति जिसके पृष्ठाधार मे सतत विद्यमान आक्षितिज अन्तरिक्ष है।[३३]

प्रत्यक्षीकरण और बिम्बन

प्रत्यक्षीकरण मे विषय के सन्निकर्ष से इन्द्रियप्रणालिकायों, स्नायुसस्थान और मनोदैहिक समस्त अवयवो में जटिल ध्वनन-स्पन्दन और रसनादि व्यापार घटित होते हैं। यह **संवेदन-बिम्ब** कहलाता है। सवेदन पूर्ववर्त्ती तत्समान अथवा/और तद्विरोधी सवेदनों के शेषांशो को भी अशतः जाग्रत करते हैं और उनसे मिलकर प्रत्यक्षीकृत विषय का मानस-पटल पर प्रत्यंकन प्रस्तुत करते हैं। यह प्रतिच्छाया **प्रत्यक्ष बिम्ब** है। यह सवेदन-बिम्ब और स्मृत-बिम्बांशों का समवाय हो कर भी उनके योग से अधिक होता है और उससे अधिक अर्थपूर्ण भी।

प्रत्यक्षीकृत वस्तु या प्रत्यक्ष बिम्ब में विशेषावधारणता रहती है और उसका विशेष आकार पृष्ठाधार पर संरूपित हो कर उभरता है। उसमें तत्क्षण पूर्णता भी रहती है। संरूपण और परिपूर्णता की प्रतीति गेस्टाल्ट मनोविज्ञान के अनुसार आकारीकरण, सामीप्य, सादृश्य, परिवेष्टनक्षमता, स्पष्टता, सरलता, सफलता आदि के सिद्धान्तों के अनुसार होती है।

प्रत्यक्षीकृत विषय कालान्तर मे (१) दृढीकृत और स्थायी हो कर सामान्यता और प्रातिनिधिकता की ओर अग्रसर होता है, अर्थात् मृदु हो उठता है, अथवा (२) विशेष रूप धारण कर तीक्ष्ण और नुकीला हो उठता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष-बिम्ब (१) अमूर्त्त बिम्ब अथवा प्रत्यय भी बन सकता है, और (२) मूर्त्त और ठोस बिम्ब भी। दृढ़ीकरण और मार्दवीकरण की प्रक्रिया प्रत्यक्ष-गृहीता की १. संवेद्यता (सेंसिबिलिटी) २. उत्प्रेरण की गुणात्मकता—तीव्रता-मंदता, ३. पूर्वानुभव के संयोग और ४. उद्देश्य, प्रयोजन, ५. जीवन-दृष्टि आदि पर निर्भर करती है। फलस्वरूप, जीवन-जगत् के प्रत्यक्ष से एक मे प्रसाद की भाँति भावात्मकता उभर सकती है तो दूसरे मे प्रेमचन्द की भाँति यथा-तथ्यता। ये दो वृत्तियाँ चित्रकला मे क्रमश. राफेलवाद और रेम्ब्रावाद एव मानव-चित्रण की प्रवृत्ति मे शीलरवाद और शेक्सपीयरवाद मानी गयी है।[३४]

भावात्मक प्रत्यक्ष-बिम्ब दिनकरजी की 'सध्या' की निम्न पंक्तियो मे रम्य है—

> पूर्ण कुञ्जो में न मर्मर गान, सो गया थक कर शिथिल पवमान।
> अब न जल पर रश्मि बिम्बित लाल, मूंद उर में स्वप्न सोया ताल॥
> सामने द्रुमराजि तमसाकार, बोलते तम में विहग दो चार।
> झींगुरों में रोर खग के लीन, दीखते ज्यों एकरव अस्पष्ट अर्थविहीन।
> दूर श्रुत अस्फुट कहीं की तान, बोलते मानो तिमिर के प्राण॥

किन्तु नेमिचन्द्र की (तार सप्तक की) निम्न पंक्तियों मे प्रेयसी की जुन्हाई-सी छबि के सिमट चलने में नुकीलेपन के साथ मूर्त्तबिम्ब है—

> अनजाने चुपचाप अधखुले वातायन से, आती हुई जुन्हाई-सा ही।
> तेरी छवि की सुधि सम्मोहन, आज बिखर कर सिमट चला है मेरे मन मे।

स्पृश्य प्रत्यक्ष-बिम्ब 'भारती' की निम्न पंक्तियों में भी तीक्ष्ण है—

> उफ मेरी बाहों में शव जैसा ठढा कौन गिरा?

यथातथ्य प्रत्यक्ष बिम्ब हरिऔध, गुप्त जी, पंत (उत्तरार्ध) निराला और प्रगतिवादी-प्रयोगवादी कवियों की रचनाओं में पर्याप्त मिलते हैं। 'ग्राम्या' की निम्न पंक्तियों में अशक्त बूढे का सजीव चित्र दर्शनीय हो उठा है—

> खडा द्वार पर, लाठी टेके, वह जीवन का बूढा पंजर।
> सिमटी उसकी सिकुडी चमडी, हिलते हड्डी के ढांचे पर।

प्रत्यक्ष के बिम्बन की दृष्टि से राफेलवादी भावात्मकता और प्रत्य-यात्मकता छायावाद की विशेषता रही है। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता में रेम्ब्रावादी यथातथ्यता के लक्षण प्रमुखता से दृष्टिगत होते हैं।

प्रत्यक्ष और स्मरण

प्रत्यक्ष-ग्रहण मे पूर्वानुभवो का स्मरण आधार देता है। विगत अनुभव का मानसिक आह्वान स्मरण कहलाता है। स्मरण मे स्मृतियाँ आधेय है, प्रत्यक्ष में आधार। प्रत्यक्षीकरण में प्रतिक्रिया विगत के अनुभव के साथ और द्वारा होती है। परन्तु स्मरण में प्रतिक्रिया विगत के अनुभव की होती है। प्रत्यक्ष और स्मरण दोनों तात्कालिक वर्त्तमान के अनुभव होते हैं, पर प्रत्यक्ष सामान्यत: अनुभव का बोध है और स्मरण अनुभूत की पुनरावृत्ति है। स्मरण प्रत्यक्ष से कुछ जटिल प्रक्रिया है। उसमे १. अनुभव, २. धारण, ३ प्रत्याह्वान, और ४. प्रत्यभिज्ञान के तत्त्व और क्रम प्राय: अनिवार्यत: रहते हैं।

स्मरण इस कारण सभव है कि अनुभव की छाप (नेमे अथवा इनग्राम) मस्तिष्क पर, स्नायविक सस्थान पर और मांसपेशियो पर भी अकित हो जाती है। व्यवहार-प्रणाली पर भी उनका अकन पडता है। अनुभव का धारण यथावत् नही होता। फलत. प्रत्याह्वान मे अनुभव के कुछ अश क्षीण या प्रखर होते चलते हैं अथवा लुप्त और विस्मृत हो उठते है। अत. प्रत्याह्वान की पुनरावृत्ति नही होती, नव रचना होती है। धारण और प्रत्याह्वान की प्रक्रिया में काल और कालगत आन्तरालिक अनुभवो का भी योग होता चलता है जिसके फलस्वरूप पूर्वानुभव मृदु अथवा तीक्ष्ण होते चलते हैं। स्मरण सकल मानस की प्रक्रिया है।[१५] उसमे विस्मरण भी एक सक्रिए और चेतन क्रिया है।[१६] विस्मरण स्मरण मे नकारात्मक योगदान करता है और साथ-साथ तीव्र और उत्कट स्मरण के लिए प्रेरक होता है। विस्मरण का पृथक् प्रकार दमन भी है। गुप्त, सक्षोभकारी अथवा अरुचिकर अनुभव दमित होते हैं। अचेतन मानस में उनके लिए अपन अलग व्यवस्था और संगति-स्थापन के विधानादि है।[१७]

प्रत्याह्वान में बिम्बन और नाट्यकरण :—

पूर्व पृष्ठ १६४ पर द्योतित किया गया है कि फ्रांसिस गॉल्टन ने[१८] प्रत्याह्वान की मूर्त्तामूर्त्त प्रतिशलता का ब्योरा दिया था। उसके अनुसार साधारण प्रत्याह्वान में ३२·५० प्रतिशत स्मरण मूर्त रूप में बिम्बित होते हैं। इनमे से प्राय: २२·५० प्रतिशत का स्मरण मानसिक नाट्य द्वारा किया जाता है। भावात्मक क्षण में हो रहे स्मरण में, अथवा असाधारण अनुभव के स्मरण में बिम्बन की प्रतिशतता मे वृद्धि हो जाती है।

प्रत्याह्वान में बिम्बन की योग्यता व्यक्ति-व्यक्ति की इन्द्रिय-प्रणालिका की क्षमता पर भी निर्भर करती है। चाक्षुष बिम्बद्रष्टा का प्रत्याह्वान दृश्य-बिम्ब-रूप होगा, श्रवणेन्द्रिय-प्रधान व्यक्ति का श्रव्यबिम्ब रूप, त्वचा-प्रधान व्यक्ति का स्पृश्यबिम्ब-रूप एवं कर्मेन्द्रिय-प्रधान व्यक्ति का गत्वर बिम्ब रूप, आदि।

प्रत्याह्वान परिस्थिति, मन.स्थिति आदि के कारण भी कभी मात्र वाचनिक और प्रत्ययात्मक होता है तो कभी मूर्त्त और बिल्कुल ठोस। जैसे—

वाचनिक बिम्ब मैं भी भूल गया हूँ कुछ, हाँ स्मरण नहीं होता, क्या था।
प्रेम, वेदना, भ्रांति या कि क्या? मन जिसमें सुख सोता था।
—प्रसाद' कामायनी

मूर्त गंधबिम्ब – वह विजन चाँदनी की घाटी छाई मृदुवन-तरु-गन्ध जहाँ
नीबू-आड़ू के मुकुलों के मद से मलयानिल लदा वहाँ॥ —नेपाली

तुम्हारी देह मुझको कनक-चम्पे की कली है
दूर ही से स्मरण में भी गंध देती है। —अज्ञेय बावरा अहेरी

स्पृश्य एवं गत्वर बिम्ब—(नाट्यकरण-युक्त)
हाँ, जरा-सी याद भूली बात दूध की धोई उजेली रात।
जब किरण-हिंडोर पर सामोद स्यात झूली बैठ मेरी गोद॥
—दिनकर ' दाहकी कोयल

'कामायनी' के चिंता सर्ग मे मनु जब अपने अतीत के, देव सस्कृति के उन्मत्त विलास का प्रत्याह्वान करते है तो परिस्थिति और मन:स्थिति की असाधारणता के कारण समस्त इन्द्रियाँ समवेत स्मृति-चित्र प्रस्तुत करने को विकल दिखती हैं। अतएव प्रखर और उन्मादकारी स्मृति-बिम्बों की निर्झरणी झर चलती है।

गंध में गति का नाट्य— चलते थे सुरभित अंचल से, जीवन के मधुमय निश्वास।
दृश्य में पारदर्शिता का नाट्य— छाया पथ में नव तुषार का सघन मिलन होता जितना॥
उषा ज्योत्सना सा यौवनस्मित मधुप सदृश निश्चित विहार।

गंध को दृश्य और स्वाद बिम्ब में गति— चिरकिशोर-वय, नित्य विलास
सुरभित जिससे रहा दिगन्त,
दृश्य का गंध-रूप हो स्पृश्य बिम्ब में जमाव- अब न कपोलों पर छाया सी
पड़ती मुखकी सुरभित भाप।

'प्रेमालिंगन' के आरंभिक से लेकर अवसान तक की सभी प्रमुख मुद्राओं-क्रियाओं को सम्पुटित करने वाले इन बिम्बों में ऐन्द्रिय मूर्त्तता है ही, साथ ही प्रत्ययात्मक विशदता भी है और 'अंग-भगियों का नर्त्तन' भी। इसकी तुलना में श्रद्धा के स्वप्न सर्ग के स्मृति-बिम्ब वाचनिक प्रतीत होते हैं।

प्रत्यक्ष, स्मरण और सहचार :—

प्रत्यक्षादि की क्रियाएँ मन की सहचारवृत्ति से प्रभावित-निर्देशित होती हैं। मन, यदि चैतन्य है तो सदा सम, विषम अथवा सहवर्त्ती पदार्थो-विषयो में सक्रमित होता चलता है।[३९] सहचार अकुश-रूप मे अनेक भाव-विचारो और अनुभवों को मन मे अँटकाए रहता है जिससे वे सदा स्मरणीय रहते है।[४०] अरस्तू ने भी सहचार के प्राथमिक नियमो—साम्य, वैषम्य और सहवर्त्तित्व—का उल्लेख किया था। तत्समान भारतीय सिद्धान्त 'एक सम्बन्धि ज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकम्'[४१] भी प्राचीन है। परन्तु, सहचार-सिद्धान्त का विधिवत् महत्त्व-स्थापन हाब्स और जॉन लॉक ने किया था। जान लॉक ने 'एसे कन्सर्निग ह्यू मन अडरस्टैडिग' (१६९०) में पारिभाषिक अर्थ में 'एसोसिएशन' का प्रयोग कर उसका प्रतिपादन किया था। तदुपरान्त टामस ब्राउन (१८२०) आदि के द्वारा सहचार के नियमादि निर्धारित किए गए और अँग्रेज मनोविज्ञानी हार्टले, मिल ह्यम, हर्बर्ट स्पेसर आदि ने सहचारवाद नाम से सैद्धान्तिक मतवाद का प्रवर्त्तन किया। इसका शिक्षण-दीक्षण मे प्रयोग भी होने लगा और मानसिक प्रशिक्षण के लिए एबिंगॉस, (१८५०-१९०९) थॉर्नडाईक (ज० १८७४), स्पीयरमैन (१८६३-१९४५) पावलाव, (१८४९-१९३६) आदि के द्वारा 'अभिसंधन (कंडिशनिग) सिद्धान्त' के रूप मे इसके व्यापक उपयोग का सूत्रपात किया गया।[४२] फ्रायड, युंग आदि मनो-विश्लेषकोने सहचार-क्रिया का लाभ अपनी चिकित्सा मे दूसरी विधि से उठाया।

टामस ब्राउन ने सहचार के दो मूल नियम बतलाये थे—१ प्राथमिक, और २. माध्यमिक। प्राथमिक नियम के अनुसार समता, विषमता और सहवर्त्तीत्व (कालगत एव देशगत) के कारण एक विषय दूसरे सम, विषम, अथवा सहवर्त्ती का स्मरण करा देता है। उदाहरण-स्वरूप फूल से सुगध का (सम), काटे का (विषम) अथवा भौरे का (सहवर्त्ती) स्मरण होता है। माध्यमिक नियम के अनुसार अवधि, सजीवता, गोचरता, नैरन्तर्य, ताजगी और प्रतिस्पर्धिता के कारण भी एक विषय दूसरे का स्मरण करा देता है।

मनोविज्ञान के पडितो के द्वारा निर्देशित सहचार-प्रक्रिया के प्रयोग-प्राप्त निष्कर्ष प्रधानत: निम्न हैं :—

१. सहचार के प्रधानतः चार प्रकार हैं,

क—गत्वर और उच्च सम्बन्धादि-बोधक; यथा—सूई→ औजार→अस्त्र;

ख—पूर्णता-बोधक और स्थित्यात्मक; यथा—सूई→तीक्ष्ण→नोक →इस्पात;

ग—समता-विषमता-सूचक; यथा—सूई——→धागा (सम); सूई→ फूल (विषम),

घ—मूल्य-सम्बन्धी, भावनात्मक एव वैयक्तिक आदि यथा— सूई→चुभन; दु:ख; उपयोग→सीना-पिरोना;

२. समरूप सहचार की प्रवृत्ति सरल और सहज प्रवृत्ति है; बाल-मस्तिष्क की विशेषता है। विषम सहचार की प्रवृत्ति परिपक्व और प्रौढ मानसिक चेतना का व्यापार है। जैसे—

रजनी ओढे जाती थी झिलमिल तारो की जाली
उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली।   —यामा

मे पहली पंक्ति की सहचार-प्रक्रिया सम है, पर दूसरी की विषम। 'उजियाली' का 'रोना' तो पूर्णत. वैषम्य-मूलक कथन है। 'कामायनी' चिंता सर्ग मे जितने सबोधनों से 'चिंता' का स्मरण किया गया है, उनमे कुछ सम और कुछ विषम सहचार-प्रक्रिया के द्वारा उद्भावित हैं।

३. थियोडोर राइक ने अपनी पुस्तक 'लिसनिंग विथ दि थर्ड इयर' मे बतलाया है कि सहचार-रूप से प्रस्तुत विचारो मे उनके सकेत ही रहते हैं। अत: वैसी विचार-राशि को संक्षेपीकृत विचार ही कहेगे। उनमें बहुत सारे अंश छूटे हुए रहते हैं। उन्हे पूरा कर ही अर्थ की प्राप्ति होती है।[४१] रिक्त अंशों को भरते समय अपनी ओर से कभी विचार और कभी भाव जोड़ने पड़ते हैं। इन्हें क्रमश: विचारानुबंध और भावानुबंध कहते हैं। यथा—

कोयले की खान की मजदूरनी सी रात
बोझ ढोती तिमिर की विश्रांत सी अवदात।   —रांगेय राघव

इसमें रात को सम सहचार-प्रक्रिया द्वारा मजदूरनी माना गया हैं। उनके बीच के संबंध की उद्भावना विचार द्वारा की जाती है। कोयले की मजदूरनी बोझ ढोती है। कोयले मे ऐश्वर्य छिपा हुआ है, इसका उसे कुछ ज्ञान नहीं। उसी भाँति रात केवल अंधकार का बोझ ढोती है। उसके भीतर के रहस्य से वह अवगत नहीं। यहाँ छूटे अंशो की पूर्ति विचार से होती है। अत: यहाँ विचारानुबंध है। किन्तु—

एक जल कण, जलद-शिशु-सा, पलक पर
आ पड़ा सुकुमारता-सा, गान-सा,
चाह-सा, सुधि-सा, सगुन-सा, स्वप्न-सा।   —पंत : 'ओस-ग्रंथि

में अलकरण के लिए जितने बिम्ब हैं सभी सम सहचार-प्रक्रिया के द्वारा उद्भावित हैं। उनके बीच जो सबंध है, वह भाव के द्वारा जोड़ा जायगा। अतः यहाँ भावानुबंध है।

४. सहचार-प्रक्रिया विचारानुबंध अथवा भावानुबंध के अनुक्रम में सीधी चले अथवा कूदें लगाती, उसकी एक सीमा होती है। किन्तु वृत्ति, परिस्थिति के बदलते ही अनुक्रम बदल जाता है, तथा सीमा का उल्लघन भी होता है।

५. यदि अनुक्रम में अनुबंध सरल रूप में प्रतीत होता चलता है, तो वह नियत्रित सहचार-प्रक्रिया का उदाहरण है। किन्तु यदि अनुक्रम के बीच अनेक फाँकें हों, और विचार-भावादि के गुम्फन-क्रम में अन्तराल इतना हो कि न तो उनकी सूत्रबद्धता ही सामान्यतः समझ में आए, न उनकी गति-दिशा ही मालूम पड़े, तो वह मुक्त सहचार का उदाहरण है। फ्रायड आदि ने मुक्त अथवा अबाध सहचार के द्वारा मन की कुठाओ, ग्रंथियो का पता लगाने का काम लिया था।

नियंत्रित सहचार में चित्त एक वस्तु से दूसरी वस्तु में, दूसरी से तत्समान अथवा विरोधी तीसरी में, पुनः चौथी में फिसलता चलता है। मूल वस्तु केन्द्रस्थ रहती है और उसके चारों ओर पुष्प-दल की तरह अन्य सहचर वस्तु-बिम्ब जुड़ते जाते हैं। इस प्रकार नियत्रित सहचार की प्रवृत्ति वृत्तात्मक होती है। यथा—कुर्सी—मेज—वृक्ष—जगल—वनस्पतिशास्त्र—जीवविज्ञान—प्रयोगशाला।

किन्तु मुक्त सहचार में चित्त एक वस्तु से दूसरी, तीसरी, चौथी वस्तुओं में छलांगे लगाता चलता है, या धारा रूप में प्रवाहित रहता है। यथा—कुर्सी—भोजन—टेनिस बॉल— लड़की—जंगल— गुफा— श्मशान। इसका रेखांकन होगा—● ——> O—>O—>O

सामान्यतः शांत चित्त में नियत्रित सहचार की प्रवृत्ति अधिक रहती है और अशांत चित्त में मुक्त सहचार की।

सहचार, आसंग और काव्य-बिम्ब

सहचार की वृत्ति में राग अथवा भाव का भी योगदान होता है। भावनिर्दिष्ट सहचरण-व्यापार 'आसग' कहलाता है। 'आसंग' चेतन वृत्ति है। दूसरे शब्दो में आसंग प्रत्यक्ष को सहचर अनुभवों से संयुक्त कर नवीन संरूप दे डालता है। आग्डेन के कथानुसार—'जब कभी किसी रूपाकृति में कई प्रत्ययादि सन्निविष्ट होने लगते हैं, तब वे समग्र रूप के सदस्य होने के नाते

एक-दूसरे से मिल जाते हैं। अब ये सदस्य मात्र बाहरी सहचार के गोद से चिपकाए गए-से बँधे नहीं प्रतीत होते। वे अपनी निजता का विलयन कर परिवर्तित हो उठते है और किसी बड़ी अन्विति के, बृहत्तर संरूप के सदस्य बन जाते है।' [४४] अब्राहम टकर ने अपनी पुस्तक 'लाइट ऑफ नेचर पर्सूड' (१७६८-७८) मे इस बात पर बल दिया कि सहचार-प्रक्रिया मे सहचर भावो-गुणों आदि के द्वारा पारस्परिक आसक्ति के कारण नवीन वस्तु, भाव, गुण का उन्मेष होता है। [४५] दार्शनिक ह्यूम के विश्लेषण और नि:सगता (डिसोसिएशन; ऐब्सट्रैक्शन) के सिद्धान्त के प्रतिपूरक-रूप में सहचार और आसग का सश्लेषण-परक सिद्धान्त उद्भावित हुआ था। इससे यह पता लग सका कि जब किसी अवसर पर इस बृहत्तर संरूप का कोई भी अंश स्मृत या दृश्य होता है, तो क्यो पूरे का पूरा संरूप उभर कर उस अवसर के अनुभव को रग-रूप दे डालता है। इस प्रकार सहचार की वृत्ति भावासक्ति हुई और उसका उपयोग काव्यादि के निर्माण-मूल्याकन आदि में भी होने लगा। [४६]

काव्य-सर्जन में कवि साहचर्यवश ही एक वस्तु के धर्म का आरोपण अन्यत्र करता है। काव्य-गृहीता में भी 'कनक किरण के अन्तराल मे' पंक्ति के द्वारा क्रमश: 'कनक' और 'किरण' से 'गौरत्व' और 'तन्वगिता' की प्रतीति सहचारिता के धर्म के कारण होती है। उपचार अथवा औपम्यादि के समस्त विधान साहचर्य के आधार पर कल्पित हैं। संकेत-ग्रह भी उसीके आश्रयण में होता है। भाषा-व्यवहार सहचार पर ही अवलम्बित है। भाववाची शब्दों में बिम्बों की उद्भावन-क्षमता वस्तुवाची शब्दों से इसलिए ही अधिक है कि विकास-प्रक्रिया में उनमें नाना प्रकार के सहचर अर्थ-सन्दर्भ सन्निविष्ट होते गए हैं। 'तुक' आदि के मूल में भी यही है।

आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतीयमान अर्थ जो काव्यात्मा-रूप मे भासित होता है, वह सहृदयों द्वारा प्रशंसनीय एव व्यवस्थित भी द्योतित किया गया है। इससे यह संकेत मिलता है कि प्रतीयमान अर्थ भी वाच्यार्थ की ही भाँति नियन्त्रित सहचार-प्रक्रिया के द्वारा उद्भावित और गृहीत होता है। अभिनवगुप्त के अनुसार व्यजना का प्राण प्रतिभा का सहकारित्व है—प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वम् अस्माभिः द्योतनस्य प्राणत्वेन उक्तम्। प्रदीपकार का कथन है कि प्रज्ञा-वैमल्य से अर्थात् प्रतिभा की विदग्धता से जो सवासन हैं, उन्हें ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती हैं। वासना प्राक्तन-संस्कार-विशेष मानी

गई है। इसे ही प्रतिभा भी कहते है। दूसरे शब्दो में सवासन कवि और सहृदय काव्यास्वादक वे ही कहे जायँगे जिन्होंने अखिल जीवन-जगत् के नाना अर्थों मे महचरित होकर जीवन भोगा हो, और साथ ही उनके शाब्द सकेतो के माध्यम से सहचर-भावों-विचारो मे ध्वनित हो उठने मे सक्षम हों।

जे० एस० मिल 'डिसर्टेशन एँड डिस्कसन्स' मे कवि कौन है, का उत्तर यह देते है—'कवि वे हैं जिनका व्यक्तित्व इस रूप मे गठित हुआ हो कि उनके ऐन्द्रिय एव आध्यात्मिक दोनों प्रकार के प्रत्ययों के बीच सबध-ग्रथन राग और भाव से युक्त सहचार द्वारा किया गया हो।[४७]

साहचर्य-धर्म की दृष्टि से काव्य-बिम्बों के विनियोग और विकास के सम्बन्ध में इतना तो सकेत मिल जाता है कि परम्परागत कविता मे सम और वृत्तात्मक सहचार एव आधुनिक कविता में विषम और केन्द्रापगामी सहचार तथा मुक्त आसग की प्रक्रियाएँ क्रियाशील है;

सम और वृत्तात्मक—हम सागर के धवल हास हैं, जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव, वारि वसन वसुधा के मूल।—पंत: पल्लव

बादल के लिए लाए गए सारे विशेषण सम सहचारी है और अराओं (स्पोक्स) की भाँति बादल के चारो ओर आ लगते है।

सम और प्रसरणशील—बूँद टपकी एक नभ से
किसी ने झुक कर झरोखे से — कि जैसे हँस दिया हो,
हँस रही सी आँख ने जैसे — किसी को कस दिया हो
ठगा सा कोई किसी की आँख — देखे रह गया हो;
उस बहुत से रूप को, रोमांच रोके — सह गया हो।
—भवानी प्र० मिश्र, दूसरा सप्तक।

इसके सहचर बिम्ब सम हैं, पर स्थित्यात्मक और ठोस नही हैं। एक-एक सहचर बिम्ब अपने मे पूर्ण है। उनमे विराम नहीं है; मात्र यति है और फिर वहाँ से आगे के दूसरे बिम्ब के लिए तौली हुई गति है। और पुनः, इन प्रसूत बिम्बों के पुंज में एक अलग कहानी आ बसी है, जिसमें एक दूसरा बिम्ब-गर्भ तैयार हो गया है—'आँख' का।

विषम और केन्द्रापसारी—रात बेरात यह मछलियाँ फँसाती है,
आवारा मछुओं-सी, शोहदों-सी चाँदनी,
अजी यह चाँदनी भी बड़ी मसखरी है,
तिमजिले की एक खिड़की में बिल्ली के सफेद धब्बे-सी
चमकती हुई वह समेट कर हाथ-पाँव धीरे से उतरती है
—मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है

इसमें केन्द्रस्थ बिम्ब चाँदनी के वैषम्य में मछुए का, फिर उसके विरोध मे शोहदे का, फिर उसके विरोध मे मसखरे का और अन्तत. सबसे अलग बिल्ली

के सफेद धब्बे या चोर का विषम बिम्ब प्रस्तुत है। ये सारे विम्ब फैसी-फैंटेसी के हैं तथा खडित बिम्ब है। बिम्ब और विम्ब के बीच अन्तराल है। साहचर्य-कार्य मे सादृश्यानुबंध, विचारानुबध, भावानुबध भी प्रतीत नही होता।

मुक्त आसग अचेतन मन मे सचित अतृप्त और दमित इच्छाओ-कु ठाओ को पहिचानने अथवा चेतन मन के स्तर तक ले आने के लिए मनोविश्लेषण में प्रयुक्त एक प्रक्रिया है। इस विधि से जब अचेतन मन मे दबी कोई बात ऊपरी मन पर आती है, तो उसके साहचर्य से दूसरी बात भी जुड़ी हुई ऊपर उठ जाती है और फिर दूसरी से तीसरी और तीसरी से चौथी, पॉचवी आदि। और अन्तत पूर्व जीवन का एक सपूर्ण वृत्त भी झलक आता है। मोहनिद्रा मे डालकर या दिवास्वप्न मे भुलवा कर या काव्य-कला-रचना आदि मे प्रवृत्त कर चिकित्सक रोगी पर ऐसा प्रयोग करते हैं। इस पद्धति के उपयोग से काव्य-निर्माण मे एक नवीन काव्यतंत्र चला है। ऐसी रचनाएँ चेतन मन के विचारानुवध, भावानुबध, परम्परानुबंध आदि से मुक्त रहती हैं। अतएव उनमे सामान्य पाठक असगति और दुरूहता के सिवा कुछ भी नही पाता। मुक्त आसग की पद्धति के उदाहरण प्रपद्यवादी कवियों मे 'नरेश' केसरी (बोधिवृक्ष) की कविता मे तथा इधर के कवियों में राजेन्द्र किशोर, गिरिजा कुमार माथुर (एसोसिशंम मिस मोनिका) विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकात वर्मा, कुँवर नारायण, रणधीर सिन्हा, विपिन अग्रवाल, अजित कुमार, भारत भूषण अग्रवाल आदि की रचनाओ मे मिलते है। यथा—

(सो जा ओः नींद हूँ ?) आ नींद!
उहूँक नहीं जीवन स्वच्छन्द हो
.....
समझे न वर्मा जी वो है दऔत असी
(दो मतरे औ जिन; हॉ) अनुभव हों, खतरे हो
साँस ही हो लेना कठिन ..

—नरेश - नकेन

एक लकीर, पृथ्वी के सारे अक्षांशों से होती हुई,
जहाँ सौर-मंडल के पास, खो जाती है वहाँ मैं खड़ा हूँ
मच्छर का. एक जाल, नदी से निकल कर, धरा हुआ, मेरे,
इन चिर आदिम कंधों पर, यह मेरा नगर है, हवा की
एक झालर टँगी हुई तारों पर, हवा के धक्के मे जिधर झुक
जाती है, उधर मेरा घर है। छोटा सा घर है; और
छोटे मे घर में, असंख्य दिशाएँ है! हर दिशा, तेजी से. दूसरी
दिशाओं को, जहाँ पर छूती है, वहाँ—मैं जीवित हूँ।

(गद्य-रूप में)—कुँवर नारायण . अभी, बिलकुल अभी

उपर्युक्त दोनो कविताएँ मुक्त आसंग-पद्धति पर रचित हैं। पहली कविता मदमत्त रति-चित्र द्वारा निबंधित है। उसके बिम्ब हैं—नीबू, सतरे, जिन। उसके स्वर मे नशे का चढ़ाव है। इनसे मन के तल मे दबी आदिम और दुर्दम यौन-वृत्ति का चित्रण किया गया है। दूसरी कविता के बिम्ब हैं—लकीर, पृथ्वी-सौरमंडल, कवि; फिर मछुआ, उसका जाल, नदी और कवि का आदिम कंधा और यह सारा उपकरण 'नगर' कहलाता है। फिर हवा की झालर, तारों पर उसका टँगा होना, हवा का धक्का और उस झालर का झुकना,—यह कवि का घर है। घर छोटा है, पर असख्य दिशाओं से पूर्ण है। दिशाएँ एक दूसरी को तेजी से छूती है; यह कवि का जीवन है। इस कविता में ऊपर से देखने पर संगति, अनुबंध और लक्ष्योन्मुखी गति नही मालूम पडती। सारे बिम्ब स्वप्न के बिम्ब-जैसे लगते हैं। बिम्बानुक्रम मे योग्यता, सन्निधि आदि नही दिखती है। अन्विति भी नहीं प्रतीत होती। परन्तु, कुछ गहरे पैठने पर ऐसा भान होता है कि कवि अपनी वास्तविक और प्राकृतिक सत्तात्मक स्थिति बता रहा है; जीवन की जाल-नुमा व्यस्तता, सच्चे घर और उसमें अपनी मूलभूत जीवंत चेतना की बात मुक्त आसग की विधि से बड़े साकेतिक और प्रतीकात्मक शब्दो के द्वारा कह रहा है। प्रतीक प्राकृतिक हैं। फिर भी उनमे अर्थवत्ता और व्यंजकता है।

मुक्त आसग व्यक्त मे निगूढ़ अव्यक्त का अनुरणन स्फुट करता है, कथित शब्दादि से अबोले, अनकहे अनेक दमित-शमित भाव एव स्मृतियां जगती है। व्यक्ति और समष्टि के स्वास्थ्य के लिये मुक्त आसग ग्र थियो, कु ठाओ, घुटन-घुमडन के निर्गमन मार्ग है। 'कला और साहित्य में उसका प्रवेश बहुत-कुछ अवांछित है' (नया हिन्दी काव्य पृ० २३४)—ऐसा नही कहा जा सकता।

प्रत्यक्ष और कल्पना तथा उनके मिश्र रूप :—

सहचार और आसग प्रत्यक्ष-बोध में पूर्वानुभूत अनुभवों की स्मृति जगाते और प्रत्यभिज्ञान, स्मृत्याभास और कल्पनादि का उन्मेष करते हैं और इससे प्रत्यक्ष नवीन अर्थ से मंडित होता है। फलतः, बहुधा प्रत्यक्ष विषयनिष्ठ न होकर विषयिनिष्ठ हो उठता है।

मनोविज्ञान के कुछ पंडितों ने प्रत्यक्ष और कल्पना के मिश्रण की प्रक्रियाओं का विवेचन किया है ; यथा—

१—कभी-कभी कल्पना और प्रत्यक्ष संश्लिष्ट रूप में क्रियाशील होते है जैसे व्यक्ति ध्वनि सुन कर रंग देखे या आवाज के स्वाद मे किरकिरापन पाये (सिनसयेसिया) २—कहीं कल्पना प्रत्यक्ष में उलझ-पुलझ जाती है, जैसे दिवास्वप्नादि में; ३—कही कल्पना ही, मिथ्या-रूप में, प्रत्यक्ष मान ली जाती है, जैसे मानस भ्रम में, ४—इनके विपरीत कभी-कभी कोई प्रत्यक्ष विलक्षण प्रतीत होता है और उसे कल्पना का नाम दे दिया जाता है।[४८]

रचनाकार में भी ऐसी भ्रान्ति होती है। रचनाकार जब अपनी रचना प्रस्तुत कर लेता है, तो उसकी मौलिकता पर, अभिनव सर्जन पर फूला नहीं समाता। परन्तु, जब उसे यह बतलाया जाता है कि कृति उसकी स्वतंत्र उद्‌भावना नही, किसी पुरातन रचना की प्रतिकृति है, तब रहस्य खुलता है। वस्तुतः स्मरण को उसने अपना नवसर्जन मान लिया था। 'प्रत्यक्ष' (स्मरण) इसी भांति कभी-कभी कल्पना मान लिया जाता हैं। ऐसी स्थति तभी होती है, जब स्मृति विगत वास्तविकता से कट कर अलग हो जाती है या उसके कुछ अंश विस्मृत हो उठते हैं। **आनन्दवर्द्धन** ने इस प्रकार के प्रतिबिम्ब-कल्प की और **राजशेखर** ने शब्दार्थ-हरण की विवेचन की है। सहृदय भी कविता का ग्रहण कविता रूप मे उतना नही करता, जितना अपने पूर्वाग्रहों, रूढ प्रतिक्रियाओं, वैचारिक शिल्पीय सिद्धान्तगत आच्छन्नताओ, अन्यान्य विविध संस्कारों का उसके माध्यम से ध्वनन द्वारा करता है। **रिचर्ड्स** ने इनके कारण काव्यालोचन में होने वाली कठिनाइयों की चर्चा **प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म** की भूमिका मे की है।[४९]

कल्पना : विवेचन की दिशाएँ और प्रकार्य

कल्पना पर मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, मनोविश्लेषणशास्त्र आदि के पडितों ने अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। इनसे उपलब्ध महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों का उपयोग कवियों-कलाकारों ने किया है एवं उनका अनुशीलन-अध्ययन साहित्य के मनीषियों ने प्रस्तुत किया है। भारतीय मनीषियों ने 'प्रतिभा' पर प्राय. उनसे भी गूढ़तर चिन्तन-मनन कर अपने ऊर्जस्वी विचार दिए हैं। आज के साहित्यशास्त्रीय विवेचन में पाश्चात्य मनीषा द्वारा विवेचित

कल्पना के तत्वो मे भारतीय दार्शनिको द्वारा विवेचित प्रतिभा के तत्त्वों का प्राय: संयोग निष्पन्न हुआ है

मनोविज्ञान के अनुसार कल्पना की रचनात्मक प्रक्रिया के मूल मे मनुष्य की तुष्टि की लालसा है। उसकी प्रवृत्ति नवनिर्माण की है जिसकी विशेषता है—नवीनता, सतोष, और भविष्योन्मुखता। इस प्रकार यद्यपि कल्पना मे सहचार और आसग के वे ही नियम अर्थात् समता, वैषम्य, सहवर्त्तित्व, ताजगी, बारम्बारता, सजीवता आदि काम करते है, जो स्मरण में, तथापि वे कल्पना मे विशिष्ट महत्व और अर्थ-परम्परा प्राप्त कर लेते हैं।[५०] टिचनर ने तो स्मृति-बिम्बो की अपेक्षा कल्पना-निर्मित बिम्बो को अधिक मूर्त्त, सजीव, रंगीन, तत्काल अभिव्यक्त, दीर्घायु और प्रगाढ बतलाया है। उससे गत्वर स्नायु-सस्थान में प्रशान्ति आती है, जब कि स्मृति-बिम्बो से अशान्ति।[५१]

कल्पना के सामान्य भेद—कल्पना का रूप-प्रकार बच्चों मे कुछ अनियत्रित होता है, और बडो मे कुछ व्यवस्थित। इस प्रकार कल्पना के दो रूप है–१. अनियंत्रित, अथवा जिसमे केन्द्रस्थ अभिरुचि का अभाव हो, और २. व्यवस्थित अथवा जो किसी लक्ष्य या प्रेरणा द्वारा निर्दिष्ट हो।

परन्तु यहाँ भी यह स्मरणीय है कि अनियंत्रित कल्पना में नियत्रण का आत्यतिक अभाव नही रहता। बहुधा धीर और मनस्वी वयस्क की कल्पना भी जब आन्तरिक मानसिक ससार की एषणाओं, दुश्चिन्ताओ और आच्छन्नताओं अथवा बाह्य वास्तविक जगत् की कटु यथार्थताओ से प्रेरित रहती है, तो अनियत्रित होकर फैन्टेसी की धारा मे प्रवाहित होती है।

फैंटेसी कल्पना के उल्वण प्रवाह का सामान्य नाम है।[५२] इस स्वत: स्फूर्त उल्वण प्रवाह का विशिष्ट रूप दिवास्वप्न कहलाता है। किंचित् रम्य और व्यवस्थित होकर ऐसे उल्वण प्रवाह विलक्षण शब्दों, अर्थ-सन्दर्भों एवं कला-कविताओं की धारा उन्मुक्त करते है। उदाहरणस्वरूप **धर्मवीर भारती** की निम्न कविता 'फैन्टेसी' द्रष्टव्य है।

> एक राही कन्धों पर अपनी ही लाश लादे धीमे-धीमे जा रहा था...
> एक जलते मुर्दे ने
> अपनी जलती उंगलियों से ऊँची-नीची बालू पर खींच दी लकीर
> और हंस कर बोला 'यह है प्यार की तसवीर।
>
> — दूसरा सप्तक

फैन्सी :—फैन्सी मे भी रूढि-बिखडन की प्रवृत्ति और केन्द्रापसृत मस्ती रहती है, जैसी फैन्टेसी मे। परन्तु फैन्टेसी अविश्वसनीय कौतुक प्रस्तुत करती है, फैन्सी कुछ विश्वसनीय।

आ० नन्ददुलारे वाजपेयी ने महादेवी की (महादेवी पृष्ठ ७१) निम्न पंक्तियो मे फैन्सी का रूप पाया है—

> चाहता है यह पागल प्यार, अनोखा एक नया संसार।
> कलियो के उच्छ्वास शून्य में ताने एक वितान,
> तुहिन कणों पर मृदु कम्पन से सेज बिछा दे गान।
> जहाँ सपने हो पहरेदार, अनोखा एक नया ससार।

परन्तु **विजयदेव नारायण** साही की निम्न कविता 'फैंसी' का उदाहरण नही है, क्योंकि क्षोभ स्पष्टत : उभर आया है। **डॉ० विश्वम्भर उपाध्याय** ने आधुनिक हिन्दी कविता' पृष्ठ ५३४ पर उसे फैन्सी माना है।

> इधर तीन दिनों से लेटते ही खाट पर तीव्र इच्छा होती है
> शून्य को पकड कर मुट्ठियों में भींच लूँ, नारंगी से चाँद को
> रसभरी से तारो को केवडे में बसी हुई किरणों को
> पजों में पकड कर, कस कर निचोडूँ।

फैंसी मे विलक्षणता के साथ-साथ कौतुकप्रियता या मुदिता का भाव रहता है। अत इसमे 'फैंटेसी' है, जो उग्रता के कारण 'फैंटास्टिक' हो गयी है।

'फैन्टास्टिक' फैंसी-फैंटेसी से अधिक तीक्ष्ण और उल्वण कल्पना है। भूत-प्रेत, राक्षस-देवदूतों की कहानियो और अनेक रोमांचक जासूसी कथाओ में 'फैन्टास्टिक' कल्पना-प्रकार के रूप देखे जा सकते हैं।

फैंसी-फैंटेसी-फैंटास्टिक मे एक प्रकार की 'कौतुकप्रिय-विखडन वृत्ति रहती है। इनके आत्मकेन्द्रित उन्मुक्त विचार-प्रवाह मे वेग होता है, और उनकी अन्तर्धारा में संवेग और वैयक्तिक प्रेरणाओं का तथा अचेतन मानस की मूल वृत्तियो का अकूत जल रहता है। फैंसी' फैंटेसी आदि के सहारे कलास्रष्टा का तिर्यक सवाद प्रकट होता है। उसमें कवि की वृत्ति की वक्रता और बेफिक्र बेलौस उन्मुक्तता (एबनृडन) रहती है। यह स्रष्टा-कलाकार की आदिम और जैव वृत्ति है, पुरातन कवि की त्रिकोणात्मक निरवछिन्न मुक्त चेतना का प्रकाशन है। मनोविज्ञानियों का मत है कि 'फैंटेसी' या उत्प्लवी कल्पना कला, विज्ञान, धर्मादि के सर्जन के मूल में है। प्रारम्भ में ऐसी उत्प्लवी कल्पना-निर्मितियों पर समाज की वक्र दृष्टि और परम्परा के संरक्षको के तीव्र प्रहार होते हैं। धीरे-धीरे कुछ तो ऐसी निर्मितियाँ ही

परिशोधित होने लगती हैं, और सामाजिक संस्कार में भी कुछ औदार्य आता है या अभिसंधन की अथवा दीक्षाग्रहण की प्रक्रिया का प्रभाव पड़ता है। फलतः 'फैंटेसी' का सामाजिकीकरण होता है और वह शालीन स्तर प्राप्त करता है। प्रकृतिस्थ-रूप में 'फैंटेसी' समाज के रूढ़, मृत, रुग्ण सस्कारों का परिशोधक है। फैंटेसी एव दिवास्वप्नो में कुछ निजी बिम्बपुंज (प्राइवेट इमेजरी) रहते हैं, जिनकी सरचना क्षोभकारी विगत अनुभव के कारण अथवा अदम्य लालसा और भविष्यत्काल के प्रति अगाध भावात्मक आस्था के कारण अथवा वर्त्तमान के प्रति भीति-ग्रस्तता के कारण होती है। उदाहरण-स्वरूप निम्न रात्रि-बिम्ब में अल्हड़ अज्ञात यौवना नायिका की जो भंगिमा है, वह 'प्रसाद' के निजी और व्यक्तिगत अनुभव से आयातित प्रतीत होती है—

पगली हाँ सभाल ले कैसे छूट पड़ा तेरा अचल,
देख, बिखरती है मणिराजी अरि उठा बेसुध चचल।

—कामायनी

दिवास्वप्न एवं फैंटेसी की निर्मितियाँ जब सामाजिक आदान-प्रदान मे प्रक्षिप्त हो उठती हैं, तो शनै.-शनैः धर्म, कला, विज्ञान मे रचनात्मक महत्व भी प्राप्त कर लेती हैं[५३]। अन्तश्चेतनावाद, प्रकृतिवाद, सुररियलिज्म, घनवाद, भविष्यद्वाद आदि आधुनिक नाना वादों में इसी कल्पना की मुक्त उड़ाने हैं। वर्त्तमानकालिक व्यक्तिवाद और बहिर्मुखी अभिरुचियों के सकुल समय मे इस प्रकार की विलक्षण कृतियाँ अधिक पनप रही है। उनमें हमारी सहिष्णुता और लोकतंत्रात्मकता के प्रमाण हैं, एव नवीनता के उन्मेष के क्षेत्र में व्यक्तिगत स्पर्धा के प्रति श्रद्धा के भाव भी। ये कृतियाँ यह भी सूचित करती हैं कि पारम्परीण मूल्य का विघटन हो गया है और आलोचना के प्रतिमानों में सर्वमान्य प्रामाणिक कोई स्तर स्वीकृत नही है। मुक्त बाजार और आर्थिक विनिमय की स्वतंत्रता, जनतत्रवाद, व्यक्तिवाद और व्यक्ति-आश्रित गणवाद के साथ संस्कृति और सभ्यता का जो सबध है, उसमे फैंटेसी और उससे सम्बद्ध कलाकाव्यादि के लिए प्रेरक तत्व हैं। मुक्तिबोध के शब्दों में

मैं विचरण करता सा हूँ एक फैंटेसी में
यह निश्चित है कि फैंटेसी कल सत्य होगी।

पुनरावृत्यात्मक और रचनात्मक कल्पनाएँ:—कुछ मनोविज्ञानियों ने कल्पना के दो भेद १—पुनरावृत्यात्मक अर्थात् स्मरण पर आश्रित आवृत्ति-

मूलक कल्पना, एवं २—रचनात्मक अर्थात् पूर्वानुभूत विषय-वस्तु के तत्वो में से कुछ का उपयोग कर नवीन विषय-वस्तु का सर्जन करने वाली कल्पना, माने हैं। पुनरावृत्यात्मक कल्पना द्वारा संरक्षा, परम्परा-निर्वाह संभव है और जाने-पहचाने दृश्य का तोष प्राप्त होता है। रचनात्मक कल्पना के द्वारा बंधी लय, रूढ़ि, आबद्धता को तोड कर नवीन का सर्जन होता है। इसमे उद्भावना का आनन्द है। कविता में यथातथ्य चित्रण बहुधा पुनरावृत्यात्मक कल्पना द्वारा रूपायित होता है एव नवीन घटना, बिम्ब, तथ्यादि की प्रस्तुति मे रचनात्मक कल्पना का योग रहता है।

दि० इ० लिट्रे [५४] ने कल्पना के इन दो प्रकारो को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'१—वह प्रवृत्ति जिसके द्वारा हम आँखो से परोक्ष हुई वस्तुओ का प्रत्याह्वान प्रत्यक्षवत् कर लेते हैं इस प्रकार जैसे कि नजर के सामने हूबहू हो, और २—विशेष रूप में साहित्य एव ललित कलाओ में वह प्रवृत्ति जिससे आविष्कृति होती है, नव सर्जन होता है, एव उद्भावित वस्तु का अभिव्यजन रुचिकर रूप मे प्रस्तुत करने की क्षमता का संयोग संभव होता है।' स्पष्टत: प्रथम अर्थ पुनर्निर्मायिक कल्पना का है और द्वितीय रचनात्मक कल्पना का। ऐसे ही अर्थ **वेबस्टर और ड्रेवर** ने देकर कल्पना के दोनों प्रकारों को स्वीकार किया है। [५५]

निराला जी की 'भिक्षुक' 'गर्म पकौड़ी' 'वर्षा' 'रानी और कानी' आदि कविताएँ पुनरावृत्यात्मक कल्पना के उदाहरण मे रखी जा सकती है, तो 'सन्ध्यासुन्दरी' 'मेघराग' 'जुही की कली' आदि रचनाएँ रचनात्मक कल्पना के उदाहरण-रूप मे। समग्रत: **गुप्त, महादेवी वर्मा**, नरेन्द्र **शर्मा, नागार्जुन** आदि मे पुनरावृत्यात्मक कल्पना का आधिक्य है, तो **पंत, निराला, प्रसाद** आदि मे एवं प्रयोगवाद तथा नई कविता के आधुनिक कवियों मे रचनात्मक कल्पना की आपेक्षिक प्रबलता है।

मनोविज्ञानियो ने कल्पना के सर्जनात्मक रूप प्रधानत तीन धरातल के माने हैं—

१—निष्क्रिय तथा सक्रिय कल्पना,

२—धारणात्मक तथा रचनात्मक कल्पना और

३—बौद्धिक या व्यावहारिक तथा सौन्दर्यपरक कल्पना।

ये तीनो प्रकार अपने नाम के अनुसार प्रवृत्त हैं; निष्क्रिय कल्पना मात्र भावुक बनाती है; सक्रिय कल्पना कर्म-प्रेरणा जगाती और क्रियाशील बनाती है, धारणात्मक कल्पना से भाव-विचारादि का धारण और व्यवस्थापन होता है, रचनात्मक कल्पना रचनाओ मे प्रवृत्त करती; बौद्धिक और व्यावहारिक कल्पना से वैज्ञानिक-बौद्धिक सुसंगति आती तथा जगत् के व्यवहार भी चलते है तथा सौन्दर्यपरक कल्पना रमणीयता का द्वार खोलती है।

सर्जनात्मक कल्पना के दो प्रकार और भी हैं—आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ। महादेवी मे आत्मनिष्ठ कल्पना है, दिनकर मे वस्तुनिष्ठ। समग्रतः छायावाद आत्मनिष्ठ कल्पना का ससार है, प्रगतिवाद वस्तुनिष्ठ कल्पना का। कल्पना की यह आत्मनिष्ठता अज्ञेय, भारती, शमशेर आदि मे भी दिखाई पडती है, जिससे वे अन्य आधुनिक कवियो की वस्तुनिष्ठता से किंचिद् भिन्न हो जाते है।

इन्द्रियबोध की दृष्टि से कल्पना के प्रकार प्रधानतः छह है—१ दृष्टि-कल्पना, २. श्रुति-कल्पना ३. स्पर्श-कल्पना ४ घ्राण-कल्पना, ५ रस कल्पना और ६. गति या क्रियात्मक कल्पना। इन्द्रियो मे प्रबलतम है दृष्टि; अतएव दृष्टि-कल्पना मात्रा और गुण में सबसे अधिक सक्रिय और सबल दिखाई पडती है। मनुष्य में गंध और स्वाद की कल्पना सब से दुर्बल है।

कल्पना की उपक्रियाएँ :—कल्पना की उपक्रियाएँ मुख्यतः विस्तार, सकोच, परस्थापन, संयोगीकरण और पृथक्करण है। विस्तार में कल्पित वस्तु या विषय यथार्थ से अधिक बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत किया जाता है और सकोच मे घटा कर। 'साकेत' में उर्मिला की कथा-कल्पना में विस्तार की उपक्रिया और राम-सीता की कथा में यथावसर संकोच की उपक्रिया देखी जा सकती है। विस्तार और सकोच में प्राकृतिक केन्द्रापसारी और केन्द्राभिमुखी वृत्तियाँ अन्तर्लीन हैं, अथवा उन्मीलन और निमीलन की सृष्टि-प्रक्रिया जैसी उपक्रियाएँ हैं। विस्तार मे एक प्रकार की विराटता और महिमा के सर्जन की प्रेरणा है, इसके विपरीत संकोच मे लघुत्व और अणिमा की साधना की प्रवृत्ति। विस्तार की उपक्रिया से काल शाश्वत, अनादि अनन्त, सुदीर्घ आदि होगा, पर सकोच की उपक्रिया उसे क्षण मात्र मानेगी।[५६] उसी प्रकार कल्पना की विस्तृत दृष्टि में जीवन विभु और महतोमहीयान उपलब्ध है, तो आकुंचित दृष्टि में अणोरणीयान्। जेम्स ज्वायस ने

'यूलिसिस' मे काल को प्रसरित-रूप में कल्पित कर प्रस्तुत किया, इलियट ने एव येट्स ने काल का आकुंचित रूप रखा। विराटता और महत्ता की कल्पना द्वारा कल्पक स्वयं विनम्र और अनुगामी हो सकता है।[५७] लघुता और क्षुद्रता की कल्पना, यदि वह गौरव की भावना से मंडित हो, तो कल्पक को गौरवशाली बना सकती है।[५८]

वस्तुतः विराट् कल्पना से व्यक्ति की क्षतिपूर्ति होती है, किन्तु वैसे व्यक्ति मे शीलवश विनम्रता, उन्मुखता और सकोच आ जाता है। वैसे ही लघु की कल्पना करने वाले में सह-अनुभूति, सहिष्णुता, करुणा आदि की भावना आती है। उसमे उत्थान और सह-अस्तित्व के लिये मांगलिक उत्प्रेरणा और शक्ति है। परन्तु, काव्य-कल्पना कभी-कभी लघु और विराट् की साथ-साथ प्रस्तुति करती है। यथा, कवि जब कहता है—

मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ, लेकिन मुझे फेंको मत। ... ..
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय,
उसके हाथों में ब्रह्मास्त्र से लोहा ले सकता हूँ। —धर्मवीर भारती

तब उसमे 'लघुता' के साथ-साथ 'विराट्ता' भी अनुस्यूत मिलती है। 'अज्ञेय' की 'लघुता' की निम्न कल्पना

हम हैं नदी के द्वीप हम धारा नहीं हैं
स्थिर समर्पण है हमारा द्वीप हैं हम।
हम नही कहते कि हमको छोड़ कर स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है, माँ है वह। है, इसी से हम बने हैं।

—अज्ञेय : हरी घास पर...

पर यदि कवि कहता है—

हम नहीं हैं द्वीप हम में है—सिंधु की गहराई
मेघ की ऊँचाई, भावना। हम सीमाएँ तोड कर अहम् को मेट कर
समवेत जीवन में मिलेंगे —भारतभूषण : ओ प्रस्तुत मन

तब पहली की 'लघिमा' में दूसरी की 'गरिमा' (अहंवादी) से निश्चय ही अधिक शालीनता की प्रतीति होगी।

परस्थापन की उपक्रिया में गुणधर्म का प्रक्षेप या आरोप किया जाता है, जैसे स्वर्ण-किरण, सुनहरी टेर, मानव-समुद्र, काल धारा आदि। 'कामायनी के इड़ा सर्ग में इड़ा का रूप-वर्णन परस्थापन की उपक्रिया द्वारा निर्दिष्ट है। संयोगीकरण और पृथक्करण की उपक्रियाएँ जोड़ने और छोड़ने की क्रियाएँ हैं कुछ वस्तुओ के अगों-अंशो को एक साथ संयुक्त करने में संयोगीकरण की

क्रिया है, जैसे आदमी के सिर पर सींग उगा देने की कल्पना, अथवा नाग-कन्या, 'स्फिक्स', अर्द्धनारीश्वर, गणेश आदि की कल्पना। पृथक्करण की उपक्रिया में अनुभूत विषय या वस्तु का कुछ अंश लुप्त कर दिया जाता है, जैसे कबंध की कल्पना, साइक्लॉप्स की कल्पना आदि।

मनोदैहिक दृष्टि से कल्पना का विवेचन :—

आर्थर लावेल ने 'इमेजिनेशन ऐंड इट्स वन्डर्स' पुस्तक मे कल्पना को द्यौ-द्युति (आस्ट्रलाइट) की ऊर्जा, अर्थात् 'इथर' मे कम्पन मान कर बतलाया है कि 'कल्पना' की उद्बुद्धि से बिजली की कौंध-जैसी दीप्ति और द्रुति स्पन्दित हो उठती है। यह कम्पन कल्पक की प्रतीति है। किन्तु, शरीर-शास्त्रियों और जीव-विज्ञानियो ने प्रत्यक्ष, स्मरणादि के साथ कल्पना के मनोदैहिक सस्थान पर पड़ने वाले निगूढ़ और व्यापक प्रभाव का और उसके प्रकार्य का विवेचन-विश्लेषण किया है। मानसिक प्रक्रिया का समारंभ प्राय बाह्य अथवा आन्तरिक उद्भावक या उद्दीपक (स्टीमुलस) से होता है, जिसका सबसे पहला प्रभाव इन्द्रियो पर पड़ता है। इन्द्रिय-प्रणालिका मे जो सक्षोभ या स्पन्दन होता है उससे मानसिक प्रक्रिया गतिशील होती है। विभिन्न इन्द्रिय-प्रणालिकाओ और उनसे सम्बद्ध सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं जटिल स्नायु-सस्थान (नर्वस सिस्टम) तथा मस्तिष्क (ब्रेन) और उसके प्रमस्तिष्क बाह्यक (सरबेरल कार्टेक्स) आदि का अध्ययन कर यह सिद्ध किया गया है कि

१— प्रमस्तिष्क बाह्यक के अनगिनत चेताकोषों (न्युरोन्स) मे प्रेरणा, मनोवेग, चिंतन, प्रत्यक्षीकरण, धारण, कल्पना आदि की ऐच्छिक-अनैच्छिक क्रियाओं के कारण वैद्युत् स्पन्दन और लयात्मक ध्वनन होता है। उनसे शरीर के बाह्यांगों, मासपेशियों, इन्द्रियो, फिर आन्तरिक चेताकोशों और उनके सूक्ष्म तन्तु से लेकर प्रमस्तिष्क बाह्यक तक के संस्थान में बड़े पेचीदे ढंग से आन्दोलन होता है। यही नहीं, शरीरस्थ अनेक ग्रंथियों (ग्लैंड्स) से भी इन प्रक्रियाओं का सबंध है। रक्त-संचालन और रक्त-चाप, श्वसन और पाचनादि क्रियाएँ भी मानस-प्रक्रियाओं पर अपना प्रभाव डालती है और उनसे प्रभावित भी होती हैं।

२—साधारण अनुभूतियों मे भी इन्द्रियाँ स्पन्दित होती हैं और चेतासहति के सूक्ष्म चेताकोशों मे—चाहे वे इन्द्रिय से सम्बद्ध निकटवर्त्ती हों अथवा दूरवर्त्ती हों,—विद्युत तरंगें आन्दोलित हो उठती हैं जिनके स्पन्दन से मस्तिष्क

गतिशील होता है। अनुभूतियों के इस स्पन्दन, ध्वनन, आन्दोलन के शारीरिक आधार का प्रभाव मानस पर पड़ता है। दूसरे शब्दों में ये कल्पना के लिये मूल सामग्रियाँ अथवा व्यापार-प्रवृत्तियाँ प्रस्तुत करतीं हैं।

३— कल्पना की प्राथमिक उद्‌बुद्धि, अतएव उसका सरलतम रूप, प्रत्याह्वान अथवा स्मृति है। 'क ख ग' नामक अनुभूति की ऐन्द्रिय प्रतीति हो जाने के बाद परवर्त्ती काल में 'स, क, ल' नामक अनुभूति की ऐन्द्रिय प्रतीति होने पर, 'स, क, ल' के कारण पूर्वानुभूत' क, ख, ग, की प्रतीति में होने वाले ऐन्द्रिय, मांसपेशीय, चेतासस्थानीय एवं चेताकोशीय अर्थात् सकल मस्तिष्कीय स्पन्दन प्रत्याहृत हो उठेगा। फलतः 'स, क, ल' की अनुभूति में एक नवीनता आएगी। यह प्रतीति 'सकल + 'क, ख, ग' की प्रतीति जैसी होगी। 'सकल कखग' की प्रतीति-जन्य शारीरिक अपार ध्वनन-प्रक्रिया, ऐन्द्रिय, चेताकोशीय, मस्तिष्कीय स्पन्दन क्रिया, तथा ग्र थियों के रसन एवं आन्तरिक अवयवो मे जैसे रक्त-संचालन, श्वसन, पाचनादि की क्रियाओ में परिवर्त्तन आदि शरीरी प्रतिक्रियाएँ कल्पना के लिए मनोदैहिक आधार प्रस्तुत करेगी। उदाहरणस्वरूप यदि कालिदास द्वारा वर्णित उमा के भाव-पुलक का यह रूप अनुभूत हो—

'विवृण्वती शैलसुतापि भावमंगैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः' —कुमारसंभव ३।६८

(अर्थात् उमा के अ गों की भाव-भंगिमा मानों विकसित बाल कदम्ब है;) एवं भवभूति द्वारा वर्णित सीता की रोमांचित प्रकम्पित देह का यह रूप पूर्वानुभूत हो—

सस्वेदरोमांचित कम्पितांगी जाता प्रियस्पर्शसुखेन वत्सा।
मरुन्नवाम्भः प्रविधूतसिक्ता कदम्बयष्टि स्फुटकोरकेव॥

तो, 'कामायनी' की निम्न पंक्तियाँ पढ़ते ही

'स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गदगद बोल। '··· ···
जलदागम मारुत से कम्पित पल्लव सदृश हथेली;
श्रद्धा की, धीरे से मनु ने अपने कर में ले ली।

आस्वादक मे पूर्वानुभूत 'कदम्बादि' की मनोदैहिक प्रतिक्रियाएँ उद्‌बुद्ध होकर उनके अभिनव कल्पितार्थ के लिये ऐन्द्रियिक, चेताकोशीय, मस्तिष्कीय आदि शरीरी आधार प्रस्तुत करेंगी। अथवा, तांत्रिक हों, तो 'कदम्ब' शब्द से ही 'श्रीविद्या' और 'ललित सहस्रनाम' के अनेक श्लोक अलक्ष्य रूप से स्मृत हो तदनुरूप शरीरी ध्वनन-व्यापार प्रस्तुत करेंगे।[५६]

कल्पना, प्रमुष्टतत्ताक स्मृति, और वासना :—कल्पना-प्रक्रिया में एक प्रकार की स्मृति की चर्चा ऊपर हुई है। उपरिवर्णित यह स्मृति सामान्य स्मृति से भिन्न है। यह स्मृति गभीरतम स्मृति है। इसे 'वासना' भी कह सकते हैं। सामान्य स्मृतियों का बोध होता है, परन्तु उपरिवर्णित स्मृति 'अबोधपूर्व' स्मृति है। उसे 'प्रमुष्टतत्ताक स्मृति' कह सकते है। **डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त** के शब्दो मे, 'प्रमुष्ट' शब्द का अर्थ है अपहृत या लुप्त, 'तत्ता' शब्द का अर्थ है वह-वह वस्तु। प्रमुष्टतत्ताक स्मृति का अर्थ वह स्मृति है जिसमें स्मरण तो रहता है, किन्तु क्या स्मरण हुआ इसका बोध नही रहता। कवि जब अपनी खिड़की से विराट् प्रशस्त मैदान की ओर देखता है, तब उसने यदि और भी मैदान पहले देखे हो, तो वे उसे याद आ जाते है। इसे ही स्मरण कहा जाता है। किन्तु जब किसी परिचित मैदान की बात याद नहीं आती, अथच पूर्वानुभूत एक प्रशस्तता का भाव मन मे उमड आता है, तब उसे कहा जा सकता है, प्रमुष्टतत्ताक स्मृति। इस प्रमुष्ट-तत्ताक स्मृति के पीछे रहता है संस्कार। संस्कार मन की ऊपरी सतह पर नहीं उठता। वह एक परत नीचे रहता है। इस सस्कार के भीतर उसी तरह का मैदान देख कर नाना विचित्र अवस्थाओं में मित्रो के साथ चाँदनी रात में नदी किनारे पहले जिस आनन्द का अनुभव किया था, वह संचित हो एक जगह पिण्डीभूत हो, स्मृति की भूमि को अव्यक्त भाव से रसपूरित कर देता है। इस प्रमुष्टतत्ताक स्मृति और संस्कार का संयुक्त नाम वासना है।'[६०]

इस संस्कार या वासना पर अनादिकालीन आदिम अनुभवों की छापे हैं, चेतोदय के पहले की भी और बाद की भी, जिन्हें अन्तश्चेतना संजोए रखती है। मिथकों, पूजाकृत्यों, स्वप्नों, दिवास्वप्नों में एवं काव्यकलाओं आदि में उनका अनायास निर्गमन होता है। कल्पना की विवेचन की यह दिशा 'मनोविश्लेषण' से संबंधित है।

मनोविश्लेषण और कल्पना

'कल्पना' की व्याख्या और परिभाषा की एक पृथक् दिशा मनो-विश्लेषण से प्राप्त होती है। मनोविलेषण मे कल्पना 'अचेतन मानस की अव्यवस्थित अनुभूतियों के संकलन एव व्यवस्था करने की क्रिया' से सम्बद्ध[६१] मानी जाकर नवीन अर्थ-संदर्भो से सयुक्त हो उठती है।

फ्रायड युंग आदि और उनके मूलभूत सिद्धान्त :—

मनोविश्लेषणशास्त्र का नाम तल मनोविज्ञान (डेप्थ साइकॉलॉजी) और संवेग मनोविज्ञान भी है। इसका प्रवर्त्तन यद्यपि चिकित्साशास्त्र के अंग के रूप में स्नायु-रोगों के निदान की जाँच-पड़ताल करने के लिए चारकोत के द्वारा किया गया था, तथापि अब वह मनोविज्ञान से बड़े गहरे रूप में सम्बद्ध है एवं उसे तथा साहित्य को नयी दिशाएँ एवं प्रेरणाएँ दे रहा है।

मनोविश्लेषण-शास्त्र मे मानस के चेतन अंश के स्थान पर अचेतन-अवचेतन अंश प्रधान माना जाता है। इस विज्ञान और तत्संबधी शास्त्र के प्रवर्त्तक और संस्थापक **सिगमंड फ्रायड** (१८५६-१९३९) का विश्वास था कि योजना की प्रकल्पना और निर्धारण की पेचेदी प्रक्रिया अवचेतन मे ही संभव है। उनका तो कहना था कि मानस-प्रक्रिया मूलतः अवचेतन की प्रक्रिया है, जिस पर यदाकदा चेतना का यत्किंचित आरोप होता चलता है।[१२] अवचेतन प्रमुखतः मूलभूत अभिप्रेरणाओं से ही रचित है। अभिप्रेरणाओं के कारण ही व्यक्ति द्वारा विस्मरण, भूल, चूक, छूट आदि की क्रियाएँ होती हैं। दूसरे शब्दो मे ऐसी गलतियाँ ऐच्छिक है; परन्तु इनकी इच्छाएँ अवचेतन में हैं।

अवचेतन मे रहनेवाली इन इच्छाओं, एषणाओं, अभिप्रेरणाओं का पता मुक्त सहचार, मनतरंग, दिवास्वप्न, स्वप्न, कलानिर्मितियों, काव्यकृतियों के सहारे लगाया जा सकता है। पता लगाने के लिये फ्रायड ने कुछ निर्देशात्मक स्थापनाएँ बना ली थीं, जैसे—जो वर्जित है, वह अवश्य ही अभीप्सित होगा; जो विक्षोभकर और गर्हित है, वह अति आकर्षक है; पितृहत्या जघन्य समझी जाती है, अतएव उस कुकृत्य के प्रति अवचेतन में अवश्य तीव्र अभिलाषा होगी; स्वजनों से रति (इन्सेस्ट) निंद्य और वर्ज्य है, अतः अवचेतन मे उसके प्रति प्रगाढ़ आकर्षण होगा; जो भयकारी है, वह प्रिय है; भय तो प्रीति को गोपनीय बनाने की झूठी टट्टी है। इस प्रकार सभी ममत्व-भाव और अतर्कित भीतियो के मूल मे फ्रायड ने गुप्त एवं वर्ज्य आकाँक्षा बतलायी; अवचेतन-निवसित हिंसा का रूप देखा। अवचेतनगत प्रेरणाएँ सदा निष्क्रिय नही रहती। वे अनेक उपायों से अपनी सक्रियता सिद्ध करती हैं और प्रकाशित होती हैं। परन्तु क्योंकि चेतन ने उन्हें 'दमित' किया है, इसलिये प्रकाशन के समय चेतन में दुश्चिंता, लज्जा, परिताप आदि के भाव आते हैं। ऐसे

'दमन' का कार्य बालजीवन से ही प्रारंभ होता है। कह सकते हैं, बहुत सारे भाव और इच्छाएँ आदि जातीय संस्कारवश भी अनादि काल से दमित होती आ रही हैं। फलतः दमित भाव, प्रेरणा, इच्छादि बचपन के पहले से ही अवचेतन में पुंजित है एव ग्रंथियों-कुण्ठाओं का निर्माण करती रहती हैं। दमित भावपुंजादि अपना निर्गमन-मार्ग एक ओर तो दिवास्वप्नों, स्वप्नो, गलतियो एव काव्यकलादि में ढूढ़ते हैं, दूसरी ओर वे दमन के कारण दमन की प्रेरणा देने वाले व्यक्ति—सामान्यतः पिता—के प्रति प्रतिद्वन्द्वी भाव को जन्म देते है जो बाद मे स्थानान्तरित हो समस्त पिता-तुल्य शासकों-अनुशासको के विरुद्ध विद्रोह का भाव जगाते है एव वर्ज्य अथवा दमित इच्छा की प्रकारान्तर से पूर्त्ति भी करा लेते हैं।

द्विध्रुवीयता : रचनात्मक कल्पना और ध्वंसवृत्ति :—

अभिप्रेरणाओ-इच्छाओ को फ्रायड ने मूलतः कामज (यौन-सम्बन्धयुक्त) माना था। कामभाव शिशु मे व्याप्त है, किन्तु वह अस्पष्ट और विस्तृत है तथा मात्र शरीराग-सुखमूलक है। उस समय यह मात्र एक मादन-भाव है, अथवा प्राथमिक स्वरति (नार्सिसिज्म) है, जो प्रधानतः स्वोद्दीप्त होती है, तब यह भाव किसी अन्य के संगसुख का लोभी नहीं रहता। धीरे-धीरे यह मादन-भाव विशिष्ट शरीरागों मे सिमटता हुआ, स्व से फिर अन्य के प्रति लुब्धकाम होता है, साथ ही केन्द्रित और अनुदार भी हो चलता है। लडका माता के प्रति और लडकी पिता के प्रति आकृष्ट होकर प्रतिद्वन्द्वियों के विरोधी होते है—लडका पिता का विरोधी होगा, लडकी माता की। यही 'पारिवारिक रोमांस' या 'इडिपस संघटन' कहलाता है। यह कुंठा आदि-काल से घटित होता आ रहा है और उसका प्रभाव नाना रूपो में जीवन पर पड़ता आ रहा है।

स्वरति (नार्सिसिज्म) एवं प्रतिद्वन्द्वी विरोधी भाव (इडिपस ग्रंथि) प्रायः पूरक-जैसे हैं। जितना विशद अन्य-प्रेम उतनी क्षीण स्वरति, उतनी ही प्रतिद्वन्द्वी के प्रति तीक्ष्ण शत्रु-भाव। अर्थात् फ्रायड की मूलभूत कामवृत्ति (लिबिडो) में द्विध्रुवीयता की परिकल्पना थी—आत्मप्रेम और अन्य प्रेम की दो छोरें थी। बाद में फ्रायड ने 'लिबिडो' की द्विध्रुवीयता के मूल प्रस्थान-विन्दु को पकडा और उनके नाम उसने दिये—१—जीवनेच्छा एवं २—मरणेच्छा (१—इरॉस एवं २—थेनेटॉस)। जीवनेच्छा जीने, विकास करने,

उन्नत और संवर्धित होने की इच्छा है। यह प्रेमपूर्ण और रचनात्मक प्रेरणा है; मरणेच्छा मरने, विनष्ट होने, द्वेषपूर्ण होने, हत्या करने, कुचलने, सताने की ध्वंसात्मक प्रवृत्ति है। पर-पीडन और स्वपीडन, मातृप्रेम और पितृद्वेष (पुत्र मे) ये दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। इसी भाँति राष्ट्र के लिये अमित श्रद्धा और राष्ट्रद्रोह अर्थात् प्रेम और घृणा एक ही पन्ने के दो पृष्ठ-जैसे द्विध्रुवीय (ऐम्बीवैलेंट) तत्त्व है। फ्रायड के शब्दो मे किसी भी ठोस अभिप्रेरणा में प्रेम और घृणा, रचनात्मकता और ध्वंसात्मकता के तत्त्व घुले-मिले रहते हैं।

कल्पना मे भी रचनात्मक वृत्ति के साथ ध्वंसात्मक वृत्ति निहित रहती है। मनुष्य की समस्त रचनात्मक कल्पना मे गुप्त रूप से ध्वस की भी प्रवृत्ति है। परिवार की सरचना से सबधित कल्पना मे जीवनेच्छा (इरॉस) का प्रेमभाव है, पर साथ ही उतना ही तीव्र द्वेषभाव (थैनेटॉस) भी है। समाज और राष्ट्र की भावना मे भी प्रगाढ एकात्म भाव है (इरॉस) तो साथ ही साथ उतना ही प्रेरक एवं सजग आक्रामक भाव (थैनेटॉस) भी है। घृणा, प्रतिहिंसा, विरोध, आक्रामकता फ्रायड के सिद्धान्त में जीवन के मूल प्रस्थान-विन्दु हैं, जिनके ऊर्जा-केन्द्र (सेन्टर ऑफ एनर्जी) और शक्ति-प्रवाह का नाम है 'लिबिडो' या कामभाव।

आक्रामकता को आधुनिक मनोविश्लेषकों ने भी प्रधान प्रवृत्ति माना है। **फ्रंज अलेक्जेंडर** (१९४२) ने आक्रामकता को तो स्वीकार किया, पर उसके मूल मे शिशु की मातृरतीच्छा के स्थान पर माता पर अधिकारेच्छा की वृत्ति बतलायी। **कार्ल मैनिंजर** (१९३८) ने फ्रायड की मरणेच्छा की प्रवृत्ति से सहमति प्रकट कर यह प्रतिपादित किया कि तत्सबधी आक्रामकता में ही उदात्तीकरण संभव है, न कि लिबिडो मे।

इस प्रकार फ्रायड ने यह प्रतिपादित किया है कि दमित ग्रंथियाँ ही धर्म, कला, काव्य, विज्ञानादि के समस्त क्रिया-कलाप में किसी न किसी प्रकार से प्रकट होती है। वास्तविक जीवन की कटु यथार्थताओं के प्रति घोर विक्षोभ ही काव्यकलादि का प्रेरक है, जहाँ हम मिथ्या संसार निर्मित कर प्रकारान्तर से दमित इच्छाओं की पूर्त्ति कर लेते हैं। 'कला का भ्रम (इल्यूजन) उत्प्लवी कल्पना-निर्मिति (फैंटेसी) है; इस फैंटेसी के सुखराग के शीर्ष में उनके उपभोग का आनन्द है।'[६१] अतएव, कला-काव्यादि मीठा नशा है, जीवन की कठोरता से क्षणिक पलायन है।

फ्रायड की यह स्थापना कि—समस्त चेतन-क्रियाओं के मूल में अवचेतन है और चेतन मानस के विचार, कल्पना, इच्छा अवचेतन के ही कुछ विरूपीकृत एवं कुछ उदात्तीकृत प्रतिरूप है ; तथा यह स्पष्टीकरण कि अवचेतन क्या है, कैसा है, क्यो है, इस संबध में हम कुछ नही जानते; जानने पर वह अंश चेतन हो उठता है; अतएव अवचेतन हमारे हाथ के बाहर है, और उसके लिए हम उत्तरदायी नही; उसका जो विरूपीकृत अथवा उदात्तीकृत रूपान्तर प्रकट होता है, उसके लिये भी हम जिम्मेदार नही, चेतन क्रिया तो आन्तरिक अवचेतन-यत्र के परिचालन की आग और धुँआ मात्र है—वैज्ञानिक चिंतन को कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्षो पर पहुँचाती है। इस मान्यता से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वतंत्र नहीं; वह मूलभूत अन्तर्वृत्तियों, अवचेतन की प्रेरणाओ से चालित है।

इस प्रकार मनोविश्लेषण मनुष्य की चेतना को अवचेतन से परिचालित मानता है, उसकी धारणा मे मनुष्य सामने से आकृष्ट नही होता, पीछे से धकेला जाने वाला प्राणी है। कल्पना जिन्हे उत्तम एवं वरेण्य निर्धारित करती है, मनुष्य उनके विवेकपूर्ण सफल सम्पादन के लिये प्रेरित नही माना जाता, अपितु वह पीछे की अपरिमित, दुर्धर्ष एवं तर्कातीत इच्छारोगों से परिचालित माना जाता है। निष्कर्षतः मनोविश्लेषण के द्वारा फ्रायड ने १– नियतिवाद (डिटरमिनीज्म) और २– अविवेकवाद (इर्रेसनलिज्म) की प्रतिष्ठा की। फ्रायड के सिद्धान्तों और प्रयोगों से मनोविश्लेषक उसके जीवन-काल से ही भिन्न मत रखते आ रहे हैं। परन्तु सभी फ्रायड को संस्थापक, प्रवर्त्तक और दीक्षा-गुरु-रूप में मान्यता भी देते आये हैं। फ्रायड के समकालीन युग और ऐडलर यद्यपि कुछ समय तक उनसे प्रभावित-दीक्षित रहे, सहयोगी सहायक रूप में काम भी किया, परन्तु दोनों ने अपनी अलग-अलग स्थापनाएँ प्रस्तुत की एवं वर्ग अथवा स्कूल कायम किए।

कार्ल गुस्ताफ युंग का सिद्धान्त और कल्पना—स्विजरलैंड के जुरिश शहर मे **यूजेन ब्ल्यूयर** नामक मनोरोग के चिकित्सक के नवयुवक सहायक **कार्ल गुस्ताफ युंग** (१८७०-१९६१) थे। उन्होंने १९१२-१३ ई० मे फ्रायड से पृथक् होकर अपनी स्थापनाएँ अलग घोषित की और 'ऐनालिटिकल साइकॉलॉजी' नाम से अपना वर्ग स्थापित किया।

युंग के सिद्धान्त विश्लेषण पर आश्रित हैं, उनके प्रयोग, उपचारादि मे भी विश्लेषण पर बल है। युंग ने 'लिबिडो' या आन्तरिक ऊर्जा की जो प्रकल्पना की थी वह अधिक विशद, गभीर और शुद्ध है। फ्रायड द्वारा उद्भावित 'लिबिडो' कामवृत्तिमूलक है, परन्तु युंग द्वारा प्रकल्पित 'लिबिडो' काममूलक नही। दूसरी बात यह है कि वह शूपेनहावर द्वारा वर्णित 'जीवनेच्छा (विल टु लिव) और बर्गसाँ प्रकल्पित 'एलाँ वितल' का प्रायः समानार्थी है। तीसरी बात यह, कि इस 'लिबिडो' की प्रवृत्ति में अनेक प्रकार की द्विध्रुवीयताएँ सिद्ध की गई हैं, जैसे अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी वृत्ति की द्विध्रुवीयता, चेतन-अचेतन की द्विध्रुवीयता, पुंस्त्व-स्त्रीत्व की द्विध्रुवीयता, चिंतना और भावना की एवं संवेदन और प्रज्ञा (इन्ट्यूशन) की द्विध्रुवीयताएँ आदि। युंग की द्विध्रुवीयता-प्रकल्पना से प्रभावित होकर फ्रायड ने भी अपनी पूर्वोद्भावित आत्मकेन्द्रित लिबिडो (सेल्फ लिबिडो) और वस्तुनिष्ठ लिबिडो (आब्जेक्ट लिबिडो) को प्रशस्त कर जीवनवृत्ति और मरणवृत्ति (इरॉस एव थेनेटॉस) की द्विध्रुवीय प्रवृत्तियाँ प्रकल्पित की थी। चौथी बात यह कि युंग ने अपनी पुस्तक 'साइकॉलॉजी ऑफ दि अनकान्शस' (१९१२) में यह स्पष्ट किया है कि लिबिडो का प्रवाह द्वि-आयामी है, अर्थात् जैव सहज प्रवृत्तियों की भाँति यह सहज प्रवृत्यात्मक रूप में प्रवहमान है, एवं साथ ही साथ आध्यात्मिक रूप मे यह उर्ध्वमार्गी भी है। इसके विपरीत, फ्रायड यह मानते ही रहे कि आध्यात्मिक प्रक्रियाएँ सहजप्रवृत्तियों के मात्र उप-प्रवाह हैं। युंग की धारणा थी कि प्रकृति मात्र भूतसमष्टि नही; वह आत्मशक्ति-रूप भी है।

फ्रायड के अनुसार 'अवचेतन' प्रधानतः दमित तत्वों से परिभाषित था, अतएव मूलतः शैशव से सम्बद्ध था। युंग की दृष्टि से 'अचेतन' 'उप-चेतन परिशिष्ट' (सब-कॉन्शस एपेंडिक्स) नही है, और न चेतन मानस का कूड़ाखाना है। उनके अनुसार वह अधिकांशतः स्वायत्त मानस-संस्थान है जो एक ओर तो चेतन-मानस की भ्रान्तियों और एकपक्षता की व्यावहारिक क्षतिपूर्ति करता है, और दूसरी ओर आवश्यकता पड़ने पर उनमें जबर्दस्ती भी सुधार लाता है। इस अर्थ में 'अचेतन' चेतन का अतिक्रमण करता एवं भविष्य की चेतन-प्रक्रियाओ के लिये अपने प्रतीको के द्वारा प्रारूप तैयार करता है। अतएव इसे 'अतिचेतना' भी कह सकते है। युंग ने यह स्पष्ट कर कि 'अचेतन मानस' चेतन का नियमन भी करता है उसे निरुपाधि मनीषा

(आब्जेक्टिव साइके) नाम भी दिया है। अतः युग-प्रकल्पित अचेतन दमित यौनाकांक्षाओ एवं अधिकार-लिप्साओं का पुंज नहीं है; अपितु चेतन-मानस का मूल तंत्र (मैट्रिक्स) है, मन का शक्तिशाली एव रचनात्मक स्तर है। व्यक्तित्व के संघटन के लिए समस्त तत्वो से युक्त एवं सघटनोपयोगी वास्तविक आवश्यकताओं के उच्च ज्ञान से संबलित यह 'अचेतन' अधिक ऊर्जा-सम्पन्न, सशक्त और सर्जनात्मक चेतना है।

अतएव 'कल्पना' के समस्त क्रियाकलापों को समझने के लिए इस 'अचेतन' का परिचय आवश्यक है। युंग ने अचेतन के कई स्तर प्रकल्पित किए हैं, जिनमे १– व्यक्तिगत अचेतन, एवं २–सामूहिक अचेतन प्रधान हैं। १–युंग की शब्दावली में व्यक्तिगत अचेतन की परिभाषा है, 'व्यक्तिगत जीवन का समस्त अर्जन—अतएव विस्मृत, दमित, अर्ध-प्रतीतीकृत वे सारे तत्त्व जिन्हें सोचा या महसूस किया गया है।' व्यक्तित्व के पूर्ण संघटन के लिये पहला कदम है कि व्यक्तिगत अचेतन के तत्त्वों को समाहित किया जाय–अर्थात् व्यक्तिगत जीवन में दमित उन इच्छाओ, भीतियो एवं अन्य प्रवृत्तियो को पचा लिया जाय जो स्वभाव (इगो पर्सनेलिटि) से मेल नही खाते, चाहे शैशवजन्य होने के कारण, चाहे विक्षोभकारी होने के कारण अथवा अन्य कारणों से। जब तक ये पच नही जाते, सामूहिक अचेतन के संवर्धमान और रचनात्मक तत्त्वों को समाहित करना असभव है। २–सामूहिक अचेतन, चेतोदय के पूर्व का मानस है। उसका उन्मीलन 'आर्केटाइप' के बिम्बों के माध्यम से होता है। सामूहिक अचेतन 'स्व'-इतर एव अ-स्व (नन-इगो) है तथा चेतना का जनक माना जाता है।[६४]

आद्यबिम्ब अथवा आर्केटाइप :—आर्केटाइप का अर्थ है मानस पर पड़ा अकन, छाप या चिह्न, जो आदिम है। निजी माता की धारणा के पीछे, मातृत्व की भावना का जो अलक्षित बिम्ब है, वह अचेतन का एक प्रतीक है, 'आर्केटाइप' है। 'आर्केटाइप' बिम्ब तो है पर वह अचेतन का अत्यधिक पुरातन, 'आदिकालीन बिम्ब' है। चेतन मानस निज प्राक्-चेतन मानस से कुछ अलग रहता है। अतएव दोनों मे एक प्रकार का तनाव भी रहा करता है, जिसे दूर कर दोनो को एकीकृत करने के उद्देश्य से, अचेतन निरन्तर, जैसे, बिम्ब-सर्जन करता रहता है। यह प्रक्रिया चेतन की नहीं, अपितु सहजवृत्ति की प्रेरणा से होती है। इस कारण आद्य बिम्ब की प्रक्रिया सहज-

प्रवृत्यात्मक ढंग की होती है, उसी भांति अन्त:प्रेरित, उसी की तरह सहज एव अबोधपूर्व, तथा तत्समान जैव एवं मनोवैज्ञानिक अभियोजन के लिये तत्पर। आद्यबिम्ब-प्रक्रिया आन्तरिक अनिवार्यता है, ठीक वैसी ही जैसी कांट के शब्दों में सहज-प्रवृत्तियाँ 'आन्तरिक-विवशताएँ' है। युंग ने आद्य-बिम्बों को अचेतन की उद्दीपकों के प्रति वंशानुक्रमप्राप्त प्रवृत्तियाँ माना है। ठीक जैसे स्फटिकों (क्रिस्टल्स) के उद्भव में नाभिस्थानीय संस्थान ही यह पूर्व ही निर्धारित कर देता है कि समस्त संतृप्त (सेच्युरेटेड) घोल में स्फटिकों की बाह्य रूपरेखा क्या होगी, परन्तु उस नाभिस्थानीय संस्थान की कोई भौतिक सत्ता नही रहती, और न वह प्रत्येक स्फटिक की साक्षात् मूर्त्तता का निर्देश करता है, उसी प्रकार आद्य बिम्ब मे एक नाभिस्थानीय मूलार्थ रहता है जो बाह्य बिम्बो के उद्भव और उनकी सामान्य रूपरेखा का (मात्र सैद्धातिक, न कि ठोस, निर्देशात्मक) संकेतक है। आद्य बिम्ब जीवन-पूर्व एव व्यापक तत्व है; वह सामूहिक अचेतन में संभाव्य रूप में निवसित है, तथा चेतना के चापवश उद्भूत हो उठता है। अतएव कह सह सकते है कि, आर्कटाइप या आद्यबिम्ब की चिरन्तन विद्यमानता है। लैप्टो का आदि-बिम्ब या प्रत्यय और प्लॉटिनस का 'आर्कटाइप' अतिमावादी, भावनाजन्य था। वही आदि-बिम्ब उर्ध्वचेतना से नीचे लाया जाकर मनोविश्लेषण की तल-चेतना में निबन्धित हुआ। [६५]

परन्तु युंग ने मूल सहज भावना के रूप में धर्म भावना स्वीकार की, उन्होंने मानस को 'नेचरलाइतर रेलिजिओसा' अर्थात् प्रकृत्या धर्मप्रवृत्त माना। मनुष्य की आद्य बिम्बात्मक अनुभूतियो मे प्रबलतम अनुभूति ईश्वर की है। इस आद्यबिम्ब में अचेतन मानस और चेतन मानस का द्विध्रुवीय वैधर्म्य मिट कर सम हो उठता है। ऐसा स्वत संभव होता है, न कि ऐच्छिक रूप मे। युग ने इस प्रक्रिया को 'आत्मोपलब्धि' 'व्यक्तिता की सम्प्राप्ति' नाम दिया है। अर्थात् वह ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य को एक अद्वितीय, अखंड इकाई मे पूर्ण सत्तावान् व्यक्ति बनाती है। फ्रायड ने जीवन को जहाँ स्वीकरण और वर्जन के गज-ग्राह में विपन्न और आर्त्त प्रकल्पित किया था, वहाँ युंग ने उसे सतत विकास-शील, प्रगतिपूर्ण और लक्ष्योन्मुख माना है। [६६]

फ्रायड ने व्यक्तित्व को तीन खंडो में प्रकल्पित किया था—१–इगो (अहं) २–सुपर-इगो (अत्यह) एव ३–इद (अनु-अह)। सभ्य-सुसंस्कृत रूप में

'इगो' जो होना चाहता है, उसकी कल्पना 'सुपर-इगो' है। इसकी सम्प्राप्ति के लिए बुद्धि को 'इद' में निवसित आदिम इच्छाओ, अभिप्रेरणाओ से सदा सघर्ष करना और उन्हें दबाना पड़ता है। सभ्यता की जटिलता के साथ यह संघर्ष और भी घोर होता चलता है और मनोरोग भी बढ़ता जाता है[५७]। यह द्वन्द्व ऐसा विकट है, कि फ्रायड ने 'बियोंड दि प्लेजर प्रिंसिप्ल' नामक लेख मे बतलाया है कि—'मनुष्य के विकास की व्याख्या के प्रारूप पशु से भिन्न रूप मे करने की आवश्यकता नही।' युंग की मानव-कल्पना फ्रायड की भूतवादी एवं जैव सहजवृत्यात्मक कल्पना से अधिक विशद, पूर्ण एव मांगलिक है। युंग के द्वारा व्यक्ति का सकल मानस चेतन एव अचेतन दोनों की परिपूरकता में गठित माना गया है।

फ्रायड की स्थापना और युग की मान्यता में जो अन्तर है, उसके फलस्वरूप दोनो के प्रयोग, साधनादि में भी भेद आ गये हैं। फ्रायड मूलतः खण्डनात्मक प्रक्रिया पर बल देते हैं, युंग विश्लेषणात्मक होकर भी सश्लेषणपरक हैं,—'विश्लेषण के अनन्तर सदा संश्लेषण होता है और जो तलीय धरातल पर विखंडित किया गया है वह सदैव उच्च स्तर पर संश्लिष्ट हो उठता है'—ऐसा युंग का स्पष्ट मंतव्य है।[५८] दूसरी ओर फ्रायड पीछे लौटने वाले हैं, युंग अग्रगामी। फ्रायड गलतियों, दिवास्वप्नों, स्वप्नों, मिथकों आदि कल्पना-रूपों का विवेचन वस्तुनिष्ठ भौतिकता एवं जैविक धरातल पर अधिक करते हैं, युंग उनकी व्याख्या आत्मनिष्ठ अन्तरंगता एवं चैतन्य वर्तमान मानस के धरातल पर। फ्रायड स्वप्न का विश्लेषण कारण जानने को करेंगे, युंग अर्थविनिश्चय-हेतु। फ्रायड पूछेंगे—स्वप्न किस कारण घटित हुआ? वह किसका लक्षण है? युंग का प्रश्न होगा—स्वप्न का मूलार्थ क्या है? यह किसका प्रतीक है? फ्रायड स्वप्न को मनोदैहिक रोग-जैसा, ग्रंथि या कुंठा की अभिव्यक्ति; मानते हैं पर युंग उसे अचेतन की नैसर्गिक और रचनात्मक आत्माभिव्यक्ति मानते हैं। फ्रायड की विधि 'निर्बाध सहचार' की है, युंग की नियत्रित अथवा केन्द्रित सहचार की। सारतः फ्रायड अपराध और रोग का निर्धारण करेंगे और युंग यह बतलायेंगे कि अचेतन ऊर्जा-शक्तियाँ स्वप्नद्रष्टा के वर्तमान जीवन की समस्या पर कैसे मंगलप्रद रूप में सक्रिय हो गई हैं।[५९]

अचेतनगत कल्पना-निर्मितियाँ : बिम्ब और प्रतीक :—कल्पना मे अनेक बिम्ब बार-बार तिर आते हैं। स्वप्नो मे भी गूढ़ार्थ से युक्त ऐसे बिम्ब आवृत्त

होते रहते है। फ्रायड स्वप्नादि के बिम्बो-प्रतीकों को उन वस्तुओं-विषयादि का स्थानापन्न मानते है जो किसी कारण स्वतः नही आते, किन्तु अपना काम प्रति-रूपो के द्वारा कर लेते हैं। युंग की दृष्टि मे प्रतीक इस प्रकार के चिह्न नहीं हैं। वे ऐसे तत्त्वों के स्थानापन्न नहीं हैं, जो विवेक के शब्दो द्वारा प्रकट किये जा सकते थे। 'छडी' फ्रायड के लिए यौन-क्रिया-सम्बद्ध इन्द्रिय के लिये प्रतीक है; अर्थात् वह तद्स्थानीय सकेत या चिह्न भर है। फ्रायड के मतानुसार प्रतीक उतना ही अभिव्यक्त करता है जितना दूसरे शब्दों के द्वारा एव विवेकपूर्ण ढग से भी होता। फ्रायड के प्रतीक अधिक के सूचक नही होते; बौद्धिक शब्दों मे इतर के व्यंजक भी नहीं। युंग की मान्यता में वास्तविक प्रतीक—जैसे ईसाई मजहब में 'सूली'—बौद्धिक शब्दों एवं यथार्थ ज्ञात तथ्यो से अतिरिक्त अनेक अर्थ-संदर्भों के व्यंजक होते हैं। अतः, फ्रायड के प्रतीक जड चिह्न हैं, युंग के प्रतीक नही; अपितु वे गत्वर अनुभव हैं। जहाँ अनुभव की व्यंजकता के लिये प्रतीक अनिवार्य हैं वहाँ वे अद्वितीय हैं। अभिव्यक्ति के अन्य साधन कदापि विवक्षित अर्थ ध्वनित नहीं कर सकते। प्रतीक को विद्यु्त्-तरंग-जैसे अर्थ-स्पन्दन इस आनुरूप्य से प्राप्त होते हैं कि वे अपने बिम्बों से वैसी अनुभव-राशियों का ध्वनन करते हैं, जो अपनी जटिलता एवं संघटन की अद्वितीयता के कारण बौद्धिक व्याख्या की पकड़ मे आ ही नही सकते। प्रतीकों का पूर्ण विश्लेषण और व्याख्या हुई नहीं कि वे अपना मौलिक प्रतीकत्व खो बैठेंगे। रश्मितरंगों या विद्युत्-वलय की भाँति ही प्रतीको की भी उदय-क्रिया नैसर्गिक घटना है, जिनके समुद्भव का ऐसा प्रगाढ़ प्रभाव चेतन मानस पर पडता है कि उसका समाकलन प्रायः असंभव है। प्रतीक अत्यंत प्राचीन कालीन महाघटनाओ की, आद्य-बिम्बात्मक घटनाओं की किंचित् स्फुट व्यजना है—वैसी घटनाओ की जो विभेदीकरण अथवा बौद्धिकीकरण के पूर्व हुई थीं। इस प्रकार प्रतीक आद्यबिम्ब की शक्ति-तरगों को चेतन मन में प्रवेश करा देते हैं और अवि-भेदीकृत एव आदिम 'लिबीडो' का नियमन करते हैं। प्रतीक वैसे अमूल्य साधन हैं जिनके माध्यम से हम ऊर्जा की सहज-प्रवृत्यात्मक प्रवाह-प्रक्रिया का प्रभविष्णु उपयोग कर लेने के लिये सक्षम होते हैं **। धर्मों में एवं कला-काव्यादि में मिथकीय बिम्ब-प्रतीक का जो महत्त्व है, वह इस कारण कि वे अमूर्त्त फिर भी मूर्त्त (इनडेफिनिट ऐंड येट डेफिनिट) एवं द्युतिमान प्रतीक हैं जो मानस-प्रक्रिया को प्रत्यय (कान्सेप्ट) से भी अधिक

आनुरूप्य विशिष्टता के साथ तथा अधिक प्रशस्तता और स्पष्टता के साथ व्यंजित करते हैं। क्योंकि प्रतीक केवल उस प्रक्रिया का पुनरावृत्यात्मक रूप संकेतित नहीं करते, किन्तु साथ ही साथ, जो सम्भवत: समानरूप मे महत्वपूर्ण है, हमें उस प्रक्रिया का समभागी होने, उसकी अनुभूति मे तादात्म्य के द्वारा सजीवित होने के योग्य बनाते है। ऐसी प्रक्रिया में सांध्य धूमिलता-जैसी रहस्याच्छन्नता रहती है। इसका सम्यक् बोध तभी सभव है जब हम सह-अनुभूतिपूर्वक समभागी होते है। ...बुद्धि द्वारा भारी-भरकम हाथ बड़ा कर उसे विस्पष्ट करने के प्रयास से यह संभव नहीं है[७१]।

आल्फ्रेड ऐडलर और प्रभुत्वकामना :—

दूसरे विख्यात मनोविश्लेषक व्हिएना के अल्फ्रेड ऐडलर (१८७०-१९३७) हुए। ऐडलर ने फ्रायड के काममूलक अवचेतन और युंग के जातीय स्मृतिमूलक सामूहिक अचेतन के स्थान पर व्यक्तिनिष्ठ अवचेतन को प्रधान माना है। यही नही, उसने फ्रायड के 'लिबिडो' के स्थान पर 'इगो' (अह) को जीवन की मूल प्रेरक शक्ति मानने पर बल दिया। फ्रायड से अलग होकर उसने 'इनडिविडुअल साइकलॉजी' नाम से अपना पृथक् वर्ग स्थापित किया था।

फ्रायड ने 'बालद यौन-वृत्ति' के महत्व का जो आख्यान किया था, उसे ऐडलर ने शिशु की सहज व्यवहार-क्रिया की खीचातानी से प्राप्त व्याख्या बतला कर, बाल-व्यवहार-प्रणाली में प्रभुत्व, विरोध और प्रभुत्वलिप्सा की वृत्ति को महत्वपूर्ण माना है। शिशु अपने को अन्यों से दुर्बल और सामर्थ्यहीन समझता है। इस हीनता की भावना की क्षतिपूर्ति के लिए वह यथासभव अपनी शक्ति या सत्ता दूसरों पर अंकित करना चाहता है। अधिकारेच्छा, शक्तिमत्ता की भावना, दूसरों पर प्रभुत्व जमाने की कामना इसी हीन-भावना की क्षति-पूर्ति है। इस प्रकार ऐडलर ने यौन-वृत्ति को जीवन की मूल प्रेरक वृत्ति न मान कर, प्रभुत्व-कामना को मूल प्रेरक तत्व स्वीकार किया। फिर भी उसने यौन वृत्ति को पूर्णत: नकारा नही। जीवन-समस्या त्रिआयामी है—सामुदायिक, जीविकागत, यौनवृत्तिमूलक। इनमें यौन-वृत्ति का भी महत्व स्वीकृत है, पर व्यक्ति पहले सामुदायिक या सामाजिक वृत्ति से प्रेरित एव अभियोजित होता है। उसकी माता-पिता और परिवार से सम्बद्ध,

पड़ोसी और मुहल्ले तथा इसी प्रकार समाज और राष्ट्र से सम्बद्ध सामाजिक अभियोजना ही वैसी व्यवहार-प्रणालियो के संरूप (पैटर्न) प्रस्तुत करती है, जो उसे अन्य समस्याओं के प्रति सन्नद्ध होने के विधि-विधान द्वारा नियोजित करते है। सामाजिक अभियोजना के लिये ऐडलर ने भी अभिप्रेरणा या प्रवृत्ति में द्विध्रुवीयता की प्रकल्पना की है। शिशु माता को तंग भी करता है (प्रभुत्व कामना का प्रकार) और उसके लाड़-प्यार से अनुशासित हो, उसके समक्ष दब भी जाता है, (हीन भावना का प्रकार)। व्यक्ति एक जीवन शैली (स्टाइल ऑफ लाइफ) का विकास कर लेता है। व्यक्ति की 'जीवनशैली' का अनुसंधान कर लेने पर ही उसकी इच्छा, चितना, कल्पना, प्रवृत्ति आदि का पता चल सकता है तथा मनोरोग का निदान भी संभव है। 'जीवनशैली' व्यक्ति के खड़े होने, बैठने, सोने, प्रणाम करने की मुद्राओं-भगिमाओं से लेकर समस्त चितनादि व्यापारो से सबद्ध क्रिया-कलाप से सूचित होती है।[७२]

आधुनिक मनोविश्लेषक :—

फ्रायड की स्थापनाओ मे जीवविज्ञानी आदिम तत्व अधिक हैं, युंग की सस्थापनाओं में दार्शनिक आध्यात्मिक तत्व की प्रबलता है।[७३] ऐडलर के मतव्यो मे सामाजिकता के (आवेष्टनगत) महत्व का निदर्शन है। इनके सशोधनात्मक सश्लेष द्वारा आधुनिक नव्य-फ्रायडवादियों ने मनोविश्लेषण को जीवविज्ञान की ओर से समाजविज्ञान की ओर मोड़ लिया है। ऐसे मनो-विश्लेषको में **ऐब्राम कार्डिनर** और **एरिक फ्रौम** सांस्कृतिक दृष्टि पर बल देते है एवं **केरेन हार्नी** सामाजिकता को महत्वपूर्ण समझती हैं। केरेन हार्नी ने ऐडलर की 'जीवन-शैली' की भाति चारित्रिक संरूप (कैरेक्टर-स्ट्रक्चर) पर बल दिया है जिसका विकास शैशव से करता हुआ व्यक्ति आवेष्टन के प्रति अभियोजित होता चलता है। उन्होंने व्यक्ति की आन्तरिक रचनात्मक शक्तियों का महत्व भी स्वीकार किया है एवं जीवन के द्वन्द्वों के मूल में आधुनिक जगत् की अपार विषमता और तज्जन्य पारस्परिक तनाव को माना है। इस प्रकार उनकी मान्यताएँ फ्रायड की काममूलक मान्यताओं से पृथक् एवं अधिक समाजोन्मुखी और विकासात्मक हैं।[७४]

मनोविश्लेषण का विचार-जगत् पर प्रभाव

संसार की चिन्तन-धारा पर मनोविश्लेषण की अनेक उपलब्धियों का बड़ा ही जटिल और व्यापक प्रभाव पड़ा है। उन प्रभावों को दार्शनिक जोड[७५] ने दो शीर्षकों के अन्तर्गत समेट लेने का प्रयत्न किया है, जो हैं— १—नियतिवाद और २—अविवेकवाद। इनके विभिन्न रूप नाना प्रकारों से काव्य-कलाओं की मूल अनुभूति की स्फुरणा, वैचारिक-बौद्धिक आयाम एवं शिल्प-शैली आदि अभिव्यंजन-विधियों की कल्पना को प्रेरित प्रभावित कर गये हैं। प्रारंभ में पाश्चात्य कला-जगत् पर फ्रायड का प्रभाव युगान्तरकारी पड़ा। उसने संसार की प्रभूत कला-कृतियों, धार्मिक मान्यताओं एवं स्थापत्यों तथा काव्यादि का अध्ययन कर अवचेतन-मानस के क्रिया-व्यापार का जैसा तलस्पर्शी उद्घाटन किया था, उससे काव्य-कला, धर्म, मिथक आदि के अनुशीलन और सर्जन को नया आयाम मिला। एक अपार रहस्यलोक का भेद खुलने-सा लगा। कल्पना अधिक स्पष्ट, प्रखर और यथार्थ (वस्तुतः स्वीकृत मान्यताओं की दृष्टि से विरूप और नग्न) चित्रण में प्रवृत्त हुई। मनुष्य न तो पूर्णतः उदात्त और न सम्पूर्णतः उद्धत, न घोर तामस चरित्र का, न परम सात्विक उज्ज्वल चरित्र का कल्पित होने लगा; साधारणता पर बल दिया जाने लगा; स्वीकारात्मकता, साफगोई और बेलौस अक्खड़ता की प्रवृत्ति आयी; आडम्बर के स्थान पर नग्न सत्यता, प्रदर्शन के स्थान पर प्रकृत यथार्थता, छिपाव और दुराव के स्थान पर खुलेपन की विशेषता पनपने लगी, सत्तादंभी के अहं पर कटु प्रहार करने की साहसिकता और आत्माभिव्यक्ति मे निजीपन लाने की अदम्य वैयक्तिकता की प्रवृत्ति प्रबल हुई। नियतिवाद और अविवेकवाद के ही ये प्रकारभेद हैं, जिन्हे वैचारिकता की दृष्टि से संशयवाद, सत्ता-विरोधवाद, भाग्यवाद, तात्कालिक सुखोपभोगवाद, व्यक्तिवाद आदि के नाम दिए जाते हैं। काव्यकलादि की प्रवृत्तियों में इनका पृथक्-पृथक् विनियोग हुआ और उनसे अनेकानेक वादों का जन्म हुआ; जिनका विवेचन आगे के अध्यायों में होगा। सारतः यहाँ इतना ही ध्यातव्य है, कि मनोविश्लेषण ने काव्यकलादि की कल्पना को नये आयाम दिए—बड़ी ही गहरी और जटिल दृष्टि दी; नयी प्रवृत्ति दी—अवचेतन, उपचेतन, सामूहिक अचेतन की; अगाध, अनन्त मानस-जगत् दिया—मन के नानास्तरीय अद्भुत लोक, शिशु और बाल-मानस का रम्य संसार, विगत सभ्यताओं के अवशेषों मे लिपटा पुरातन

रहस्यमय जगत्, अर्द्ध-सभ्यों-असभ्यो के रीति-रिवाजों, क्रिया-कल्पों के मूल मे रहने वाला आदिम मानस का अनादि विश्व, प्रत्यक्ष कल्पित भावलोक के अन्तराल में व्यजित एव साक्षात् दिवास्वप्नो, स्वप्नों, मिथको, आदि मे स्फुट कल्पनामय विलक्षण दृश्य आदि। वस्तुतः, मनोविश्लेषण ने काव्यकलादि और मानवीय चिन्तन को जिस प्रकार से आलोडित किया है, तथा उसका जैसा गंभीर और जटिल प्रभाव उनको आच्छन्न किए हुए है, उन सबका विश्लेषण-अनुशीलन कठिन अवश्य है।

आधुनिक हिन्दी काव्य-धारा पर प्रभावः—

भारतीय काव्यकला एवं चिन्तन-धारा पर भी मनोविश्लेषण का व्यापक प्रभाव पडा है। भारतीय दृष्टि से युंग की मान्यताएँ यहाँ की चिन्तन-धारा के अधिक निकट है। **बाबू गुलाब राय** का भी यही अभिमत है: 'युंग मेरी समझ से भारतीय दृष्टिकोण के अधिक निकट आता है। उपनिषदो में यद्यपि पुत्रषणा (काम), वित्तेषणा (अर्थ) और लोकेषणा (यश) को प्रेरक शक्तियों के रूप में माना है, तथापि इनको नीचा स्थान दिया है और आत्मप्रेम को सब क्रियाओं का मूल कारण माना है। 'सहोवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।'......'न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।'.... कामवासना और प्रभुत्वकामना दोनों ही आत्मप्रेम के नीचे रूप हैं। दोनों में ही आत्मरक्षा की भावना ओतप्रोत है।........हम चाहते हैं सहृदयता और सहानुभूति द्वारा भेदभाव को तिरोहित कर आत्मा के अखण्ड चिन्मय आनन्दमय रूप की स्वानुभूति ......यही आत्मानुभूति आत्मरक्षा का क्रियात्मक रूप धारण करती है' .....'जीवनलालसा तो है ही, मरणलालसा भी इसीका रूप है।' (सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० ६३) यह आत्मानुभूति ही विशदीभूत रूप में 'भूमा' अथवा 'विराटता' की अनुभूति है, यानी स्वार्थ परार्थ और परमार्थ में विशद होता है, 'स्वान्तः सुखाय' 'जनहिताय' का पर्याय हो उठता है। मनोविश्लेषण का व्यापक प्रभाव दृश्य या द्रष्टव्य पर पड़ा......काव्य, कला, धर्मादि पहले स्वयं अध्येतव्य थे, अब जीवन को समझने के मात्र साधन हैं।[७५] फलस्वरूप साहित्य में यथातथ्यता और खरी यथार्थवादिता आयी। परन्तु इस नये दृष्टिबोध पर विज्ञान और अर्थशास्त्र के भी प्रभाव थे—यानी डारविन के सिद्धान्तों, पदार्थ-विज्ञान के भौतिक तत्त्वों और प्रकाश-किरणों के

सम्बन्ध मे नवीन उपलब्धियों, मार्क्स-ऐंजिल्स आदि के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एवं तत्संबंधी विचार-धाराओ आदि के भी प्रभाव थे।

मनोविश्लेषण और पदार्थ-विज्ञान एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से आभ्यंतर मानस जगत्, बाह्य जगत् एवं विचार-वृत्ति-प्रवृत्ति में जो परिवर्तन आया वह लगभग १९३० ई० के आसपास पहले-पहल प्रगतिवाद के रूप में स्फुट हुआ, परन्तु यह नाम उसको मिला १९३६ के आसपास। तदुपरान्त प्रगतिशील कविता धरती पर आने लगी, यथा—

पंत—

बाँसों का झुरमुट; सन्ध्या का झुटपुट, है चहक रही चिड़ियाँ टी-वीटीट्‌ट्-ट्‌ट्।

... .

ताक रहे हो गगन? देखो भू को। जीव प्रसू को—स्वर्गिक भू को
चींटी है प्राणी सामाजिक, वह श्रमजीवी वह सुनागरिक।

... ..

लो छन छन छन छन थिरक गुजरिया हरती मन।
वह काम शिखा सी रही सिहर, नट की कटि में लालसा भँवर
कँप कँप नितम्ब उसके थर-थर भर रहे घटियों में रति-स्वर
उर की अतृप्त वासना उभरे इस ढोल मंजीर के स्वर पर
प्रिय जन को उत्सव अवसर—लो छन छन छन छन छन छन चतुर गुजरिया हरती मन।

निराला—

गर्म पकौड़ी—ऐ गर्म पकौड़ी। तेल की भुनी नमक-मिर्च की मिली, ऐ गर्म...
पहले तूने मुझको खींचा, दिल लेकर फिर कपड़े-सा फींचा,

... ...

जात की कहारिन वह मेरे घर पनिहारिन वह...उसके पीछे मैं मरता हूँ।
ब्रह्मन का लड़का...मै उसको प्यार करता हूँ।

... ...

आँख पड़ी युवती पर आई थी जो नहा कर
उठे पुष्ट स्तन, दुष्ट मन को मरोड़ कर
आयत दृगों का मुख खुला हुआ छोड़ कर
वर्तुल उठे हुए उरोजों पर अड़ी थी निगाह
चोंच जैसे जयन्त की, नहीं—जैसे कोई चाह देखने की मुझे और,
कसे भरे दिव्य स्तन, हैं ये कितने कठोर।

... ...

राक्षस विशालकाय आध्यात्मिक नसों का खून चूसता हुआ।
पास का मेढक थाले के पानी से उठ कर मूतमूतकर छलांग मारता चला गया।

निराला और पंत की ये कविताएँ मनोविश्लेषण, पदार्थ-विज्ञान और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के काव्य में प्रवेश की कई विधियों और प्रकारों को सूचित करती हैं। सच पूछा जाय तो निराला के 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते', ऐसे काव्य-संग्रह है, जो अपने मुँहफट बेलौसपन, अन्तःचेतनावादी ललकारते स्वर, यथार्थवादी काव्य-शिल्प-शैली के लिये और साथ ही साथ सांस्कृतिक परम्परा के निर्वाह के लिए आज भी महत्त्वपूर्ण हैं।

उपर्युक्त कविताओ के कामवृत्ति के बिम्बों में छिपाव-दुराव नही है और न ओछी जड़ता ही है। परन्तु, धीरे-धीरे चित्रण स्थूल, मांसल, और इन्द्रियोत्तेजक होता गया।[७७] बच्चन, अचल, अज्ञेय (सावन मेघ), शकुंतला माथुर, (पूर्णमासी रात भर) एवं अन्य अनेक कवियो में ऐन्द्रियिकता प्रथमतः उग्र और तीखी हो कर उभरी। फ्रायड का यौनवाद भारतीय धर्मादि के शास्त्रो के आप्त वाक्यो से भी सपुष्ट किया जाने लगा, उदाहरणस्वरूप 'रमग' की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> पाते ही पाते उभार जिनकी छातियाँ—
> बन गयी बैशाख की जुआई ढली ककड़ियाँ। —मास्को

अनन्तर, काव्य-कल्पना धीरे-धीरे देहवाद और भोगवाद से पर्युत्थित हो कर कामाध्यात्म में उदात्तीकृत हुई, यथा—'दिनकर' की 'उर्वशी, मे। अचेतन-अवचेतन का दूसरा प्रभाव काव्य-कल्पना पर व्यक्तिवाद के रूप मे पड़ा। व्यक्तिवाद 'अहं' के प्रबल और प्रचंड विस्फोट के रूप में प्रकट हुआ, यथा—अज्ञेय की एवं मुक्तिबोध आदि की प्रारंभिक कविताओं मे। आज यह मानववाद के विविध रूपो मे प्रसरित हो रहा है—यथा 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के बाद की काव्य-धारा मे।

मनोविश्लेषण से प्रभावित अनेक पश्चात्य काव्यवाद भी यथा—सुररियलिज्म, अतियथार्थवाद, स्वप्नवाद, पलायनवाद आदि हिन्दी काव्यधारा मे आयातित हुए।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनोविश्लेषण ने काव्य रचना की १—सर्जनात्मक शक्ति २—कल्पना—तत्त्व एवं ३—कल्पित रूप—विधान के अभिव्यंजना-प्रकारों, बिम्बो पर बड़े व्यापक और जटिल प्रभाव डाले हैं।

काव्य-कल्पना और दिवास्वप्न एवं स्वप्न :—

कवि के लिए दिवास्वप्न और स्वप्न इन्द्रधनुष हैं। उसकी छाया से वह निकलना नहीं चाहता। कवि नरेन्द्र शर्मा के शब्दों में—

तोड़ो मत मेरा दिवास्वप्न, फेंको मत मेरा हृदय-रत्न
मत समझो उसका मोल नहीं, मिल जाय स्नेह जो बिना यत्न
सीपी मोती भर लेते हैं। —मिट्टी और फूल

स्वप्न की अतल गहराई, मनोहारिता, सूक्ष्मता और अनिर्वचनीयता के कारण 'स्वप्न' नाना दृष्टियों से प्रिय, प्रेरक, संशोधक भी माना गया है। पंत के शब्दों में—

ओ कामने, श्रद्धे .....
तुम्हारी अतलताओं में कितनी सुषमाओं की स्वच्छताएँ—
भावनाओं की सूक्ष्मताएँ—
अनिमेष स्वप्नों की अनिर्वचनीयताएँ छिपी हैं।

स्वप्न दिव्य स्वरूप की अभिव्यक्ति है। उससे वृत्तियों का उन्नयन कर व्यक्ति शुद्ध और निर्मल होता है। काव्य भी वैसी ही स्वप्ननिर्मिति है।

स्वप्न और काव्य-रचना दोनों वास्तव की कटुता से व्यक्ति को अनुभव के क्षण तक पृथक् कर देती है। कवि यज्ञदत्त के शब्दों में—

चेतना में कसकती थी कसक पहली, मैं दुखी था।
स्वप्न में आराम-सा था। —प्रणयपत्र 'पृष्ठ ७९

महादेवी वर्मा ने बतलाया है कि 'कवि को वास्तविक द्रष्टा के साथ स्वप्न द्रष्टा भी होना चाहिए।' येट्स की तो मान्यता है कि 'सारी कलाएँ स्वप्न हैं।'

मनोविश्लेषकों ने भी काव्य-कल्पना को दिवास्वप्न अथवा स्वप्न-क्रिया-जैसी प्रक्रिया मानने का तर्क दिया है। दिवास्वप्न और स्वप्न लगभग समान क्रियाएँ है, क्योंकि—

१. दोनों के ध्येय और प्रेरक तत्त्व प्रायः समान हैं;
२. दोनों में पूर्वानुभवों में विस्थापन और नवीन क्रम-व्यवस्था होती है; तथा
३. दोनों की जटिल प्रक्रियाओं की मात्र आंशिक उपस्थिति ही चेतन मानस मे होती है।

फिर भी स्वप्न दिवास्वप्न से सामान्यतः अधिक असगत, अनुचित से लगने वाले, व्यवस्थाहीन और बेढगे होते है तथा व्यक्ति को दैनदिन जीवनगत लय से दूर ले जाकर बलात् तीव्र सर्जनशील (कल्पना-प्रवण) बनाते हैं। प्रकृत्या दिवास्वप्न पूर्णतः व्यक्तिगत और अन्तरंग अनुभव-पुंज होते हैं, तथा बिम्बो में इस प्रकार गुथे रहते हैं कि द्रष्टा चाह कर भी उन्हें भाषा में उतार नही सकता।

फ्रायड के अनुसार 'स्वप्न में हम इच्छा की सीधी और प्रत्यक्ष रूप से पूर्त्ति करते है'; यानी दिवास्वप्न से स्वप्न अधिक निर्बंध और मुक्त क्रिया-व्यापार है। वहाँ अवचेतन अधिक सक्रिय और स्वच्छन्द है। फ्रायड ने—स्वप्न-अवयवों और उनके आधारभूत असली विचारों के चार मुख्य सम्बन्ध बताये हैं —

(क) सम्पूर्ण की जगह एक अंश का आ जाना, (ख) संकेत या अस्पष्ट निर्देश (ग) प्रतीकात्मक सम्बन्ध, और (घ) मुघट्य, नम्य स्पृश्य-सा (प्लास्टिक) शब्द-निरूपण, यानी बिम्बन। अतएव सपनों के जो मूलभूत आधार होते हैं, वे स्वप्नो में अंशत. ही झलक पाते हैं। वे मात्र धुंधले संकेत प्रस्तुत करते हैं। पुनः, आधारगत विचार स्वप्न में साक्षात् प्रत्यक्षीकृत न होकर स्थानापन्न प्रतीक में उभरते हैं। ये प्रतीक बड़े नमनीय होते हैं, उनके बिम्ब प्रखर एवं नाना अर्थ-संदर्भों से युक्त होते हैं।

फ्रायड ने स्वप्न-क्रिया में पाँच कार्य-पद्धतियों का भी उल्लेख किया है—

१—सघनन या सक्षेपण (काण्डेनसेशन) यानी अनेकानेक लक्ष्यों, अर्थ-सन्दर्भों का मिल जाना, २—विस्थापन या स्थानान्तरण (डिस्प्लेसमेंट) ३—नाट्यकरण, ४—प्रतीकीकरण, एव ५—परवर्त्ती विस्तारण।

फ्रायड के मतानुसार स्वप्न मे १— अतिपुरातन एवं २— शैशवकालीन लक्षण रहते हैं : स्वप्न-तंत्र हमें जिस युग में पहुँचाता है, वह दो दृष्टियों से आदिम है—प्रथम तो इसका अर्थ है व्यष्टि अर्थात् मनुष्य के आरंभिक दिन, अर्थात् उसका बचपन; और दूसरे, जहाँ तक यह बात है कि प्रत्येक व्यक्ति बचपन मे कुछ संक्षिप्त रूप में मानव-मूलवंश के परिवर्धन के सारे क्रम को दुहराता है, वहा यह निर्देश जातिचरित या वंशवृत्त का निर्देश है।.... प्रतीकात्मकता को मूलवंश की देन माना जाना चाहिये। .... बचपन के आरंभिक वर्षों की विस्मृति में कुछ स्पष्ट रूप से रखी हुई (संजोयी)

स्मृतियाँ भी निकल आती हैं, जो अधिकतर सुघट्य प्रतिबिम्बों (बिम्बों) के रूप मे होती है........। स्मरणीय यहाँ, यह भी है, कि फ्रायड ने चूसने और मल-विसर्जन करने की शिशु-सुलभ क्रियाओं से ही, यानी मुखगत एवं उपस्थगत वृत्तियों के मूल में ही, कामवासना का समारंभ माना है, और बतलाया है कि उनके अवरोध, शमन-दमनादि के कारण अवचेतन में कामज ग्रंथियों आदि का पुंजन होता है। अतएव स्वप्न में मूलभूत अतृप्त अभिप्रेरणा या प्रवृत्ति, कामेच्छा की ही प्रकारान्तर से तुष्टि होती है।

'अजब आकाँक्षाएँ—रात के गहरे अँधेरे में छिपी अतृप्त रूहों सी
मस्तक के उजाले को, अचानक घेर लेतीं।
—उपेन्द्रनाथ 'धड़कते सड़कों में ढले साये, पृष्ठ ४८

फ्रायड के अनुसार स्वप्न विस्फोटक निस्सरण है,जिससे पुंजीभूत दमित इच्छाओं, अतृप्त वासनाओं को कारागार से निकल जाने का मार्ग मिलता है। इसके विपरीत युंग स्वप्न को अचेतन मानस की वास्तव स्थिति का सूचक,स्वतःप्रेरित आत्माभिव्यंजन मानते हैं। यह अभिव्यंजन प्रतीकों के माध्यम से होता है। युंग अचेतन मानसऔर चेतन मानस में परिपूरकता का संबध मानतेहैं,न कि रुग्णता आदि का। उनके शब्दों में–'अचेतन जीवंत, अतएव सर्जनात्मक प्रक्रिया है, एवं....अपने सर्जनात्मक व्यापार के लिये उसे किसी मनोदैहिक दमन की आवश्यकता नहीं, जो उसके द्वार खोल दे'। फ्रायड की समस्त स्थापनाएँ 'इगो'के अनुशासन और 'इद' की उच्छृंखलता के पारस्परिक द्वन्द्व पर आश्रित हैं, एवं मूलतः सहजवृत्यात्मक, अतएव पाशविक हैं; किन्तु युंग की स्थापनाएँ सामंजस्य और परिपूरकता पर आधृत हैं। फलतः उनकी दृष्टि में बीती घटनाओं की स्मृतियों की पुनरावृत्ति भी होती है और भावी विकास की कल्पनाएँ भी हैं। स्वप्न-प्रतीकों को भी युंग ने' सामूहिक अचेतन' की मूल क्रियाविधि 'आर्केटाइप' या आद्यबिम्ब से सम्बद्ध माना है, न कि मात्र काम-वासना के प्रतीकों से सम्बद्ध।[७८]

एेडलर ने स्वप्नों को द्रष्टा की तत्कालीन भावनात्मक संस्थिति का निदर्शक माना। स्वप्न-द्रष्टा स्वप्नों के सहारे आने वाले भविष्य का प्रतीकों के द्वारा अभ्यास-सा करता है और इस प्रकार भावी क्रिया-व्यापार के लिए अपने को सन्नद्ध करता है। क्षतिपूर्ति का यह भी एक साधन है। इस दृष्टि से पंत का यह स्वप्न-वर्णन फ्रायड के अनुसार समीचीन है।

अमिट लालसा तृष्णाओं की चल केंचुलियाँ
रेंगा करतीं गरल मदिर क्षण फन फैलाए। —रजत शिखर

और कुंवर नारायण का निम्न वर्णन युंग और ऐडलर की स्थापनाओं के अनुरूप है—

> चन्द अभिमंत्रित पल सपनों में फलीभूत;
> कुण्ठा के तिमिर मूल, अमृत विष मंथन हो
> विनिमय को तत्पर हो। —चक्रव्यूह, पृष्ठ ६६

स्वप्न में प्रतीकीकरण महत्वपूर्ण व्यापार है — अभिलाषा है संभोग की, या प्रोन्नति के सुख की और सपने मे यह रतीच्छा, उत्थान या आनन्द-भावना 'सीढ़ी पर चढ़ने' के सपने में प्रतीकित हो उठती है। साथ ही, स्वप्न में नाट्यकरण, आकुंचन, विस्थापन और परवर्ती (नींद टूटते ही स्वाप की दशा में) विस्तारण की क्रियाएँ होती हैं।

काव्य-रचना में भी प्रतीकीकरण, नाट्यकरण, संघनन (आकुंचन या संक्षिप्ति) विस्थापन और विस्तारण की क्रियाएँ महत्वपूर्ण हैं। कविता मूल अनुभूतियों, भावों, बिचारों को प्रतीक, बिम्ब, रूपक के माध्यम से प्रस्तुत करती है। उनमें आरोह-अवरोह, घात-प्रतिघात की द्वन्द्वात्मक क्रियाशीलता ला वह नाटकीय गति का विन्यास करती है। कवि के शब्दों में—

> मैं शब्दों की इकाइयों को रौंदकर
> संकेतों में प्रतीकों में बोलूंगा। —रामावतार चेतन : माहरी अस्तित्व : आधार नम्बर १९५७

फिर, कविता में कई स्तर के अर्थ-समूहों, बिम्बपुंजों का एकत्र आकुंचन कर उन्हें संश्लिष्ट और सघन बनाया जाता है। साथ ही, निकट की वस्तु को दूरवर्त्ती चित्रित कर, ठोस को अमूर्त्त रूप दे कर, एवं दूरस्थ तथा धुंधले या गुप्त अंशों के स्थान पर और भी दूर के, धूमिल और गुप्त रहस्यात्मक वस्तुओं की प्रतिस्थापना कर, अथवा गौण अवयवों के स्थान पर महत्वपूर्ण को या महत्वपूर्ण अंशो की जगह महत्वहीन अंशों को उभार कर कविता कथ्य-रूपों में विस्थापन और विस्तारण की क्रियाएँ भी सम्पन्न करती है। इस प्रकार स्वप्न और काव्य-रचना में क्रिया-व्यापार प्रायः समान प्रकार का होता है। यही नहीं, दोनों में तर्कसंगत सम्बन्ध प्रायः निरस्त रहता है अथवा वह अतिक्रान्त हुआ रहता है। विस्थापन में यह बात स्पष्टतः देखी जा सकती है। फलतः, फ्रायड ने काव्य को, और आगे बढ़ कर पुरावृत्त, मिथक एवं धर्म तक को स्वप्न-निर्मितियाँ मानने का तर्क दिया। यानी, उन्हे मनतरंग, खामख्याली या रुग्ण अवचेतन-मानस की विकृतियों का विस्फोट करार दिया।

फ्रायड की उपर्युक्त स्थापनाएँ काव्यादि के सहजवृत्त्यात्मक अंश के लिये मान्य हो सकती हैं, परन्तु समग्र काव्यादि के लिये नहीं। युग ने अचेतन को विकासात्मक, सशोधक, पूर्णताकांक्षी, अतएव मांगलिक स्वीकार किया है जिसके फलस्वरूप उससे प्रेरित स्वप्नादि, एवं अनुप्राणित कला-काव्य कल्पनादि को परिपूर्णता की सम्प्राप्ति के लिये स्वस्थ्य, संशोधक अचेतन का आत्माभिव्यंजन माना गया; आत्मोपलब्धि का सोपान बताया गया है। स्वप्न और काव्य के संबध में बाबू गुलाब राय ने अपने मन्तव्य इस प्रकार दिये है–'स्वप्नकी तरह कविता करने में चाक्षुष प्रत्यक्ष की अपेक्षा मानसिक क्रियाओ का प्राधान्य होताहै। कविकी रुकी और दबी हुई अभिलाषाएँ और वासनाएँ निर्झर के स्रोत की भांति फूट पड़ती है और वह अपने अभिलषित संसार का स्वप्न-द्रष्टा की भाँति मानसिक प्रत्यक्ष कर लेता है। उसमें उसकी अहं-भावना की भी तृप्ति हो जाती है।...कवि फ्रायड के स्वप्नद्रष्टा की भांति किन्हीं अंशो में प्रतीको से भी काम लेता है। कभी काम-वासना पर भक्ति का आवरण डाल दिया जाता है....कवि के रूपक भी स्वप्न के-से प्रतीक ही होते है।.... कवि की कल्पना कभी-कभी दिवास्वप्नों की भांति असंकलिपत और अनियन्त्रित रूप से चलती है....तब उसको अंग्रेजी में फैंसी कहते है। ऐसी अवस्था में कवि दिवास्वप्न न देखे, किन्तु एक के बाद एक सम्बन्ध की शृंखला तैयार होती चली जाती है।....कभी-कभी स्वप्न-चित्रावली शब्द-चित्रों का रूप धारण कर कविता बन जाती है। अंग्रेजी साहित्य मे कॉलरिज की 'कुबला खाँ' नाम की कविता इसका उदाहरण है।' बाबू साहब ने स्वप्न और कविता के अन्तर को भी सकेतिक किया है, जो अधिक महत्वपूर्ण है—'कविता का उदय चाहे अवचेतना मे हो, किन्तु वह पल्लवित सजग चेतना में ही होती है। स्वप्न में व्यक्ति का अंश प्रधान रहता है और जाति की भावनाएँ न्यूनातिन्यून होती हैं। कविता के व्यक्ति में जाति की झलक रहती है। कविता की-सी सामाजिकता भी स्वप्न में नहीं है।'[७१] बच्चन ने स्वप्नों की अवास्तविकता को इस प्रकार द्योतित किया है—

मेरा जोर नहीं चलता है स्वप्नों की देखी निष्ठुरता
स्वप्नों की देखी भंगुरता फिर भी बार-बार आकर के स्वप्न
मुझे निशि दिन छलते है।

एकान्त संगीत, पृष्ठ १०१

क्राइस्टोफर कॉडवेल के विचार—वस्तुत; स्वप्न और काव्य-कल्पना की वृत्तियों, उद्भव, तंत्र और प्रयोजकता मे अन्तर है। स्वप्न का प्राकट्य और काव्य की अभिव्यंजना समान क्रियाएँ नहीं है—पहली

क्रिया मे 'कर्त्ता' की सत्ता नही रहती; दूसरी में उसकी सत्ता असंदिग्ध है। स्वप्न एकध्रुवीय है, कला-काव्य बहुध्रुवीय। उपर्युद्धृत बाबू साहब के विचार क्राइस्टोफर कॉडवेल द्वारा तात्विक धरातल पर प्रतिपादित सिद्धान्तों के सार प्रस्तुत करते हैं। कॉडवेल ने अचेतन के मानसिकीकरण (मानस के उदय) की प्रक्रिया और चेतन मानस के उद्‌भव को सहजवृत्ति के अभिसंधन के द्वारा, (आवेष्टन और समाज में साक्षात् क्रियाचेष्टाओं से प्रेरित सहचार वृत्ति द्वारा) प्रतिफलित प्रक्रिया माना है। यह प्रक्रिया विज्ञान और कला द्वारा प्रतिपल संबंधित होती चलती है। कॉडवेल ने मानसिकीकरण का बिम्बप्रवाही अनुक्रम इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—(क) स्वप्न (ख) दिवास्वप्न (ग) निर्बाध सहचार (घ) निर्दिष्ट चिंतन, और (ङ) विवक्षित भावन। फलतः उन्होंने स्वप्न में चेतना की अवस्थिति स्वीकार की है। वह अचेतन-अवचेतन की प्रक्रिया नहीं है; उसमें सामाजिक भाव और अहं की पुष्टि के भाव वर्त्तमान रहते हैं। कलाओं में जो कलाएँ 'दिक्' का विन्यास करती हैं, जैसे कविता, वे सवेद्यता में शाश्वत, अतएव 'अपरिवर्त्तन' पर आधृत हैं। किन्तु जो कलाएँ 'काल' का विन्यास करती हैं, जैसे-कहानी, उपन्यासादि, वे सवेद्यता में बाह्य आवेष्टनगत वस्तुनिष्ठता पर, अतः ऐतिहासिक क्रमादिपर आधृत हैं। इसका अर्थ यह भी हुआ कि कुछ कविताएँ 'शुद्ध कविताएँ' हैं, जो मात्र दिग्गत कर्म-द्वारा विन्यस्त हैं, और कुछ कविताएँ कथात्मक कविताएँ या पद्य हैं, जो कालक्रम पर आश्रित हैं। पहली में संघनन दूसरी की अपेक्षा अधिक होगा। अतएव उनकी प्रतीति के लिए अन्तर्मुखी व्यापार यानी 'स्वप्नक्रिया' अपेक्षया अधिक आवश्यक होगी। पहली स्वप्न-जैसी है, तो दूसरी दिवास्वप्न-जैसी—शालीन संस्कारयुक्त। स्वप्नों मे बाह्य प्रकट तत्त्व है—बिम्बों प्रतीकों की उत्प्लवी कल्पना। साथ ही उनमें अन्तर्निहित अलक्ष्य तत्व हैं—सवेदनात्मक रागात्मक यथार्थ (अफेक्टिव रियलिटी)। कविता में भी बाह्य प्रकट तत्व उसके बिम्ब या विचारधारणाएँ हैं; एवं अन्तर्लीन अलक्ष्य तत्व हैं उसकी शब्द-प्रणाली द्वारा ध्वनित, सहचारी भावनापुंज।

वस्तुतः स्वप्न-क्रिया का विपर्यास कविता है। क्योंकि प्रथमतः, स्वप्न मे यथार्थ राग अंशतः दबा हुआ होता है। उनके सहचरित बिम्ब ही चेतना मे प्रखर होकर तिर आते हैं। इसके उल्टे, कविता में सहचारी बिम्ब अंशतः सवृत्त रहते हैं, और उनकी संवेदनाएँ ही चेतना में उभर आती हैं। द्वितीयतः कविता रचनात्मक चेतन क्रिया है; उसमें श्रम लगता है; स्वप्न स्वीभूत है,

और श्रम-साध्य नहीं है। अतएव कविता समाजोपयोगी पदार्थ का उत्पादन करती है, स्वप्न नहीं। तृतीयत: कविता चेतना से नीचे आने की प्रक्रिया है, अत: सजग और प्रबुद्ध रचना है; स्वप्न अचेतन से ऊपर उठने की प्रक्रिया है, अतएव अंधी और अरचनात्मक है। फलत कविता लोकविश्रुत होना चाहती है, स्वप्न निजी अथवा गोपनीय होना चाहता है।[८०] अज्ञेय के शब्दों में—

पर, सपने के सच को किसी दिखाऊं
जिससे वह सुन्दर हो और उससे कर सकूं प्यार।

—अरी ओ करुणा ..,पृष्ठ १४५

काव्य-कल्पना में पुरावृत्त, मिथक आदि

प्रत्येक समाज की अपनी गाथाएँ हैं; पौराणिक वृत्त, लोककथाएँ, पूर्व-पुरुषो और आदिम कुलपुरुषो की साहसिक दन्तकथाएँ हैं। यूनानियो की पुराकथाओं को अरस्तू ने इतिहास नाम दिया था। वस्तुतः मिथक (पुराकथाएं) उनके इतिहास और दर्शन दोनों थे। ऐसे मिथको में जीवन-संबंधी उनके अवचेतन-सिद्धान्त, दैवी वस्तु-व्यापारों पर उनके चिंतन, भावन और कल्पनाएँ मूर्त्तित है। पुरावृत्तों से वंश-परम्पराएँ एकसूत्र मे बँधकर कुलीन हो उठती थीं। एक पूर्वपुरुष की प्रदीप्त अति-मानवीय अथवा दैवी विभूति के समक्ष सारा वंश, कुल के सारे श्रद्धाभिभूत प्राणी विश्वास की चेतना से दीप्त होकर एकमेक रूप में आबद्ध, एकप्राण, एकरक्त हो उठते थे। उस मिथकीय काल के दर्पण में जैसे सारा का सारा वर्त्तमान विशदीकृत एवं आलोकित हो उठता था। प्राय: उसी भाँति भारत में आज भी वर्णो और उनकी शाखा-प्रशाखाओ के कुल-पुरुषों की गौरवगाथाओं से प्रत्येक गोत्र और परिवार अपने को महिमा-मंडित मानता है। आदिम कुलपुरुषों की कल्पना के मूल में मिथक-भावना ही काम करती है।

मनोविश्लेषकों ने पुरावृत्त और मिथकों का विवेचन कर मानव की आदिम जातीय कल्पना, और उनके प्राचीन धार्मिक आख्यानों, पूजाकृत्यो तथा काव्य—कलादि के क्रिया-व्यापारों को नृत्तत्वशास्त्र, समाजशास्त्रादि की उपलब्धियो के आधार पर समझने की एक नयी दिशा दी है। मिथक पुरावृत्तो, पौराणिक कथाओं, धर्मगाथाओं के मूल और आदिम संरूप हैं। वे विश्वास-अविश्वास से परे हैं। प्राक्तर्कणा की आस्था से पूर्ण, अत: मोहक हैं। फ्रायड ने जैवीकरण (ऐनिमिज्म) की आदिम वृत्ति को

उनका आधार-प्रेरक माना है। इस वृत्ति से प्रेरित हो व्यक्ति जड़ पदार्थों का दर्शन-भावन उनमें जैव तत्वों का आरोपण द्वारा करता है। मनोवैज्ञानिक उड ने इस वृत्ति को मिथक-रचना की चेतना का आवश्यक मनोवैज्ञानिक फल बतलाया है।

अखिल सृष्टि की अखंड एकता और उसके प्रवाह-नैरन्तर्य की प्रकल्पना की तीन विचार-सरणियाँ हैं :

१--सर्वजीववादी अथवा जैवीकरण-वृत्ति से प्रेरित मिथकीय विचार-परम्परा ;

२--धार्मिक विचार-परम्परा, एवं

३--वैज्ञानिक विचार-परम्परा।

इनमें मिथकीय विचार-परम्पराएँ आदिम हैं। उनका क्रमिक विकास धर्मादि में एवं तदुपरान्त वैज्ञानिक चिंतनादि में हुआ है। मिथकीय कल्पना के मूल में आदिम मनुष्य की सर्वजीववादी यह भावना है कि सब हमारी तरह जीव हैं। फ्रायड ने वैसे आदिम मनुष्यों में यौनवृत्ति मानी है, अर्थात् यौनवर्जनाएँ या निषेध, और फलतः और भी प्रबल लिप्सा। ये वर्जनाएँ (टैबूज) गोत्र या टोटेम से संबंधित थीं। यौन-वर्जनाओं के कारण आदिम मनुष्य की वृत्तियों मे भाव का द्विधा विभाजन हुआ। एक ओर पूज्य भाव का विकास हुआ, दूसरी ओर घृणा-भाव का। टोटेम कुलज्येष्ठ की भांति, पिता की भांति पूज्य और श्रद्धेय तो हुआ, साथ ही पूजाकृत्यों मे उसकी बलि की भावना भी विकसित हुई। इस प्रकार पूज्य भय अथवा श्रद्धास्पद त्रास की द्विध्रुवीय भावना का विकास हुआ। इनसे ही मिथकों, पूजाकृत्यों (रिचुअल्स), कर्मकांडों, जादू-टोनों, निषेधों एव उनसे सम्बद्ध आस्थाओं, महिमामय आख्यानों, पुरावृत्तों और धर्मादि के नाना क्रिया-कल्पों, गौरव-गाथाओं की परम्पराएँ चलीं। उनके साथ-साथ अनेक उल्वण गीत, उन्मद नृत्य और प्रमत्त नाट्य-रूपकों की भी अवतारणा हुई।

युंग की 'अचेतन' अथवा 'सामूहिक अचेतन' की कल्पना फ्रायड से अधिक तलस्पर्शी और गंभीर है, यह पहले ही वर्णित हुआ है। और 'सामूहिक अचेतन' की क्रियाविधि मूलतः आर्केटाइप या आद्यबिम्बों के द्वारा प्रकट होती है जो एक प्रकार से काल-निरपेक्ष विश्वबिम्ब है। वह सर्वग्राही संग्रह है। उसमें संसार की प्रागैतिहासिक घटनाएँ भी सकलित हैं। क्योंकि 'आर्केटाइप'

मानस पर आदिम प्रत्यंकन है, अतएव उसे प्रत्यंकित करने वाला भी कोई होगा। परन्तु कौन-सी वह शक्ति होगी, इस सम्बन्ध में निश्चयात्मकता से कुछ कहना कठिन है। इतना स्पष्टतः कहा जा सकता है, कि वह प्रत्यंकन अकन-कर्त्ता का प्रतीक है और बोध से परे है। मानव उसे दैवी शक्ति मानता है; धर्म उसे 'ईश्वर' नाम देता है। आर्केटाइप का मूल बिम्ब 'ईश्वर' और प्राथमिक व्यापार धर्म-प्रवण माना जा सकता है। 'मिथक' मे आर्केटाइप अपने मूलबिम्ब और प्राथमिक व्यापार के रूप में प्रकट हुआ है। यह भी कह सकते हैं कि धर्म अपने उदय काल में मिथकों के क्रम-बंधन और जीवंत संरूपों में प्रकट हुआ। अर्थात्, मिथक धर्म के प्रारम्भिक सरूप हैं। जातीय जीवन का धर्म मिथको, पुराकथाओं, धर्मगाथाओ के जीवंत रूप मे विकसित होता है। पूजाकृत्यों में मनुष्य सार्वभौम शाश्वत को समर्पित होता है; उस 'कारण' में प्रपन्न होता है, जो चेतन मानस के समस्त लक्षणो के परे वर्त्तमान है। गर्हर्ड ऐडलर के शब्दों मे, अति वैयक्तिक शक्ति के आदिम व्यष्टिनिष्ठ अनुभव जब सामुदायिक रूप पा कर कुछ व्यवस्थित सूत्र मे बधे तो वे पूजाकृत्य कहलाए। स्वप्न, मिथक और पूजाकृत्यों की मूल भावना सामूहिक अचेतन के महासागर से उभरने वाले बिम्ब हैं। वे प्राक्-तर्कणा की मनोदशा के बिम्ब है।[८१] इसे निम्न ढंग से समझा जाय।

आदिक मिथकीय युग में आध्यात्मिक और भौतिक में अन्तर न था। अह और इद मे अथवा 'स्वा' मे एक ही तत्व भावित था और सभी मे प्राण ही नही, जीव की विशेषताएँ मानी जाती थीं। फलतः प्रारम्भिक मिथको में विधि-विधान, कृत्य, सिद्धान्त सभी कुछ जटिल जाल की भाति गुंथे थे। अतः मिथक मृत विगत का उल्लेख मात्र नहीं है; अपितु वह जीवन-स्पन्दन से युक्त वास्तविक चैतन्य है। वह सांकेतिक नही है, विषयवस्तु का स्वच्छ सीधा प्रकाशन है; किसी वैज्ञानिक अभिरुचि या अन्य वृत्ति की तृप्ति के उद्देश्य से रचित व्याख्या नहीं है, आदिम वास्तविकता की यथार्थ अभिव्यक्ति है। वह निविड़ आध्यात्मिकता, आदिम एवं सहज धर्म-भावना, नैतिक आकांक्षा, सामाजिक समर्पण भाव, प्रभुत्वकामना आदि विषम वृत्तियों का अनायास उच्छलन है। मिथक आदिम सस्कृति मे आस्था और विश्वास को दृढ़ करते हैं, उन्हे संहृति देते, निर्देशन करते, धर्मकृत्यों को प्रमाणीकृत और आचरण को अनुशासित रखते हैं। इस प्रकार, मिथक बौद्धिक व्याख्याये प्रस्तुत नही करते न बिम्बात्मक चित्रात्मक प्रतीकात्मक अलंकृत काव्यमयी कृतियाँ

देते हैं। फिर भी वे प्रेरणाप्रद पुराविश्वासों और आदिम नैतिक बुद्धि के प्रमाण-पत्र उपस्थित करते है। आदिकालीन युग मे जिस परमार्थिक सत्य का दर्शन आदि-मानव ने चेतोदय के बाद ही किया था, उसका सांकेतिक वृत्तान्त मिथकों में तिरने वाले उनके प्रतीकों-बिम्बो मे सचित है। भाषा द्वारा हम आज जहाँ विभाजित होकर खडे हैं, वहाँ से वह पारमार्थिक सत्य अज्ञेय और अव्याख्येय प्रतीत होता है। मिथकों आदि के सहारे उनका फिर से सधान किया जा सकता है।[८२]

मिथक कल्पना-निर्मिति तो है, परन्तु फैन्टेसी-जैसा निरर्थक नही है। मिथक कविता का एक प्रकार है, पर कविता से अधिक सत्य की घोषणा करता है। वह तर्कणा का एक प्रकार है, पर तर्कणा के द्वारा घोषित सत्य का शोधक और साधक भी है। वह पूजा-कृत्यों और क्रिया-कल्प का एक प्रकार है किन्तु मात्र कार्य मे परिसमाप्त होने वाला नहीं है, अपितु उनके सत्य का अन्तर्वर्ती काव्यमय उद्‌घोष करने वाला है। वह इतिहास है, पर विषयनिष्ठ वृत्तान्त नहीं, विषयिनिष्ठ काव्यात्मक अभिव्यक्ति है।

मिथक और धर्मगाथा :—सामान्यत: मिथक और धर्मगाथा को हम एक मानते है। परन्तु उनमें अन्तर है। स्पेंस ने[८३] धर्मगाथा की जो परिभाषा बनाई है और उसके अंगभूत तत्त्व बतलाए हैं, वे हैं—

१— इसमें किसी देव्‌ता या देवताओं अथवा पराप्राकृतिक शक्ति का विवरण रहता है ;

२— इसमें आदिम मन परिलक्षित होता है,

३— इसमें धार्मिक महत्ता होती है, तथा इसकी आवृत्ति के पीछे धर्म-लाभ की आकांक्षा विद्यमान रहती है, और

४— इसकी सर्जना या तो सृष्टि के साथ मनुष्य के सबंध की व्याख्या के लिये अथवा सामाजिक संस्थाओ तथा प्रथाओ आदि की व्याख्या के लिये की जा सकती है।

मिथक धर्मगाथा से अधिक पुराकाल की उपज है। वह स्वयंस्फूर्त, अविशेषीकृत उद्‌भावना है। वह आदियुगीन मानव के सर्वभूत चित्त के मिथुनीभूत ध्वनन का विकास है। मिथक में अध्यात्म-शक्ति का विकास

आदिम राग और भीति के संघनन से हुआ होगा। आध्यात्मिकीकरण की प्रक्रियावश मिथक मे धर्म के तत्व भी अनुस्यूत हुए होंगे। धर्मगाथा उसका एक स्थिर होता हुआ स्तरी-भूत, विशेषीकृत रूप है जो धर्म की विभूति से युक्त हो गया है। अतः यह सायास रचना है। मिथक के साथ पूजाकृत्य भी जुड़े हुए है। इन पूजाकृत्यों, व्रतों, उपासना-प्रणालियों, जादू-टोनो से आदिम मानव परिस्थितियों के प्रति अपने व्यवहार को स्थिरीकृत और अभि-प्रमाणित किए हुए थे।

फ्रेंज बोआस आदि के अनुसार मिथक में कर्मकाड का जब उन्मेष होकर वह क्रियापरक बन जाता है, तो नये मिथक का जन्म होता है।[८४]

'लीजेंड' या दन्तकथा, या निजंधरी कथा से मिथक इस अर्थ में भिन्न है, कि मिथक सामान्यतः प्रकृति-परक है और 'लीजेंड' आदि मानव-परक और वृत्तात्मक; यानी 'लीजेंड' ऐतिहासिक यथार्थ से युक्त, पर विस्मृत कथा है।

मानव-सभ्यता जैसे-जैसे ऐतिहासिक युग में प्रवेश करती चली गई, मिथक के अनेक तत्त्व लुप्त, स्थानान्तरित, सशोधित होते गये। जादू-टोनादि की शक्तियाँ तो अब नाम-मात्र की हैं। पशुबलि-नरबलि की प्रथाएँ भी समाप्त-सी हो गई हैं। मेध, यज्ञादि विराट्कृत्य भी अब उस रूप मे नही होते। बौद्धिकीकरण, वैज्ञानिकीकरण और भौतिकीकरण के ताप से मिथक की कुहेलिका फट गई है। अब मिथकीय तत्त्व के अवशेष सैनिक शिष्टाचार, दरबारी शिष्टता, दलगत नेता के आधिपत्य, प्रचारतन्त्र आदि मे नाम-मात्र को रह गए हैं। आज के युग का प्रबल मिथक है—मैं! अपने नाम का जादू अब भी हमारे सिर पर सवार ही है। हम अभी भी बर्दाश्त नही कर सकते कि कोई हमारे नाम का कुत्ता या भृत्य ही रखे। नाम मे और अपनी आत्मता में यह अभेद-कल्पना जादुई मिथक-वृत्ति के ही कारण होती है।

मिथक और काव्य के अन्योन्याश्रयत्व के चिंतक :—

मानव-समाज के इतिहास के मिथकीय दृष्टि से अध्ययन का सूत्रपात वस्तुतः अठारहवीं सदी में विज्ञान और मनःशास्त्र की प्रेरणा से नृतत्वशास्त्र, पुरातत्वादि की प्रशाखा के रूप में हुआ। इस सम्बन्ध में प्रथम अध्ययन ग्यामवत्तिस्ता विको ने 'न्यू साइंस' (१७२१-३०) में मानव समाज की ऐतिहासिक यात्रा की प्रकल्पना पितृसत्तात्मक समाज के वीर पुरुष के वृत्तान्त

के रूप में प्रस्तुत की थी। उन्होंने बतलाया था कि मनुष्य धीरे-धीरे धूमिल अंधकार से निकल कर प्रतीक, मिथक, रूपकादि की रचना करता हुआ सूक्ष्म विचार और तर्कबोध की ओर बढ़ता आ रहा है।

विसो के बाद जर्मनी के 'अरस्तू' नाम से प्रसिद्ध जे० जी० हर्डर ने अपने समकालीन लेसिंग की श्रेण्यवादी कलादृष्टि का प्रत्याख्यान करते हुए सर्जनात्मक प्रतीकों की शक्ति का आख्यान किया था। उनकी घोषणा है—आदिम भाषा आत्मा का आकर कोश-ग्रंथ है, कर्म-प्रेरणा के लिए पुराण और महाकाव्य है। आदिम भाषा ऐसा पुराण और महाकाव्य है कि जिसमें सकल प्राणि-समूह की अनन्त ध्वनियाँ अनुगुंजित हैं, सनातन लोकगाथाएँ सम्पुटित हैं, विपुल मनोराग और अगम अभिरुचियाँ अन्तःप्रवाही हैं।

हर्डर के मित्र हमन्न ने लिखा था—'कविता मनुष्य की मातृभाषा है। हमारे पूर्वजों की विश्रान्ति उनकी निद्रा में प्रगाढ़ होती थी। उनकी गत्वरता भी तुमुल नृत्यमयी थी। वे सात दिनों तक विचारों में मौन डूबे रहते थे, या समाधिलीन रहते थे और जब मौन तोड़ते थे तो उनके उच्चरित शब्दों में पंख लगे होते थे। उनकी वाणी संवेदना और मनोवेगों का ध्वनन थी। 'बिम्ब' के सिवा उन्हें कुछ भी बोधगम्य न था।' हर्डर ने भी आदिम मनुष्य में वैसी ही बिम्बात्मिका शक्ति मानी है, और उसकी विशेषता ध्वन्यात्मकता और रागात्मकता बतलाई है। उस पुरायुग के मनुष्य जो—जिसे—जैसा देखते थे, उसी के अनुरूप सजीवित, सशक्त अथवा भयंकर हो उठते थे। यानी वे समग्रतः ऐन्द्रियिक-रागात्मक ध्वनन करते थे। कविता भी सकल ऐन्द्रियिक-रागात्मक ध्वनन है। भाषा को हर्डर ने मनुष्य की चेतना माना; उसका प्रतिबिम्बन घोषित किया। संवेदन-पुंजों की जटिल और विपुल भीड़ में से जब व्यक्ति कुछ का चयन करता है, तो सोचता है। संवेदन के महासागर से एक लहर को चुन कर उस पर विचार करता है। बिम्बों की अपार भीड़ जो उसकी चित्तवृत्ति से सपने की भांति गुजरती रहती है, उनमें से कुछ पर दृष्टि गड़ा कर वह चिंतन करता है। भाषा उसका ही परिणाम है। वह आत्मा का अपने आप से संलाप है, ताकि स्व का, अपने ध्वनन का सम्यक् बोध प्राप्त किया जा सके।

हर्डर के उपरान्त दार्शनिक शेलिंग ने पुरावृत्त एवं मिथक को कला-काव्य का आवश्यक अवदान माना। पुराकल्प या मिथक स्वतः काव्यमय होते हैं।

काव्य और मिथक के सम्बन्ध पर चिंतन करने वाले आधुनिक पाश्चात्य विचारकों में रिचर्ड् चेस, अर्न्स्ट कैस्सिरर, श्रीमती सूजन लैंगर, मॉड बाडकिन, नार्थ्रोप फ्राई एव फिलिप ह्विलराइट ने काव्यकलादि का मिथक की दृष्टि से अनुशीलन कर अपने-अपने विचार दिये है।

रिचर्ड चेस की मान्यता है कि मिथक मात्र कला (कविता) है। जो कविता स्पन्दनशील रूप में सजीवित प्रतीत होती है, वह मिथक है, तथा अधिचेतना में जिस मिथक का तद्वत् प्रतिभान होता है, वह कविता है। इस प्रकार चित्त-स्पन्दन-रूप आच्छाया (पेनम्ब्रा) के इस ओर मिथक है, उस ओर कविता, यानी मिथक = कविता, जिसमें '=' का अर्थ चित्तस्पन्द है। स्पष्ट ही 'चित्त-स्पन्द' से तब धर्म और विज्ञान दोनो का ध्वन्यर्थ लेना पड़ेगा। इसी अर्थ मे उनकी घोषणा है—मिथक मात्र कला या कविता है। काव्य और मिथक दोनो समान अनुप्रेरणाओ से उद्भूत होते हैं, समान प्रतीक-व्यवस्था में अवतरित होते है, समान रूप से अनुभूति में भीति-प्रीति का सम्मोहक जादुई मडल आच्छायित करते हैं तथा विरेचन-प्रक्रिया-सम्बन्धी व्यापार भी दोनो का समान ही होता है। चेस ने 'विरेचन-प्रक्रिया' को जानवर को पालतू बनाने की अभिसंधन-क्रिया की तरह विवेचित किया है। कलाकार अपनी कला के पिजड़े में आस्वादक के जंगली मन को गिरफ्त कर उसें अभिसंधित-उन्नयनीकृत करता है—यही उसका सामाजिकीकरण या विरेचन है। फिर भी चेस की धारणा है, कि मिथक शिक्षण नही है, मिथक मात्र कविता है। अर्थात् वह आस्था, विश्वास, धर्म-धारणा भर नहीं है।[८५]

यहीं मिथक-चिंतक **अर्न्स्ट कैस्सिरर और सूजन लैंगर** से उनका विरोध हो जाता है। अर्न्स्ट कैस्सिरर ने हर्डर को 'इतिहास का कोपरनिकस' माना है और श्रद्धेय बतलाया है। पर, उन्होने मिथक और भाषा को एक ही स्रोत की दो धाराएँ सिद्ध कर हर्डर के मिथक से भाषोद्भव-सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रत्याख्यान किया है। उनके अनुसार दोनो मे केन्द्रीकरण और प्रतीकीकरण की वृत्तियाँ काम करती है। ये वृत्तियाँ इसलिये क्रियाशील होती है कि सामान्य सवेदनात्मक अनुभव केन्द्रित और उद्गत होना चाहता है। मनुष्य आवश्यकता और प्रयोजन के अनुसार प्रतीक गढता चलता है। प्रतीक में विषय और विषयि एकमेक हो जाते हैं। बिम्ब और बिम्बित वस्तु, रूप और नाम का एकीकरण हो उठता है। आदिम मनुष्य में 'मैं' 'मेरे' से पृथक् न

था, न 'अह' 'इद' मे पृथक् था। द्रष्टा और दृश्य में अन्तर न था। द्वैधीकरण की यह प्रक्रिया चिंतन, मनन, अन्तर्निरीक्षण, तर्कणा आदि के उदय के बाद की प्रक्रिया है। तभी इस पार्थक्य का बोध संभव होता है। आदिम मनुष्यो ने शब्द द्वारा उस मिथकीय प्रतीति को एक प्रकार की स्थिरता और दृढता दी। मिथकीय प्रतीनि अगम और धु धली कुहेलिका से आच्छन्न थी। वह क्षणिक भी थी। फलस्वरूप, वे शब्द भी उन मिथकीय प्रतीतियो के 'नाम'-रूप होकर तदनुरूप अगम और मिथकीय हो गये, अर्थात् शब्द = शब्द द्वारा सकेतित वस्तु, अथवा बिम्ब = पदार्थ, नाम = रूप इस प्रकार हो गए। सारतः, देव-नाम ही 'देवता' हो उठा। प्रतीक और प्रतीकित मिथकीय तत्व की एकात्मता ही मनुष्य की विशेषता थी। आदमी मूलतः विवेकवान प्राणी नही है; प्रतीक-निर्माता प्राणी है। जैसे-जैसे विचारो का उदय और मानसिकता की सवृद्धि होती गई है, मनुष्य भावक से चिंतक होता गया है। आज के युग के लिये मिथकीय चेतना में प्रवेश शब्दात्मिका काव्य द्वारा ही सभव है। कविता मे ही भाषा अपने छूटे हुए उस अंश को प्राप्त कर लेती है, जो मनुष्य की आदिम चेतना में स्पन्दित था। कविता का संसार प्रतिभास (इल्यूजन) और कल्पना (फैंटेसी) का संसार है। इसी प्रातिभासिक जगत् मे शुद्ध रागो का उन्मेष होता है और वे पूर्णत. प्रकट होते तथा सम्मूर्त्त होते हैं। ये शुद्ध राग जीवन के वास्तविक एवं आदिम राग हैं; व्यक्ति-चेतना मे अन्तर्निहित समष्टि-चेतना के राग हैं। वे अन्तर्वर्ती जीवन के सच्चे अभिव्यजन हैं। इस प्रकार कैस्सिरर ने मिथक और काव्य की प्रकल्पना कुछ इस प्रकार की है, कि वे धर्म और विज्ञान के द्वैध का, आदिम राग और आधुनिक बुद्धि तथा मिथक और काव्य आदि के वैषम्य का अपनी कल्पना द्वारा एकीकरण करते हैं। भावो-सवेगों के लुप्त या छूटे हुए आयामो को पुनरुज्जीवित कर वे व्यक्ति की चेतना को आदिम राग-बोध से जोड़ते तथा व्यक्ति की द्विध्रुवीय चेतना में से एक ध्रुव की पूर्ण तृप्ति का अवकाश देते हैं। तभी व्यक्ति दूसरे ध्रुव की सम्पूर्त्ति के लिए, अमूर्त्तन और विसर्जनपरक विज्ञान के अनुशीलन के लिये विचार और बुद्धि का उन्मेष कर सकेगा।[८६]

श्रीमती सूजन के० लैंगर ने कैस्सिरर की भांति मिथक को आध्यात्मिक चिंतन का आदिम रूप, सामान्य धाराओं का पुंज माना और बतलाया कि भाषा जैसे-जैसे तर्क-प्रधान होती गई मिथकीय चेतना भी खंडित होती गई है। पर चेतना की समाप्ति नहीं होती। बौद्धिकता और तार्किकता की अति

होते ही नया मिथक जन्म लेगा। कलात्मक जीवन मिथ्या-चेतना या भ्रांति नही है जो आई-गई-जैसी हो। वह वास्तविक चेतना है। कला-काव्य मे जो आन्तरिक रागबध है, वही उसकी अन्त पर्यवसायी ('इम्पोर्ट' न कि ट्रान्सपोर्ट) धारा है। कला स्वत विषय है, बाह्य है, आभ्यतर रागो का मूर्त्तन है। परन्तु उसका प्रयोजन सम्मूर्त्तन द्वारा आत्मद्रवण है, आत्मानु-प्रवेश या समाधि है (लाइफ ऑफ सेंटिएंस)। मिथक, पुरावृत्त, परिकथा आदि स्वत कलाकृतियां नही है। किन्तु उनके लिये उपादान है। कल्पना-प्रवाह के नियमादि विधानो के अनुशीलन के लिये वे नये साधन प्रस्तुत करते है।[८७]

नार्थ्रोप फ्राई की दृष्टि मे काव्य का निमित्त कारण कवि है, उपादान कारण आर्केटाइप है। साहित्य की कल्पना प्राक्-साहित्यिक तत्वों द्वारा उन्मिषित होती है और ये है पूजाकृत्य, लोकगाथा, मिथक। इसी भांति दूसरी आलोचिका **मॉड बाडकिन** ने काव्यतत्व पर मिथक के प्रवाहो का अनुसधान कर बतलाया है कि काव्य मात्र मे कुछ आदिम मिथकीय तत्व, जैसे—गुफाएँ, खाइयां, पाप, अभियोगत्रस्त घुमक्कड, झरने, जल-प्लावन, मृत्तिकागर्भ में अनाज आदि मिलते हैं। काव्य-तन्तुओं मे निरन्तर उभर आने वाले ये बिम्ब काव्य की कल्पना को और रूप-प्रकारो, अर्थ-सन्दर्भों आदि को गहराई और फैलाव के आयाम देते है। काव्यगत मिथकीय चेतना का ऐसा अनुशीलन अध्ययन ही उचित है।[८८]

ललित्यसर्जना और विविक्तवर्ण भाषा :—

आचार्य **हजारी प्रसाद द्विवेदी** ने मिथकों पर अपने विचार उन्हे भारतीय मनीषा द्वारा प्रकल्पित 'सिसृक्षा' का प्रकार मानकर प्रस्तुत किए हैं (**आलोचना** : अक ४० अक्तूबर-दिसम्बर १९६७)। 'विविक्तीकरण की शक्ति सिसृक्षा का ही आरंभिक रूप है। यही पश्चिमी विचारकों द्वारा सम्मूर्त्तन-शक्ति, 'पावर ऑफ इमेजिनेशन' मानी गयी है। विविक्तीकरण का उदय सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति के द्वारा मनुष्य में पशु-पक्षियो के साथ हुआ है। ध्वनन, अनुनादन, शरीर-विकारादि का प्रकाशन, सात्त्विक भावादि के विविध रूप उसी के उदाहरण है। फिर अक्षरों, शब्दों—यानी भाषा के द्वारा विविक्तीकरण चला। भाषा ने विविक्तीकरण की चाल तेज कर दी। इससे 'राग' का अंश छूटने लगा। 'ईर्ष्या' के लिये तब शब्द-द्वारा

अभिव्यक्ति का प्रयास हुआ। कहा गया 'डाह'। यह 'डाह' है 'दाह' यानी जलन। यह भाषिक नाम मिथ्या है। पर अन्दर-अन्दर आदमी ईर्ष्या में जलता ही है। अत है यह गहरे देखने पर सत्य। 'मिथक-तत्व अन्तर्जगत् के भाव को बहिर्जगत् की भाषा मे व्यक्त करने का नाम है—बाहर से मिथक, मिथ्या; गहराई में सत्य।

द्विवेदी जी ने माना है कि 'मिथक-तत्व' भाषा का पूरक है। 'मिथक' सामूहिक मानव की भाव-निर्मात्री शक्ति की अभिव्यक्ति है। कलाकार मे भी जो 'मिथकीय' सिसृक्षा उदित होती है, वह समष्टि और आदिम अनुभूति है, ऐसी जो विविक्तवर्ण भाषा के प्रादुर्भाव के पहले की है। ध्वनि-प्रवाह के विविक्तीकरण मे मनुष्य से अखिल ध्वनन छूटा या छान्दस् छूटा, लय छूटी राग भी छूट गये। अनुराग-योग का कम्पन फिर भी सब मे होता है। वही कम्पन सगीत मे, नृत्य मे, मूर्त्ति में, नाट्य और काव्य मे कलाकार द्वारा सम्मूर्त्तित होता है। कलाकार के हृदय में 'मिथकीय' सिसृक्षा ही युग की दृष्टि से 'आर्किटाइपल इमेज' या आदिम बिम्ब की निर्मिति के रूप मे प्रकट होती है। यह सिसृक्षा उन छूटे हुए अंशों का सधान ही है। हर क्षेत्र मे यह सर्जनात्मक 'मिथक-तत्व', निर्वैयक्तिक वस्तुपरक विज्ञान-शास्त्रियो मे भी, कल्पनावृत्ति को उकसाता रहता है। जैसे मनुष्य से ध्वनन छूटा, लय और राग छूटे, वैसे ही विविक्तीकरण की प्रक्रिया में 'मिथक' भी छूट गया। काव्य उस छूटे हुए ध्वनन, लय, राग और मिथक को पुन: अन्य मूर्त्त कलाओं की भाति कुछ सूक्ष्म रूप मे सृष्ट करता है। वह विवेक द्वारा सम्मूर्त्तन है—वृत्त की सृष्टि है, अर्थ की रचना है। अर्थप्रधान विविक्तवर्णात्मिका भाषा का सहारा लेकर छद वृत्त बनाता है और अर्थनिरपेक्षा अविविक्तवर्णात्मिका भाषा का आश्रय ग्रहण करके राग बनाता है। राग के रूप मे वह संगीत है, वृत्त के रूप मे काव्य। पर एक दूसरे को वे प्रभावित करते हैं। विकसित मस्तिष्क में ही सिसृक्षा का सर्वोत्तम विकास होता है।'

इस प्रकार आचार्य द्विवेदी ने कैस्सिरर के प्रतिभास (इल्यूजन) और कल्पना (फैन्सी) को तथा अह-इद के योग को मिथ्या एवं सत्य के मिथुनीभूत 'मिथक'-तत्त्व मे समेट लिया है। किन्तु कैस्सिरर का प्रस्थानक्रम है: मिथक→काव्य→विज्ञान। परन्तु द्विवेदीजी ने मूलभूत सिसृक्षा में मिथक के उपरान्त काव्य को तो माना, और विज्ञान में भी उसकी शक्ति अप्रतिहत

मानी, पर यह नहीं स्वीकारा कि विज्ञान काव्य के बाद की मिथक-सर्जना है। द्विवेदीजी ने युग के 'आर्किटाइप' की प्रकल्पना और समष्टिचित्त को तांत्रिकों की सर्वात्मिका संवित् की प्रकल्पना से अभिन्न माना है।

काव्यबिम्ब-सर्जन और कल्पना

कल्पना मनुष्य की सभी सचेत प्रत्यर्थताओं-प्रत्यक्षों, स्मरणों, सहचारों मे एवं वृत्ति-प्रवृत्ति, संकल्प, योजना तथा कार्य-व्यापारादि में उपस्थित रहकर नियमन, निर्देशन, अभिप्रेरण करती है। कालरिज कल्पना को 'प्राइमरी एजेंट ऑफ ऑल पर्सेप्सन्स' मानते थे। भारतीयों ने प्रत्यक्ष के विवेचन मे 'कल्पनाऽप्रौढम्' का जो निर्वचन किया था, उसमे उसकी सार्वत्रिक विद्यमानता का ही प्रकारान्तर मे सकेत है। कला का आविर्भाव उसकी ही प्रेरणा से हुआ और होता है। कल्पना ही काव्य-बिम्ब की उद्भावना करती, चर्वणा-द्वारा भावित करती एव शब्दादि में अभिव्यंजित करती है। भूतकालीन बिम्बो की वर्त्तमानकालिकता कल्पना के द्वारा सभव होती है, और उनकी भविष्यत्कालीन सभवनीयता भी कल्पना के विनियोग द्वारा सकेतित होती है। इस प्रकार काव्य-सर्जन की दृष्टि से कल्पना के प्रधानतः तीन प्रकार्य है :—

१— वह काव्य-बिम्ब की अनुभूति को स्फुरित करती है
२— समाहित चित्त द्वारा उसे भावित कर प्रज्ञा का उन्मेष करती है जिससे उसमें भाव-सचरण की शक्ति आती है, एव
३—अनुभूयमान को रूपायित करती है।

प्रथम के गुणधर्म दूसरी और तीसरी मे सामान्यतः सम्प्रसारित होते हैं। यह सम्प्रसारण अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति निरूप्य का रूपायण अथवा फार्म या टेक्सचर का मैटर या स्ट्रक्चर में जैव कोशसवर्धनव्यापार के समान सम्मूर्त्तन है। कल्पना अनुभूति के अन्तर्मुखी व्यापार और अभिव्यक्ति के बहिर्मुखी व्यापार मे एक साथ क्रियाशील रहती है। नवरचना के लिए कल्पना कल्प-लोक है। काव्यादि के समस्त रूप-कल्प और बिम्ब कल्पना के इस कल्प-लोक से ही अवतरित होते हैं।

> आह! कल्पना का सुन्दर यह जगत मधुर कितना होता।
> सुख स्वप्नों का दल छाया में पुलकित हो जगता-सोता। —प्रसाद कामायनी

काव्यादि मे कल्पना युग, परिवेश, वृत्ति आदि के अनुसार परिशोधित और परिनिष्ठित होकर कार्य करती है। यह शोधन उसकी आन्तरिक ऊर्जा

या वेग में शमन या दबाव भी लाता है। फलतः, दूसरे क्षेत्र या काल मे वह दूने वेग से फूटती है। किन्तु कल्पना का यह विस्फोट सामान्यतः रूप के विरूपीकरण और नव्य अभिव्यंजन-माध्यमो मे दिखाई पडता है। द्विवेदी-युगीन काव्यधारा मे कल्पना के युगीन एव परिवेशगत परिशोधन के दबाव पड़े थे। अतएव काव्यकल्पना की ऊर्जा शमित हुई थी। छायावाद मे उसका विस्फोट हुआ। 'प्रपद्यवाद', प्रयोगवाद मे भी बन्धन आदि को झिटक देने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। काव्यकल्पना का वक्र-व्यापार युगीन चाप की स्वभावोक्ति के कभी अनुकूल प्रवाहित होती है, कभी प्रतिकूल और कभी दोनो मे सयुक्त-वियुक्त अद्भुत। कविता आदि में कल्पना की रूप-सरचना की शक्ति के विविध प्रकार परिलक्षित होते है। उनमे प्रधानतः दो कोटियाँ मानी जा सकती है—

१. सम्मूर्त्तन-प्रधान कल्पना (प्लास्टिक इमेजिनेशन) अथवा ठोस, स्पृश्य बिम्बनक्षम, एवं

२ सवेग सचर कल्पना (इमोशनल इमेजेशन) अथवा मूर्त्तामूर्त्त बिम्बन-क्षम।

(१) **सम्मूर्त्तन-प्रधान कल्पना** मूर्त्त बिम्ब प्रस्तुत करती है, जैसे सूर्योदय का यह बिम्ब मूर्त्त का मूर्त्त-रूप है :—

सखि नील नभस्सर से उतरा यह हंस अहा तिरता तिरता
अब तारक मौक्तिक शेष नही निकला उनको चरता चरता
अपने हिमबिन्दु बचे तब भी चलता उनको धरता धरता
गड जाय न कण्टक भूतल के कर डाल रहा डरता डरता। —गुप्त साकेत

और ग्रीष्म ऋतु का, यानी अमूर्त्त का यह मूर्त्त-रूप बिम्ब है :—

आकाश-जाल सब ओर तना, रवि तन्तुवाय है आज बना,
करता है पद-प्रहार वही, मक्खी-सी भिन्ना रही मही। —गुप्त : साकेत

और यह अमूर्त्त का तादात्मक मूर्त्त बिम्ब रूप है :—

लपट से झट रूख जले जले, नद-नदी घट सूख चले, चले
विकल वे मृग-मीन मरे मरे विफल ये दृग दीन भरे भरे। —गुप्त : साकेत

(२) **संवेग-संचर कल्पना** :—भावसचरित कल्पना मूर्त्त का (क) मूर्त्त (ख) अमूर्त्त एव (ग) मूर्त्तामूर्त्त रूप प्रस्तुत करती है : यथा—

मूर्त्त—बढी तपिच्छ शाखा-सी भुजाएँ अनुज की ओर दायें और बायें।
जगत-संसार मानो क्रोड़गत था, क्षमा छाया तले नत था निरत था।—गुप्त : साकेत
न्य मानों रिक्त घन था, जल भी न था, न वह गर्जन था। —गुप्त : साकेत

अमूर्त – अरी वरुणा की शान्त कछार ! तपस्वी के विराग की प्यार । —प्रसाद : झरना
अहा गोपियों की यह गोष्ठी वर्षा की ऊषा-सी,
एक अतर्कित स्वप्न-सी देखकर चकित चौंकती धृति-सी
हो-हो कर भी हुई न पूरा ऐसी अभिलाषा-सी । —हरिऔध : द्वापर
धीरे-धीरे संशय से उठ बढ़ अपशय से शीघ्र अधीर —पंत : पल्लव
मूर्त्तामूर्त्त— मादकता सी तरल हँसी के प्याले में उठती लहरी ।
मेरे निश्वासों से उठकर अधर चूमने को ठहरी ॥ —प्रसाद : आँसू
लदी हुई कलियों से मादक टहनी एक नरम-सी ।
यौवन की विनती-सी भोली गुमसुम खड़ी शरम-सी । —दिनकर : रसवंती

अथवा छोटे को विराट् और विराट् को लघु बनाती है । यथा—

(१) रत्नाकर बनी चमकती मेरे शशि की परिछाईं । —प्रसाद : आँसू
(२) देखा बौने जलनिधि का शशि छूने को ललचाना । —प्रसाद : आँसू

पहले के कवियों में प्रसंग, प्रकरण, हेतु, शब्दादि के संधान के लिये कल्पना का उड़ान भाव के क्षेत्र में होती थी, आज बुद्धि के क्षेत्र में अपेक्षया अधिक होती है । उदाहरण-स्वरूप, पंत की संध्या यह है—

विदा हो गई साँझ, विनत मुख पर झीना आँचल धर
मेरे एकाकी आँगन में मौन मधुर स्मृतियाँ भर
नव असाढ़ की सध्या में, मेघों के तम में कोमल,
पीड़ित एकाकी शय्या पर, शत भावों से विह्वल । पंत :—आधुनिक कवि

और 'नरेश' की शाम की कल्पना यह है—

आज की बीमार, बुझी साँझ की ये रोशनियाँ
पीले टिंकचर की तरह, फैल रही, फैल गयीं
आज तो बीमार सभी, बेहोश सभी । —नरेश मेहता : बनपाखी सुनो

पंत की सध्या सध्या से अलग, सांध्य-भावना से आर्द्र करती है । उस पर 'मुग्धा' का रूप-बिम्ब आरोपित है । पर नरेश की 'साँझ' मात्र अपने बिम्ब प्रस्तुत करती है । पीले टिंक्चर का बिम्ब कविता का अभिन्न अंग है ।

पुराने ढंग की कविता में कथन की युक्तियुक्तता अथवा कारण दिये रहते हैं । उदाहरण-स्वरूप, रहीम पहले एक प्रसंग देते है, पुन. दूसरी पंक्ति में उसके कारण की कल्पना भी करते हैं :

धूँरि धरत नित सीस पर कहु रहीम केहि काज ।
जेहि रज रिसि पतनी तरी, सो ढूँढत गजराज ॥

आधुनिक कविता में कथ्य की युक्तियुक्तता के लिए कारण प्रत्यक्षतः उल्लिखित नहीं भी रहता है । उसकी उद्भावना का काम पाठक पर छोड़ दिया जाता है । फलतः कविता कवि और आस्वादक दोनों के कल्पना-व्यापार द्वारा निर्मित और बोधगम्य होती है ।

> एक लाश खड़ी करके, दूसरी लाश उसके सर पर लिटा दी गई है,
> ताकि उसकी छाँह के तले ठण्डक से ऐंठे हुए
> दो बेहोश जहरीले साँपों के फन
> एक ही कमल की पखुरी पर
> सुलाये जा सकें।
>
> —सर्वेश्वर : पीस पैगोडा

उपर्युक्त दोनो कवियों की कल्पना बौद्धिक है, पर रहीम की कल्पना पौराणिक कथा के स्मरण द्वारा बिम्ब को धार्मिकीकृत करती है और यह विम्ब पाठक को अन्तर्मुखी बनाता है। सर्वेश्वर की कल्पना से 'पीस पैगेडा' 'लाश-पेगोडा' के रूप में बिम्बित होता है और विक्षेप जगाता है।

कल्पना की रूपनिर्मिति और प्रयोजन दोनो बदल गये हैं। कहीं कल्पना भावात्मक बिम्ब के द्वारा संवेदनात्मक भ्रम (सिम्पैथेटिक इल्यूजन) प्रस्तुत करती है और कहीं बौद्धिक बिम्ब के द्वारा कर्म-प्रवृत्ति जगाती है। भाव-बंध दोनो मे है। पहलो में भावना या राग अधिक है, दूसरी में ऐन्द्रियिकता और दूरारूढ़ता अधिक। दूरारूढ़ कल्पना की उड़ानें भी संवेग-संचर कल्पना-निर्मितियो में मिलते हैं। नरेश कुमार मेहता की 'उषस्' सम्बन्धी कविताओं में तथा किरन धेनुएँ, चरैवेति, अश्व की वल्गा शीर्षक कविताओ में भी दूरारूढ कल्पना की शुद्ध क्रीड़ा है।

(३) **प्रत्यक्षाश्रित कल्पित बिम्ब** :—कल्पना प्रत्यक्षाश्रित और पुनरावृत्यात्मक हो अथवा सर्जनात्मक, जिस रचयिता का प्रत्यक्षग्रहण जितना प्रगाढ होगा, उसके कल्पना-निर्मित बिम्ब मे उतनी ही विश्वसनीयता, वेधकता और सान्द्रता होगी। इस कारण ही माखन लाल चतुर्वेदी के प्रत्यक्षाश्रित कल्पित बिम्ब भाव का तीक्ष्ण और प्रगाढ अनुभव कराते हैं। गुरुभक्त सिंह 'भक्त' जी की प्रत्यक्ष-ग्रहण की विशदता ही 'नूरजहाँ' के प्रकृति-चित्रण को रसमय बना सकी है। 'नई कविता' मे जो तीखापन है वह प्रत्यक्षाश्रित बिम्ब के भी कारण। प्रत्यक्षाश्रित कल्पना के बिम्ब स्पष्ट, प्रखर, और उभरे हुए होते हैं; यथा :—

क्रीडात्मक :—

> दूर क्षितिज पर महुओं की दीवार खड़ी है,
> जिस पर चढ़कर सूरज का शैतान छोकरा झाँक रहा है।
>
> —रघुवीर सहाय, दूसरा सप्तक

रम्य घरेलू वातावरण :—

पीपल की सूखी खाल स्निग्ध हो चली
सिरिस ने रेशम से बेणी बाँध ली
नीम के भी बौर में मिठास देख
हँस उठी है कचनार की कली
टेसुओं की आरती सजा के बन गई वधू वनस्थली।

—अज्ञेय बावरा अहेरी

गंगा की छाती पर उग आये है छाई रंग के दाग ···
तूफानी दरिया के उस पार एक मुर्झाए पीले पात की तरह
फेंक दिया गया है चाँद। फैले पीले बालू के तट से
बँधी है छोटी बडी अनेक नावें।
अधखुले पाल छितराये पतवार, बाँस बल्ले, नावघर से उठते धुँए······
बडी सफाई से किसी ने कसीदा काढ़ दिया है।

—अनुरंजन : पाषाण प्रतिमा

किन्तु काल्पनिक कल्पना के बिम्ब मे हवाईपन रहता है यथा :—

खामोश सड़कों पर स्थित अगर किसी रैस्तरां का नाम 'मैगनोलिया' हो
तो भाड़े की प्रेयसी के साथ वहाँ इतमिनान में
चाँदी के पॉट में अच्छी काफी पीने को मिल सकती है
लेकिन खिड़की के कंधों पर लोटती मैगनोलिया की लता नही मिलेगी
तब मैगनोलिया नाम भी छद्मनामों की तरह निरर्थक लगेगा।
और उसके श्वेत या हलके गुलाबी रंग के फूल भाड़े की प्रेयसी जैसा; —वही

'मैगनोलिया' की लता नही होती। होती हो, तो भी श्वेत या हलके गुलाबी रंग की अनिश्चयात्मकता से युक्त तो नहीं होगी। यह कल्पना काल्पनिक कल्पना है, प्रत्यक्षाश्रित नहीं।

हरिऔध, गुप्त, माखन लाल, निराला, पंत, दिनकर आदि कवियों के प्रत्यक्षाश्रित कल्पित बिम्ब मूर्त्तता-प्रधान हैं। प्रयोगवादी कवियों में एवं नई कविता के कवियों में जैसे अज्ञेय की 'पानी बरसा' 'देख क्षितिज पर उगा चाँद' 'कतकी पूनो' 'सागर संध्या' आदि मे तथा कुँवर नारायण, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, आदि की अनेक कविताओ मे प्रत्यक्षाश्रित कल्पित बिम्ब कवि की निर्लिप्त तन्मयता और सहज दृष्टि के सूचक हैं।

पश्चिम के देशों ने इधर जिन भयंकर युद्धों, विभीषिकाओं और यातनाओं को भोगा है, पूरब के चीन, जापान, कोरिया आदि ने जैसी पीड़ा सही है, उनसे

भारत को नहीं गुजरना पड़ा है। फलतः, वहाँ की स्वभुक्त अनुभूतियों में भय, आतंक, टूटन आदि जिस कड़वाहट, गहराई और भयकरता से उभरते है, भारत मे पहले नहीं उभरे थे। अतएव इस प्रकार की कविताओं में प्रत्यक्षाश्रित कल्पना और काल्पनिक कल्पना के बिम्ब अलग-अलग प्रतीत होते है। यथा काल्पनिक कल्पना के निम्न बिम्ब प्रत्यक्षाश्रित से भिन्न है :—

जब भी मैं सीने का प्रयत्न करता हूँ
अनगिन कटे सिर लटक जाते है
दहकते हुए सितारे आसमान से टूट कर
मेरे कमरे की छत से
उसमें एक सिर मेरा भी होता है
मेरी चारपाई के नीचे बिछ जाते है।

—अवधनारायण मुद्गल, माध्यम

इससे पहले कि पागल हो जाऊँ
हाथ में जहर बुझा खाड़ा लिए हुए
रुकूँ नहीं कहीं नहीं
ये अपनी आँख, नाक, कान, जिह्वा
चढ़ बैठूँ गरदन पर
सड़ासड़ मारता चला जाऊँ
या दबा दूँ जलती रेत मे
कूद जाऊँ ताजे चूने के हौज में।

—कैलाश वाजपेयी : संक्रांत

धर्मवीर भारती के 'अन्धायुग' और 'कनुप्रिया' काव्यो मे तथा 'सात गीत वर्ष' की कई कविताओं में, अजित कुमार की 'अकेले कंठ की पुकार' में सर्वेश्वर दयाल की 'बाँस का पुल', शंभु नाथ सिंह (सौ वर्ष बाद) कुँवर नारायण (आत्मजयी), रघुवीर सहाय (दे दिया जाता हूँ), विपिन अग्रवाल (आधुनिक कविताएँ) आदि की रचनाओं में यन्त्रणा, त्रास, पीड़ा, टूटन, असहायपन और अकेलेपन के अहसास के बेधक बिम्ब हैं। मुक्तिबोध ने भीड़तंत्र से त्रस्त मानव के तीखे बिम्ब 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में प्रस्तुत किए हैं।

(४) **मुक्त और निबन्धित बिम्ब**—सहचार या आसंग की भाँति ही कुछ कल्पना जीवन-जगत् से मुक्त और स्वच्छन्द-सी रहती है, कुछ सम्बद्ध। रूमानी कविताओं मे, फैन्टेसी में मुक्त कल्पना के प्रचुर उदाहरण मिलेंगे। प्रगतिवाद और नई कविता मे जीवन-जगत् से सम्बद्ध कल्पना की विशेषता दिखाई पड़ती है। मुक्त कल्पना कभी बिम्बो से क्रीडा करती-सी धारा प्रस्तुत करती है, जैसे पंत की 'बादल' शीर्षक कविता मे, और कभी बिम्ब से बिम्बानुबिम्ब की रचना प्रस्तुत कर रंजन करती है; यथा—

(१) तरुवर की छायानुवाद-सी, उपमा-सी, भावुकता-सी, अविदित भावाकुल भाषा-सी
—पंत : पल्लव

(२) बाँधा विधु को किसने इन काली जंजीरों से,
मणि वाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से। —प्रसाद : आँसू

(३) नाक का मोती अधर की कान्ति से बीज दाडिम का समझ कर भ्रांति से
देख उसको ही हुआ शुक मौन है, सोचता है अन्य शुक यह कौन है —गुप्त : साकेत

(४) घन में सुन्दर बिजली सी, बिजली में चपल चमक-सी,
आँखों में काली पुतली, पुतली में श्याम झलक सी।
प्रतिमा में सजीवता-सी, बस गयी सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में॥ —प्रसाद : आँसू

(५) करुणे क्यों रोती है, 'उत्तर' में और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति है जो उसका 'भवभूति' क्यों कहे कोई। —गुप्त : साकेत

इनकी उदाहरणता में क्रीड़ावृत्ति है। क्रीडाएँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। कहीं बिम्बानुबिम्ब सम्प्रसारण है, जैसे (१), (२) और (३) में; तो कहीं बिम्बमाला है, जैसे (४) में। यह बिम्बमाला भी ऐसी रचित है, कि दूसरे बिम्ब में पहला अनुप्रविष्ट है। प्रथम बिम्ब 'घन में सुन्दर बिजली-सी' में ही अन्तिम बिम्ब 'थी एक लकीर हृदय में' लौट जाता है। इस प्रकार एक वृत्त बन जाता है। (५) की कल्पना में रोती हुई करुणा के कल्पनानिर्मित बिम्ब से स्थूल बिम्बानुबिम्ब 'भवभूति' और 'उत्तर राम-चरित' एक गूढ़ तथ्य को संकेतित कर जाते हैं—'साकेत' का नवम् सर्ग 'भवभूति' से प्रभावित नहीं, फिर भी लोग नहीं समझते।

मुक्त बिम्ब 'निराला' की कतिपय कविताओं में, तथा अज्ञेय की 'भग्नदूत' 'चिंता' 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' एवं नरेश, शमशेर, रघुवीर सहाय और मुक्तिबोध की कविताओं में पर्याप्त मिलते हैं और वे अक्खड़ और बेलौस स्वच्छन्दता के परिचायक हैं। यथा—

कि इतने में कहीं से चोर आवाज़ें
अनेकों रेडियो के गुप्त सन्देशों भरे षड्यन्त्र
वा उनके बीच में ही
तहखाने कि जिनमें ढेर एटम बम।
विलक्षण सीटियाँ, खड़के
जासूसी तहलके मुलाकातें
तोड़ने के, मोड़ने के तन्त्र।
—मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है।

(५) **बिम्बाभासी बिम्ब-कल्पना**:—कभी-कभी कल्पना मात्र नाद, शब्द, आदिद्वारा स्पष्ट बिम्ब प्रस्तुत करती है, जिनमें रसनीय, दृश्य, श्रव्य आदि कोई ऐसा तत्व नहीं रहता, जो मन को गृहीत हो। तब जो बिम्ब बनता है, वह बिम्ब का क्षीण और अस्फुट आभास मात्र देता है। यथा :—

तडाग में कंज, निशेष व्योम में, समुद्र में रत्न, प्रसून भूमि में
रचे पुरोडास ने कहीं-कहीं, परन्तु एकत्र किये यहीं-यहीं।

इस बिम्ब में किसी सुन्दरी का स्फुट चित्र नहीं उभरता; यद्यपि 'अलंकार' का चमत्कार इसमें है। कभी-कभी अतिशयता या वाचनिकता से

ी बिम्ब इतने उभर आते हैं कि अपनी ऐन्द्रियता में ही जड़ हो उठते हैं—
.था—

"त्वदीप पाताल समान नाभि है, उरोज हैं उच्च नागाधिराज से।

नई सूझ के कारण भी बिम्ब-कल्पना बिम्बाभासी होती है, यथा—

रात का साँप है खा गया;
चाँद का नेवला;
और चाँदनी यहाँ
मर गये उस साँप की केंचुल-सी,
पड़ी निर्जीव है। —सतीश चन्द्र चौबे, नये स्वर।

(६) वृत्तात्मक एवं त्रिकोणात्मक अथवा स्त्रैण एवं पौरुष-प्रधान बिम्ब:—कल्पना-सृष्ट बिम्ब (क) स्त्रैण एवं (ख) पुमार्थनिष्ट अथवा क्रमश: समर्पण-मयी वृत्तात्मक एवं पौरुष-प्रधान त्रिकोणात्मक प्रवृत्ति के माने जा सकते हैं। उदाहरणस्वरूप रोमांटिक कवियों की कल्पना कहीं स्त्रैण और समर्पण-प्रधान है तो कहीं त्रिकोणात्मक पौरुष-प्रधान और उग्र है, यथा :—

(क) लाई हूँ फूलों का हास, लोगे मोल लोगे मोल। —पंत

(ख) अबे, सुन बे, गुलाब! भूल मत गर पाई खुशबू, रंगो आब।
हाथ जिनके तू लगा, पैर सर पर रख के पीछे को भगा।
जानिब औरत की, मैदाने जंग छोड़। —निराला : कुकुरमुत्ता

वक्र कल्पना वाममार्गी वृत्ति-जैसी है। बिम्बवाद, प्रतीकवाद, सुर-रियलिज्म आदि में इसके मन्द-तारादि रूप मिलते हैं। अन्तर्मुखी वृत्ति की प्रधानतावश स्त्रैण कल्पना स्वप्न, दिवास्वप्नादि से पूर्ण पलायनवादी रचनाओं का सर्जन करती है। पलायनवाद स्वयं जैसा भी हो, काव्य-सर्जन में उसका औचित्य और मूल्यांकन उससे सृष्ट रचनाओं के जीवन-जगतादि से सम्बन्धित कथ्य और कथन-ढंग से करना उचित है। उसमें नव सर्जन और मांगलिक ऊर्जा न हो, तो वह ह्रासशील साहित्य का प्रेरक होगा। ह्रासशीलता के विविध रूप और प्रकार हिन्दी-कविता में, एवं अन्यत्र भी तभी दिखाई पड़े हैं जब सर्जनात्मक कल्पना क्षीण और आवृत्ति-परक हो गई है।

(७) स्वप्नाभासी बिम्ब-कल्पना—

जब झपक जाती हैं थकी पलकें
जम्हाई सी स्फीत लम्बी रात में।
निसृत होती है अयानी एक नन्हीं सी शिखा।
काँपती भी निद्रा। नर्तित अपवर्ग की अप्सरा-सी वह। —अज्ञेय

देख क्षितिज पर भरा चाँद मन उमगा मैंने भुजा बढ़ाई।
हम दोनों के अन्तराल में कभी नहीं कुछ दी दिखलाई।
किन्तु उधर प्रतिकूल दिशामें उसी भुजा की आलम्बित परछाई
अनायास बढ़ लील धरा को क्षिति की सीमा तक जा छाई। —अज्ञेय

इन दोनो कविताओं में प्रतीक स्वप्नाभासी है, प्रथम में नन्ही शिखा 'अनकहा, हृदय का प्यार' है और फ्रायड के सिद्धान्त के अनुरूप है; दूसरी कविता में 'चाँद' भी वही है। पर दोनों में से 'चाँद' के प्रतीकत्व में परिष्कार और पर्युत्थान परिलक्षित होता है।

(८) सार्वकालिक छायाभासी बिम्ब-कल्पना—

निर्वैयक्तिक उपचेतन-अचेतन के द्वारा उन्मिषित बिम्ब सार्वभौम और सार्वकालिक बिम्ब होते हैं। यथा—

आज के विविध अद्वितीय इस क्षण को पूरा हम जा लें, पी लें, आत्मसात कर लें
उसकी विविक्त अद्वितीयता आपको, किमपि का, क ख ग को।।
अपनी सी पहिचनवा सके रसमय कर दिखा सके :
शाश्वत हमारे लिए वही है अजर अमर बेदितव्य अक्षर है
एक क्षण : क्षण में प्रवाहमान व्याप्त सम्पूर्णता।
इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो पिया था अगस्त्य ने।
—अज्ञेय 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये

इसमें अनुभूत क्षण की अद्वितीय सार्वकालिकता निर्वैयक्तिता के साथ बिम्बित हुई है। यह बिम्ब स्थिति-रूप है। गत्वर बिम्ब-कल्पना निम्न बिम्ब में देखी जाय—

दिग्विजय के अश्व हवा से भी लहर से भी
आयु के दिन पहर से भी आगे, बहुत आगे
तुम बराबर कहीं अगले मोड़ पर हो। —कुँवर नारायण, आत्मजयी

प्रसाद की 'कामायनी' में, अज्ञेय की 'आँगन के पार द्वार' 'सागर मुद्रा' में, कुँवर नारायण, केदार नाथ सिंह, विपिन अग्रवाल, शंभुनाथ सिंह की अनेक कविताओं में सार्वकालिक छायाभासी बिम्ब-कल्पना है। ऐसी कल्पना मे प्रखर बिम्ब-सृष्टियाँ अचेतन से उन्मिषित होती और मिथकीय बिम्ब रचनाएँ प्रस्तुत करती हैं। अज्ञेय ने ऊपर की बिम्ब-कल्पनाओ मे पौराणिक मिथक (अगस्त्य) का उपयोग कर बिम्ब मे नया आयाम ध्वनित किया है।

कभी-कभी अस्फुट और निगूढ (आबसक्योर) बिम्ब-रचनाएँ भी इस कल्पना से निर्मित होती हैं। यथा—

चाँदनी मेरी अमा का, भेंट कर अभिषेक करती
मृत्यु जीवन के पुलिन दो आज जागृति एक करती। —महादेवी

६. प्रतीकात्मक बिम्ब-कल्पना :—चेतन और उपचेतन, अवचेतन और अचेतन मानस से संरचित होने के कारण इन प्रतीकात्मक बिम्बों के विविध प्रकार होते हैं। यथा—व्यक्तिगत, आलंकारिक अथवा रूढ़, एवं प्राकृतिक।

व्यक्तिगत—एक इंधन से सुलगता दिन
बीच में जो पक गयी वह रात
सीझती है रात अन्तः स्नात !
जो सुलग कर रह गया वह प्रात।
—लक्ष्मीकांत वर्मा : सध्या

सारे शहर में एक नेत्रहीन किसे
ढूँढ रहा है, उसके हाथों में साँप की
तरह मुड़ा हुआ एक वाक्य है, उसकी
पीठ पर महुए के फूलों की तरह लाल (सफेद ?)
रुमाल लदे है, उसके सिरमें मोर की तरह
शीशे के टुकडे जड़े हैं वह किसे ढूँढ़ रहा है ?
—ऋतुराज ज्ञानोदय ६६

'व्यक्तित्व' की तलाश करने वाले व्यक्ति (नेत्रहीन) की वेशभूषा इसमे प्रतीकों से सजाई गई है।

आलंकारिक— अशांति धुआं और बेवसी
सिगरेट पीता हुआ आसमान
उमड़ते बादलों के धुआँधार छल्ले बेजवान
लाल काले नीले रंग घुले-मिले
तेज शराब की तरह मेज पर लुढकी हुई शाम में
धीरे-धीरे डूब गया दिन;
औंधे मुँह, रात गए कंधे पर लाद
कोई कमरे में डाल गया
रोज की तरह
आज भी।
—कुँवर नारायण : कविता

आज के दिन भर की ऊबभरी, व्यस्त और निरर्थक जीवन-गति का बिम्ब आलंकारिक प्रतीकों मे कल्पित किया गया है।

भावुक—सामने जूते पर जूता पडा है। लगा जैसे पंजे पर पंजा किसी ने रख दिया हो।
दुख आया जी। दर्द हुआ उठा और जूते पर से तिरछे जूते को हटा दिया।
—डा० जगदीश गुप्त : शब्ददंश

फैंटेसी-रूप—बाहर मैं कर दिया गया हूँ
भीतर पर भर दिया गया हूँ।
ऊपर वह बर्फ गली है
नीचे यह नदी चली है।
सख्त तने के ऊपर नर्म कली है
—निराला बेला

'फैंटेसी' शीर्षक देकर भी धर्मवीर भारती, गिरिजा कुमार, अजित कुमार आदि ने कविताएँ लिखी है।

ऐंद्रियिक—तकिये पे
दो
सुर्ख गुलाब मैंने
सेब मैंने समझे दो
समझे···
क्यों ?
तकिये पे सिर्फ मेरा सर था
आखों मैं
रात जल रही थी।
—शमशेर बहादुर : कुछ कविताएँ

जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वो पत्थर
सजग-सा होकर पसरने लगा
आप से आप।
—वही

इनमें काम-प्रतीकों को माध्यम बना कर एकाकीपन का संकेत किया गया है।

सहज घरेलू—मेरे आँगन में है रूई रूई का सूत
उत्तर से आँधी है दक्षिण से पानी
मुझको है दीये की बाती बनानी।
खबरदार रे आँधी पानी के पूत।

—ठाकुर प्रसाद सिंह : बंशी और मादल

इसमें रूई, सूत, दिया, बाती, आँधी, पानी जीवन-जगत् के घरेलू और पुरातन पदार्थ हैं। उनका इतना सहज प्रतीकात्मक प्रयोग हुआ है कि बिम्बों की समष्टि में जादुई आकर्षण आ गया है।

प्राकृतिक— द्वीप हैं हम। यह नदी है शाप
यह अपनी नियति है हम नदी के पुत्र हैं
बैठे नदी के क्रोड में। —अज्ञेय

प्रतीकात्मक बिम्बों की कल्पना में कुछ बिम्ब काम प्रतीक और मृत्यु-प्रतीक से भी लिए गए हैं। परन्तु धीरे-धीरे अज्ञेय, कुँवर नारायण, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह और शमशेर के प्रतीकों की कल्पना स्वच्छ और उदात्त होती गई है।

१०. **प्रातिभ बिम्ब-कल्पना**—इस प्रकार की बिम्ब-कल्पना में ऐन्द्रियिक मूर्त्तिमत्ता के साथ-साथ अमूर्त्त भाव-विचारों की व्यंजकता रहती है। यह रमणीय, सुकुमार बिम्ब भी प्रस्तुत करती है तथा विराट् बिम्ब भी। ऐसे बिम्ब संश्लिष्ट भी होते हैं, विश्लिष्ट भी।

रम्य संश्लिष्ट—गुलाबी पाँखुरी पर एक हल्की सुरमई आभा,
कि ज्यों करवट बदल लेती कभी बरसात की दुपहर।
इन फिरोजी होठों पर। —धर्मवीर भारती : दूसरा सप्तक

घरेलू दृश्य—साँझ, दिवस की पत्नी, अपने नील महल में बैठी, कात रही है बादल,
दिशि की चारों कन्याएँ माँग रही हैं तारों की गुड़ियाँ। —नरेश मेहता

प्राकृतिक दृश्य—सोने की वह मेघ चील अपने पंखों में ले
अंधकार, अब बैठ गयी दिन अंडे पर। —नरेश मेहता

विराट् बिम्ब-कल्पना (संश्लिष्ट)—

उस विराट आलोडन में, ग्रह तारा बुद-बुद से लगते।
प्रखर प्रलय पावस में जगमग ज्योतिरिंगणों से जलते। —प्रसाद : कामायनी

छायावादी विराट्-कल्पना से नई कविता की विराट-कल्पना भिन्न है जैसे व्यक्तित्व की निम्न विराट्-कल्पना में व्यक्ति सूर्य-जैसा कल्पित है।

एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता
पूरब से पश्चिम को एक कदम से नापता
बढ़ रहा है।—शमशेर : कुछ और कविताएँ

निम्न कविता मे विराट् स्निग्ध और पूत होकर भी अपरिमित में फैल जाता है, शांति और प्यार को स्पर्श कर जाता है।

सूर्योदय,　　एक अञ्जलि फूल　　जल से जलधि तक अभिराम !
इस अपरिमित मे　　अपरिमित शांति की अनुभूति—
अक्षय प्यार का आभास　　—कुँवर नारायण 'आत्मजयी।

विराट बिम्ब-कल्पना (विश्लिष्ट)—

एक छोटा-सा मौन है　　जिसमें पशु, वनस्पतियाँ और सड़कों के लैम्पपोस्ट
सब शामिल है　　और नंगे आसमान की एक खुली भाषा है
जिसमें कोई शरीर नहीं।　　एक अजब-सी रोशनी है
जिसमें चीजों का रंग हरा है या भूरा　　पीला है या सफेद
कुछ भी ठीक नहीं।　　—केदार नाथ सिंह

केवल अनुभव किए जाने योग्य जगत् के गतिशील रूप का यह विश्लिष्ट गत्वर बिम्ब जीवन की स्थिरता और अरूपता का चित्र प्रस्तुत करता है। बिम्ब के अन्तर्गत अनु-बिम्बो के अपने-अपने केन्द्र हैं। श्रव्य बिम्ब (मौन, भाषा) है जो दृश्य बिम्बो के साथ घुल कर विस्तीर्ण भी होते हैं और अरूप को संकेत भी करते हैं।

११. मिथकीय बिम्ब-कल्पना

कविता मे मिथक आकृति में, रूप मे अथवा दोनों के सम्मिश्रण में विन्यस्त हो सकते है। सम्पूर्ण कविता समग्र प्रभाव-रूप में भी मिथकीय अनुभूति का साक्षात् करा सकती है। एक उदाहरण लिया जाय।

'कामायनी' मे जलप्लावन के ससार-व्यापी मिथक का अतीव विराट् रूप प्रस्तुत हुआ है। यही नही, समस्त कथावस्तु मे मिथकीय चेतना अन्तर्व्याप्त है। जलप्लावन से उदित हो फिर आत्मप्लावन मे लीन होने वाली मातृ-सत्तात्मक समाज-व्यवस्था की यह कथा स्वतः 'मिथक' के उदय, विकास और उत्थान की परवलयिक उपनति रेखाक्रम मे इस प्रकार प्रस्तुत करती है :—

सामरस्य
↑ (सर्वात्मिका संवित्)
श्रद्धा + मनु
↑
श्रद्धा + मनु　↓ मनु　→ मनु + इड़ा → ↑ मनु
↑
जलप्लावन ↓ ↑ मनु →

क–आदिम प्राकृतिक मिथकीय चेतना—जलप्लावन, नौका, महावट, महामत्स्य, हिमगिरि, शिला, मनु के चिंतन के आदिम प्रीतिभीति-रूप-रागत्रास आदि के महानृत्यात्मक तत्त्व, आशा सर्ग के अद्भुत दृश्य ('इन्द्र-नीलमणि महाचषक था सोमरहित उलटा लटका') महानील, अनन्त रमणीय, विराट् विश्वदेव आदि सम्बोधन द्रष्टव्य है जिनसे प्रतीक-स्रष्टा मानव की 'अहं-इदं'-एकात्मता का रागात्मक ध्वनन होता है। स्वयं मनु 'पशु', 'शिशु' और 'वीर' के आद्य-प्राकृतिक प्रतीकत्व से पूर्ण प्रतीत होते हैं।

'कामायनी' के इड़ा सर्ग में मानव-जीवन के भटकाव के मिथकीय बिम्ब भी है। यथा—

> किस गहन गुहा से अति अधीर
> झंझा प्रवाह सा निकला यह जीवन महासमीर
> ले साथ विकल परमाणु पुंज नभ, अनिल, अनल, क्षिति और नीर,
> भयभीत सभी को भय देता, भय की उपासना में विलीन
> ... ...
> अस्तित्व चिरंतन धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर
> किस लक्ष्य भेद को शून्य चीर।

किसी गहन-गुफा से निकल चलने वाले इस अधीर आदिम मानव के संश्लिष्ट बिम्ब में आद्य भीतियाँ, आदिम संस्कार और उसके आद्य परिवेश—गुहा, झंझा, समीर, भय, धनु-तीर आदि भी उल्लिखित है।

ख—आदिम पूजाकृत्यात्मक मिथकीय चेतना :—पाकयज्ञ, अग्निहोत्र, सारस्वतनगर, सोम, वृषभ आदि के उल्लेख और उनके वृत्तान्तों से 'पुराविश्वास →पूजाकृत्य →पौराणिक तत्त्व' के विकास भी सूचित होते हैं।

ग—वन्यसंस्कारगत मिथकीय चेतना :—मसृण गांधार देश के नील-रोमवाले मेषों के चर्म में श्रद्धा का आगमन, मनु और श्रद्धा का सहज और आद्य रागात्मक आकुल आकर्षण, अहं-इदं के एकात्मयोगात्मक व्यवहार, विविक्तीकरण और मिथुनराग, 'दो काठों की संधि बीच अग्नि-शिखा'-सी उनकी रति और आखेटक मनु में आदिम ईर्ष्या का उदय, विकर्षण+रागद्वेष की वन्य आत्यन्तिकता का प्रदर्शन, इड़ा के साथ भी वन्य संस्कारों का विस्फोट आदि तत्त्व शुद्ध एवं एकात्मक मिथकीय चेतना में चेतोदय के बाद के द्वन्द्व को तथा अहं-बोध के परिणामों को सूक्ष्मतः प्रकट करते हैं।

घ—वैज्ञानिक तंत्रवाद की मिथकीय चेतना :—सारस्वत प्रदेश के नियमन के समस्त तन्त्रवाद वैज्ञानिक युग की मिथकीय चेतना का आभासन करते हैं।

ङ—आध्यात्मिक-दार्शनिक मिथकीय चेतना :—मनु का द्वन्द्व अह और इदं के द्वैध का द्वन्द्व था। प्रतिहिंसात्मक प्रतिक्रिया उसकी श्रद्धा से हुई थी। पर श्रद्धा के प्रति उसका विषम आकर्षण 'प्रीतिभीति'-मूलक था। अत. श्रद्धा से संत्रस्त होकर वह श्रद्धा की अपर-मूर्त्ति इड़ा से प्रतिशोध ले अपनी प्रतिहिंसा-भावना तृप्त करता है। वही उसके वन्य संस्कार मिटते हैं। आहत और मुमूर्षु मनु का 'पशु' पशुपति के नाराच से ध्वस्त होता है। मनु फिर श्रद्धा-युत तन्मय होते है। निष्कलीकृत मनु को विवेक-बुद्धि मिलती है। फिर मानव-युक्त मनु 'अहं' और 'इद' के द्वैध को मिटाते हुए दर्शन, रहस्य और आनन्द का साक्षात् करते हैं। 'दर्शात्मिका संवित्' और सामरस्य के साक्षात्कार और सम्प्राप्ति कर ने कर्म ज्ञान और इच्छा को त्रिपुटी से उत्तीर्ण होते और उपरिसंकेतित आद्य मिथकीय लोक में पहुँचते है। पहले यह लोक मनु की भावात्मक प्रतीति था अब वह साधनात्मक प्रतीति है। यह चक्रक्रम स्वय मिथकीय 'मंडल' है। इस प्रकार 'कामायनी' मे अह-मूलक जीवविज्ञानी मिथकीय चेतना और दर्शात्मिका संवित्-रूप विवेकाश्रित, कह लें, तांत्रिक सच्चिदानन्दी मिथकीय चेतना का योग प्रतीष्ठित हुआ है।

'कामायनी' के मनु' का मिथकीय रूप त्रिभुजाकार बिम्ब हो, जो आद्य-पुरुष का संकेतक है, तो 'श्रद्धा' वृत्ताकार बिम्ब है, जो आद्य-माता का सकेतक है। पुन. 'कामायनी' के मिथकीय बिम्ब तत्त्वों के तन्मात्रात्मक एव महाभूतात्मक रूपों को लेकर चलता है, जिनका मूलस्थ बिम्ब है 'अग्नि'; प्रारभिक बिम्ब है 'जल' और पार्थन्तिक 'आकाश'। 'कामायनी' में मिथक के विविध पटल १. छायावादी कला-मान्यता (आर्टिस्टिक क्रेडो) के चेतन मानस द्वारा रचित काव्य-बिम्बो तथा २. प्रज्ञात्मक अन्तर्दृष्टि द्वारा उन्मिषित आद्य-प्रतीकों मे प्रकट हुए हैं। उनमें वैचारिक सकल्पना (आइडियोलॉजी) की प्रधानता है, न कि सामाजिक सस्थानगत अवधारणा की। यही कारण है कि 'कामायनी' के मिथक साम्प्रदायिकता और पौराणिकता का सहारा भर लेते हैं, उनसे आच्छन्न और आक्रान्त नही होते। 'प्रसाद' जी का कल्प-लोक (यूटोपिया) वैचारिक सकल्पना (आइडियोलॉजी) का विपर्यास नही है, पूरक है। और वे अपनी आइडियोलॉजी में सामाजिकता से

पलायन भी नही करते, उसका विरोध और विनाश भी नही करते। परास्तता का भाव 'कामायनी' मे नहीं है, नियति और विधान में समर्पण भाव है, पर सशोधन और उदात्तीकरण की अदम्य वृत्ति के साथ-साथ। यही भारतीय आध्यात्मिक परम्परा भी है। 'कामायनी' के मिथकीय प्रतीकों और बिम्बों के रूप और संघटनागत अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि छायावाद की अतिकाल्पनिक सूक्ष्मता और तज्जन्य रिक्तता को 'कामायनी' के मनु और श्रद्धा के 'सामरस्य'-पर्यवसायी मिथक भरते हैं और मनुष्य को भविष्य के निर्माण के लिए सहारा देते हैं। वे इसके निदर्शक हैं कि कवि समाज के साथ कितने अंतरंग-रूप में, फिर भी मौन वार्त्तालाप और चिंतन-अनुचिंतन कर रहा है और उसके पर्युत्थान के लिए आकुल है।

प्रत्येक क्षण के अतीत हो जाने की और अतीत होते हुए क्षणो के पुंज, आज, के भी अतीत हो जाने की तथा पुरातन, आद्य 'कल' के व्यतीत होने की मिथकीय बिम्ब-कल्पना निम्न कविता में द्रष्टव्य है—

वह एक पहाड था, जिसमें घाटियो की अंधी गहराइयाँ थीं
तो चोटियों के नुकीले प्रकाश भी जिसके कटीले-गुंथीले रास्तों पर
थके पाँवों के लिये भटकने थी।
तो सरसब्ज घाटियों में नजर के मेमने के लिए चारागाहें भी
वह एक पहाड था, जो बर्फ के गालों पर गालो से ढक-मुंद
कर बेबस और बेहोस होता था।
तो अनंत पत्रों और अनाम फूलो में लनक-पुलक कर बसंत की अगवानी को उद्यत
वह पहाड़ था जिस पर बादल न छायें
तो भी असख्य छायाएँ बनी होती थीं जिस पर बूँदे न बरसें
तो भी सहस्र सोते फूटते थे वह पहाड़ था मेरा कल : मेरा केतु
जिससे टूट कर मैं : मेरा राहु अपने आज के रेतीले समतल में समा गया है
भीतर......बहुत भीतर। —कल और आज ' प्रयाग नारायण त्रिपाठी : माध्यम

आज के कवि ने आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता के सभ्य व्यक्ति को विषम रूप मे, मिथकीय द्वन्द्वात्मकता में उरेहा है। वह अपने प्यार के परम रूप को गला दबाता हुआ चित्रित किया गया है। यथा—

मैंने उसकी हिंसक आँखो में आँसू देखे थे
मैंने उनको कवच उतारते अस्त्र फेंकते देखा था। आग्नेय : कविताएँ १९५८

इस प्रकार प्रेम = प्रियता + घृणा ; श्रद्धा = आकर्षण + भय आदि रूपों मे प्रकल्पित हैं। विषम मिथकीय ईश्वर-भावना का संकेत कुँवर नारायण की इस कविता में मिलता है :—

तुम इस जीवन के आगे मेरा निदान निश्चय है   घबरा कर जिसे रचा है
वह महाशक्ति नचय है
है वहाँ काल का भय भी   कुछ फीका-फीका लगता
मेरे साहस के उद्गम   तुम मेरा अंतिम भय हो।   —चक्रव्यूह

'अज्ञेय' की 'असाध्यवीणा' की परिकल्पना में अनुभूति और अभिव्यक्तिगत अनेक मिथकीय तत्त्व हैं। पूरी कविता मिथकीय वातावरण में उभरती चलती है।

यह वीणा उत्तराखण्ड के गिरिप्रान्तर से
वज्रकीर्ति ने मन्त्रपूत जिस   अति प्राचीन किरीटी-तरु से इसे गढ़ा था
उसके कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे अपने,   कन्धों पर बादल सोते थे,
उसकी करि-शुण्डों-सी डालें   हिमवर्षा से पूरे वन-यूथों का कर लेती थीं परित्राण
कोटर में भालू बसते थे,   केहरि उसके वल्कल से कन्धे खुजलाने आते थे।
और—सुना है—जड़ उसकी जा पहुँची थी पाताल-लोक
उसकी गन्ध-प्रवण शीतलता से फण टिका नाग वासुकी सोता था।

पौराणिक कथा का वातावरण 'उत्तराखण्ड' 'वज्रकीर्ति' 'मंत्रपूत' आदि शब्दो मे प्रगाढ होता चलता है और हिमयुग' के प्रागैतिहासिक काल मे संतरण के लिये आस्वादक को मत्रपूत करता है। 'किरीटी-तरु' और 'हिम-शिखर' का रहस्यमय वार्त्तालाप, कन्धो पर बादल का सोना, हिम-वर्षा से वनयूथो की सुरक्षा आदि के बिम्ब तरु को मिथकीय आयाम देते हैं; आत्मीयता, ममत्व, दाक्षिण्य और वात्सल्य से दीपित चेतना देते हैं। भालू और केहरि और वासुकि नाग—ममता, शक्ति और अनन्तता के मूर्त्तिमान प्रतीक-प्राणी भी उसमें शरण, तोष और प्रशांति पाते दिखाई पड़ते हैं। कविता के पौराणिक वातावरण से एवं हिमयुग के वर्णन से मनोवैज्ञानिक दूरी आती है। फिर उस धुंधले काल के प्रत्यक्ष से आस्वादक मे वात्सल्य-भाव भरता है। पुनः नाग, सिंह, भालू और वनयूथ और फिर हिमशिखर ये सभी जादुई सम्मोहन मे बंधे हैं। किरीटी-तरु उनका केन्द्र-स्थल है। इस प्रकार कविता बाह्यरूपाकृति और आन्तरिक तत्त्व दोनों दृष्टियों से मिथकीय है।

मिथक-सम्बन्धी ऊहापोह से काव्य एवं कलाओं के अनुसंधान एवं अभिव्यंजन-अनुशीलन को भी अचेतन और तल-मनोविज्ञान की एक नयी दिशा मिली है। आज के रचनाकार आस्वादक को प्रागैतिहासिक धुंधलके के ऐसे लोक में उद्गत करते है, जहाँ विश्वास-अविश्वास की भावना छूट जाती है। कालातीत-संतरण के लिए कवियों द्वारा पुनरुक्तियो, उपमाओ, लयादि के तत्त्व प्राचीन काल से प्रयुक्त होते आये हैं। उनमें ही आधुनिक रचयिता पुरातत्त्व,

पुराण, प्रागैतिहासिक-पूजाकृत्यों एवं मिथकों के प्रतीकात्मक तत्त्व संयुक्त कर गृहीता को जादुई दुनिया में, प्राक्तर्कणा अथवा अतिभाषा के लोक में उठा ले जाता है। काव्य का मिथकीय लोक में प्रयाण अचेतन-अवचेतन की ओर, अतः पुरातत्त्व, नृतत्त्व, प्राणिविज्ञान और वनस्पति-शास्त्र की ओर प्रयाण है, आधुनिक जनवादी युग की समभौमिक रेखा की गति की भाँति लोकाभिमुखी गति है। परन्तु मिथकीय आलोचक काव्य को जन्म-मरण, सृष्टि-प्रलय के महाचक्र से जोड़ कर उसे गंभीर और तलस्पर्शी गहराई देने का भी प्रयास कर रहे है और पड़ी रेखा को लम्ब की ऊर्ध्व रेखा मे परिणत करना चाहते है।

काव्यानुभूति की प्रगाढ़ दशा अथवा संवित्-विश्रान्ति की अवस्था भी मिथकीय दशा है। वह भी विश्वास-अविश्वास से परे की मनोदशा है। वैयक्तिक चेतना से उद्‌गत सामूहिक चेतना की यह मनोदशा स्वयं मिथकीय है। साधारणीकरण की प्रक्रिया मिथकीय सर्वात्मिका संवित् के पर-प्रत्यक्ष की प्रक्रिया है और रसदशा उसकी पूर्ण साक्षात्कारात्मक दशा है। इस दृष्टि से शृंगार के रसराजत्व और काव्यादि में उसकी प्रबलता का मनोवैज्ञानिक रहस्यभेदन भी यह सिद्ध करता है कि उसके मूल में मिथकीय काम-भीति है।[८९]

आधुनिक काल की कविता में तथ्य-कल्पना के विविध बिम्बों से सत्य की कल्पना का भी आभासन होता है। मानव-कल्पना, मूल्य-कल्पना, युग-बोध तथा काव्यातीत अमूर्त सत्य की अभिव्यक्ति से इसके संकेत मिलते है।

मानव-कल्पना—अमृतपुत्र यह मानव आधुनिक कविता के संसार में कर्मयोग लेकर प्रवेश करता है। उसकी मध्ययुगीन धार्मिक और नैष्ठिक वृत्ति धीरे-धीरे छीजती गयी है। अतएव तत्कालीन कवियों—हरिऔध, गुप्त आदि ने अपनी कविता में मानव की जो कल्पना की है, उसका धर्म कर्म है। उनकी वाणी—'मेरे जी में अनुपम महाविश्व का प्रेम जागा' (हरिऔध), 'हाँ, इसी भाव से भरा यहाँ आया मै, कुछ देने के ही लिए, प्रिये, आया मैं' (गुप्त) से धर्म-प्रवण और नैष्ठिक कल्याण-भावना ही गूँजती है। 'राम तुम ईश्वर हो, मानव नहीं हो क्या ?' की प्रश्न-चिह्न-युक्त मानव-कल्पना कुछ निश्चयात्मक मूल्य लेकर छायावाद मे प्रतिष्ठित हुआ। आध्यात्मिक निष्ठा की मूल वृत्ति 'कामायनी' के 'मनु' और 'श्रद्धा' मे 'राम की शक्ति पूजा' आदि कविताओं में द्रष्टव्य है। धीरे-धीरे जिस भाव-कल्प[९०] ने छायावादी

युग तक की मानव-कल्पना को प्राणरस दिया था वह निःशेष हो गया। युग-परिवर्त्तन में 'कुरुक्षेत्र' 'हुँकार' आदि का मानव मध्ययुगीन 'विभूतियों' को गाड़-फूँक कर फेंक देनेवाला 'विभापुत्र' हुआ। भावमय कर्म का 'अतिमानव' कर्ममयता का 'खरा मनुष्य' होने लगा।

धन्य मनुज वह जिसे कर्म निज में रत कर लेता है।
कवि प्रतीक है उस अजस्र मनमोहक कर्मठता का। —दिनकर : कोयला और कवित्व

स्वातंत्र्योत्तर काव्य-धारा में युग के विषम चाप के कारण 'लघु मानव' 'शरारती मानव' आदि के अनेक बिम्ब सृष्ट हुए। बौनों और कुबड़ों के बिम्बो के द्वारा तथा 'मुखौटो के जुलूस' के द्वारा मानव के टूटन के चित्र भी प्रस्तुत किए गए।

हम, तुम, और ये, सभी भूगर्भ में छिप जायँगे।
कहीं गीत मे दबे हम बस चिह्न ही रह जायँगे। —चक्रव्यूह

धर्मवीर भारती ने अंधायुग, प्रमथ्युगाथा, सम्पाती आदि में पुरातन के विघटन और नवीन के संघटन की बेचैनी, आक्रोश, फिर उत्साह और उसपर आस्था व्यक्त की। धीरे धीरे आस्था का स्वर तीव्र होता गया।

ईंट लाल होती ज्यों आँवे में तपने से
मूर्त्ति यह पकेगी संघर्ष में झुलसने से। —गिरिजा कुमार . शिला पंख चमकीले

इससे भी दृढ विश्वास है—

जरूर कल उगूँगा मैं। आज तो कुछ भी नहीं हूँ।—केदार नाथ सिंह ' अभी, बिलकुल अभी

और 'भीडतंत्र' से संघर्ष करना पडेगा—

पत्थर व लोहे के रंग का यह कुहरा बढ़ न जाय, छा न जाय,
मेरी इस अद्वितीय सत्ता के शिखरों पर स्वर्णाभ
हमला न कर बैठें खतरनाक कुहरे के जनतंत्री।
वानर ये नर ये। —मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है

फिर अपने अन्दर की वैयक्तिक मानवीयता को बाहर की समष्टिगत मानवीयता से मिलाने की उत्कंठा तीव्र होती गई है।

मुझे भी अपने अन्दर के संगीत में ढूँढ़ना पड़ेगा
मुक्ति का क्षण! सोचना पडेगा कितना बाहर आ गया हूँ
बढ़े हुए दायरे से कितनी लम्बी कर अपनी ही परछाईं।
—विपिन अग्रवाल

यह दीप अकेला स्नेह भरा है गर्व भरा मदमाता
पर इसको भी पंक्ति को दे दो यह अद्वितीय : यह मेरा : यह।
मैं स्वयं विसर्जित। —अज्ञेय : यह दीप अकेला

मूल्य-कल्पना—छायावाद की मूल्य-कल्पना थी 'कर्म का भोग, भोग का कर्म।' उस युग में 'विषमता की पीडा से व्यस्त विश्व' को स्पंदित माना गया था और उसे ही 'भूमा का मधुमय दान' बतलाया गया था। 'विधाता की कल्याणी सृष्टि' को सफल और पूर्ण करने के लिए 'तप नहीं, केवल जीवन सत्य' का उद्घोष किया गया था। उसके लिए प्रथमतः शक्ति और श्रद्धा, फिर कर्म और भोग और अन्ततः समन्वय और सामरस्य ही चरम लक्ष्य प्रकल्पित किए गए थे। इस मूल्य-भावना में दार्शनिक-आध्यात्मिक आयाम ही प्रखर है। छायावादोत्तर मूल्य-कल्पना पूर्व-युग की प्रतिक्रिया में वैयक्तिक और सामाजिक आयाम की ओर कुछ अधिक झुकी हुई है। प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी कविताओं मे यह मूल्य-बोध स्पष्टतः जैविक है। कुछ काल बाद मूल्यों के विघटन की अभिव्यक्ति पैने कल्पना-बिम्बों के द्वारा होने लगी। संक्रांतिकालीन कविता में ऐसे बिम्ब अधिक सृष्ट हुए।

> मुह बाये हुए लोग और आँख धुंधियाये हुए लोग।
> दुनिया एक बजबजाई हुई सी चीज हो गई है। —रघुवीर सहाय
>
> जो कुछ सुन्दर था, प्रेय, काम्य जो अच्छा मँजा नया था, सत्य-सार
> सब पड़ा पड़ा कुम्हला गया, सूख गया, मुरझाया। —अज्ञेय : आँगन के पार द्वार
>
> जिन्दगी एक टेढ़ा सवाल है मौत जिसका सीधा जवाब है। —कुँवर नारायण

युग की विचार-धारा मे स्थैर्य और कवियों के मूल्यान्वेषण की प्रक्रिया में आत्म-विश्वास और संयम आया तो नयी कविता मे व्यक्ति और समष्टि के अणु से लेकर विभु तक के, नन्ही घास से लेकर द्यौ तक के मूल्य-बिम्ब निःसंग, किन्तु सहज स्निग्धता से आँके जाने लगे। विराट् सृष्टि में सबकी अपनी सत्ता है—

> उड़ गई चिड़िया काँपी, फिर थिर हो गई पत्ती। —अज्ञेय
>
> दूर दूर तक पत्तियाँ टूटती देख, डालें अपने अपने अन्दर का राग
> सुनने में मग्न हो गईं क्षितिज का दायरा कुछ बढ़ गया
> जैसे किसी माँ ने बिछुड़े हुए पुत्र की याद में उसके मित्रों को
> गोद में ले लिया हो।·· मुझे भी अपने अन्दर के संगीत में
> ढूँढ़ना पड़ेगा। मुक्ति का क्षण। —विपिन अग्रवाल

युग-बोध—आधुनिक कविता में 'युग-बोध और कालातीत अमूर्त सत्य की अभिव्यक्ति विविध कल्पना-बिम्बों के द्वारा की गई है। छायावाद में युग-बोध मध्ययुगीन भावात्मकता और काल्पनिक आदर्शवादिता के चश्मों से दृष्टिगत किया गया प्रतीत होता है। छायावादोत्तर युग-बोध में परम्परा

और आधुनिकता के परस्परस्पर्शी चाप का प्रखर अंकन है। युगबोध की ऐसी कल्पना में प्रत्यक्ष समसामयिकता के ताल के साथ अतीत की भाव-झंकृति और भविष्यत् का राग है। इस युग-बोध में विज्ञान और राजनीति के, अर्थ और काम के, समष्टि और व्यष्टि के समस्त आयाम सिमट आए हैं। यह युगबोध राष्ट्रीय मानव का बोध कराता है, तो साथ ही विश्व-मानव का भी। महादेशीय सीमाएं भी जैसे टूट गयी हैं।

मशीनों के यंत्रवाद, सत्ताधारियों के तंत्रवाद और भीड़ के शोरगुल से सन्त्रस्त युग की घुटन, संकट, भय और विपन्नता से ग्रस्त व्यक्ति का अजनबीपन 'नई कविता' के बिम्बों में प्रखरता से उभरा है—

> शत-शत बुध वेतनभुक मेरे सबका खून चूसते, देखो,
> आयु चबाते हैं हम। हा-हा-हा,
> हम ईश्वर हैं आटोमैटिक —मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक

> अब हर चीज पत्थर की तरह कठोर......
> जिसकी दशानन-बर्बरता से टकराता मैं मनुष्य मात्र टूट रहा — कुँवर नारायण

> मैं मशीन-युग का हूँ मात्र एक छोटा यंत्र;
> योग नहीं हो ता उपयोग भले मेरा हो —भारत भूषण : अप्रस्तुत मन

> समस्त भग्नता दिखी कि ज्यों विरक्त प्रान्त में
> उदास से किसी नगर सटर पटर मलीन, व्यक्त,
> जग लगे कठोर ढेर भग्न वस्तु के समूह चिलचिला रहे प्रचण्ड धूप में
> उजाड़......मुक्तिबोध

कालातीत अमूर्त सत्य—इसकी अभिव्यक्ति के लिए कल्पना-बिम्ब निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य हैं—

> अब अक्सर जब एकान्त कहीं होता है
> जाने किसके हित माथा मेरा झुक जाता
> ये दृग मुंद कर वर्णनातीत सुख पाते हैं। —केदारनाथ सिंह : तीसरा सप्तक

सम्पूर्णता का यह भाव और भी सूक्ष्म प्रसार निम्न पंक्तियों से पा सका है।

> गजर बजता है और स्वर की समकेन्द्र लहरियाँ
> फैल जाती हैं मलय के अछोर क्षितिजों तक।
> तुम : जिस पर मेरी टकराहट इस वर्तमान की अनुभूति से
> फैलता हुआ हमारे भोग का वृत्त अतीत और भविष्यत
> काल के अछोर क्षितिजों तक। —अज्ञेय : सागर मुद्रा

इस प्रकार आधुनिक कविता में कल्पना के जितने विविध रूप-प्रकार मिलते हैं और उसके प्रकार्य में फैलाव के साथ जितनी गहराई दिखाई पड़ती

है उतनी पूर्व काल में कभी नही आ पाई थी। इसका कारण है, कल्पना पर नृतत्त्व-शास्त्र, पुरातत्त्व-विज्ञान, पदार्थ-विज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र आदि की आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों का प्रभाव और लोक-तान्त्रिक जन-चेतना के हितों का सतत जागरूक और प्रबुद्ध कवियों के द्वारा ग्रहण तथा कथावस्तु-रचना-तंत्र और भाषा-शैली में उन सब का खुले हृदय से स्वागत।

कल्पना कहे, या प्रतिभा, वह 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा' है जो कविचित्त में विशिष्ट रसात्मक रूप-सौन्दर्य का निर्माण करती है। कल्पना की प्रेरणा से ही कवि के चित्त में अनुभूति की उद्भावना होती है। तब रुद्रट के शब्दों में उसके समाहित चित्त में शक्ति के उन्मेष होते ही प्रसन्न पदावली में अभिधेय अर्थ का अनेक प्रकार से स्फुरण होता है। कवि का चित्त जब इस प्रकार समाहित होता है, तब ऐसा होता है कि उसकी प्रज्ञा प्रतिभा-रूप हो जाती है और उस क्षण वह शब्द और अर्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है। यही प्रज्ञा के प्रातिभ रूप मे उन्मेष का क्षण है। इसके उन्मीलन से सारे पदार्थ रसनीय हो उठते है। उसके परिग्रह से उसके विचार और भाव, इदंता और अहंता, चेतन मानस और अचेतन मानस सब कुछ एकघन हुए प्रतीत होते है। शब्द और अर्थ उस क्षण एकीकृत हो उठते हैं।

कल्पना की यह सारी प्रक्रिया कविता मे शब्दार्थ के माध्यम से घटित होती है। बिम्ब-रचना में 'माध्यम' का महत्त्व अल्प नहीं है। कहा तो यह भी जाता है, कि समस्त काव्य-प्रपंच शब्द-प्रपंच ही है। बिम्ब भी है शब्द पर ही आश्रित। शब्द-भाव न रहे, तो न तो सम्यक् चिंतन संभव है, न समुचित भावन। विवक्षित अभिव्यंजन तो बहुत बाद की शाब्द क्रिया है। अतएव, अगले अध्याय में इस शब्दात्मिका ज्योति का उद्घाटन कर बिम्ब-रचना-प्रक्रिया में उसके प्रकार्य, महत्त्वादि का आकलन कर लेना उचित होगा।

२. सन्दर्भ-ग्रंथादि सूची एवं टिप्पणियाँ

१—बर्नार्ड हार्ट : साइकालॉजी ऑफ इन्सैनिटी, पृष्ठ ६९, मुद्राराक्षस : 'साहित्य समीक्षा' में भी उद्धृत, पृष्ठ १५
२—किर्केगार्ड : कन्क्लुडिंग अनसाइन्टिफिक पोस्टस्क्रिप्ट, पृष्ठ २७५
३—आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : साहित्य सहचर, पृष्ठ ५२-५५
४—महाभारत में मन के गुण-निर्देश के प्रसंग कई स्थलों पर है, यथा एक यह है—

चलोपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पनाक्षमा। सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः।
इष्टानिष्ट विकल्पश्च व्यवसायः समाधिता। संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धौ पंचेह ये गुणाः।
(२४७।६-१०)

(नारायणशास्त्रीद्रविड : भारतीय मनोविज्ञान में उद्धृत पृष्ठ ३३)

इनमें संकल्प, विकल्प, कल्पना आदि शब्द प्रयुक्त हैं। 'कल्पना' शब्द नाम, जाति, एवं मनोरथ के पर्याय में प्रयुक्त मिलता है (द्रष्टव्य-ब्रह्मपुराण १८०।श्लोक १७।२०)। परन्तु, मनोविज्ञान में गृहीत 'कल्पना' से यह भिन्नार्थ का सूचक है।

छायावाद-युग में शायद अंग्रेजी रोमांटिक कवियों आदि के प्रभाव में यह 'कल्पना' शब्द भी नयी अर्थरश्मियों से वलयित हुआ। शुक्ल जी ने भावन=उपासना=भावना=कल्पना और प्रतिभा=कल्पना भी माना है। पं० बलदेव उपाध्याय ने भारतीय साहित्यशास्त्र भाग-१ पृष्ठ ४२३ पर 'प्रतिभा' और 'कल्पना' को प्रायः समान स्वीकार किया है। डा० नगेन्द्र ने भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका पृष्ठ २३१-३२ पर अभिनवगुप्त की काव्यनिर्माणक्षमा प्रतिभा=कांट की सृजनशील कल्पना=क्रोचे की सहजानुभूति—ऐसा समीकरण प्रस्तुत किया है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'कल्पवृक्ष' पृष्ठ १२-१३ पर मन को कल्पवृक्ष माना है—सं+कल्प=समाधि-रूप है एवं वि+कल्प=व्याधि-रूप है तथा यह बताया है कि कल्पवृक्ष कल्पना प्रधान है और वह संकल्प या विकल्प दो प्रकार का होता है—शिव और अशिव।

कॉलरिज की विशिष्ट काव्यकला-संज्ञान-रूप कल्पना और अभिनवगुप्त की अपूर्ववस्तु-निर्माणक्षमाप्रज्ञा, तस्य विशेषो रसावेश वैशद्यसौन्दर्य काव्यनिर्माणक्षमात्वम्' रूप प्रतिभा प्रायः समान हैं। उसमें 'सांगीतिक मनोहारिता' का गुण है, तो इसमें 'सहजा शक्ति' है। इसका वर्णन और गुण कथन इस प्रकार हुआ है—'नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं बहुनिर्मलम्। अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्य संपदः।' परन्तु, भारतीय शास्त्रकार कल्पना और प्रतिभा को एक नहीं मानने का भी तर्क देते हैं। 'प्रतिभा' भारतीय शास्त्र में कुछ अधिक महिमामय अर्थ-सरणियों से युक्त शब्द है। उस पर अध्यात्मदर्शन और तंत्र की आच्छाया है—वह पारमेश्वरी पराभट्टारिका है; अक्रम, अतएव महेश्वर से अभिन्न है। सारस्वत प्रपंच का वह मानसिक नहीं, आध्यात्मिक-धार्मिक आधार है। 'रमणी का मुख' और 'चन्द्रमा' के संयोग से जो 'मुखचन्द्र' बनेगा वह मनोविज्ञान में 'कल्पना' द्वारा निर्मित माना जायगा। किन्तु अभिनवगुप्त का कहना है, वह कल्पना-निर्मिति नहीं, प्रतिभा-सृष्टि है : 'यथा हि पृथग्भूतेन हारेण रमणी विभूष्यते तथा उपमानेन शशिना, तत्सदृशेन वा कविबुद्धिसामर्थ्येन परिवर्त्तमानत्वाद पृथक सिद्धेनैव प्रकृत वर्णनीयवनितावदनादि सुन्दरीक्रियते। (अभिनवभारती भाग-२) 'मुखचन्द्र' यदि मात्र कल्पनानिर्मिति हो, तो उसमें 'गौरिव गवयः'—जैसा ऊपरी सादृश्य-बोध होगा, लौकिक सम्बन्ध मात्र ज्ञात होगा। परन्तु, 'मुखचन्द्र' में लौकिक सम्बन्ध के अतिरिक्त उस पर अधिष्ठानभूत कवि व्यापार या 'लक्षण' जब प्रतीत होता है, तभी उसे 'अलंकारत्व' प्राप्त होता है। उसी भांति काव्य मात्र में जो प्रातिभ सृष्टि है, वह अधिष्ठानभूत लौकिक सम्बन्धों और कल्पना-निर्मितियों से अतिरिक्त है। पंडितराज जगन्नाथ तक ने 'प्रतिभा' और 'कल्पना' के

प्रयोग भिन्नार्थ में किए हैं (द्रष्टव्य रसगंगाधर पृष्ठ ३०)। 'प्रतिभा' में इमैजिनेशन, इंट्यूशन इनसाइट, इन्सपिरेशन आदि के अर्थ समाहित हैं। 'इन्सपिरेशन' पर द्रष्टव्य ब्लादिमीर नाबोकोव का लेख अमेरिकन रिव्यू, ऑटम १९८३।

'प्रतिभा' की धार्मिक-आध्यात्मिक धारणा के कारण कवि, काव्य और आस्वादक भारत में अपेक्षया नैष्ठिक रह सके; उनके संस्कार 'कल्पना-वादियों' की भाँति दिग्भ्रमित एवं च्युत नहीं हुए।

५—आइ० ए० रिचर्ड्स : प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृ० २३९-४२

६—बे० क्रोचे : एस्थेटिक्स, पृष्ठ १७१-७२ पर उल्लिखित

७—प्लॉटिनस : इन्नीड भाग ५।८।१ विलियम के० विमसेत एवं क्लिएंथ ब्रुक्स 'लिटररी क्रिटिसिज्म' पृष्ठ ११७-११८ पर उद्धृत

८—आर० एस० उडवर्थ : कान्टेम्परेरी स्कूल्स ऑफ साइकालॉजी, पृष्ठ ३९

९—सर मारिस बॉवरा : रोमांटिक इमैजिनेशन, पृष्ठ ३

१०—आर० ए० स्कॉट जेम्स : दि मेकिंग ऑफ लिटरेचर, पृष्ठ १५२

११—एडमंड बर्क : 'ए फिलोसोफिकल इन्क्वायरी इन्टू दि ऑरिजिन ऑफ दि आइडियाज ऑफ दि सब्लाइम ऐंड ब्यूटिफुल' विमसेट आदि के ग्रंथ 'लिटररी क्रिटिसिज्म' में पृष्ठ २९१ पर उद्धृत।

१२—ड्राइडेन प्रिफेस टु एन्नस मिराबिलिस . टी० एस० इलियट द्वारा 'दि यूज ऑफ पोएट्री ऐंड दि यूज ऑफ क्रिटिसिज्म' में पृष्ठ २८ पर उद्धृत।

१३—कॉलरिज : लिटररिया बायग्राफिया : विमसेत ऐंड ब्रुक्स : लिटररी क्रिटि०, पृ० ३८६-४०४ एवं आर० ए० स्कॉट जेम्स द्वारा दि मेकिंग ऑफ लिटरेचर, पृष्ठ २३५-२४२

१४—कॉलरिज : उपरिवत, फैंसी पर विचार, एवं कॉलरिज : ऑन वर्ड्सवर्थ ऐंड पोएट्री—

लोसाई क्रिटिको : Good sense is the body of poetic genius, Fancy its drapery, Motion its life and Imagination the soul, that is every-where and in each and forms all into one graceful and intelligent whole.

भारतीय दृष्टि से इनका समीकरण इस प्रकार होगा—

औचित्य = गुड सेंस = शरीर	प्रतिभा = कल्पना = आत्मा
अलंकार = फैंसी = वस्त्र	जो सबमें व्याप्त एवं सबको अन्वित कर
वृत्ति = मोशन = प्राण	एकहिबिम्ब रूप में प्रस्तुत कर देती है।

द्रष्टव्य—टी० एस० इलियट की फैंसी और कल्पना-संबंधी अथवा ड्राइडेन और कॉलरिज की काव्य-सर्जना-संबंधी विचारों की विवेचना और ड्राइडेन के सिद्धान्त की युक्ति-युक्तता 'दि यूज ऑफ पोएट्री ऐंड दि यूज ऑफ क्रिटिसिज्म' पृष्ठ ६०-८५

१५—जी० मर्फी—ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकालॉजी, पृष्ठ २७२

१६—जेम्स ड्रेवर : ए डिक्शनरी ऑफ साइकालॉजी, पृष्ठ १२७

१७—वात्स्यायन : सर्वा चेयं प्रमिति प्रत्यक्षपरा (१।३) हिन्दी-अभिनव भारती, पृष्ठ ४७७ पर उद्धृत।

१८—डा० सिद्धेश्वर वर्मा : म० गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ २४१-२४४

१९ हैमहॉज के सिद्धान्त : आग्डेन रिचर्ड्स के ग्रंथ 'मीनिंग ऑफ मीनिंग, पृष्ठ ७९ एवं आर० एस० उडवर्थ : एक्सपेरिमेंटल साइकालॉजी में द्रष्टव्य।

२०—महा० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री : ए० प्राइमर ऑफ इंडियन लॉजिक, पृष्ठ ६५

२१—एच० मर्रे का सिद्धान्त : गार्डिनर मर्फी द्वारा 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकालॉजी' पृष्ठ २७४ पर उद्धृत।

२२—आलिवर एस० रायसर : गेस्टाल्ट साइकालॉजी ऐंड दि फिलासफी ऑफ नेचर जी० डब्ल्यू पैट्रिक द्वारा 'इन्ट्रोडक्शन टु फिला०' पृष्ठ २६१ पर उद्धृत। प्लॉटिनस ने इन्नीड-1 (वौल्यूम) VI में गेस्टाल्टन के बीज-रूप में कुछ विचार प्रस्तुत किये थे, द्रष्टव्य विमसैट ऐंड ब्रुक्स ए शार्ट हिस्ट्री ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म पृष्ठ १२२।
२३—वर्दाइमर : हैमलिन के ग्रंथ 'दि साइकालॉजी ऑफ पर्सेप्शन' पृष्ठ ४५ पर उद्धृत।
२४—महा० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री प्राइमर ऑफ इन्डियन लॉजिक, पृष्ठ ६५
२५—नार्मन एल० मन्न० ' साइकालॉजी-फंडामेंटस ऑफ ह्यूमन एडजस्टमेंट, पृष्ठ ३१८-३१ बर्ट्रण्ड रसेल : 'ऐन आउटलाइन ऑफ फिलॉसफी': पर्सेप्शन आब्जेक्टिवली रिगार्डेड एवं फिजिक्स ऐंड पर्सेप्शन, पृष्ठ ६१-८१ एवं १२६, १४२
२६—ई० बी० टिचनर : टेक्स्ट बुक ऑफ साइकॉलॉजी, पृष्ठ २४८, आइ० ए० रिचर्ड्स प्रि० ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृष्ठ ९४ पर उद्धृत भी
२७—डब्ल्यू० एस० हुटर . दि सिम्बॉलिक प्रोसेस—नार्मन एल० मन्न द्वारा उद्धृत तत्रैव
२८—राजशेखर . काव्यमीमांसा, पृ० २६
२९—भारतीय मनोविज्ञान एवं 'म० गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन-ग्रंथ' पृष्ठ २४१-२४४, तथा विद्याभूषण—८४
३०—नार्मन एल० मन्न : साइकॉलॉजी, फंडामेंटस ऑफ ह्यूमन ऐडजस्टमेंट, पृष्ठ ३२०
३१—बोरिंग, लैंगफेल्ड, वोल्ड फाउन्डेशन्स ऑफ साइकॉलॉजी, पृष्ठ २२४-३० एवं आर० एस० उडवर्थ . एक्सपेरिमेंटल साइकॉलॉजी अध्याय २४, २५
३२—विलियम विमसैट एवं क्लिएथ ब्रुक्स ' लिटररी क्रिटिसिज्म—शार्ट हिस्ट्री, पृष्ठ १२४ एवं १२२ भी। शूपेनहावर . बिल डूराँ के स्टोरी ऑफ फिलॉसफी, पृष्ठ ३२१ पर उद्धृत। आर० एस० नरवाणे : दि एलिफैंट ऐंड दि लोटस, पृ० ५२-५६ तथा पूर्वोल्लिखित क्रैमिश, हैवेल आदि के ग्रन्थादि (द्रष्टव्य पृ० ८५-८६ पर सूचित ४० से ४३ तक की सदर्भ ग्रंथ-सूची) हेल्म : आर० एस० उडवर्थ-एक्स० साइ०, पृ० ४०३ पर उद्धृत सिद्धान्त।
३३—बोरिंग, लैंगफेल्ड, बोल्ड . फाउन्डेशन्स ऑफ साइकॉलॉजी—२३०-३२ (आकाश—पृष्ठाधार)
३४—आर० ए० स्टॉक जेम्स . दि मेकिंग ऑफ लिटरेचर, पृष्ठ २ आलोचना (अक्टूबर, दिसम्बर १९६७) पृष्ठ ४५-५२
३५—आर० ए० रिचर्ड्स ' प्रिन्सिपल्ल ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म में सकल मानस का विवरण पृष्ठ १०४-५।
३६—बे० क्रोचे : एस्थेटिक्स, पृष्ठ ९६
३७ फ्रायड : भसीह द्वारा सामान्य मनोविज्ञान, पृष्ठ ११३-४ पर उद्धृत
३८—फ्रांसिस गाल्टन (१८२२-१९११) आर० एस० उडवर्थ एक्सपेरिमेंटल साइकॉलॉजी, पृष्ठ ४४
३९—टॉमस ब्राउन : लेक्चर्स ऑन दि फिलॉसफी ऑफ ह्यूमन माइंड, पृष्ठ ४५ टामस हाब्स : लेविएथन-उडवर्थ द्वारा कन्टेम्परेरी स्कूल्स ऑफ साइकॉलॉजी में पृष्ठ ३९ पर उद्धृत
४०—आर० एस० उडवर्थ . कन्टेम्परेरी स्कूल्स ऑफ साइकॉलॉजी-पृष्ठ ४६ एवं ५६
४१—वामन : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (हिन्दी) २०३-५ पृष्ठ
४२—जॉन लॉक एसे कन्सर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग भाग-२, अध्याय ३३ डेविड ह्यूम ने दो पुस्तकों में 'एसोसियेशन'-संबंधी धारणाएं प्रकट की-१—ट्रिएटाइज ऑन ह्यूमन नेचर एवं २-इनक्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग।
४३—थियोडोर राइक—लिस्निंग विथ दि थर्ड इयर, पृष्ठ २८-३०

४४—आग्डेन : डॉ० याइ० मसीह-सामान्य मनोविज्ञान पृष्ठ २११ पर उद्धृत
मार्टिन हिलर ' इमर्जेंट इवाल्यूशन, पृष्ठ ३९-४० (जो० डब्ल्यू० पैट्रिक के ग्रन्थ, पृष्ठ १११ पर
४५—अब्राहम टकर : बिमसेट और ब्रुक्स, हिस्ट्री ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृ० ३०४
४६—आर० एस० उडवर्थ—कटेम्परेरी स्कूल्स ऑफ साइकॉलॉजी, पृष्ठ ६६-६९ ;
४७—जे० एस० मिल : डिजर्टेशन एंड डिसक्शन : पोलिटिकल, फिलॉसफिकल ऐंड हिस्टारिकल (न्यूयार्क) १, पृष्ठ १०६
मम्मट : काव्य प्रकाश एवं नागेश : परमलघुमंजूषा के उद्धरण पं० बलदेव उपाध्याय के भारतीय साहित्यशास्त्र (१) पृष्ठ २०९-१० पर
नागेश : न नु व्यंजना क' पदार्थः उच्यते। मुख्यार्थ बाधनिरपेक्ष
बोधजनक. मुख्यार्थसंबंधासंबधसाधारण प्रसिद्धाप्रसिद्ध
विषयक. वक्त्रादिवैशिष्ट्य ज्ञान प्रतिभाद्युद्बुद्ध. संस्कार विशेषो व्यंजना।
४८—टी० ए० रायन : फाउन्डेशन्स ऑफ साइकॉलॉजी, पृष्ठ १९६-१९७
४९—आइ० ए० रिचर्ड्स प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म, पृष्ठ १३-१७
५०—गार्डनर मर्फी : ऐन इन्ट्रो० टु साइ०, पृष्ठ २९२-२९३
५१—ई० बी टिचनर . डा० या.इ० मसीह : सामान्य मनोविज्ञान में पृष्ठ २२१ पर उद्धृत
५२—गा० मर्फी . तत्रैव पृष्ठ २७५, हर्बर्ट रीड ने 'कल्पना' (इमैजिनेशन) को फ्रायड के 'प्रिकासस' से सम्बद्ध माना है और 'फेंसी' को 'अनकासस' से सम्बद्ध; क्योंकि फैंसी से प्रेरित निर्मितियों में 'फटेसी' के लक्षण रहते हैं और क्योंकि अचेतन में ही दमित सहजवृत्तियाँ सतुलन अथवा क्षतिपूर्ति के लिये 'फैंटेसी' के रूप में निकलती है। (द्रष्टव्य फॉर्म इन माडर्न पोएट्री' पृष्ठ-२९ तथा इंगलिश प्रोज स्टाइल अध्याय-९)
५३—किम्बॉल यंग हैंडबुक ऑफ सोशल साइकॉलॉजी, पृष्ठ १६७-१७५
५४—डा० ई० लित्रे : डिक्शनेयर डिला लैंग फ्रैंके, पृष्ठ ५७१
५५—वेबस्टर्स न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी पृष्ठ, ७२५ एवं ड्रेवर उपयुद्धृत
५६—विलियम एम्पसन सेव्न टाइप्स ऑफ एम्बिग्विटिज, पृष्ठ २३
५७—आ० रामचन्द्र शुक्ल त्रिवेणी-गोस्वामी तुलसीदास
५८—विलियम एम्पसन-तत्रैव पृष्ठ ६०
५९—ललितसहस्रनाम : श्लोक ५९; १२४, १८५ आदि
६०—डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त : साहित्य परिचय, पृष्ठ १४-१५
६१—डा० नगेन्द्र : मानविकी कोष, पृष्ठ १४१
६२—आर० एस० उडवर्थ : कन्टेम्परेरी स्कूल्स ऑफ साइकॉलॉजी, पृष्ठ १७६
६३—सिगमंड फ्रायड ' सिविलिजेशन ऐंड इट्स डिसकटेन्ट्स पृष्ठ ३५
सिगमंड फ्रायड ' बेसिक वर्क्स ऑफ
६४—जी० ऐडलर : स्टडिज इन ऐनालिटिकल साइकॉलॉजी पृष्ठ २०१, २०२ एवं १५०,३६,४६
आर० एस० उडवर्थ ' कन्टेम्परेरी स्कूल्स ऑफ साइकॉलॉजी पृष्ठ १९९, २००-२०१
सी० जी युंग : पेरासेलेसिका पृष्ठ १७०,१७१, साइकॉलॉजिकल टाइप्स, पृ० ६१५-६
युंग ने 'आर्केटाइप' नाम कॉर्पस हर्मेटिकम (स्कॉट, हर्मेटिका ; खण्ड १/१४०) एवं डायोनिसियस के 'डि डिवाइनीसनामिनिबस' अध्याय—२, अनु—६) से संत अगस्ताइन के 'आइडिया प्रिंसिपलिस' से सम्बधित अर्थ-परम्परा के द्वारा प्रभावित होकर ग्रहण किया।
द्रष्टव्य —जोलांडे जैकोबी : दि साइकॉलॉजी ऑफ सी० जी० युंग, पृ०-३८

६५—सी० जी० युग ' दि इन्टिग्रेशन ऑफ पर्सनेलिटि, पृष्ठ २३ एवं साइकॉलॉजी ऐंड अलकेमी पृष्ठ २८, ८१। जी० ऐडलर स्टडिज इन ऐनलिटिकल साइकालॉजी, पृष्ठ १६२-६३।
६६—सी० जी० युग ' साइकॉलॉजी ऐंड अलकेमी, पृष्ठ २६
दि इन्टिग्रेशन ऑफ पर्सनैलिटि, पृष्ठ १४४
६७—सी० एम० जोड : गाइड टु माडर्न थॉट, पृष्ठ २४०-२८३
६८—सी० जी० युग : पेरासेलसिका, पृष्ठ १७८
६९—आर० एस० उडवर्थ . कन्टेम्पररी स्कूल्स ऑफ साइकॉलॉजी, पृष्ठ २०३
७०—सी० जी० युंग : कन्ट्रीब्यूशन्स टु ऐनालिटिकल साइकॉलॉजी, पृष्ठ ५२
७१—सी० जी० युंग पेरासेलसिका ' पृष्ठ १३५
७२—आर० एस० उडवर्थ : कन्टेम्पररी स्कूल्स ऑफ साइकॉलॉजी, पृष्ठ ११३-१७
ए० ऐडलर साइकॉलॉजी ऑफ एवरी डे लाइफ, पृष्ठ ६३-७५
७३—क्रा० कॉडवेल इल्यूजन ऐंड रियलिटी, पृष्ठ १६०
७४—के० हार्नी ' न्यू वेज टु साइकोएनालिसिस ऐंड सेल्फ ऐनालिसिस
७५—सी० एम० जोड गाइड टु मॉडर्न थॉट, पृष्ठ २४२-८३
७६—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी साहित्य सहचर, पृष्ठ ३१
७७—हैवलॉक एलिस : साइकॉलॉजी ऑफ सेक्स, खण्ड–I, पृष्ठ १८६
७८—गार्डनर मर्फी ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकालॉजी, पृष्ठ २७३
जी० ऐडलर स्टडिज इन ऐनालिटिकल साइकालॉजी, पृष्ठ ७७ पर उद्धृत युंग के विचार
सी० जी० युग ' कन्ट्रीब्यूशन टु ऐनालिटिकल साइकॉलॉजी, पृष्ठ ३६४
७९—सी० जी० युग—मॉडर्न मैन इन सर्च फॉर ए सोल, पृष्ठ २६४
बाबू गुलाब राय सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ ८०-८२
डा० नगेन्द्र ' विचार और विवेचन, पृष्ठ ६३
८०—का० कॉडवेल ' इल्यूजन ऐंड रियलिटि, पृष्ठ १५८-२२१
८१—डॉ० . बेसिक वर्क्स ऑफ सिगमंड फ्रायड' में पृष्ठ ८६६ पर उद्धृत
फ्रायड : तत्रैव, पृष्ठ ८६७
सी० जी० युग स्टडिज इन ऐनालिटिकल साइकॉलॉजी में पृष्ठ ३ पर जी० ऐडलर द्वारा उद्धृत।
जी० ऐडलर ' तत्रैव, १२ १२१, १४८, १७१-१८३ एवं २०२ पृष्ठ
सी० जी० युग कन्ट्रिब्यूशन्स टु ऐनालिटिकल साइकॉलॉजी, पृष्ठ ५४
८२—जी० इ० डेनिसन मिथ और लाजेंड, पृष्ठ १४
हेनरी फ्रेंक फोर्ट आदि : बिफोर फिलॉसफी पृष्ठ १४-१६ (Myth) it perpetuates the relation with a Thou.
ब्रानिस्ला मैलिनोवस्की . मिथ इन प्रिमिटिव साइकॉलॉजी पृष्ठ १८-२१
Myth · is · reality lived It is not of the nature of fiction ··but is a living reality Myth is thus a vital ingredient of human civilization.
जे० जी० फ्रेजर गोल्डेन बाउ० नवम् भाग, पृष्ठ ३०४
Ceremonies often die out but myths survive.
इ० बी० टेलर प्रिमिटिव कल्चर, पृष्ठ ३१७-४१३
वेरियर एल्विन : मिथ्स ऑफ मिडल इंडिया, पृष्ठ ११-१२
किम्बॉल यग ' हैंडबुक ऑफ सोशल साइकॉलॉजी, पृ० २०१

एस० राधाकृष्णन इंडिया ऐंड चायना, पृष्ठ १९-२० 'The Supreme Reality is incomprehensible and its nature can not be defined in human language; but can only be suggested by myths and legends.
एस० सी० राय : 'दि विरहोर्स' एवं 'दि खाडियाज' में उन्होंने मिथक को मनोरंजन का साधन या अनुभव-कथन-रूप इत्यादि माना है, जिसका विद्वानों द्वारा प्रतिवाद किया गया है।

८३—डा० नगेन्द्र : मानविकी पारिभाषिक कोष साहित्य खण्ड, पृष्ठ १७८

८४—फ्रैंज बोआस किम्बाँल यंग के ग्रंथ 'हैंडबुक ऑफ सोशल साइकॉलोजी, पृष्ठ २०१

८५—एस० एच० बूचर 'आरिस्टॉटल्स थियोरी ऑफ पोएट्री' पृष्ठ ४०३-७
विको और हर्डर के सिद्धान्त : बे० क्रोचे के ग्रंथ 'एस्थेटिक्स' में उल्लिखित
रिचर्ड चेस : क्वेस्ट फार मिथ पृष्ठ १०२, ११०

८६—अन्स्र्ट केस्सिरर फिलॉसफी ऑफ सिम्बालिक फार्म्स एवं लैंग्वेज ऐंड मिथ पृष्ठ १,८१,११

८७—सूजन लैंगर : फीलिंग ऐंड फार्म, पृष्ठ ९७४, ३७४
फिलॉसफी इन ए न्यू की, पृष्ठ १३, २०१-३,२४५

८८—मॉड बौडकिन : आर्केटाइपल पैटर्नस ऑफ पोएट्री, पृष्ठ ७० एवं ३३४
टी० एस० इलियट द्वारा उद्धृत लेवी ब्रूहल के सिद्धान्त दि यूज ऑफ पोएट्री ऐंड दि यूज ऑफ क्रिटिसिज्म, पृष्ठ १४८

८९—'कामभीति' के लिए द्रष्टव्य सी० जी० सेलिगमैन : ऐन्थ्रापॉलाजिकल पर्सपेक्टिव ऐंड साइकालॉजिकल थियोरी, पृ० २१९—There is in fact one fear, the neurotic dread of sexual intercourse which is symbolized in the same manner as vagina dentata by many people in many countries
दि ब्रिटिश इन्साइक्लोपीडिया आफ मेडिकल प्रेक्टिस भाग ११ वेरियर एल्विन : मिथस ऑफ मिड्ल इंडिया, पृष्ठ ३५९
आर० ब्रिफाल्ट दि मदर्स पृष्ठ, १-११८,
हैवलाक एलिस : वेरियर एलविन द्वारा 'मिथस ऑफ मिड्ल इंडिया' में ३६८ पर उद्धृत
सर जान उडरफ : दि गारलैंड ऑफ लेटर्स, पृष्ठ २१०; डा० भगवानदास पुरुषार्थ एव दि साइंस ऑफ इमोशन्स, पृष्ठ २८४ एवं सी० जी० युंग : दि साइकालॉजी ऑफ अनकान्शस, पृष्ठ ७६

शूपेनहावर : दि मेटाफिजिक्स ऑफ दि लव ऑफ दि सेक्सेज, पृष्ठ ३४८-५० (फिलॉसफी ऑफ शूपेनहावर);
डा० नगेन्द्र : विचार और अनुभूति, पृष्ठ ४३ ; विचार और विवेचन, पृष्ठ ९३
फ्रायड : बियोंड दि प्लेजर प्रिंसिपल, पृष्ठ ६४ Thus the libido of our sexual instincts goes with the Eros of poets and philosophers, which holds together all living things,
युंग साइकॉलॉजी ऐंड दि ऐनालिसिस ऑफ दि इरॉस, पृष्ठ ३०-४०

९०—डा० सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर, पृष्ठ ५७-६०

शब्द और अर्थ :

बिम्ब का लीलावपु

शब्दार्थौ काव्यम्—रुद्रट

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभा विशेषम् ।
—आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक १/६

पंडितराज जगन्नाथ ने आचार्य मम्मट के शब्दार्थ-युगल को काव्य मानने के मत का खंडन किया है और अपनी सम्मति दी है कि मात्र शब्द को काव्य मानना ठीक है[1]—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । स्टीफेन मालार्मे[2] का भी कथन है कि कविता भावो, विचारो के द्वारा नही रचित होती, शब्द के द्वारा निर्मित होती है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अभिमत है कि कविता मे शब्द बिम्बाधायक होते हैं । इन सब के विचारो का निष्कर्ष यह कि कविता बिम्बाधायक शब्द-रचना है ।

शब्द और उसके अर्थ के संबंध में विद्वानों में विचार-भिन्नताएँ हैं । डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का कथन है—शब्द है । शब्द रटो, केवल अल्प फल है । शब्द ईंधन की तरह भारी है । अर्थ अग्नि के समान, फूल की तरह हल्का । शब्द मूर्त्त, अर्थ अमूर्त्त ।···· शब्द कुम्भकर्ण की तरह

निद्रालु है। अर्थ लक्ष्मण की तरह जागरणशील है। शब्द शरीर है, अर्थ प्राण है।[३]

नीत्से का कथन है कि 'मूल्यवान शब्द नयी भावना के विजय-संकेत-रूप मे लहराती ध्वजाएँ हैं, जो नयी प्राप्त विभूति की प्राप्ति-भूमि पर स्थापित हैं।' और लैफकेडियो हर्न के अनुसार—'मेरे लिए शब्द वर्णमय है, रूपमय और गुणमय हैं। उनके व्यक्तित्व हैं, मुखाकृतियाँ है। उन्हे भाषाएँ और अदाएँ है, मुद्राएँ और मनोदशाएँ हैं, हास्य और सनक है; आभाएँ और स्वर हैं। जब मैं प्रिय मित्र के लिए कुछ लिखता हूँ तो समझता हूँ कि वह मेरे शब्दों में रग देखेंगे, अक्षरों से प्रस्फुटन की सुगंध लेंगे और शब्दो की मछलियों-सी चंचलता से झुंझलायेंगे भी। अवश्य ही पदार्थो की शाश्वत व्यवस्था में शब्द अपनी सत्ता की प्रतिष्ठा लोक में कभी न कभी कर लेगा।[४]

दूसरी ओर पं० केशव प्रसाद मिश्र का कथन है—शब्द भाषा का कठ फोड़ कर बाहर आया कि अर्थ ने उसकी अधीनता मान ली। शब्द अनादि अनन्त ब्रह्म है, अर्थ उसका अतात्त्विक—झूठ-मूठ का—रूपान्तर। ... इस यातुधान अर्थ और यक्षराज ज्ञान ने ... अपनी धोखे की टट्टी से ब्रह्म को इस प्रकार आवृत्त कर रखा है, कि हम अपने बन्धुभूत प्राणियो की बोली तक नहीं समझ पाते।....'[५]

संसार भर के समर्थ कवियों ने शब्द और अर्थ के द्वन्द्व को महसूस किया है। पंत जी ने जब कहा—

'वाणी मेरी चाहिए तुम्हे क्या अलंकार।

अथवा भारती ने जब निवेदित किया—

मेरी वाणी गैरिक वसना

और त्रिलोचन ने जब बताया—

भाषा की अंगुली से मानव-हृदय हो गया कवि मानव का, जगा गया नूतन अभिलाषा।
भाषा की लहरों में जीवन की हलचल है, ध्वनि में क्रिया भरी है और क्रिया मे बल है।

तथा दिनकर जी ने जब स्वीकार किया कि 'ये शब्द मद्य रसजीवी हैं....'

एवं अज्ञेय ने जब निवेदित किया—

प्रयोजन मेरा बस इतना है
ये दोनों जो
सदा एक दूसरे से तन कर रहते हैं
कब, कैसे, किस आलोक स्फुरण में
इन्हें मिला दूँ
दोनों जो है बन्धु, सखा, चिर सहचर मेरे।

—अरी ओ करुणा

और फिर कवि बायरन ने जब व्याकुल हो कर कहा था—'मुझे विश्वास है परन्तु अब तक पाया नहीं है, कि ऐसे शब्द होंगे जो वस्तु ही हैं।' और कॉलरिज ने जब घोषणा की थी कि 'मैं शब्द और अर्थ के पुराने विरोध को ध्वस्त कर दूँगा और शब्द को पदार्थ के पद पर, जीवंत पदार्थ के पद पर बैठाऊँगा।' तब इन सभी ने काव्यगत शब्द की विशेषता ही बतलाई थी कि वे अर्थ-पुंज हैं तथा विविध भावों और क्रियाओं के निदर्शक हैं। 'बन्धु, सखा, चिर-सहचर' होकर भी शब्द और अर्थ सहजता से नहीं मिलते; और मिल जाने पर भी अर्थ के साथ उनका मिलन क्षणभगुर होता है। या तो वे 'सर्वार्थ वाचकाः' होकर भोग-रूप धारण कर लेते हैं, अथवा समस्त अर्थों को ध्वस्त कर समाधिनिष्ठ अवधूत-रूप धारण कर जड़ हो जाते हैं। अतएव शब्द और अर्थ के क्षणिक मिलन मे अमित आनन्द है, तो साथ ही अपार वैकल्य भी है। काव्य के शब्दार्थ-योग मे ऐसा ही आनन्द-वैकल्य-संघात प्रस्तुत किया जाता है। इस कारण ही यह कवि की सबसे बड़ी सिद्धि है। आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'वाणी द्वारा उन्होंने (कबीर ने) उस निगूढ़ अनुभवैकगम्य तत्त्व की ओर इशारा किया है, उसे ध्वनित किया है। ऐसा करने के लिए उन्हें भाषा द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूप को रूप द्वारा अभिव्यक्त करने की साधना करनी पड़ी है। काव्यशास्त्र मे आचार्य इसे ही कवि की सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं।'[६]

उद्भट का कथन है कि 'अर्थ निःसीम है, अपरिमित है। परन्तु काव्यत्व तो उसके निबंधन मे है।' लोल्लट के अनुसार 'रसवत् एव निबंधो युक्तः न नीरसस्य।' निबंधन तो शब्द में और शब्द के माध्यम से होता है। यह शब्द-सधान ही कठिन साधना है। क्योंकि अनुभूति (और अर्थ भी) वही हो जाती है, जो शब्द वह पा लेती है। पिछले पृष्ठ ७४ पर रायनर मेरिया रिल्के के अनुसार कवि की शब्द-साधना का एक रूप द्योतित किया जा चुका है। उसका एक दूसरा रूप फ्रांसीसी कवि बादलेयर की निम्न कविता 'कारेसपौंडेसेज' में (अनुवादरूप) द्रष्टव्य है।[७]

प्रकृति मंदिर के हर सजीव स्तंभ से
समय-समय पर धुँधले शब्द निकलते हैं।
मनुष्य प्रतीकों के वन-कुंजों से होकर चलता है—
प्रतीकों के वन-कुंज, जो अपरिचित भी है, गंभीर भी,
फिर भी आँखों में परिचय की आभा लिए,
जो मनुष्य के पीछे-पीछे चलते हैं।

दूर से आनेवाली प्रतिध्वनियाँ* मिल जाती हैं
एक दूसरी में संक्रमण करती हैं, और फिर गहरे अंधकार-पूर्ण
आलिंगन में मूर्च्छित हो जाती हैं।
इसी तरह खुशबू, रंग और आवाज आपस में मिलकर एक हो जाते हैं।
खुशबू, जो बच्चों की बदन-सी शीतल, सारंगी की तरह
मधुर, चारागाह की तरह हरी और ताजी है,
उलझी और तीव्र और विजयनी गंध रेले में आती है।
और सभी असीम वस्तुओं के प्रसार के साथ मिलकर एक हो जाती हैं।

कवि की चेतना में प्रकृति-मंदिर, अर्थात् दृश्य जगत् से निकलने वाले किस्म-किस्म के शब्द, रूप, रस, गंध आदि के अनुभव एकत्र होते रहते हैं। उनके धुंधले अर्थ धीरे-धीरे परिचित भी होते चलते हैं। साथ साथ अनेक आदिम संस्कार, जातीय स्मृतियाँ, व्यक्तिगत राग-विराग की प्रतिध्वनियाँ भी जैसे दूर से आ कर दृश्य जगत् के बोध के साथ मिलती हैं, परस्पर संक्रमण करती हैं और सघन एकता में संश्लिष्ट होती हैं—आलिंगन में जैसे मूर्च्छित हो गई हों। शब्द का अर्थ-बोध, और अर्थ (जगत्) का 'शब्द-बोध' एक संधान है,—परिचय की आभा लिए आगे बढ़ना है। जिस क्षण यह परिचय प्रगाढ़ होता है, उस क्षण सारे शब्दों, सभी रंगों, सभी आवाजों और समस्त गंधों में सघन और जटिल संश्लेष होता है तथा वे जगत् की असीम वस्तुओं और अर्थों के साथ मिल कर एक विराट् एकता का राग प्रस्तुत करते हैं। पद (शब्द) अर्थ (भाव, विचार अर्थात् अनुभूति) और पदार्थ (जगत्) के तीन विषम संसारों में संचरण और संक्रमण तथा ऐक्य की स्थापना के लिए कवि-रूप मनुष्य को प्रतीकों के वन-कुंज से चलना पड़ता है। ये 'प्रतीक' शब्द, अर्थ और जगत् के बिम्बाधायक मिलन-बिन्दु हैं।

टी० एस० इलियट ने अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए स्थिति, पार्श्व, घटना, वस्तु आदि की उद्भावना करने और उनके अनुरूप शब्द, बिम्बादि की योजना करने के सिद्धान्त का नाम 'वस्तुगत-सह-संबंध' का अनुसंधान दिया है।

डा० रामविलास शर्मा ने भावों विचारों की ऐन्द्रिय प्रस्तुति पर बल दिया है। उनका कथन है कि 'साहित्य आर्थिक परिस्थितियों से नियंत्रित होता है, लेकिन उनका सीधा प्रतिबिम्ब नहीं है।······साहित्य के सभी तत्त्व समान रूप से परिवर्त्तनशील नहीं हैं। ऐन्द्रियबोध की अपेक्षा भाव और भावों की अपेक्षा विचार अधिक परिवर्त्तनशील हैं। ऐन्द्रियबोध और भाव-

जगत् में अपेक्षाकृत स्थायित्व रहता है।' ८ अनुभूति की ऐन्द्रिय प्रस्तुति और 'वस्तुगत सह-संबंधन' के द्वारा प्रस्तुति में तात्त्विक अन्तर नहीं है। प्रथम में आधार मनोदैहिक इन्द्रियों को मानकर और दूसरे में जागतिक वस्तुसत्ता को प्रधान मानकर अभिव्यक्ति की उत्तम विधि बताई गई है। यही बात आ० रामचन्द्र शुक्ल इस प्रकार कहते हैं—बिम्बग्रहण वहीं होता है, जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की स्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है।' अर्थात् अनुभूति उत्तम और संश्लिष्ट बिम्ब में प्रस्तुत की जाय, तो कवि की अभिव्यक्ति प्रभावकारी होगी।

किन्तु विचार बदलते हैं, परिवेश बदलता है; जगत् और जगत् के बोध मे परिवर्त्तन आता है। फलस्वरूप उन्हे द्योतित करने वाले शब्द पुराने पड़ जाते हैं और नये बोध से सम्बद्ध कुछ नये शब्द चल पड़ते है। ऐसी स्थिति मे शब्द के माध्यम से वस्तुगत सह-संबंधन ढूँढने, ऐन्द्रिय-प्रस्तुति करने अथवा बिम्बन में कवि के सामने कठिन समस्या उपस्थित हो जाती है। इस समस्या के निदान में अज्ञेय का कथन है—'प्रत्येक शब्द को प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता नया संस्कार देता है। इसीके द्वारा पुराना शब्द नया होता है, यही उसका 'कलर' है। इसी प्रकार शब्द वैयक्तिक प्रयोग भी होता है और बोधगम्य भी, पुराना परिचित भी रहता है और स्फूर्तिप्रद अप्रत्याशित भी।[९]

कवि की अनुभूति और उसके शब्द-रूप मे प्रकाशन मे सबधित जो समस्याएँ हैं, वे संक्षेप में ये हैं—

१. कवि की अनुभूति शब्द मे प्रकट होकर क्या अपने स्वरूपादि मे अनुभूति से अभिन्न रहती है, और तब क्या अन्यो में वह यथावत् अभिव्यक्त होती है? पुनः, शब्द मे व्यक्त होकर व्यक्ति क्या अपनी अनुभूति से पृथक् हो जाता है?

२. शब्द की सत्ता क्या है? चेतना और पदार्थ और शब्द में क्या सम्बन्ध हैं? शब्द क्या प्रेषण-माध्यम भर है!

३. भाषिक रूप, बिम्ब आदि को भी देखने की दृष्टियाँ अलग-अलग हैं। तब यदि काव्य-गृहीता नये कोण से अर्थ-ग्रहण करे, तो क्या शब्द और अर्थ की कविकृत मौलिक सम्पृक्ति भंग नही हो जाती? शब्द का अर्थ यदि

प्रत्येक गृहीता के लिए पृथक्-पृथक् है, तो क्या भाषा व्यक्तिगत नहीं हो जाती है ? क्या काव्य आदि कलाएँ व्यक्तिगत प्रतिक्रिया जगाने के लिए हैं ?

४. टी० एस० इलियट का कथन है कि आधुनिक मन में वैषम्य के अन्तिम छोरों तक की विविध धारणाओं को समझ लेने की शक्ति है।[10] हमारा मन पके हुए सूअर के मांस की बू, दांते की कविता का पाठ और प्रणय-जाल की अनुभूति एक साथ प्राप्त कर सकता है।

इन्द्रियों के न्वमित सह-बोध में आज तीव्रता भी आई है। किन्तु भाषा की क्रमबद्ध प्रकाशन-क्षमता में आनुपातिक तेजी नहीं आ सकी है। आधुनिक युग की तीव्र और तीक्ष्ण गत्वरता के सामने, इन्द्रियों के सहबोध और नाना प्रकार के विचारों-भावों के सह-अस्तित्व की विषम स्थिति में जब मूल्य विघटित हो रहे हैं और मनुष्य अपने आप में भी टूट-बिखर रहा है, तब काव्य-शब्द के प्रयोग और निर्बंधन की दिशा क्या होनी चाहिए ?

इन प्रश्नों पर सांकेतिक रूप से पिछले अध्यायों के पृष्ठ ८०-८२, ९६-१०८, ११७, १२६-१२८ आदि पर विचार किया जा चुका है। चारों प्रश्नों का सम्बन्ध, प्रधानतः अनुभूति और उसकी रूपायण-प्रक्रिया, तथा उसमें 'शब्द' के महत्त्व एवं अर्थ-विनिश्चय की समस्या से और आधुनिक युग की विषम स्थिति में कवि और काव्य-शब्द के उपयोग और प्रकार्य की विधियों से है। अर्थात् इन सबका संबंध काव्य-प्रेषण की प्रक्रिया से है।

काव्य-प्रेषण और बिम्ब

कवि की अनुभूति रूप-ग्रहण करने की प्रक्रिया में पड़ते ही प्रेषण-व्यापार से सम्बद्ध हो जाती है। रचयिता इसे जानता नहीं होता। बहुधा वह इसे अस्वीकार भी करता है। वह 'स्वान्तः-सुखाय' रचना करता प्रतीत होता है। कविता स्वान्तः सुखाय रचित हो जाय, स्वतः लिख जाय, यह सब अच्छी बातें हैं। फिर भी रचना का प्रेषण-महत्त्व न तो घटता है, न अस्वीकार ही किया जा सकता है। कवि अपनी भावनाओं के निर्धारण, चयन, रूप-निबंधन आदि में अलक्ष्य रूप से प्रेषण से अनुशासित रहता है। उसका प्रयोजन भी आत्म-तुष्टि के माध्यम से पर की तुष्टि होता है। समस्त शब्द-प्रयोगादि सामाजिक ढग-ढर्रे पर होते चलते हैं। वस्तुतः कवि का चित्त ही प्रेषण-यन्त्र के रूप में विकसित होता हुआ वहाँ तक पहुँचा है, जहाँ

से अब काव्य-रचना की जा रही है। फिर अन्तस्थतः कवि अनायास सोचता होता है कि उसकी रच्यमान कविता का लगाव, चाहे दूर का ही सही, किसी दूसरे से है। यह दूसरा उस क्षण वह स्वयं भी—अपने 'स्व' का पूर्व अथवा परवर्ती रूप—हो सकता है। अपनी बनती हुई कविता में वह निजी अभिरुचियों, व्यक्तिगत पसंदों और मोड़ों को आने से यथासंभव रोकता है। वह निर्मम, निर्वैयक्तिक भी होना चाहता है। उसमें रचना को प्रशंसित देखने की भी लालसा रहती है। रचित पंक्तियाँ पढ़कर बहुधा वह मन ही मन खुश भी होता है, यदि वे उसके अन्तर्मन के अनुरूप उतरी हैं, और उनमें संशोधन भी करता है, यदि वे अन्तर्मन में बैठे उसके आलोचक-रूप को नहीं रुचती हैं। प्रशंसक-संशोधक यह 'अपर स्व' सामूहिक अचेतन और सामाजिक व्यक्तित्व का ही सूक्ष्मांश है, जो काव्य-रचना का अलक्ष्य नियमन करता होता है। फिर, सभी कलाकार और कवि अपनी कृतियों का प्रकाशन करते हैं, उनका प्रचार करते हैं, और उनके लिए बाजार ढूँढ़ते हैं। पूर्णतः निजी और व्यक्तिगत कलाएँ नहीं के बराबर दीखती हैं। अतएव, कलाकाव्य की हेतुवादी और अहेतुवादी दृष्टियों में मात्र दृष्टि का अन्तर है।[११] कवि स्वीकार करे या न करे, रची जा रही कविता में वह अनुभूति के प्रकटीकरण के साथ-साथ प्रेषण-कार्य में भी संलग्न रहता ही है। अथवा कहा जाय, प्रकटीकरण के कार्य में अनायास और अलक्ष्य रूप से प्रेषण-कार्य भी होता चलता है। अनायास और अलक्ष्य होने के कारण कवि की समाधि-भंग नहीं होती और कविता उपदेश या 'प्रोपगैंडा' होने से बच पाती है।

प्रेषण : प्रवृत्ति और प्रकार्य—'जब सदस्य अथवा विषय प्रेषण-प्रक्रिया में परस्पर आ जाते हैं, तो वे सहचरण करते, सहक्रिय होते और एक संस्थान अथवा जीव-कोष का निर्माण करते हैं। प्रेषण सामाजिक प्रवृत्ति है... प्रेषक का अर्थ है—नियम-प्रणाली के द्वारा व्यवहार, तत्त्वों या जीवन-विधि में अन्तरंग आदान-प्रदान।[१२] इससे स्पष्ट होता है कि प्रेषण प्रेषक और प्रेषिती का प्रेष्य के माध्यम से सहयोगपूर्वक सह-अनुभूति है; सह-भावन है।

प्रकाशन और प्रेषण जीव का शरीर-धर्म और सहज क्रिया है। किन्तु पशु-जगत् के प्रेषण और मानवीय प्रेषण में अन्तर है। पशु पीढ़ी-दर-पीढ़ी से पशु हैं और अपनी जाति में सहजवृत्ति-वश गृहीत हैं। वे प्रायः समान और अनैतिहासिक आकृतियों के आवर्त्तन-क्रम में घूमते हैं। उनके प्रकाशन और

प्रेषण के आधार सहजवृत्ति से उद्भूत होते हैं। किन्तु मनुष्य इतिहास बनाता है; वह समाज के द्वारा और समाज की प्रतिक्रिया में गढ़ा जाता है। समाज और वह स्वयं दोनों विवेक से परिचालित रहते आए है। मनुष्य का समाज पशु-समाज की तरह नितान्त प्राथमिक और जैविक मात्र नही होता। व्यक्ति-रूप मनुष्य का समाज से सबध अनेक इतर तत्त्वो—जैसे, सहानुभूति, प्रेम, कल्याण आदि भावनाओं एवं सत्य-न्याय आदि के भावों—से जुड़ा रहता है। द्वितीयतः मानवीय प्रेषण मानव की विकासधारा से सबंधित रहता है। उसका लक्ष्य है; और यह लक्ष्य पशु के आवृत्ति-प्रधान लक्ष्य से नितान्त भिन्न है। उसमें क्रम-विकास है। परम्परा-द्वारा उसमें सदैव परिशोधन होता आया है और होता रहेगा। अतएव मानव-समुदाय के विशाल सांस्कृतिक संस्थान में प्रेषण संरक्षा, प्रसार और विकास का अभिन्न अंग है। [१३]

प्रेषण-प्रक्रिया प्राणी की विषय के प्रति चयनात्मक प्रतिक्रिया है। प्रेषक जिस प्रकार सक्रिय और चेतन है, प्रेषिती भी उसी प्रकार सक्रिय और चेतन होता है। वह प्रायः निष्क्रिय गृहीता नहीं होता, जैसे पशु। अपनी विशिष्ट क्रिया-चेतना द्वारा वह 'प्रेषित' को उद्भावित भी करता है। अतएव प्रेषक अभिन्नताकांक्षी होकर भी प्रेषिती में पूर्णत प्रतिफलित नहीं हो सकता। क्योंकि प्रेषिती अपनी शिक्षा-दीक्षा, अभिरुचि, मनोदशा, वातावरणादि के अनुसार प्रेषण-व्यापार में सहयोग करेगा। [१४] यदि ऐसा विश्वास हो कि विश्व भर में मूलतः एक ही मन है, और व्यक्ति-मन उसका ही अंश है, अतः एक मन दूसरे में अनुप्रविष्ट, सक्रमित हो सकता है, होता रहता है जैसा कि येट्स आदि का विचार है, तो वह दूसरे क्षेत्र की बात हो उठती है। [१५]

जीवन-जगत् का वस्तु-तत्त्व कवि के द्वारा अनुभूति-रूप में गृहीत होता है। अनुभूति के ग्रहण और रूप-निबंधन मे यह वस्तु-तत्त्व कवि की अन्तर्दृष्टि के अनुसार परिवर्तन करता चलता है। निरपेक्ष अन्तर्दृष्टि के स्रष्टा मे वस्तु-तत्त्व प्रायः निःसग और मुक्त प्रकाशन पाता है, किन्तु सापेक्ष अन्तर्दृष्टि के कवि और कलाकार के द्वारा निर्मित वस्तु-तत्त्व में सामाजिक, नैतिक, धार्मिक आदि प्रेरणाओं से अपेक्षया अधिक परिवर्त्तन होता है। कवि वस्तु-तत्त्व का चर्वणा द्वारा एक प्रातिभ रूप खड़ा करता है। पुन. यह वस्तु-तत्त्व शब्दादि में बँध कर उनके नियम, विधि-विधान, प्रकृति और सीमा आदि से भी घिर जाता और रूप-रग धारण करने लगता है। इस प्रकार वस्तु-तत्त्व योग-वियोग के, रूपायण और अन्यथाकरण के, पुन., लय-प्रवाह और

शब्दानुक्रम मे बँधने के अंतरंग, जटिल और दीर्घ व्यापार से गुजर कर 'प्रेषणीय तत्त्व' होता है। विचार-भावादि ऐन्द्रिय रूप मे प्रकट होना चाहते
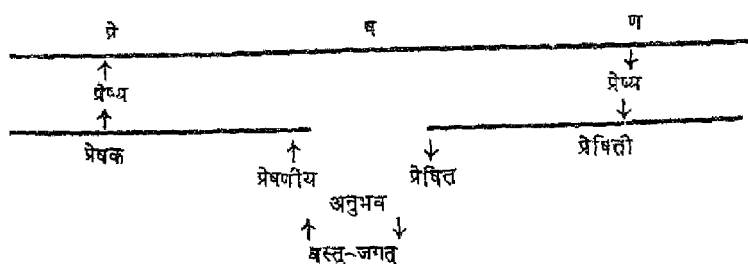
हैं। कवि के हृदय मे प्रेम की अद्भुत अमृत-धारा लहराती हो सकती है, पर उसका प्रेषण वह कुछ ऐन्द्रियिक गीतों अथवा सौन्दर्यिक काव्य-शब्दो के द्वारा ही कर सकता है। ऐन्द्रिय साधनों में सीमाएँ हैं। अतएव 'प्रेषणीय-तत्त्व' सीमा में बँधता और प्रेष्य रूप धारण कर और भी सीमित हो जाता है।

प्रेष्य मे दो तत्त्व हैं—एक कवि का अनुभव, और दूसरा उसका शाब्द अथवा भाषागत रूपायण। ये दोनों परस्पर अनन्य हैं और अनेकानेक जटिल सम्बन्धों से एकमेक हुए रहते है। अतः अनुभूति से रूपादि की दृष्टि से शाब्द रूपायण भिन्न होकर भी बहुत अंशों मे अभिन्न रहना है। इन दोनो में वर्ण-बिम्ब के धरातल पर पार्थक्य, बिम्बमूल के धरातल पर समानता और वाग्-बिम्ब के क्षेत्र में ऐक्य रहता है। शब्द में व्यक्त हो कर कवि अपनी अनुभूति से निश्चय ही पृथक् होता है। तब व्यक्त अनुभूति काव्य-परम्परा और सहृदय-समाज की वस्तु होती है। यह कवि की भी मुक्ति है, अनुभूति की भी।

अब प्रश्न है कि अन्य में उस शाब्द अनुभव का तद्वत् प्रेषण संभव है या नहीं। वह प्रेषित होगा कैसे?[१६] हमारी पीड़ा हमारी पीड़ा है, दूसरे में वह आयगी कैसे? दार्शनिक विटगेंस्टाइन ने निजी संवेदनगत दर्द को व्यक्तिगत माना है। पर व्यक्तिगत हो कर भी वह प्रकाश्य तो है, गोननीय नहीं। अत: वह प्रेष्य भी है।[१७]

अब फिर यदि कहा जाय कि अनुभव साधारण रूमाल तो नहीं है कि जेब से निकाला और दिया। अनुभव कहाँ शुरू होता है? कहां खत्म होता है? उसकी सीमा क्या है? पूर्णता-अपूर्णता कैसे निर्णीत हो? वह तो एक विराट्

सचेत्यता है—एक विस्तीर्ण मकड़ी-जाला, जिसके तन्तु रेशम के जालों के बने हैं और जो चेतना के कक्ष में लटक रहा है। तथा हवा मे उड़ते प्रत्येक कण को अपने तन्तु मे पकड़ता जा रहा है, अथवा वह तो मानस का वातावरण-मंडल है। काव्यादि में तो अनुभव भावात्मक-कल्पनात्मक भी होता है। अनुभव उस क्षण कवि मे जीवन के हलके से हल्के इशारे को भी ग्रहण करने की क्षमता उत्पन्न करता है। हवा के कम्पनो तक को प्रज्ञा मे उन्मिषित कर देता है। एक झलक तब मन में चिरतन चित्र उरेह देगी। निमिष मात्र भी वह टिके, पर वह पल प्रगाढ अनुभव का क्षण है और उसमें महान् कला की सृजन-क्षमता है---अदृश्य को दृश्य रूप में कल्पित कर देने की शक्ति है। उसके एक छोटे कोने से भी पदार्थों के यथार्थ पारमार्थिक प्रयोजन का अनुसधान मिल जाता है, मात्र ढाचे से सम्पूर्ण का मूल्यांकन संभव हो उठता है; और तब मन में व्यापक जीवन की महिमा से स्पन्दित होने की अनुभूति भी व्याप जाती है। ये उपहार-पुंज अनुभव के तत्त्व कहे जा सकते है। यदि अनुभव प्रभाव हों, तो प्रभाव ही अनुभव है जो स्वाँस की वायु की तरह सहज और सरल है।[१८] जेम्स ज्वायस ने अनुभव की जटिलता का ऐसा ही विवरण दिया है।

यह बात ठीक है कि अनुभव का विश्लेषण करे तो उसमे प्राणि-जगत् के एवं वर्ग-विशिष्ट के अंश, नैपुण्य के अर्जित अंश, आंतरिक दशा और परिस्थिति के प्रभावगत अंश मिलते है, जो अनुभवकर्त्ता की नाना वृत्तियों से मिलकर एवं अवचेतन-अचेतनादि से प्रेरित-परिवर्तित हो कर ऐसा संश्लिष्ट, गूढ और जटिल संस्थान बनाते हैं कि उनका वर्णन करना कठिन ही नही अकल्पनीय है; इसलिए भी कि वर्णन आत्मनिरीक्षण-पूर्वक होगा, पूर्वानुभव का स्मरण ही होगा। अर्थात् जब तक ईश्वर का अनुभव हम कर रहे हैं, तब तक ईश्वर आए भी तो वह सब कुछ दुरुस्त पा सकता है, पर अपने आप को ही नही पाएगा।[१९] अनुभूयमान अनुभव और स्मृत अनुभव में अन्तर तो होता ही है। साथ ही कुछ अनुभव बडे तीव्रगामी होते हैं। मृत्यु के समीप के अनुभव सघन, द्रुत-धारा-प्रवाही, चित्रात्मक और आवृत्ति-प्रधान होते हैं। उनकी प्रगाढता, आच्छन्नता और वेग में विगत काल के विस्मृत-विलुप्त दृश्यो का आवर्त्तन इतनी भाव-संकुल ऐन्द्रियिकता से होता है कि उसे वर्णन में उतार लेना संभव नहीं है।[२०] कवि अनुभव की जटिलता और भाव-संकुलता को यथा-संभव अपनी प्रतिभा से, अर्थात् लय तथा वक्रता,

आतिशय्य एवं रूपक अलंकारादि के योग से और संचारी भावों, अनुभावों के चित्रणादि के द्वारा वर्णित और व्यजित करता है। लय-प्रवाह एव अलकरणादि के समस्त तत्वों के कारण कॉलरिज के शब्दों मे, 'बाह्य अन्तस्थ हो उठा रहता है और आन्तरिक बाह्य: प्रकृति विचार हो उठी रहती है और विचार प्रकृति —कला मे प्रतिभा का यही रहस्य है। अब क्या यह जोड़ना पडेगा कि प्रतिभा-सम्पन्न को इस भाव से प्रेरित होकर चलना चाहिए कि बाह्य शरीर सतत मन होने को आकुल है, और यह कि वह सारतः मन ही है?[२१] फलतः, सहृदय, जैसा कि पृष्ठ १०२-३ एवं १६५-७ पर वर्णित हुआ है, अपने सस्कार और पूर्वानुभव के बल पर उसका अनुभावन करने मे समर्थ होता है।

प्रेष्य का दूसरा, किन्तु अविश्लेष्य तत्त्व है उसका भाषिक रूप। भाषा सामाजिक तत्त्व है। वह शब्दार्थ-संस्थान है। फ्रासीसी विद्वान एफ० द सोसुर के अनुसार भाषा के तीन पक्ष है—व्यक्तिगत (पैरोल, स्पीच), सामुदायिक (लॉग, टॅग) और विश्वरूप (लागाज, युनिवर्सल लैंग्वेज)।[२२] इन तीनो मे सामाजिक पक्ष गुण और मात्रा में अन्यो से महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति की भाँति भाषा भी समाज के व्यवहार से और व्यवहार-कर्ता समाज से बाहर नही जा सकती है। सामाजिक व्यवहार अन्तर्वैयक्तिक प्रक्रिया है, जिसमे व्यक्ति और उसका बाह्य आचरण प्रथमत: आंगिक स्पर्शादि के द्वारा प्रत्यक्ष क्रियाओं मे और द्वितीयत: साकेतिक व्यवहार-प्रणालियो के द्वारा अभियोजित होते हैं। आन्तरिक वृत्तियो के प्रकाशन मे रुद्धता आने पर, जैसा कि पृष्ठ ११३-४ पर सकेतित किया गया है, प्रातीतिक (साकेतिक) व्यवहार शुरू किया जाता है। इसका आरम्भण मुद्रा-द्वारा व्यवहार-प्रणाली में होता है और पूर्णता भाषा द्वारा व्यवहार-प्रणाली मे होती है। ये दोनो प्रक्रियाएँ व्यक्तित्व-निर्माण मे महत्त्वपूर्ण है।[२३] भाषा का रूप-सस्थान अनुकरण पर आश्रित है और उत्तरोत्तर ससूचन, समवेदन, स्वनिर्देशन[२४] आदि नाना प्रकार की वैयक्तिक-सामाजिक अनुप्रेरणाओं से जटिल होती चलने वाली प्रक्रिया है। मनुष्य मस्तिष्क लेकर पैदा होता है, मन तो वह अर्जित करता है दूसरे शब्दों में सिंह यदि भाषा-व्यवहार कर उठे, तो उसे हम समझ नहीं सकते। भाषा समाज में ध्वनित होती है, अन्यथा वह अपलाप है।[२५] एडवर्ड सापिर ने भाषा को इसी कारण शुद्धत: मानवीय एव असहृ०

प्रवृत्यात्मक प्रणाली माना है जिसके ऐच्छिक प्रतीक-संस्थान के माध्यम से विचार-भावादि का प्रेषण किया जाता है।[२६]

कवि अपनी अनुभूति के प्रकाशन में जब भाषा का व्यवहार करता होता है, तब वह १, स्नायविक तनाव के वेग से मुक्ति पाता है, तथा २. वाणी को उत्प्रेरित ३. विचार का प्रकाशन ४. प्रेषण ५. सम्मोहन ६. चिंतन, ७. सस्वर गायन भी करता होता है, एव प्रकारान्तर से ८. अभिलेखन और ९. अध्ययन के लिए सामग्री भी प्रस्तुत करता होता है। इनग्राहम के अनुसार भाषा के ये नव उपयोग हैं।[२७] सारतः इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि भाषिक प्रकाशन में कवि १. विचार-भाव का प्रतीकन करता है, २. काव्य जिसे संबोधित हो रहा है उस सामाजिक अथवा काव्य-गृहीता के प्रति अपनी मनोदशा का भी प्रकाशन करता है, ३. अपनी अनुभूति अथवा काव्य-वस्तु के प्रति अपने राग का तथा ४. अपनी विवक्षा का भी प्रकाशन करता है और ५. अपने वर्णित विचारों-भावों की संपुष्टि, अनुमोदन अथवा आलोचना भी करता चलता है। आग्डेन एवं रिचर्ड्स की दृष्टि से भाषिक प्रतीक-व्यवहार के ये पाँच महत्वपूर्ण प्रयोजन है।[२८] विटगेंस्टाइन ने भाषा को औजार-बक्स मान कर उसकी नाना क्रीडाएँ बताई हैं। वस्तुत कवि क्रीड़ा-वृत्ति से प्रेरित होकर भी भाषा-व्यवहार करता है।

भाषा और उसकी व्यवहार-प्रणाली मे कुछ त्रुटियाँ और दोष हैं। वह चिंतन की यथावत् प्रस्तुति नहीं कर सकती; वह परतंत्र-प्रकाशन-प्रणाली है। जैविक आवश्यकता, सहज प्रवृत्ति, भावादि के प्रकाशन का वह स्वच्छ और प्रयोक्ता द्वारा अनुमोदित मार्ग नही है, अपितु उन्हे छिपाने, झुठलाने का साधन है। विटगेंस्टाइन ने उसे बुद्धि का विभ्रम माना है। वर्जनाओं, भीतियों, कुंठाओं के कारण और सामाजिक शीलवश भाषा मे भाव-इच्छादि अपनी निरावृत्त सहजता से प्रकट नही होती[२९]। पुनः अनुभूति कालिक आयाम मे वेगयुक्त प्रवृत्ति है; भाषा उसे बाँधकर दैशिक आयाम में स्थिर रूप प्रदान कर देती है। वह अनुभूति को तोड़ती है, सीमाबद्ध भी करती है। मनुष्य-मनुष्य और जाति-जाति में भेद-भाव लाती है। उसमें इन्द्रियों के सहबोध की प्रस्तुति की क्षमता नहीं है, क्योंकि वह मूलतः विश्लेषण-प्रधान है। लिखित भाषा में तो और भी दोष आ जाते हैं। वह वक्ता की अंग-भंगिमाओं, मुख की मुद्राओं, आँखों की चमक, बलाघात, स्वराघात, स्मिति आदि के कंपन

अर्थात् नाट्य पृष्टाधार और नाद का जादू खो कर नि:स्पन्द और नि:संग रह जाती है; वह जैसे वनराजि से तोड ली गई पुष्प-कलिका की भांति गुलदस्ते मे अपने स्वरूप का कृत्रिम और जड-रूप प्रस्तुत करती है। पुनः भाषण, लेखन, काव्य-प्रेषण मे वक्ता, लेखक और कवि पदार्थ जगत् से भावजगत् और उससे फिर शब्द अथवा वाक्य-जगत् मे प्रवेश करते हैं। परन्तु श्रोता, पाठक और काव्य-गृहीता की यात्रा दूसरी दिशा में लौटने की प्रक्रिया है। अर्थात्—

	अ	ब	स	ब	अ
वक्ता, कवि—	पदार्थाकृति →	भावाकृति →	शब्दाकृति		
श्रोता, भावक—			शब्दाकृति →	भावाकृति →	पदार्थाकृति

वक्ता, कवि की यात्रा सृष्टि-क्रम-रूप, अतः सहज और प्राकृतिक व्यापार है। परन्तु श्रोता-भावक की गति लय-क्रम-रूप होती है। वह सहज ही अपने को लीन नहीं होने देता।

भाषा की उपरि-द्योतित त्रुटियों और दोषों से कवि सदा जूझते आये हैं। वे युगानुरूप एव अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार उसमें सशोधन भी करते आये हैं। उसके प्राविधिक और परम्परित—नियमित रूप को, व्याकरणिक परतन्त्रता को वे भग भी करते है। भाषा को उन्हें पूर्णतः आत्मलीन बनाना पड़ता है। रायनर केरिया रिल्के ने सकेतित किया है (द्रष्टव्य पृष्ठ १०४) कि शब्द किस प्रकार साधे जाते है। उसके मिथ्यात्व के परिहार के लिए कवि सरल सहज स्वच्छन्द प्रकाशन-प्रणाली, 'मैं शैली', विश्वसनीय वातावरण और कलात्मक ईमानदारी आदि का सहारा लेते है। वे भाषा के दैशिक आयाम को भग करने के लिए उसके व्याकरणिक परिपाटी से पृथक् विधि पर पद-विन्यास करते हैं; लय के कालिक सस्थान मे शब्दों को प्रवाहित करते हैं तथा कुछ ऐसे वक्र-कथनो, आतिशय्य, औपम्य, रूपकादि अलकारो का प्रयोग करते है कि गृहीता का चित्त विविध और विषम इन्द्रियबोधों से तथा भाव-सान्द्रण से आच्छन्न होता है। इससे देशगत प्रसार और कालगत प्रवाह दोनो जैसे आकुंचित और सघन हो उठते हैं। भाषा का विश्लेषण-प्रधान रूप लयात्मकता, ऐन्द्रियिकता और भाव-सान्द्रता से सश्लेषणात्मक हो जाता है। लय एवं रूपक, आतिशय्यादि अलकार के तत्त्व संप्राप्त कर कविता के शब्द उच्चरित नाद के लुप्त और तिरोहित अंश के आविष्कार के लिए उत्प्रेरण जगाते हैं। उस शब्द-विन्यास में वर्णनादि मे जो सम्मोहक तत्त्व—मिथक,

रूपक, प्रतीक आदि रहते हैं, उनमें श्रोता-भावक को पद-पद पर अन्वेषण और सर्जन का रोमांचक आनन्द मिलता चलता है, जिससे उसकी अपनी पृथक् सत्ता लीन होती चलती है और उल्टी यात्रा ऋजु उपलब्धि प्रतीत होती है। आग्डेन और रिचर्ड्स के अनुसार—'शब्द और तत्संकेतित विचार में संबंध है, परन्तु शब्द और उसके द्वारा प्रतीकित 'वस्तु' में संबंध साक्षात् नहीं है।'[३०] 'साँप' जीव से 'साँप' शब्द का वास्तविक संबंध नहीं है। किन्तु शब्द अपने में पूर्वानुभूत प्रतिक्रियाएँ समाहित रखते हैं। सी० ई० ऑसगुड के अनुसार 'वस्तु' के साक्षात् से हुई पूर्वकालीन प्रतिक्रिया संक्षिप्त रूप से उसके संकेत के द्वारा मनोदैहिक संस्थान में उद्बुद्ध होती है—

१. स (साँप जीव) → प → प पूर्ण प्रतिक्रिया

२. स (संकेत 'साँप' शब्द) प्र प्र → स प्र → प (कम्प, प्रतिरक्षात्मक सन्नद्धता)

(प्र प्र: उपर्युक्त प प का अंश; स प्र: प्र प से प्राप्त संवेदन)

पहले साँप को देखकर जो पूर्ण प्रतिक्रियात्मक व्यवहार-प्रणाली हुई थी, साँप संकेत (शब्द) को सुनकर, पढ़कर उसी प्रतिक्रिया-प्रणाली के अंश से उद्भूत, संवेदन-क्रिया द्वारा आंशिक और कुछ मद्धिम प्रतिक्रिया होगी।[३१] अतः यदि काव्यगृहीता में पूर्वानुभवगत (जातीय भी) संस्कार रहेंगे तो कवि-प्रयुक्त बिम्बात्मक भाषा-संस्थान से, अर्थात् वाक्याभिनयात्मक काव्य के द्वारा वह कविगत अनुभूति और उसके मूलस्थ वस्तु-जगत् का भावात्मक-बिम्बात्मक साक्षात् कर सकता है और प्रायः कवि-सा स्पंदित-भावित भी हो सकता है।

प्रेषण में स्तर—प्रेषिती ने मान लिया जाय 'प्रीति न अरुण साँझ के घन सखि !' पंक्ति सुनी। वह पहले शब्दों का ध्वनि बिम्ब ग्रहण करेगा। इससे उसके अन्तर्मन में 'अबोधपूर्व' कुछ अपर्यालोचित अर्थ अरुणित होगा। फिर वह 'प्रीति' 'साँझ' 'घन' शब्दों की सामान्य अर्थ-परम्पराओं की झलक लेगा। इनमें जो नाद-गुण, स्वर-प्रवाह आदि की लय है, उससे वह स्पंदित होगा और उसमें सह-अनुभूति जगेगी। उस लय-प्रवाह में उसे 'प्रीति' का आकर्षण-परक, स्नेह-परक धुँधली अर्थ-परम्परा उदित प्रतीत होगी। उसी भाँति 'साँझ' और 'घन' की भी अस्पष्ट धुँधली अर्थाभाएँ झलकेंगी। यह भावग्रहण की प्राथमिक दशा है। रिचर्ड्स ने काव्य-ग्रहण की छह क्रमिक अवस्थाओं का उल्लेख किया है।[३२] उनमें से यह दृश्य अथवा श्रव्य-संवेदन तथा बौच्चारणिक और श्रुत गत्वर बद्ध बिम्ब-ग्रहण की अवस्था है स्पष्ट

यह शब्दार्थ-ग्रहण की अभिधा-व्यापार की दशा है। सामान्य अर्थ-परम्परा के ग्रहण के कारण इस अवस्था में प्रेषक-प्रेषिती के बीच का व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक अन्तराल प्रायः दूर-सा हो जाता है।[३३] गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की आकारीकरण और पूर्णता की सम्प्राप्ति की प्रक्रिया भी चल पड़ती है। कुछ क्षण बाद माध्यमिक प्रेषण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। यह प्राथमिक प्रक्रिया पर आश्रित और उसीसे अनुशासित प्रक्रिया है। वस्तुतः यह प्राथमिक का प्रस्फुटन है। रिचर्ड्स की दृष्टि से यह स्मृत स्वच्छन्द बिम्ब, भावासंग, और विचारोदय का क्षेत्र है। इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में पड़कर आस्वादक 'प्रीति', 'अरुण, 'साँझ' के अनेक अर्थ-बिम्बों मे से एक-एक को (मनोवृत्ति और विवक्षानुसार) चुन लेता है और स्मृति-बिम्बों, सहचर-बिम्बों के मंडल से उन्हें सघन बनाता है। उसमें एक वैचारिक तत्त्व उदित होता है कि इसमें प्रीति के सम्बन्ध मे कथन है, कि वह शाम की लाल झलक मारनेवाली बदली नहीं है। उससे गंभीर तत्त्व है। इस तत्त्व-विचार के साथ आस्वादक के भाव-बिम्ब जब संश्लिष्ट होते हैं तब उसमे विवक्षित मनोदशा की उद्बुद्धि होती है। जीवन-जगत् के दैनंदिन व्यवहार का भी अर्थग्रहण प्रायः इसी विधि से होता है, पहले सामान्य—जाने, कैसा तो क्या-क्या लग रहा है। फिर विशेष—'भूख' या 'पेट का दर्द'।[३४]

पुनः आस्वादक के अन्तर्मन में यह भाव भी होता है कि इसमे 'प्रीति' और 'साँझ के घन'-जैसे दो विषम वस्तुओं के विषय में एक ही कथन कर, एकधर्मिता दिखाकर, उसे नकारा गया है। जैसा कि पृष्ठ ७१ पर संकेतित किया गया है, इससे उसके चित्त को 'प्रीति' और 'अरुण घन' में कुछ समानता और कुछ वैषम्य का एक साथ परिज्ञान होता है। अपर्यालोचित अर्थ जो नादबिम्ब और लय-प्रवाह से अनायास मन को स्पर्श कर गया है, अब बोधगम्य होने लगता है। 'प्रीति' और 'अरुण साँझ के घन' के प्रति जो आदिम राग है, वह जगता है। वह 'अरुण साँझ के घन' में आद्यबिम्ब का आभासन पा मुदित होता है। पर 'प्रीति' वैसा होकर भी वही नही है। उससे महत्तर है। इस गूढ़ और जटिल प्रबोध से उसमें विषाद, कारुण्य और हर्ष की मिश्रित अनुभूति के साथ एक प्रकार के मद की संश्लिष्ट मनोदशा उद्बुद्ध होती है। अन्तरंगता के साथ सखि के समक्ष 'प्रीति न अरुण साँझ के घन सखि!' की स्वीकारोक्ति जिस सहज रूप में प्रस्तुत की गयी है उसकी कातर भावराशि से तब उसे तन्मयकारी आह्लाद और वैकल्य की युगपत्

अनुभूति प्राप्त होती है। यही कवि का अभिप्रेत है। (विशेष द्रष्टव्य पृष्ठ ७१-८२ तथा १६६-७०)

इस आह्लादपूर्ण वैकल्य की मनोदशा मे उत्थित होने के लिए अर्थ-सम्प्राप्ति की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। अतएव अर्थ-विनिश्चय की प्रक्रिया पर विचार कर लेना आवश्यक है।

कहा जाता है कि वस्तुनिष्ठ सत्य से सबधित होने तथा वैज्ञानिक सकेतों के माध्यम से प्रकाशन करने के कारण विज्ञान वस्तुनिष्ठ प्रेष्य तत्त्व और उसकी यथातथ्यता का प्रमाण बार-बार के परीक्षण के द्वारा प्रस्तुत कर सकता है (द्रष्टव्य पृष्ठ १२६-१२९)। किन्तु इसके लिए यत्र मे तत्-संबंधी शक्ति, योग्यता और क्षमता होनी चाहिए। उसी भ.ति काव्यादि की सौन्दर्यानुभूति की स्वकीय वस्तुनिष्ठता और प्रेषण के आनुरूप्य के भी प्रमाण दिए जा सकते हैं। उनके आस्वादन से भी बार-बार तन्मयकारी मनोदशा प्राप्त होती है। पृष्ठ १०३ और १०८ पर यह द्योतित किया जा चुका है कि काव्य के अधिकारी है विमल प्रतिभानशाली सहृदय। विज्ञान के यन्त्र की भाँति काव्य की वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यानुभूति और तज्जन्य तन्मयता की मनोदशा के वे ही चैतन्य प्रमाण है।

शब्द और अर्थ-विनिश्चय

अर्थ-ज्ञान सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। 'वाक्तत्त्व को देखता हुआ भी उसके अर्थ को अज्ञानी नहीं देखता, सुनता हुआ भी यहीं सुनता। परन्तु ज्ञानी प्रतिक्षण उसका साक्षात्कार करता है, पतिव्रता स्त्री के समान उसका स्वरूप आत्मज्ञानी के समक्ष प्रकट रहता है।' वेद मे अर्थ-तत्त्व की एवं उसकी सम्प्राप्ति की महिमा इस प्रकार बतायी गई है।[३५] दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि 'निरर्थक शब्द-ज्ञान-वाहक—चाहे वह ज्ञान वेदशास्त्र का ही क्यो न हो—गर्दभ है।' 'अर्थ विज्ञान से रहित शब्द-ज्ञान अग्निहीन काष्ठवत् है, जो प्रज्वलित नहीं हो सकता'[३६]। अतएव नागेश ने बताया है कि वाक्-तत्त्व की सफलता यही है कि अर्थ-तत्त्व का ज्ञान ठीक-ठीक हो जाय : अर्थ परिज्ञान-फला हि वाक्। सम्यक् ज्ञानं हि प्रकाशनमर्थस्य। अर्थो हि वाचम् शरीरम्—(उद्योत)। तभी महाभाष्यकार का कथन है—'एक' शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुग्भवति।'

'अर्थ और उसका संचार अविभाज्य रूप में व्यक्ति और समाज (समष्टि) के मनोविज्ञान से जुड़ा हुआ है। जैसा कि एक प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी ने कहा है, 'अर्थ-संस्थान का सम्पूर्ण ज्ञान विश्व के परिपूर्ण ज्ञान पर अवलम्बित है। पर भाषा-विज्ञानी आयु भर में केवल भाषा और अर्थ के विज्ञान की नियमावली का स्पष्टीकरण कर सकता है।'[३०] मनोविज्ञानी अर्थ-तंत्र और शब्द-व्यवहार की जटिलता पर अपनी दृष्टि से विचार कर बताते हैं कि मानव मस्तिष्क असंख्य स्नायुओं और उनके चक्रों, केन्द्रों, संस्थानों का अद्भुत रूप में सघटित प्रतिपल वर्धमान जटिल जाल है। प्रायः प्रतिक्षण (४०० फीट प्रति सैकेंड की गति से) स्नायुओं में संवेदनादि आते-जाते रहते हैं, और उनमें से अनेक 'विचारणा' तक की कोटि में आ जाते हैं, जिनके कारण स्नायु-चक्रों के फैले-फैले जालों में तत्क्षण पारस्परिक सम्बन्धवश सघन जाल बुन जाता है और इस जाल में पूर्वानुभव एवं विचारादि की पेचीदी बुनावट उलझ भी जाती है। यह विचार अन्यों से उलझता-टकराता यदि अपना मार्ग प्रशस्त कर सका तो एक 'अनुभव'-रूप में लीक-सा छोड़ जाता है। अनुभव के ये शेषांश ही बाद में सहचारी रूप से या स्मृति-रूप में, उभरते हैं। शब्द का 'अर्थ' संभवतः इस प्रकार ही मानव मस्तिष्क में संस्कार-रूप में अर्जित होता चलता है। पुनः शरीर-शास्त्र की दृष्टि से वाणी मस्तिष्क के एक भाग में स्थानीय रूप से स्थित है; वहीं वह गृहीत होती है। वाग्ध्वनियाँ श्रुतिसम्बन्धित मस्तिष्कीय भाग से चालित हैं, तो स्वर-यन्त्र, जिह्वा, ओठ आदि औच्चारणिक अवयव मस्तिष्कीय चालन भाग से परिचालित हैं। इन भिन्न-भिन्न भागों में स्थानिक बिन्दु-पुंजों के बीच सन्धि-स्थल हैं, जो सहचार-मार्ग (पाथस ऑफ एसोसिएशन्स) द्वारा बनते हैं। इनमें स्पन्दन और सहचारी सम्बन्धों के संग्रथन के कारण ही ध्वनियाँ निस्सरित होती हैं। परन्तु मस्तिष्कीय वाग्ध्वनियों को भाषा नहीं कह सकते। भाषिक स्तर तक पहुँचने के लिये अनुभव, दृश्य, बिम्ब आदि से अथवा सम्बन्धित भावादि से ध्वनियों का सहचरित होना आवश्यक है। भाषिक इकाई के लिये यह 'अनुभवांश' ही उसका द्रव्य है,—यही उसका 'अर्थ' है। तत्संबंधी सूचन, संकेतन, भंगिमा, कथन, श्रवणादि समस्त व्यापार इस 'अर्थ' के लिये जैसे 'प्रतीक' हैं। इस प्रकार भाषा स्थानिक शरीर-चालन मात्र नहीं। उसमें ज्ञानात्मक सम्बन्ध-जाल की अद्भुत प्रतीकात्मकता है : जिसमें एक ओर तो चेतना के प्रायः सारे तत्त्व रहते हैं, तो दूसरी ओर मस्तिष्क के एवं स्नायु-

संस्थान के श्रवण, चालन एवं अन्य कार्य-व्यापारों के स्थानीय अंगों-प्रत्यगों की सम्मिलित क्रियाशीलता रहती है।[३८]

सिद्धान्त-कौमुदी में शब्द का धातुगत अर्थ आविष्कार करना और शब्द करना है—शब्द आविष्कारे, शब्द शब्दकरणे। यहाँ भी 'आविष्कार' 'अर्थ'-विनिश्चय की समस्या को प्रकट करने वाला शब्द है। भर्तृहरि ने

आत्मरूप यथा ज्ञाने ज्ञेय रूप च दृश्यते।
अर्थ रूप तथा शब्दे स्वरूप च प्रकाशते।'

कह कर नाद, स्फोट, ध्वनि और स्वरूप—अर्थ-ग्रहण के शब्द के ये चार चरण द्योतित किये हैं। परन्तु उन्होंने भी ध्वनि और स्फोट का दार्शनिक पक्ष रखा है, तथा शब्द और अर्थ मे नित्य सम्बन्ध माना है। शब्द प्रकाशक या कारण है और अर्थ प्रकाश्य अथवा कार्य है। शब्द और अर्थ मे से कभी शब्द की और कभी अर्थ की प्रधानता विवक्षा के अनुसार होती है। अर्थ मे स्थायिता नहीं है, वह परिवर्त्तनशील है। वासना, बुद्धि, ज्ञान आदि से अर्थ मे परिवर्त्तन होता है। महामुनि पतंजलि ने शब्दों का भेद तो स्पष्ट किया—जातिशब्दा', गुणशब्दा, क्रियाशब्दाः यदृच्छाश्चेति,—परन्तु 'अर्थ' को और अर्थगत शब्द के सम्बन्ध को 'सिद्ध' मान लिया—सिद्धे शब्दे, अर्थे, सम्बन्धे च। **नैयायिकों** ने शब्द का अर्थ ईश्वरेच्छा बताया—अस्मात् पदात् अयमर्थो बोधव्य इति ईश्वरेच्छा (संकेतः) शक्तिः—**कारिकावली**। शब्द और अर्थ के इस सम्बन्ध को ही शक्ति या संकेत-शक्ति माना गया है—पदपदार्थयो, सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः तत्र संकेतरूपम्—**मंजूषा**। यह ईश्वरेच्छा वस्तुत. लोकेच्छा है, जिसके संकेत से ही अर्थ-ग्रहण, अर्थान्तरण, अर्थ-संकोच आदि क्रियाएँ होती हैं। 'शक्ति-ग्रह' व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च। सान्निध्यत' सिद्धपदस्य धीरा वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति'—मे मुक्तावली ने संकेतग्रह के आठों कारणों को स्पष्ट कर दिया है। नागेश के अनुसार तीन वृत्तियो—शक्ति (अभिधा), लक्षणा, व्यजना—से ही 'शब्द' के 'अर्थ' का ज्ञान होता है। इनमे से 'शक्ति' है पद और पदार्थ का विशेष सबंध। किन्तु तीनो वृत्तियों से 'अर्थ' तो मिल जाता है, पर एक निश्चित अर्थ नहीं। अनेकार्थकता की समस्या रह ही जाती है।

अनेकार्थकता

शब्द का प्राय. सम्पूर्ण भाग नानार्थक है—शब्दा' सर्वार्थवाचकाः। कोष मे भी प्रत्येक शब्द के अनेक अर्थ मिलते है। परन्तु एक शब्द से

एकाधिक अर्थ का बोध हो तो जीवन के दैनंदिन व्यवहार में कठिनाई होगी। शास्त्र, विधि-विधानादि में वितण्डा और भ्रान्ति आएगी। किन्तु अनेकार्थक शब्द-प्रयोग पर ही परिहास, उत्तम-काव्य, व्यंग्यादि, राजनैतिक दावपेंच और कूटनीति निर्भर हैं। सामान्यतः हमारी धारणा यह रहती है कि शब्द या उच्चरित ध्वनि अथवा उसका प्रतीक, लिखित-मुद्रित रूप, प्रधान तत्त्व है जिसके साथ उपग्रह-रूप में सतत परिवर्तनशील 'अर्थ' घूर्णित रहता है।[३९] पर 'अर्थ' शब्द की निजी क्रिया उतनी नही, जितनी गृहीता की मनोवैज्ञानिक उद्भावना है।[४०] आग्डेन एवं रिचर्ड्स ने यह बताकर कि शब्द में अर्थ यही है कि वह अर्थ-बोध का साधन है और प्रयोक्ता एवं गृहीता यह समझते हैं कि वह अर्थ-बोधक है, 'अर्थ' के सोलह प्रकार गिनाए हैं: (१) तात्त्विक भाग (२) अन्य वस्तुओं से उसका अनिर्वचनीय सम्बन्ध, (३) शब्द-कोष में दिए गए अर्थ, (४) शब्द का लक्ष्य; (५) सारांश, (६) क्रियात्मकता, (७) अभिनव तथ्य या संकल्प; (८) शास्त्रीय भाव, (९) अनुभव-सिद्ध क्रियात्मक परिणाम (१०) संकेतित विचारात्मक परिणाम, (११) उद्बोधित मनोभाव, (१२) सबंधित पदार्थ, (१३) स्मृति जगानेवाले परिणाम; या घटनाएँ जो स्मृति को जगाएँ; (१४) संकेतित वस्तु या संकेत-कर्त्ता का निर्देश; (१५) संकेत-कर्त्ता का भाव; (१६) गृहीता जो समझता या जिसकी भावना करता है अथवा जिसे वह संकेत-कर्त्ता का भाव समझता है वह अर्थ।[४१] इन अर्थच्छायाओं मे हल्का किन्तु स्पष्ट अन्तर है। भर्तृहरि ने प्राचीन काल से चले आ रहे अर्थ के बारह मतों का विवेचन वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में किया है। उन्होंने भी अर्थ के स्वरूप और लक्षण का जो उद्घाटन किया है, उसमे उसे शब्द-संकेत से उद्बुद्ध, निराकार, सत्य-स्वरूप,—किन्तु असत्य वस्तु मे सम्बद्ध होने के कारण असत्याभास,—परिवर्त्तनशील, विवक्षा-निर्भर, बुद्धिजन्य, स्मृति पर आश्रित, ज्ञानगम्य, काल्पनिक आदि माना है। सामान्यत. ऑग्डेन एवं रिचर्ड्स के मतव्य और भर्तृहरि के अर्थ-विवेचन मे समानता है। इस प्रकार दोनों का अभिमत है कि शब्द अनेकार्थी होता है। पतञ्जलि का भी कथन है कि एक शब्द अनेक अर्थों का बोध कराता है, यह न्याय्य है।

एषोऽपि न्याय्य एव यदप्येकेनानेकस्याभिधान भवति।   —महाभाष्य १,२,६४

जैसा कि पृष्ठ १२७ पर द्योतित किया गया है, शब्द-व्यवहार के तथ्यात्मक और रागात्मक दो प्रकार हैं। रिचर्ड्स ने कविता आदि में भाषा का प्रधानतः रागात्मक व्यवहार स्वीकार किया है और विज्ञान में तथ्यात्मक

यद्यपि टी० एस० इलियट और मैक्स ब्लैक आदि ने इसे मात्र सैद्धान्तिक और अव्यवहार्य बताया है, तथापि इतना तो सत्य है कि तथ्यात्मक अर्थ और तथ्यात्मक मंत्रवादि काव्य में स्वतंत्र महत्व नहीं रखते। वे रागानुबंध में अपने अर्थ का विसर्जन करते है। रिचर्ड्स ने अर्थ के चार सामान्य प्रकार—(१) 'सेंस' अथवा वास्तवमूलक अर्थ, (२) 'फीलिंग' अथवा भावनामूलक अर्थ, (३) 'टोन' अथवा काकु आदि स्वरता और (४) 'इन्टेनशन' अर्थात् विवक्षा—माने हैं। शुक्ल जी ने पहले और दूसरे को मुख्य और चौथे को अभिधामूलक व्यंग्यार्थ बताया है तथा तीसरे 'टोन' को आर्थी व्यंजना के कारणों में मानने के लिए निम्न कथन उद्धृत किया है—[४२]

> वक्तृ बोद्धव्य वाक्यानामन्यसन्निधिवाच्यो·
> प्रस्ताव देश कालानां काकोश्चेष्टादिकस्यच।

राजशेखर ने 'काकु' के भेदोपभेदों का सोदाहरण विवेचन कर उसे काव्य का 'जीवितम्' बताया है—काव्यस्यापि एव जीवितम्[४३]। रिचर्ड्स का कथन है कि वास्तवमूलक अर्थ यानी 'सेंस' से विज्ञानादि का काम चलता है, भावात्मक अर्थ काव्य की विशेषता है। इलियट ने कुछ कविता के लिए इस 'सेंस' वाले सामान्य अर्थ को इसलिए उपयोगी माना है कि जैसे वह खूँखार कुत्ते को बहलाने के लिए चोर के हाथ में पड़ा मांस का टुकड़ा हो। अर्थात् इस अर्थ का काम है पाठक के विवेक-रूपी कुत्ते को तुष्ट करना ताकि काव्य उसके हृदय में सेंध लगा सके।[४४] बात पते की है जरूर, और वह यह कि 'सेंस' काव्य-भावन के लिए 'औचित्य' की पीठिका तैयार करता है।

उत्तम काव्य में ये चारों अर्थ संघटित रहते हैं। यथा—'साकेत' में

> मुझे फूल मत मारो,
> मैं अबला बाला वियोगिनी कुछ तो दया विचारो !

उर्मिला के इस गीत में काम-वासना के जागरण और पर्युत्थान के पूर्णतः मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक अर्थ वास्तवमूलक अर्थ है। उर्मिला में कातरता, दैन्य, मद आदि भावनाएँ भी परिलक्षित होती हैं, जो भावमूलक अर्थ है। कामदेव को वह भोले, आर्द्र स्वर में, फिर आत्मीय स्निग्ध स्वर में फिर अभिबोधक गुरु स्वर से एवं अन्त में निदेशक रूक्ष स्वर से प्रबोध देती है। उसका स्वर उदात्त और दृढ़ होता चलता है। यह स्वरगत तीसरा अर्थ है। गीत में उर्मिला का अभिप्राय और उसके माध्यम से कवि का प्रयोजन भी व्यंजित होता है—काम की नैसर्गिक लीलामयता और उर्मिला के प्रियात्व

का अनुभव कराना ('फूल', न कि 'तीर', का स्वारस्य) तथा उसके सहज पर्युत्थान का भी प्रत्यक्षीकरण कराना। इस संघटन से प्रथम अर्थ अपने औचित्य से बुद्धि-विवेक को तुष्ट करता है, द्वितीय भावना को गाढ बनाता है, तृतीय सह-अनुभूति का ध्वनन करता है और चतुर्थ लक्ष्य और प्रयोजन की अभिव्यक्ति कर चारो की अन्विति का प्रभाव प्रेषित करता है। अर्थ की इन चार परतो के कारण भी काव्य-भाषा अनेकार्थक मानी जाती है।

अनेकार्थकता से काव्यानुभव दीर्घ-प्रभावी एवं गाढ़ होता है। मनोदशा-प्रेषण की दृष्टि से संगीत सब से अनेकार्थी कला है। अनेकार्थक शब्द-प्रयोग के द्वारा कविता संगीत के स्तर की भाव-झंकृति प्रस्तुत करती है। अनेकार्थकता को रिचर्ड्स भाषा की सम्पन्नता और प्रौढ़ि का, गांभीर्य और व्यंजकता का प्रमाण मानते हैं। उससे काव्य-भाषा मे शक्ति आती है। वह काव्य-भाषा का अनिवार्य और आधारभूत तत्त्व है। विलियम एम्पसन के अनुसार अनेकार्थी, और कुछ-कुछ अस्पष्ट शब्द-प्रयोग से काव्यादि में प्रभावानुगूँजें ध्वनित होती रहती हैं। नानार्थकता के कारण ही—'वाणी पुरातन कविनिबद्धार्थ सस्पर्शवत्यपि नवत्वमायाति'—पुराने काल के कवि के अर्थ का संस्पर्श रखती हुई भी कवि की वाणी नवत्व प्राप्त कर लेती है।[४५] कवि-प्रयुक्त शब्द तो वह बिन्दु है जहाँ विविध प्रकार के अपार प्रभाव कटते-छँटते हुए मिल कर एक हो जाते है।[४६] उस शब्द में जादुई शक्ति भी रहती है। काव्य मे शब्द-चयन और पद-विन्यासादि लय, आन्तरिक गुणवत्ता, परम्परा-सिद्ध अर्थानुरणन-क्षमता एव रागबोध की ध्वनन-शक्ति के आधार पर औपम्य, आतिशय्य, वक्रता, चारुत्व आदि अलंकरण के तत्त्वो के अनायास-सायास योग से किए जाते हैं। अतएव वैयाकरणिक विधि भंग की जाती है (द्रष्टव्य पृष्ठ ११०)। इसमे कविता में शब्द अपने स्थान पर अच्युत और 'स्वस्पन्द सुन्दर' रहते हैं। उनके अद्वितीयत्व के सम्बन्ध मे अभिनवगुप्त का कथन है—उक्ति वैचित्र्यञ्च पर्यायमात्रक्रनम्।[४७] व्याकरण के सामान्य नियमादि के भग होने से तथा लय एव अलंकरणादि के तत्त्वो की झङ्कृतियो से काव्य में शब्दादि की सरल और स्पष्ट अर्थ-व्यवस्था और की और हो जाती है तथा उनके घनीभूत अर्थ जटिल, निगूढ़ और अबोधगम्य-से भी प्रतीत होते हैं।

विलियम एम्पसन ने अनेकार्थकता के तीन उत्तरोत्तर जटिल क्षेत्र बताए हैं। ये हैं—१. तार्किक और वैयाकरणिक २. चेतन बोधगम्यता

की मात्रावश और ३. मनोवैज्ञानिक जटिलतावश। उनके अनुसार नानार्थकता के सात प्रधान प्रकार है—[४८]

१. साधारण स्थिति की अनेकार्थकता मे काव्य-शब्दादि से एक साथ अनेक अर्थों की व्यजना होती है। यह प्रायः समस्त उत्तम कविता की विशेषता है। वहाँ भाषा नाना प्रकार की अर्थ-सरणियो, लयात्मक झकृतियो से और अचेतन को अनायास स्पर्श करने वाली नादादि की व्यंजनाओ से संयुक्त रहती है। अर्थ-संकुल शब्द इन्हें संघटित किए रहते हैं।

२. दो या अधिक अर्थों का एक मुख्यार्थ मे समुच्चय होता है, तो दूसरे प्रकार की अनेकार्थकता आती है। यथा—'आँसू' कविता में कैशोर मादन-भाव के, लौकिक प्रणय के, आध्यात्मिक 'प्रेम की पीर' के अर्थ मिलकर आदर्शवादी, भावात्मक प्रणयानुभूति के वैकल्य में एकाकार हो गए हैं।

३. तीसरे प्रकार की अनेकार्थकता श्लिष्ट पदादि की अनेकार्थकता है। समासोक्ति, अन्योक्ति, प्रतीकात्मक कविता मे ऐसी अनेकार्थकता रहती है। यथा—निम्न कविता में 'पीली किरण' की प्रतीकात्मकता से अनेकार्थकता आई है।

मैं तुमसे कहती हूँ
और दूर कहीं पर्वत के पार सागर के नीचे
एक पीली किरण
प्रकाश मिथ्या है
तिमिर गृह में
कैद है —अमृता भारती

कामायनी के 'दर्शन' सर्ग में इडा और मानव के मनु और श्रद्धा से मिलकर जाने का दृश्य भी इसी प्रकार की अनेकार्थकता का उदाहरण है—

दो लौट चले पुर ओर मौन, जब दूर हुए तब रहे दो न।

दो दृष्टि-परिप्रेक्ष्य में एक हुए, अथवा प्रणय में एकाकार हुए, अथवा समरसता की अनुभूति मे एकतान हुए आदि विकल्प सामने आते हैं।

४. चौथी अनेकार्थकता तब होती है, जब एक कथन के परस्पर विपरीत-जैसे अर्थ मिलकर रचयिता की विषम मनःस्थिति के स्पष्ट निदर्शक होते हैं, यथा—'कामायनी' के मनु चिंता-सर्ग मे देवसृष्टि के उन्मद विलास के जो स्मृति-बिम्ब प्रस्तुत करते हैं, उनमें तृष्णा और वितृष्णा के विषम अर्थ स्पष्टतः व्यंजित होते हैं। उसी भाँति 'अज्ञेय' की कविता 'नये कवि के प्रति' से शब्द-प्रयोग के कारण (आ—तू !) हिकारत का हल्का भाव और (जिधर मैं चला नही पथ था) गर्वमिश्रित ममत्व के विषम भाव एक साथ व्यंजित होते है।

५. जब रचयिता अपनी अभिव्यंजना की खोज में हो और उपमा रच-सी गई हो, जो कभी इधर, कभी उधर के अर्थ दे रही हो तो, पांचवे प्रकार की अनेकार्थकता होती है; यथा—

पड़ी थी बिजली-सी विकराल लपेटे थे घन जैसे बाल,
कौन छेड़े ये काले साँप, अवनिपति उठे अचानक काँप ।

इनमे उपमाएँ टूट रही है । 'विकराल' कैकेयी के लिए समर्थ हो सकता है; 'बिजली' के लिए नही । 'घन' किसको लपेटे थे ? जो पड़ी थी उसको ? कि 'विकराल' बिजली को ? या दोनों को ? तब 'विकराल' से 'विरुद्धमतिकृत' दोष होता है । बिजली को घन लपेटे तो सौन्दर्य बढ़ता है । अभी-अभी काले बाल 'घन थे, तुरत वे 'साँप हो गए; क्यो ? फिर उन्हे देख (दशरथ' ही नही) 'अवनिपति' काँप गए ! 'अवनिपति' की सार्थकता तब क्या है ? उन्हे 'छेड़ना' भी है, तो क्यों ? ये अनेकार्थक परतें हैं ।

ऐसी नानार्थकता और अस्पष्टता पंत की 'बादल' 'छाया' 'वीचिविलास' 'नक्षत्र' आदि कविताओं मे तथा अज्ञेय, धर्मवीर भारती, शमशेर, मुक्तिबोध आदि आधुनिक कवियों की भी पंक्तियों में मिलती हैं । एम्पसन के अनुसार आधुनिक कवि-चित्त विचार और भाव के क्षेत्र में अद्भुत विस्तार और गहराई ला सका है और औचित्य पर केन्द्रण की कठिनाई हो गई है । 'एक' को 'अनेक' के, '१' को 'π' के परिप्रेक्ष्य में रख कर देखने मे, उसे अस्पष्ट धुँधलके तक फैला लेने में आज के कवि उसकी और अपनी मुक्ति मानते हैं ।

६. छठे प्रकार की नानार्थकता और निगूढ़ता निरर्थक, असंगत अथवा अन्तर्विरोध-युक्त और गोलमटोल शब्द-प्रयोग से आती है; यथा— धर्मवीर भारती की निम्न पंक्तियाँ—

(क) कुछ समीप की कुछ सुदूर की कुछ चन्दन की
कुछ कपूर की कुछ में गेरू कुछ में रेशम कुछ में केवल जाल
ये अनजान नदी की नावें जादू के-से पाल

(ख) मैं शुरू हुआ मिटने की सीमा रेखा पर··
मै एक पूर्णता के पथ का कच्चा निशान, अपनी अपूर्णता में पूरण—
—गिरिजा कुमार माथुर तार सप्तक

इनमे अन्तर्विरोधी कथन है जिनसे अर्थ भी निगूढ़ प्रतीत होता है ।

७. सातवें प्रकार की अनेकार्थकता में शब्द से प्राप्त दो या अधिक विपरीत अर्थ रचयिता के मानसिक द्वन्द्व के सूचक होते हैं, यथा—

(क) वह पैदा हुआ है जो मेरी मृत्यु को सँवारने वाला है।
वह दुकान मैंने खोली है जहाँ 'प्वाइजन' का लेबुल लिये हुए दवाइयाँ हँसती हैं।
आइनो, मुस्कराओ और मुझे मार डालो। आइनो, मैं तुम्हारी जिंदगी हूँ।
—शमशेर : कुछ और·

(ख) सार्वजनिक भीड़ में भी, विभाजित हूँ मैं, तुम्हें पाने के लिए
अविभाजित एकाकीपन में बह रहा धारा का आँच पाने के लिए।
तुम मेरे लिए नहीं हो—न हो सकती हो कि मैं अँगुलियों से हवा काटता रहता हूँ।
खुशनसीब हैं वह, उड़ते चले जा रहे हैं, पखेरुओं के जोड़े
मेरी दिशा से ठीक विपरीत जिनकी दिशाएँ हैं।
—केदारनाथ अग्रवाल

उपर्युक्त दोनों कविता-पंक्तियों में विपरीत अर्थों की विषम बुनावट से रचयिता की मानसिक द्वन्द्वात्मक स्थिति का संकेत मिलता है।

अनेकार्थकता और निगूढ़ता से कुछ भिन्न तत्त्व है रहस्याच्छन्नता। तात्त्विक भावनात्मक और रहस्यवादी कविता में ऐसे अगम और अनिर्वचनीय तत्त्व अधिक रहते हैं। सामान्य भाव-प्रयोग से और काव्य-शब्दों से भी बहुधा अर्थबोध की पकड़ में न आने वाली कुछ-कुछ उन्हीं जैसी रमणीय रहस्यात्मक अनुगूँजें ध्वनित होती हैं। उदाहरण-स्वरूप निम्न कविता का अर्थ गद्य में लिखा जाय तो कुछ-न-कुछ अनिर्वचनीय निश्चित रूप से छूट जायगा।

चाँदनी का एक टुकड़ा कल रात जाने कब, जाने कैसे आ बैठा
खिड़की के पास वाली मेज पर सहसा उस अँधेरे में, अकेले में, मुझे पाकर
मौन काँपा थिर हुआ फिर, मैंने दोनों हाथों पर टेक दिया माथा
उस प्रकाश-पुंज ने आगे बढ़ मुझको पूरा का पूरा छा लिया
एकाकी दानों ने जिस दर्द की पीड़ा सही उसमें गलित, द्रवित हो
दोनों हो चुके थे एक।
—स्नेहमयी चौधरी : एकाकी दानों

पंडितराज जगन्नाथ ने[४६] प्रतिपादित किया है कि नानार्थक शब्दों के प्रकरणादि के अनुसार अर्थ नियंत्रित हो जाने पर भी अप्राकरणिक अर्थ नष्ट नहीं होता। उदाहरण-स्वरूप यदि साले को कहा जाय 'सुरभिमास' खाना है; तो 'सुगंधित मास' अर्थ विवक्षित होने पर भी 'गोमांस'-रूप अप्राकरणिक अर्थ का भी बोध होगा। 'सुरभि' की अनेकार्थकता का वहाँ वही प्रयोजन भी है। अतएव काव्य की नानार्थकता काव्यार्थ को अर्थ-पुंज अथवा अर्थ-प्रतीक में प्रस्तुत कर अधिक रम्य और संश्लिष्ट बनाती है। उससे काव्या-

स्वादक की बोधवृत्ति और संवेदनशीलता में विकास होता है। कुछ विद्वान् जैसे कॉलरिज और हाउसमैन [५०] अस्पष्ट अर्थ वाली कविता को अधिक रंजक मानते हैं—'दिल को बहलाने का सामान हो,' नशा हो, चुनौती हो !

बर्ट्रेंड रसेल ने [५१] भाषा और वास्तव-जगत् पर विचार करनेवाले दार्शनिकों के तीन वर्ग माने हैं—१. भाषा-तत्त्व के आधार पर जगत्तत्त्व के द्रष्टा; २ शब्द-ज्ञान को चरम माननेवाले और ३. ज्ञान और परम तत्त्व को शब्दातीत माननेवाले पर शब्द-द्वारा उसका रहस्य संकेतित मात्र बताने वाले।

काव्य-शब्द में शब्द-सबंधी ये तीनो दृष्टियाँ एकत्र रहती हैं। काव्य-शब्द से पदार्थ-जगत् की वास्तव-सत्ता का बोध अभिधा-व्यापार (सेंस) द्वारा होता हैं, पदार्थों की तथा उनके गेस्टाल्ट की प्रातिभासिक सत्ता का भी रम्य रूप उन शब्द-सरूपों से द्योतित होता है। पुन. काव्य-शब्द चरम उपलब्धि हैं; वे अद्वितीय हैं; शब्द-पर्याप्त हैं। पर्याय भी उन्हे छिपा नही सकते। और फिर, काव्यशब्द शब्दातीत के भी संकेतक हैं, अतोयगम्य भी हैं तथा 'अनिर्वचनीय' तत्त्व के व्यंजक भी हैं।

सारांशत. अर्थ पद और पदार्थ की विशेषता है। किन्तु अर्थ 'याच्ञा' है। याचक को जो मिल जाय वही उस पदार्थ का 'नाम' होता है। अर्थ बोद्धा का निजी और तात्कालिक बोध है, जिसमें उसके संस्कार, सहचर स्मृतियाँ, मनःस्थिति, परिस्थिति आदि के भौतिक-मानसिक वातावरण का भी योग रहता है। अर्थ उद्देश्यपरक और क्रिया-पर्यवसायी मानसिक बोध है। पर वह स्वतंत्र और स्वायत्त बोध नहीं है। नाना अर्थ-सरणियों के बीच, भूतकालीन अर्थ-परम्पराओं और भविष्यत्कालीन अर्थान्तरों के बीच अर्थ तात्कालिक सन्तुलन और सामंजस्य है। 'अर्थ' भी तब 'अर्थ-प्रतीक' है।

अपर्यालोचित, प्राकरणिक, सांकेतिक और प्रतीयमान अर्थ

राजशेखर के अनुसार साहित्य शब्दार्थ का यथावत् सहभाव है। कुन्तक का कथन है कि शब्दार्थ का सहभाव तो नित्य व्यवहार में भी पाया जाता है। किन्तु काव्य में इस सहभाव का परमार्थ पाया जाता है। यहाँ शब्द और अर्थ का, शब्द और शब्द का, अर्थ और अर्थ का पारस्परिक सहभाव रमणीय होता है, और रमणीयता की दृष्टि से उसकी अन्यून और अनतिरिक्त अवस्थिति होती है। फलस्वरूप शब्दार्थ-युगल ऐसे सघन-रूप में मिले होते

है कि उनके वाक्यार्थ पर ध्यान न देने पर भी केवल बन्धसौन्दर्य के कारण आस्वादक मे सगीत के समान हृदयाह्लादक स्पन्दन आ जाते है। यह आह्लाद शब्द-शब्द के पारस्परिक मिलन के अनुरणन से प्राप्त होता है, अतएव लयाश्रित है। कुन्तक ने गीतवत् इस 'हृदयाह्लादक' तत्त्व को 'अपर्यालोचित अर्थ' के अन्तर्गत माना है। इ० एस० डल्लास एवं रिचर्ड्स ने भी लय के आश्रयण से अर्थ का सामान्य बोध स्वीकार किया है।

लयगत अर्थाभासन के उपरान्त, उसके सम-विषम-अद्भुत सयोग से एवं मिश्रणादि से आस्वादक मे वाक्यार्थ-बोध के अर्थ उद्‌बुद्ध होते हैं। ये अर्थ 'प्रकरण-सापेक्ष्य' होते हैं। किन्तु प्राकरणिक मुख्य अर्थ के मडल के अन्तर्गत नाना सहचर, स्मृत साकेतिक अर्थो के वृत्त अलक्ष्य रूप से घूमते हैं। प्रतीयमान अर्थ शब्द-वाक्यार्थ से भिन्न एव उनसे अतीत, किन्तु उनके प्रयोजन से सम्बद्ध अर्थ है। कविता के भावात्मक कोटि के लयाश्रित शब्द-प्रयोग से प्राकरणिक, साकेतिक और प्रतीयमान अर्थ में विपुलता-संकुलता आती है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है कि अभिधा द्वारा दो प्रकार का ग्रहण होता है—बिम्ब-ग्रहण और सकेत-ग्रहण, और फिर यह भी, कि भाषा के दो पक्ष हैं, एक साकेतिक और दूसरा बिम्बाधायक। मंजूषा, वाक्यपदीय एव महाभाष्य मे भी शब्द के बिम्बाधायकत्व का द्योतन किया गया है। काव्य में भावादि की ऐन्द्रियिक प्रस्तुति होती है, जिससे वे भाव-सकुल शब्द बिम्ब-रूप एवं नाट्यात्मक हो उठते है। हर्बर्टरीड[५१] के अनुसार कविता को दृश्य होना ही है और गोचर वह अपनी नाट्यात्मक गत्वरता से होती है अथवा रम्य बिम्बों से। यथा—

हम निहारते रूप	काँच के पीछे
हाँप रही मछली	रूप-तृषा भी !
(और काँच के पीछे)	है जिजीविषा।

इस कविता के सभी शब्द यहाँ तक कि 'कांच'-जैसा वैज्ञानिक, 'जिजीविषा'-जैसा बौद्धिक शब्द, और कोष्ठक-द्वय तथा विस्मय-सूचक विरामचिह्न-जैसे तथ्यात्मक ठोस सकेत भी भाव-वलयित हैं। शब्दों में 'रूप निहारने' 'मछली' और 'रूप-तृषा' के हाँपने और उस हाँपने में 'जिजीविषा' के बिम्बों के कारण चित्रात्मकता और नाट्यात्मकता की भी प्रतीति होती है। लयाश्रित अर्थ से प्राकरणिक, साकेतिक और प्रतीयमानादि अर्थ संश्लिष्ट होकर काँच के पीछे हाँफती हुई, 'जिजीविषा' का अनुभव गाढ करते हैं। पाठक के मनोदैहिक

सस्थान पर यह अर्थ-बोध जटिल एव गहन प्रभाव डालता है। चेतन मानस पर ही नहीं अचेतन मानस पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। 'जिजीविषा' कौंच के पीछे हांपने वाली रूप-तृषारत सारी मनुष्य जाति की हो जाती है। यह करुण-कातर सांकेतिक अर्थबोध भौतिक जगत् मे मानवीय व्यवहार-पद्धति मे, सामाजिक और वैश्विक तत्त्व-दृष्टि में प्रसरित होकर जीवन-जगत् के मूल्यबोध का भी अनायास नियामक हो चलता है। इस प्रकार काव्यशब्द का अर्थ नाना प्रकार के बोधों, ध्वननों, क्रिया-प्रतिक्रियाओं आदि का गूढ सश्लेष है। यह संश्लेष भिन्न-भिन्न परिस्थितियों, मन.स्थितियो में एक अथवा अनेक आस्वादक को विविध रूप मे भावित करता है। फिर भी वह निःशेष नही होता (द्रष्टव्य पृष्ठ १००-१०१ तथा १०८)।

काव्यगत शब्द में चेतना, पदार्थ और शब्द एकघन और एकात्म-रूप हो उठते हैं। शब्द मे व्यक्त होकर कवि अभिव्यक्त होता है, समाप्त नही होता। उसकी अनुभूति भी मुक्त होती है, लोक-सवेद्य होने की प्रक्रिया मे पड़ती है। अत वह व्यतीत नही होती। अर्थ-परम्परा के वैश्विक आयाम मे भी चैतन्य प्रसार पाती है।

शब्द और अर्थ की मौलिक सम्पृक्ति प्रति क्षण भग होती है और तत्क्षण अन्य अर्थ-भगिमा से सम्पृक्त हो नवता का आभासन करती है। यह उसकी प्रकृत लीला है (द्रष्टव्य पृष्ठ ७०-८१)।

शब्द-प्रतीक और उनके द्वारा व्यंजित अर्थ-प्रतीक के ग्रहण में व्यक्ति-व्यक्ति मे समानता भी रहती है और अन्तर भी। प्रत्येक गृहीता की सहचर स्मृतियाँ, भावनाएँ आदि पृथक् होती हैं। अत. अर्थ-परिधि मे अन्तर होना स्वाभाविक है। पृष्ठ १०१ और १२८ पर यह संकेतित गया है कि गृहीताओं के अर्थ-बिम्ब मे जो सामान्य अन्तर हैं, वे मूलार्थ की बाह्य रूपाकृतियाँ मात्र है। किन्तु केन्द्रस्थ अर्थ-मंडल (समानधर्मा गृहीताओं का) प्रायः समान होता है। जितनी दूर तक प्रतीकों में सांकेतिकता अथवा समान मूल्य-भावनाएँ रहती हैं, उतनी दूर तक वे पारस्परिक विनिमय के साधन हैं। प्रेषण, साधारणी-करण, अभिव्यक्ति आदि व्यापार शब्द-प्रतीको के साकेतिक और सामान्यीकृत पक्ष पर आश्रित है। इस सांकेतिक और सामान्यीकृत पक्ष की प्रेषण-क्षमता को और भी बेधक बनाने के लिए कवि सचारी भावों, अनुभावों और शरीर-धर्मों के चित्रण का, तथा आतिशय्य, औपम्य आदि का सहारा लेता है, अर्थात्

ऐन्द्रियिक बिम्बों के माध्यम से कथ्य की प्रस्तुति करता है। रसेल ने वक्ता (कवि) के अभिप्रेत अर्थ को सक्रिय (ऐक्टिव) और श्रोता (गृहीता) के अर्थ को निष्क्रिय (पैसिव) इसीलिए माना है कि वह ऐसी प्रस्तुति करता चले कि उसके निर्देशन अनुशासन से गृहीता में वांछित अर्थ उत्थित होता जाय। इसी दृष्टि से रिचर्ड्स ने भी सक्रिय अर्थ को प्रधान माना है।[५३]

यदि कवि 'सक्रिय अर्थ' का उत्तरदायित्व समझता हुआ प्रतीकात्मक और प्रातिनिधिक शब्दों के प्रयोग से अपने अनुभव का प्रकटीकरण करता है, तो उसके शब्द-प्रतीक सूचक भी है, निदर्शक भी और अन्यों में सङ्क्रमित-प्रेषित भी होंगे। ऐसे शब्दों से आस्वादक साधारण्य की भूमि पर आ जायेंगे। फिर जैसा कि पृष्ठ १२७-१२९ पर द्योतित किया गया है कुछ मत-भिन्नताएँ, अर्थान्तर आदि के होने पर भी प्रेषण सफल माना जायगा, यदि प्रेषिती में विवक्षित मनोदशा की उद्‌बुद्धि हो रही है। 'प्रेषण की पूर्णता' और 'अभिव्यक्ति' दोनों का अर्थ सहयोगपूर्वक 'सह-भावन' है। अन्तर यह है कि 'प्रेषण' में गृहीता का कर्तृत्व भी स्वीकृत है और 'अभिव्यक्ति' में कवि-काव्य का तिरोभाव और प्रमाता के विमल 'स्व' का आविर्भाव—निरवच्छिन्न चैतन्य की उद्‌बुद्धि—व्यंजित है। तब काव्य-शब्द इस प्रक्रिया के लिए दो मनोलोक के बीच सक्रिय और चेतन प्रतीक हो उठता है।[५४]

काव्य-शब्द का उद्देश्य है रमणीयता की अभिव्यक्ति। यह रमणीयता है, शाब्द-बोधात्मक अनुभव, धारावाहिक भावना-विशेष, जिसमें सहृदय बराबर डूबता है।[५५] यह अनुभव बिम्बरूप होता है (द्रष्टव्य पृष्ठ ७१-८१)।

काव्य-शब्द की नादरूपता, वस्तुरूपता, मंत्ररूपता

काव्यादि मूलतः नाद-प्रवाह हैं। कविता और पद्य तो भाषा के नाद-सौन्दर्य के संस्पर्श पर आश्रित ही हैं। भामह ने 'काव्यालंकार' में सूचित किया है कि—

रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे। सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलंकृतिम्॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी। शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः॥

'दूसरे लोग रूपकादि अर्थालंकारों को (क्योंकि उनकी प्रतीति अर्थज्ञान के बाद होती है इसलिए) बाह्य अलंकार कहते हैं; और सुबन्त और तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति को ही वाणी का (वास्तविक अन्तरंग) अलंकार मानते हैं (क्योंकि काव्य सुनते ही शब्दालंकारों की प्रतीति हो जाती है।) इसको ही वे

'सौशब्द्य' नाम से कहते हैं। अर्थ-सौन्दर्य तो इस प्रकार का नहीं होता। हम को तो दोनो अभीष्ट हैं।'

इस प्रकार भामह के कथन से ज्ञात होता है कि 'सौशब्द्य' की प्रतीति काव्य सुनते ही होती है। क्योंकि वह शब्द के नाद-सौन्दर्य पर आश्रित 'वर्णबिम्ब' है। मम्मट ने उसे 'शब्द-चित्र' नामक काव्य के अन्तर्गत परिगणित किया है।[५६] कुन्तक ने शब्दप्रकाश वर्ण-बिम्ब-रूप इस नाद-सौन्दर्य को भी गीतिवत् हृदयाह्लादक बताया है—

अपर्यालोचितेऽप्यर्थे बन्ध सौन्दर्य सपदा
गीतवत् हृदयाह्लाद तद्विदां विदधाति यत्।

यहाँ तक तो बात ठीक है, किन्तु नाद-सौन्दर्य ही काव्य नही है, न काव्य उससे ही रचित होता है। परन्तु, स्टीफेन मालार्मे ने देगास को पत्र लिखकर बताया था कि 'कविता विचारो से रचित नही होती, शब्दों के द्वारा निर्मित होती है।' उन्होंने विचारात्मक-भावात्मक शब्द-प्रयोग के प्रतिवाद मे नादात्मक शब्द-प्रयोग का सिद्धान्त रखा था। उनकी दृष्टि मे शब्द के नाद ऐन्द्रियिक उद्दीपक है और वे ऐन्द्रियिक गुण के कारण ऐसा नाद-पट बन जाते हैं कि अर्थ उसके द्वारा द्योतित होता है और प्रकर्ष को भी प्राप्त करता है। शब्द मे वाच्यार्थ के अतिरिक्त जो सहचर अर्थ-वलय रहते हैं उनसे शब्द को पूर्णत निःसग कर गणित के बौद्धिक सकेत-चिह्नों की भाँति मात्र ठोस और स्पष्ट अर्थ देनेवाले शब्दो के सधान की भी एक दिशा रही है। मालार्मे का सिद्धान्त इस अतिवादी छोर का विपरीत विन्दु है।

विचारादि को काव्य का द्रव्य नही माननेवाले केवल मालार्मे ही नहीं थे। उनके कुछ काल बाद जार्ज मूर नामक लेखक ने भी प्रतिपादित किया था कि शुद्ध कविता विचार की पाडुता से रोग-मुक्त होती है। उन्होंने शब्द-सकेतों से, वस्तुवाची अर्थ देनेवाले शब्द-सकेतो से लिखी गई कविता को ही शुद्ध कविता घोषित किया था। मालार्मे की भाषा मे उनका सैद्धान्तिक मतवाद होगा—'कविता विचारो से रचित नही होती, वस्तुओं से, अर्थात् वस्तु-सकेतक शब्दो से निर्मित होती है।'[५७]

गिरिजा कुमार माथुर ने[५८] अर्थ की प्रतीतियों की दृष्टि से शब्दाच्छाया-रूप नाद को काव्यमूल माना है और बताया है कि 'अर्थ की अच्युत अभिव्यक्ति करने वाले शब्दों की एकक ध्वनियों के मिश्रण से रचना का नाद-रेखापट बनता है, और उसकी वातावरण-झंकृति, भंगिमा और व्याप्त

प्रभावशीलता रचना का नाद है।""काव्य का अत. सगीत या नाद ही है, जो अनुभूति की मूल भंगिमा को उद्घाटित करता है।""स्वर-ध्वनियाँ संचरणशील प्राणसूत्र हैं, जो अर्थहीन व्यजनों (विस्तार की ध्वनियों) के ध्वनि-सकेतों को निबद्ध कर वस्तुओ और क्रियाओं का निश्चित ध्वनि-प्रतीक बनाती हैं।...नाद कविता के अर्थ का ही एक कायिक आयाम है।' (द्रष्टव्य पृष्ठ ३८-४७)

नाद काव्यमूल तो है, किन्तु नाद से औच्चारणिक नाद और फिर उससे वर्णिक नाद तक की विकासात्मक यात्रा मे शब्द नाद विगत सुदीर्घ शताब्दियो मे अर्थ-सचय करता आ रहा है। उनसे विरहित शब्द नाद से कविता नही रची जा सकती। यदि अर्थ 'हुंकार' और 'हँस' के रखने हैं, तो 'हुँकार' और 'हस' से नाद-पट तो बनेगा, पर अर्थ वही नही होगा। अतएव मालार्मे की धारणा की पुष्टि के लिए नादात्मक कविताएँ रची गई अवश्य, किन्तु अन्तत उन्हें भी स्वीकार करना पडा कि कविता की बोधगम्यता के लिए पद-क्रम आवश्यक है। पद-क्रम अर्थ की व्यवस्था से परिचालित होता है।[५८]

नाद के प्रभाव-विश्लेषण में तीन बाते ध्यातव्य है—१. वाचन और नाद-सरूप के बीच अन्तर है, क्योंकि वास्तविक नाद-सरूप को वाचक व्यक्तिगत स्वराघात, काकु आदि से अन्यथाकृत करता है; २. नाद और वर्णिक (शब्दगत) नाद के बीच प्रत्येक भाषा-परिवार की सुदीर्घ विकास-यात्रा का इतिहास अन्तर्निहित है; और ३. शब्दगत नाद का विश्लेषण उसके अन्तर्निहित अर्थ से विनिर्मुक्त करके नही किया जाना चाहिए; अन्यथा मल, मलमल, मलेरिया, मलहम भी कमल की भाँति 'कोमल' मान लिए जायेंगे। (द्रष्टव्य पृष्ठ ६६-७०)

अक्षर मात्र में ध्वन्यश और वर्णांश विद्यमान है। अत. तारत्व (उच्चस्वरता) जो ध्वनिधर्म है, वह वर्णों मे अनुभूत होता है। यह ध्वनि ही वर्णो की उत्पत्ति करती है। इसे 'नादतत्त्व' भी कहते है। शब्द नाद में दो गुण हैं—एक, निजी और दूसरा, सापेक्षिक। निजी गुणवत्ता के कारण 'अ', 'क' से 'ल' 'ट' से 'मौन' 'सन्नाटा' से 'भूधर' 'पर्वत' से पृथक् ध्वनित-गुंजित होते हैं। वर्णों की अपनी विशिष्ट पेशलता और परुषता-रूप इसी गुणवत्ता के आधार पर अभिनवगुप्त ने 'वर्णध्वनि', कुन्तक ने 'वर्ण-वक्रता' और क्षेमेन्द्र ने 'वर्णौचित्य' नाम से कविता मे रसानुरूप एव गुणानुकूल वर्णों के प्रयोग का निर्देश किया है। अभिनवगुप्त का कथन है कि कुछ वर्ण स्वभाव से ही सन्तापक और कुछ निर्वापक हैं

स्वभावतो हि केचन् वर्णास्सन्तापयन्तीव ।
अन्ये तु निर्वापयन्तीव उपनागरिकोचिता ॥

पुन. दुरुच्चारण वर्णों का प्रयोग, यथा—ट, ठ, ड, ढ, श, ष, ह, क्ष—माधुर्य, सौकुमार्य, आभिजात्य आदि गुणो और शृंगारादि रसों मे वर्जित बताया गया है। राजशेखर के अनुसार कई देश के राजाओं ने उनका व्यवहार निषिद्ध कर दिया था।[६०] काव्यशास्त्र में 'ओज', 'माधुर्य' और 'प्रसाद' गुणो की प्रकल्पना नाद की निजी प्रकृति के आश्रयण से हुई है और वृत्त, छन्दादि मे सांगीतिकता उसी के आधार पर मानी गयी है।

नाद के सापेक्षिक गुण पर लय, छन्द आदि निर्भर हैं। 'वर्ण' परिपार्श्व के वर्णों की सापेक्षिकता से अपनी प्रकृति सकुचित-विस्फारित करते है। वर्णों और शब्दों में भी सामाजिकता, सामूदायिकता-जैसी प्रवृत्ति है, पारस्परिक राग-द्वेष, अनुगामिता-दूरगामिता की विशेषताएँ हैं। वर्ण-मैत्री आदि की अवधारणाएँ इसी कारण होती हैं। पुनः, उच्चारण की स्वर-कोटि, ह्रस्व-दीर्घ स्वरो की कालिकता, बलाघात, आवृत्ति और वर्णानुक्रमण आदि के कारण नाद-प्रवाह मे मात्रागत और कालिक अन्तर आ जाता है। इन सब के संघात से सांगीतिक सरूपों का अनुक्रम (ऑरकेस्ट्रेशन) लगता है। इसके लिए कविता मे कई विधियाँ अपनाई जाती हैं; यथा—१. नाद-सरूपों मे सूक्ष्म अन्तर की पहचान करना, २. एकरूप अथवा सहचर नाद-गुणों की आवृत्ति करना और ३. व्यंजक नादो, ध्वनि-बिम्बों का प्रयोग करना आदि।

नाद-संरूपों में सूक्ष्म अंतर मान कर ही भारतीय आचार्यों ने 'रीति' 'मार्ग' अथवा पद-संघटन (पदो की सम्यक् घटना अर्थात् शोभन रचना) की भी अवस्थिति बताई है। 'रीति' नाम वामन ने प्रथम बार दिया था, परन्तु प्रायः सभी आचार्यों ने विशिष्ट पदादि के 'गुण' और 'रस' के अनुरूप प्रयोग के नियम-विधान दिए हैं। कुंतक ने उनका संबंध कवि-स्वभाव से माना है। रीति का संबंध जिससे भी हो, और उसकी तथा गुणों की संख्या भी चाहे जितनी मानी गई हो, वर्णो के प्रयोग-बाहुल्य से नाद-संरूपो एवं नाद-गति पर प्रभाव पडता है। इस सूक्ष्म अंतर का विशद विवेचन सबका प्रायः समान है। दण्डी के अनुसार महाप्राण वर्णों के प्रयोग से गाढ-बंधता आती है। यह श्लेष गुण है। कोमल वर्णो अथवा अल्पप्राण वर्णों के प्रयोग से शैथिल्य उत्पन्न होता है। अल्पप्राण अक्षरो का मृदुबंध और विकट वर्णो का स्फुट-बंध होता है। इनमे भी प्रवाह में शिथिलता आती है अथवा विषमता।

मे पर्यायो का बाहुल्य, सामासिकता, और दीर्घ वाक्य-योजना क्रमशः भारत की प्राकृतिक सम्पदा, जातियो के मिश्रण और समाहारात्मक संस्कृति के विकास वर्ण-व्यवस्था और समूहवादी सुसगठित धार्मिक जीवन-दृष्टि की प्रतिच्छाया है।[६१] बर्ट्रण्ड रसेल का जो कथन है कि शब्दो के वाक्यगत गठन के अध्ययन से विश्व के विन्यास का परिज्ञान हो सकता है[६२] वह कुछ इसी धारणा के बल पर। कविता का शब्द-क्रम देश की संस्कृति और व्याकरणादि के नियमादि की पृष्ठभूमि मे कवि कृत वक्र-भगिमा और अभिनव पद-स्थापन है जो सामयिक लोक-भाषा के मुहावरों में प्रकट होता है।

एक-रूप सहचर नाद-गुणो की आवृत्ति का भी विश्लेषण कर प्राचीन आचार्यों ने उसके भेद-प्रभेदादि बनाये हैं और भावगत प्रभाव का आकलन किया है। इधर यह देखा जा रहा है कि शब्दों मे महाप्राण वर्णों की बहुलता मे गाढ़-बंधता और कोमल तथा अल्पप्राण वर्णों के बहुल प्रयोग मे 'शैथिल्य' गुण माने हैं। उपर्युक्त बंध के तीन प्रकार सदुबद्ध स्फुटबद्ध और मिश्रबद्ध भी वर्णों की एकरूप अथवा विषम आवृत्ति पर आश्रित हैं। पुनः शब्दगत माधुर्य श्रुत्यनुप्रास है। कर्ण कटु और शिथिल अनुप्रास से शैथिल्य आता है।

अनुप्रास, यमक आदि मे भी वर्णों, नादो की आवृत्ति होती है। आनन्द-बर्द्धन का कथन है कि अनुप्रास के लिए एक ही ढंग का अनुबंधन गर्हणीय है। एक ही प्रकार के वर्णो की आवृत्ति होगी तो वैरस्य उत्पन्न होगा। कुन्तक का कथन है कि अनुप्रास के लिए निर्बन्ध (आग्रह) नहीं होना चाहिए और न असुकुमार आवृत्ति ही करनी चाहिए। पूर्व मे आवृत्त अक्षरो को छोड़कर नवीन अक्षरों का आवर्त्तन करना चाहिए। यमक के लिए भी कुन्तक औचित्य का विधान करते है।

निम्न आवृत्त शब्दों अथवा नादों का औचित्य ही उन्हे प्रकर्ष देता है—

(१) आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात!
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात. .

(२) निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली।
—निराला 'जुही की कली'

किन्तु निम्न आवृत्त शब्दों और नादों मे केवल नाद की गूँज अथवा संगीतिकता है, औचित्य नहीं—

घडघड्डर घड्घड्डर भडभब्भर भड्भब्भर ।
तडतत्तर तड़तत्तर कडक्कर कड्कक्कर ॥
घडघग्घर घडघग्घर झडझज्झर झडझज्झर ।
अररर्रर अररर्रर सररर्रर सरर्रर ॥ —सूदन : सुजान चरित्र

अभरभरण बरण गात बन-बन उपवन-उपवन
जाग छबि खुले प्राण ! ... ...
मधुप-निकर कलरव-भर गीत मुखर पिक-प्रिय-स्वर
स्मर-शर हर केसर-झर मधुपूरित गंध ज्ञान ।

—निराला : गीतिका

एव निम्न आवृत्ति आधुनिक मानव की जडता, खोखलेपन और अस्तित्वहीनता पर व्यंग्य है—

सुबह हो गई—जमुहाई। चाय नास्ता—जमुहाई ।
कपडे बदले—जमुहाई। कॉलेज, लेक्चर, बातें, अध्ययन—जमुहाई ।
खत पढ डाले—जमुहाई। खाना खाया जमुहाई।...फिर सुबह हुई फिर
जमुहाई ही जमुहाई.. बस मोलों लम्बी जमुहाई ।

—कैलाश वाजपेयी : संक्रांत

नादावृत्ति का एक और भी प्रकार है तुक अथवा अंत्यानुप्रास। यह गीतों के टेक की प्रकृति का है। इस शब्द-युग्म से नाद की आवृत्ति भी होती है और स्वरानुगूँज में तीव्रता भी आती है। यही पंक्ति की पूर्णता का द्योतक और पद-बंध का व्यवस्थापक भी है। अर्थ-परिसमाप्ति से सम्बन्धित इसका प्रकार्य कविता की समग्र प्रभावान्विति से उसे गंभीर रूप से जोड़ता है। 'निराला' ने परिमल की भूमिका मे बताया है कि किस प्रकार आधुनिक काल मे सममात्रिक सान्त्यानुप्रास और विषम मात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताओं के साथ-साथ भिन्नतुकान्त मात्रिक एवं वर्णात्मक कविताएँ, एव अतुकान्त काव्य तथा मुक्त छन्द की कविताएँ लिखी जा रही हैं। पुनः आजकल तुक पंक्ति के भाव-संकुल स्थल पर न कि पादान्त में व्यवहृत दिखाई पड़ते हैं; यथा—'निराला' की निम्न पंक्तियों में—

(१) सेज पर विरह-विदग्ध वधू
याद कर बातें, रातें-मन-मिलन की
मूँद रही पलकें चारु

(२) डोल उठी वल्लरी का लड़ी जैसी हिंडोल,
इस पर भी जागी नहीं
चूक-क्षमा मांगी नहीं,

(३) सिंह की गोद से
छीनता रे शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण ? रे अजान !
एक मेषमाता ही
रहती है निर्निमेष

—परिमल

इसी भाँति पंत की 'आवाहन' कविता (अतिमा) के चार चरणों के बंध में चतुर्थ चरण तो सान्त्यानुप्रास है, किन्तु प्रथम, द्वितीय और तृतीय चरणों में कहीं भिन्नतुकान्तता है, कहीं अतुकान्तता, और कहीं तुक पहले-दूसरे में है तो कहीं पहले-तीसरे, दूसरे-तीसरे में। नई कविता के तुक-प्रयोग और भी विदग्ध हैं।

नादावृत्तियाँ चाहे अनुप्रासादि की हों, अथवा तुकादि की, अपने आकार, संख्या, क्रम-विन्यास, तारतम्य से तथा लयसंस्थान में अवस्थिति, महत्त्व, प्रकार और औचित्य की दृष्टि से आकलित और विवेचित होंगी। उनके प्रकार्यादि के आकलन में यह भी देखना होगा कि आवृत्त नाद किस स्रोत या क्षेत्र अथवा भाषिक परम्परा के हैं तथा उनकी प्रवृत्ति-प्रकृति आदि क्या हैं। यथा—पंत की 'अतिमा' के कतिपय तुक हैं—कसर : बाहर, सुख : दुःख, भर : ज्वर, अस्तोन्मुख : अन्तर्मुख, स्मित : स्मित, अस्तोदय : वय, मन : जीवन, क्षण ; स्पंदन, झांकी : पाँखी, भास्वर : पर, जोड़े : मोड़े, मुख पर : खिंचकर, पर अतर, क्षण व्रण यौवन, उच्छ्वसित : प्रहसित आदि। इनकी वैयाकरणिक, भाषिक परम्परा, जागतिक स्रोत आदि के वैविध्य के कारण नादावृत्ति में रोचकता और विशदता आई है। इधर इसमें काफी अच्छे प्रयोग हुए हैं।

आवृत्ति का एक अलग प्रकार पिष्टकथन, अभिव्यंजना-रूढ़ि आदि का है। ऐसी आवृत्ति प्रत्येक कवि की निजी होती है। विस्मयादि-व्यंजक नाद-ध्वनि, अथवा अपने ही कथन की पुनरुक्ति आदि की भाँति इस प्रकार की आवृत्ति में भी यान्त्रिकता है; पर वह कवि के शब्दानुसंधान का संबल भी है।

इस प्रकार के विश्लेषण से यह प्रतीत होगा कि कविता को गीत और संगीत मानने की धारणा को रूपकातिशयोक्ति अलंकार मानना ही उचित है। भाषिक नाद को कलात्मक नाद-बिम्ब की चारुता और महिमा अर्थ, सन्दर्भ, काकु आदि से मिलती है।[६१] अतएव उत्तम कविता में व्यंजक नादों का ही प्रयोग वांछनीय है। नाद की व्यंजकता के दो प्रकार हैं—एक, नादात्मक और दूसरा, अर्थगत। नादात्मक व्यंजकता के सम्बन्ध में ही गिरिजाकुमार माथुर का उपर्युद्धृत कथन है—वातावरण-झंकृति, भंगिमा और व्याप्त प्रभावशीलता रचना का नाद है। दण्डी के प्रसाद, अर्थगत माधुर्य, औदार्य, कान्ति आदि गुणों में नादात्मक एवं अर्थगत व्यंजकता ही प्रधान तत्त्व हैं। डा० राम कुमार वर्मा ने तुलसीदास के निम्न पद के वर्णों में नादात्मक और अर्थगत व्यंजकता पढ़ी है—

जौं पटतरिय तीय महुँ सीया। जग अस जुबति कहाँ कमनीया।
गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी।

तुलसीदास सरस्वती, पार्वती और रति तीनों को सीता से हीन और लघु प्रदर्शित करना चाहते हैं। यह लघुता ही लघु वर्णों से बहुत अच्छी तरह व्यक्त हुई है। सीता सबसे श्रेष्ठ और महान् है, अतः उनके लिए 'सीया' गुरु वर्ण प्रयुक्त किए गए हैं। दूसरे ही पद में स्त्रियों की हीनता प्रकट करने के लिए 'तीय' शब्द 'जुबती' के लघु अक्षरों में परिवर्तित हो गया है।६४

अनुकरणात्मक नाद—नाद के सम्बन्ध में यह जादुई विश्वास कि वह किसी न किसी प्रकार से 'वस्तु' आदि का तद्रूप अवस्थान है, अब भ्रान्त सिद्ध हो रहा है। परन्तु फिर भी प्राचीन काल से ही कुछ तीव्र संवेदनशीलता से अनुप्राणित कवि आदि में ब्रह्माण्डीय संगीत की अवतारणा करने की अथवा नादानुकरण द्वारा सम्मोहित वशीभूत करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। इस प्रकार के शब्द नाद-संरूपों के कम से कम पाँच स्तर हैं—

१. **वास्तविक अनुकरणात्मक नाद-संरूप**—यथा—

(क) मैं घोड़ों की दौड़ वनों के सिर पर दड़-दड़ दौड़ा,
पेड़ बड़े में बड़ा चिरौटै-सा चिल्लाया चौंका,
पत्तों के पर फड़-फड़ फड़के—
उल्टे, उखड़े, टूटे, मौन अँधेरे की डालों पर साँड़ पठारी छूटे।
—केदारनाथ अग्रवाल 'फूल नहीं रंग

(ख) कर साँय-साँय चल पड़ो पवन, कड़-कड़ चड़-चड़ टूटते पेड़—
—नरेन्द्र 'पलाश वन

२. **सहचार द्वारा अर्थव्यंजक नादात्मक शब्द**: यथा—घर्राना, दूहना, औचक, उचक, चौक, छिटक, फटक आदि। उपर्युदाहृत पंक्तियों में 'चौंका' 'फड़के' आदि प्राकृतिक नाद के वास्तविक अनुकरण नहीं करते, किन्तु सहचार द्वारा तद्गत अर्थ बिम्बित करते हैं। इस कोटि के शब्दों की संख्या अधिक है।

३. **विस्मयादि-बोधक शब्द**; यथा —

'ए हो रस के गागर! —पंत' अनिमा
'आह! वह मुग्ध!' —प्रसाद ' कामायनी।
'आः ये केवल ओसों के कण,' 'एक आग है, हाँ! निःसंशय एक आग है!'

उपर्युक्त पंक्तियों में आन्तरिक आवेग—एहो, आह, आः आदि नादों में स्वतः फूट पड़ा है। इनके संरूप, प्रकृति और प्रभावशीलता अभी भी आदिम हैं। अतः ये बरबस हृदय को स्पर्श करते हैं। कुछ विद्वान् इस नाद-संरूप और गीत के वर्णनों में एक ही ६५ प्रयोजन मानते हैं—वह है,

भावना का प्रकटीकरण। किन्तु शाब्द अभिव्यंजन में बुद्धि-विवेक का योग होता है, नादात्मक प्रकटीकरण में नही। अत. इसमे विशदता नहीं है। पंत जी की कविता मे ऐसे नाद वैविध्य और सख्या में अतिशय अधिक हैं। आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पंत द्वारा प्रयुक्त 'रे' का भी अर्थ 'हिन्दी-साहित्य' पृष्ठ ४६७ पर लगाया है।

४. प्रतिरूपात्मक नाद-बिम्ब—अनुकरणात्मक नाद से रहित, किन्तु तत्प्रभावी शब्दों के कुशल प्रयोग के द्वारा ध्वनि-बिम्ब से प्रकरणादि प्रस्तुत करना, यथा—

(क) झूम-झूम मृदु गरज-गरज घनघोर! राग-अमर! अम्बर में भर निज रोर।
झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में
सरित-तड़ित-गति-चकित पवन मे मन मे विजन गहन कानन मे
आनन-आनन मे, रव-घोर-कठोर राग-अमर! अम्बर में भर निज रोर।

निराला परिमल।

(ख) आते अलियों-सी किन मधु की गलियों में फँसी बन्द कर पाँखें
पी रही है मधु-मौन या सोई कमल-कोरकों में?

—वही : परिमल।

प्रथम मे बादल की गति के तीव्र और आन्दोलित वेग की तथा द्वितीय मे भ्रमर निद्रालसता की प्रस्तुति उचित शब्दो के नाद-स्वरूपो के द्वारा की गई है। दोनो उदाहरणो मे अनुकरणात्मक अर्थसंगी और व्यंजक नाद की बुनावट आवृत्त नाद-रूपो मे की गई है, प्रथम में 'झ' और 'र' केन्द्रस्थ नाद है, द्वितीय मे अनुस्वार और 'ल'।

क्राइस्टोफर कॉडवेल ने उपर्युक्त नादो के मूल मे संरक्षण और सामूहिक आह्वान अथवा उल्लास के तत्त्व माने हैं। परवर्ती काल में जब मानव का ज्ञान विकसित हो गया तो उसमे माधुर्य, रंजकत्व, औत्सुक्य आदि के गुण माने जाने लगे।[६६]

५. रूपकात्मक और प्रतीकात्मक नाद—प्रत्येक भाषा मे कुछ नाद को रूपक और प्रतीक-जैसी महिमा प्राप्त है, यथा—कुछ स्वर और व्यंजन अल्पता, द्रुतता, चिकनाहट सुकुमारता आदि के रूपकात्मक वर्ण-बिम्ब माने जाते है, तो कुछ गाढता, श्लथता, भारीपन, रुखड़ेपन आदि के। पुनः ॐ, ह्रीं, श्री, हुं, फट, वषट् आदि में ही नही सामान्य 'अ' 'इ' 'उ' से लेकर 'ह' तक के अक्षरो को भारतीय धर्म-दर्शन मे प्रतीकात्मक माना गया है। प्रकाश 'आकार' का स्वरूप और वाचक है एवं शिव का बोधक है तथा स्फुरणा 'हंकार' का रूप

और वाच्य है, एवं शक्ति का बोधक है, तथा 'अहं' अद्वैत तत्त्व-रूप है। 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में उद्धृत पद्य के अनुसार सम्पूर्ण मंत्र वर्णात्मक है और वर्ण शक्तिपुंज हैं। शक्ति भी मातृका से भिन्न नहीं और वह शिवमयी है।

सर्वे वर्णात्मका मन्त्रा' ते च शक्त्यात्मका' प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका।

भारतीय तान्त्रिकों ने स्वर-व्यंजन में रूप-रंग, ग्रह, राशि, नक्षत्र, पंचभूत, देवता आदि की प्रकल्पनाएँ की हैं जिनका संकेत पिछले पृष्ठ ४७-५० पर किया गया है। विक्टर ह्यूगो प्रत्येक अक्षर में मानवीय ज्ञान के महत्त्वपूर्ण अंश का प्रतीकात्मक रूप पढ़ते थे।[४०] स्वच्छन्दतावादी कवि रैम्बो ने भी स्वरों में रंग देखे थे और प्रत्येक व्यंजन के रूप और गति का नियमन किया था। गिरिजा कुमार माथुर ने भी मुख्य स्वरों को प्रतीकात्मक मानकर कुछ स्वरों का प्रतीकार्थ रेखाचित्र-सहित प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि से अ—दरिमा, (स्पेस) इ—सीमाएँ (डाइमेनसंस) उ—कालमान (टाइम) ए—उत्कर्ष (मैग्निचीचूड), ओ—परिमा (व्हाल्यूम), अ—स्वन (साउंड स्पायरेल) हैं। यही काव्य-शब्द की 'वस्तुरूपता' है।

फ्रेजर ने 'गोल्डन बाउ' (पृष्ठ ११) में जादू के दो प्रसिद्ध सिद्धान्त दिए हैं—पहला सादृश्य, जिससे यह समझ लिया जाता है कि सदृश वस्तुएँ सदृश प्रभाव डालेंगी, और दूसरा सम्पर्क, जिसके अनुसार यह माना जाता है कि जिससे एक बार सम्पर्क हुआ, उससे विलग होने पर भी सम्पृक्ति बनी रहेगी। इन दोनों के कारण अनेक शब्दों में जादुई प्रभाव मान लिया गया है, यथा अपने नाम, अपने पति या कुलपुरुष आदि के नाम एवं देशवाची, देववाची शब्दादि। नाद की एकतान धारा में भी वैसी ही जादुई शक्ति मानी जाती है। काव्य-संगीत आदि के शब्द-प्रवाह कुछ आदिम नादों को स्फुरित करते हैं और नादात्मक-भावात्मक एकतानता में श्रोता को विलीन करते हैं। आविर्भूत होकर तल्लीन करना, पुनः तिरोभूत होते-होते भावक को अपनी भावना में अभिभूत छोड़ जाना—यह शब्द-दंश है। मनोविज्ञानी ऐडलर ने इसे सर्प माना है। भारतीय दृष्टि से 'शब्द' 'कुण्डलिनी' है और 'नाद' से सम्बद्ध भी। इस प्रकार काव्य भावक को संवर्धित और अधिजीवित करता है, उसे 'स्व' से मुक्त और 'आत्म' में तन्मय बनाता है। तन्मयीभूत

आस्वादक के लिए तत्क्षण काव्य के शब्द अद्वितीय, और अनुभूति एकतान प्रतीत होती है। यही काव्य की मन्त्ररूपता है। अज्ञेय के शब्दों में

> कविता तो
> ऐसी ही बात होती है।
> नहीं तो लयबद्ध बहुत सी खुराफात होती है।
> ऐसी ही बात
> दिल फोड़ कर रहस्य से आती है!
> भीतर का जलता प्रकाश बाहर लाती है
> स्वयं फिर नहीं दीखती, और सब कुछ दीखती है,
> उसी सब में वही
> कवि को भी साथ लेकर
> लय हो जाती है।
>
> —सागर-मुद्रा

कविता मे जादुई सम्मोहन के लिए जातीय जीवन की पुराकथाओ, मिथको आदि का, आदिम वन्य जातियो के रीति-रिवाजो, पूजाकृत्यो, नृत्यादि के समारोहो का, वाद्य क्रीडाओ, तुतली बोलियो आदि का उपयोग और प्रकृति के अति विराट, भयानक, अगम, अद्भुत अथवा अतिशय रम्य दृश्यो और लीलाओं का भी चित्रण किया जाता है। इनके माध्यम से भी कविता आस्वादक के ध्यान को एकाग्र और तल्लीन करती है।

लय और छद—नाद-प्रवाह मे लय और लय-सरूपो से निर्मित छद की अवस्थिति है। लय एक प्रवाह है, जिसमे दो स्पन्दनो के बीच अन्तराल भी रहता है। लय निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। सूर्य और चन्द्र के उदय-अस्त एव ग्रह-नक्षत्रो के साथ की गति, पृथ्वी आदि की परिक्रमा और ऋतुओ के आवागमन, समुद्र की तरगो के लहराने आदि मे भौतिक-प्राकृतिक लय हैं; और कर्म-प्रवाह, जीवन-क्रम, शरीर-सस्थान की नाड़ी की गति, श्वसन, पाचन, रक्त-सचालन आदि क्रियाओ और चलते-फिरते समय हाथ-पाँव के दोलन, उठने-बैठने की मुद्रादि मे जैविक लय के विविध-प्रकार और भेद हैं। सगीत और काव्य लय पर आश्रित हैं एव स्पार्श कलाओ मे भी उसकी लाक्षणिक अवस्थिति है। संगीत की लय नादाश्रयी एव नाद-पर्यवसायी होती है जिसका परिचय पृष्ठ ३६ पर दिया जा चुका है। कविता वर्णिक शाब्द नाद के लयात्मक सरूपो से निर्मित होती है। अतः अर्थ-पर्यवसायी है।

टी० एस० इलियट का कथन है कि कविता का प्रारभ किसी जंगल मे रहनेवाले आदिम जाति के बर्बर के नगाड़े पर की गई चोट से हुआ है और आज भी उसमें वह चोट और लय वर्त्तमान है।[६१] चाहे कविता मे वही चोट और लय अब भी हो, या न हो, लय-सस्थान के प्रति आदिम आकर्षण वही है जो वन्यजीवन के आदिकालीन मनुष्य में था। पुनः, कविता का

लयावेग प्राकृतिक और जैविक लय की भाँति यांत्रिक आवृत्ति और नपी-तुली काल-सीमा नहीं होता। वह भाव और अर्थ-स्वारस्य का शब्द-धारा में कम्पन है, प्रभावशाली शब्द में अन्तर्वेग की आन्दोलित गति है।[७०] उसका कम्पन और वेग प्राकृतिक एवं जैविक लयमयता के पृष्ठाधार पर आन्दोलित-प्रवाहित अवश्य होता है। किन्तु वह पूर्णतः वही नहीं है। इमर्सन का कथन है कि कविता छंद से नहीं बनती; अपितु वह छन्दोविधान के मूल में रहनेवाले भावानुबंध से प्राणवत होती है और चैतन्य विचार-राशि से गतिशील होती है। जिस प्रकार वृक्ष अथवा पशु अपनी-अपनी चेतना-शक्ति से अपने स्थापत्य का गठन स्वयं कर लेते हैं और प्रकृति को नवीन निर्मिति से अलंकृत करते हैं उसी भाँति कविता भी।[७१] रूस के विद्वान् इसी कारण लय में नाद-सरूप नहीं मानते, उसके स्थान पर 'लयात्मक आवेग' मानते हैं। वस्तुतः लय और छंद की अपनी प्रकृति है। भोज ने 'सरस्वतीकंठाभरण' में 'अर्थानुरूप छन्दस्त्व' नाम से वस्तु भाव, रसादि के वर्णन के लिए तदनुकूल प्रकृति के छन्दों के प्रयोग का निर्देश किया है।

भाव-निषिक्त शब्द प्रतिरुद्धता से किस प्रकार लय-प्रवाह में स्फुट होते हैं यह पिछले पृष्ठ १ ४-७ पर द्योतित किया गया है। वहीं यह भी वर्णित है कि भावना प्रगाढ करने में उनका क्या महत्व है। रिचर्ड्स लय को स्वर-धारा की एकरूप आवृत्ति और उसके अन्तर्गत आन्दोलित होनेवाली आकस्मिकता पर आश्रित मानते हैं। लय में पड़कर शब्द अपनी पूरी शक्तिमत्ता से चैतन्य होते हैं। परिपार्श्व के अन्य शब्दों से भी उनका संबंध जटिल और गहन होता है। आवृत्ति के कारण लय परिचय का तोष देती है; जैसे पालने में पड़े हुए शिशु-मन को सुखद और एकरूप हिलकोर तन्द्रिल बनाता हो। दूसरी ओर आकस्मिक हिचकोलों में लय नवीनता के लिए औत्सुक्य जगाती तथा आकांक्षा को तीव्रतर और मन को चैतन्य बनाती है।

लय के नियमित स्तरीकृत सरूपों से छंद उत्पन्न होता है। तब लय छंद के नियम, काल-सीमा और तुक (अर्थात् अपने ही निर्मित साँचे) में बँध कर आकारीकृत भी होती है। छंद में सुर (ट्यून), तान (पिच), काकु (टोन), बलाघात (स्ट्रेस) और अनुक्रम (सीक्वेंस) की गति अनुशासित और सुनिश्चित रहती है। यदि छन्द के ये विविध अवयव अपने मूल प्रेरक आन्तरिक भावादि का ध्वनिबिम्ब प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं, तो भावक का चित्त उनमें रमता हुआ तब तक बढ़ता ही चलता है, जब तक

कि काव्य का छन्द पूर्णता पर आकर अर्थ-स्फोट (एक्सप्लोड) नहीं करता।[७१] छंद नर्त्तन से भी सम्बन्धित माना जाता है। इस कारण छद-धारा मे पडे हुए भावक के समस्त अंग-प्रत्यग में गत्वरता और स्पदन होता है। उसका चित्त भी उसके आरोह-अवरोह से स्पदित होता है और स्वकेन्द्रिता से मुक्त हो कर वह छन्द द्वारा व्यंजित अभिनव ससार की यात्रा मे तल्लीन भी होने लगता है। (द्रष्टव्य 'सम और विषम प्रवाह' पृष्ठ १६८)

अब्बे दु बॉ (१८ वी शताब्दी) ने चित्र के यथार्थ और यथातथ्यात्मक सकेत की तुलना में कविता के संकेत को कृत्रिम माना था। **लेसिंग** ने (२६ मई १७६९) अपने मित्र निकोलाई को पत्र लिखकर बताया था कि कविता अपने कृत्रिम संकेत को प्राकृतिक सकेत मे उत्थित करने के लिए शब्द नाद, पद-क्रम, छद, रूपकादि साधनों का प्रयोग करती है, करना ही चाहिए। तभी कृत्रिम सकेत प्राकृतिक हो जाते है।[७२] ऊपर के विवेचन से लेसिंग का कथन पुष्ट होता है।

नाद-बिम्बात्मक ऐसे विन्यास से अर्थ का उन्मीलन इतना प्रगाढ होता है कि उनमें प्रवाहित चित्त को सब कुछ स्वीकरणीय, और बोधगम्य किन्तु अगम, प्रत्यक्षवत् किन्तु चिरन्तन और अनादि प्रतीत होता है।

टी० एस० इलियट ने[७४] कवि की 'श्रुति-कल्पना' के महत्त्व की चर्चा करते हुए निर्देश किया है कि इसी शक्ति की प्रेरणा से कवि मे शब्द और लय के लिए राग का उद्रेक होता है, जिसके सहारे वह चेतन मानस के वैचारिक और भावनात्मक स्तर का भेदन कर गहरे तल मे पैठता और शब्द को चैतन्य रूप देता है। यह 'श्रुति कल्पना' ही आदिम भूले-बिसरे लोक मे ले चलती है, मूल स्रोत का अवगाहन कराती है, आदि और अन्त की खोज करा देती है, तथा अर्थ के साहचर्य से पुरातन और विस्मृत के साथ नगण्य और सामयिक का, पूर्णतः नवीन और चामत्कारिक का सयोग कर देती है। इस प्रकार इसके द्वारा अति पुराकालीन मानसिक अवस्था का अति सभ्य मानसिक अवस्था के साथ ऐक्य स्थापित होता है।

इन सब का निष्कर्ष यह कि काव्य मे शब्द की नादरूपता, वस्तुरूपता और मंत्ररूपता के मूल में है प्रातिभ अनुभूति, अज्ञेय के अनुसार—

शब्द, यह सही है, सब व्यर्थ है   पर इसीलिए कि शब्दातीत कुछ अर्थ है।

शब्दानुसंधान : काव्य-पाक और काव्य-रसायन —

पिछले पृष्ठ ७३ पर उद्धृत मत्तिसे के कथन से द्योतित होता है कि पटल पर कूँची के पहले रंग स्पर्श से ही चित्र के सम्पूर्ण वर्ण-क्रम और रंग योजना पर उत्तरोत्तर फैलते चलने वाले प्रभाव-जाल की बुनावट शुरू हो जाती है। मालार्मे [७५] ने भी कविता के प्रथम शब्द-प्रयोग के सम्बन्ध मे वैसी ही बात बताई है—'मैं शपथ लेकर कहता हूँ कि इसमे एक शब्द भी ऐसा नहीं कि जिसकी खोज में मुझे अनेक घंटे न लगे हों, तथा यह भी स्वीकारता हूँ कि जिस पहले शब्द ने प्रथमतः अनुभूति को बाँधा था, उसने कविता के समग्र प्रभाव पर सामान्य योगदान करने के अतिरिक्त अंतिम शब्द की तैयारी मे भी सहायता प्रदान की थी।'

भारतीय आचार्यों ने शब्दों के सविशेष चयन और उचित विन्यास को 'काव्य-पाक' नाम से अभिहित किया है। 'पाक' का लक्षण प्राचीन आचार्यों के अनुसार पदनिवेशनिष्कम्पता है। वामन उसे 'परिवृत्तिविमुखता' मानते हैं। यदि शब्द स्थानतः और रूपतः अपरिवर्त्तनशील हैं, तो वामनादि की सम्मति में 'शब्द-पाक' सम्पन्न होता है। वामन का पुनः कथन है कि गुणों की स्फुटता और समग्रता के विद्यमान होने पर ही—गुण-स्फुटत्वसाकल्ये काव्यपाकं प्रचक्षते। (३-२-१५)—काव्य-पाक सम्पन्न होता है। अवन्ति-सुन्दरि के अनुसार 'पाक' का लक्षण है—रसोचित शब्दार्थ-सूक्ति-निबन्धन। अर्थात् काव्यपाक पद और शब्द मात्र तक सीमित नहीं होता। वह एक व्यापक तत्त्व है जिसकी सिद्धि काव्य के शब्द, उक्ति, रीति, अलंकार, गुण और अर्थ के समुचित गुम्फन से, अर्थात् काव्य के समग्र अंगों के जागरूक होने पर होती है। इन आवश्यक अंगों के समुचित सुन्दर निवेश से कवि के शब्द मधु चुलाते हैं। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में पाक के नव भेद माने हैं और उनमें मृद्वीका-पाक (द्राक्षा के समान सद्यः रसमय शब्द-प्रयोग), सहकार पाक और नारीकेल पाक को उत्तम माना है। क्योंकि इनमे शब्द, रीति, अलंकार, गुण आदि मृदु, सुकमार, सुस्वादु होते हैं एवं उनसे व्यंजित अर्थ में भी रमणीयता और रसमयता रहती है।

वस्तुतः उचित भाव के लिए तदनुरूप शब्द-प्रयोग, रूपात्मक गठन, सम्यक् अलंकृति आदि के निवेश की प्रक्रिया भी प्रतिभा की ही प्रक्रिया है (द्रष्टव्य पृष्ठ १५५-८, १८५-६ तथा २७६); अत 'बिम्ब'-रचना है।

मिड्लटन मरी ने शब्द और अर्थ के सम्मेलन का, अथवा वैयक्तिक अनुभूति और लोक-भावना के मध्य अन्तर्योग की प्रक्रिया का आख्यान उसे काव्य-रसायन की प्रक्रिया मानकर किया है। उनके अनुसार कवि के पास जीवन के नाना अनुभवों के संस्कार रहते हैं। चिन्तन-मनन आदि के कारण ये उसकी मानसिक प्रयोगशाला में तरल और संतृप्त (सैचुरेटेड) होते रहते हैं। कभी-कभी किसी मनोदशा, युग-परिस्थिति आदि के कारण इनमें से कुछ अंश सान्द्र होकर स्फटिक-रूप में उभर आते हैं। गीत आदि लघु कृतियाँ ऐसे ही स्फटिक हैं। कभी-कभी किसी गहरे और बड़े पैमाने पर हुए दबाव के कारण कवि-चित्त का बड़ा अंश सान्द्र होने लगता है और प्रयोगशाला में यदि उस क्षण संतृप्त घोल न हो, तो अर्ध संतृप्त-असंतृप्त घोल से ही स्फटिक या कोश उभरने लगते हैं। इस प्रकार निर्मित कविता के बिम्ब, प्रतीक, रूपकादि समस्त वस्तु-शिल्प परम्परा से ही नहीं, कवि की निजी धारा से भी कुछ भिन्न प्रतीत होंगे। उनमें आकार, रूप, संघटनादि का कवि-वैशिष्ट्य नहीं रहेगा। संक्रमणकाल की कविता प्रायः ऐसी ही होती है। किन्तु जब कवि में जीवनानुभव की व्यापकता और गहराई होती है और साथ ही साथ भाषा-व्यवहार में वह स्वयं एवं युग-जीवन भी सम्पन्नता, सक्षमता और परिपक्वता की स्थिति मे पहुँच चुके होते हैं तब ऐसे युग के प्रातिभ कवि गुणात्मक जीवन-दर्शन का साक्षात् कर किसी महत् चरित्रमूर्ति की उद्भावना करते हैं और उसका रूपायण भी वैसी ही उदात्त भाषा-शैली में प्रस्तुत करते हैं। ऐसे कवि के शब्द, शब्द-क्रम, शब्द-संघटन, वाक्य-प्रवाह एवं शब्दों के बहुरूप आसंगों आदि के साथ विविध अर्थों में घुलने-उभरने वाले प्रकरण, घटनादि और उन्हे सम्पुंजित करनेवाली चरित्रमूर्तियाँ, और इन सबका समाकलित स्थापत्य, काव्यरूप आदि सभी कुछ भाषा की विविध भंगिमाओं को, शिल्प के प्रकारों को तथा जीवन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म झाँकियों को प्रातिनिधिक रूप में प्रस्तुत कर देते हैं।

पिछले पृष्ठ ७४-७५ पर रिल्के और अज्ञेय के कथन के द्वारा यह द्योतित किया गया है कि जीवनानुभव की व्यापकता और गहराई से भाव-सम्पृक्ति, भाव-तादात्म्य और शब्दानुसन्धान सम्भव होते हैं। कवि में जीवनानुभव की व्यापकता सामाजिक संस्पर्श और संस्कार से आती है और गहराई वैयक्तिक प्रेरणा स्रोतों से।[७६] दूसरे शब्दों में कवि बहिर्मुखी वृत्ति से व्यापक अनुभव-ग्रहण करता है, और अन्तर्मुखी वृत्ति से अनुभवों में प्रगाढ़ता और

तलस्पर्शिता लाता है। दोनों वृत्तियों के पृथक्-पृथक् अथवा समन्वित गुणधर्म कवि के द्वारा सृष्ट नादात्मक, भाषिक, रूपात्मक वस्तुतत्त्व और शिल्पादि पर प्रतिच्छायित रहते हैं। अतएव कवि के बाह्य रूप संघटन (स्ट्रक्चर) और आन्तरिक शब्दादि के विन्यास (टेक्सचर) में संवादिता का गुण होता है। शब्द, शब्द-संघटन, वाक्य, वाक्य-संघटन सबसे एक ही मूल ध्वनि झंकृत होती चलती है। नई कविता इस एक-स्वरता का भी भंजन करती है

काव्य की एकवाक्यता : महावाक्य, महाबिम्ब, महारस

भर्तृहरि के अनुसार 'वाक्य' एक और अखंड शब्द है और 'वाक्यार्थ' अभिन्न है, तथा जिस प्रकार चित्र का ज्ञान सारे आकारों से युक्त होते हुए भी एक होता है, उसी प्रकार वाक्य का ज्ञान होता है। 'वाक्य' और 'वाक्यार्थ' प्रतिभा-जन्य हैं।

वाक्य और काव्य —काव्य-स्थित वाक्य सर्वथा व्याकरण-शास्त्र का पारिभाषिक वाक्य नहीं होता। किन्तु वहाँ भी उद्देश्य का 'विधान' होता है। उद्देश्य और विधेय के विधान में कवि अपने आशय को एक साथ जितना प्रकट करना चाहता है, उतने तक की पद-रचना 'वाक्य' होती है। अतएव काव्यगत वाक्य एक पूर्ण कल्पना, भाव अथवा प्रसंग का प्रकाशन है। ऐसे एकवाक्य-रूप पूर्ण भाव या विचार में पदादि अनेक हो सकते हैं। काव्य के एकवाक्य-रूप एकल संकेत के लिए 'शब्द', 'वचन', 'उक्ति' का भी प्रयोग होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसके लिए 'बिम्ब' शब्द समीचीन है। उसमें कुछ विशेष हो, चमत्कारी तत्त्व हो, तो उसे काव्यबिम्ब, काव्यशब्द कहेंगे और उस चमत्कार को कुन्तक की दृष्टि से 'वक्रता' मान लेने पर वक्रोक्ति कहा जायगा। 'बिम्ब' को 'काव्यबिम्ब'-रूप में अधिष्ठित करने के उद्देश्य से, 'उक्ति' में 'वक्रोक्ति' की चारुता लाने की दृष्टि से कवि 'उद्देश्य' और 'विधेय' के स्वरूप में, क्रम में, उनके पदों आदि में भी इतना अधिक परिवर्त्तन करता है कि वैयाकरणिक 'वाक्य' आमूल बदल जाता है। 'वाक्य' का विपर्यय 'काव्य' है भी।

'वाक्य' के पदों में योग्यता, आकांक्षा, सन्निधि के धर्म एवं कुछ के अनुसार तात्पर्याख्या शक्ति अपेक्षित हैं। इनमें से योग्यता वाक्यगत पदों से संबंधित न होकर उनके अर्थ, अतः पदार्थों के धर्म से संबंधित है। 'वाक्य'-गत

योग्यता है—पदों के पारस्परिक सम्बंध में अर्थगत बाधा का अभाव। इस दृष्टि से 'ज्वाला बर्फ है और जल उसके लिए ईंधन' 'वाक्य' नहीं कहलाएगा; क्योंकि 'ज्वाला' और 'बर्फ' और 'जल' और 'ईंधन' एक दूसरे के लिए योग्य नहीं हैं। किन्तु, वे निम्न 'काव्य' में पूर्णत: योग्य हो उठे हैं—

शीतल ज्वाला जलती है		ईंधन होता दृग-जल का।
यह व्यर्थ साँस चल-चल कर		करती है काम अनिल का। — प्रसाद : आँसू

अत: काव्यगत योग्यता वाक्यगत योग्यता में कुछ विशेष अथवा कुछ वक्र होती है। वाक्यगत पदों में आकांक्षा होनी चाहिए। आकांक्षा पद से सम्बन्धित धर्म नहीं है, श्रोता या वक्ता की जिज्ञासा अथवा इच्छा से सम्बन्धित धर्म है। किसी पद के अभाव होने पर यदि जिज्ञासा बनी रहे, (प्रतीति-पर्यवसान-विरह), तो वाक्य नहीं बनेगा। तब वह पद साकांक्ष है। वह वाक्य के लिए आवश्यक है। निराकांक्ष पद 'वाक्य' के लिए अनावश्यक है। किन्तु 'काव्य' की 'आकांक्षा' भिन्न होती है और 'काव्यगत' शब्दों का साकांक्ष और निराकांक्ष होना कवि एवं गृहीता की प्रतीति पर निर्भर है। निम्न काव्य-पंक्तियों का 'वाक्यत्व' निराकांक्ष पदों के प्रयोग के कारण सदोष है, पर काव्यत्व की दृष्टि से उनकी पुनरुक्ति में चारुत्व है—

विहग-विहग			फिर चहक उठे ये पुंज पुंज
चिर सुभग-सुभग।			—पन्त

और निम्न काव्य-पंक्तियों में वाक्यत्व की दृष्टि से साकांक्ष पदगत त्रुटि है, पर काव्यत्व में वे सान्द्र हैं—

देखो यह कपोत कंठ, बाहु बल्ली कर सरोज
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब भार—चरण सुकुमार—गति मंद-मंद
छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियों का
देवों भोगियों की तो बात ही निराली है।		—निराला

पुन: 'सान्निध्य' पदों का साक्षात् धर्म है। पदों का सान्निध्य आसक्ति भी कहलाता है। पदों के उच्चारण अथवा क्रम-स्थापन में विलम्ब, व्यवधान नहीं होना चाहिए अन्यथा 'वाक्य' की प्रतीति खण्ड-खण्ड हो जायगी। किन्तु 'काव्य' में पदों का क्रम सान्निध्य के इस पदगत धर्म से निर्दिष्ट नहीं होता। उपर्युक्त पंक्तियों में सर्वत्र पद-क्रम की वैयाकरणिक विधि भंग कर काव्य की

विधि अपनाई गई है। उसी भाँति निम्न पंक्तियों के प्रत्यय और विभक्ति प्रयोग स्थान- च्युत अथवा सदोष हैं। पर उनसे अर्थ चमत्कारिक बन पड़ा है।

क्या पलकों पर बिखरे हो गो यौवन-धूम ? —निराला : परिमल

स्मित तुम्हारो से छलक यह ज्योत्स्ना अम्लान —महादेवी

सोया था मैं नींद में को
एकाएक सपने में को
गया जाग —अज्ञेय सागर मुद्रा

काव्य की विधि मे लय, भाव और विवक्षा पद-क्रम के निर्धारक-नियामक आधार हैं, वैयाकरणिक पद-स्थिति नहीं।

जिस प्रकार एक ही आशय का बोध करानेवाला पद-समूह-रूप वाक्य होता है, उसी प्रकार वाक्य-समुच्चय-रूप महावाक्य होता है। महावाक्य भी वाक्य के तीन धर्म—योग्यता, आकांक्षा, सन्निधि—से युक्त होते हैं और उनके वाक्य-समुच्चय में भी अर्थ की एकता होती है। यह एकता कभी अन्विताभिधानी प्रक्रिया से और कभी अभिहितान्वयवादी प्रक्रिया से गृहीत होती है। विश्वनाथ का कथन है—

वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।
वाक्योच्चयो महावाक्यमित्थं वाक्यं द्विधा मतम् ॥२।१

महावाक्य के उदाहरण मे रामायण, रघुवंश आदि के नाम निर्दिष्ट किए गए हैं। उसी भाँति साकेत, रामायण, पार्वती, उर्वशी, कनुप्रिया आदि तथा अनेक लघु प्रबंध और काव्य-संकलन भी महावाक्य हैं। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण काव्य एक महावाक्य है। महावाक्य में एक संदर्भ (दण्डी के अर्थ मे 'सदर्भेषु दशरूपक श्रेयः) रहता है। वही कवि के अर्थंकत्व का प्रकाशन करता है। उसके पद-रूप लघु संदर्भ अथवा वाक्य अन्य लघु संदर्भों-वाक्यों से योग्यता, आकांक्षा और सन्निधि के नियमों से ग्रथित रहते हैं। किन्तु यहाँ भी ये नियम वैयाकरणिक एवं न्यायशास्त्रीय नहीं होते। यहाँ 'योग्यता' का अर्थ 'सम्भवनीयता' है, आकांक्षा का अर्थ 'अपरिहार्यता' है और सन्निधि का अर्थ 'संदर्भ' अथवा 'भाव' का अविच्छेद ग्रंथन है। तभी सम्पूर्ण काव्य संश्लिष्ट, अन्वित और एकार्थक प्रतीति प्रस्तुत करता है जिससे उसकी एकवाक्यता सिद्ध होती है।

'महावाक्य' से 'महाबिम्ब' प्रस्तुत होता है, जो 'महारसात्मक' माना गया है। उसके भाषिक संस्थान-रूप स्थापत्य-बिम्ब में पात्रादि की जीवंत बिम्ब-मूर्त्तियाँ एवं भावादि के रमणीय बिम्ब-पुंज रहते हैं (द्रष्टव्य पृष्ठ ८०-१)। जीवन-जगत् की प्रस्तुति आदि की दृष्टि से 'महाबिम्ब' के अनेक भेद हो जाते हैं, जैसे—महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक आदि। सभी में बिम्ब अपने बिम्बमूल एवं आद्यबिम्ब के भी प्रकाशन और संकेतन यथा-विधि करते हैं।

तब 'महारस' क्या है? काव्य के समस्त वाक्यों का, महावाक्य का जो एक और अखंड अर्थ होता है, वह 'प्रतिभा' है। अभिनवगुप्त के अनुसार वह आस्वादरूप मात्र है। काव्यार्थ का रसना-व्यापार के द्वारा ग्रहण अथवा चर्वणा ही एक और अखंड अर्थ है। यह चर्वणा-व्यापार ही मुख्य और एकमात्र रस है; और यह मुख्यभूत रस है 'महारस'। रति, शोक, हास्य, उत्साह, भय आदि के विधान से जो शृंगार, करुण, हास्य, वीर, भयानक आदि भिन्न-भिन्न रस निष्पन्न होते हैं, वे 'महारस' के भिन्न-भिन्न रूप हैं। विभावादि का एक प्रकार से संयोजन होगा, तो शृंगार रस होगा, दूसरे प्रकार से हुआ तो वीर, तीसरे प्रकार से हास्य आदि। इस प्रकार विभावादि के विन्यास से रसभेद होता है। परन्तु 'महारस' रस की भाँति विभावसाक्षात्कारात्मक न होकर, चर्वमाणतैकप्राण है, अर्थात् चर्वणा ही जिसका प्राणतत्त्व हो, ऐसा उसका स्वरूप है। वह 'एकघननिर्विघ्न संविद्विश्रान्ति' और 'आनन्द'-रूप भी बताया गया है। यह मनोदशा 'आद्यबिम्ब' के साक्षात्कार की मनोदशा है।

वैयाकरणिक पद और बिम्ब

व्याकरण के अनुसार पद वाक्य में संज्ञा और सर्वनाम-रूप, क्रिया-रूप और क्रिया-विशेषण-रूप, विशेषण और अव्ययादि के रूप में अवस्थित बताए जाते हैं और उनके भेद, प्रकार्य, क्रमादि के नियम विधानादि भी निर्दिष्ट हैं। काव्य व्याकरण के इन पद-रूपों, भेदों, प्रकार्यों, क्रम-विन्यासादि के विधि-विधान स्वीकार कर भी उनका यथावत् पालन मात्र नहीं करता, नव रूप देता है (पृष्ठ ११० पर द्रष्टव्य भामह आदि)।

संज्ञा-बिम्ब—संज्ञा सत्त्ववाची बिम्ब प्रस्तुत करती है। ऐसा बिम्ब दृढ़ और स्पृश्य होता है। संज्ञा के एकरूप ठोस 'वस्तुत्व' आदि में परिवर्तन-हेतु कवि उनका प्रकार-भेद करता अथवा अनेक सम्बन्धित सहचर शब्दों, वाक्यांशों का और विशेषणों, विस्मयादिबोधकों, सर्वनामों, अलंकारों और

प्रतीकों आदि का साभिप्राय प्रयोग करता है। इनके कारण संज्ञा : बिम्ब-रूप कभी मूर्त्त और ठोस होता है, तो कभी अमूर्त्त और सूक्ष्मीकृत तब उनके विविध ऐन्द्रिय रूप उभरते हैं—यथा 'समय' के निम्न बिम्बों में—

अमूर्त्त का मूर्त्त—फिर भी जब कि दायरों की सख्त पहरेदारी में
दृश्य-स्पृश्य— मुलायम क्षणों की फर्श पर, शोर-व-सरापा से तंग, बेहोश पड़ा आदमी
श्रव्य-स्पृश्य— अपने आगोश में प्रेयसी को साज-सा दबाए, कुछ सपनाता रहता है,
मूर्त्त स्पृश्य— यह सोच कर कि उसके लिए समय का कोई गज नहीं,
मानवीकरण, प्रतीकन, नाद-व्यंजना एवं नाट्यकरण—तब रथवाहक के चाबुक की
लचपचाहट, खामोश कमरों में अंगड़ाई लेने लगती है,
और सब कुछ बिखर जाता है, परिधि टूट जाती है।
मूर्त्त स्पृश्य— और समय का गज दिन की नाप में कटकर सामने आता है।
—अनुरंजन प्रसाद सिंह : पाषाण प्रतिमा

इस कविता में 'दर्जी' और 'रथवाहक' के दो रूपक 'समय' के विविध दृश्य, स्पृश्य बिम्बों के मूल परिचालक हैं। भाववाचक संज्ञा 'समय' को पूर्णतः मूर्त्त और ठोस रूप विशेषण (मुलायम), सहचारी अन्य संज्ञा-बिम्ब (फर्श, गज, नाप आदि), प्रतीक (रथवाहक) आदि से तथा क्रियात्मक रूप —बेहोश पड़े आदमी और उसकी साज-सी दबाई गई प्रेयसी की परिधि के टूटने के—नाटकीय बिम्ब से प्राप्त होता है। इनसे काल के दो भाव-बिम्ब भी एकत्र प्रतीति में आते हैं—एक, दर्जी के मापने-काटने की व्यापारिक वृत्ति का व्यावहारिक काल और दूसरा, रथवाहक और उसके चाबुक की लचपचाहट के रूप में अकस्मात् परिधियों को ध्वस्त करने वाला निर्मम काल। कविता में 'लचपचाहट' 'अँगड़ाई लेने' लगती है। यह कैसे? यदि चाबुक की अथवा उसकी लचपचाहट की अँगड़ाई है, तो क्या वह थक गई है? या वह भी सोई थी? अँगड़ाई यदि साज-सी दबाई गई प्रेयसी की है, तो दूरान्वित है। चाबुक की लचपचाहट और प्रेयसी दोनों की अँगड़ाई—ऐसा अर्थ भी लगाया जा सकता है। इस प्रकार की अनेकार्थकता और बिम्बानुबिम्ब-सर्जन की प्रवृत्ति आज की कविता की विशेषता है।

काव्यगत समस्त विभावादि में भी परिवर्तन पर्यायों और समानाधिकरणों के प्रयोग से लाए जाते हैं। 'कामायनी' में 'चिंता' के अनेक पर्याय एक ही स्थल पर उल्लिखित मिलते हैं। व्यक्तिवाचक संज्ञा भाववाचक के द्वारा अमूर्त्त किया जाता है, यथा—

नभ के सुन्दरतम रहस्य, हे कांति किरण रंजित तारा।......
हे अनंत की गमना, देते तुम कितना मधुमय संदेश। —प्रसाद : कामायनी

फिर

'आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम
अरुण रविमडल उनको भेद दिखाई देता हो छविधाम।—प्रसाद कामायनी

इसकी प्रथम पंक्ति के विस्मयादि-बोधक 'आह' में आदिम नादबिम्ब की प्रतिध्वनि है। सार्वनामिक विशेषण 'वह' में एक साथ दूरी, अबोधगम्यता और तिरोभाविता का वैकल्य व्यंजित हैं। दोनों आगे के औपम्य के लिए जादुई वातावरण तैयार करते हैं। फलत', 'मुख'-रूप संज्ञा का बिम्ब 'छविधाम' से भी कुछ अतिरिक्त और अगम हो उठता है। छायावाद की संज्ञा की भाववाचकता की तुलना में छायावादोत्तर हिन्दी कविता की संज्ञा में व्यक्ति-वाचकत्व है, जिससे लोक-सम्पृक्ति, व्यापक मानवतावाद और सहज कर्म-चेतना की अभिव्यक्ति हुई है—

समानाधिकरणों और विशेषणों के प्रयोग से संज्ञा के बिम्ब निम्न कविता मे भास्वर हुए हैं।

वह अंश   सपूर्ण
लघु परमाणु   अद्वितीय
अभिजात   अत्याज्य
एक संज्ञा का सर्वनाम   एक नया आयाम
आदमी नहीं अधकुतरा फल, फेंका हुआ, बिका हुआ अर्ध सत्य !
आदमी नहीं एक तड़पता, छिपकली के मुँह से छूटा, अर्धजीवित सन्त्रस्त अर्धभोग !
आदमी नहीं एक छटपटाता, बेचैन, अर्धसंशय का अभियोग !
आदमी का सत्य नहीं इतना पराश्रित
है वह आत्मलब्ध   सम्पूर्ण
सघन धनत्व का परमाणु !   एक बिन्दु··· ··· रश्मि-वृत्त
एक पंखुरी गुलाब की   एक ज्योति-रेख
फेनिल तरंगित जलधि की   एक चेतना आलेख
सूली पर उत्सर्गित   एक इच्छा-शक्ति
जिजीविषा मुट्ठी में कसी   एक अनुभूति
हर उपलब्धि के बाद   बच रहने की

—लक्ष्मीकान्त वर्मा : अतुकान्त

सर्वनाम-बिम्ब :—सर्वनाम-बिम्ब संक्षेपण, संकेतन, निर्देशन करते और रहस्याच्छन्नता लाते हैं। 'मैं नीर भरी दुख की बदली' में 'मैं' कवयित्री, नारी-जाति एवं समस्त काव्यास्वादक का संक्षिप्त और आत्मीय संकेतक है। रहस्याच्छन्नता अनिश्चयवाचक सर्वनामों 'कुछ' 'कोई' आदि के प्रयोग से आती है। 'वह' और 'एक' छायावाद के बहु-प्रयुक्त सार्वनामिक विशेषण हैं जो रहस्याच्छन्नता लाते हैं।

विशेषण-बिम्ब :—विशेषण का महत्त्व विशिष्ट है। 'नाम' अथवा संज्ञा (मूल कथ्य) की तथता सामान्यतः घटती-बढ़ती नहीं। विशेषण उसे प्रसरणशील, विराट्, संश्लेषीकृत आदि बनाता है। वह संज्ञा के भार और एकलरता को हल्का करता है। इसकी क्रिया-विधि संज्ञा और क्रिया के बीच की है। ** इसके प्रकार्यों मे निर्देशन, उद्बोधन, अवच्छेदन, चमत्कार-सर्जन, जादुई वातावरण-निर्माण आदि मुख्य हैं। सादृश्य-गर्भ, विरोधमूलक, तर्क-न्यायमूल, वैचित्र्यमूल अधिकांश अलंकार प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप से विशेषणवत् कार्य करते हैं। विशेषण के प्रयोग से बिम्ब की गोचरता, भावमयता, चारुता और शक्तिमत्ता में वृद्धि होती है; उसमें रंगीनी और झिलमिलाहट आती है। चमत्कार-सर्जन के सबसे सरल माध्यम होने के कारण इसका दुरुपयोग भी होता है। कुछ मनोविज्ञानी विशेषणों को तारुण्य से संबंधित मानते हैं और भाषा की प्रौढ़ि के लिए उनके सिद्ध प्रयोग की ही अनुशंसा करते हैं। छायावाद विशेषण-प्रयोग की दृष्टि से उल्लेख्य काव्यधारा है। छायावादोत्तर कविता मे विशेषण का प्रयोग भावात्मक दृष्टि से न होकर, 'वस्तु' के वस्तुत्व की प्रतिष्ठा और साक्षात् कर्म-प्रवृत्ति के उद्बोधन-हेतु किया गया प्रतीत होता है। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता के विशेषण-प्रयोग इस कथन की पुष्टि करते हैं। संज्ञा के साथ जो कार्य विशेषण का है, क्रिया के साथ प्रायः वही क्रिया-विशेषण का।

क्रिया-बिम्ब :—'क्रिया-बिम्ब' वाक्य का अर्थ है; पदार्थ का फल है। उसके संसर्ग के बिना पद, पदार्थ और वाक्य की प्रतीति नहीं हो सकती। काव्यार्थ भी क्रिया पर ही निर्भर है। विशेषण, कारक, अव्यय आदि अन्य सारे पदादि उपाय है। वे क्रिया का वास्तविक रूप बताते है। 'क्रिया-बिम्ब' के दो रूप हैं—एक, साक्षात् 'क्रिया' अथवा बाह्य व्यवहार और उसके वाचक शब्दादि; दूसरा 'भावना' अर्थात् क्रिया का मनोदैहिक आन्तरिक व्यापार, कर्म-प्रवृत्ति। वाक्य का अर्थ 'क्रिया' भी है; 'भावना' भी। काव्य में क्रिया के दोनों रूप समाहित रहते हैं। काव्यगत क्रियात्मकता से आस्वादक में कर्म की 'भावना' उद्बुद्ध होती है। यह मानसिक क्रियाशीलता काव्यानुशीलन का फल है। उससे कर्म-प्रवृत्ति और संकल्प-बल को प्रेरणा, शक्ति और दिशा मिलती हैं। छायावाद-युग में पंत जी की क्रियाबिम्बाल्पता से और प्रगतिवाद, नई कविता तथा अकविता के कवियों के क्रियाबिम्ब-बाहुल्य से रोचक निष्कर्ष निकलेंगे।

काव्यभाषा और लोकभाषा—लोकभाषा में शब्द-संकेत प्राकृतिक और स्वाभाविक होते हैं। विचार और आवेगादि के मनोदैहिक स्पन्दन का लोकभाषा में सीधा प्रकाशन होता है। किन्तु कवि उन शब्द-संकेतों का प्रयोग विशिष्टता और विदग्धता से करता है। **शिवलीलार्णव** के अनुसार—

यानेव शब्दान् वयमालपामः यानेव चार्थान् वयमुल्लिखाम।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति।

वही बात **काव्यमीमांसाकार** ने इस प्रकार द्योतित की है—

त एव पद विन्यासाः ता एवार्थविभूतयः
तथापि नव्य भवति काव्य ग्रंथनकौशलात्।

कवि के ग्रंथन-कौशल से, विशेष और भव्य विन्यास से लोकभाषा के शब्दादि काव्य में नव्य हो कर सम्मोहित करते हैं। कॉलरिज ने जो बताया है कि कविता श्रेष्ठ शब्दों का श्रेष्ठ क्रम-निबंधन है, उस में श्रेष्ठ क्रम-निबंधन ही वह तत्त्व है जो शब्द को श्रेष्ठता प्रदान करता है।

लोक मे शब्द का सामान्यतः स्वार्थ-वाच्यत्व के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रयोजन नहीं होता। निश्चित अर्थ के संकेतक हो कर वे वस्तु-शब्दवत् होते हैं। पर्यायों की भी बहुलता नहीं होती, अन्यथा लोक-व्यवहार में कठिनाई होगी। जो थोड़े-बहुत पर्याय रहते हैं, उनकी अर्थ-छटाएँ भी पृथक्-पृथक् बोधगम्य नही रहतीं। अतएव अल्प शब्दों से ही काम चलता है। शब्द-क्रम की विन्यास-भंगिमाओं से भी समान्यतः सीधा-सा वाच्यार्थ गृहीत होता है; अर्थात् ठोस बिम्ब; बिम्ब-छटा नहीं। भाववाचक, जाति-बोधक शब्द अथवा बौद्धिक-भावात्मक संवेदनादि के सूचन के लिए शब्द-सामर्थ्य अल्प होता है। कारण यह कि लोक-चिंतन ठोस और साक्षात् वर्तमान से सम्बद्ध होता है। एडवर्ड बुलो के अनुसार काव्य-भाषा यदि लोकभाषा से ऐसे ठोस और साक्षात् संकेत करनेवाले शब्द मात्र ग्रहण करेगी, तो उसमें मूर्त्तता, नैकट्य और जड़ता आयेगी। काव्य कुछ दूरी का भी, अन्तराल का भी आभास देता है।[७८] काव्यास्वादक और काव्य में दूरी का रमणीय व्यवधान भाषा के द्वारा भी प्रस्तुत किया जाता है। ग्राम्यता, स्वशब्दवाच्यत्व, च्युतसंस्कार आदि इसी कारण काव्य-भाषा में दोष हैं। अतएव लोक-भाषा के ग्रहण में कवि को सतर्क रहना पड़ता है। फिर भी लोकभाषा में अनेक जीवंत मुहावरे, वाग्धाराएँ, लोकोक्तियाँ और पुनरुक्तियाँ रहती हैं तथा काकु आदि की विविध भंगिमाएँ भी। ये 'जीव-कोश' हैं; 'बिम्ब के प्राण-तत्त्व हैं।

लोकभाषा अधिक सप्राण भी होती है और स्वच्छन्द होने के कारण उसकी यह प्राणशक्ति संवृद्धि भी करती रहती है। होरेस ने इन्हीं कारणों से लोकभाषा को भाषा का प्रतिमान माना था।[७९] दांते ने भी 'डि वलगरी युलोकवी' पुस्तक में कवि के द्वारा भव्य लोकभाषा के प्रयोग का निर्देश किया है।[८०] वर्ड्सवर्थ ने तो सर्वसाधारण की भाषा को काव्यभाषा के लिए उपजीव्य माना था।[८१] लोकभाषा से ही कवि कथन-भंगिमाएँ ग्रहण कर काव्य-भाषा की रुग्ण रूढ़ियों, निरर्थक आवृत्तियों में नये संस्कार भरता है, मृत बिम्बों-प्रतीकों को पुनरुज्जीवित करता है। नई कविता, और अकविता मे चालू 'लटके' और टटके 'फिकरे' भी ग्रहण कर लिए गए हैं, जो व्यंग्य को पैनापन और काव्य को सहज बातचीत का लहजा देते है। यथा—

मूत और गोबर की सारी गंध उठाए
खाल उतारी हुई भेड़ सी
डाँय डाँय करते डाँगर को सींगों मे
दरवाजे पर अँधी बुढ़िया
कोई था जो चला गया है।

हवा बैल के सूखे कंधे से टकराए
पसरी छाया नीम पेड़ की
आकाश वैसा है
ताला-जैसी लटक रही है

—धूमिल : गाँव

हकीकत (यदि तुम्हें वह शब्द पसंद हो तो) यही है
कि पृथ्वी गोल नहीं है (घजती है पर ढोल नहीं है)
तिकोनी है

—मणि मधुकर खंड खंड पाखंड पर्व

भाषा का रूपात्मक संस्थान सामाजिक-राजनैतिक आदि दृष्टि-भंगिमाओं और वैचारिक अभ्यासो के कारण युगानुरूप बदलता चलता है जिसे आवेष्टन के विविध आयामो में रख कर समझा जा सकता है। जब युग की दृष्टिभंगिमा, सवेदनशीलता, भावप्रवणता बदल जाती है, तो समस्त भाषिक सस्थान मे गड़बड़ी आती है। संवेदन-ग्रहण, भाव-प्रकाशन का तंत्र व्याहत होता है। शब्द अपनी अर्थवत्ता खो कर उपद्रव करते, मनुष्य-मनुष्य में अन्तर लाते हैं। काव्यभाषा में युगीन और भाषिक परिवर्तन के कारण 'कवि-समय' वागाडम्बर हो उठते हैं, प्रयोजनवती लक्षणाएँ रूढ़ होने लगती हैं। डा० राघवन ने संकेतित किया है कि किस प्रकार अलंकार भी रूढ़, अर्थहीन, प्रहेलिकाप्राय और बौद्धिक हो कर काव्य के लिए अनुपयोगी हो जाते हैं।[८२] कुन्तक ने भी कुछ इन्हीं कारणों से परिसंख्या को विदग्ध माना ही नही। क्षेमेन्द्र ने 'असिलता' 'चित्रचक्र' जैसे विरूप, विसदृश बिम्ब प्रस्तुत करनेवाले अलंकारो को हेय माना है। आधुनिक कवि ने यही बात इस प्रकार प्रस्तुत की है—

चाँदनी चंदन सदृश
मुख हमें कमलों सरीखे
हम लिखेंगे
कि जिसमें
मुँह घर-अजायब है।
और मुर्दा भाव रहते हैं।।

हम क्यों लिखे
क्यों दिखें ?
चाँदनी उस रुपये ऐसी है
चमक है पर खनक गायब।
(जहाँ पर बेनुके अनमोल जिन्दा
—अजित कुमार

ये उपमान मैले हो गए हैं इन प्रतीकों के देवता कर गये हैं कूच;
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है। —अज्ञेय : कलगी बाजरे की

प्रत्येक युग के प्रबुद्ध चिन्तकों-कवियों आदि को रीतते हुए शब्द-प्रतीक में अर्थ भरने की भाषा-विषयक जटिल समस्या से जूझना पड़ता है। तभी प्रत्येक युग अपना अलग मुहावरा गढ़ता है। कुन्तक का कथन है कि कवि ही उन मृत या रुग्ण काव्य-रूढियो, निरर्थक अभिप्रायो, अपारदर्शी प्रतीको मे अभिनव अर्थ सचारित कर सकता है। शक्तिशाली शब्द के अभाव मे अर्थ स्वत: परिस्फुटित होने पर भी मृत कल्प बना रहता है और तब शब्द वाक्योपयोगी अर्थ न बता कर अन्य अर्थ बताता है। ऐसा शब्द वाक्यार्थ के लिए व्याधिभूत है। इस मृत कल्प और व्याधिभूत शब्द को उचित काव्योपयोगी अर्थ का प्रकाशक शब्द ही दूर करता है। जो ऐसा करे वही साहित्य है।[८३] काव्य भाषा की मुक्ति और शक्ति व्यक्ति और संस्कृति की मुक्ति और शक्ति है।[८४] **एडमड विलसन के अनुसार** प्रतीकों-बिम्बों की क्रान्ति वैचारिक क्रान्ति का ही पर्याय है। ऐसी क्रान्ति का बीज-वपन कवि की प्रतिभा से, उसकी प्रातिभ रचना से होता है। कुंतक ने शब्द और अर्थ के रूपायण को परस्परस्पर्धाधिरोह मान कर बीजभूत पद से लेकर महावाक्य-रूप महाकाव्य-तरु के विकास तक का निरूपण किया है। दोनो सुहृद-भाव मे अद्वय-योग भी करते हैं। उनके अद्वय-योग का कारण है उनकी वाणी का 'निरन्तर रसोदगारगर्भ संदर्भ-निर्भराः' होना।

काव्य-भाषा : रूपकत्व और प्रतीकत्व

एडवर्ड सापिर[८५] **क्रोचे** की उस धारणा से सहमत हैं कि साहित्यिक कला का अनुवाद नहीं हो सकता। फिर भी उसके अनुवाद हुए हैं और कुछ तो आश्चर्यजनक रूप में मूल-जैसे हैं। ऐसा क्योंकर हुआ है ? इसके उत्तर मे उनका कहना है कि साहित्य में दो पृथक् धरातल की कलाएँ घुली-मिली रहती हैं—एक सामान्य और निर्भाषिक स्तर की कला जो उठाकर किसी भी दूसरी भाषा में रोप दी जा सकती है। और दूसरी विशेषीकृत भाषिक कला

जो अनुवादक्षम नही होती। पुन., साहित्य भाषा के माध्यम में अभिव्यजित होता है। भाषा के भी दो स्तर हैं—आदिम रूप, जो मानव के सहज ज्ञान के आद्यसस्कार से सबधित है और विशिष्ट जातीय-सामयिक भाषा-सस्कार जिस साहित्य में भाषिक माध्यम आद्यसंस्कार और आदिम रूप के स्रोत से आयातित है, वह अनुवाद मे शेक्सपीयर के नाटक, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कामायनी, उर्वशी, कनुप्रिया आदि की तरह प्रायः अक्षुण्ण उतर सकता है, किन्तु जिसका भाषिक माध्यम उपरले स्तर से निर्दिष्ट होगा, जैसे बिहारी के दोहे, रामचंद्रिका आदि, वे अनुवाद के उपयुक्त नही कहला सकते। सापिर ने यह भी निर्दिष्ट किया है कि ह्विटमैन एवं उसके-जैसे अन्य कृतिकार सामान्यीकृत भाषा-माध्यम की खोज में लगे हैं, काव्यात्मक बीजगणित का अनुसंधान करना चाहते हैं। उनकी कला-अभिव्यंजना ऐसी प्रतीत होती है कि जैसे वह किसी अज्ञात मूल से अनूदित हो — और वस्तुतः वह ऐसी है भी।

इस उद्देश्य से, तथा कुछ आन्तरिक प्रेरणा से भी उत्तम कवि काव्य-भाषा को रूपक और प्रतीक के धरातल पर उत्थित कर अपनी अनुभूति का बिम्ब प्रस्तुत करते हैं। बिम्ब सामान्य निर्भाषिक स्तर और आद्यसस्कारादि के निकट के होते हैं, अतः अभिव्यक्ति के सरल और सहज माध्यम हैं।

काव्य-भाषा में सामान्यतः अलंकारों के एवं विशेषतः रूपक के महत्त्व पर प्राचीन काल से ही भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों का ध्यान रहा है। भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर कुवलयानन्द तक के ग्रन्थों मे एवं वदेशो मे अरस्तू से लेकर रिचर्ड्स प्रभृति आधुनिक विद्वानों के ग्रथो मे इस विषय पर विवेचन हैं।

प्रत्यक्ष-ग्रहण से लेकर काव्याभिव्यक्ति तक के समस्त कार्य-व्यापार मे आकारीकरण और मूर्त्तन के साथ-साथ अलंकरण की सहज जैव, जादुई वृत्ति भी काम करती है। सामान्य उक्ति में भी प्रेषण की सफलता-हेतु कुछ रंगीनी और चमक लानी पड़ती है।[८६] पुनः वस्तु का बोध अपर के[८७] स्मरणादि द्वारा होता है—घर देखकर समझा जाता है कि उसे चेहरा है, सामना है, पिछवाड़ा है आदि। अनुभूति का स्वरूप अभिव्यक्ति में पूर्ण होता है, और 'भाषा' चित्स्पन्दन का शाब्द और वाह्य प्रकाशन है। यही उसका धर्म और अभिप्रेत है।[८८] 'व्यक्तिविवेकार' महिम भट्ट के मत में अपुष्ट, निरलंकार अर्थात् सपाट भाषा में कही गई बात में अर्थ-दोष है।[८९] ह्यूम के

अनुसार भी सपाट भाषा असगत होती है, नये रूपको के योग से ही वह आनुरूप्य ग्रहण कर सकती है।[६०]

भामह, दण्डी, और कुतक ने वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति मे अलकारो का मूल माना था। पिछले पृष्ठ पर यह द्योतित किया गया है कि भावनामयता मे अतिरिक्त ऊर्जा और क्रिया-व्यापार की त्वरा के कारण सारे मनोदैहिक सस्थान पर अतिशय गत्वरता आ जाती है और वह शब्दो के माध्यम से अभिव्यजन प्राप्त करते समय रूप, रंग, बलादिवश वक्र और आतिशय्यमंडित होती है। तुल्यभावना, धर्म्य-दर्शन, सहचार, स्मरण और कल्पना आदि की मानसिक वृत्तियो से उसमें तत्त्व-क्रमादि का विन्यास होता है।[६१] धर्म्य-वैधर्म्य-परीक्षा कणाद की दृष्टि से तत्त्व-ज्ञान और निःश्रेयसके लिए साधन है। अतएव उपमा को सर्वालंकार-बीज और कवियों की माता बताया गया है।

अलंकार शिरोरत्नम्सर्वस्व काव्य-सम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातवेति मतिर्मम।
के० सी० पाण्डेय द्वारा इंडियन एस्थेटिक्स पृ० १२८ पर उद्धृत

अभिनवगुप्त का कथन है कि :—उपमाप्रपञ्चश्च सर्वोऽलंकार इति विद्वद्भिः प्रतिपन्नमेव।[६२] अप्पयदीक्षित के अनुसार उपमा शैलूषी है[६३] और

तदिदं चित्रं विश्वं ब्रह्मज्ञानादिवोपमाज्ञानात्।
ज्ञातं भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहिता सा।—

पाश्चात्य काव्यशास्त्र मे 'मेटाफर' (रूपक) की भी ऐसी ही महिमा है। उसे 'रानी' अभिधान भी मिला है। 'मेटाफर' अथवा रूपक से रूप, गुण, क्रिया का अनुभव गाढ होता है। 'खरगोश-मन', 'भूखा समुद्र', 'जर्जर दम्भ', 'पुलकित प्रेमालिंगन' 'विकल वासना', 'मणिदीपों के अंधकारमय निराशापूर्ण भविष्य' 'सकरुण अवसान' 'मैं राख का घर हूँ' आदि संज्ञा-रूपक, 'विश्ववन की व्याली', 'हरी भरी सी दौड़धूप', आदि 'चिंता' के गुण प्रकट करनेवाले गुण-रूपक तथा 'काँप रहे हैं...दीन विषाद' 'बिछुड़े तेरे सब आलिंगन' 'चेतना भी बिलखाती' 'जगी बनस्पतियाँ अलसाईं' आदि क्रिया-रूपक कथ्य के अनुभव सहजता से कराते हैं। बहुधा पूरी की पूरी कविता रूपक होती है; यथा—महादेवी की निम्न कविता

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसंत-रजनी।
तारकमय नव वेणीबंधन, शीशफूल कर शशि का नूतन
रश्मिवलय सित घन-अवगुंठन, मुक्ताहल अभिराम बिछा दे चितवन से अपनी।
—संधिनी

इसके द्वारा 'वसन्त रजनी' के पुलकित आगमन का अनुभव 'अभिसारिका' रूप में प्रगाढ़ बनाया गया है। निम्न पंक्तियों में नरेन्द्र की क्रीड़ा-वृत्ति ने बादल का रूपक 'पाग' में उतारा है—

पकी जामुन के रँग की पाग बाँधता आया लो आषाढ़।···
सिन्धु-शय्या पर सोई बाल जिसे आया वह सातों छोड़,
आह, प्रति पग अब उसको याद खींचता पीछे को, जो तोड़,
लगी उड़ने आँधी में पाग, झूमता डगमग-पग आषाढ़।···
जरी का पल्ला उड़ उड़ आज कभी हिल झिलमिल नभ के बीच
बन गया विद्युत-द्युति, आलोक सूर्य शशि उड़ु के उर से खींच।
कौंध नभ का उर उड़ती पाग झूमता डगमग-पग आषाढ़।
उड़ गई सहसा सिर से पाग—छा गए नभ में घन घनघार ···
छूट गई सहसा कर पाग—बड़ा आँधी-पानी का जोर
लिपट लो गई मुझ से पाग, झूमता डगमग-पग आषाढ़। —पलाश वन

और केदारनाथ वाजपेयी ने जीवन की तिक्तता-रिक्तता का अनुभव निम्न 'माँस वृक्ष' के रूपक से वेधक बनाया है—

मैं इन सस्ते और ऐयाश लोगों के बीच
और
रहते-रहते सोचता हूँ—
जो बैठे-बिठाए
जो सिक्के चबाते है
केकड़े की तरह चिपक जाते हैं
क्या पड़ी थी ईश्वर को
माँस के वृक्ष उगाए। —संक्रांत

कवि जब वर्ण्यवस्तु के गुण, क्रिया-रूप आदि का गाढ़ भाव से अनुभव कराना चाहता है, तो वह 'अप्रस्तुत' का विधान करता है। प्रासंगिक अथवा प्रस्तावित विषय 'मुख' हो, तो उसके 'सुन्दर' होने की बात का आस्वाद्य अनुभव कराने के लिए कवि कौशलपूर्वक (रिचर्ड्स ने इसे 'रमग्लड फ्रोम आउट साइड' बताया है) किसी बाहरी तत्व, रूप, गुण, क्रिया अर्थात् अप्रस्तुत, अप्रासंगिक ला कर अपना उद्देश्य पूरा करता है। तब कवि, 'मुख' के 'सुन्दर' होने की बात इस प्रकार कहता है—

गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान : —प्रसाद : कामायनी

इस प्रकार वह 'इड़ा' के मुख के विशेषत्व का ऐन्द्रिय अनुभव करा देता है। फिर भी इसके दो तत्वों 'आनन' और 'मुकुल' में सौन्दर्य, 'कोमलता' गुंजार का अभेद तो है, पर दोनों में भेद है; वे भिन्न-भिन्न हैं। अतः यहाँ अप्रस्तुत भेदाभेद-प्रधान है। फिर, यदि कवि कहे,

घिर रहे थे घुँघराले बाल अंस अवलंबित मुख के पास;
नील घन-शावक से सुकुमार सुधा भरने को विधु के पास। —प्रसाद : कामायनी

तो कवि 'मुख' और 'विधु' में अभेद की प्रधानता मान रहा है। कवि उस अभेद का रम्य अनुभव 'घुंघराले-बाल' रूपी 'नील घन शावक के 'मुख'-रूपी 'विधु' से 'सुधा' भरने के लिए 'घिरने' के कार्य-व्यापार के दर्शन से कराता है। निश्चय ही इस विधान से कवि रूप, गुण, क्रिया तीनों को अधिक गाढ भाव से अनुभव करा सका है। पुनः यदि कवि कहता है —

> आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम,
> अरुण रवि मंडल उनको भेद दिखाई देता हो छवि धाम।
> या कि नव इन्द्र नील लघु शृंग फोड़ कर धधक रही हो कांत:
> एक लघु ज्वालामुखी अचेत माधवी रजनी में अश्रान्त। —प्रसाद · कामायनी।

तो कवि अभेद का दर्शन 'मुख' और 'पश्चिमी व्योम के घनश्याम में घिरे छविधाम-अरुण-रविमंडल' में एवं 'मुख' और 'माधवी रजनी में लघु शृंग फोड़ धधकने वाली अचेत ज्वालामुखी' में करना है। यह अभेद-दर्शन एक से अधिक वस्तुओं, गुणों और क्रियाओं में फैलता भी चलता है। पुनः यह सादृश्य कथित नहीं है, जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों में। यह व्यंग्य है। अतः अधिक रमणीय है।

इस प्रकार अप्रस्तुत के तीन प्रधान प्रकार के विधान हुए—१. भेदाभेद-प्रधान अथवा अभिधामूलक. २. अभेद-प्रधान अथवा लक्षणामूलक और ३. गम्यौपगम्याश्रय अथवा व्यंजनामूलक। इन तीनों विधानों के अनेक भेदोपभेद हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों के अन्तर्गत, सादृश्य-गर्भ २—विरोध-गर्भ ३—शृंखलामूल ४—न्यायमूल और ५—गूढार्थ-प्रतीतिमूल जो अलंकार हैं, उनमें सादृश्यगर्भ अलंकार उपर्युक्त तीन विधानों में बाँटे जा सकते हैं। विरोधगर्भ अलंकारों आदि का भी उन्हीं विधानों में विभाजन किया जा सकता है, क्योंकि सादृश्य प्रधान तत्त्व है, जो स्वीकारा या नकारा जाता है। इन अलंकारों से काव्यकथ्य में प्रत्यक्षवत्ता, नाटकीयत्ता, चारुत्व, उदात्तता आदि की विशेषताएँ आती हैं और वे भाव का प्रगाढ अनुभव कराते हैं। 'रूपक' में अप्रस्तुत की ही ऐसी प्रधानता हो जाती है कि प्रस्तुत का वह निगरण-सा कर लेता है। अतः वह अभेद-प्रधान होता है।

उपर्युक्त पंक्तियों के प्रस्तुत 'मुख' और 'अप्रस्तुत' के नाना रूपों में अर्थात् भेद में, रसिक अभेद का भी दर्शन करता है तथा काव्य-कथ्य और कवि से भी एकाकार होता है। 'मुख' के लिए 'मुकुल' अथवा 'विधु' अथवा 'घनश्याम बीच अरुण रविमंडल' और 'लघु ज्वालामुखी' आदि पृथ्वी

और आकाश के ये अप्रस्तुत और उनके सहचर-सहवर्त्ती 'मधुप' 'नील घन शावक सुकुमार' 'पश्चिम के व्योम' और 'घनश्याम' 'माधवी रजनी से नव इन्द्र नील लघु शृंग' तथा उनकी क्रीड़ा-वृत्ति 'गुंजार' 'सुधा भरने को घिरना' 'घिरते घनश्याम का भेदन' 'शृंग फोड़कर धधकना' ये सारे उपकरण मनुष्य के चिर-परिचित स्रोत से, आद्यसंस्कार से आयातित हैं। उनका बिम्बत्व सहज ज्ञान से सम्बन्धित, अतएव निर्भाषिक स्तर का है। उनसे आद्यबिम्ब का भी आभास होता है। उसी भाँति बादल के 'नाग'-रूपमें और आधुनिक यंत्र-चालित मनुष्य के 'माँस-वृक्ष'-रूप में बिम्बन सहज है, उनका रूपकत्व निर्भाषिक स्तर का है। (किन्तु महादेवी की अभिसारिका वैसी नहीं है।) इस प्रकार इनके रूपात्मक संस्थान (स्ट्रकचर) और आन्तरिक तन्तु-रूप शब्द (टैक्सचर) मे, अर्थ और नाद में आवयविक संघटन है।

काव्यभाषा के अनेक शब्दो में रूपक सुप्त हैं। कुछ में 'रूपक' इस प्रकार घुलमिल गये हैं कि वे मालूम नहीं पड़ते। कवि शब्दों का ऐसा व्यवहार करता है कि उनके अन्तर्निहित रूपकत्व का भी आभास होने लगता है।

हर्बर्ट रीड [१४] का कथन है कि काव्यभाषा और गद्यभाषा मे जो अन्तर है, वह पूर्णत: सार का है, चेतना का है। काव्यभाषा में संलग्न कवि की चेतना मे जैसी जैविक ऊर्जा और तनाव का स्फुरण होता है, उससे काव्य-भाषा ही निर्गत हो सकती है। कविता गद्य से अधिक आदिम अभिव्यंजन-विधि है और लेव्ही ब्रूह्ल के साक्ष्य पर वह आदिम होकर भी निम्न स्तरीय नहीं है। अतएव कवि, जैसा कि विको ने बताया है, काव्यभाषा में प्राविधिक शब्दप्रयोग के स्थान पर रूपात्मक शब्दों का प्रयोग करता है। हर्बर्ट रीड ने सिनयर विवांते का उद्धरण देकर बताया है कि—कविता की रचना होते समय एक-एक शब्द परस्पर मिलता चलता है और सब मिल कर सम्पूर्ण कविता को नवीनीकृत करते हैं। प्रत्येक रचित शब्द मूल्य का नया परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता, अपनी सत्ता से सब को भर देता और यथार्थ का रूपायण भी प्रस्तुत करता है। यह रचित शब्द नये गर्भमंडल बनाता है—साम्य का, साधर्म्य का, एकता का और मूल भाव-वस्तु से सबको जोड़ता भी चलता है। कविता का प्रत्येक रचित शब्द केन्द्रानुगामी होता है। इस प्रकार काव्य शब्दों का जैविक संस्थान होता है। कविता मे काव्यभाषा का प्रसार सामान्यत: देशानुवर्त्ती अर्थात् पड़ी रेखा की भाँति का फैलाव है। शब्द और शब्दों के क्रम,

व्याकरण के नियमानुरूप सम्बन्धवाची विभक्तियाँ आदि तत्त्व भाषा को देश तत्त्व से युक्त करते हैं। पुनः उसमे कथा, वार्त्ता, वर्णनादि के अर्थ आ जुड़ते हैं और वे भी उसके देश-तत्त्व के सीधे और भौमिक प्रसार को सघन करते हैं। वे अध्याहारों, रिक्त स्थानो को भी भरते जाते है। इससे काव्यकथ्य मे दार्ढ्य और स्थिति-रूपता आती हैं। काव्य इस स्थिति-रूपता का भजन करता है। इस हेतु वह कालानुवर्त्ती लय और कालातीत भाव-सान्द्रता का उपयोग करता है। लयमयता से भाषागत शब्द स्पन्दित होते हैं तथा भाव निषिक्त होकर वे सदैव वर्त्तमान-से, सार्वकालिक हो जाते है। यह प्रक्रिया लम्बवत् ऊर्ध्वगामिता की है। रूपकादि तत्त्वो का भी लम्बवत् उपयोग किया जाता है। उपर्युक्त उदाहरण मे 'इडा' के आनन के अप्रस्तुत-विधान मे एवं महादेवी की 'अभिसारिका'-रूप बसतरजनी मे देशानुवर्त्ती प्रसार है और साभिप्राय भी है। किन्तु श्रद्धा के मुख-वर्णन में तथा 'आषाढ़ के बादल' और 'मांसवृक्ष' मे आकाश और पृथ्वी के रम्य नाटकीय तथा मिथकीय दृश्यो के विधान के कारण लम्बवत् उद्‌गति है। यही कवि-विवक्षा भी है। अतएव उपर्युक्त कविता के शब्द-विधान जैविक-सस्थान-रूप हैं। वे कविगत अपनी-अपनी अनुभूतियों के स्थिति-गतिमय शब्द अभिव्यजन हैं।

कवि के अन्तस् की अनुभूति ही वास्तव मे 'प्रस्तुत' कहला सकती है। समस्त बाह्याभिव्यंजन उसी का 'रूपक' है। पुनः, कविता मे किसी जागतिक सत्य-रूप प्रस्तुत का कथा, पात्र, घटना, वर्णनादि के शब्द-विधान के माध्यम से प्रकाशन किया जाता है। इस दृष्टि से बाह्य कथा, पात्रादि के प्रकट अर्थ मे जागतिक सत्य का प्रच्छन्न अर्थ समाहित रहता है। अतएव सम्पूर्ण महाकाव्य, खण्डकाव्यादि विराट् 'रूपक' माने जाते है।

रूपकत्व : तनाव और समन्विति—रूपक के अद्वययोग के सम्बन्ध मे **मैक्स ईस्टमैन** की धारणा है कि कवि एक विलक्षण अद्वितीय अनुभव का प्रेषण करना चाहता है, अतएव यह आवश्यक है कि वह पाठक के मन मे प्रतिक्रिया उत्पन्न करे, और फिर उसे प्रतिरुद्ध भी कर दे, ताकि स्नायु-सस्थान में ऐसा और इतना तनाव आ जाय कि उसे बोध होने लगे कि जीना जिया जा रहा है, चाहे यह जीना जैसा भी हो। पूर्ववर्ती आम्रे सेंतो का भी ऐसा ही विचार था—दो वस्तुओं को तुल्यधर्मिता से प्रस्तुत कर देना, चाहे दोनो अपने गुण-धर्मों में कितनी भी दूरी रखने वाली और विषम ही क्यों न हों, अथवा विरूपों-विसदृशो को किसी भी प्रकार, आकस्मिक रूप से ही सही,

तीक्ष्णता से एकत्व मे गूँथ देना—यही कविता का चरम लक्ष्य है।[६५] रिचर्डस ने स्वीकार किया है कि एकत्वद्रष्टा मन रूपकादि की दो भिन्न प्रतीतियों मे भी अभिन्नता का आविष्कार करता है। तनाव तो आता है, किन्तु, तनाव प्रत्यचा का चढ़ा हुआ तन्तु है, पर वही लक्ष्यभेद नही है, और न वेधकता का कौशल है। कविता मे शब्द परिपार्श्व की शब्दावली से संजीवित होते हैं; और गृहीता की मनोदशा मे एकान्विति का सामंजस्य लाते हैं। रिचर्ड्स की 'संजीवित' शब्दावली से उपपन्न 'त्रियारूढ़' मनोदशा पर ह्यूम और बर्गसाँ के दर्शन का प्रभाव माना जाता है।[६६] विलियम एम्पसन का कथन है कि पाठक कविता के शब्दों में अर्थ जोड़ता हुआ अपनी व्यवस्था ले आता है। इससे तनाव में सतुलन आता है।[६७]

रिचर्ड्स ने 'मेटाफर' अथवा 'रूपक' को 'अद्वय-रूप' सश्लिष्ट बिम्ब माना है, तथा उनके अन्तर्गत रहने वाले दो विधानों के 'मूल और आनुषगिक' 'कथ्य और कथनढंग' 'निरूप्य और रूप-तत्त्व' 'आइडिया और इमेज'-जैसे सारे नामों को भ्रान्ति पैदा करने वाला बताया है। बारह '१२' ही माना जाना चाहिए, न कि '१' या '२'–प्रधान अथवा, '२' और '१' या '२१'-जैसा। उन्होंने विश्लेषण की दृष्टि से उसमें दो तत्त्व बताए हैं। एक 'टेनर' (आरोही, प्रस्तुत) और द्वितीय—व्हेहिकल (वाहक) ये दोनो इस प्रकार घुलेमिले रहते है, कि उनकी चार अर्थ-सरणियाँ हो सकती हैं—(१) टेनर-प्रधान (२) व्हेहिकल-प्रधान (३) योग-प्रधान (४) अद्वयरूप सश्लेषात्मक जीवनदृष्टि-प्रधान। 'मेटाफर' का वास्तविक अभिप्राय योगार्थ से अवश्य ही अधिक और जटिल है, तथा वह एक नयी दृष्टि का उन्मेषक है। किन्तु खण्डित अर्थ ग्रहण करने से न केवल 'मेटाफर' का उद्देश्य विफल होगा, अपितु हमारे भीतर का द्वैध (पितृ-बिम्ब = टेनर; मातृ-बिम्ब = व्हेहिकल) भी पहिचाना जा सकेगा।[६८]

व्हेहिकल-प्रधान दृष्टि अपना लेने पर जायसी सूफी, विद्यापति और सूर शृंगारी, तुलसी वैष्णवभक्त आदि में खड-खड प्रतीत होते हैं। ऐसी दृष्टि अपना लेने पर कुँवर नारायण की निम्न 'ओस न्हाई रात' कविता—

ओस न्हाई रात
अपने अग पर शशि-ज्योति की संदिग्ध चादर डाल,
आ रही है व्योम गंगा से निकल
झुरमुट में सँवरने को···दबे पाँवों, कि उसको यों
कहीं आँखें न मन में घेर लें
गीली सकुचाती आशंक,
देखो,
इस ओर
अव्यवस्थित ही
लोलुप सितारों की।

—कुँवर नारायण : चक्रव्यूह

में डा० शम्भुनाथ पांडेय को 'वासना का खुलाव' मिलेगा और प्रतीत होगा कि 'कवि जितना अप्रस्तुत सद्यःस्नाता को संवारने मे सफल हुआ है, उतना प्रस्तुत 'ओस न्हाई रात' के चित्रण में नही।[९९]

इस समस्या का भारतीय दृष्टि से निदान बहुत पहले से प्रस्तुत है। आनन्दवर्धन का सिद्धान्त है—अलंकारों को रसों के अधीन रखना चाहिए, उनसे प्रधान नहीं; विवक्षा के अनुरूप कार्य लेना चाहिए, उनका ग्रहण और त्याग भी करना चाहिए और उनका अतिनिर्वहण नही करना चाहिए, क्योंकि अतिनिर्वहण से रसहानि होती है।[१००] सारांश यह कि 'रूपक' अभेद-दर्शन है।

दार्शनिक श्लेगेल ने बताया था कि 'मेटाफर' मानव की सतत स्पंदनशील मातृभाषा है। पर, आज के मनुष्य के पास मिथक नहीं है, पुरावृत्त नही है। इस कारण वह केन्द्रच्युत है। अन्य विचारकों ने इसका खंडन यह कह कर किया है, कि आज के मानव के पास विज्ञान, यंत्र, तंत्र आदि इस प्रकार के विशाल प्रपंच हैं और उनके कारण वैयक्तिक सर्वनाश के विराट् बिम्ब और मिथक समुपस्थित हैं।[१०१] त्रास का ऐसा मिथक पुराकालीन मिथक से बहुत अधिक पृथक् नही है, विजातीय अवश्य है। विजातीय इस कारण कि इसमें आदिम राग नही है, भावात्मक सर्जन की प्रेरणा-शक्ति नही है। इनके अभाव मे 'मेटाफर' का सर्जन होना कठिन है। फिलिप व्हिलराइट आदि अनेक चिंतकों का विचार है कि आज के युग में धार्मिक पुराकल्पों और मिथकों की आवश्यकता है, तभी कविता भावात्मक और धर्ममय वातावरण में रह कर उत्तम प्रतीक-परम्पराओं का एवं काव्य-रूपकों का उद्घाटन-अवतरण कर सकती है।

काव्यभाषा और प्रतीक-'प्रतीक' ऐसा अभिधान है कि जिसका प्रयोग तर्कशास्त्र, गणित, चिह्न-विज्ञान, तत्त्व-निर्णय के शास्त्र, धर्म-शास्त्र, ललित-कला और कविता में होता आया है। अध्यात्म शास्त्र में 'सिम्बॉल' का पर्याय मत (क्रीड) है।[१०२] ऐबरक्राम्बी का कथन है कि—'साहित्य की भाषा सदा प्रतीकात्मक होगी ही; वह अनुभव का प्रेषण करना चाहता है, पर अनुभव तो भाषा में घटित नहीं होता, मन मे घटित होता है। अतः अनुभव को प्रेषणीय प्रतीक में अनूदित किया जाता है—ऐसे प्रेषणीय प्रतीक में जो ध्वनन करे।[१०३]

ऐबरक्राम्बी यहाँ सामान्य 'प्रतीक' की बात कह रहे हैं। कविता ¨ प्रतीक ध्वनन ही नहीं करता भावन भी कराता है। कवि और गृहीता दोनों उसकी रमणीयता का आस्वादन करते हैं।[१०४] काव्यादि में प्रतीक संक्षिप्तता, स्पष्टता, प्रसादात्मकता, रमणीयता, अर्थ-शबलता, व्यंजकतादि के कारण गृहीत होते हैं।[१०५]

सामान्यतः 'प्रतीक' अनुभव का वह लघु अंश है, जो परवर्ती अनुभव के समय पूर्वानुभूत सम्पूर्ण अनुभव की स्मृति जगा देता है। इस प्रकार वह एक 'संकेत' (साइन) भी है। सामूहिक आदान-प्रदान, कथन-ग्रहण के लिये समाज द्वारा अनुमोदित हो जाने पर वह प्रतीक (सिम्बॉल) कहलाता है।[१०६] यूनानी 'सिम्बालन' का भी प्राचीन अर्थ विजय-माल या विजेता का उपहार था। आगे चलकर इसका अर्थान्तर तत्तुल्य में हुआ। फिर तो तुलना बाह्य वस्तु से न होकर भावनात्मक रूप में होने लगी और कोई भी छोटी वस्तु महत्तम विभूति के समान समझी जा कर 'प्रतीक' हुई। प्रतीक की समाज-स्वीकृत नानार्थकता, मनोभाव के अनुसार बोधगम्य होती और भाव-प्रपन्नता लाती है। फलस्वरूप, शिव-पार्वती का चित्र एक के लिए धार्मिक प्रतीक हो सकता है; दूसरे के लिए सौन्दर्य का प्रतीक, तीसरे के लिये आद्य वासना का। कौड़ी की माला आदिवासियों के लिए धर्म-चिह्न है, या रक्षक नेत्र-प्रतीक है, तीसरे के लिये रम्य प्रस्फुटन-प्रतीक है तो, चौथे के लिये योनिप्रतीक।[१०७] अर्थ-सम्पुंजन और संवाहकत्व प्रतीक की बड़ी विशेषताएँ हैं।

प्रतीक कई दृष्टियों से 'मिथक' और 'रूपक' के मिलन-बिन्दु हैं। रूपक स्तरीकृत और स्थिरीकृत होकर प्रतीक बन जाते हैं। प्रतीक मिथकीय चेतना से निःसरित होते हैं। इस प्रक्रिया में दृढ़ीकरण की दो विधियाँ होती हैं:—

१—मौलिक या प्रारंभिक द्वयता का उदासीन और बाद में विस्मृत हो जाना; जैसे—० = आकाश, १ = ईश्वर; † = क्रूस; — = ऋण; । = पूर्ण विराम आदि। इन्हें रूढ़ प्रतीक अथवा, 'ब्लाक सिम्बॉल' कहते हैं। गणित आदि एकार्थक शास्त्र में इनका ही प्रयोग होता है।

२—मौलिक द्वयता गुण मात्रादि में तद्वत् रहेगी, पर उनमें नये अर्थादि जुड़ जायेंगे; जैसे हंस, वृक्ष, चातक आदि। इन्हें व्यंजक प्रतीक अथवा 'टेन्जिव सिम्बॉल' कहते हैं। काव्यादि में प्रधानतः व्यंजक

प्रतीक का प्रयोग होता है, रूढ़ का अल्प।[१०८] साम्प्रदायिक रूप धारण कर लेने पर प्रतीक की काव्यात्मक रमणीयता चुक जाती है और वह मिथ्या हो जाता है; उससे कल्पनावाद, पैगम्बरवाद आदि को भी प्रश्रय मिलने लगता है।

शब्द के भाषिक प्रतीकत्व का विकास-क्रम—पृष्ठ ११२-११४ पर विचारणा और भाषा की प्रतीकात्मकता का उल्लेख किया गया है। भाषिक प्रतीक में प्रतीकत्व इस अर्थ मे है कि अर्थ अथवा मानसिक विचारों का वह स्थानापन्न संकेत है। डॉ. ब्रॅनिस्लॉव मॅलिनोवस्की[१०९] ने शब्द प्रतीक मे अर्थोद्योतन की प्रक्रिया के तीन विकासात्मक चरण माने हैं—

(१) प्रथम स्तर पर 'ध्वनन',—जैसे चीख—एक नाद-प्रक्रिया है, जो परिस्थिति-जन्य है, नाद-प्रक्रिया अभी 'प्रतीक' नहीं हुई है, अर्थात्

नाद-प्रक्रिया————————→परिस्थिति

(२) द्वितीय स्तर पर 'ध्वनन' अर्धवर्णिक उच्चारण मे स्फुट होता है और परिस्थिति के साथ-साथ 'वस्तु' का भी संकेत करता है, पर अभी प्रतीक नहीं है; जैसे बच्चों के 'प····प' यानी पानी आदि या 'दु····दु' यानी दूध आदि, अर्थात्

नाद प्रक्रिया + अर्ध उच्चारण————————→ परिस्थिति अथवा संकेतित वस्तु

(३) तृतीय स्तर पर उच्चरित नाद 'प्रतीक' का रूप धारण करने लगता है, जिसके क्रम हैं—

क—क्रियात्मक 'प्रतीक' अर्थात् 'पाइ' या 'दूध' बोल कर छोटे बच्चे उन वस्तुओं की ओर इशारों की क्रिया भी करते हैं; वैसी स्थिति के क्रियात्मक प्रतीक का क्रम, अर्थात्

क्रियात्मक प्रतीक————————→संकेतित वस्तु, विचारादि

ख—विवरणात्मक, बिम्बात्मक प्रतीक; अर्थात् शब्दादि के द्वारा वस्तु या विचार का बोध कराना; यथा—
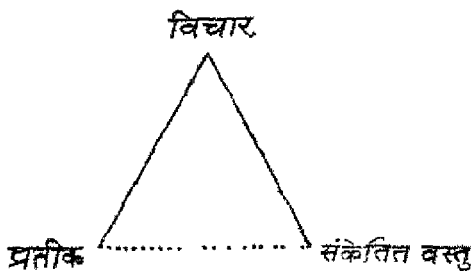
ग—ठोस 'प्रतीक'; अर्थात् 'प्रतीक' 'विचार' एवं 'वस्तु' को एकरूप प्रस्तुत करता एवं स्वयं भी 'विचार' एवं 'वस्तु' हो जाता है। मिथकों, पूजाकृत्यों, जादू आदि में ऐसी ही स्थिति होती है।
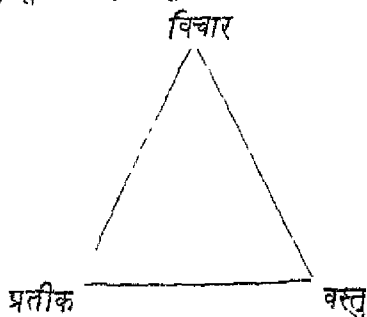
इसी स्थिति से देवमूर्ति, राष्ट्रध्वज आदि गृहीत होते हैं। 'ख' की स्थिति इससे भिन्न इसलिए है कि उसमें त्रिभुज की आधार-रेखा बिन्दुवत् रहेगी, क्योंकि 'प्रतीक' से 'वस्तु' का यथावत् अर्थ सदैव निष्पन्न नहीं होगा, न सबके लिए वह समान अर्थ-संकेतक ही होगा। यही प्रतीक का खुलापन है।

प्रत्येक भाषा में त्रिभुज के समान रूढ़ अर्थ-संकेतक ध्वान शब्दों को छोड़ कर प्रायः समस्त शब्दों के प्रतीकत्व में त्रिभुज की आधार-रेखा बिंदुवत् होती है। जीवन में कुछ ऐसे क्षण आते हैं, यथा—काव्यास्वादन के समय, प्रेमालाप के प्रथम उफान में, अथवा भावातिरेक में, जब शब्दादि पढ़ या सुन कर व्यक्ति उन शब्दों के प्रति आविष्ट हो कर व्यवहार करता है, अर्थात् लाल बत्ती→रुको-जैसा।[११०] ऐसी स्थितियों में भी प्रतीक के त्रिभुज को जैसे आधार-रेखा मिल जाती है।

प्रयोजन की दृष्टि से प्रो० स्टाउट[१११] ने प्रतीक के तीन प्रकार माने हैं—(१) संकेतक अर्थात् प्रधान या वास्तविक अर्थ देने वाले, (२) लाक्षणिक अर्थात् गुण-धर्म से सम्बन्धित अर्थ देने वाले, यथा—'नरपुङ्गव' 'लौह पुरुष' से 'पुङ्गवत्व' और 'लौह' का लाक्षणिक अर्थ प्राप्त होता है। उन प्रतीकों के गुण-धर्म ही 'नर' और 'पुरुष' से युक्त होते हैं, प्रतीक छूट जाते हैं। (३) स्थानापन्न प्रतीक—तर्क, गणित, विज्ञानादि में प्रतीक निश्चित विचार-क्रियादि के लिए स्थानापन्न चिह्न हैं। इनके नियमित कार्यादि हैं, यथा—, ; । , ?, !, ×, ÷, ∴, @, β आदि।

काव्य में शब्दादि जहाँ सामान्यतः वाच्यार्थ के संकेत हैं, वहाँ भाषिक प्रतीक का प्रथम प्रकार गृहीत है, विराम-चिह्न, शब्दों के बीच के अन्तराल, पंक्ति-पंक्ति के या चरणों के बीच की यति तथा 'में' 'से', 'पर', 'और' आदि शब्द तृतीय प्रकार के भाषित प्रतीक हैं, और लक्षणा-व्यंजना की शक्तियों में द्वितीय प्रतीकत्व रहता है।

एक ओर बर्ट्रेंड रसल का व्यंग कथन है कि 'प्रतीक उपयोगी हैं; क्योंकि उससे बात जटिल या दुर्ज्ञेय हो जाती है;' तो दूसरी ओर प्रो० ह्वाइट हेड बताते है कि, 'प्रतीक सदा इसलिए लाए ही जाते है कि उनसे बात सरल या बोधगम्य होती है।' डॉ० स्टेबिंग दोनों की बातें स्वीकार करते हैं—'भाषा की प्रतीक-पद्धति से अर्थ की अनेकता समेट ली जाती है और विचार का एकीकृत सौन्दर्य सुलभ हो जाता है।'[११९] व्यंजक प्रतीक की यही विशेषता है।

अर्न्स्ट कैसिरर के विचारों के अनुसार, जो सारांशतः पृष्ठ २५३ पर उल्लिखित है, मानव प्रारंभ से ही प्रतीक-निर्माता रहा है। सूजन के० लैंगर ने यह बताया है कि 'भाषा' स्वर का मूर्त्तीकरण है। यथार्थ को प्रतीक-रूप मे देखने के परिणाम-स्वरूप जो मानवीय स्वर फूटता है वही प्रथमतः भाषा है। किन्तु यह प्रतीकों का समुच्चय नहीं है, सक्रिय सावयव संघटना है। अतएव 'शब्द' पत्थर की मूर्त्ति की तरह अलग नहीं रहता, अन्य शब्दों से, अन्य प्रतीकों से, आवयविक सम्बन्ध स्थापित कर सघटित होता है और एक संगत, सार्थक और जटिल रूप प्रस्तुत कर यह भी संकेतित करता है कि अर्थ के संसार में, वास्तव जगत् मे भी वैसी ही संगति, सार्थकता, जटिलता और आवयविक संघटन है।' लैंगर ने काव्यादि में प्रयुक्त प्रतीक को विशिष्ट माना है; विशिष्ट इस अर्थ में कि वे वास्तविक प्रतीक के सभी प्रकार्य नहीं करते। वे वहाँ स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से रचयिता और काव्य के अनुभव को प्रतीति के योग्य सम्मूर्त्त करते हैं। उनके अर्थ वहाँ उनमें से प्राप्त नहीं होते; उनमें यानी उनके साथ-साथ प्राप्त होते हैं। उन्हें वहाँ से अलग नहीं किया जा सकता। अतएव वे वहाँ लक्ष्य या अलक्ष्य रूप से रूपक अथवा बिम्ब हैं।'[१२०]

साराश यह कि कविता के प्रतीक में कम से कम दो परतें रहती हैं—एक, भाषिक—यानी अनुभव का मानवीय वर्णात्मक रूप, जिसे लैंगर ने स्वर का मूर्त्तीकरण माना है, दूसरा, काव्यगत अर्थ-पुंज का संवाहक। इस दूसरी

परत में ही कवि के अनुभव की और जीवन-जगत् की भी प्रतीति निहित रहती है।

कवि अपनी भाव-सकुल अनुभूति के प्रकाशन के लिए कभी तो (क) परम्परित प्रतीकों का व्यवहार करता है; कभी (ख) परम्परित और रूढ़ प्रतीकों मे नये अर्थ भर कर उन्हे पुनः नवीन या जीवित करता है, कभी (ग) निजी प्रतीक रचता है और (ङ) अनायास अचेतन-अवचेतन के प्रतीक भी उसकी रचना में प्रयुक्त हो जाते हैं। अंतिम दोनों प्रतीक कविता को सामान्यतः दुर्बोध बनाते हैं।[११४]

कवि भाषिक प्रतीकों के माध्यम से गुणात्मक प्रतीकों के बिम्ब प्रस्तुत करता है। इन दोनों का सधान वह जातीय सांस्कृतिक प्रतीकों की परम्परा द्वारा एवं परम्परा में करता है। अतएव कवि-कर्म है—१–शब्दानुसंधान में भाषिक प्रतीक की सम्प्राप्ति; २–रूपान्वेषण में सांस्कृतिक, धार्मिक, जातीय प्रतीक की उपलब्धि तथा ३–जीवन-दर्शन के अनुरूप आत्मबोध और जगद्बोध का उपर्युक्त दोनों के माध्यम से गुणात्मक प्रतीक-पुंजो में अभिव्यंजन। इनके नाम ही काव्य-रूप, गीत, चरित्र, भाव-पुंज, विचारराशि, दर्शनादि है।

सारांश यह, कि काव्य-सर्जन प्रतीकोद्भावन की जटिल प्रक्रिया है। जिसे समर्थ प्रतीक सम्प्राप्त होता है, वह सारस्वत कवि हो जाता है।

प्रतीक-प्राप्ति की प्रक्रिया कवि के लिये जितनी उल्लासपूर्ण है, प्रतीक-भंजन की प्रक्रिया उतनी ही करुण है। कवि एक प्रतीक से खेलता-खेलता उसे फिर तोड़ना भी शुरू करता है। अन्यथा, कवि ही उससे ग्रस्त हो उठता है। ऐसी स्थिति मे काव्य की शक्ति समाप्त-सी होने लगती है।

ऐबरकॉम्बी का होरेस के साक्ष्य पर कथन है कि 'भाषा एक वृक्ष के समान है। शब्द उसके पत्ते हैं। जैसे-जैसे वर्ष बीतते जाते हैं, पुराने पत्ते गिरते जाते हैं और नये पत्ते उनके स्थान लेते जाते है। परन्तु वृक्ष वे ही रहते हैं। क्योंकि जो वृक्ष हैं उनके सारे पत्ते एक साथ नहीं झर जाते हैं, इसलिये किसी भी क्षण पुराने और नये दोनों प्रकार के पत्तो का मिश्रण रहता ही है।' यही बात काव्य की भाषा और प्रतीक के सम्बन्ध में भी सत्य है।[११५] महाकवि की वही वाणी सबसे बढ़कर है जो—

अतथास्थितानपि तथासंस्थितानिव हृदये या निवेशयति अर्थ विशेषान्
सा जयति विकट कवि गोचरा वाणी ४/४

प्रतीक और अभिप्राय ;—रूढ 'प्रतीक' मृत प्रतीक हैं। उनका कोई वैदग्ध्य नहीं। वे मात्र 'अभिप्राय' है, जैसे—'मुखाम्बुज' या 'चन्द्रमुख'।

शिप्ले के अनुसार जब 'एक शब्द या निश्चित साँचे में ढले हुए विचार जो समान स्थिति का बोध कराने या समान भाव को जगाने के लिये किसी एक कृति अथवा एक ही जाति की विभिन्न कृतियों में बार-बार प्रयुक्त होते हैं, तो वे अभिप्राय कहलाते हैं।[११६]

चित्रकला अथवा स्थापत्य कला में 'अभिप्राय' उस विशिष्ट आकृति को कहते है जिसकी आवृत्ति होती है अथवा जिसका कृति में प्रमुखतम स्थान हो।[११७] रायकृष्ण दास ने अपनी पुस्तक—'भारत की चित्रकला' मे लिखा है—'कोई चल वा अचल सजीव या निर्जीव, प्राकृतिक अथवा काल्पनिक वस्तु जिसकी अलकृत एवं अतिरंजित आवृत्ति मुख्यतः सजावट के लिये किसी कलाकृति मे बनाई जाय, कला-सम्बन्धी अभिप्राय कहलाती है। जैसे—युवती के हाथ में कमल का फूल—एक अभिप्राय है।'

सगीत में आवृत्ति या दुहराया जाने वाला शब्दसमूह या टेक अभिप्राय है। अनुकरण एव प्रयोग के कारण कुछ साहित्य-संबंधी रूढ़ियाँ भी यांत्रिक ढग से प्रयुक्त होने लगती हैं। इन रूढ़ियों को साहित्यिक अभिप्राय (लिटररी मौटिब्स) कहते हैं।[११८] वामन एवं राजशेखर आदि ने इस प्रकार के अभिप्रायो में से कुछ की चर्चा काव्यसमय, कविसमय, काव्य-रूढ़ि आदि नाम से की है। इनमे लालित्य-सर्जना से एक प्रकार का वातावरण या अर्थासंग आ जाता है, जो भावन के लिए कभी-कभी सहायक होता है।

काव्यभाषा : बिम्ब, रूपक, प्रतीक और मिथक का चक्र—

प्रतीक के विभिन्न प्रकार, प्रकार्य और तत्संबंधी मतवाद इधर विकसित हुए है।[११९] आ० शुक्ल ने प्रतीकत्व को विशेष मनोविकारों या भावनाओ को जाग्रत करने की निहित शक्ति माना है और प्रतीकों को अलकरण-प्रणाली के भीतर ही स्वीकार किया है, पर इस अन्तर के साथ कि सब उपमान प्रतीक नही होते, क्योंकि अलंकार में उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य है, पर प्रतीक का आधार साधर्म्य-सादृश्य नहीं, बल्कि भावना जाग्रत करने की निहित शक्ति है। अतः उनका कथन है—'कभी-कभी ऐसे उपमान भी प्रयुक्त होते हैं जिनमे प्रतीकत्व नहीं होता, जैसे कटि के लिए सिह।.....'सच्ची परख वाले कवि अप्रस्तुत या उपमान के रूप में जो वस्तुएँ लाते हैं उनमें प्रतीकत्व होता

है।...भावों के उद्बोधन की शक्ति कैसे संचित हुई, इसका वैज्ञानिक उत्तर यही होगा कि कुछ तो उन वस्तुओं के स्वरूपगत आकर्षण से, कुछ चिर-परिचित आरोप के बल से और कुछ वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के प्रभाव से।'[१२०] इन विचारों मे दो बातें स्वीकार-योग्य नहीं दीखती—एक तो यह कि सभी प्रतीक अलंकरण-प्रणाली मे नहीं समा सकते; कुछ तो काव्यादि मे स्वतः काव्यात्मक होते हैं; दूसरी यह कि भावोद्बोधन की शक्ति कैसे संचित हुई, इसका उत्तर वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि रूपकत्व और प्रतीकत्व में कुछ मनोविज्ञानी वर्जन और प्रतिरुद्धता (टैबू) की आदिम प्रेरणा भी पाते है, जिसके कारण आदिम मनुष्य वर्जित और रुद्ध की भावमूर्ति बनाकर उसकी भीति से ऊपर उठना और उस पर कब्जा जमाना चाहते थे; और कुछ दूसरे विद्वान् उनमें जैवीकरण की प्रवृत्ति मानते हैं। 'कमल' माधुर्यपूर्ण कोमल सौन्दर्य की भावना का प्रतीक इसलिए मान लिया गया है कि उसमे, सूर्योदय मे और हमारे जगने मे एक ही चेतना व्याप्त समझी गई होगी। 'स्वरूपगत आकर्षण' मे भी भीति, वर्जन और जैवीकरण की वृत्ति मानी जाती है; 'वंशानुगत वासना' मे भी। यही कारण है कि 'प्रतीक' आबद्ध करता और रूपक हो उठता है।[१२१] कवि अथवा युग प्रतीकों से बँध जाते हैं। प्रबुद्ध कवियों को इनका भंजन करना पड़ता है। क्योंकि महत्त्व या मूल्य 'प्रतीक' का नहीं होता, वह उससे मिलने वाली अनुभूति की गुणात्मकता मे होता है,[१२२] और रूढ़, अर्धमृत प्रतीक मे वह गुणात्मकता निःशेष हुई रहती है। समर्थ कवि इनमें नयी अर्थवत्ता भर कर इन्हें पुनरुज्जीवित करता है।

प्रतीक का लक्षण कॉलरिज के अनुसार है—'व्यक्ति मे विशिष्ट की, या विशिष्ट में सामान्य की, या सामान्य में वैश्विक की झलक देना, और सब से अधिक परिमिति मे तथा द्वारा अपरिमेय को झलकाना।'[१२३] दूसरे स्थल पर उन्होंने बताया है कि 'प्रतीक उस यथार्थ के तत्त्व से युक्त रहता है जिसका बोध और अनुभव कराता है।'[१२४] इनसे काव्यगत प्रतीक का प्रकार्य भी संकेतित होता है। वह यह कि प्रतीक काव्य में जिस यथार्थ-तत्त्व से युक्त होता है, उसका बोध और अनुभव पाठक को कराता है, फिर भी अपनी परिमिति में अपरिमेय की झलक देता है। हल्के ढंग से शुक्ल जी ने भी यही बात कही है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'प्रतीक' में दो तत्त्व होते हैं, विशिष्ट अथवा परिमिति और सामान्य अथवा अपरिमित। पहला तत्त्व

काव्य में प्रकट रहता है, और दूसरा ओझल। [११५] इन दोनों में सम्बन्ध या तो परम्परित या आनुवंशिक अथवा काव्यकृत साधर्म्य, प्रभाव-साम्यादि का रहता है। प्रच्छन्न भाग के इस साम्य के 'यथार्थ तत्त्व' को प्रकट अंश अपने मे युक्त किए रहता है, जिसे पहिचान लेने पर प्रच्छन्न भाग भी पाठक को अकस्मात् और रम्यरूप से बोधगम्य होता है। इस पहिचान से पाठक को 'प्रत्यभिज्ञान' का आनन्द मिलता है। अतः कविता में काव्य-प्रतीक कवि-सृष्ट होता है, अन्यथा वह भाषिक प्रतीक मात्र है।[११६] प्रतीक का प्रकट अंश बिम्ब-रूप होता है, और प्रच्छन्न भाग अपेक्षया बिम्ब-भावात्मक। यह भाग भिन्न-भिन्न पाठकों के लिए पृथक् होता अथवा युगानुरूप बदलता भी चलता है। अतः प्रतीक का काव्यभाषा मे महत्त्व यह है कि वह संश्लेषणात्मक, समावेशी और तेजस्वी तत्त्व है जिसके आधार पर संक्षिप्त और सुगम रूप से 'दैविक एकता' का अनुभव अगाढ़ रूप से सम्प्रेषित होता है।

यही काम तो रूपकादि भी करते है। फिर उनसे प्रतीक किस प्रकार भिन्न हैं? रूपकादि मे दोनों अंश एकमेक-से नही माने जाते, उनके बीच का अन्तराल प्रतीक की अपेक्षा अधिक प्रकट होता है। प्रतीक तो दूसरे अंश पर तीर की भांति तन्मय रहता है; ह्यूले के अनुसार सम्बन्धो का वह विद्युत-प्रवाह है। अलंकार और प्रतीक के भेद में प्रकारान्तर से वही बात शुक्लजी ने भी बताई है। रूपकादि का मार्ग सीमा पर पहुँच कर बंद हो जाता है, प्रतीक का नही। पुनः प्रतीक कवि के शब्दों-काव्यों मे आवृत्त होते हैं, अथवा भाव-सघनता के केन्द्रस्थ पुंज होते हैं। [११७] रूपक भी आवृत्त होकर भाव-कोश-जैसे हो उठें, तो प्रतीक ही कहे जायेंगे। उसी भाँति 'प्रतीक' की नानार्थकता जब सीमित और रूढ़ हो जाती है, तब वह 'रूपक'-सा एकार्थक हो जाता है। इस प्रकार का प्रतीक रूपकात्मक प्रतीक कहलाता है।

प्रतीक मिथक के काव्यगत अभिव्यंजन हैं। इस कारण ही काव्यगत प्रतीकों में आद्यराग और अबोधगम्य आकर्षण के तत्त्व होते हैं। इस प्रकार काव्य के भाषिक संरूप में जो चक्र भीतर-भीतर चलता रहता है, वह है—

——→	——→	——→
बिम्ब	रूपक	प्रतीक	मिथक
←——	←——	←——
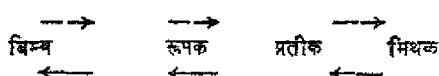
बिम्ब प्रथम मानस-प्रतीति है, और रूपकत्व, प्रतीकत्व बाद के बोध हैं। बिम्ब स्वायत्त, आत्मनिर्भर और पूर्ण प्रतीति है। वह काव्य और गृहीता के

मानस के बीच सीधा ऐन्द्रिय संवाद है। रूपकत्व बुद्धि द्वारा किया गया त्रिज्या-संवाद है। प्रतीकत्व भावोद्रिक्त 'अभिलाप' है, 'साक्षात् प्रत्यक्ष' के साथ-साथ परोक्ष से की गयी गाढ़ वार्त्ता है, 'हृदय-संवाद'—जैसा। मिथक और भी पुराकालीन आभासो के सांकेतिक स्फुरण द्वारा अन्तस्तलीय मौनालाप है। इसके स्पष्टीकरण के लिए'प्रसाद' की कविता की निम्न पंक्ति ली जाय—

'कनक किरण के अन्तराल में लुकछिप कर चलते हो क्यों ?

मानस-पटल पर अंकित होने वाला, इसका प्रथम ऐन्द्रिय बोध है— 'कनक किरण' और 'उसके अन्तराल' में 'लुकछिप कर' चलने वाला। तत्काल प्रत्यंकित यह छवि 'बिम्ब' है। साथ ही उस छवि के प्रति जिज्ञासा की जो मुद्रा है, वह भी 'बिम्ब' है। क्षणानन्तर जब यह बौद्धिक ज्ञान होता है कि इसमें कनक, किरण और लुकछिप कर चलनेवाले के तीन क्षेत्रों की बात एकत्र कही गयी है, तब छवि के अवयव विश्लिष्ट होते हैं। एक क्षेत्र की बात दूसरे क्षेत्र के गुणधर्म से कही जाने के कारण विश्लिष्ट बातें, संश्लिष्ट होकर अन्वित प्रभाव प्रस्तुत करती है। अर्थात् सीधा संवाद न कर, तिरछे ढंग से बात कही गयी है। कनक के सहारे शरीर की, किरण के सहारे रूप-सौन्दर्य की बात त्रिज्या-संवाद का आनन्द देती है। रूप के आभ्यन्तर तत्त्वों का बोध भिन्न-भिन्न क्षेत्रो के बीच संचरित होकर प्रशस्त और प्रगाढ होता है। यही 'रूपकत्व' का बोध है। प्राय: समस्त अलंकारो के मूल मे यही संचरण-व्यापार, अथवा वैशद्य के लिए प्रयास रहता है। अलंकरण आकारीकरण और जीवात्मवादी प्रवृत्तियों से सम्बद्ध है। बिम्ब का भी संबंध उन्ही से है अवश्य; पर 'बिम्ब' अधिक आदिम और नैसर्गिक प्रवृत्ति पर आश्रित है। वह अधिक जैविक है। अलंकरण की प्रवृत्ति इसी का विकास है। काव्यादि के अलंकार तो जीवात्मवादी प्रवृत्ति से भी बाद की अवस्था में उद्भूत हुए होंगे - बौद्धिक और मानवकेन्द्रिक प्रवृत्तियों के विकास के साथ आये होंगे। अत. 'बिम्ब' प्रथम ही झलक उठता है, रूपक एवं अन्य अलंकारों का बोध बौद्धिक अनुगमन के बाद होता है।

'कनक किरण के अन्तराल में लुकछिप कर' चलने वाले की यह छवि व्यष्टि-छवि है। पर, यह समष्टि-सौन्दर्य की छवि का भी संकेतक है। सौन्दर्य रूप की ऐसी ही स्वर्णरश्मि के अन्तराल में छिप-छिप कर चलता है। पर, क्यों छिप-छिप कर चलता है? यह प्रश्न जितना रहस्यमय है, छवि की लुकछिप वाली भंगिमा उतनी ही मोहक भी है। इस प्रकार इस पंक्ति

में एक व्यष्टि-सौन्दर्य के द्वारा समष्टि-सौन्दर्य की वैसी ही झलक पूरे रहस्यमय कुतूहल और ऐश्वर्य दीप्त 'स्वर्णकिरण' द्वारा आँकी गयी है। यह बोध 'प्रतीक' का बोध है।

फिर ऐसा भी भान होने लगता है, कि इसमें कुछ और भी गहन-निविड संकेत है। लगता है कि इस पंक्ति के 'कनक-किरण' और 'हिरण्मय पात्र' में, वही संकेत हो जो रूप-अरूप में, प्रकाश-विमर्श मे, उदय-अस्त में अनेकश प्रतिभासित अथवा अनुगुंजित होता रहता है। यह अन्तर्बोध मानस के गहन तल में, अबोधपूर्व होता है। अतः पंक्ति के सौन्दर्य के प्रति जो हम अनायास खिचते है, उसमे 'मिथक' का आभास है।

अतः जोसेफ शिपरी का यह कथन युक्तियुक्त है कि कविता में अनेक बिम्ब, प्रतीक, रूपकादि कल्पना के द्वारा जुड़े होते है और वे एकघन होकर अनुभूति की प्रतीकात्मक प्रस्तुति करते है।[११८] दूसरी बात यह कि काव्य-गृहीता मे बिम्ब रूपक में, फिर प्रतीक में और अन्ततः, अनायास-अज्ञात रूप से मिथक मे प्रसरित, विपुलीकृत एवं संघननीकृत होता है।

कवि में काव्य-रचना करते-करते इसी भाति स्वरचित बिम्बादि भी मिथकीय अन्तश्चेतना मे पहुँच कर वासना का निर्माण करते हैं। लोक-मानस मे भी संस्कार अथवा वासना का निर्माग इसी प्रकार होता आ रहा है।

सारांशतः, कविता की भाषा मे प्रेमी प्रेमिका से यह नही कहेगा कि मुझे क्या-कुछ-कैसा-कैसा तो हो रहा है; जिसे प्लेटो आदि दार्शनिको ने आद्यराग, शुक्लजी ने लोभ, या और कुछ-वैसा ही माना है। वह उसके जूड़े में फूल खोंस देगा। वह गा उठेगा। उसकी पूरी अभिव्यक्ति अन्तरतम की अनुभूति को मूर्त्त और गतिशील रूप से उभारती जायगी।[११९] यह सारी अभिव्यक्ति रूपकात्मक; प्रतीकात्मक व्यवहार है, जो ऐन्द्रिय और संवेद्य है; अर्थात् बिम्ब है। कला आर काव्य का मूल उत्स इसी बिम्ब-निर्मात्री शक्ति में है; बिम्ब ही उसकी ऐश्वर्य-राशियाँ हैं। तत्काल वह यह नहीं घोषित करती है कि ये यथार्थ हैं, या काल्पनिक, उनकी विशेषता नही बताती, परिभाषा नही देती। परन्तु उन्हें अनुभूत करा देती है।[१२०] अनुभूत कराने के लिए कविता 'शब्द' का व्यवहार करती है। यह 'शब्द' ही तब 'कविता' हो उठता है।

आधुनिक सन्दर्भ में काव्य-शब्द और बिम्ब

यदि मैथिली शरण गुप्त, प्रसाद, निराला और फिर अज्ञेय, सर्वेश्वर, कैलाश वाजपेयी की कविताओं की परीक्षा की जाय तो शब्द-चयन, उनके क्रम-विन्यास और नादात्मक अनुरणन में कवियों की पृथक्-पृथक् दृष्टियाँ मिलेंगी। विलगाव के दो चरण तो साफ मालूम पड़ेंगे। पहला, मैथिली शरण गुप्त से प्रसाद, निराला आदि की भाषा में; और फिर दूसरा, अज्ञेय आदि से होता हुआ समसामयिक कवियों की भाषा-मुद्रा में। पहला चरण तो छायावाद का है जो सर्वविदित है। किन्तु दूसरा चरण उससे भी व्यापक और गहन क्रान्ति का उन्मेषक है जिसने काव्यभाषा को आमूल परिवर्तित कर डाला है। उदाहरण-स्वरूप कुछ कविताएँ ली जायँ—

१. सागर लहरों सा आलिंगन,
जल वैभव है सीमा-विहीन,
धीरे से वह उठता पुकार—
निष्फल उठ कर गिरता प्रतिदिन··
बह रहा एक कन को निहार
मुझको न मिला रे कभी प्यार ! —प्रसाद : लहर

२. एक क्षण में प्रवहमान
इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो
क्षण के अखण्ड पारावार का
व्याप्त सम्पूर्णता, —
पिया था अगस्त ने।
आज हम आचमन करते हैं। —अज्ञेय

३. जहाँ कहीं होता हूँ
दोपहर तक रात बनी रहती है
एक साथ जाग कर अपनी अनुपस्थिति पर रोता हूँ
इन सपाट भीड़ों से कौन घृणा करता है।
मेरा 'न होना' भी झूठ गया है,
कि अपनी देह से मेरा सम्पर्क छूट गया है।
अक्सर नहीं होता हूँ
और कई देशों में
पता नहीं लगता अब
सागर के गर्भ में जलते चिराग-सा
हो रह गया है
—कैलाश वाजपेयी : संक्रांत

इन्हें देखते ही पता लगता है कि 'प्रसाद' के शब्द भाव-निषिक्त हैं, 'अज्ञेय' आदि के वैचारिक-बौद्धिक; 'प्रसाद' में ऋजुता है, 'अज्ञेयादि' में वैषम्य है। 'प्रसाद' में जहाँ वैषम्य है भी, वह भावात्मक अथवा आध्यात्मिक है। परन्तु 'अज्ञेय' के 'क्षण' और 'पारावर' का वैषम्य, पुनः कैलाश वाजपेयी का 'देह से सम्पर्क छूटने' आदि का वैषम्य चिन्तना के धरातल का तात्त्विक, जैविक वैषम्य है। 'प्रसाद' के शब्द परम्परित गूँजों से पूर्ण हैं, अज्ञेयादि के शब्द में गूँज का वेग, तत्त्व और धरातल बदल गया है, कैलाश वाजपेयी में तो और भी।

छायावाद के बाद हिन्दी काव्यधारा पर वैषम्य-मूलक परिवेश का जो प्रभाव धीरे-धीरे पड़ता गया उसे समझने के लिए हीगेल के दर्शन से बात प्रारम्भ की जा सकती है।

वैषम्य-दर्शन और मानव-नियति में अलगाव :—

हीगेल के दर्शन मे दो मूल बातें हैं—१—द्वन्द्वात्मकता और २—एकता। हीगेल ने विश्वमन की प्रकल्पना की थी एवं व्यक्तिमन को उसमे लीन होकर एकत्व की सिद्धि के लिए सतत क्रियाशील माना था। इस प्रकार हीगेल की द्वन्द्वात्मकता समष्टिमन मे पर्यवसित होती है। किर्केगार्ड ने हीगेल के इस विलयन का प्रतिवाद किया। उनके अनुसार व्यक्ति मन का मात्र लहर-रूप में विश्वमन के महासागर में समा जाना व्यक्ति की सत्ता की उपेक्षा है। व्यक्ति की अपनी सत्ता भी है।

धर्मादि के अपदस्त हो जाने के बाद, विज्ञान और बौद्धिकता, लोक-तन्त्रात्मक-भावना और यान्त्रिकता, अर्थ-तंत्र और बाजार आदि की ज्यामितिक प्रगति के कारण वैज्ञानिक विकास सिन्दबादी चरणों से ऐसा तेज चला कि मानव मूल्यों में अकल्पनीय परिवर्त्तन आ गया। एक ओर तो सर्वस्वीकृत आस्था और विश्वासमूलक पूज्य एवं श्रद्धेय, अथवा—निःश्रेयस को छोड भी दें तो—, अभ्युदय के उन्नायक नेताओं की बुनियाद खत्म होने लगी, दूसरी ओर नेतृत्व के प्रति मिथकीय, धार्मिक अथवा सास्कारिक-आनुवंशिक श्रद्धा भी मिटने लगी। नेताओं की एक नयी जाति पैदा होने लगी—क्षेत्रीय नेताओ की, जो क्षेत्रप्रेरक, अथवा क्षेत्रोपजीवी, अथवा क्षेत्रान्वेषी अथवा परिस्थिति-शोषक (इनफ्लुऐन्सिंग, डिपेन्डेन्ट, एक्सप्लोरर, एक्सप्लोयटिंग) थे एव जिन्होने अक्सर अपना उल्लू सीधा तो किया, पर साथ-साथ अपने क्षेत्र को गज-भुक्तकपित्थ की भांति छोड़ा। इनके कारण मानव की दुर्दशा बढी ही, घटी नही। दूसरी ओर औद्योगिक क्रान्ति और प्रकृतिस्थ मानवयूथों का विशाल विस्थापन हुआ और नगरों की मशीनी गति के साथ वृद्धि और स्वार्थी वणिक् वृत्ति के बाजारों का आरोपण हुआ। नगरों और महानगरों के उदय के साथ-साथ कल-कारखानो की यान्त्रिक और पदार्थ-मूलक गाणितिक सभ्यता का विकास भी होने लगा। यन्त्रों और मशीनों की ज्वालामुखी-सी उद्गीरण-निगीरण-क्षमता मे दिनानुदिन वृद्धि आई। अर्थ-तंत्र और बाजारों के लिये राष्ट्रीय

चेतना में शक्ति-संचय, विस्फोटक हथियारों, अस्त्र-शस्त्रों का सुनियोजित विकास और प्रदर्शन होने लगे; शांति और युद्ध, और भी महाध्वंसकारी युद्ध की कड़कती धमकियाँ सुनाई पड़ने लगीं। इन सारी परिस्थितियों में मनुष्य खंडित होता गया। मानव-विखण्डन या अमानवीकरण की (डिह्यूमनाइजेसन) प्रक्रिया का प्रारंभ बहुत पहले से हुआ अवश्य था, पर उपरिवर्णित स्थिति ने उसकी रफ्तार कुछ तेज कर दी। मनुष्य अब या तो श्रम है या क्रय; 'शक्ति' शब्द तो उसमें मशीन औरउत्पादित वस्तु के 'उपचार'-वश या, फिर खुश करने को, जोड़ दिया गया है। 'श्रम' अथवा 'क्रय' दोनों उद्देश्यत: और मूलत: एक हैं—शोषण। दूसरे शब्दों में मनुष्य अपने आप में, अपने से अलग होते जाने की प्रक्रिया में आ फँसा है। मानव का यह आत्मनिर्वासन एक बहुध्रुवीय वस्तुस्थिति है।

हीगेल ने अलगाव के दर्शन का आख्यान किया था। उसकी पुस्तक 'फेनोमेनॉलाजी ऑफ माईंड' में सृजनात्मक विभिन्नता का दर्शन सारत: यह है—मनुष्य अपने मन से संस्कृति और सभ्यता का उद्भव और विकास करता है। परम मन के लिये ये उद्भावनाएँ या कृतियाँ—कला, धर्म, दर्शन, विज्ञान, राज्य, विधि-विधानादि सृष्ट वस्तुएँ—नई वस्तुएँ हैं, विषयगत परम्पराएँ हैं, नई दुनियाँ हैं, जिनमें मनुष्य अपनी आत्मा को भूलता है। अन्तत: ये सृष्टियाँ, उसके मन से बाहर हैं, पर उसके 'स्व' के अंश भी हैं। 'कृति' कर्त्ता से बाहर, अलग इकाई है, (पर कर्त्ता की कृति तो वह है ही)। ऐसी विच्छिन्नता सारी संस्कृति में व्याप्त है। कथन कर मनुष्य कथन में समाप्त है, 'कथन' अब पृथक् सत्ता है। वक्ता अलग है, वक्तृता अलग। वक्तृता या भाषा के नियमादि अलग हैं। फिर, प्रकृति भी तो ईश्वर से बिलगाव है। बिलगाव की यह प्रक्रिया पिता-पुत्र, चिंतन-कथन, प्रस्फुटन-उत्पादन, अर्थात् सृजन-मात्र में व्याप्त भौतिक, दैविक, आध्यात्मिक प्रक्रिया है।

तर्क द्वारा मन फिर अपनी विच्छिन्नता को आत्मस्थ कर प्रकृति से एकमेक होता है और वहाँ से परम मन हो वापस आता है। अर्थात्

स्थिति = तर्क ————→ प्रतिस्थिति = प्रकृति-दर्शन ————→ | संस्थिति =
| |
————————————————————————→ परम मन
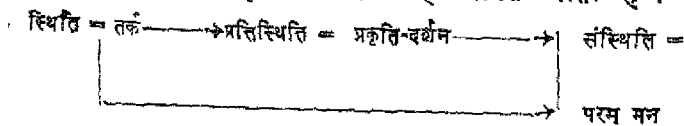
इस चक्रगति में ही हीगेल के द्वारा द्वैधीकरण और एकीकरण की प्रक्रियाएँ प्रकल्पित हैं।

कार्ल मार्क्स ने द्वैध-दर्शन की हीगेलीय 'सृजनात्मक-प्रक्रिया' का विनियोग 'उत्पादनात्मक प्रक्रिया' में किया तथा इस हेतु उसने उसके अध्यात्म-पर्यवसायी प्रत्ययवाद का मुँह उलट दिया। फलतः यह सिरफिरा भौतिकवाद की ओर उसी चक्रगति से अभिमुख हुआ। दूसरे शब्दों मे उसके अनुसार, बिलगाव मन का नहीं होता, मनुष्य का होता है। मनुष्य है तो हीगेल की चेतना; पर उसे मन नहीं है. वह क्रियात्मक चेतना है, बस; यानी श्रम है। मनुष्य को इसी श्रम-रूप में प्रकल्पित कर मार्क्स ने अर्थ के राजनीतिक जगत् मे उसके श्रम के विखंडन का कारण बताया—क्रय; अर्थात् अर्थ-सत्ता, यानी पूंजीवाद, और फिर उस पूंजीवाद के इतिहास को मनुष्य के बिलगाव का इतिहास बता, उसकी धारा पलटने के लिए – ताकि अपने आप से वियुक्त मनुष्य फिर अपने आप में आ जाय—उसने श्रमिक क्रान्ति का आह्वान किया।

पुनः इस शताब्दी के सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र तकनीकी विज्ञान से मनुष्य के विखंडन में तीव्रता आई। व्यावहारिक कौशल तथा तदुद्भूत नैपुण्य का शास्त्रीय, सांख्यिकीय, एवं वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिक गूढ़ अध्ययन कर बड़े पैमाने पर नियम-विधानादि बनाये गये। फिर उनका विशाल विज्ञान बना और विन्यास-प्रणालियाँ बनीं। इस शताब्दी मे प्रविधि-विज्ञान का यह तन्त्र इतना विपुल, विस्तृत और सर्वग्राही हो उठा है कि मानव-जगत् में उसे पिछली क्रान्तियों से अधिक सार्वभौम और सर्वग्रासी माना जाता है।[१३१] **फ्रैंकलीन** ने मनुष्य की परिभाषा 'औजार-निर्माता जानवर' कह कर दी थी। **मार्क्स** ने मनुष्य का लक्षण औजार के सर्जन और उपयोग में देखा और बताया कि औजार आदमी के अंगों में नयी इन्द्रियों का संयोग है।[१३२] शब्द-निर्मित समस्त कृतियाँ चाहे कानून और धर्म-विधियाँ हों, या दर्शन और विज्ञान हों, या कला, काव्य, शास्त्र और साहित्य हों, निर्मित होकर, निर्माता से पृथक् होती हैं और अलग सत्ता और शक्ति रखती हैं। अब उनके पाश में बद्ध निर्माता स्वयं भी छटपटाता है। औजार और हथियार और विज्ञान, कल और कारखाने और ऐटम बम भी निर्मित हो जाने के बाद अपनी सत्ता अलग रखते हैं। वे अपनी दुर्जेयता का निनाद करते हैं। उनके जबड़ों में निर्माता विकल रहता है। **'फ्रैंकेन्सटाइन'**[१३३] की भांति यंत्रचालित तंत्र-दानव ने अपने निर्माता को शायद मार डाला है। एक ओर शिल्प, कौशल, रूपवाद, धनवाद आदि के काव्य एवं कला-विषयक तंत्र उभरते हैं, तो दूसरी ओर

शासन, प्रशासन, मतदानादि के राज-तंत्र, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों, यांत्रिक उत्पादन और विक्रयादि के कूट-तंत्र और अर्थ-तंत्र जोर मारते है। सारा चिन्तन-व्यापार और बाह्य-व्यवहार आज यंत्र-चालित, प्राविधिक, औपचारिक है, इस सांख्यिकी पर आधारित कि 'इतना-इतना' का परिणाम 'ऐसा-ऐसा' होगा ही।[१२४] नारी इस तंत्रीय आँकड़े में या तो 'नर' की भाँति 'वस्तु' है, या 'सन्तान' नामक वस्तु के लिये यंत्र। पुरुष प्रजनन-साधन भर है, यंत्र-चालक मात्र; और रविवारीय अवकाश है राष्ट्र की जनशक्ति-वृद्धि के लिये साप्ताहिक कर्त्तव्य।[१२५] दर्शन रसेल के चिंतन में गाणितिक; कार्नेप के चिन्तन में घनज्यामितिक और मूर एवं विटगेंस्टाइन की प्रणाली मे लोकोक्ति-परक हो कर चिंतनात्मक और भाषिक तंत्र का उपस्थापन कर चुका है। कलाओं और काव्यों मे भी अपने नवविकसित तंत्र तो पूज्य हैं ही, इन विविध-ज्ञानशाखाओं के तंत्र भी।

सारांश यह कि, भिन्न-भिन्न विद्याशाखाओं की निजी प्रस्थान-प्रक्रियाएँ' कौशल, शिल्प, सांख्यिकीय एवं मनोवैज्ञानिक आँकड़े आदि अब शास्त्र से भी महत्तर तंत्र हैं, जिनके सामने मनुष्य अ-मनुष्य हो गया है। तंत्र की चपेट मे मनुष्य की देह आमाशय—गर्भाशय मात्र हो गयी है। शीशियों मे बच्चे तक उत्पन्न अथवा उत्पादित किये जा सकते हैं और कृत्रिम गर्भाधान सहज-सा हो उठने वाला है। शताब्दी के उत्तरांश मे उद्भूत आकलन-यंत्र, गाणितिक यंत्र, तर्कणा-यंत्र, समस्या-निदान-यंत्र आदि के आविष्कार मनुष्य के मस्तिष्क पर तंत्र का आक्रमण है। नीत्से का 'सुपरमैन' मनुष्य-रूप मे नहीं महाविकराल तंत्रवाद के रूप में उपस्थित हो गया लगता है।[१२६]

दूसरी ओर, आइन्स्टाइन के सिद्धान्तों ने सृष्टि का नक्शा बदल डाला है। नक्षत्रों का ही ससार नहीं, अनेकानेक सौर-मंडलों के, विराट् सृष्टियों के आलय आकाश मे बताए गए हैं, जिनके हजार-हजार गुणा बड़े सूर्य हैं; और काल सतत है। इससे मानव के सामने ज्ञान का अपार भंडार खुला, पर साथ ही उसे अपनी नगण्यता का बोध भी हुआ। अमानवीकरण की इस प्रक्रिया को रुद्ध करने के लिये तथा मनुष्य को पुनः एक अखण्ड सत्ता में अधिष्ठित करने के लिए आधुनिक युग में नाना चिंतकों ने अपने-अपने सिद्धान्त दिए हैं।[१२७] अस्तिवादी दार्शनिकों मे किर्केगार्ड ने समूह का प्रत्याख्यान कर, जैस्पर्स ने राजतंत्रगत मानव के यांत्रिक विलयन का विरोध कर, मार्सेल ने जीवन के

अति सामाजिकीकरण एवं शासनयन्त्र के शक्ति-वर्धनादि का खंडन कर परतंत्र मानव के छुटकारे के लिए दर्शन दिये और सार्त्र ने व्यक्ति-मानव की मुक्ति का तथा उस मुक्ति के अनुभव का दर्शन और साहित्य प्रस्तुत किया। बर्दीएव ने आगे बढ कर 'मुक्ति' की सत्ता का दार्शनिक निरूपण भी किया। अस्तिवाद संघर्ष और उपप्लव का दर्शन है, मनुष्य और जाति एव राष्ट्र के अबाध विखडन और सर्वग्रासी विनास के त्रास से मुक्ति का दर्शन है।[१३८] यह दर्शन सिद्धान्त-स्थापन मात्र नही। कार्ल जैस्पर्स के अनुसार सैद्धान्तिक मतादि देने वाला दार्शनिक ऐसा आदमी है, जो एक दुर्ग तो बना लेता है' पर रहता है पड़ोस की झोपड़ी में। ऐसा विचक्षण जीव स्वय उस विचार मे नही जीता। सत्य का वास्तविक दर्शन यह है कि वह अनिवार्यत प्रेषणीय हो।[१३९]

डेकार्ट से लेकर हीगेल तक के दार्शनिकों ने बताया था—विचार ही सत्ता है।' किर्केगार्ड ने कहा, 'आदमी अपनी चेतना को चीर कर पार नही उतर सकता। अतएव आस्था ही सत्ता है, विचार नही।' नीत्से ने कहा—'शक्ति ही सत्ता है।' किन्तु इन दोनो को अकेलेपन का त्रास जीवन भर सताता रहा। किर्केगार्ड कहते थे—'धर्मबोध ने मुझे त्याग दिया है मुझे लगता है कि बच्चो के खेल का मैं कीडा हूँ, 'अस्ति' का वैसा ही मुझसे व्यवहार हो रहा है—मैं एक अकेला अंजीर-तरु ,हूँ अहंकार द्वारा पृथक्कृत.. छाया तक से विरहित, मात्र एक जगली चिड़िया उसपर घोसला बनाती है।' और नीत्से का कहना था, 'खाई के कगारे पर खड़े इस अंजीर के वृक्ष की तरह मैं हूँ; अकेला। कौन होगा मेहमान इस एकाकी का? शायद कोई शिकारी चिडिया इसके आल-जाल में आ फँसे।' और दोनों ने विचार के भावन पर इतना बल दिया कि नीत्से ने बताया—मैं ने अपने को विचारों की सेवा-निष्ठा में नाचना सिखलाया है।' इस प्रकार अकेला 'वृक्ष' और 'आत्मध्वननात्मक नृत्य' इन दोनों ने समान रूप से प्रस्तुत किया, किर्केगार्ड ने अनुकूल वृत्ति द्वारा, नीत्से ने प्रतिकूलवृत्ति द्वारा। दूसरे शब्दो में 'अस्ति' 'नास्ति' के द्वन्द्वमूलक अस्तिवादी दर्शन में चिंतन और कला-काव्य-सर्जन को एक माना गया है; अर्थात् 'जीवन = जीना = रचना' ऐसा समीकरण प्रस्तुत किया गया है।

'अस्तित्ववाद' : ईश्वर की मृत्यु और अकेलेपन के अहसास के बदलते मुहावरे

दार्शनिक मैक्स स्ट्रिनर ने (१८०६-१८५६) 'दि इगो ऐंड हिज ओन' ग्रंथ में 'मैं' को सार-तत्त्व माना है—'मैं बहुत सारे 'मैं' में से एक नहीं, केवल और एक मात्र मैं।' हीगेल ने भी घोषित किया था कि व्यक्ति स्वयं अपना उद्देश्य होता है। अपने अद्वितीयत्व का यह बोध धीरे-धीरे शॉपनहावर के नैराश्य-मूलक इस दर्शन से जुड़ा कि मृत्यु एक अनिवार्यता है तथा जीवन अंध शक्ति की पीड़ा (विल) और मृत्यु के अवसाद के बीच झूलता हुआ 'पेंडुलम' भर है। फिर वह नीत्से की वैकल्यमूलक इस विचारधारा से युक्त हुआ कि 'ईश्वर मर गया है' 'अतिमानव का जन्म होगा'। किर्कगार्ड के 'अस्ति'-सम्बन्धी युगान्तरकारी चिन्तन में इसका विकास हुआ जो आगे चलकर 'अस्तित्ववाद' के रूप में परिभाषित हुआ। इसकी धारणा है कि दुश्चिन्ता से युक्त नैराश्य-पूर्ण, अनैतिक जीवन के लिए मृत्यु चरम सम्प्राप्ति है। 'अस्ति' ऐसे जीवन के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष है, क्योंकि 'अस्ति' सत्ता' से महत्त्वपूर्ण है। 'अस्ति' के विकास के तीन चरण हैं—१. ऐन्द्रिय, जहाँ व्यक्ति विषय और विषयी की द्विधा में झूलता रहता है; २. नैतिक जहाँ व्यक्ति को चुनाव के द्वैत के बीच दोलित रहना और चुनाव करते ही पूर्ण 'अस्ति' के मरण-दंश को भोगना पड़ता है, तथा ३. आध्यात्मिक, जहाँ व्यक्ति आस्था के उदय के उपरान्त शुद्ध 'अस्ति' का साक्षात्कार करता है। किर्कगार्ड के अस्तित्ववादी दर्शन का विकास १. आस्तिक, यथा—हर्सल, जैस्पर्स, मार्सल आदि में और २. नास्तिक, यथा—सार्त्र आदि के दो वर्गों में हुआ। हेडेगर को सार्त्र नास्तिक मानते हैं अन्य लोग आस्तिक।

अस्तित्ववादियों मे आलबेयर कामू (१९१३-१९६०) और सार्त्र (१९०५-) संसार-प्रसिद्ध साहित्यकार भी हैं। उनकी रचनाओं के प्रभाव समस्त साहित्य और जीवन-दृष्टि, प्रयोजन, काव्यादि की चित्रण-अभिव्यंजन-कला, भाषा-शैली आदि पर बड़े गहन और व्यापक रूप में पड़े हैं। उनकी रचनाओं के मुख्य स्वर हैं—अकेलेपन की ऊब और पीड़ा अथवा आत्म-निर्वासन का त्रास, जीवन की निरर्थकता, मनुष्य की विसंगत, अन्तर्विरोधी स्थिति, अन्तर्विरोध सघन करने वाले सम्पूर्ण विवेक एवं परम्परादि से मुक्ति के लिए विकलता, विद्रोह की अनिवार्यता और परम्परित जीवन का त्याग, न-कार की स्थिति, अवसाद, तनाव, दुश्चिन्ता और

आत्महत्या के दंश अथवा मृत्यु-पीड़ा के नैरन्तर्य से छुटकारे के लिए प्रयत्न आदि। रचनाओं की केन्द्रस्थ अवधारणा है—मानव-मुक्ति। मुक्ति के अवरोधक हैं—देश, काल, परिवेश, 'स्व' से इतर समस्त 'अन्य' और मृत्यु। अतः अस्तिवादी रचयिता देशगत, कालगत, परिवेशगत समस्त सीमाओं, प्रतिरोधों, वर्जनाओं, संस्कारों-परम्पराओं, मान्यताओं, सभ्यता-संस्कृति के आडम्बरों, कथन-भंगिमाओं, शिल्प-शैलियों आदि को 'नास्ति' मानता और उनको ध्वस्त करता है। तभी मुक्त और उद्दाम संकल्प के प्रवाह में शुद्ध 'अस्ति' की सम्प्राप्ति हो सकेगी। अतएव, यह प्रवृत्या सतत संघर्ष और अवसादपूर्ण संकट का नकारात्मक दर्शन है।

हिन्दी काव्यधारा पर प्रभाव—भारत में ऐसी घटाटोप निराशा छायावादी युग के पूर्वार्ध में नहीं व्यापी थी। मानवीय जीवन की पवित्रता प्रायः अक्षुण्ण थी, धर्मादि पर आस्था भी थी और गाँधी जी आदि के महिमामय व्यक्तित्व ने तथा जन-मानस के समक्ष सतत प्रज्वलित स्वाधीनता-संग्राम के निश्चित लक्ष्य ने लोकचेतना को बिखरने, बुझने और समाप्त हो जाने नहीं दिया था, ऐसा अस्तिवादियों ने भी स्वीकार किया है।[१४]

छायावादी युग के उत्तरार्ध से हिन्दी काव्य-धारा पर इसका प्रभाव दिल्ली, इलाहाबाद, कलकत्ता आदि नव-औद्योगीकृत महानगरों के बुद्धिजीवी मध्यमवर्ग के स्वतंत्रचेता मेधावी साहित्यकारों पर प्रथमतः पड़ना शुरू हुआ, जहाँ से धीरे-धीरे इसका संचार अन्य क्षेत्रों में भी फैलता गया। ऐसा क्यों हुआ? इसके उत्तर में सिर्फ विदेशी बौद्धिक प्रभाव और महायुद्धों की ऐटमी सर्वनाश के आतंक को पेश करना भ्रामक होगा, क्योंकि स्वतंत्रता के बाद भारत स्वयं कई प्रकार के विद्रूपों, विसंगतियों, न-कारों और खोखलेपन के नाटक से गुजरता गया है, जैसे कि स्वतंत्रता का अर्थ देश-विभाजन और अहिंसा का परिणाम भयंकर भ्रातृवध और गाँधी जी की हत्या; अखंड सम्पूर्णता और शक्तिसम्पन्नता के दंभ पर कश्मीर-समस्या का करारा व्यंग्य; 'पंचशील' के शील-भंग और भारत की बेपनाह लाचारगी, राष्ट्र-द्रोही और राष्ट्र-नेता के एक-जैसे रूप और उनके प्रति सत्ताधीशों के रुख और व्यवहार में शक्ति-समीकरण, ध्रुवीकरण और मतदान की राजनयिक-कूटनीतिक भाषा में प्रतिक्षण बदलते हुए न-कारात्मक अंदाज; असम्पृक्तता और पक्ष-निरपेक्षता के दृढ़ीकरण हेतु जनबल, सैन्यबल, आत्मबल के विकास के स्थान

पर पक्षधरता; तथा स्फीत मुद्रा की आर्थिक, केन्द्र और राज्य-सरकारों की शासन-व्यवस्था-सम्बन्धी प्रशासनिक और नेताओं-पूंजीपतियों के नैतिक खोखलेपन आदि के ऐसे दृश्य रहे हैं, जिनके फलस्वरूप नगर का गाँव से, गाँव का पशु-चारण और कृषि-प्रधान संस्कृति से, परिवार का कुल-परम्परा से, मनुष्य का कुनबे और ममतामय घर से तथा व्यक्ति का अपने आप से पुश्तैनी लगाव टूट-फूट गया। महसूस होने लगा कि 'आत्मा कहीं विभक्त हो गई है' और मानव-मस्तिष्क में 'परिनिष्ठता और एकरूपता' आ रही है। आत्मा के विभाजन को व्यक्त करने के लिए नयी आध्यात्मिकता की एवं मानवीय एकीकरण को जन्म देने के लिए नये प्रकार की कविता की अपेक्षा थी। 'तार सप्तक' से लेकर, अथवा कहें 'निराला' की कुछ रचनाओं से लेकर 'अ-कविता' तक की काव्यधारा में 'आत्मा के विभाजन' को व्यक्त करने, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में मानव व्यक्तित्व के तेजी से एकरूप और जड़ कर दिए जाने के यांत्रिकीकरण, अमानवीकरण की तेज प्रक्रिया का विरोध करने के तथा नवीन आध्यात्मिक, वैचारिक और मानवीय एकीकरण लाने के प्रयास किए गए हैं। अतएव मानवीय विपन्नता और उसकी त्रासद पीड़ा के जो बिम्ब-प्रतीक उनमें हैं, वे 'विदेशी सर्दी की भारतीय छींक' मात्र नहीं हैं, पाला मारे हुए यहाँ के वातावरण के भी कारण हैं। नई कविता का कवि जब, भारतभूषण के 'प्रसंगवश' के शब्दों में कहता है—'नया कवि इस विभीषिका का दर्शक नहीं, भोक्ता भी है, और वह चीखने को मजबूर है', अथवा 'अज्ञेय' के शब्दों में —

यों बीत गया सब। हम मरे नहीं, पर हाय। कदाचित् जीवित भी हम रह न सके।"

पश्चात्ताप करता है, अथवा कैलाश वाजपेयी के 'देहान्त से हटकर' के मुहावरे में बताता है—'आज का आदमी अब वह होने के लिए विवश है जहाँ मृत्युदंश तो भरपूर है, किन्तु मृत्यु नहीं है। जिन्दगी तो है, पर जिन्दा होने का एक भी लक्षण नहीं है। बीसवीं सदी का सबसे भयावह तथ्य यही है कि निर्वैयक्तीकरण की प्रक्रिया में तनाव के संक्रान्त-बिन्दु पर पहुँच कर आदमी मर नहीं पाया, अव्यक्ति हो कर स्नायुघात से ग्रस्त है।'—तब वह अपने यहाँ के आदमी का बखान करता है, भले ही उसका अर्थ वहाँ भी चस्पा हो जाय जहाँ ऐसी ही नियति हो। अर्थात्, वह भारतीय उदाहरण द्वारा अस्तित्ववाद के दर्शन का हामी नहीं भरता, वस्तु स्थिति का भी अनुभव

करता है। वस्तु स्थिति ? हां, वस्तुस्थिति जो गिरिजाकुमार की दृष्टि मे है—

आविष्कारों के सुख साधन सब अस्त्र बन गए शोषण के,
दुख, दोहन, अनाचार इसलिए कि रुकता नहीं कभी गति का पहिया। —धूप का धान

और वस्तुस्थिति, रघुवीर सहाय के शब्दों मे यह कि—'लोकतन्त्र—मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमे इन्सान की शानदार जिंदगी और कुत्ते की मौत के बीच चांप लिया है।' अतएव कुँवर नारायण जब ससार को इस प्रकार पाते हैं —

'कितना खामोश है मेरा कुछ आसपास, कितनी बेख्वाब हैं सारी चीजें उदास,
चीजें ही चीजें हैं, चीजें बेजान है, लगता है बैठा हूँ भूतों के डेरे में,
सदियों से दूर किसी अन्धे उजियाले में'

और केदारनाथ सिंह जब यह बताते हैं कि —

मगर उसे जब देखता हूँ, देखा नहीं जाता है।
लौटते हुए पथ में निश्चय कर लेता हूँ— आज उसे चल कर ललकारूँगा।
लडूँगा, पछाडूँगा, लेकिन जब आता हूँ पाता हूँ उसी तरह
मेरी प्रतीक्षा में द्वार पर खडा है वह मेरे हाथों से संकल्प छूट जाता है।

तब वे मनुष्य के टूटने के, 'चीज' हो जाने और द्विधा-त्रिधा विभक्त होने के वर्णनों मे अपने आन्तरिक वैकल्य का ही प्रकाशन करते हैं। 'टूटा हुआ पहिया' (कुँवर नारायण) या 'टूटी हुई तलवार' अथवा 'पॉकेट में बन्द मुट्ठी' (धर्मवीर भारती) अथवा 'एकदम बेकार था हम सब का कविता में चीखना' (कैलाश वाजपेयी) आदि मुहावरों मे भी वही बात है—मनुष्य की निरर्थकता और बेचारगी; यानी 'अस्ति' का 'नास्ति' के विकट व्यूह से निरन्तर संघर्ष करते हुए भी बे-मानी हो जाना। यह नक्शा 'होने और 'न-होने' के जग का है, जो आदमी की विवशता की ओर से खींचा गया है। इनसे भिन्न निम्न कविता में त्रास भी है, और उससे निकलने के लिए छटपटाहट भी —

कल तक जो रक्षा-जल था उस खाई जल में छायाएँ तल जा बैठी है।
हम नहीं हमारा संशय उनमें प्रतिछायित हैं··· पितामह के तैल चित्र शव से गँधियाते
साँझ प्रलम्बित भाले ले कर भय दीवारें टोप रही हैं खाईजल के षड्यन्त्री को
बध देने का खड्ग हाथ में किन्तु नहीं संकल्प— और
स्वयं में बैठे संशय का बध कैसे होगा ? कैसे होगा!

—नरेश: जितने जल उतने ही संकल्प।

फिर निम्न कविता में इसका दूसरा पक्ष उजागर हुआ है—

दुहरे व्यक्तित्वों के चेहरे पर भरभराद संशय, भय, नफरत की
मेद झिल्लियाँ विराट निकलेगा व्यक्ति नया
सूरज के टुकडे-सा छोड अन्यायों की
शीश पर खिंची दरार। —गिरिजा कुमार शिलापंख चमकीले

इन कविताओं के शब्द-चयन और उनके द्वारा उद्भावित रूपक, प्रतीक आदि में भी नवीनता है। मानव-जीवन की घुटन के तीखे बिम्बों के साथ-साथ अनास्था के भी उग्र, निरीश्वरवादी, अपरम्परावादी और पुनः, सहज आस्थावादी बिम्ब आज की कविता मे मिलते हैं और उन सब के मुहावरे, स्वर आदि अलग-अलग हैं,

यथा —

अनास्था और निरीश्वरवाद—

जीवन का ज्ञान है सिर्फ जीना मेरे लिए इससे विराट् चेतना की अनुभूति अकारथ है,
—दुष्यंत कुमार: आवाजों के घेरे

उस दिन जो अन्धायुग अवतरित हुआ जगपर बीतता नही वह रह-रहकर दोहराता
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं-न-कहीं हर क्षण अँधियारा गहरा होता जाता है।
—भारती : अंधायुग

रात मैंने एक स्वप्न देखा है मैंने देखा
कि मेनका अस्पताल में नर्स हो गई है और विश्वामित्र ट्यु शन कर रहे हैं
उर्वशी ने डांस स्कूल खोल दिया है नारद गिटार सीख रहे हैं
गणेश टॉफी खा रहे हैं—
—भारतभूषण : ओ अप्रस्तुत मन

मैं भग-वान् श्रीराम नहीं हूँ
मैं शिश्न-वान् श्रीराम हूँ
—श्रीराम शुक्ल : पौराणिक उत्तेजना

देवत्व और आदर्शों के परिधान ओढ़ मैंने क्या पाया ! निर्वासन !
प्रेयसि - वियोग ।। हर परम्परा के मरने का विष
मुझे मिला हर सूत्रपात का श्रेय ले गए और लोग
मैं ऊब गया हूँ इस महिमा-मंडित छलसे। —दुष्यंत कुमार : एक कंठ विषपायी

अपरम्परावाद—

धर्म और दर्शन के खेत में जो भी उग सकता था उगा कर खा गए मेरे
पिता और पितामह
—कैलाश वाजपेयी

कथन से कर्म तक एक साथ साधक भी शासक भी
दयासिन्धु हत्यारे धूर्त ललनाकांक्षी भी
ऐसे पुरुष (महा) मेरे ही पिता होने थे अहा !
ग्राम-जीवन से नगर जीवन में आकर यह ज्ञान हुआ
—कैलाश वाजपेयी : देहान्त से हटकर

निरर्थकता—

गलियारे उतने ही लम्बे हैं, हवा उतनी ही बेहया
पेड़ उतने ही फालतू। हर रास्ता परलोक जाता है। फिर दीवारें हैं उनके आगे
दीवारें हैं उनके भी आगे उनके पार जहाँ आदमी का कूबड आदमी
से बड़ा है, एक इमारत है। रंग हरा हो या काला क्या अर्थ है ? न भी हो तोकुछ नहीं।
—मणिमधुकर : अस्त होने के बाद

हजारों सालों से सूरज मरा हुआ पड़ा है हजारों सालों से आकाश की छाजन चू रही है।
हजारों सालों से लोग मरे हुए पैदा हो रहे हैं —दूधनाथ सिंह : मुझे इस धरती को
पढ़ने से डर लगता है

गाली देना हम पर थूकना कि पशु परिस्थितियों के बीच भी
हमने उम्र काट दी हत्या किए बिना कि एकदम बेमानी था
हम सबका कविता में चीखना।

—कैलाश वाजपेयी

यानी कि आप ही देखें कि जो कवि नहीं है
और आप कहते हैं कि कविता की है,
अपनी एक मूर्ति बनाता हूँ और ढहाता हूँ,
क्या मुझे दूसरों को तोड़ने की फुर्सत है ?

—रघुवीर सहाय : आत्महत्या के विरुद्ध

इनमे ईश्वर, धर्म, पौराणिक परम्परा, पैतृक बंधन, पारिवारिक श्रद्धा और ममत्व-भाव, समस्त भौगोलिक प्राकृतिक परिवेश आदि को, यहाँ तक कि अपनी रचना 'कविता' को भी निरर्थक बताया गया है। अनास्था के ये स्वर जिस भाषा मे व्यक्त हुए हैं वह भी तीखी धार की है, बेमुरव्वत और आलोचनात्मक है। इनसे भी तेज-तर्रार मुहावरे इधर के युवा-कवियों की आक्रामक कविताओं मे उभर रहे हैं —

झुंड के झुंड गदहों की
मैं सोचता हूँ कि
चीपों ! चीपों के नारे लगाते देख कर
आदमी की दुम कहाँ गई !

—ओम प्रकाश चतुर्वेदी : कंधे छिलते गए

१ सुअर पैदा हुआ
१०० सुअर पैदा हुए
१००००० सुअर पैदा हुए
१० सुअर पैदा हुए
१००० सुअर पैदा हुए
सारा महानगर बन गया सुअरों का बाड़ा।

—सतीश जमाली : एक और नंगा आदमी

आज के बेपनाह और गुमराह किए गए आदमी की कतार की कतार भीड़ पर व्यंग्य की इस तोपबाजी शैली में आवाज और चोट जितनी भी जबरदस्त हो, संभावना और सह-भाव का अभाव है, सद्भावना तो बहुत दूर की बात है। किन्तु आस्था और सहानुभूति की भी सहज समावेशी भाषा-शैली विकसित करने वाले कवि हैं —

न सही यह कविता
यह कि मैं घोर उजाले में खोजता हूँ
यह मेरे हाथों की छटपटाहट सही
आग —

—रघुवीर सहाय : आत्महत्या के विरुद्ध

युद्ध मेरा मुझे लड़ना
सिर्फ मेरे ही लिए यह व्यूह घेरा
इस महाजीवन सफर में अन्त तक कटिबद्ध
मुझे हर आघात सहना ''

—कुँवर नारायण : पैतृक युद्ध

अब तक क्या जिया !
उदम्भरि बन अनात्म बन गए
किसी व्यभिचारी के बन गए बिस्तर
जीवन क्या जिया !!
भूतों की शादी में क़नात से तन गए
दुखों के दागों को तमगों-सा पहना ''

—मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है

चेतना की नदी
मैं आत्मविभोर
और मेरे प्यार में
बहती जाय तेरी ओर
अलग हूँ पर विरह की धमनी
ओ हृदय के आलोक मेरे
मौन तेरे ध्यान में
तड़पती लिए स्पंदित स्नेह
वेदना की कोर ...

—अज्ञेय : बावरा अहेरी

पर मैं जी रहा हूँ निडर   जैसे कमल   जैसे पंथ   जैसे सूर्य
क्योंकि   कल भी हम खिलेंगे   हम चलेंगे   हम उगेंगे
और –   वे सब साथ होंगे   आज जिनको रात ने भटका दिया है।

—धर्मवीर भारती : सात गीत वर्ष

अज्ञेय, गिरिजा कुमार (धूप के धान आदि) नरेश मेहता (मेरा समर्पित एकांत) धर्मवीर भारती, प्रयाग नारायण, विजयदेवनारायण साही, सर्वेश्वर दयाल, केदारनाथ सिंह, कुँवर नारायण, रघुवीर सहाय आदि की अनेक रचनाओं में उभरते विश्वास के सहज, स्निग्ध बिम्ब और प्रांजल भाषा के उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता लगता है कि उन्होंने अपने संतुलन और मुहावरे पा लिए हैं।

अकेलेपन का बोध आज के प्रबुद्ध मनस्वियों को भी हो रहा है, मध्यवर्ग को भी और साधारण लोगों को भी। इसके अध्यात्मिक-दार्शनिक, वैज्ञानिक-बौद्धिक, सामाजिक-पारिवारिक, राजनैतिक-औद्योगिक, शिल्प-शैलीगत विविध कारण, पहलू और प्रकार हैं। सब में टूटने-तोड़े जाने, विस्थापित होने-किए जाने, नगण्य और निरर्थक समझे जाने के प्रति तीखे संक्षोभ हैं, पर साथ ही वैसा ही करुण दैन्य कि अमानवीकरण को रोक सकना 'व्यक्ति' के बूते की बात नहीं। नियति की क्रूरता के त्रास के साथ-साथ ऐटमी महानाश की विभीषिका, निरंकुश तंत्रवाद की भीति और व्यक्ति के विशाल ज्ञान का त्रास और निरर्थकता का अहसास आदि आज मनुष्य को एकदम अकेला बना रहे हैं।

हमने जो कुछ भी अब तक सहा   वह बहिश्त का सुख नहीं
जंगली सुअर का   अकेलापन है।   —हरिनारायण व्यास

इस कथन में विद्वेष है, तो निम्न में दैन्य —

सगी आगे बढ़ते ही, मैं स्वयं हाय ! बन गया पराया   —भारतभूषण

अमानवीकरण की विवशता के निम्न बिम्ब में पाश्चात्य यांत्रिक सभ्यता के उपादान हैं —

मैं निरा बिलायती स्पंज हूँ   मेरे प्राण रिक्त और छिद्रमय
उनमें कहाँ है रस   उनमें कहाँ है स्रोत ।
मैं तो बाहर के जीवन को सोखकर फिर उगल देता हूँ
सो भी तब जब कोई आकर निचोड़े मुझे। ...
अपनी बनावट से मजबूर   मैं मशीन-युग का मात्र एक छोटा यंत्र
योग नहीं, हो तो उपयोग भले मेरा हो।

—भारतभूषण

और निम्न बिम्ब की अदायगी का अंदाज एकदम दूसरा है —

एक अदृश्य इमारत मेरे ऊपर पड़ी है जो 'नहीं है' उसके बोझ से
मैं दब गया हूँ। एक अदृश्य नदी मुझ पर फैल गयी है,
जो 'नहीं होगा' उसकी धार में मैं बह रहा हूँ एक अदृश्य सड़क
मेरे नीचे से निकल गई है जो 'नहीं था' उसकी चोट में मैं कुचल गया हूँ।
—सर्वेश्वर दयाल : दुर्घटना

निश्चय ही 'नहीं है' 'नहीं होगा' 'नहीं था' के नहियों के काल्पनिक अभाव से ग्रस्त आदमी पर यह व्यंग्य है और कवि का उद्देश्य 'है' 'होगा' 'था' में संयोग बैठाने का है; पर यह संयोग घटित होता नहीं। आदमी दब जाता, बह जाता, कुचल जाता है—यही उसका क्रूर अमानवीकरण है। दूसरे शब्दों में—

यह एक ठंडे तेजाब का समुद्र है जहाँ डूबे बिना ही गल जायेंगे
कुछ थोड़े दिन हाथ पर मारेंगे और वे बैठे हैं जो बहते हिमखंडों पर
वे भी कितने दिन बच पायेंगे?
—कैलाश वाजपेयी : विवर यात्री

इस सामूहिक मृत्युबोध का दूसरा स्थिर रूप और भी तीखा है —

तुम मौत को नहीं पहचानते चाहे वह आदमी की हो
या किसी देश की ... सब धीरे धीरे ही होती है ...
उस देश को मैं क्या करूँ जो धीरे-धीरे लड़खड़ाता हुआ
मेरे पास बैठ गया है।... धीरे-धीरे कुछ नहीं आता
सिर्फ मौत आती है, धीरे-धीरे कुछ नहीं मिलता
सिर्फ मौत मिलती है, मौत —
धीरे-धीरे एक क्रान्ति-यात्रा शव-यात्रा में बदल रही है।
सड़ाँध फैल रही है —
—सर्वेश्वर दयाल : धीरे-धीरे

अकेलापन, आत्म-निर्वासन, मृत्यु-दंश आदि के तेजाबी बिम्ब और उनकी अभिव्यंजना के विविध मुहावरे धीरे-धीरे पयार भी होते गए हैं; यथा —

है मुझे स्वीकार मेरे मन, अकेलेपन, परिस्थिति के
सभी काँटे जिन्हें मैं आज सह लूँ। —कुँवर नारायण

एक दिन मेरे जीवन को छा लेंगे – ये मेरे महत्त्व ...
जिससे मैं जीवित हूँ मुझ पर टूट कर तब आकर बरसेगी मृत्यु, मैं प्रतिकृत हूँ।
पर मैं जियूँगा। इसी नगर में रहूँगा। रूखी रोटी खाऊँगा
और ठंडा पानी पियूँगा। क्योंकि मेरा एक और जीवन है और उसमें मैं अकेला हूँ
—रघुवीर सहाय : सीढ़ियों पर धूप में

याद रखो कभी अकेले में मुक्ति नहीं मिलती
यदि वह है तो सबके ही साथ है। —मुक्तिबोध : चम्बल की घाटी में

'यह दीप अकेला' को 'गर्वभरा मदमाता' बना कर, फिर एक हल्के दर्द के साथ किन्तु साधिकार उसे 'पंक्ति को दे दो' कहने वाले अज्ञेय में अकेलेपन के प्रति समर्पण-भाव है। अशोक वाजपेयी ने 'फिलहाल' में ठीक ही

बताया है—अज्ञेय को बुनियादी रूप से अपने नितात अकेले होने का अहसास है और वे उससे कविता के माध्यम से परे जाने की कोशिश करते हैं ··· धीरे-धीरे ···· आरंभिक गर्व बिल्कुल ही गायब-सा हो जाता है और उसका स्थान उल्लेखनीय विनयशीलता ले लेती है। 'सभी सर्जन आँचल पसार कर लेना है।'— यह कृतज्ञता और विनयशीलता अज्ञेय के अकेलेपन को 'डिह्यूमनाइज' होने से बचाती है ···· उनका अकेलापन जैसा कि वह कविता मे उजागर होता है, वैभवपूर्ण है।'

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध के बाद जीवन की विरूपताओं और असंगतियों का कवियों-कलाकारों को ऐसा तीखा अहसास हुआ कि अभिव्यंजन के समस्त पुराने माध्यम, शैलियाँ और 'वाद' टूटने लगे हैं और भाषा का व्यापक अवमूल्यन हुआ है। फलस्वरूप शब्दों के रूढ़ और प्राचीन रूपों के अर्थध्वस के लिए बड़े पैमाने पर प्रयोग शुरू किए गए हैं और नयी काव्यभाषा का अन्वेषण वैज्ञानिक विधि पर किया जा रहा है। अतएव आधुनिक काव्यभाषा में वैचारिक स्पष्टता, वैज्ञानिक निःसगता फिर भी मानवीय रागबोध के सहज बिम्बों की रचना वैयक्तिक प्रायोगिकता के धरातल पर की जा रही है।

बर्ट्रेंड रसेल ने इस युग के मूल में रहने वाले विज्ञान की सत्ता को सर्वोपरि और युग-जीवन को आच्छादित करने वाला बताया है। उनके अनुसार विवेकाश्रित, खण्ड-सत्तात्मक, तात्कालिक, संभवनीय और प्रयोगात्मक विज्ञान के युग मे मनुष्य की चित्तवृत्ति ऐसी हो गई है कि वह प्रकृत्या-प्रवृत्या आस्थावान्, सत्तानिष्ठ, शाश्वत, निश्चयात्मक, सर्वग्रासी सत्यतामूलक और धर्मपरक मध्ययुगीन चित्तवृत्ति से भिन्न है। [१४१] व्यक्ति को अब स्व-चेतना अर्थात् अपने दिमाग पर ही विश्वास है—यदि विश्वास हो, तो। अतएव प्रायोगिकता, नीति-निरपेक्षता, निरंकुश स्वच्छन्दता और स्वायत्तता की भावना और ठंढे तर्क-दर्शन से प्रेरित आज के कवि के हाथों में पड़कर भाषा-संस्थान, रूप-विन्यास, काव्य-कथ्यादि एकदम लचीले और तरल हो रहे हैं। दूसरे शब्दो में, जैसा कि पृष्ठ २८८ पर उल्लिखित है इलियट ने बताया है कि आधुनिक चित्त में विचारों के अंतिम छोरो तक को समझ लेने और पेचीदगियो की आखिरी हद तक को पकड़ लेने की ताकत आ गई है। काव्यभाषा उसीका प्रतिफलन है।

दूसरी ओर डॉ० राधाकृष्णन ने बताया है कि मनुष्य की यांत्रिक प्रवीणता के कारण दुनिया के दूर-दूर के भाग पास आ चुके हैं। हमारी पीढ़ी का परम कर्त्तव्य है, बढ़ती हुई विश्वचेतना को एक आत्मा प्रदान करना, विश्वात्मा की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक आदर्श और संस्थाएँ विकसित करना।[१४१]

तीसरी ओर केन्नेथ बोल्डिंग और रुथनन्द आन्सेन ने स्वतंत्रता के साथ अ-स्वतंत्रता की सत्ता को भी बरकरार रखने का तर्क दिया है। सत्य का जो अंश तामसी या कालिमा कहलाता है, उतना ही अपरिहार्य है, जितना मनुष्य का आत्मोत्थान। मनुष्य और प्रकृति के, काल और देश के एवं इसी प्रकार के बहुत सारे जो झूठे विभेद हैं, वे ढाह दिए जा रहे हैं।[१४२] नये मनुष्य का, विश्व-मानव का रूप उभर रहा है जिसमें ध्रुवान्तताएँ संतुलित और समाहित हैं, होनी चाहिए।

नई कविता की भाषा में आधुनिक मानव की चित्तवृत्तियों की तीनों विशेषताएँ — वैज्ञानिक प्रायोगिकता, नवीन आदर्श का अन्वेषण और समावेशी औदार्य के तत्त्व —दिखाई पड़ते हैं।

पिछले पृष्ठ २८७ पर काव्यभाषा के सम्बन्ध मे जो तीन समस्याएँ उठाई गई थी, उनके समाधान पृष्ठ ३०९-१० पर सारतः तथा आगे के पृष्ठों पर विशेषतः दिए जा चुके हैं। अब रही चौथी समस्या। काव्यभाषा नितांत गत्वर तत्त्व है और यह साफ है कि आधुनिक युग की वैज्ञानिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक आदि उपलब्धियो और अनुसधानों के त्वरित वेग के कारण जीवन-जगत् के आयाम, मूल्यबोध और मानवीय संवेदनादि मे आमूल और सर्वग्रासी परिवर्त्तन आया है जिसे अनुभूत करने-कराने के लिए भाषागत माध्यम मे 'तार-सप्तक' से लेकर 'अकविता' तक के कवियों ने 'अनवरत अन्वेषण' किया है। पिछले पृष्ठों पर उद्धृत कवियों की रचनाओं से यह संकेत तो मिल ही जाता है कि उनकी दृष्टि, संवेदनशीलता, कथन-भंगिमा और मुहावरे गढ़ने के अंदाज कुछ इतने साहसिक, शक्तिशाली और लोक-सम्पृक्ति मे उत्तरोत्तर उदार होते गए हैं कि काव्यभाषा युग की तीव्र और निष्ठुर गतिशीलता, इन्द्रियों के सह-बोध और विषम विचारों के सह-अस्तित्व के भार को संभाल सकने मे और उनको 'शब्द' दे सकने में उत्तरोत्तर समर्थ होती जा रही है। मूल्यों के विघटन और अमानवीकरण के त्रास को

वह झेल और भोग सकी है, तथा मानव को उसका अहसास विश्व-मानव के बड़े पैमाने पर फैला कर करा सकी है। त्रास और संकट से मुक्ति का पहला कदम है परिचय, दूसरा सम्पृक्ति और तीसरा उत्तीर्णता। पिछले पचीस वर्ष की कविता में कवियों के द्वारा भाषा के माध्यम से उठाए गए दो कदम तो साफ दिखाई पड़ते हैं, कुछ कवियों में तीसरा चरण भी उठा हुआ-सा दीखता है। यह बात ठीक है कि इस शताब्दी में विश्व का इतिहास-भूगोल-खगोल और मानवीय ज्ञान जिस पैमाने में बदला है, उतना पिछली शताब्दियों मे मिलकर भी नहीं; तो यह बात भी ठीक है कि छायावाद से लेकर 'अकविता' तक की पचास साल की अवधि मे काव्यभाषा लय-संस्थास, नाट्य-भंगिमा, शब्द-सम्पदा, अर्थ-झंकृति, बिम्ब-रचना, प्रतीक-सृष्टि आदि के क्षेत्रों मे जितने व्यापक और गहन परिवर्तन ला सकी है, सम्भवत. उतने कबीर दास से लेकर भारतेन्दु-युग तक के लम्बे काल मे भी नहीं ला सकी थी। छायावाद तक बिम्ब का लीलावपु कोमलकान्त लावण्यवती नारी का था; निराला, दिनकर, अज्ञेय, सर्वेश्वर, मुक्तिबोध एवं आधुनिक अनेक नये कवियों के प्रयोगों–प्रयासों से उसमे रूक्षता, ऊर्जस्विता, निःसंगता और निर्भीक पौरुषपूर्णता की प्रतिपूरकता विकसित हुई है।

इनमें से काव्यभाषा की नाट्यभंगिमाओं का परिचय अगले अध्याय मे दिया जाएगा और इन्द्रियों के सहबोध की मनोवैज्ञानिक विवेचना और काव्य-भाषा पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का परिचय अध्याय छह मे।

४. सन्दर्भ-ग्रन्थादि एवं टिप्पणियाँ

१ पंडितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर (हिन्दी), पृष्ठ १४
२ स्टाफेन मालार्मे . आर्कीबाल्ड मैकलाश का पुस्तक 'पाएट्री ऐंड एक्सपिएरिएंस' मे उद्धृत
३ डा० वासुदेवशरण अग्रवाल : प० रामदहिन मिश्र की पुस्तक—काव्यालोक में उद्धृत
४ नात्से एवं लेकफेडियो हर्न . आग्डेन एवं रिचर्ड्स : मीनिंग ऑफ मीनिंग पृष्ठ १५३ एवं २३५।६ पर उद्धृत।
५ प० केशव प्रसाद मिश्र प० रामदहिन मिश्र काव्यालोक में उद्धृत
६ डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर
७ डा० रामधारी सिंह दिनकर द्वारा अनूदित : 'शुद्ध कविता की खोज' परिशिष्ट। एडगर एलेन पो (१८४६) ने बताया था कि 'परम सौन्दर्य का धरती के सौन्दर्य के द्वारा प्रस्तुत करना ही कवि का धर्म है। यह काम कवि प्रस्तुत वस्तु और विचारों के बीच विविध सम्बन्ध-स्थापन के द्वारा कर सकता है।' विविध-सम्बन्ध-स्थापन की संकल्पना बॉदलेयर के 'कारेसपांडेंस' और टी०एस० इलियट के 'आब्जेक्टिव' कोरिलेटिव में पुनः उद्भावित हुई है।

डॉ० रामविलास शर्मा : स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य
श्री स० ही० वा० अज्ञेय : तीसरा सप्तक
टी० एस० इलियट : दि यूज ऑफ पाएट्री ऐंड दि यूज ऑफ क्रिटिसिज्म, पृष्ठ १२९
लीलाधर गुप्त . पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त, पृष्ठ २२१
कॉलिन चेरी : ऑन ह्यूमन कम्यूनिकेशन, पृष्ठ ६
कार्ल जेस्पर्स रिजन ऐंड एकजिस्टेंस, पृष्ठ ७८-७६
एम० एस० स्टिवेंस : तत्रैव उद्धृत तथा डा० राकेश गुप्त : दि साइकॉलाजिकल बेसेज ऑफ दि रसज पृष्ठ ६३-१०३
डब्ल्यू० बी० येट्स . आइडियाज ऑफ गुड ऐंड एविल—That the borders of owr mind are ever shifting, that many minds can flow into one another.
लुडविग विटगेंस्टाइन · फिलॉसॉफिकल इनवेस्टिगेशन्स : २४६—Well, only I can know whether I am in pain; another person can only surmise it.
ड० नेक : ऐनाटॉमिया ऑफ मनेजन, सा० एन० विलियम्स के द्वारा अनूदित; एवं पी० फेंक : मॉडर्न साइंस ऐंड इट्स फिलासफी एवं आर०कार्नप : दि युनिटी ऑफ साइंस; एम० ब्लैक द्वारा अनूदित। पा० पा० हेना एवं ऐटवर ने विटगेंस्टाइन के 'व्यक्तिगत अनुभव' के सिद्धान्त का प्रतिवाद जर्नल ऑफ फिलासफी ५८ ३३९ में किया है।
जेम्स ज्वायस : आर्ट ऐंड फिक्शन
लु० विटगेंस्टाइन . उपरिनिर्दिष्ट पुस्तक, २१७ 'If God had looked into our minds he would not have been able to see there whom we were speaking of.

ज० एम० स्ट्राटन · ऐन एक्सपेरिमेंटल स्टडी ऑफ डेन्जर ऐंड दि वाइडर फंक्शन्स ऑफ इमोशन्स—किम्बाल यंग की पुस्तक, 'इमोशन्स इन मैन ऐंड एनिमल' में उद्धृत
एम० टी० कार्ल रेज · स्कॉट जेम्स द्वारा 'दि मेकिंग ऑफ लिटरेचर' पृष्ठ २७४ पर उद्धृत
एफ० द सासुर : 'दि मीनिंग ऑफ मीनिंग में पृष्ठ ४—५ पर उद्धृत
किम्बॉल यंग : हैंडबुक ऑफ सोशल साइकॉलॉजी एवं पर्सनेलिटी ऐंड प्रोब्लेम्स ऑफ ऐडजस्टमेंट में पृष्ठ १२४-१२५ तथा अध्याय १० द्रष्टव्य

तत्रैव : पृष्ठ १६०-१६५ एवं चार्ल्स ज ड · सायन साइकॉलाजी, पृष्ठ २०० अध्याय-७ द्रष्टव्य
लु० विटगेंस्टाइन फिलॉसॉफिकल इनवेस्टिगेशंस, पृष्ठ २२३. If lion could talk, we could not understand him तथा मैकाम मिल्कावर पृष्ठ ६३. An expression has meaning only in the stream of life.
एडवर्ड सापिर : लैंग्वेज ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ स्पीच
इन्ग्राहाम : ऑग्डेन ऐंड रिचर्ड्स : मीनिंग ऑफ मीनिंग, पृष्ठ ४६ पर उद्धृत
आग्डेन ऐंड रिचर्ड्स : मीनिंग ऑफ मीनिंग पृष्ठ २२६-२२७
लु० विटगेंस्टाइन : ट्रैक्टेटस : ४·००२ (4) · Language disguises thought.
बर्ट्रेंड रसेल · ऐन इनक्वायरी इन टु मीनिंग ऐंड ट्रुथ, पृष्ठ २७-२८ Language was given us to enable us to conceal our thoughts.
आग्डेन ऐंड रिचर्ड्स : मीनिंग ऑफ मीनिंग पृ० १-२३
सी० ई० आसगुड . मेथड ऐंड थियरी इन एक्सपेरिमेंटल साइकॉलॉजी अध्याय ८-९-१० में प्रकार, ग्रहण, और व्यवहार-प्रणाली का विवेचन द्रष्टव्य। राबर्ट टामसन की पुस्तक 'दि साइकॉलाजी ऑफ थिंकिंग में पृष्ठ १६६ पर दिए गए रेखांकन से

आई० ए० रिचर्ड्स : प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृष्ठ ११४—१३३

३३ सी० ई० लीविस : माइंड ऐंड दि वर्ल्ड आर्डर; पृष्ठ ७३
३४ जी० मर्फी ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकॉलाजी; पृष्ठ ६८
३५ ऋग्वेद : उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः श्रृवन्न शृणोत्येनाम्
उतो त्व स्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः
३६ यास्क : निरुक्त १-१२
३७ मेरियो पिए : दि स्टोरी ऑफ लैंग्वेज
३८ एडवर्ड सापिर : ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ लैंग्वेज
३९ लि० ब्लूमफिल्ड : लैंग्वेज, पृष्ठ ४२६
४० सी० डब्ल्यू० मॉरिस : दि कन्सेप्ट ऑफ मीनिंग इन प्रैग्मेटिज्म ऐंड लाजिकल पोजि-टिविज्म'—शब्द के केवल तीन सम्बन्ध स्वीकृत—बायोलॉजीकल (वक्ता-श्रोता), फार्मल (शब्द-शब्द), एवं एम्पारिकल (शब्द-वस्तु) और इनमें एक-एक पर विशेषीकृत दृष्टि डालने से दार्शनिकों में मतभेद और वितण्डा आते हैं।
सी० आई० लेविस : मोड्स ऑफ मीनिंग; पृष्ठ २४१
आग्डेन ऐंड रिचर्ड्स : मीनिंग ऑफ मीनिंग, पृष्ठ, २६९-२९०
लु० विटगेंस्टाइन : फिलासॉफिकल इनवेस्टिगेशन्स, ३४०, : One can not guess how a word functions. One has to look up at its use. एवं ६९३ : Nothing is more wrong-headed then calling meaning a mental activity.
४१ आग्डेन ऐंड रिचर्ड्स : मीनिंग ऑफ मीनिंग; पृष्ठ १८५-२०८ तथा [अ० कपिलदेव द्विवेदी : अर्थ-विज्ञान और] व्याकरण-दर्शन, पृष्ठ ९६-९७
४२ आ० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग-२, पृष्ठ १६५
४३ राजशेखर : काव्यमीमांसा, पृष्ठ ७९
४४ टी० एस० इलियट : दि यूज ऑफ पोएट्री ऐंड दि यूज ऑफ क्रिटिसिज्म; पृष्ठ १५१
The chief use of the meaning of a poem in the ordinary sense may be to satisfy one habit of the reader, to keep his mind diverted and quiet, while the poem does its work upon him much as the imaginary burglar is always provided with a bit of nice meat for the house-dog.
४५ आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, पृष्ठ ५५९
४६ आई० ए० रिचर्डस : प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म, पृष्ठ ३६४
४७ अभिनवगुप्त : आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक-लोचन, पृष्ठ ५९०
४८ विलियम एम्पसन : सेवन टाइप्स ऑफ ऐम्बिग्विटीज
४९ पंडितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, द्वितीय आनन पृष्ठ ५-७
५० कॉलरिज हाउसमैन : टी० एस० इलियट द्वारा 'दि यूज ऑफ पोएट्री ऐंड दि यूज ऑफ क्रिटिसिज्म, पृष्ठ, १३९ पर उद्धृत। 'Communication will not explain poetry. There is room for very great individual variation in the motives of equally good individual poets -- and we have the assurance of Coleridge with the approval of Houseman that poetry gives most pleasure when generally and not parfectly understood.
५१ बर्ट्रेंड रसल : ऐन इन्क्वारी इन्टु मीनिंग ऐंड ट्रूथ; पृष्ठ ३४१
५२ हर्बर्ट रीड : फॉर्म इन माडर्न पोएट्री : पृष्ठ ७५
५३ आई० ए० रिचर्डस : प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म, पृष्ठ ३६३

वाल्टर रैले : स्टाइल, पृष्ठ ६१
प० जगन्नाथ : रसगंगाधर, पृष्ठ ११
मम्मट : काव्यप्रकाश, पृष्ठ ५६३-५
स्टीफेन मालार्मे एवं जार्ज मूर : आर्किबाल्ड मैकलीश पोएट्री ऐंड एक्सपीरियंस पृष्ठ १४-४६
गिरिजा कुमार माथुर : नयी कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ, पृष्ठ २०-४५
सी० एम० बावरा : दि हेरीटेज ऑफ सिम्बॉलिज्म,
राजशेखर : काव्यमीमांसा; पृष्ठ १२३
बो० मैलिनावस्की : मीनिंग ऑफ मीनिंग पृष्ठ ३२८-३३६ पर उद्धृत विचार के अनुसार
बर्ट्रेंड रसल : ऐन इन्क्वायरी इन्टु मीनिंग ऐंड ट्रुथ; पृष्ठ २३
रेनी वेलेक ऐंड ऑस्टिन वारेन : थियोरी ऑफ लिटरेचर; पृष्ठ १६१
डा० रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास; पृष्ठ ४६१
लु० विटगेंस्टाइन : ट्रैक्टेटस एव रुडाल्फ कारनैप : दि लॉजिकल सिंटैक्स ऐंड लैंग्वेज
क्रिस्टॉफर कॉडवेल : इल्यूजन ऐंड रियलिटी, पृष्ठ २४४-२४५
विक्टर ह्यूगो : मीनिंग ऑफ मीनिंग, पृष्ठ १३६ पर उद्धृत
पृष्ठ ३२१ पर 'काव्य का मंत्रत्व' के लिए द्रष्टव्य अभिनवगुप्त पराविंशिका—मननत्राणधर्माणो सर्वमेव वाक्यवाचकादि रूपवर्ग भट्टारकात्मना मंत्राणाम् । पृष्ठ २०६;

डा० शिवशंकर अवस्थी : मंत्र और मातृकाओं का रहस्य : पृष्ठ ११७ मंत्र में वर्णों और पदों की आनुपूर्वी नियत रहती है।...समस्त वर्ण मंत्र-स्वरूप ही हैं और उनसे निर्मित पद मंत्र नहीं होंगे यह नहीं कहा जा सकता। अतः नियत आनुपूर्वी से सम्पन्न प्रार्थना भी कालान्तर में मंत्र पदवी प्राप्त कर सकती है। ...उस प्रार्थना में नाना साधकों की प्रबुद्ध चेतना का आधान आवश्यक है, अथवा एक ही उत्कृष्ट कोटि के साधक की सफल तपश्चर्या से वह प्रार्थना भावित हो गई हो, तो दूसरों के लिए वह मंत्र का कार्य करेगी, इसमें संशय नहीं। काव्य में साधना-पूत कवि की प्रबुद्ध चेतना का एवं अनेक प्रबुद्धचेता भावकों के भावन का आधान रहता है। उसकी आनुपूर्वी भी नियत और अद्वितीय रहती है। अतः उसे मंत्रत्व प्राप्त हो सकता है। साथ ही द्रष्टव्य ऐडलर : ऐनालिटिकल साइकॉलाजी;
टी० एस० इलियट : दि यूज ऑफ पोएट्री ऐंड दि यूज ऑफ क्रिटिसिज्म; पृष्ठ १५५
एच० ब्रुक्स : लिटरेचर ऐंड क्रिटिसिज्म, पृष्ठ १९-२०
इमर्सन—हर्बर्ट रीड द्वारा फॉर्म इन मॉडर्न पोएट्री में उद्धृत, पृष्ठ ५७ it is not metres, but a metre-making argument, that makes a poem—a thought so passionate and alive that like the spirit of a plant or animal it has an architecture of its own and adorns nature with a new thing.
डेविड डायसेज : पोएट्री : दि इनज्वायमेंट ऑफ दि आर्ट्स, पृष्ठ १६८-१६९ एवं डॉ० एम० हॉपकिन्स के रिदम-सम्बन्धी विचार तथा केनेथ बर्क : काउंटर स्टेटमेंट पृष्ठ १४०-४१ एवं क्रिस्टाफर कॉडवेल : इल्यूजन ऐंड रियलिटी पृष्ठ १९५—In emotional introversion (caused by rhythm) men return to the genotype, to the more or less common set of instincts in each man which is changed and adapted by outer reality in the course of living.
विमसेट ऐंड क्लिएंथ ब्रुक्स : हिस्ट्री ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृष्ठ २३० पर उद्धृत
टी० एस० इलियट : दि यूज ऑफ पोएट्री ऐंड दि यूज ऑफ क्रिटिसिज्म, पृष्ठ ११८-११९

७५ स्टीफेन मालार्मे , हेनरी मनरो के द्वारा उद्धृत पृष्ठ १०४ पर
७६ नन्ददुलारे बाजपेयी : कवि निराला, पृष्ठ १७६-८०
७७ जे० गौंड · एपिथेट्स इन ऋग्वेद. पृष्ठ १८८; अरिस्टॉटल : रेहटरिक, पृष्ठ २५३
७८ एडवर्ड बुलो : ए० मॉडर्न बुक ऑफ एस्थेटिक्स, सम्पादक-एम० रैडर पृष्ठ ३३६
७९ ह रैस · आर्स पोएटिका, पृष्ठ २४२-२४३
८० दांते · आर० ए० स्कॉट जेम्स द्वारा 'द मेकिंग ऑफ लिटरेचर' पृष्ठ १०२-१०३ पर
८१ वर्डस्वर्थ और कॉलरिज के विचार हिन्दी में डा० देवराज उपाध्याय : रोमांटिक साहित्य-शास्त्र पृष्ठ ११७-१४३ पर द्रष्टव्य
८२ व्ही० राघवन . सम कान्सेप्टस ऑफ अलंकार शास्त्र, पृष्ठ ६६-७५
८३ कुन्तक . वक्रोक्ति जीवितम् १४-१२-१७
८४ टी० एस० इलियट—'सैक्रेड वुड' और सेलेक्टेड एसेज' आदि 'Every vital development in language is a development in feeling as well.' The essential of tradition is this—in getting as much as possible of the whole weight of the history of the language behind his word' 'Any radical change in poetic form is likely to be the symptom of some very much deeper change in society and in the individual.' The great poet in writing himself writes his 'time'
एच० स्टेन्धॉल : बे० क्रोचे द्वारा एस्थेटिक्स में उद्धृत—पृष्ठ ३२१-३२२ द्रष्टव्य
८५ एडवर्ड सापिर मीनिंग ऑफ मीनिंग में उद्धृत, पृष्ठ २२८-२२९
८६ व्ही० राघवन सम कान्सेप्टस ऑफ अलंकार शास्त्र, पृष्ठ ५८-५९
८७ आई० ए० रिचर्डस . फिलॉसफी ऑफ रेहटरिक, पृष्ठ ११६-११७;
८८ डा० शशिभूषण दास गुप्त . उपमा कालिदासस्य, पृष्ठ ५
८९ महिम भट्ट : व्यक्ति विवेक, पृष्ठ १०९
९० टी० एस० ह्यू म : स्पेकुलेशन्स, पृष्ठ १३७
९१ प्रो० मुनरो · सी० ब्रोहस्ली · फिगरेटिव लैंग्वेज,
९२ अभिनवभारती · (गायकवाड), पृष्ठ ३२१,
९३ अप्पय दीक्षित : चित्रमीमांसा. पृष्ठ ४३
९४ हर्बर्ट रीड फार्म इन मॉडर्न पोएट्री, पृष्ठ ४०-४३
९५ मैक्स इस्टमैन : दि लिटररी माइंड, पृष्ठ २०५
आन्द्रे ब्रेतों : रिचर्ड्स द्वारा फिलॉसफी ऑफ रैहटरिक, पृ० १२३ पर उदधृत
९६ प्रो० ए० जी० लेहमन्न · दि सिम्बालिस्ट एस्थेटिक्स इन फ्रांस : करमोड द्वारा रोमांटिक इमेज, पृ० १३२-३ पर उद्धृत
९७ विलियम एम्पसन : सेवन टाइप्स ऑफ ऐम्बिग्वीटिज, पृ० ३२
९८ आई० ए० रिचर्ड्स : फिलॉसफी ऑफ रेहटरिक : मेटाफर्स पृ० ९६-१३५ ।
तुलनीय · अर्न्स्ट केसिरर—लेंग्वेज ऐंड मिथ—In place of a more or less adequate expression we find a relation of identity of complete congruence between image and object, between the name and the thing.
९९ डा० शंभुनाथ पाडेय . आधुनिक हिन्दी कविता की भूमिका, पृ० ३४२
१०० आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक-२-१७, १८, १९ (पृ० २३५, २३७, २४६)
१०१ सी० डे लीविस : The poetic myths are dead, and the poetic image which is he myth of the reigns in their stead.

फ्रेडरिक श्लेगेल डायलॉग आन पोएट्री : व्हिक्टर लैंग द्वारा "कम्पेयरेटिव लिटरेचर"७ पृ० ३०१-२ पर उद्धृत एवं विवेचित;
फिलिप व्हिलराइट : बर्निंग फाउनटेन ऐंड पोयट्री, मिथ ऐंड रियलिटी; तथा जॉन लेहमन्न दि सर्च फार दि मिथ पेंगुविन न्यू राइटिंग नम्बर-३०
ऑस्टिन वारेन एवं रेनी वेलेक : थियोरी ऑफ लिटरेचर पृ० १९३
ल० ऐबरक्राम्बी : प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृ० ३७
ऑस्टिन व रेन ऐंड रेनी वेलेक : उपरिवत पृ० ३३०
डा० पद्मा अग्रवाल : प्रतीकवाद पृष्ठ १२
स्टीफेन उल्लमन '"साइन्स ऐंड सिम्बाल्स' अध्याय में 'वर्ड्स ऐंड देयर यूज'
वेरियर एलविन दि ट्राइबल आर्ट ऑफ मिड्ल इंडिया : दि कौड़ी इन ट्राइबल आर्ट, पृ० ३७-४५
नाइट्स ऐंड कोट्ल (सं) : सिम्बॉल्स ऐंड मेटफर्स, पृ० ७
डा० ब्रोनिस्लॉव मैलिनोवस्की आग्डेन ऐंड रिचर्ड्स : मीनिंग ऑफ मीनिंग का परिशिष्ट
सी० के० आग्डेन ऐंड आइ० ए० रिचर्ड्स मीनिंग ऑफ मीनिंग पृ० ११-१३; ७९, ८७-१०८ तथा स्टुवर्ट चेज टिरेनी ऑफ वर्ड्स पृ० ९७ तथा बोरिंग, लैंगफेल्ड फाउंडेशन्स ऑफ साइकॉलोजी, पृ० १९८-२१९
प्रो० स्टाउट : ऐनालिटिकल साइकॉलॉजी; भाग-२
एल० एस० स्टेबिंग— ए माडर्न इन्ट्रोडक्शन टु लॉजिक पृ० ११५-११६ बर्ट्रेंड रसेल एवं व्हाइट हेड के विचार भी तत्रैव पृ० १२६ पर उद्धृत तथा द्रष्टव्य डा० नगेन्द्र : मानविकी पारिभाषिक कोश पृ० २४७-४८
सूजन लैंगर— 'It is best to admit that language is primarily a vocal actualisation of the tendency to see reality symbolically.'…'It is symbol in the special·· sense...Its import is seen in it not like the meaning of genuine symbol, by means of it'… 'the symbol in art is a metaphor,' an image with overt or covert literal significance.'
सी० एम० बावरा : दि हेरिटेज ऑफ सिम्बालिज्म, पृ०-८
ल० ऐबरक्राम्बी साहित्यालोचन के सिद्धान्त (हिन्दी अनुवाद) पृ० १११
शिप्ले : डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर
आर० जी० हस्गर : ए डिक्शनरी ऑफ आर्ट्स टर्म्स
विश्वभारती पत्रिका : ८/२ नवम्बर १९६७ अंक, पृ० १६७-७४
एरिक आयर बैंक . टाइपॉलॉजिकल सिम्बालिज्म इन मेडाइवल लिटरेचर, पृ० ६
रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि द्वितीय भाग, पृष्ठ १०९-११२ एमर्सन : वर्क्स-२, पृ० २४
एल० सी० नाइट्स ऐंड कोटल (स) : सिम्बाल्स ऐंड मेटफर, पृ० १४०
It is the principle of involvement, some degree of personal commitment that makes symbols metaphors.
अज्ञेय : आत्मनेपद, पृष्ठ २५६; डब्ल्यू० वाइ टिंडल : दि लिटररी सिम्बॉल, पृष्ठ १५ The principle functions of symbol is organizing experience and enlarging it.
एस० टी० कॉलरिज : स्टेट्समेन्स मेनुएल-१, पृ० ४३७-८
आर्किबॉल्ड मैकलीश : पोएट्री ऐंड एक्सपीरियंस, पृष्ठ ७८ पर उद्धृत
नाइट्स ऐंड कोट्ल (स) : मेटाफर्स ऐंड सिम्बाल्स, पृ० १४२

तुलनीय कार्लाइल का यह कथन—"In symbolism there is both concealment and revelation ..If every thing were revealed nothing would be symbolized, and if every thing were concealed there too nothing would be symbolized. Thus a symbol is a sort of excluded middle between what we know and what we do not know.
हेनरी लेविन—कन्टेक्स्ट ऐंड क्रिटिसिज्म, पृ० १९७

१२६ स्टाफिन जे० ब्राउन : दि वर्ल्ड ऑफ इमेजरी, पृ० १४९ पर विवेचित
जा० कैम्पबेल : फिलॉसफी ऑफ रेहटरिक पृ० ३२१-३२६

१२७ वि० बा० येट्स : एसेज ऑन शेलीज रूलिंग सिम्बालिज्म पृ० ९५

१२८ व्ही राघवन : सम कॉन्सेप्ट्स ऑफ दि अलंकार शास्त्र, पृ० ६७
आर्नल्ड हाउजर : सिम्बॉल्स ऑफ व्हेल्यूज ; एवं जोसेफ शिपली : रियलिज्म ऐंड इमेजिनेशन पृ० १११—A poem generally comprises many images, symbols and metaphors fused into oneness by imagination resulting in symbolical repersentation of experience.
जे० एस० विकस्टीड : ब्लेक्स इन्नासेंस एंड ऐक्सपिरिएंस, पृ० २३-२४ पर यह स्पष्ट किया गया है कि कवि का प्रतीक प्रतीकात्मक रूपक अथवा प्रतीकात्मक बिम्ब अधिक होता है, शुद्ध प्रतीक अथवा मिथक कम।

१२९ इमेजिस्ट ऐन्थोलॉजी—Poetry, as it were, dynamically is a matter of rendering not comment, you must not say—'I am happy' you must behave as if you were happy.'
एफ० आर० लिविस द्वारा 'न्यू बेयरिंग्स इन इंग्लिश पोएट्री" में पृष्ठ ७३ पर उद्धृत।

१३० विलियम कार : फिलॉसफी ऑफ बेनेदित्तो क्रोचे, पृ० ३५

१३१ चार्ल्स सिंगर : टेक्नॉलॉजी ऐंड हिस्ट्री पृ० १५

१३२ कार्ल मार्क्स : डास केपिटल भाग : पृ० १६२-६६

१३३ मेरी शेली : संक्षिप्त कथा : बर्ट्रेण्ड रसेल की पुस्तक हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलॉसफी पृ० ७०५ पर

१३४ टी० एस० इलियट का व्यंग्य : I have measured my life with a coffee spoon, इस सांख्यिकी पर ही

१३५ जार्ज आरवेल : '१९८४' उपन्यास

१३६ प्रो० टिश्लीय : एक्जिस्टेंशियल फिलॉसफी—जर्नल ऑफ दि हिस्ट्री ऑफ आइडियाज भाग-१ पृ० ४४

१३७ कार्ल जेस्पर्स : मैन इन दि माडर्न एज

१३८ एफ० एच० हाइनेमैन : एक्जेस्टियलिज्म ऐंड दि मॉडर्न प्रेडिकामेंट, पृ० १६७

१३९ कार्ल जेस्पर्स : रिजन ऐंड एक्जिस्टेंस, पृष्ठ २६ एवं ७७

१४० एफ० एच० हाइनेमैन : उपरिनिर्दिष्ट पुस्तक में उद्धृत 'लुई मेसिनान' नामक विद्वान् का वृत्तान्त थियोलॉजिया डायबोलो : हिब्बर्ट जर्नल। इस संबंध में स० ही० वात्स्यायन वाक् अंक-२; नलिनविलोचन शर्मा : आधुनिक कविताएँ-पृ० ५२-५५ लक्ष्मीकान्त वर्मा नये प्रतिमान-पुराने निकष पृ० ९२-१३२ आदि भी द्रष्टव्य

१४१ बर्ट्रेंड रसेल : हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलासफी, पृष्ठ ५११-५१५

१४२ डा० विश्वनाथ नरवणे : आधुनिक भारतीय चिन्तन, पृष्ठ २९७

१४३ श्री केन्नेथ बोल्डिंग : दि मीनिंग ऑफ दि ट्वेन्टिएथ सेंचुरी भूमिका—१४-१७ एवं पृ० ११६

५

काव्यशब्द की लीला-भंगिमाएँ
बिम्ब और काव्य-कलादि के 'वाद'

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः।
औचित्यवान्यस्ता एता वृत्तयो द्विविधा स्थिताः॥
—आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक ३-३३

रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्ट पद-रचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।..
—वामन : काव्यालंकारसूत्र

समानान्तर सूत्रों से बुनाई नहीं हो सकती।
जीवन का पट बुनने के लिए
आवश्यक है कि बहुत से सूत्र आड़े पड़ें।
अज्ञेय : इत्यलम्

'नई कविता : सीमा और संभावनाएँ' पुस्तक मे पृष्ठ १३० पर गिरिजा कुमार माथुर ने काव्य-माध्यमो एवं शैलियो को सामाजिक प्रक्रिया का अवशेष माना है। किन्तु इलियट के अनुसार (द्रष्टव्य पृष्ठ ३७४, टिप्पणी ८४) कला-काव्यादि के माध्यम मे परिवर्तन व्यक्ति और समाज के गहरे तल मे होने वाले व्यापक परिवर्तन के सूचक हैं। माध्यम और शैली के विविधरूप काव्य-भाषा में घटित होते हैं, 'शब्द' की ही वह विन्यास-भंगिमा है। यह भाषा कविता में किस प्रकार साधन, परम्परा और अन्वेषण का माध्यम होने की सीढ़ियों को पार कर अनुभव-(अनुभूति) का सहभागी होती और फिर अनुभवकर्त्ता, कवि की जीवंत चेतना हो जाती है, यह किसी भी प्रतिभा-सम्पन्न, प्रबुद्ध कवि की रचनाओं के अध्ययन से मालूम हो सकता है। प्रत्येक कवि

को, युग को भी, इस प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। द्विवेदीयुगीन हिन्दी-कविता से लेकर प्रयोगवाद तक की काव्यभाषा मे सीढ़ियों पर चढ़ने और फिर प्रयोगवाद से लेकर अ-कविता तक की काव्यभाषा मे जैसे फैल अथवा उड़ कर समाहारात्मक, समावेशी होने और अनुभव-अनुभवकर्त्ता से सघन जैविक सम्बन्ध स्थापित कर लेने की प्रक्रिया घटित हुई है। यह जैविक सम्बन्ध काव्यभाषा को 'बिम्ब' रूप देता है, 'बिम्ब' जो अनुभव और अनुभवकर्त्ता के मध्य सहभागी रहता है और उनकी जीवंत चेतना के सम्मिलन का ऐन्द्रिय स्फोट है। इसे सारांशत: बीसवी शताब्दी के प्रारंभ से लेकर समसामयिक काल तक प्रवाहित हिन्दी की मुख्य काव्य-प्रवृत्तियो मे देखा जा सकता है।

द्विवेदीयुगीन कविता से अकविता तक —

१. **द्विवेदीयुगीन काव्य-प्रवृत्ति** जो लगभग बीसवीं सदी के प्रारभ (१९०२) से ही दिखाई पडती है तथा १९२० के आसपास अस्तगत हो कर भी प्रकारान्तर से जहाँ-तहाँ आज भी दीख जाती है, काव्य की प्रवृत्ति उतनी नहीं थी, जितनी अन्वेषण की। द्विवेदी जी शुद्धता के, 'हरिऔध' पद्यात्मक शिल्प-शैलियों के और 'गुप्त' प्राचीन काव्य-परम्परादि में युगानुरूप नैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक मूल्यों के निष्ठावान् अन्वेषक थे। अतएव इस काव्य-प्रवृत्ति के बिम्बो में भाषा का साधन-पक्ष प्रधान है, बिम्ब खुरदुरे, मूर्त्त, दृश्य, और स्पृश्य भी इसी कारण प्रतीत होते हैं।

२. **छायावादीयुगीन काव्य-प्रवृत्ति** जो लगभग १९०५ से हल्के रूप में दिखाई पड़कर १९२० से १९४७ तक धारा-रूप में प्रवाहित रही और जो रूपांतरित हो कर अभी भी दीख जाती है, वेगयुक्त बाढ़ की तरह आई और व्यापक काव्य-परम्परा स्थापित कर गई है। विरासत में प्राप्त शुद्ध, पद्यात्मक, किन्तु खुरदुरी, भाषा इस बाढ़ में पड़कर एकदम गोलमटोल अथवा नमनीय और मुलायम बन गई। प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी, रामकुमार वर्मा आदि ने इसके कथात्मक और सांगीतिक संभावनाओं, वस्तु-चित्रण-क्षमता, अलंकृतियुक्त गीतिमयता की शक्तियों का अन्वेषण-उद्घाटन भावना और कल्पना के योग से किया। अतएव इस काव्य-प्रवृत्ति में दृश्य, श्रव्य आदि बिम्बों का ऐश्वर्य दिखाई पड़ता है, जिनके औज्ज्वल्य के ऊपर भावना और कल्पना का झीना रेशमी आवरण छाया-सा रहता है। फलत: इस काव्य-प्रवृत्ति से रचित 'कामायनी' 'राम की शक्ति-पूजा', पल्लव'

'दीपशिखा' आदि मे भावात्मक 'कल्पलोक' (यूटोपिया) भी है। जब तक यह 'कल्पलोक' अभिनव निर्मिति के लिए 'अनवरत अन्वेषण' का प्रेरणा-स्रोत रहता है, तब तक जीवत लक्ष्य होता है; किन्तु, यदि यह अन्वेषक को ग्रस ले, तो फिर यह मिथ्या विचार-रूढ़ि (आइडियोलॉजी), कला-रूढ़ि (आर्टिस्टिक क्रेडो), अभिव्यंजन-रूढ़ि का जनक होता है। तब 'अन्वेषण' की शक्ति चुक जाती है, अन्वेषक साम्प्रदायिक भी हो जाता है। इस प्रकार छायावादी भाषा जब परम्परा-रूढ़ि का साधन हो गई तो निःशेष भी हुई। अतएव छायावादी प्रवृत्तियाँ अपने मतवादी आग्रहों और भाषिक मुद्राओं के साथ यद्यपि समसामयिक कवियो जानकी वल्लभ शास्त्री, प्रभात, द्विजेन्द्र, रामसेवक चतुर्वेदी, नीरज आदि में तथा प्रकारान्तर से अज्ञेय, धर्मवीर भारती, हसकुमार तिवारी आदि में आज भी दिखाई पड़ती हैं, तथापि उसी युग में इसके जागरूक कवियो, निराला और पत आदि, ने इसके कठघरे को तोड़ने का प्रयास किया था।

३. **नव-स्वच्छन्दव्यक्तिवादी काव्य-प्रवृत्ति** जो लगभग १६३५ से १६५० तक दिखाई पडी और प्रकारान्तर से अब भी वर्त्तमान है, छायावाद के उत्तरार्ध की प्रवृत्ति रही है, जिसमे छायावादी निराला, पत के साथ भगवती चरण वर्मा, बच्चन, माखन लाल, दिनकर, रामविलास शर्मा आदि का योगदान रहा है। इन कवियों ने सामाजिक यथार्थ और वैयक्तिक स्वच्छन्दता के चित्रण की दृष्टि से भाषा की शक्तियों का उद्घाटन किया था। अतएव इनकी भाषा मे गढे गए बिम्ब अन्तः-प्रयाणी, भावात्मक बिम्ब न होकर बहिर्गामी, विचार-सम्मत और क्रिया-प्रेरक बिम्ब हैं—साक्षात् प्रत्यक्ष-बिम्ब हैं, कल्पना-लोक के नहीं, जैसे—दिनकर आदि के काव्यबिम्ब पौराणिक-ऐतिहासिक-राष्ट्रीय परिवेश के योग से और बच्चन, अंचल आदि के काव्यबिम्ब वैयक्तिक, स्वातंत्र्य और उन्मद काम-भाव के परिवेश के मिश्रण के द्वारा 'वस्तु' को अपने 'वस्तुत्व' के साथ ठोस रूप मे प्रस्तुत करते दिखाई पड़ते हैं।

४. **प्रगतिवादी काव्य-प्रवृत्ति** जो लगभग उपर्युक्त प्रवृत्ति के साथ ही उद्भावित हुई और किसी न किसी रूप मे अब भी वर्त्तमान है, पंत, निराला, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, मुक्तिबोध, नरेन्द्र, सुमन, त्रिलोचन, नेमिचन्द्र और नागार्जुन आदि कवियों के द्वारा चलाई गयी थी। इनमें से जिन पर मार्क्सवाद का सीधा प्रभाव है, वे प्रगतिवादी कहलाये और जिन्होंने उसे भारतीय परम्परा में आत्मसात् कर रूपान्तरित कर लिया वे प्रगतिशील (बाद

में प्रयोगवादी भी) कहलाए। इस प्रवृत्ति के अन्वेषकों ने भाषा में 'वास्तविक मनुष्य' और 'सामूहिक मनुजता' के साक्षात् दु:ख-दर्द, भूख-पीड़ा, राग-द्वेष के यथार्थ चित्रण की बेधकता ढूँढी थी। फलतः इससे निर्मित बिम्बों में ठोसपन और पैनापन है, वेग और गति है, उग्रता और आक्रामकता है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक परतन्त्रता से मुक्ति के लिए इस काव्यभाषा में सामूहिक आह्वान है। किन्तु इसमें भी ग्रस्तता और प्रतिबद्धता आ गई। सच्चिदानन्द वात्स्यायन ने 'नई कविता' पुस्तक के 'विषय प्रवेश' में एक पात्र के मुख से व्यंग्य रूप में ठीक ही कहवाया है—'प्रगतिवादी बँधे घोड़े की तरह मिट्टी खूँदते रहने को भी प्रगति मानता है।'

५ **प्रयोगवादी काव्य-प्रवृत्ति** जो १९४३ में 'तार-सप्तक' के प्रकाशन के बाद मान्यता प्राप्त कर सकी, वस्तुतः निराला की 'अणिमा' और पंत द्वारा प्रकाशित 'रूपाभ' की कविताओं से १९३६ में ही फूट रही थी। इस काव्य-प्रवृत्ति ने 'प्रयोग' को काव्य-साध्य मान कर वैज्ञानिक-औद्योगिक सभ्यता के कारण सघन और तीक्ष्ण होती हुई पेचीदगियों को समझना, परखना, उन्हें आत्मसात् करना और उनका समाधान ढूँढना चाहा था। अज्ञेय ने बताया है—

> जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है, वैसे-वैसे हमारे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती है— और अगर नहीं बदलतीं, तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा रागात्मक संबध टूट जाता है।......नयी समस्याओं और नये दायित्वों से रागात्मक संबंध का अनुभव (व्यक्ति-सत्य) अभिव्यक्ति की नई प्रणाली की माँग करता है। अत: न केवल हमें नया रागात्मक बोध देता है, बल्कि वह शब्द के विशिष्ट (अभिनव) प्रयोग से भाषा को नई व्यंजना-शक्ति प्रदान करता है।' ('तीसरा सप्तक' की भूमिका)

किन्तु प्रयोगवाद की भाषा सायास गढ़ी गई भाषा हो गयी और उसके भाषिक तंत्र से निकलने वाले बिम्बों में मनोवैज्ञानिक, बौद्धिक और समाज-शास्त्रीय नवीन उपलब्धियों के पैबंद साफ दिखाई पड़ने लगे। उसके स्वर में प्रतिक्रियावादी उग्रता और अहंवादी प्रदर्शन के भी लहजे थे। अतएव उसके अन्वेषण से काव्य में रचनात्मक वैशद्य न आ सका जो उदारता और स्वीकार से जन्म लेता है। अत: उसकी संभावना चुक-सी गई।

६. **प्रपद्यवाद या नकेनवाद** प्रयोगवादी काव्य के कथ्य की रिक्तता से सम्बन्धित अभाव को दूर करने के लिए बिहार के नलिन, केसरी, नरेश के द्वारा प्रवर्त्तित काव्यवाद था जिसे उदाहृत करने के लिए कविताएँ भी तदनुसार रची गयी थीं इस वाद के समर्थकों ने 'मुक्त वासग' की पद्धति अपनाई थी और

भाषा मे मिश्र ऐन्द्रियबोध की अक्रम अभिव्यक्ति के लिए समावेशी अभिव्यजन-पद्धति ढूँढ निकाली थी। अतएव यद्यपि 'नकेन' की कविताओ मे प्रयोगवादी अथवा अध्यापकीय औद्धत्य के चिह्न मिलते हैं तथापि समग्रतः काव्यबिम्बो मे पारदर्शिता और पुष्कलत्व है और उनके रचयिताओं की अन्वेषण-वृत्तिमे औदार्य और स्वीकार-भाव भी। परन्तु यह 'वाद' न हो कर एक प्रयास भर रह सका, और शायद इतिहास भी नही बना सका, कारण चाहे जो हो। अनेक कवियो के गुरु-मित्र, विचित्र मार्ग के विदग्ध पथिक (अब दिवंगत) भाई श्री शिवचद्र शर्मा का 'लिग्वादलमोतवाद' भी उसी भाँति एक दिल-बहलाव भर हो सका।

७. **नई कविता** जो १६५० मे उदार और स्वस्थ मानवतावादी दृष्टि-भगिमा के साथ उद्भावित की गई रूप बदलकर अब भी जीवत प्रतीत होती है। यह काव्य-धारा कथ्य और कथन-ढंग, अर्थ और शब्द, पद्य और गद्य, सामाजिक मानव और व्यक्ति-मानव, स्थानिक और वैश्विक आयाम, विराट् काल और क्षण, यहाँ तक कि गंभीर सत्य और व्यग्यात्मक मखौल आदि के अन्तर्विरोधों, विसगतियों को स्वीकार-पूर्ण सामंजस्य मे समाहित करती है। परम्परा-प्राप्त प्रतीक और कवि के निजी प्रतीको के बीच रचनात्मक तनाव नई कविता की भाषा की समृद्धि का प्रधान स्रोत है। क्योंकि नये कवि का उद्देश्य है—

पुराना और कठोर जैसे स्फटिक
फेंकता है नयी से नयी चिनगारी
जलाने और सुलगाने
और सौन्दर्य में
चिनगारी की तरह
अर्थ पुराने से पुराने शब्दों में से
कि मन मेरा आज

हर चोट पर
देसी
के गुण में और चमक में
पुरानी आदिम
फिकना चाहिए
नये सन्दर्भों में॰ ॰
एक नया सन्दर्भ है॰ ॰

—भवानी प्रसाद मिश्र : अँधेरी कविताएँ

इस हेतु नई कविता के कवियों ने भाषा के साथ प्रत्येक कविता में, पक्ति-पंक्ति और शब्द-शब्द मे अन्तरगता का सम्बन्ध कायम रखने का और उसे भी अनुभव का साक्षात् भोक्ता बनाने का क्रम जारी रखा है। भोक्ता होकर भाषा ऐन्द्रिय हो उठती है। उसमें भोग के अनुभव संक्षुब्ध होते हैं। यह संक्षोभ टिक जाए, तो आगे की भाषा इसी की प्रतिध्वनि होकर अन्वेषण के मार्ग को रुद्ध कर सकती है। तब अन्वेषक च्युत होता है। इससे ही प्रतिबद्धता, कला-रूढि अभिव्यजन-रूढि और विकसित होते हैं अन्वेषक की इसके

को भी तोड़ता है। इस हेतु वह व्यंग्य-शैली अपनाता है और अपने या अपनी कविता पर भी टो टूक सुना जाता है। वह भाषा को विश्वमानव और अपने समाज के तात्कालिक ढग और धडकन के समीकरण से ग्रहण करता और वैसा ही रूप देना चाहता है। पुन:, भाषा-सम्पदा के लिए कवियो ने विद्याशाखा के सभी स्रोतो मे सौमनस्य और सहयोग का सम्बन्ध रखा है, तथा गद्य से शत्रुत्व का नही, सगे भाई की अन्तरंगता का और आम जनता की बोलियो, फिकरो, लहजों, बातचीत के अन्दाज आदि से कृतज्ञता का। यह जीवंत भी है। अतः इसकी भाषा अभिव्यक्ति का सहज अन्वेषण है। यह काव्यधारा बिम्बो का ब्रह्माण्ड है, जो एक से एक मोहक और निराले हैं। इसकी बिम्ब-रचना प्रक्रिया है—'हिमखंड पर काली यात्रा'—

> पारे-जैसा थर थरा रहे है रचना-क्षण
> मजिल के हों अथवा राहों के अन्वेषी
> हर एक विधा अपनी रक्षा को तत्पर है
> शीशे-जैसा हिमखण्ड खिसकता जाता है।
> मन हैं पानी के जगल में
> बन्दी है आरोपित छल में
>
> —वीरेन्द्र मिश्र : अविराम चल मधुवंती

और इसके कवि 'सेतु' हैं—

> मैं सेतु हूँ
> वह सेतु
> जो हृदय से हृदय को
> विवेक की किरण से विवेक की किरण को
> ...जो मानव को एक करता है
> किन्तु शून्य से शून्य तक सतरंगी सेतु नहीं
> जो मानव से मानव का हाथ मिलाने से बनता है
> श्रम की शिखा से श्रम की शिखा को
> अनुभव के स्तम्भ से अनुभव के स्तम्भ को मिलाता है
> समूह का अनुभव जिसकी मेहराबें हैं
> और जन-जीवन की अजस्र प्रवाहमयी नदी जिसके नीचे से बहती है।
>
> —अज्ञेय : इन्द्रधनु रौंदे हुए ये

सन् १९६० ई० के आसपास जब इस काव्य-प्रवृत्ति मे कुछ कलात्मक रूढियाँ दिखाई पड़ी और संसार की राजनैतिक स्थिति के सामने आदमी की हालत और भी ना-चीज होने लगी तो अनेक आक्रामक काव्यवाद चले। 'नयी कविता' के आठवें अंक में डा० जगदीश गुप्त ने चालीस से अधिक कविता-प्रकारों के नाम गिनाए हैं। 'कवितान्तर' में उन्होंने आन्दोलनात्मक और वास्तविक बिलगाव की दृष्टि से बारह नाम महत्त्वपूर्ण बताए हैं, जो हैं—

१. सनातन सूर्योदयी कविता
२. अपरम्परावादी कविता।
३. युयुत्सावादी कविता
४. अस्वीकृत कविता
५. विद्रोही कविता
६. ऐंटी कविता या अकविता
७. बीट कविता
८. नवप्रगतिवादी कविता
९. गीत या नवगीत
१०. साठोत्तरी कविता
११. प्रासंगिक कविता
१२. विचार कविता।

ये नाम क्रुद्ध युवा-वर्ग के, जो अपने को पश्चिमी देशों की फौज की अगली टुकडी की भाँति 'अवाँ गार्द' मानता है, आत्म-प्रकाशन के साँचे हैं। इनकी भाषा तीखी, आक्रामक, मुँह चिढाने वाली, फिकरे कसनेवाली बाजारू भाषा है। इनकी कविता में तात्कालिक असंतोष के निपट ताजे बिम्ब पूरी नग्नता और सपाटपन के साथ उभर आए हैं।

किन्तु 'नई कविता' नाम इतना प्रशस्त और इसके सिद्धान्तादि इतने प्रवाह-धर्मी यानी सर्वग्रासी हैं, अथवा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सह-अस्तित्व के भाव इसके कवियों मे ऐसे व्यापक और उदार है कि नये बिल्ले लेकर चलने वाले अक्सर अपने बिल्लों को, बकौल श्याम परमार की 'कविताएँ... कविता के बाहर' में दी गई कैफियत के, 'नई कविता' की ध्वजा में प्रतीकवत् स्वीकृत पाते हैं। यही कारण है कि 'नई कविता' मे अन्वेषण की प्रक्रिया अभी भी जारी है। क्योंकि, जीवन और जगत् की नई समस्याओं के उदय होते ही कवि में, यदि वह स्रष्टा हो तो, नये उत्तरदायित्व आते हैं और इस दायित्व-बोध से नई अभिव्यंजन-प्रणाली की माग होती है; अतएव नये कवि को इसकी ओर जागरूक रहना है। नई अभिव्यजन-प्रणालियाँ क्या हैं ? अभिव्यंजन-प्रणालियाँ 'अनुभव' के प्रति कवि के वे शब्द-विन्यास-सम्बन्धी व्यवहार हैं जो वह अन्तर्दृष्टि और काव्य-कला-परम्परा के सामंजस्य से चरितार्थ करता है।

एजरा पाउंड[१] ने कविता मे प्रधान रूप से तीन राग-निर्मितियाँ बताई हैं—१. नादाकर्षण की, जो शब्द-माधुर्य या सांगीतिक संवेदनशीलता से आच्छन्न करती हैं; २. रूपाकर्षण की, जो चित्र और स्थापत्य की संवेदन-शीलता की समष्टि प्रस्तुत करती हैं, और ३. तर्काकर्षण की, जो भाषा के सिवा और कुछ नहीं हैं तथा जिनमे बुद्धि विचार के सुर पर नृत्य करती है।

उत्तम कविता में तीनों प्रकार यथासाध्य समानुपातिक और अन्तरंग रूप से समन्वित होते हैं। उसमें युग-सीमाएँ किसी सार्वभौम संरूप का अङ्ग बनती हैं। उसके 'शब्दों में विगत शताब्दियाँ गूँजती हैं' और उसके काव्यरूप, कथन-भंगिमाएँ आदि युग-जीवन की भाषिक-सांस्कृतिक परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। उपर्युक्त तीनों में से प्रथम है—नाद का तत्त्व, जो आदिम आत्मसत्तात्मक, अतएव स्वच्छन्द-वृत्ति-जन्य है। यह नाद-तत्त्व भाषिक, वैचारिक और काव्यरूपात्मक संरूपों को भी अपनी गूँज में अनुगुंजित करने वाला तथा परम्पराओं को ज्ञात बिम्बों के बीज में संजो रखने वाला

तत्त्व है। तीसरा तत्त्व है वैचारिक कथ्य का तत्त्व जो बाह्यसत्तात्मक है। इन दोनों का सामंजस्य दूसरे तत्त्व मे इस प्रकार होता है कि उसमे चित्र और स्थापत्य की संवेदनशीलता एकत्र होती है। दूसरे शब्दों मे, ऐसी निर्मिति 'बिम्ब' है।

'बिम्ब' तो यह है, पर उसके निर्माण मे शब्द-चयन, शब्दो के क्रम-विन्यास, नादात्मक अनुरणनादि के विधान किस अन्तर्दृष्टि से प्रेरित हो कर और किस मनोविकार अथवा भावना को उद्‌बुद्ध करने के उद्देश्य से किए गए हैं, बिम्ब परिपार्श्व के बिम्बो, प्रत्ययो आदि के साथ किस सम्बन्ध में जुड़े अथवा विलग हैं, आदि बाते जान लेने पर काव्यबिम्ब की मूलस्थ प्रकृति और रचयिता के उद्देश्य की थाह लगती है। आधुनिक कला-काव्य के विभिन्न वादो का परिचय इस दृष्टि मे भी प्रासंगिक माना जा सकता है।

काव्य-कला के विभिन्न वाद

स्वच्छन्दतावाद और आभिजात्यवाद—स्वच्छन्दतावाद का उदय काव्य-कला में फ्रांसीसी क्रांति के साथ क्रांति, व्यक्तिवादिता और नवसृजन-शीलता को लेकर हुआ। किन्तु अन्य स्थानों पर स्वच्छन्दतावाद मध्ययुगीन काव्य का पुनर्जागरण माना गया है; जैसे जर्मनी मे; अथवा 'कला मे उदारतावाद' बताया गया है। **पेटर** उसे सौन्दर्य-भावना और अद्‌भुत के प्रति जिज्ञासा मानते हैं। **स्टेन्धल** सभी सफल कलाकृतियो मे स्वच्छन्दतावाद को स्वीकार करते हैं। **ऐबरकाम्बी** उसे बाह्य अनुभूतियो से पलायन बताते है, ताकि आन्तरिक अनुभूतियो में केन्द्रित हुआ जा सके।

स्वच्छन्दतावाद की ही भांति आभिजात्यवाद की भी विविध परिभाषाएँ दी जाती हैं। आभिजात्यवादी कलाएँ नैतिक आचार से नियन्त्रित, अथवा संश्लेषणयुक्त होती हैं। **मिड्‌लटन मरे** के अनुसार 'जिस प्रकार कैथलिक मत व्यक्ति से बाहर की अतर्क्य आध्यात्मिक सत्ता का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार आभिजात्यवाद का भी सिद्धान्त है।' **इलियट** ने आभिजात्यवाद की आलोचना में कहा है—'आभिजात्यवादी यह मानता है कि प्रतिष्ठा पद अथवा परम्परा की हो; न कि मनुज की। हमें मनुज चाहिए, न कि सिद्धान्त।'

इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद और आभिजात्यवाद मे परस्पर-विरोध भी प्रतीत होता है। स्वच्छन्दतावाद मनुष्य की नैसर्गिक मुक्ति-भावना से अभि-

प्रेरणाएँ पाता है, वह यूनानी देवता 'डायोनिसियस' की देन माना जाता है और अभिजात्यवाद मनुष्य की नैसर्गिक सामाजिकता-सामुदायिकता से अनुशासित रहा है; अत: वह यूनानी देवता 'अपोलो' की मर्यादावादिता की भारत मे आर्येतर तथा व्रात्य संस्कृतियां स्वच्छन्दतावादी और आर्य-संस्कृति अभिजात्यवादी मानी जा सकती हैं। शिव, कृष्ण आदि से सम्बन्धित काव्य-धारा मे स्वच्छन्दता की वृत्ति और राम से सम्बन्धित साहित्य मे आभिजात्य वृत्ति सामान्यत: देखी जाती हैं। ऐसा नहीं है कि स्वच्छन्दतावाद में केवल तर्क के विरोध में कल्पना और भावना का विद्रोह ही हो। फिर ऐसा भी नहीं है कि आभिजात्यवाद से स्वच्छन्दतावाद की रुग्णता का केवल उपचार ही होता हो। सतुलन, अनुपात, नियत्रण, समन्वयन, शालीनता, सदाशयता आदि के गुण खोकर, अर्थात् 'अतिवाद' मे ग्रस्त होकर दोनो के दोनो भ्रष्ट और नष्ट होते हैं।[२]

स्वच्छन्दतावाद से बिम्ब-विधान मे ताजगी, तीखापन और बेलौस मस्ती आती है। आभिजात्यवाद के कारण बिम्ब मूर्त्त, ऐश्वर्ययुक्त, शालीन और परम्परित होते हैं। दोनो एक दूसरे के पूरक होकर कविता के बिम्ब-विधान को गति और शक्ति, ऊर्जा और दृढ़ता, भावपूर्ण कल्पनाशीलता और विवेक-पूर्ण सामाजिक निष्ठा दे सकते हैं।

आदर्शवाद और यथार्थवाद—कला में अनुकरण तो होता है, किन्तु यथावत् और जड प्रस्तुति नहीं होती। अरस्तू ने बताया है कि कलाकार अनुकरण करते समय वस्तु का वह रूप भी प्रस्तुत कर देता है 'जैसा उसे होनी चाहिए' अथवा 'जैसे की संभावना है।' इन दोनो के मूल में कलाकार की नैसर्गिक आदर्श-भावना है। पुन:, कलाकार वास्तव का अतिक्रमण भी करता है। उसके कला-जगत् का 'वास्तव' वस्तुजगत् के वास्तव का आदर्शीकृत रूप है। उसका 'सत्य' वस्तु-जगत् के यथार्थ-सत्य से अधिक प्रभविष्णु और संगत प्रतीत होता है। उसकी रचना मे भी आदर्श अन्विति रहती है। प्रकृति की रचना से उसकी रचना उन्नत और आदर्श प्रतीत होती है—जैसे वह प्रकृति को आदर्श-रूप दे रही हो। उसकी भाषा भी जन-समाज का आदर्शीकृत रूप होती है। इस प्रकार आदर्शीकरण की प्रक्रिया कला में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अतएव सभी कवि और कलाकार कुछ न कुछ आदर्शवादी होते हैं। वे जागतिक असंगति और प्रकृति-प्रदत्त वैषम्य तथा चिर-परिवर्तित तथ्यों के बीच एक तात्त्विक, 'सामजस्यपूर्ण अन्विति', 'सुसंगत व्यवस्था' और 'चिरन्तन ऐक्य' खोज लेते और उनका ही अभिव्यंजन करते हैं।

पॉल गालतिए का कथन है कि—

कलाकार का आदर्श-नैतिक अथवा वैचारिक आदर्श नहीं होता, वह सौन्दर्यिक आदर्श होता है। कला का जगत् सौन्दर्य का जगत है। वह यथार्थ जगत् के ऊपर है। यह मनुष्य की संवेदनशीलना से उत्पन्न जगत् है: इसमें कलाकार इच्छानुसार किन्तु सौन्दर्यिक भावना से वास्तव का रूपान्तरण-अन्यथाकरण करता है।[३]

किन्तु आदर्शवाद की ये धारणाएँ और आभिजात्यवाद की उपरिवर्णित विशेषताएँ अपने साथ नीतिवाद की मान्यताएँ लेकर परस्पर घुलमिल कर एक-सी हो जाती हैं और स्वच्छन्दतावाद के ठीक विपक्ष में आ पड़ती हैं। इस प्रकार के आभिजात्यवादी आदर्शवाद अथवा नीतिवादी आदर्शवाद से अनुशासित और उदात्तीकृत बिम्बों में विश्वास और आस्था की उद्दीप्त और मनोज्ञ प्रशान्ति रहती है—स्वच्छ स्फटिक-मूर्ति की विराटता, औज्ज्वल्य और भव्यता के सान्निध्य मे भावक भी फैल-सा जाता, निर्मल होता और जीवन पर अमित विश्वास प्राप्त कर उद्दीप्त होता है। और इसके उलटे स्वच्छन्दतावादी बिम्बों मे रचयिता की आकुलता, वेग, और उन्मद कल्पनाशीलता रहती है, जैसे स्फटिक-मूर्ति आँखे खोल ले और रूप की सौन्दर्य-लहरियों को देख कर विस्मयकारी आवेग से चंचल हो उठे।[४]

इस प्रकार आदर्शवाद मूर्त्त और स्पृश्य, दीप्त और विराट् बिम्बों की चित्रशाला है और स्वच्छन्दतावाद सूक्ष्म, अमूर्त्त, नाद-तरंगमय विलक्षण बिम्बों की नक्षत्र-माला का द्यौलोक है।

भारत मे आदर्श और यथार्थ, अथवा आभिजात्य और स्वच्छन्दता के द्वन्द्वात्मक युग्म आधुनिक रूप-प्रकार में प्रकल्पित न थे। यहाँ की समाहारात्मक संस्कृति में दोनों वृत्तियाँ लोक-मंगल का ही उद्देश्य रख कर पुरुषार्थ-चतुष्टय की सम्प्राप्ति का पथ आलोकित करती थी।

आधुनिक हिन्दी-कविता में छायावादी कवियों में जो आदर्शवाद, स्वच्छन्दतावाद, और फिर आभिजात्यवाद के तत्त्व दिखाई पड़ते हैं, वे सर्वांशतः वे ही नहीं हैं, जो पाश्चात्य-जगत् में गृहीत हुए हैं। उनका प्लैटोनिक प्रेम नैष्ठिक वृत्तिजन्य नहीं था, उनका स्वच्छन्दतावाद राजनैतिक, सामाजिक और वैचारिक आक्रोश से क्षुण्ण और प्रकम्पित नही था, और न उनका आभिजात्यवाद ही पूर्णतः 'क्लैसिकल' था। इनके जो भी लक्षण उनमें दिखाई

पड़ते हैं, वे भारतीय प्रवृत्तियों पर विदेशी प्रवृत्तियों के रूपान्तरण और समन्वय से उद्भूत हुए थे। जैसा कि पहले संकेतित हुआ है, महान् कवि एक साथ स्वच्छन्दतावादी, आदर्शवादी और यथार्थवादी होता है। यथार्थवादिता तो उसका मनोविज्ञान-पक्ष है; आदर्शवाद रचना-प्रक्रिया का पक्ष है; आभिजात्यवाद उसका तात्त्विक आधार है, और स्वच्छन्दतावाद उसकी मूल प्रकृति। अतएव समन्वित काव्य में 'वाद' का प्रश्न नहीं उठता। प्रश्न वहाँ उठता है जहां कवि स्वयं प्रश्न होता है। वास्तविक समन्वय में सामान्य मिश्रण मात्र नहीं होता; पक्ष-विपक्ष के द्वंद्व का साधारण धरातल पर मिलान भर नहीं होता। अपितु जटिल भावों के समतोल द्वन्द्वों का एक ऊर्ध्वबिन्दु पर परिहार होता है।" जिस ऊर्ध्व-बिन्दु पर प्राचीनता और नवीनता के, भारतीयता और अभारतीयता के द्वन्द्वों का परिहार छायावादी युग में हुआ था वह थे 'निराला'; पर वे अपने केन्द्र से कुछ विचलित से हो गए-से रहे। अतएव जहाँ वे केन्द्रस्थ हैं, अच्युत हैं। शेष में निश्चय ही 'प्रसाद' सर्वोपरि ठहरते हैं, जिन में समन्वय पूर्ण और महिमामय है।

हर्बर्ट रीड के अनुसार—

> आधुनिक युग आतिशय्य और प्राचुर्य का तो है, किन्तु दृढ़ता का नहीं। निश्चित रूप से यह तनावों के गुरु-भार का युग है। परन्तु इसकी ऊर्जा-शक्ति के संबंध में संदेह अधिक होता है। अर्थात् यह युग न तो रोमांटिक है, न क्लैसिकल। ऐसी स्थिति में कवि के सामने अपने आन्तरिक परिप्रेक्ष्य के आधार पर, अथवा कहें, इन्द्रियों की व्यापकतम साक्षी पर निर्मित सतुलित व्यक्तित्व पर भरोसा करने के सिवा कोई दूसरा चारा नहीं है।"[६]

इस कारण छायावाद के अंतिम चरण से हिन्दी-कविता पर भी देशी-विदेशी काव्य-कला के विविध रूप-विन्यासों के प्रभाव बड़ी तेजी से पड़ने लगे तो कवियों ने भी संग्रहण और समंजन की अपनी रफ्तार बढ़ा दी।

भारतीय साहित्य में 'यथार्थवाद' पृथकशः पहले कभी कोई सिद्धान्त न था। किन्तु यथार्थ-चित्रण काव्य एवं कला की स्वाभाविक सहज प्रवृत्ति था। 'दर्शन' से गृहीत इस शब्द का प्रयोग प्रथमतः पाश्चात्य चित्रकला में उस पद्धति के लिए हुआ था जो जीवन के यथावत् चित्रण पर सिद्धान्ततः बल देती थी। सौन्दर्यिक दृष्टि से विषय और वस्तु का चुनाव, परिप्रेक्ष्य की प्रस्तुति आदि न कर, वस्तु की वास्तविकता के अंकन को महत्त्व देने के कारण इसमें कलाकार कुछ मुक्त-सा होता है। साहित्य में बालज़क की रचनाएँ यथार्थवादी परम्परा के अग्रबिन्दु हैं। कॉमते (१८३०) के दर्शन में

सत्य का प्रतिमान 'ज्ञात' और 'तथ्य' माना गया है। उसने दर्शन का आख्यान समाजशास्त्र और विज्ञान की दृष्टि से किया है। फ्रायर ब्रंक ने प्रथमतः धर्म की आलोचना नृतत्त्वशास्त्र की दृष्टि से की थी। फिर १८३९ ई० मे डागोर ने 'कैमरे' का ईजाद कर फोटोग्राफी की कला का सूत्रपात किया था। मुद्रण की सुविधा से समाचार-पत्रों का भी प्रकाशन होने लगा था। फिर विज्ञान ने संसार के अनेक देशों, मनुष्यों, तत्त्वों के अनुसधान-आविष्कार किए। फलतः यथातथ्य वर्णन उचित, आवश्यक और वैज्ञानिक माने जाने लगे।

जार्ज मालियर[७] ने इसके दो प्रकार बताए हैं—१. यथातथ्य रूपांकन, और २. निम्न जीवन का स्पष्ट चित्रण। हीगेल, फ्रायड और मार्क्स के सिद्धान्तों के कारण यथार्थवादिता के क्षेत्र में विस्तार और प्रणाली मे बेलौस बुलन्दी अथवा आक्रामकता आई। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, यौनवाद, उपेक्षितो के प्रति सहानुभूति, स्पष्ट और निर्भीक शब्द-प्रयोग, ठोस, दृश्य बिम्ब-निर्माण आदि विशेषताएँ इसकी देन हैं।

प्रकृतवाद—चित्रकार गुस्ताव कोरबेत, (१८१९-१८७७), ने उन्नीसवी सदी में यथार्थवादी चित्रण-शैली मे कुछ और उग्रता और तीक्ष्णता ला कर 'प्रकृतवाद' का सूत्रपात किया था। एमिली जोला ने उसे काव्य-कला में भी प्रतिष्ठित किया। प्रकृतवाद यथार्थ-चित्रण ही नही करता, आगे बढ़ कर नये भौतिक संसार का निर्माण भी करता है। मोपासाँ, हाप्टमैन, इब्सन आदि प्रकृतवाद के प्रसिद्ध रचनाकार हुए हैं। पूर्ववर्ती हिन्दी-काव्य पर इसका प्रभाव कम पड़ा है, कथा-साहित्य पर अधिक। किन्तु निराला, पंत, बच्चन, अंचल, रमण, अज्ञेय, माचवे, गिरिजाकुमार, नेमिचन्द्र आदि कवियो की रचनाओ में कुछ स्थल पर इसके तेवर दिखाई पड़ते हैं। युवा-कवियों के ग्राम्य, अश्लील, तीखे, नग्न शब्दो और जन-साधारण के चालू मुहावरो, लटकों के बे-हिचक प्रयोग और खुले चित्रण इसी वाद की शैली है।

प्रभाववाद—चित्रकार इदोर्द मानोत (१८३२) के द्वारा यह वाद प्रकृतवाद मे संशोधन का उद्देश्य लेकर चलाया गया था। उनका कहना था कि चित्र मे प्रधान व्यक्ति है प्रकाश। प्रभाववाद नेत्र पर आश्रित चित्र-कला का वाद है। नेत्र दृश्य को हल्के-गाढे रगो के धब्बों में ही देखता है, मन पर उन्हीं धब्बों के पुज का एकत्र प्रभाव पड़ता है। वृक्ष हरे हैं, पर नत्र उन्हें भूरे रग का देखता है हल्के रग ही कला के रग हैं उसी

भाँति प्रभाववाद दृश्य की प्रस्तुति रगो के लेप से नही, विन्दु और धब्बो की रग-योजना से करता है। 'वस्तु' तो रही प्रकृतवाद और यथार्थवाद की ही, पर शैली हुई रंगों के स्पर्श मात्र मे 'वस्तु' की विभिन्न आभाओ को पकड लेने की। इसमे 'वस्तु' मे स्थूल भराव के स्थान पर रिक्त अवकाश आए, जिन्हे मन अपनी ओर से भर कर नये रूपाकार में पूर्ण कर लेता है। फलत., चित्र मे लम्बाई-मोटाई के अतिरिक्त तीसरा आयाम, गहराई का, आ जाता है। कुछ समीक्षको ने इस विशेषता के कारण इसे 'वस्तु' की 'गीतिकविता का चित्रण' नाम दिया है।[८] काव्यादि में इस वाद के व्यापक प्रभाव पड़े। उदाहरण-स्वरूप अस्पष्ट, धूमिल चित्रण और दो-चार रगीन, चमकदार, आकर्षक विशेषणो, भाववाचक संज्ञाओ, समानाधिकरणो आदि के प्रयोग के द्वारा आकर्षक बिम्ब प्रस्तुत कर देने के छायावादी कौशल प्रभाववादी रंग-योजना की कलात्मकता से दूर नही पडते। इस शैली की मुख्य विशेषताएँ है—ज्ञात अथवा स्मृत भावनाओ का वर्जन, एवं रचयिता के व्यक्तित्व का विसर्जन, दृश्य और विषय का इन्द्रिय-गृहीत रूप, रग, घुलावट आदि में अभिव्यजन, अर्थात् अस्पष्ट और धूमिल चित्रण, हल्के-मृदु शब्दो और रंगो का प्रयोग, ताकि शब्द आभास मात्र दें, और आकृतियाँ धुँधली और एक-दूसरे से घुलती-मिलती-सी दीखें, 'विषय' के गुण-लक्षणादि को पाठक के चित्त पर आच्छायित कर देने के उद्देश्य से ब्योरेवार विवरण के स्थान पर प्रभावोत्पादन की दृष्टि से 'विन्दु-वादी' शब्द-चयन, शब्द-क्रम-निर्बंधन और संदर्भन आदि। व्यावहारिक आलोचना पर भी इनके प्रभाव पडे हैं; यथा—गंगाप्रसाद पाडेय, शांतिप्रिय द्विवेदी आदि लेखकों एवं कतिपय कवियो द्वारा लिखी गयी आलोचनाएँ।

अतियथार्थवाद अथवा सुररियलिज्म:—फ्रांस में १९१८ ई० में गिल्लाव्म एपोलोनेयर द्वारा उद्भावित सुपररियलिज्म ऐसा नाम था जिससे उन्होंने घनवाद, भविष्यत्वाद आदि को सन्निविष्ट कर एक नये वाद के सूत्रपात की कल्पना की थी। कुछ काल बाद १९२४ ई० में मनोविज्ञानी डॉ० आन्द्रे ब्रेतों ने 'डाडावाद' के स्थान पर 'सुररियलिज्म' नाम से अलग वर्ग स्थापित किया। यह वाद 'साम्यवादी' मान्यताओ को लेकर उठा। इसमे विवेक से मुक्त अवचेतन मानस के यान्त्रिक प्रकाशन पर वल दिया गया तथा था सौन्दर्यवादी, नीतिवादी समस्त धारणाओ से आमूल पृथक् हो कर स्वच्छन्द अभिव्यजन के लिए मुक्त आसंग की शैली अपनाई गई थी। राजनैतिक आन्दोलन के रूप मे यह समाप्त

हुआ, पर मानस-चिकित्सादि में एवं काव्य-रचना-प्रक्रिया मे यह वाद प्रभावशाली रहा। यह वाद स्वप्न और स्वच्छन्द विचार-प्रवाह पर आधारित है। इस वाद में काव्य या लेखन की रचना, निर्माण या सर्जन नही माना गया है, स्वत: आलेखन या यन्त्रवत् प्रकटीकरण माना गया है। इसे ही 'शुद्ध कविता' का अभिधान भी प्राप्त है। रचनाकार इसके द्वारा अपने डूबे-भूले मन को पूर्णत: पा सकता है। सुररियलिज्म मनोविश्लेषण के प्रतीक, जैसे—साँप, आग, पानी, रोटी, शराब, आदि के प्रयोग द्वारा (१) प्रत्ययात्मक और सूक्ष्म रूपों में या (२) स्थूल रूपो मे भी अवचेतन को चेतन के समक्ष उपस्थित कर देने का उपक्रम है। यह काम वह बिम्बों या प्रतीकों के सहारे करता है। अत. मूर्तन की दृष्टि से इसके रचयिता अन्तश्चेतनावादी है, पर उसके रूप-पक्ष की दृष्टि से प्रतीकवादी। इस वाद के घोषणा-पत्रों, विचारों के चिन्तकों में ब्रेतों और रैम्बो थे। ब्रेतो ने मानव-मन की मुक्ति को महत्त्व दिया था और रैम्बो ने प्रत्यक्षाभासी, अपसामान्य मन.स्थिति की साधना पर बल दिया था। इस वाद में अनेक पूर्ववर्ती मनीषियो की भी सकल्पनाएँ गृहीत हैं, यथा—मार्क्स द सादे का विद्रोह भाव; गारार्द द नर्वल का बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् की अन्तस्सम्बन्ध-कल्पना; बादलेयर की मानवीय अव्यवस्था की और मालार्मे की काव्य-रचना के जादू से सम्बन्धित होने की धारणाएँ आदि। पॉल एलवर्द (१८९५-१९५२), ब्रेतों, जूलस सुपरवाइल आदि इस वाद में प्रसिद्ध कवि और मेक्स अर्न्स्ट चित्रकार हुए हैं।

'वाद' रूप मे चाहे यह अपना महत्त्व स्थापित न कर सका, पर प्रभाव-रूप में यह काव्य एवं कलाओं के द्वारा व्यापक रूप से गृहीत है—लय बदलने लगी, बिम्ब और प्रतीक महत्त्वपूर्ण होने लगे, स्पर्श-बिम्ब और गति-बिम्ब एवं मिश्रेन्द्रिय के बिम्ब महत्त्व पाने लगे। कविता की वृत्ति भी (एवं कविता-मुद्रा भी) चिन्तनात्मक न हो कर दिवास्वप्नवत् हो उठी।[९] केन्द्रण का अभाव, बिम्बों में आवृत्ति, किन्तु अमूर्त्तता एव इन्द्रियान्तरित प्रत्यक्षवत्ता, तथा स्पष्टता और बेधकता का अभाव इसकी ही विशेषताएँ हैं जो कविता को हल्की किन्तु गंभीर बना डालती हैं। डायलन टामस, एडिथ सितवेल आदि की कविताओं में आदिम नृत्यों की गूंजें भी इसके ही प्रभाव हैं। आधुनिक हिन्दी कवियों में कुंवरनारायण, केदारनाथ सिंह, विजयदेव नारायण साही (मछली घर) सर्वेश्वर दयाल, श्रीकान्त वर्मा आदि अनेक नये कवियों ने इसका उपयोग बिम्ब रचना में किया है, किन्तु इसके अति व्यापक प्रयोक्ता 'मुक्तिबोध' हैं।

उनके फैंटेसी के प्रतीको मे अतियथार्थवाद, अभिव्यजनावाद और प्रतीकवाद की विशेषताएँ है। पर अंतश्चेतना के प्रतीक का ही स्वर प्रधान है।

अभिव्यंजनावाद और उसका प्रतिफलित रूप रूपवाद (फार्मलिज्म) दोनो बाह्य अभिव्यजन की आन्तरिक अनुभूति को मूल मानते हैं। अभिव्यंजनावाद चित्रकला की विशिष्ट प्रणाली के रूप मे पहले फ्राँसीसी चित्रकार **हर्वे** द्वारा १६०१ में चलाया गया था। बाद मे **हर्मन बार्ट** ने उसे साहित्य मे उपस्थापित किया। प्रतिवाद के रूप मे प्रकल्पित इस वाद पर **बर्गसाँ** के 'एलाँ विनल', **हुसरेल** के स्वानुभूतिपरक प्रकृतिदर्शन और **फ्रायड** आदि के अवचेतन-उपचेतन मानस के रहस्यो के प्रभाव हैं। यह वाद न तो वस्तुवादी है, न प्रत्ययवादी, परन्तु यह कलाकार की निजी अनुभूति का स्वच्छ प्रकाशन है, अतः व्यक्तिगत है। फलतः इसकी शैली विस्फोटक और प्रलापमयी है। वेग और उद्गति पर इसका विश्वास है। यह लेखन मे तार की भाषा या हकलाने की भाषा का व्यवहार भी करना उत्तम मानता है। इसके बिम्ब एक ओर तो प्रकृति के छोटे कण मे भी उद्दाम संचेत्यता का आन्दोलन प्रस्तुत करते हैं, तो दूसरी ओर मनुष्य की तीव्र अतिचेतना को भी निष्क्रिय यन्त्रवत् रखते हैं। इसमें सर्वत्र आतिशय्य का प्रदर्शन है। ये बिम्ब यथार्थ और अतियथार्थ के मिश्रण द्वारा अजनबी और विलक्षण, विरूपीकृत मूर्त्तियो की अमिट छाप छोड़ जाते हैं। इसके अन्तर्गत (१) क्रियात्मक और बौद्धिक (२) सामाजिक एवं (३) आध्यात्मिक तीन प्रवृत्तियो के रचनाकार दिखाई पड़ते हैं। प्रथम प्रवृत्ति मे रचनाकार—जैसे, **हिल्लर टाल्मर, हसेल क्लेबर** आदि सामाजिक-राजनैतिक सुधार के प्रश्न से सबधित रचना प्रस्तुत करते थे, दूसरी प्रवृत्ति के रचनाकार व्यक्ति और जाति की समस्याओ से सबध रखते थे और तीसरी प्रवृत्ति के रचनाकारो का सबध मनुष्य और ईश्वर-विषयक सप्रश्नों से था। अभिव्यजनावादी कवि **फ्रांज वर्फेल** आध्यात्मिक कोटि के अभिव्यंजनावादी कवि थे। **काफ्का** भी प्रसिद्ध-कवि और उपन्यासकार हुए। अभिव्यंजनावाद नाटक के क्षेत्र मे कुछ अभिनव उद्भावनाएँ प्रस्तुत कर गया है। यह आन्दोलन हिटलर के काल में नये रूप में ढल गया।[१०]

अभिव्यजनावाद की विशेषता है—चित्रण की सफाई। प्रभाववाद से वह इस अर्थ मे भिन्न था कि प्रभाववाद रोमांटिक अधिक था। प्रभाववादी बिम्ब कुछ-बहुत विषयनिष्ठ होते हैं, पर अभिव्यंजनावादी बिम्ब विषय से जुडे होते ही नही। फिर भी अभिव्यजनावादी कविता की पंक्तियों मे

बिम्ब केन्द्रित, सुदृढ़, तेज और सजे-सजाये-से दीखते हैं। अभिव्यंजनावादियों की भाषा बोलचाल की होती है, पर इतने चुस्त और चुने हुए शब्द रहते हैं कि जैसे तार की भाषा हो, और इतने भारी-भरकम, और तेज-तर्रार कि जैसे शब्द दिमाग फोड कर निकल रहे हों। इस कारण यह 'वाद' बिम्बवाद से पृथक् है, जिसमें शब्द हल्के और अधिक सहज, किन्तु आकर्षक बिम्ब प्रस्तुत करने वाले प्रयुक्त होते हैं।

अभिव्यंजनावाद से दो कदम आगे सुररियलिज्म अथवा प्रकृतवाद है। 'सुररियलिज्म ने जितनी गर्म हवा बहाई उतनी गर्म हवा किसी और आन्दोलन में पैदा नहीं हुई थी।' 'वह काव्यशास्त्र से अधिक मनोविज्ञान के समीप है।' 'किन्तु अभिव्यंजनावाद आदि मे अत तक कला का आन्दोलन है।'[११] यह सदा स्मरणीय है कि क्रोचे का अभिव्यंजनावाद 'कला-दर्शन' है और यह अभिव्यंजनावाद कलाकाव्य की प्रकाशन-भंगिमाओं में से एक शैली, या 'वाद' मात्र। अतः दोनों मूलत भिन्न अवधारणाएँ हैं।

अभिव्यंजनावाद और कलावाद का अलक्ष्य प्रभाव शुक्ल जी ने छायावाद पर स्वीकार किया है। वह है—कल्पना का प्राबल्य, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और वैचित्र्य, शरीर-धर्म का ऐन्द्रिय प्रकाशन, भावानुभूति की दुर्बलता और जीवन के व्यापक प्रसार मे काव्य-दृष्टि का अवरुद्ध हो जाना आदि (द्रष्टव्य-हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६५३-५६)। उनसे आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी सहमत नहीं हैं (द्रष्टव्य हिन्दी साहित्य, पृष्ठ ४६२)। नई कविता मे, प्रधानतः मुक्तिबोध में, इसके प्रभूत उदाहरण मिलते हैं।

रूपवाद—इसमें अभिव्यजनावाद, प्रभाववाद आदि का ही लक्ष्य गृहीत है। वह है कविता को अर्थ का शब्द-चित्र बनाना अथवा नादानुरणनात्मक शब्द-रूप देना। सगीत मे जो काम नादादि करते हैं और चित्र में रंग, वही काम रूपवादी कविता में शब्द, शब्द-क्रम आदि करते हैं। फलतः ऐसी कविता मे कलात्मक प्रभाव के साथ अर्थ गंध की एकरूपता दीखती है। कोठार लुत्से ने इसे 'भाषायी सामग्री की एक कलात्मक पुनर्व्यवस्था' माना है (द्रष्टव्य 'साहित्य मे रूपवाद और प्रतिबद्धता' साहित्य : विविध संदर्भ)। हिन्दी मे 'तार सप्तक' से रूपवादी कविताओं का प्रचलन हुआ। प्राचीन भारतीय चित्रकाव्य से यह प्रकृत्या-प्रवृत्या पृथक् है; क्योंकि चित्रकाव्य से बनने वाले चित्र का लगाव काव्य के अर्थ मे नही होता। किन्तु रूपवादी

कविता मे 'भाषा अपने आप एक वास्तविकता होती है' और उसकी वास्तविकता है कविता के अर्थ का स्वर, व्यंजन, नाद-लय में, और सब के सम्मिलित 'बिम्ब' में प्रस्फुटन। शमशेर बहादुर सिंह की अधिकांश कविताएँ तथा अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, माचवे आदि की कुछ कविताएँ रूपवादी हैं।

प्रतीकवाद—पिछले पृष्ठो पर प्रतीक के सम्बन्ध में यह सूचित किया जा चुका है कि व्यापक अर्थ में प्रतीक समाज-स्वीकृत किसी अन्य का सूचक होता है, जैसे—'राष्ट्रध्वज' राष्ट्र की शक्ति, एकता और जीवन का सूचक है।[१२] कलाकार प्रतीक की सृष्टि करके उसे सूक्ष्म से सूक्ष्मतम भावों का संवाहक बनाता है, अथवा कलाकार साक्षात् जीवन-जगत् के ज्ञात और ठोस वस्तुओं का उपयोग प्रतीकवत् कर सौन्दर्यादि के सहारे उनसे कल्पनामय, स्वप्निल अथवा रहस्यात्मक बातें और कभी-कभी यथार्थ जीवन की भी व्यंजनाएँ ध्वनित करता है। अज्ञेय ने अपने निबंध 'प्रतीक और सत्यान्वेषण' में बताया है कि 'कवि प्रतीक द्वारा सत्य को जानता है—सत्य के अथाह सागर में वह प्रतीक-रूपी कंकड फेंक कर उसकी थाह का अनुमान करता है।'[१३] इस प्रकार के सामान्य प्रतीक काव्य एवं कलाओ में प्राचीन काल से संरचित हुए हैं। मनोविश्लेषण-शास्त्र के विकास के बाद अन्तश्चेतना के प्रतीक भी कला-काव्यादि में गृहीत हुए। अन्तश्चेतनावादी, अतियथार्थवादी और अभि-व्यंजनावादी आदि सभी कलाकार प्रतीक का महत्त्व स्वीकार करते हैं। 'वाद' रूप मे प्रतीक का प्रचलन उन्नीसवी सदी के लगभग अंत में फ्रास से शुरू हुआ था जो धीरे-धीरे एक साहित्यिक आन्दोलन का महत्त्व भी पा गया। कहा जाता है कि कॉलरिज ने 'शब्द' को 'वस्तु' का प्रतीक मान कर[१४] और इमर्सन ने 'दि पोएट' नामक लेख में 'शब्द' में बँधी 'वस्तु' को अपरिमेय इस अर्थ में मान कर कि उसका 'वस्तुत्व' समाप्त नही होता, वह कलात्मक रूप में फिर से उभर आता है, ठीक जैसे झडे वृक्ष से पत्ता निकल आता है, प्रतीकवाद को साहित्यिक क्षेत्र में प्रथमतः अवतरित किया था।[१५] फ्रास मे प्रतीकवाद को जॉं मारिए ने पहले ग्रहण किया था; पर महिमामय बनाया बॉदलेयर ने (द्रष्टव्य पृष्ठ २८५-६ 'कारेसपांडेंसेज') सांगीतिक गूँज से और फिर मालार्मे ने वैचारिक ताप से तथा रैम्बो एवं वर्लेन ने ऐन्द्रियिक-सांगीतिक उपप्लव आदि से। आधुनिक काल के साहित्य-स्रष्टाओं में जार्ज मूर, आर्थर साइमन्स, डाउसन, इलियट आदि अंग्रेजी के कवि प्रतीकवादी रचनाओं के लिए विख्यात रहे हैं, पर येट्स प्रतीक-सिद्ध प्रतिनिधि कवि हैं।

अन्य वादो में गृहीत प्रतीक माध्यम या संकेत भर होता है। अपने निश्चित अर्थ देने के बाद चुक जाता है। प्रतीकवाद मे प्रतीक की आध्यात्मिक, रहस्यात्मक, सौन्दर्यिक सत्ता है। उसकी शाश्वतता या नैरन्तर्य वहाँ स्वीकृत है। बॉदलेयर का विश्वास था कि उसकी कविता के प्रतीक अगम्य को मुखरित करते हैं और बहिर्जगत् के बिम्ब उसके आन्तरिक जीवन के अनुकूल हैं। क्योंकि 'मानव-आत्मा की कुछ विशिष्ट और प्राय: अतिप्राकृतिक अवस्थाओं मे नित्य की घटनाओं के माध्यम से जीवन की गंभीरता व्यक्त हो जाती है। तब साधारण जीवन प्रतीक बन जाता है। . कल्पनाशील कलाकार ही क्षुद्र दैनिक वस्तुओं मे महत्ता का दर्शन कर सकता है और स्वर्गीय रूप का भावन भी।' इस प्रकार प्रतीकवादी कविता मे शब्द-शब्द को अगम्य की व्यजना का विशेष कार्य करना पड़ता है। फलत: शब्दों को सामान्य अर्थ से मुक्त और परिचित परिवेश-मंडल, प्रसगादि से अलग कर व्यवहृत किया जाता है। अत: मालार्मे का कथन है कि 'कविता एक रहस्य है जिसके लिए कुंजी की खोज प्रत्येक पाठक को स्वय करनी चाहिए।' इस प्रकार प्रतीदवादी कविता में 'प्रतीक' स्वयं कविता है और कविता 'प्रतीक' है। आइन्सटाइन ने 'दि फिलमसेंस' में पिकासो के कथन का उद्धरण देकर बताया है कि 'कुछ चित्रकार सूर्य को पीला बिन्दु मात्र बना डालते हैं, किन्तु दूसरे हैं जो 'पीले विन्दु' को अपनी कला से सूर्य बनाते हैं।[१५] वह इस कारण कि दूसरे कलाकार मे प्रतीक कलात्मक रूप से सृष्ट होता है। सर आर्थर एडिंगटन के शब्दो मे—'अणु और तारा के मध्य-विन्दु में मनुष्य के सभी आयमों को प्रतीक में प्रस्तुत करना ही काव्य है।' भवानी प्रसाद मिश्र प्रतीक में संवेदनशीलता इसी कारण मानते हैं—

प्रतीक जो मुझे मथ रहे हैं	उन्हें भी मथेंगे आगे-पीछे
क्योंकि महा पथ पर क्षण दो क्षण	ये प्रतीक सब के रथ रहे हैं।

—अँधेरी कविताएँ

प्रतीकवाद की विशेषताएँ हैं-१. विषय और विषयी का, बाह्य और आभ्यन्तर का, व्यष्टि और समष्टि का, प्रकृति और जीवात्मा का, यथार्थ जगत् और आध्यात्मिक जगत् का, शब्द और अर्थ का, बिम्ब और प्रत्यय का एकीकरण; २. एकीकरण के लिए इन्द्रियों मे सह-संचरण और मन के साथ अन्तरंग ऐक्य का स्थापन; ३. कविता का नादात्मक संगीत एवं स्थापत्यात्मक मूर्त्ति-चित्र से अभिन्न लगाव ४ अमूर्त एवं व्यक्तिगत प्रतीकों के सृजन के

कारण कविता का निगूढ, दुर्बोध होना (और जन-साधारण एवं जीवन से कट कर अलग हो जाना), ५. फलतः, जैसा कि शुक्ल जी ने 'काव्य में रहस्यवाद' में तथा सी० एम० बावरा ने 'दि हेरिटेज ऑफ सिम्बालिज्म' (पृष्ठ १-११२) में बताया है—कविता का काल्पनिक, मिथ्या, साम्प्रदायिक हो जाना और प्रतीकवाद के द्वारा पैगम्बरवाद को प्रश्रय मिलना। ६. अर्थ-ग्रहण में पाठक को लोकतंत्रात्मक स्वाधीनता की प्राप्ति, ७. फलतः, आलोचना और मूल्यांकन के प्रतिमानों का विघटन और मतवादी समीक्षा-प्रणालियों का जन्म।

हिन्दी काव्यधारा में प्रतीक सामान्य अर्थ में (द्रष्टव्य पृष्ठ १२ आदि) प्राचीन काल मे ही आध्यात्मिक काव्य, रहस्य-दर्शन के काव्यो और सतों-भक्तों की कविताओ मे तत्त्वतः और विधानतः गृहीत थे। किन्तु प्रतीकवादी अर्थ में प्रतीकों का ग्रहण छायावाद के उत्तरार्ध से शुरू हुआ। प्रतीकवाद यदि 'आत्म के नैरन्तर्य और अनात्म के नैरन्तर्य के बीच शाश्वत और आधारभूत सादृश्य' की अभिव्यक्ति है, तो देश-काल के आनुषंगिक अन्तर के बावजूद छायावाद उससे दूर नही पडता। आगे चल कर जब मार्क्स, फ्रायड आदि के प्रभाव गृहीत हुए तो स्वच्छन्दतावाद, प्रगतिवाद आदि की काव्यधाराओ मे भावनात्मक और आध्यात्मिक प्रतीक तत्त्वतः और प्रवृत्या भिन्न होने लगे। प्रयोगवाद और नई कविता में आकर प्रतीक-पद्धति प्रतीकवादियों की कोटि की हो गई। फलतः कविता मे १. प्रखरता आई; वह ऐन्द्रिय और मानसिक दोनो सीमाओं को समाहित करने लगी; २ नये प्रतीकों की खोज, उपलब्धि और प्रयोग से कविता में अद्भुत विकास और शब्द-शक्ति में ध्वनन-क्षमता आई ४. अलंकार-शास्त्र और रूढ अलंकारत्व से छुटकारा-सा मिला; ५. कविता वैयक्तिक आविष्कृति भी हुई और सामूहिकता की अभिव्यक्ति भी, फलतः ६. कविता के शब्द और बिम्ब आभिजात्य के कठघरे से मुक्त होकर सार्वजनीन हुए; किन्तु साथ ही ७. प्रतीक लोकतंत्र की प्रणाली के अनुसार प्रत्येक कवि के वैयक्तिक हो कर सार्वजनिक बोधगम्यता से दूर पड गए।

भविष्यत्वाद—जब कला और काव्य के क्षेत्रों में स्वच्छन्द अति-यथार्थवाद, प्रकृतवाद, प्रतीकवाद आदि का बोलबाला था तब दो ऐसे नये वाद चल पड़े, जो स्वीकृत अभिव्यंजन-पद्धति के घोर विरोधी थे। एक था, फिलिप्पो तोम्मासो मेरीनेत्तो द्वारा १९०५ ई० में उद्भावित भविष्यत्वाद, जिसमें काव्य-विन्यास के सारे नियम तोड़ डाले गये थे और केवल संज्ञा, क्रिया के

सहारे गाणितिक अथवा राशायनिक फार्मूलों में काव्य के प्रकाशन का सिद्धान्त रखा गया था। यह वाद कुछ दिनों में ही क्षीण भी हुआ। **घनवाद**—दूसरा वाद घनवाद था, जिसके प्रवर्त्तक थे फ्रांस के जार्ज ब्रेक और स्पेन के पेब्लो पिकासो। प्रभाववादी चित्रकला की परम्परा में पॉल जान (१८३९-१९०६), विन्सेंट वान गॉग (१८५३-९०), पाल गॉगिन (१८४८-१९०३) और हेनरी मत्तिसे (१८५९-१९५४) आदि कुछ ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न चित्रकार हुए थे जिन्होंने संक्षेपण-शैली में दृश्यों को कम से कम रेखाओं से उभार देने की विशिष्टता विकसित की थी। इनके चित्रों से त्रिकोणात्मकता भी संकेतित हो रही थी। सेजान के चित्रो में ठोसपन लाने के लिये त्रिकोणात्मक स्पर्श अनायास प्रयुक्त हो गया था। परन्तु इस त्रिकोणात्मक स्पर्श को बाद के कलाकारों ने विज्ञान और आदिवासियों की कलाओं के संदर्भ के योग से एक सैद्धान्तिक मोड़ दिया। कुछ कलाकारो ने घोषणा की कि स्फटिक-जैसी ज्यामितिक आकृतियो का स्फोट प्रकृति का प्राथमिक क्रिया है। सारी वस्तुएँ आदिम अवस्था में स्फटिकवत् थी। बाद में वे गोलमटोल हुईं। जार्ज ब्रेक और पिकासो ने चित्रों में समुद्र, उद्यान, जहाज, मानवाकृतियों को मूल-आदिम कोणात्मकता में प्रकट करने के लिए उन्हें विरूपीकृत करना शुरू किया। विरूपण, विखंडन और फिर उनके कोणात्मक अवयवों का संघटन—यही घनवाद की विशेषता है। पिकासो इन्जीनियर भी थे; अतएव उस विज्ञान के सहारे उन्होंने विखंडन में अधिक शक्ति का भी सिद्धान्त रखा—१—शक्ति ही सौन्दर्य है; २—सीधी रेखा वक्र से अधिक शक्ति-सम्पन्न है। उनके चित्र विखंडित मूल तत्त्व का नाना ज्यामितिक आकारों में विरूपण अधिक है, न कि शक्ति और भाव का प्रतीकात्मक संघटन।[१०] काव्यादि की शिल्पीय त्रिकोणात्मकता में, पात्र, परिस्थिति और भाव-विचारादि के आकस्मिक परिवर्त्तन, शब्द-प्रयोग के बेमेल मिश्रण आदि में इसके प्रभाव देखे जा सकते हैं।

बिम्बवाद:—इन दोनों की प्रतिक्रिया में तथा प्रतीकवाद के आतिशय्य के प्रतिवाद में लंदन में १९०८ से १९१२ ई० के बीच बिम्बवाद के नाम से काव्य का एक आन्दोलन रिचर्ड आल्डिंगटन, एफ० एच० फ्लिंट, एजरा पाउंड, हिल्डा डू लिट्ल और युवा दार्शनिक टी० इ० ह्यूम आदि के द्वारा प्रवर्तित किया गया। बाद में इस आन्दोलन में डी० एच० लारेंस, जान० फ्लेचर, एमी लॉवेल भी आ गए और टी० एस० इलियट भी इससे प्रभावित

हुए। ह्यूम इस आन्दोलन के केन्द्रस्थ दार्शनिक थे तथा एजरा पाउंड और एमी लॉवेल आदि कवि मूल शक्तियां। बिम्बवाद मूलत: काव्य-कला से सम्बद्ध आन्दोलन रहा है। रोमांसवाद विलक्षण और अद्भुत की ओर सरपट जो जा रहा था, उसके उद्दाम वेग में चित्रादि की कलाओं की नयी विधाओं के कारण और भी त्वरा न आ जाय, इस हेतु ह्यूम ने कविता के लिए आनुरूप्य और औचित्य का सिद्धान्त दिया था—

> कविता ऐसे बिम्बों में लिखी जाय, जो ऐन्द्रिय आदान-प्रदान के माध्यम हो सकें — जैसे हाथोंहाथ हम कथ्य दूसरे को दे सकें।
>
> कवि का उचित उद्देश्य है कि वह जो देखता है, उसकी भंगिमा को ठीक-ठीक पकड़ ले···चाहे वह वस्तु हो, या कि भाव। कवि अपनी रचना को कला समझे, भविष्य-कथन नहीं।
>
> कविता बिम्ब से बनती है। रूपकों के पात्र में ही अर्थ दृश्य के रूप में रख कर बाँटा जा सकता है। गद्य का बरतन छेद-भरा होता है।[१८]
>
> कविता में बिम्ब अलंकार नहीं होते किन्तु प्रज्ञात्मक भाषा के सार होते हैं।

ह्यूम की दृष्टि से गद्य फैलाव की, बौद्धिक व्याख्या करने की भाषा है। गद्य ढाँचा बनाता है जिसके खंड दूसरे से अलग होते हैं। कविता गहराई की भाषा है। यह प्रज्ञा से उपजती है। कविता की जटिलता यांत्रिक नहीं होती, जैविक होती है। उसका प्रत्येक खंड दूसरे को प्रभावित और निर्दिष्ट करता है। एक-एक खड कुछ अर्थों मे सम्पूर्ण होता है। ह्यूम ने कविता की कला पर अपने विचार इस प्रकार दिये थे —

> कविता की रचना मुजेक-विन्यास के समान कठोर काम है। जैसे मुजेक का हर बिन्दु ठीक-ठीक आकार का होता है, वैसे ही कविता की प्रत्येक पंक्ति सुगढ़ और ठुकी हुई होनी चाहिये। हमारा प्रत्येक शब्द ठोस होना चाहिए, सुनिश्चित होना चाहिए और वैयक्तिक होना चाहिए। हमारे प्रत्येक शब्द पर एक बिम्ब चिपका होना चाहिए और हमें कोई भी शब्द ऐसा नहीं रखना चाहिये, जो लद्घड़ या पुलपुला हो।' ···'भावना किसी न किसी ठोस स्वप्न का आधार लेती है, अथवा वह स्वर पर अवलम्बित होती है। प्रत्येक भावना शारीरिक होती है।'[१९]

अतएव बिम्बवादियों ने कविता मे अस्पष्ट सामान्य-कथन, असम्बद्ध भाव, बौद्धिक विचार, निरर्थक शब्द, यहाँ तक कि असमर्थ विशेषणों और सम्बन्ध-सूचकों तक को त्याज्य समझा।

एजरा पाउंड पर चीनी अक्षर-विन्यास (आइडियोग्राम) का प्रभाव अर्नेस्ट फेनोल्लोसा के अनुवादों से पड़ा था। उसने उनकी 'दि चाइनीज रिटून कैरेक्टर एज ए मिडियम फॉर पोएट्री—ऐन आर्स पोएटिका' पुस्तक पर सम्पादकीय लिख कर उसका प्रकाशन भी किया था। चीनी-अक्षर विन्यास को समझने के लिए चीनी कविता-पंक्ति के हिन्दी और अंग्रेजी अनुवाद नीचे दिए जाते है।[१०] फेनोल्लोसा शब्दो में सज्ञा-क्रिया आदि की अद्वयता के पक्ष में थे, ठीक जैसे चीनी वर्ण-विन्यास में, वाक्यार्थ और अक्षर मे भी, एकत्व भावना रहती है। उन्होंने यह माना था कि सकर्मक क्रिया में संश्लेष है, अतः उत्तम है; किन्तु अकर्मक में विच्छिन्नता है, विश्लिष्ट भाषा में भी।

नीला धुँआ छूटती तोप-अग्नि सफेद हड्डियाँ
BLUE SMOKE BEACON FIRES WHITE BONES

चीनी कविता की इस पंक्ति में बिम्ब ही प्रधान हैं। चीनी शब्द अक्षर पर अक्षर के आरोपण के द्वारा लिखा जाता है। प्रत्येक अक्षर पूरे का पूरा वाक्य होता है और उस पर जब दूसरे, तीसरे, चौथे अक्षर द्वारा वाक्यार्थ आरोपित किया जाता है, तो पहले के मूल भाव से समस्त अक्षर पूर्ण प्रसंग के द्वारा निर्दिष्ट हो कर संश्लिष्ट अर्थ सम्मूर्त करते हैं। इस विधि से प्रत्येक अक्षर मूल भाव का प्रतिस्थानीय-सा होता है और अपने भावात्मक वातावरण के साथ वहाँ लिपिबद्ध इस प्रकार रहता है कि जैसे वह मूल भाव का मूर्त्त बिम्ब हो और उसके भावात्मक वातावरण काल्पनिक छायाभासों की तरह उसके पीछे दूर पर खडे हों। फलत कविता उन समस्त ध्वनियों, अनुरणनो के नादात्मक बिम्बों के साथ गृहीता के अर्थ-बिम्बों का सयोग कर समग्र अर्थ का एकाग्र समुत्थान करती है। प्राय' ऐसी विशेषता संस्कृत कविता में मूलवर्ती संज्ञा-बिम्ब पर विशेषणों, विशेषणात्मक वाक्यांशों आदि के सन्धि-समासादि से एवं हिन्दी कविता की कुंडलियाँ, छप्पय आदि में भी तद्वत वाक्यो, वाक्यांशो के लम्बे विन्यास के द्वारा लायी जाती है, जिनके संश्लेष से पूर्ण अर्थ अंत में आकर उठ खड़ा होता है। अन्तर यह है कि चीनी कविता में ये सारे काम अक्षर करते है। पर विश्लेषण-प्रधान भाषाओं में वह संभव नहीं। ऐसी भाषाओं में तो सबंध-सूचक, सयोजकादि के प्रयोग के कारण शब्द-शब्द में अन्तराल बढते चलते हैं। चीनी अक्षरों में ऐसा अंतराल नही होता। अतः उनसे बिम्ब ही बिम्ब बनते चलते है।

उपर्युक्त चीनी कविता अनूदित है। अंग्रेजी और हिन्दी अनुवाद में फैलाव आ गया है। उसे दूर भी नहीं किया जा सकता। अब उपर्युक्त कविता का अन्वय किया जाय—तोप से आग छूट रही है, जिसका नीला धुँआ दिखाई पड रहा है। नीचे है उजली हड्डियाँ। धुआँ उठ रहा है। यह प्रत्यक्ष वर्त्तमान, ठोस स्थिति है। कारण, धुआँ है, और वह नीला भी है। पर हड्डियाँ सफेद हैं। हड्डियाँ सदा सफेद थीं, सदा सफेद रहेंगी। इस नीले धुएँ की साक्षात् वर्त्तमानकालिकता और हड्डियों की सफेदी की चिरंतनता के दो वर्ण-बिम्बों में युद्ध की पूरी विभीषिका, फिर भी जीवन की शुभ्रता बडी सहजता के साथ अभिव्यक्त हो सकी है। काल के नीले पजे में घिरा मनुष्य फिर भी शेष रहता है, हड्डियों की सफेदी में ही सही। यही उसकी उज्ज्वल विभूति है। इस प्रकार इस पंक्ति में बिम्ब ही बिम्ब हैं।

विश्लेषण-प्रधान भाषा, कवि-काव्य को, व्यक्ति-समष्टि को तोडती है। इस 'आइडियोग्राम' से सम्बन्धित विचार-भावना का उपस्थापन पाउंड आदि ने

कविता मे किया था। बिम्बवादियो ने इसी भाति समानान्तर भाव, विचार, क्रिया आदि की सम्बन्धादि सूचक-चिह्नों के बिना प्रयोग से बिम्ब-प्रस्तुति का सोदाहरण सिद्धान्त रखा।

बिम्बवाद की शक्ति और प्राणधारा थी एमी लॉवेल। उसकी एक कविता निम्न है—

टामसस लंच रूम : ग्रैंड सेंट्रल स्टेशन

ठोस काँच के हरे-सफेद कंगूरेदार कटोरे,
दानेदार चीनी के बर्फ के समान ऊँचे-ऊँचे से,
लाइट हाउस की शक्ल की मेज पर सजी,
काली मिर्च और काले नमक की शीशियाँ।

इस कविता में वस्तुओ के बिम्बात्मक उल्लेख है। सभी चीजें करीने से सजी हैं —चीनी का एक-एक दाना अलग-अलग दीखता है और सब मिल कर हरे-सफेद कगूरेदार कटोरे में बर्फ की चोटियाँ बनाते हैं। मिर्च और नमक की शीशियाँ उस सफेद पृष्ठाधार पर लाइट हाउस की शक्ल बनाती हैं। दावत की मेज की सजावट मे बिम्बों का दृश्यत्व भी इतना साफ और तीखा है कि सब कुछ स्पृश्य-सा लगता है। बिम्बवाद इस प्रकार के स्पष्ट और सुनिश्चित प्रेषण के लिए उठाया गया आन्दोलन था।

बिम्बवादियो की रचनाओं के कुछ संग्रह 'सम इमेजिस्ट पोएट्स' के नाम से प्रकाशित हुए जिनमें से प्रथम सग्रह की भूमिका आल्डिंटन ने लिखी थी और लॉवेल ने उसका संशोधन किया था। वह बिम्बवाद का घोषणा-पत्र है और उसमे उसके मूल सिद्धान्त हैं। उन पर ह्यूम के उपर्युक्त उल्लिखित विचारो के प्रभाव है। वे सारतः ये हैं —

१. सदा ठीक-ठीक शब्द का प्रयोग करना है, अलंकार और अनावश्यक शब्द का कदापि नहीं। भाषा बोल-चाल की हो।
२. नई लयों की उद्भावना करनी है — चाहे वह मुक्त छन्द ही क्यों न हो, उसमें भी नई लयें लानी हैं। नई स्वर-योजना से नए भाव आते हैं।
३. विषय-चयन में स्वतन्त्रता बरतनी है। न तो अतीत हीन कला से जुड़ा है, न आधुनिक उच्च कला से। आधुनिक जीवन के कलात्मक मूल्य पर अटूट विश्वास करता हैं।
४. बिम्ब प्रस्तुत करता है। विषय-वस्तु का सही-सही निरूपण करना चाहिए। अस्पष्ट सामान्यता वर्ज्य है। तराशे हुए पत्थर की तरह के ठोस बिम्ब ही उत्तम हैं।

५. कविता ठोस और विशद हो, न अस्पष्ट हो और न अनिश्चित।

६. सान्द्रता कविता में सार है। संक्षिप्तता और मितव्यय आवश्यक है।

बिम्बवादियों के विरोधियों ने जब यह बताया कि यह बिम्बवाद कोई नई चीज तो है नहीं; क्योंकि काव्य-प्रकृति अपने माध्यम के कारण ऐसी सदा रही है कि कवि को बिम्ब-सर्जन करना ही पडता है, तो उत्तर मे ह्यूम के अनुयायियो का तर्क था -- एकदम सही बात है; पर टेकनीक के रूप में बिम्बवाद का सही-सही लाभ किसने उठाया ?

बिम्बवाद के समर्थको मे जॉन क्रो रैन्सम हुए हैं उन्होने अपने निबन्ध 'पोएट्री : ए नोट ऑन ऑन्टोलॉजी' (१९३४) में बिम्बवाद का पक्ष ओजस्वी ढंग से उजागर किया है।

उन्होंने १. समन्वित काव्य और २. विचार-काव्य से पृथक् ३. वस्तु-काव्य की तीसरी कोटि निर्धारित की है और उसमें बिम्बवादी काव्य को शुमार किया है। उनके अनुसार विचार-काव्य और वस्तु-काव्य अपनी-अपनी जगह स्वतंत्र और स्वायत्त होते हैं और युगीन अनुक्रम से एक के बाद एक आते-जाते हैं। बिम्बवादियों का काव्य वस्तु-काव्य है। उसका उद्देश्य भौतिकता का पुनः स्थापन है। उस समय जन-मानस से वस्तुत्व की चेतना लुप्त हो गई थी। बिम्बवादी कवि वस्तु को उसके वस्तुत्व में प्रस्तुत करने के आग्रही थे। वस्तु के वस्तुत्व की प्रस्तुति से जन-मानस में कर्म-चेतना जाग्रत होती है। एमी लावेल की उपर्युक्त कविता में वस्तु का वस्तुत्व इतना साफ और ब्यौरेवार है और उसकी सजावट में इतनी कसावट, इतनी अनुशासनबद्धता है कि लगता है कि सैनिक कतार बाँधे खड़े हैं। यह संश्लिष्ट दृश्य हमें सोचने को मजबूर करता है। उसके अर्थ को हम पाना चाहते हैं।

बिम्बवाद 'विचार बनाम वस्तु' में 'वस्तु' को लेकर चला; किन्तु व्यवहारतः वह 'विचार बनाम बिम्ब' में 'बिम्ब' का आग्रही था। 'विचार' को मूल तत्त्व मानने वाले 'बिम्ब' को भी 'वस्तु' ही मान लेते हैं। फिर भी 'विचार' को 'अ-बिम्ब' और 'अ-वस्तु' मान कर अपने विचार देते हैं। यदि वे इतना मान लें कि 'विचार' में भी बिम्ब' आधारभूत रहता है, तो सारी उलझनें दूर हो जायेंगी।

'बिम्ब' में एक अछूती ताजगी रहती है। 'विचार' मस्तिष्क की छलनी से छँट कर, अनेक संस्कारों से धुल-मँज कर आता है। उसमें बिम्ब की ताजगी कहाँ? 'विचार' तो ऐसा 'बिम्ब' होता है, जिसकी निजता का अपहरण हो गया हो।

'बिम्ब' में प्राकृतिक और वन्य मस्ती है। उसे विचारों से बाँध कर बन्दी बनाया जा सकता है, पर तब बन्दी 'बिम्ब' बिम्ब नहीं होता, 'विचार' होता है।

बिम्बवाद दार्शनिक वैचारिकता से मुक्ति चाहते थे। विचार के व्यवस्थित अमूर्तीकरण के प्रति अरुचि ही बिम्बवाद का प्रेरक तत्त्व था।

पुनः, बिम्बवादी अपने आपको बिम्बों में डुबा कर विज्ञान से किनारा चाहते थे। विज्ञानादि में 'बिम्ब' की आवश्यकता नहीं, विचारों की है। विचार का जोर होगा तो हमारी कल्पना-शक्ति ही समाप्त हो जायगी। वह सामर्थ्य ही लुप्त हो जायगी जिससे हम वस्तु को उसकी समृद्ध और आनुषंगिक भौतिकता से युक्त रूप में देख सकते हैं। यह हो जाय, तो हो जाय; पर स्वप्नादि में बिम्ब फिर से जीवित हो कर आ फूटेंगे ही। प्रत्यभिज्ञान, पुनः स्मरण, स्वप्न आदि हमें काव्य-रचना के लिए प्रेरित करते हैं। अतएव बिम्ब किसी एक गुण के कारण अद्भुत नहीं होता, पर वह अनेक गुणों के संश्लेषण के कारण अद्भुत हो जाता है।

कुछ समय के बाद जार्ज मूर और उनके साथियों ने 'विशुद्ध कविता' के नाम से जो नया आन्दोलन चलाया था, वह भी 'भौतिक काव्य' का ही एक प्रकार है। उसमें भी वस्तु के वस्तुत्व की प्रस्तुति की जाती थी। कविगण भी पहले पाठक के मन पर बिम्ब अथवा बिम्ब-शृंखला प्रतिच्छायित करने के उद्देश्य से कविता की सामग्रियाँ सजाते थे। बिम्बों के चित्त पर छा जाने से, उनकी आकृति, रूपरेखा, घनत्व, भरावट और गुण आदि ऐसे दर्शनीय, और आस्वाद्य हो उठते हैं कि अपनी पूर्णता और स्पष्टता के कारण विचार की प्रक्रिया को अवरुद्ध कर देते हैं। 'विशुद्ध कविता' का आन्दोलन भी बिम्ब को लेकर चला, पर वह 'बिम्बवाद' से पृथक् इस मानी मे था कि उसमें नाटकीयता और छन्दोबद्धता को स्वीकार किया गया था। अतएव 'विशुद्ध कविता' सचेष्ट कविता' हो उठती है। 'बिम्बवादी' कविता छोटी-छोटी अत्यन्त मामूली चीजों को, अनायास सामने आ जाने वाली चीजों को, कविता की सामग्री बनाती है जैसे—लावेल की 'टॉमसस लंचरूप' कविता में सामग्रियाँ हैं, जो छोटी-छोटी और मामूली हैं। और यह छन्द से प्रायः मुक्त भी होती है। अतएव दोनों यद्यपि भौतिक काव्य हैं, तथापि दोनों के मूलस्थ भावन मे पर्याप्त अन्तर है।

रैन्सम ने 'बिम्बवाद' के पक्ष का समर्थन इस प्रकार किया है कि जैसे वे उसी युग में हो और बिम्बवादियों में एक हों। बिम्ब के भौतिक रूप तथा वस्तु के वस्तुत्व के महत्त्व पर उनके विचार युक्तियुक्त हैं, किन्तु बिम्बवाद पर नहीं। बिम्बवाद ऐन्द्रिय बिम्ब-प्रस्तुति पर बल देता था, न कि उनकी अन्विति पर। उदाहरणस्वरूप लॉवेल की कविता में बिम्बों की प्रस्तुति ही है, अनुबंध तो हमारे मन से उद्भूत होते हैं और तब उनमें हम अन्विति देखते, अर्थ-व्यंजना पाते हैं। किन्तु अनुबन्धादि के लिए किसी भावना का उत्प्रेरक विन्यास कविता में नहीं हुआ है। आधुनिक आलोचक

बी० राजन ने 'माडर्न अमेरिकन पोएट्री' में बिम्बवादियों की समालोचना इसी प्रकार की है। उनके अनुसार सारतः —

बिम्बवादियों ने काव्य को बिम्ब की संकीर्ण परिधि में बाँध कर उसे काव्य, भाषा और संवेदना की दृष्टि से निर्धन कर दिया।

बिम्बवादी 'ठीक-ठीक शब्द' के व्यवहार का सिद्धान्त देते हैं। 'ठीक-ठीक शब्द' का अर्थ क्या है ? सही-सही चित्रण करनेवाला शब्द या कि कवि की मानसिक प्रक्रिया का प्रभाव पाठक में यथावत् प्रस्तुत करनेवाला शब्द ? उनका लक्ष्य दूसरा है। पर बिम्बवादियों ने कवि की मानसिक प्रक्रिया के विषय में कुछ भी नहीं बताया।

बिम्बवादी अनुकरणात्मक काव्य पर बल देते हैं, रचनात्मकता पर नहीं। वे बिम्ब के बाह्य रूप, आकार, विन्यास को प्रधान मानते हैं। वे उस अनुभव को महत्त्व नहीं देते जो भाषा के माध्यम से रूप और स्थायित्व प्राप्त करता है और जो काव्य का एक मात्र धर्म है।

काव्य संश्लिष्ट अनुभव होता है। इसलिए उसमें अन्विति पर बल दिया जाता है। बिम्बवाद में ऐसी अन्विति नहीं मिलती। उसमे मानचित्र और ढांचे हैं, जो बोध और अनुभव के ग्राँफ हैं, न कि प्राणप्रद शक्ति और क्रियात्मक माध्यम, जिनसे बोध एवं भावना आती है। बिम्बवाद सश्लेषण का विरोध करता है। पर, संश्लेषण से ही काव्य का जन्म होता है।

काव्य-लेखन की कोई जीवंत परंपरा चित्रण को व्याख्या से और अमूर्त्त को मूर्त्त से अलग नहीं कर सकती। अनुभव की विधा न मान कर वर्णन की विधा मान लेने से बिम्बवाद-जैसे समस्त आन्दोलन और उनके विकल्पादि दूषित हो जाते हैं।

बिम्बवाद हमें कविता के शिल्प और उन अवबोधों में भेद करने को बाध्य करता है जिन्हें अभिव्यक्त करने के निमित्त शिल्प विकसित किया गया है।

बिम्बवाद बिम्ब-सृष्टि को व्याख्या के ऊपरी छिलके से और सामान्यताओं को उसके मूर्त्त, विहित रूप से अलग कर देता है। ऐसे विखंडन और निषेध काव्य के प्रभाव और परिव्याप्ति में व्यतिक्रम उपस्थित करते हैं।

विवियन ड सोला पिंटो (क्राइसिस इन इंगलिश पोएट्री) के अनुसार यद्यपि 'बिम्बवाद' ने युग के अनुरूप एक अपेक्षित शिल्प प्रस्तुत किया जिससे अनावश्यक नियमों और मृत संसर्गों का मुर्दा बोझ हट सका, तथा ग्लेन ह्यूज की दृष्टि से स्वच्छन्द कविता को वैध घोषित करते हुए दूषित कृत्रिमता और थोथी भावुकता के जाल को छिन्न-भिन्न किया, प्राच्य सूक्ष्माकारों की प्रभावोत्पादकता दिखाई और बुद्धि एवं भाव का पुनः संयोग कराया, तथापि,

जैसा कि **ग्रियर्सन** और **स्मिथ** 'ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ इंगलिश पोएट्री' में बताते हैं, कुल मिलाकर उन्होंने अपने आप को नक्काश बना लिया।[११] रिचर्ड्स ने 'मीनिंग ऑफ मीनिंग' और फिलॉसफी ऑफ रेहटरिक' ग्रंथों मे ह्यूम के कथन की, कि बिम्ब का उद्देश्य है, हाथो-हाथ कविता की अनुभूति पाठकों को सौंप देना, जो छिछालेदर की है और उनकी धारणाओ का जो खडन किया है, वह कुछ अतिवादी होकर भी ठीक है; जैसा कि—शुक्ल जी ने बताया है—'इनके सिद्धान्तों मे सत्य का बहुत-कुछ आधार था, पर ये उसे बहुत दूर तक घसीट ले गए।' वस्तुतः ह्यूम, पाउंड आदि का उद्देश्य था कि कविता ऐसे माध्यमों से लिखी जाय जो 'शब्द' न हो; क्योंकि शब्द विविक्त करते हैं। पर 'शब्द-हीन' कविता तो रची नही जा सकती; अतः शब्द का सूत्रवत् प्रयोग ही अपेक्षित बताया गया था।

बिम्बवाद का प्रभाव टी० एस० इलियट आदि पर एव उनसे हो कर पाश्चात्य और भारतीय कवियो पर पड़ा है। कुछ काल बाद पश्चिमी विचार-धारा में युद्धो की विभीषिका और सत्ताओ के आक्रामक रुख, साम्यवाद के प्रभाव, वैज्ञानिक-बौद्धिक उथल-पुथल आदि के कारण क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए। काव्य-धारा पर भी उनके प्रभाव पड़े और १९३२ ई० में 'न्यू सिगनेचर्स' नाम से क्रांतिकारी लेखको के लेखादि प्रकाशित हुए, जिनमें मानवीय मूल्यों के विघटन की समस्या पर गभीर और बौद्धिक विचार प्रकट किए गए थे तथा साहित्य मे नये प्रयोग के लिए निरन्तर अन्वेषण की उत्कट भावना जगाई गई थी। उनके 'बिम्ब' अछूते, ताजे और बेधक थे, जिनमे मशीन-युग की यान्त्रिकता के दाँतों-सा दबोच था और सघटनात्मक अन्विति के साथ त्वरित लक्ष्य-बेधकता की विशेषताएँ थी। वे भावोद्रेक भी करते थे और बौद्धिक ठेस भी पहुँचाते थे। ऐसे प्रकाशनों की एक परम्परा भी चली। नये प्रकार के व्यक्तिगत लेखन का आरंभ, जैसे हो गया। हिन्दी काव्य-धारा के प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद पर तथा आगे चलकर नई कविता पर भी बिम्बवाद के अतिरिक्त इनके भी प्रभाव लक्षित होते हैं। सवेदनात्मक बिम्ब-सृष्टि, चित्रात्मक दृष्टि-योजना, दृक्वाक्यपदीय प्रणाली, 'वस्तु' के 'वस्तुत्व' के परिदर्शक काव्य-रचना, सम्बन्ध-सूचकादि से विरहित संश्लिष्ट एवं सूत्रात्मक शब्द-प्रयोग द्वारा बिम्ब-प्रस्तुति, (चीजों का एकमात्र सही 'नाम' होता है) और वैयक्तिक काव्य-रचना-पद्धति के लिए कवियों में लोकतांत्रिक स्वाधीन-वृत्ति, सर्वतंत्र स्वतंत्र होना आदि आधुनिक हिन्दी काव्य

की ये विशेषताएँ विश्व-भर की काव्य-प्रवृत्तियों के ही समान हैं। कुछ हिन्दी-कवियों पर इलियट, डी. एस. लारेंस, डायलन टॉमस, कमिंग्स, रॉजर फ्राइ, ऑडेन, ऑक्टवियस पॉज और बीटनिक कवियों के भी प्रभाव पड़े प्रतीत होते हैं।

प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद आदि के काव्य-सिद्धान्तों के परीक्षण से पता चलेगा कि उनके मूल द्रव्य प्रायः वे ही हैं जो प्रकारान्तर से प्रतीकवादियों, बिम्बवादियों ने तथा न्यू सिग्नेचर्स आदि के लेखकों–कवियों ने रखे थे। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी काव्य-रचनाएँ भी उन्हीं की छायाएँ थीं। उदाहरण-स्वरूप प्रपद्यवादियों की निम्न कविताएँ ली जायँ—

वसंत-गीत

गली साँकरी विश्वनाथ की :
पर फेंकारी कोयल अशिवा,
पीतल; पत्थर के पुण्य-पण्य
औषधि-निर्माता अग्रगण्य—
राजमार्ग पर लाउड-स्पीकर
टेढ़े शीशे का नराकार !
बिजली के खंभे की फुनगी
पर पिंजड़े का पापी पपिहा
मैं मूक रहा : आया वसंत—
'शक्षासव !' विज्ञापन उदंत !…
कर रहे विकृत संगीत-स्फार—
कुक्कुट कूक उठा तारस्वर !

—नलिन : नकेन

सागर-संध्या

बालू के ढूह हैं [जैसे] बिल्लियाँ सोई हुईं
सूरज की खेती चर रहे मेघ-मेमने
उनके पंजों से लहरें दौड़ भागीं
विश्रब्ध, अचकित।

—वही

आषाढ़स्य प्रथम दिवसे

घनान्ध
वज्रावर्त्तन
फिर
रोमिल
आखेटी दाँतों में जिसके
दिन के मूसे का
लोचन, विवेक, श्रुति, चिदाभास,
(उन्दुर-शरीर का निम्न भाग धूसर)
करता
क्षितिज को
हो चले विवर्ण काले—
प्रात (या दिवा-रात)
विद्य तालम्भ
अन्धकार :
बिडाल
है पकड़ गया
अग्रभाग
औ' शेष बहिर्गत
लटका
छट पट–छट पट
रेत पर रक्ताभ छींटे
मूसा मर गया शायद !

—केसरी

प्रपद्य-प्रारूप

आदमी को चाहिए पानी,
डूबने को
सूरज ऊपर कसा-कसा;
दिन धीवर के पाश-सा मैला
मत्स्य वह आज भी जैसा;
परों को समेटे हुए बक सा
और
फैला—फैला—फैला।

—वही

इन में 'नलिन' की प्रथम और द्वितीय बिम्बों में 'वस्तु-स्थिति से प्रेरणा' की वास्तविकता तो परिलक्षित होती है, किन्तु न तो 'भाव-छवियाँ' दीखती हैं न रागात्मक पौर्वापर्य। पर इनके खंडित बिम्बों से वस्तु-स्थिति का व्यंग्य विचार बिम्बो में शब्दायित हुआ है। 'केसरी' की दोनों कविताओं के बिम्ब प्रखर, और बेधक हैं और वस्तु-स्थिति की भावासंगयुक्त प्रस्तुति करते हैं। निश्चय ही इन दोनों में 'केसरी' बिम्बवाद और प्रतीकवाद का अद्भुत संयोग भी प्रस्तुत कर सके हैं। पहली कविता में 'आषाढ़ के प्रातः कालीन' काले, घने बादल की धूमिल छाया में गिरफ्त दिन का बिम्ब—जैसे बिड़ाल के दांतों तले चूहे का अगला हिस्सा हो, ऊपर आकाश मे चूहे का अग्रभाग है, नीचे धरती पर लटके पिछले भाग की 'छट' और 'पट-छट'-पटाहट है—ऐन्द्रियिक है, रागात्मक पौर्वापर्य से अन्वित भी है और संक्षिप्त भी। अतिम बिम्ब बादल भरे दिन के अंत होने का है, शाम का है। बादल-भरे क्षितिज पर डूबते सूरज के रक्ताभ छीटों के धीरे-धीरे काले पड़ने के बिम्ब की ऐन्द्रियिक रूपायिति ऊपर के बिम्ब में आए मूसे के मर जाने की हलकी संभावना मे हुई है। इस प्रकार पूरी कविता में मूसे की जीवन-कथा, अथवा कहें, मृत्यु-कथा के ऐन्द्रियिक बिम्ब के सहारे आषाढ़ के पहले दिन की 'वस्तुस्थिति' की छवि प्रस्तुत की गई है। इस 'वस्तु-छवि' मे मूसे की 'वस्तु-सत्ता' की भी भाव-छवि तथा जीवन की विवशता का आभास अन्तर्लीन है। दूसरे शब्दो में इसकी ऐन्द्रियिकता पाठक को विचार के लिए प्रेरित करती है—क्या जगत् की यही लीला है ?

दूसरी कविता में सूर्य वक-सा, ध्यान लगाए टूट पड़ने को तैयार माना गया है, और दिन मछुए के जाल-सा फैला हुआ बताया गया है। ऊपर के सूर्य और नीचे के फैले दिन के बीच आदमी है, जैसे वह आदमी न हो मछली हो। बस, उसे 'पानी' चाहिए। पूरी कविता में जबर्दस्त कसावट है; शब्द एकदम ठीक-ठीक हैं और शब्द-निर्मित बिम्ब रागात्मक पौर्वापर्य से रखे गए हैं—'आदमी-पानी-मत्स्य', फिर 'टूटने को-परों को समेटे वक-सूरज' और तब फिर 'दिन धीवर के पाश-सा मैला-फैला'। लय-बंध, एक-एक 'बिम्ब' के लिए पृथक्-पृथक् हैं। 'जैसा' और 'वक-सा' की हल्की गूंजभरी और टूटी-सी तुकान्तता से 'वक-सा' और 'कसा-कसा' की तथा 'मैला' और 'फैला—फैला—फैला' की भारी और गूंज-भरी तुकान्तता भिन्न है। इनसे भी व्यंजनाएँ संवेद्य की गई हैं। मनुष्य की व्यथा और बंधन नियति (सूर्य — वक-

मत्स्य-न्याय) ही नहीं है, सामाजिक अन्याय भी है, (दिन = धीवर--पाश)। इन में प्रतीकवादी प्रतीक है, ठीक; इनके द्वारा 'वस्तु' का 'वस्तुत्व' बिम्ब-रूप में प्रकट हुआ है, और शब्द कम से कम हैं तथा 'बिम्ब' ही प्रस्तुत करते हैं, म्युजेक-विन्यास की तरह है, यह भी ठीक। इनमें बौद्धिक प्रखरता और तीखापन है, वह भी मान लिया जाय। पर इनकी मूल प्रकृति भारतीय है और इनमे जो रागबंध है, खास कर 'केसरी' मे, वह कवि की सर्जना है। यही इसकी एवं सच्चे कवियो की भारतीयता और मौलिकता के प्रमाण है।

इन वादो के अतिरिक्त प्राचीन काल से आ रहे 'कलावाद' 'रहस्यवाद' आदि, तथा साहित्येतर क्षेत्र में उद्भावित मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, मनोविज्ञान-वाद, राजनैतिक तंत्रवाद आदि के भी प्रभाव काव्यकला पर पड़े हैं।

आधुनिक हिन्दी-कविता पर काव्य-कलावाद का प्रभाव

सच कहा जाय, तो इन नानावादों के मूल मे, हीगेल, मार्क्स, किर्केगार्ड, आदि के दर्शन-चिंतन, और टेलर, फ्रेजर, सिर्स आदि के नृतत्त्वशास्त्र तथा डार्विन, लमार्क, मेंडेल आदि के विकासवादी सिद्धान्त एव फ्रायड, युङ्ग, ऐडलर, रैक, ग्रैडेक, फ्रॉम के मनोविश्लेषणादि की उपलब्धियाँ अथच एडिंगटन, ह्वाइट हेड, आइन्सटाइन आदि की वैज्ञानिक उपलब्धियाँ—अनन्त लक्ष्य अलक्ष्य प्रभाव हैं, जिनके कारण विचारो का महदाकाश ध्वनित-प्रतिध्वनित हो रूप-सृष्टियों को नये प्रकार से संगभित कर नवीन दर्शन, विज्ञान और काव्य-कला को उद्भूत कर रहा है। 'इन जटिल संकर्षणों के कारण अभिनव साहित्य निर्मित हो उठा है, मूल्यांकन के लिए जो अत्यधिक कष्टसाध्य है, और अध्ययन के लिए जिसमें विपुल आकर्षण है।'[११] अतएव आधुनिक कलाकार का वंश-वृक्ष प्रस्तुत करना साधारण काम नहीं है। बड़ी धाराएँ तो मिल जायँगी और उनके उत्स और स्रोत भी; किन्तु उन स्थूल धाराओं में हम जैसे ही डूबते हैं असंख्य ऋजु, वक्र, बाह्य और आभ्यंन्तर अन्तर्धाराएँ मिलने लगती हैं और उनका सह- या विपरीत प्रवाह एकदम अनिश्चित है, दुर्ज्ञेय है। यह पहले ही द्योतित किया गया है कि ये वाद बदलती हुई प्रकृति और मानव-मस्तिष्क की 'फैंटेसी' हैं, एक उल्वण कल्पना जिसके माध्यम से समतल प्रकृत धारा में काव्यभाषा को सर्वथा युगाभिव्यंजक बनाने के लिए ऊर्जा का संक्षोभ होता है। इन समस्त वादो से दो बातें स्पष्ट होती हैं :—

१— ज्ञान-विज्ञान की समस्त उपलब्धियों को आत्मसात् कर विषय-पक्ष के क्षितिज में विस्तारण, (संवर्द्धन और परिशोधन) ; तथा

२— (क) विषय की 'वस्तुरूप' में उद्भावित करने में नये आयामो का विन्यास, और (ख) 'वस्तु' को अभिव्यजित करने में नये रूप, शिल्प, शैली, भाषादि का तथा गृहीता पाठक के रागबोध का भी साभिप्राय सचेष्ट व्यवहार और उपयोग।

१— आधुनिक काव्यों में विषय-विस्तारण और प्राचीन विषयो का परिशोधन नानाविध हुआ है। देश-काल-सातत्य की धारणा, यथार्थ की कार्य-कारणातीत भावना, पृथ्वी और तत्संबधित सौरमंडल से अत्यधिक विराट् असख्य सौर-मंडलों और सृष्टियो के ज्ञान, महाशून्य में अनन्त सृष्टियो के उद्भव-विलय का लीला-सातत्य, एवं उनके अन्तराल मे निर्घट शून्य अथवा अवकाश, अणु-विखंडन और द्रव्य का एक क्षण शक्ति-तरगरूप व्यापार तथा दूसरे क्षण पदार्थरूप अनिश्चयात्मक व्यापार—दृश्य जगत् के ये एव इन-जैसे नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के नये विषय सामने आये हैं। इनके अतिरिक्त मानस-जगत् के अनेक रहस्यों का उद्घाटन हुआ है। चेतना-प्रवाह और उस प्रवाह मे विचार और भाव का उर्म्मित होना, तथा उसमें 'द्वीपों' का उभरना; अवचेतन मानस के काममूलक जीवनेच्छा-मरणेच्छा, एव प्राक्-चेतना की अवस्था के सामूहिक अचेतन मानस का ज्ञान तथा उस सामूहिक अचेतन मे जातीय बिम्बो का महत्त्व एवं नाना-आयामी द्विध्रुवीयता का दोलन, स्वप्न-विज्ञान, सम्मोहन-वशीकरणादि का, धर्म, पूजा-कृत्यो, मिथकों का भाषा-विज्ञान, काव्य-शब्दादि में अनुसंधान; अहं और अन-अहं का द्वन्द्व, आत्म-निर्वासन, व्यक्ति के समाजादि से, अपने आपसे टूटने, अजनबी होने, आदि की प्रक्रिया और उसका समीकरण, आदि सम्पूर्णतः नये विषय आये हैं। इनमे से कुछ तो अभिनव विषय-रूप में ही 'काव्य-वस्तु हो गए, और कुछ प्राचीन विषयों को नये रंग-रूप देने में विन्यस्त हुए। अब काल और देश, जीवन और मृत्यु, घटना और चरित्र, व्यक्ति और समूह, देश और महादेश, राष्ट्रीयता और अन्त-र्राष्ट्रीयता, युद्ध और शान्ति, भक्ति और दर्शन, प्रेम और घृणा, नर और नारी, देवता और पशु तथा मानव और प्रकृति—काव्य के ये सारे विषय सर्वांशतः नये अर्थ-संदर्भ मे प्रकल्पित होते हैं। काव्यबोध भी बदल गया है, काव्यशब्द भी; 'रसिक' तो, जैसे उठ ही गया; उसके स्थान पर प्रबुद्ध स्वतंत्र-चेता 'साक्षात् मनुष्य, प्रतिष्ठित हुआ है।

तेईस शताब्दी पूर्व प्लैटो ने बताया था कि 'विगत और अनागत आदि काल की कृत्रिम अवधारणाएँ हैं। हम कहते हैं—था, है, होगा। पर सत्य यह है कि 'है' का ही व्यवहार उचित है।' काल-चक्र में नैरन्तर्य भारतीय दर्शन में भी स्वीकृत है। पाश्चात्य काव्य-कला पर बर्गसाँ के जीव-विज्ञानी दर्शन और फ्रायड, युङ्ग आदि की 'इड'-सम्बन्धी उपपत्तियों का प्रभाव पड़ा तो काल-सातत्य के वर्णनादि जीवविज्ञान और मनोविज्ञान की दृष्टि से होने लगे। 'जो है या हो रहा है, वह होता ही रहा है, होता ही रहेगा'—ऐसी नियतिबद्धता अथवा काल-नैरन्तर्य की धारणा और वर्त्तमानकालिकता की दृष्टि कलाकारों-कवियों में उदित हुई। इसके दो रूप दिखाई पड़े—१ जो है, वह निश्चित है; २ सब कुछ अनिश्चित और वश के बाहर है। फलतः कविता में एक ओर तो काल के सातत्य और अनन्तता की विराट् सम दृष्टि है, तो दूसरी ओर क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील अबोधगम्य बिखराव, अनिश्चितता की विषम पीड़ा है। 'कामायनी' मे नैरन्तर्य का एक चक्र सकेतित अवश्य है—

पूर्व जन्म कहूँ कि था स्पृहणीय मधुर अतीत,...वही छवि ! हाँ वही जैसे ! किन्तु क्या यह भूल ?
जन्म-संगिनी एक थी जो काम बाला, नाम... मैं पुरुष शिशु सा भटकता आज तक था भ्रान्त।

किन्तु यह काल-सातत्य का तटस्थ किंतु रागात्मक अनुभावन करानेवाला उतना नहीं, जितना भावावेग की स्वतः समुच्छित अभिव्यक्ति है। बल्कि 'उर्वशी' में काल की निश्चित अवधि की कातर पीड़ा और काल-सातत्य की विवश यंत्रणा का द्वन्द्व जीवविज्ञान और मनोविज्ञान के धरातल पर 'कामायनी' की अपेक्षा अधिक बेधक रूप मे तथा पूरी रागात्मकता और ऐन्द्रियिकता के साथ वर्णित है।

नई कविता के कवियों ने काल-सातत्य का अनुभावन कुछ अधिक तटस्थ और वैचारिक स्पष्टता से कराया है। यथा—

विवशता—जैसे इन जगहों में पहले भी आया हूँ, बीता हूँ।...
बार बार; इन खाली जगहो में भर भर कर रीता हूँ।
रह रह कर पछताया हूँ, पहले भी आया हूँ, बीता हूँ।

कुँवर नारायण : नई कविता ५/६

दैन्य—और काम पर फैलना होगा
ग्लानि से पीड़ित, किसी कोने में छुपना होगा
फिर वही, फिर वही
दोहराना होगा एक नियमित क्रम।

फिर गई रात पराजित, बेशर्म हो
सुबह सब कुछ भूल
फिर वही,
—स्नेहमयी चौधरी : एकाकी दोनों

अखंड एकता—रात
एक बृहद् अस्तित्व-क्रम
और दिखने के साथ ही
अंगुल-भर रूप धार
समानान्तर हुई सत्ताएँ
और पास
मन में प्रतिबिम्बित मन

तिरछी दृष्टि-कटे अन्तराल पर
प्रकट हुआ अकस्मात्
खिडकी की चौखट के कोने में आ गया
खुल गया विभक्त काल सिमट गया अन्तराल
घटित हुई साथ-साथ दूर पर
अनु-पल की प्रतिलिपियाँ विचरण विमानसी
रात में अनेक रात।

—गिरिजा कु० माथुर : जो बँध नहीं सका

विरूपता— पिछली रविवार को नाई ने बाल काटे थे
सोमवार को माली ने लान की घास पर तलवार चलाई थी
मंगलवार को खिड़की पर रखा बड़ा शीशा
गिर चूर चूर हो गया था
बुधवार को टामी ने एक छछून्दर मारी थी —शम्भुनाथ सिंह

अगति— एक छोटा-सा मौन है जिसमें पशु-वनस्पतियाँ और सडकों के लैंपपस्ट
सब शामिल हैं और नंगे आसमान की एक खुली भाषा है
जिसमें कोई शरीक नहीं। —केदारनाथ सिंह

नियत चक्र-क्रम के प्रति कवि के दैन्य और ग्लानि के भाव धीरे-धीरे बदल कर कहीं आयामों से परे, कालातीत अखंड एकता के प्रशांत भाव-बोध मे सूक्ष्म हुए है, तो अन्यत्र विरूप-विसंगत और दैनंदिन साधारण घटनाओं के प्रति ममत्व-पूर्ण। कुछ कवि मौन और अगति मे भी ऐसी सामाजिकता के दर्शन कर लेते हैं कि जिनके सामने आसमान 'नंगा' और 'निर्जन' प्रतीत होता है। पुनः, एक ओर ब्रह्माण्डीय विस्तार में विराट् मानवीय आस्था को स्वीकार किया गया है, तो दूसरी ओर 'हरी घास पर क्षण भर' में भी सत्ता की प्रतिष्ठा की गई है अथवा रमणीयता का दर्शन किया गया है।

विराट् मानवीय आस्था—

ये दधीची हड्डियाँ
न जाने कौन देवी आसुरी
जिसमें तपायी हड्डियाँ मेरी यशस्वी हों।

हर दाह में तप लें
संघर्ष बाकी हों अभी
—कुँवरनारायण

क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी,
अभी मेरी आखिरी आवाज बाकी है।
—भारती . कविता की मौत

केवल बन रहे विस्तार हमारा बोध
मुक्ति का
सीमाहीन खुलेपन का
—अज्ञेय . हरी घास पर क्षण भर

चित्रकारी के रंगों में बन
—स्वयं फैल-फैल मैं गया
हूँ, कहाँ-कहाँ।
—शमशेर : नयी कविता।

माटी और दूब की सत्ता—माटी को हक दो वह भीजे, सरसे, फूटे अँखुआए,
इन मेंड़ो से लेकर उन मेड़ों तक छाए
और कभी हारे
और हिले,
यह दूब की पताका

तब भी उसके माथे पर हिले,
और उठती ही जाए—
नर मानव के लिए।
—केदारनाथ सिंह : नयी कविता-२

गिरिजा कुमार माथुर की 'एशिया का जागरण', 'पहिये', 'पूरब की किरण', सर्वेश्वर की 'पीस पैगोडा', 'काफी हाउस में मेलोड्रामा', नरेश की अनेक कविताओं और श्रीकान्त वर्मा के 'जलसाघर' आदि का स्वर अन्तर्राष्ट्रीय है, यथा—

साहित्य के इतिहास को नक्शा बना नेपोलियन मुद्रा में अपने बन्धुओं को स्थापित करते प्रदेश-जयी भाव से सन्तुष्ट थे।...हम सब इतिहास के गलियारों में विजयी सिकन्दर-से टहल रहे हैं। —नरेश कु० मेहता: मेरा समर्पित एकान्त

मानवीय संकट-बोध, अमानवीकरण और मृत्यु-बोध के विषय, जैसा कि पृष्ठ ३६३-८ पर उल्लिखित है, आज की कविता के प्रधान कथ्य हैं। उनमे विवश यंत्रणा, अज्ञात भय की आशंका, व्यक्ति-मानव और समष्टि मानव के त्रासद बिम्ब हैं, तो साथ ही आस्था और नये विश्वास के उदय के भी उज्ज्वल बिम्ब हैं। कामू ने 'सिसिफस' को आधुनिक युग की निरर्थकता का प्रतीक-पुरुष मान कर उसे 'दि ऐबसर्ड हीरो' के रूप मे प्रस्तुत किया था। बच्चन ने 'सिसिफस बरक्स हनुमान' मे उसे भारतीय रूप देकर आधुनिक यंत्रणा और मृत्युभीति से उबरने के लिए नैष्ठिक कर्मठता और भक्ति-भावपूर्ण समर्पण को महत्त्व दिया है। 'प्रमथ्यु गाथा' 'सम्पाती' आदि में भी मृत्यु-भय ही विषय हैं। 'अकेले कंठ की पुकार' 'अंधायुग', 'ठंढा लोहा', 'चक्रव्यूह', 'अतुकान्त', 'काठ की घंटियाँ', 'आँगन के पार द्वार', आदि संकलनों में भी एक प्रधान कथ्य 'मृत्यु'-द्वन्द्व है। 'आत्मजयी' मे कुंवर नारायण ने 'नचिकेता' के प्रसंग को लेकर सर्जनात्मक सभावनाओं और महत्तर जीवन के विश्वास को मृत्यु पर विजयी माना है। यह ठीक है कि

व्यक्ति मरता है, और अपनी मृत्यु में वह बिल्कुल अकेला है, विवश, असान्त्वनीय —चक्रव्यूह

पर उसे स्वीकार लेने पर—

मृत्यु
शीतल धार निर्मल जल की
फव्वारा · फुहार शान्त रस की
हँस कर किया मैंने मृत्यु से साक्षात्कार।

—मनोहर श्याम जोशी : नयी कविता-८

फूल से प्यार करो
जीवन का रस लो
जो मरे उसे
मरे तो मर जाने दो
देह मन आत्मा की रसना से
मर जाने दो

—अज्ञेय : बावरा अहेरी

व्यक्ति के विघटन अथवा समर्पण के बिम्ब कहीं स्थूल संवेदनावादी और बौद्धिक हैं, तो कहीं निःसंग और सहज भी—

विघटन

स्थूल संवेदनावादी—दुर्गंध कड़वी और तीखी प्याज सी
आकांक्षाओं के छाया-प्रेत
भयंकर, अयथार्थ, स्वार्थ
न-कुछ में बनते मिटते
स्वार्थ। —भारत भूषण; मुक्तिमार्ग

कमरे के अपने एकान्त में जूते से निकाले पाँव-सा महकता हूँ। धूमिल

नि सग सहज—अजनबी देश है यह जी यहाँ घबराता है
कोई आता है यहाँ पर न कोई जाता है। —सर्वेश्वर ' काठ की घटियाँ

समर्पण

स्थूल संवेदनावादी—आज मुख्य मेहमान तुम
एक बार, बस एक बार
मुझ पर !
रात के 'फ्लोर शो' में
अपने तन की छाप छोड़ जाओ
—शांता सिन्हा : समानान्तर धुनें

सहज— लगा शून्य अहं; यह स्पर्धा आडम्बर है
धारा उद्दाम हर सागर की अनुवर्ती
जीवन की गति ही बस समर्पिता
प्रगति नमन जीवन का एक मूल स्वर है।
मुकलित हर पंखुडी अर्पित होकर झडती
एकटेक, एक छाँह अर्पित हर गर्विता।
—अज्ञेय : बावरा अहेरी

प्रकृति को भी इधर के कवियों ने जिन भावों, प्रवृत्तियों, रंगों आदि से रंजित देखा है, उनसे वह समकालीन मनुष्य की संवेदना के वैविध्य, विस्तार, वैज्ञानिकता, बौद्धिकता, प्रश्नाकुलता, कर्मठ पौरुषपूर्णता, खुली काम-भावना और प्रकृत एवं नि.स्संग तद्वत्ता के भी साथ रूपायित हुई है; (द्रष्टव्य—रूपाम्बरा)। कहीं वह सुशिक्षित आधुनिका-सी है, तो कहीं कर्मठ जीवंत पुरुष-रूप भी। यौन-भाव का स्फुट रूप गिरिजाकुमार की चाँदनी के निम्न बिम्ब मे है—

स्लीवलेस ब्लाउज पहने
जालियो तले बेफिक्र मस्ती से
मुँह में मद मद इलायची चबाती
अठखेलियाँ करती अदा से
छरहरी चाँदनी पेडों की चमकदार
हलके कदम रख चलती
नशीले सेक्स-रचे नखरे से जान-जानकर

शमशेर की चाँदनी उँगलियों के द्वारा कोशिए से फेन के झालर-वेल बुनती हुई दिखाई देती है (कुछ कविताएँ); धर्मवीर भारती की चाँदनी बावरिया और दीठ है, अधखुले झरोखे से झाँक-झाँक जाती, माथे को छूती, बातें करती और फिर लिपट-लिपट जाती है। अज्ञेय, भवानी प्रसाद मिश्र, कुंवरनारायण, केदारनाथ अग्रवाल, जगदीश गुप्त, श्रीकान्त वर्मा आदि के प्रकृति-चित्रण में अनन्त वैविध्य है। इन कवियो ने प्रकृति के रुक्ष, नि:सग, प्रशान्त रूपो के भी रम्य बिम्ब रचे है।

प्रकृति के अनन्त रूपों, ध्वनियों, बदलते परिवेशों-मनोदशाओ के साथ, शहर और गाँव के दृश्यों के साथ इन कवियों की पूर्ण सम्पृक्ति, अंतरंगता और बोधपूर्वक आत्म-विलयन में खुलापन और अगोपन-भाव है। यह ऐकात्म्य-बोध आज के वैज्ञानिक-बौद्धिक ज्ञान के आलोक और वैचारिक स्पष्टता के परिप्रेक्ष्य मे ब्रह्माण्डीय लीला को चारो आयामों में अंगीकार करने के कारण उपजा है। अतएव अधिक स्वच्छ और निर्णीत है। कुछ ऐसा ही बोध कवि को

ईश्वर, धर्म, जीवन, मानवता, महादेश, राष्ट्र, युद्ध, शांति, विज्ञान, दर्शन और फिर काव्य-रचना, शब्द-प्रयोजन, रचना-प्रक्रिया आदि विषयों की ओर अभिप्रेरित करता है और कवि उन पर सहज निःसंग कविताएँ रचता है।

वह ईश्वर की सत्ता तो मानता है, पर दैवी शक्ति नहीं। आध्यात्मिकता मान्य तो है, पर भौतिकता के विपर्यय में नहीं। उनकी दृष्टि में ईश्वरीय सत्ता और आध्यात्मिकता की भावना मानवीय सत्ता और इहलौकिक जीवन के उन्नतर और उदात्त रूप हैं, तथा विराट् जैविक व्यवस्था में उनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, तो क्षुद्र जीव की भी अगम सत्ता है, और जड़ भौतिकता का भी महत्त्व है। भारत भूषण (ओ अप्रस्तुत मन) कुँवर नारायण (चक्रव्यूह) दुष्यंत कुमार (आवाजों के घेरे) धर्मवीर भारती (ठंडा लोहा) आदि ने ईश्वर, धर्म, पूजा, पर वैज्ञानिक और तर्क-सम्मत भावनाएँ ही प्रकट की हैं। यथा—

जीवन का ज्ञान है सिर्फ जीना मेरे लिए इससे विराट चेतना की अनुभूति अकारथ है।
हल होती हुई मुश्किलें खामखा और भी उलझ जाती है—

—दुष्यन्त कुमार : आवाजों के घेरे

पहले धरती को स्वर्ग बनाओ मेहनत से तुम देखोगे देवता स्वयं बन जाते हैं।

—कुँवर नारायण : चक्रव्यूह

नये मनुष्य की प्रतिष्ठा करना ही कवि का व्यक्ति-धर्म है और समूह-मानव की नियति की जाँच-पड़ताल और रक्षा उसकी साधना है। इसे ही 'नव मानववाद' 'आधुनिक मानववाद' आदि के नाम दिए जाते हैं। इस मानववाद में मनुष्य को—चाहे वह जहाँ का और कोई भी हो—सर्वतंत्र स्वतंत्र, स्वतःदायित्व-प्रेरित, मानव-नियति पर आस्था रखनेवाला और सतत संघर्ष-रत, उत्साहपूर्ण, दृढ़, प्रबुद्ध, संगठित तथा खरे विचारों वाला, कर्मठ मनस्वी माना गया है। यथा—

अभी यात्रा का नहीं है अन्त इस विषय में संघर्ष में अभी तू हारा नहीं है।

—गिरिजा कुमार : धूप के धान

कर्मरत हो स्वप्न मत देखो............
इन्हीं पत्तों में कहीं सोया हुआ है रूप का गोरा सवेरा —जगदीश गुप्त : नयी कविता
पर न हिम्मत हार प्रज्वलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप
डाल उसमें शक्ति लौ उठा। —भारत भूषण : ओ अप्रस्तुत मन
ओ मेजों की कोरों पर माथा रखकर सोनेवाले—
हर एक दर्द को नए अर्थ तक जाने दो

—भारती : ठण्डा लोहा

दुहरे व्यक्तित्वों के चेहरे कर भस्मसात् ..... भेद झिल्लियाँ विराट
निकलेगा व्यक्ति नया सूरज के टुकड़े सा तोड़ अन्यायों की
शीश पर खिंची दराँत।

—गिरिजा कुमार : शिला पंख चमकीले

आधुनिक कवियों के द्वारा मानव-अस्तित्व एक और अखंड माना गया है। अतः राष्ट्रीयता मान्य तो है, पर अन्तर्राष्ट्रीयता की बृहत्तर परिधि के अन्तर्गत, परस्पर-पूरकता के सम्बन्ध से जुड़ी हुई। उसी प्रकार व्यक्ति और समष्टि परम्परा और स्वस्थ विकास, ऐतिहासिक चेतना और वैज्ञानिक प्रगति, भावात्मक राग-बोध और वैचारिकता के बीच आधुनिक कवि सह-अस्तित्व और अन्योन्याश्रयत्व का संबंध स्वीकार करता है। इस समावेशी दृष्टि के कारण कविता एवं काव्य-पाठक के प्रति उसकी मुद्रा रसिकता की नहीं है, धर्म-गुरु, मसीहा, उपदेशक आदि की भी नहीं है। वह सामाजिक और समाज को सहयोगी और सहभागी मानता है। फलस्वरूप उसके कथन-ढंग में एक सच्चे और जानदार दोस्त के लहजे और अन्दाज है— कहीं तीखे, तो कहीं चुचकार भरे; कहीं ताव के, तो कहीं फक्कड़ाना मस्ती के; व्यंग्य के भी, जोश के भी। यह आह्वान कहीं मिथक-सा अनायास है, तो फिर कहीं जादुई सम्मोहन-सा दुर्निवार; कहीं मधुर-तिक्त दैनंदिन जीवन के सहज राग का है, कहीं गोचारण या वन्य-जीवन की स्वच्छन्दता का है, तो कहीं बंद-खुले घरेलू वातावरण का—

मैं प्रस्तुत हूँ
यह क्षण जो आ पाया है
इन कई दिनों के चिन्तन और संघर्ष बाद
उनसे बँध कर मैं प्रस्तुत हूँ।

— कीर्ति चौधरी : मैं प्रस्तुत हूँ।

आओ
सर्वथा विसर्जित कर
पूरी तरह प्रस्तुत हैं
हम आज अपने अस्तित्व को मिटाकर
तुम्हारे ही एकांत स्वागत में
तत्पर हैं।

नेमिचन्द्र जैन : विश्वकाव्य

दुःखः किसी चिड़िया के अभी जन्मे बच्चे सा
मुझ को लगा है।
कभी आपने चलती हुई गोली को चलते
किन्तु सुख : तमंचे की गोली जैसा
आप ही बताएँ,
या कभी जन्मे बच्चे को उड़ते हुए देखा है।

—दुष्यंत कुमार : सूर्य का स्वागत

प्राचीन समय में 'काल' प्रसरित दिक्-ज्ञान-रूप समझा जाता था और कथातंत्र या काव्य-कथ्य प्रधानतः रेखावत् फैलता चित्रित होता था। केन्द्रापसारी प्रवृत्ति प्रधान थी। नायक या प्रधान पात्र उत्पन्न होता था, बढ़ता था, घटनाएँ घटित करता था और फिर.....। दूसरे शब्दों में, एक जीवन से अनेक जीवन की प्रस्तुति जीवन की समभौमिक काट द्वारा की जाती थी। अब जीवन को ऊपर नीचे के कटाव द्वारा या आड़ी-तिरछी काट द्वारा प्रस्तुत किया जाने लगा है, यथा 'कनु-प्रिया' आदि कृतियों में।

किन्तु जीवन का परिदर्शन पड़ी और खड़ी काट से भी संभव नहीं है। उससे तो उसका तात्त्विक शरीर-विज्ञान ही मिलेगा। उसकी सप्राण

क्रिया-प्रणाली तो नाना प्रकार की केन्द्रापगामी-केन्द्रानुगामी वृत्तियों में है, अन्तरंग प्रवेश मे है। क्योंकि आज का जीवन है—

हम वहीं है जो हम नहीं है। भाव जो कभी मूर्त्त न हुए
शब्द जो कभी कहे नहीं गये जीवन की व्यथा में डूबे हुए स्वर।

अतएव धीरे-धीरे कथा-तत्त्वादि घटना-विस्तार की जगह भावना-संकुलता मे, अथवा केन्द्रगामी-केन्द्रप्रसारी प्रवृत्तियों के दोलन में प्रसरित-आकुंचित होने लगे, जैसे—जेम्स-ज्वायस के 'यूलिसिस' में। 'अंधायुग' 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', 'माया दर्पण', 'चक्रव्यूह' और 'आत्मजयी' की कई कविताओ मे काव्य-कथ्य सघन-निविड़ घुमड़नों से भरा है। नरेश की कविता 'समय देवता' काल की अनन्त गाथाओ का शब्दार्थ में जमाव है। कारण है, कवि की लीनता।

जार्ज मैकबेथ[२३] ने एक निबंध में कहा है, कि 'आज पूरी दुनिया मे लिखी जाने वाली नयी कविताओं में एकरूपता और साम्य आ गया है। उन्हे देख कर एकाएक उनका देश और क्षेत्र-विशेष पहिचानना मुश्किल होता है।' दूसरे शब्दो मे कह सकते हैं कि कविता अब सार्वदेशिक हो गयी है।

'नयी कविता' मे जनजीवन ही नहीं, वरन् व्यापक तथा उत्तर-मानवतावादी दृष्टिकोण भी पूरी सामर्थ्य से अंकित किया जा रहा है। नयी कविता ने अपने काव्य-शरीर से अपना अस्तित्व ही घोषित नहीं किया, 'पृथ्वीकल्प' जैसी रचनाओं एवं अनेक छोटी कविताओं के द्वारा विज्ञान और काव्य का गठबंधन भी कर दिखाया। ..... आज की नयी कविता में युगबोध का स्वर सर्वत्र सबसे ऊँचा है। सामयिक जीवन-चेतना सभी देशों के कवि समान रूप से व्यंजित करते हैं; बौद्धिकता का परिवेश फैल रहा है, थोथी कल्पना और कृत्रिम भावुकता मर रही है।[२४]

परिप्रेक्ष्य-ग्रहण की व्यापकता के कारण एक दूसरी प्रवृत्ति विकसित हुई है, जो इसकी प्रतिक्रिया है। वह है स्थानीय रंगत और लोकस्वर के ग्रहण की विशेषता। यथा—

झींगुरों की लोरियाँ
झोपड़े हिंडोलों-सी झुला रही है
उजली कपासी धूम-डोरियाँ।
प्रात नभ था—बहुत नीला शंख जैसे
राख से लीपा हुआ चौका
बधी लीक पर रेलें लादे माल
ठिलती चलती जाती है।

सुला गयी थीं गाँव को
धीमे-धीमे
—अज्ञेय : अरी ओ करुणा...
भोर का नभ
—शमशेर : कुछ कविताएँ
चिहुँकती और रंभाती अफराये डाँगर-सी
—अज्ञेय : औद्योगिक बस्ती

अंतिम कविता में कवि ने लदी मालगाड़ी का चित्र 'रंभाते अफराये डाँगर' के माध्यम से उभारा है . और इनके माध्यम से एक नयी काव्य-संवेदना का स्वरूप निर्धारित किया है। स्थानीय रंगत अन्यों मे पारिवारिक है।

परिप्रेक्ष्य-बोध के परिणाम-स्वरूप कुछ कवियों के लिए असंतोष और विवशता मे उपजी 'फैंटेसी' कविता और उसके रचना-विधान की प्रेरक शक्ति-जैसी मान्य हुई है। मुक्तिबोध का समस्त काव्य-संसार फैंटेसी का जगत् है। उसमें भी तीन धरातल हैं—बाह्य, मध्य और तलीय। बाह्य धरातल में कविताएँ हिडिम्बा, नागात्मक, विकृताकृति-बिम्बा हैं; मध्य धरातल मे उनकी कविताएँ वास्तव यथार्थ के प्रखर बिम्ब हैं; यथा—

जहाँ सूखे बबूलों की कटीली पात
भूखे बालकों के श्याम चेहरों के साथ
आती याद मेरे देश भारत की
जहाँ पर लाल ढिबरी ज्योति के सिर पर
भरती है हृदय में धुन्धढूबा दु:ख
मैं भी घूमता हूँ शुष्क
अरे मैं नित्य रहता हूँ अंधेरे घर
कसकते स्वप्न मँडराते।

और तलीय धरातल पर उनकी कविता है—

कि वह आवेश त्वरित कालयात्री है।
पिता धाता,
परम स्वाधीन है वह विश्वशाली है।
लिए वह जन-चरित्री है।
नये अध्याय प्रकरण जुड
वह मै उसका नहीं कर्त्ता,
कि वह कभी दुहिता नहीं होती,
गहन गंभीर छाया आगमिष्यद् की
नये अनुभव व संवेदन
तुम्हारे कारणों से जगमगा रही है··

मनोवेग, भाव, विचार अब स्वच्छ और शुद्ध रूप मे गृहीत नहीं होते। 'प्रेम' की परिभाषा अब आकर्षण-विकर्षण के द्वैध में, भक्ति और घृणा के दोलन मे, 'लोभ' (जैवी) और समाजशास्त्रीय एवं वैज्ञानिक 'ऊर्जा' आदि की प्रेरणा के रूप में उभयरूप होगी। फलतः, भाव को भावाभाव-रूप समझा जाता है और विचारादि को आभ्यन्तर झंकृतियों, शारीरिक-मानसिक स्पन्दनो से भी अनुनादित माना जाता है। अब मन का अगम तल भी काव्य-विषय है। मनुष्य स्वयं खण्ड और पूर्ण की अन्विति है। मुक्तिबोध की 'फैंटेसी'-प्रेरित कविता में ही नही, भारतभूषण की 'विदेह', श्रीकान्त वर्मा की 'दिनचर्या' 'जलसाघर' त्रिलोचन की, 'अपराजेय', प्रभाकर माचवे की 'टूटन' आदि में भी वैसी ही ध्रुवान्तताएँ और उनके बीच के वैषम्य वर्णित हैं अथवा एकता।

कल माँ ने यह कहा
मैं मुसकाया वहाँ मौन
जैसे दो दुनियाँ हों मुझको
कि उसकी शादी तय हो गयी कहीं पर
रो दिया किन्तु कमरे में आ कर
मेरा कमरा औ मेरा घर।

—दुष्यंतकुमार : सूर्य का स्वागत

मैने कोशिश की थी कि कुछ कहूँ उनसे, लेकिन जब मैंने कहा, तुमको प्यार करता हूँ—
मेरे शब्द एक लहरियाता दोस्त बनकर उकडूं बैठे खोंचों पर भिनभिनाने लगे।
फिर कुछ लोग उठे, बोले कि, आइए तोड़ें पुरानी —
—फिलहाल—मूर्त्तियाँ। साथ न दो हाथ ही दो सिर्फ
झोले में बन्द कर एक नई मूर्ति मुझे दे गए। —रघुवीर सहाय : नेता क्षमा करें

२ क-ख—आज के मानव-मस्तिष्क मे जीवन-जगत् के अपार विस्तार, गहराई और जटिलता के बोध के कारण फैलाव आया है और बोध-ग्रहण की प्रक्रिया में आश्चर्यजनक त्वरा और विस्मयकारी औदार्य भी। जो जहां जैसे हैं, उन्हे सह-अस्तित्व की उदार दृष्टि से स्वीकार कर वैश्विक चक्र मे उनकी सत्ता मानव-नियति की खोज के लिए अनिवार्य मानी जाती है। इस स्पष्ट परिप्रेक्ष्य-बोध और स्वच्छ वैज्ञानिक चिंतन के कारण मानवकेन्द्रिक विचार-परम्परा, आभिजात्य-भावना और प्राचीन श्रेण्यवादी संस्कारो के आधार और निर्देश पर चलने वाले काव्य-रूप, लय-सस्थान, अभिव्यंजन-माध्यम, शिल्प-शैलियों आदि में आमूल परिवर्त्तन हुए है। 'बिम्बों' में अपार वैविध्य आया है। उन्हे सारांशतः निम्न-रूप में देखा जा सकता है—

(क) रूपाकार की लघुता—आधुनिक कविता आकार में छोटी और रूप-विन्यास में सहज हो गई है। उसमें विस्तार की जगह केन्द्रण है। एकोन्मुखी होने पर भी उसमें नाटक की मूल और प्रासंगिक कथाओं की जैसी पेचीदी बुनावट रहती है। हल्के मनोभावों, विचार-कणों और झिलमिलाते-उडते परिदृश्यों की आधुनिक कविताएँ आकार में छोटी तो हैं; किन्तु वे सामान्यतः पुराने मुक्तकों के गोचारण-कृषि-सम्बद्ध ग्रामीण संस्कार, वन्य मुक्तता अथवा रसिक-समुदाय के परिचित रंग, साज-सज्जादि के कलात्मक तंत्र से रिक्त है। उनके स्थान पर, अथवा कही-कही उनकी हल्की भावना के साथ भी, इन कविताओं में आधुनिक नगर और गाँवके रेखाचित्रात्मक अखबारी विवरण मिलते हैं—मशीनी हड़-हड, खट्-खट, शहराती जिन्दगी के जोश-खरोश और लाग-लपेट, बौद्धिक उलझाव, राजनैतिक दाँव-पेंच और वैज्ञानिक ढंग के सहज अतरंग/तटस्थ कथन सुनाईपड़ते हैं। 'पृथ्वीकल्प', 'कनुप्रिया' अथवा 'चाँद का मुँह टेढा है', 'अतुकान्त' 'चक्रव्यूह' आदि की लम्बी कविताओं की प्रस्तुति में भी पुराने महाकाव्य की पद्धति नही अपनाई गई है। वे भी लघु बिम्बो, प्रतीकचित्र-खण्डों के टूटते-बिखरते विषम प्रवाह हैं उनका प्रबंध-विन्यास निर्बंध अधिक है, जिसमें तीव्रगामी चलचित्रो के कौंधते-जगमगाते विषम दृश्य-पुंज किसी अगम धारा मे तिरते-बहते प्रतीत

होते हैं। रूपाकार की यह लघुता और उसके आन्तरिक सत्व के प्रकाशन में यह विषम बुनावट आधुनिक जीवन जगत् की क्षिप्रता, वेग आदि के कारण है और है उस वैज्ञानिक मान्यता के अनुरूप कि 'क्षण' में 'अनन्त' समाहित है, तथा प्रत्येक क्षण दूसरे से पृथक् भी है। अतः कुछ कविताएँ असमाप्त भी रहती है, यथा—'मुक्तिबोध' की कविताएँ।

(ख) लय-संरूपों में वैविध्य —नरेन्द्र शर्मा ने १९३७ ई० में 'ट्विड' के 'नये कोट के बटन-होल' में लगाए गए 'गुलाब की लाल कली' की स्मृति पर कविता लिख कर, पन्त ने १९३८-९ ई० में 'दो मित्र' 'घननाद' 'दो लड़के' कविताएँ रचकर तथा निराला ने भी अनेक छोटी-बड़ी सामाजिक समस्याओं पर रचनाएँ प्रस्तुत कर बदलती काव्य-दृष्टि का अथवा कहा जाय, कवियों में विकसित होती हुई लोक-सम्पृक्ति की भावना का परिचय दिया था और सूचित किया था कि कवि-दृष्टि के साथ-साथ अभिव्यंजन-तंत्र भी पुराने पड रहे हैं। १९४० ई० के बाद से संस्कारी अवरोधों को हटा कर व्यापक प्रयोग शुरू हुए। अभिव्यंजन-माध्यम में मार्के की पहली क्रांति लय-संस्थान के क्षेत्र में घटित होती है। काव्य की लय में आन्तरिक अनुभूति की ऊर्जा का जीवन-जगत् की आन्दोलित गति-धारा के साथ मिश्र बुनावट की जाती है। अतएव, परिवर्तित परिवेश का प्रभाव आधुनिक कविता के लय-संस्थान की विषम बुनावट पर पड़ा माना जा सकता है। संस्कृत को लेकर हिन्दी का छन्द-शास्त्र इतना विकसित है कि उसकी सर्वग्रासी सूची से बचा कर नये छन्द गढ़ना प्रायः असम्भव है। अतएव, नये कवियों ने (क) प्राचीन अप्रचलित छन्दों में, (ख) एकाधिक छन्दों के मिश्रण से गढ़े गए नए छन्दों में (ग) मात्रिक वर्णिक वृत्तों को अपना कर, अतुकान्त लय-सरूपों में (घ) शास्त्रीय छन्दों की गति, यति आदि से विहीन 'मुक्त छन्द' में (च) उर्दू की रुबाई, गजल आदि में (छ) बंगला के पयार आदि एवं अन्य भारतीय भाषाओं के छंदों में (ज) लोकगीतों, समूह-गायनों की लोकधुनों में (झ) विदेशी छन्दों, जैसे—सॉनेट, ओड, बैलेड, एवं कुछ अमेरिकी जापानी आदि लय-सरूपों में (ञ) गद्यात्मक लघु-बिम्बों के विविध एवं मिश्र प्रयोग के द्वारा रचनाएँ प्रस्तुत कर तथा उनके स्वरों में यथावश्यक (ट) जन-जीवन के लहजे और अन्दाज भर कर अथवा परिवेश के प्रतिरूपात्मक नाद गुंजित कर लय-संस्थान में वैविध्य के अनगिनत प्रयोग किये है, उन्हें युग-जीवन-भंगिमाएँ दी हैं तथा उनकी लोच और संभावनाएँ बढ़ा दी है। ऐसे प्रयोक्ताओं में अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध, भवानी

प्रसाद मिश्र, शमशेर, नरेश, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर दयाल, ठाकुर प्रसाद सिंह, कुंवर नारायण, जगदीश गुप्त आदि समप्रवाही पद्यात्मक लय-संरूपों के लिए यशस्वी हुए हैं, तो रघुवीर सहाय, लक्ष्मीकान्त वर्मा, माचवे, श्रीकान्त वर्मा, श्याम परमार, कैलाश वाजपेयी आदि एवं इधर के धूमिल आदि युवा-कवि विषम प्रवाही गद्यात्मक लय-प्रयोग और वेधक तुकों के व्यवहार के लिए।

नये लय-संरूपों ने लोक मानस की नयी दृष्टि खोली, नये विचार के लिए वातायन उन्मुक्त किए; साथ ही नई संवेदनशीलता जगाई है। नये ढंग से सोचना-विचारना, देखना-समझना तो जरूरी है ही; उनसे भी आवश्यक है नए तरीके से भावों को महसूस करना। यदि भाव भी नवीन रागबोध में बदले हुए हों, तब तो यह और भी जरूरी हो जाता है। नई लयों ने नए लय-बोध के द्वारा गद्य और पद्य में, जीवन और कविता में परिवेश और काव्यशब्द में एक अखंड रागधारा को पहचानने की नवीन संवेदना जगाई है।

नवगीतात्मकता—आज के युग-जीवन की वैयक्तिक प्रतिक्रिया की आत्मविभोर अभिव्यक्ति की दृष्टि से, केदारनाथ सिंह के अनुसार 'गीत कविता का सबसे मुश्किल माध्यम है। सब कुछ कह लेने के बाद कवि के मन में जो भाषातीत गूंज बच जाती है, गीत की शुरूआत वहीं से होती है और उसकी सफलता भी इसी के सफल प्रकाशन में है।' आधुनिक नवगीतों की लयात्मक बुनावट में 'गीत-अगीत' दो चीजें नहीं हैं। उनमें भावात्मक सान्द्रता भी स्वीकृत है और वैचारिक टकराहट भी। इससे उनके सांचे भी बदल गए हैं, शब्दादि के चुनाव और क्रमविन्यास में भी वर्जना की रूढ़ता के स्थान पर स्वीकृति का लचीलापन आ गया है।

आलापों की-सी रिक्तता, अथवा कहें, अनुरणन और गूंज का हल्का कम्पन 'निराला' की कविता में वहाँ मिलता है, जहाँ स्वर-व्यंजनों की पंक्ति-बद्धता के पार कुछ साकांक्ष्य अनुगुंजन टिक-सा जाता है। अर्थात् उन्हें पढ़ कर लगता है, कुछ और स्वर या व्यंजन होते तो सांगीतिक ध्वनि सम पर टूटती। यह मांग अर्थ की ओर से नहीं होती, लय-क्रम या स्वर-प्रवाह की ओर से होती है। यह आकांक्ष्य गूंज सारी कविता में छा जाती है। लगता है कि स्वर-व्यंजनों के सांगीतिक ऑक्सिजन-जैसे वातावरण के केन्द्र में वह साकांक्ष्य गूंज स्थिर होकर प्लैटिनम तार की तरह बल उठी हो।

आधुनिक कविता के अनेक गीतों में त्रिविध प्रकार की साकांक्ष्य गूंजों को भी अनुगुंजित करने के उदाहरण मिलते हैं। उदाहरणस्वरूप नरेश मेहता की

कविता 'पीले फूल कनेर के', शकुंत माथुर की 'केसर रंग रंगे अंगना' शमशेर की 'एक मुद्रा से' 'मैं सुहाग हूं' 'काले दीप' आदि मे दोनो प्रकार की गूजें हैं—आकांक्ष्य मे 'आलाप' की-सी और निराकाक्ष्य आवृत्ति मे 'टेक'-जैसी।

नवगीतो को आधुनिक जीवन के अनुरूप ढालने मे बच्चन, अज्ञेय, भारती, , सुमन, शमशेर आदि के बाद महत्त्वपूर्ण योगदान गिरिजा कुमार माथुर, ठाकुर प्रसाद सिंह, नरेश मेहता, केदारनाथ सिंह, कीर्ति चौधरी, रवीन्द्र भ्रमर, नारज शम्भुनाथ सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, रामदरश मिश्र, राजेन्द्र किशोर, परमानन्द श्रीवास्तव, शलभ नईम, और नीलम सिंह आदि के हैं।

(ग) शब्द-चयन और शब्द-सघटन में वैविध्य—आधुनिक युग-जीवन की त्वरा, वेग और मानव-मस्तिष्क के बोध-ग्रहण की तीव्रता और समावेशी प्रशस्तता की अभिव्यक्ति के लिए भाषा अक्षम माध्यम हो उठी है। अतएव उपयुक्त भाषा की समस्या आज ससार-व्यापी और गम्भीर हो गई है। दिनकर ने 'कोयला और कवित्व' मे ठीक ही कहा है—

> शब्द साथ ले गए अर्थ जिनसे लिपटे थे, छोड गये हो छन्द, गूँजता है वह ऐसे ॥
> मानो कोई वायु-कुंज में तडप-तडप कर बहती हो, पर नहीं पुष्प को छू पाती हो ॥

अतएव कवियों ने नई लयों की खोज तो की ही साथ-साथ शब्द-चयन और शब्द-संघटन की विविध भंगिमाएँ अपना कर भाषा को शक्तिशाली और उपयुक्त बनाने का प्रयास भी जारी रखा है। आज की काव्यभाषा की शब्द-सम्पदा मे (क) ज्ञान-विज्ञान की प्रायः सभी विद्याशाखाओं (ख) कला-प्रकारो (ग) देशी-विदेशी भाषाओ के शब्दों तथा (घ) विविध नगरों, कस्बों, गावों और अड्डों की ठेठ बोलियों, लटको और लहजो के साथ-साथ (ङ) सामरिक, राजनैतिक, प्रशासनिक क्षेत्रों के पारिभाषिक शब्द पूरी लोकतांत्रिक दृष्टि से ग्रहण कर लिए गए हैं। (च) साथ ही कवियों ने अनेक शब्द, मुहावरे आदि भी गढे हैं। **भवानीप्रसाद मिश्र** के निम्न कथन से कि—

> जिस तरह हम बोलते है, उस तरह तू लिख
> और उसके बाद भी हमसे बडा तू दिख। —दूसरा सप्तक

तथा **चन्द्रकान्त देवतले** की निम्न पक्तियो से—

> केवल कुछ शब्द है जिन्हें हम खौलते पानी से निकाल कर
> रेत पर सुखा रहे है। —अंत नहीं हो रहा है

यह सकेत मिल जाता है कि काव्यभाषा मे सहज-सरलता, कह लें गद्यता और अनगढता आ गई है। पर इस खतरे से उसकी शक्ति-संभावनाएँ बढ गई हैं।

कहते हैं हमें सिर्फ अपने ही हक मे बरतना बन्द करो, हमको अब दीवारो का नहीं
मैदानों का छन्द करो, हमें फैलाओ जैसे किसान फैलाता है बीजो का, · · · ·
शब्दों को नयी तरह, धारियों को, तमीजों को यानी अब 'मैं और मेरे शब्द अलग-अलग
नहीं हैं; एक है ।

—भवानी प्रसाद मिश्र - 'शब्दो के महल' - नयी कविता-२

वह जन-जीवन की अपनी मुद्रा, निजी अभिव्यक्ति हो गई है। कवि की उदार लोकतांत्रिक भावना, हल्केपन और स्वच्छ निर्भीकता को ऐसी काव्यभाषा शब्द को लोच दे ‥की है। निम्न पंक्तियों की सहज स्निग्धता मोहक—

फिर उभर कर कहेगी कविता क्या हुआ दुनिया मरघट बनी
अभी मेरी आवाज बाकी है लो तुम्हें मै फिर नया विश्वास देती हूँ,

—धर्मवीर भारती

यह जो दीवारें घेरे है ढह जायेंगी
यह जो सीमाएँ रोके हैं मिट जायेंगी
यह जो आत्माएँ बदी है खुल जायेंगी
धरती की उन्मुक्त दिशाएँ मुसकाएँगी —केदार ' जनयुग

शक्ति दो,बल दो पिता जब दुख के भार से मन थकने आय
पैरों में कुली की-सी लपकती चाल छटपटाय
इतना सौजन्य दो, कि दूसरो के बक्स बिस्तर घर तक पहुँचा आये'
कोट की पीठ मैली न हो, ऐसी दो व्यथा।

—रघुवीर सहाय

नये कवियों ने शब्दो के पौर्वापर्य की सीमाएँ भी भग कर भाषा की त्रुटि का परिमार्जन करना चाहा है। अनुभूति की उद्बुद्धि के क्षण में, अथवा बाह्यानुभव के ऐन्द्रिय बोध और दर्शन के समय चित्तवृत्ति पर अनुक्रम नही-सा रहता है। पौर्वापर्य का भाव, एवं कार्य-कारण-सबंध का ऐसा ज्ञान नही रहता है कि अमुक क्रिया पहले हुई, अमुक बाद में आदि। काव्यभाषा भी सकल इन्द्रियों के एकत्र सहबोध की प्रस्तुति तद्वत् अ-क्रम रूप मे कर पाती तो उचित होता। पर भाषा उद्देश्य-विधेय, सज्ञा-क्रिया, और काल-भेदादि द्वारा इस प्रकार बँधी और देशानुक्रम-प्रसारी है, कि उसके द्वारा तात्कालिकताओ अक्रम सह-बोध (साइमलटेनिटि और स्पॉन्टनेटि) का प्रतिफलन नही हो सकता। अमेरिकी कवि कमिंग्ज ने भाषा की इस समस्या के निदान मे अनेक चतुर प्रयोग किए है; यथा—बड़े-छोटे अक्षरों का भावानुरूप प्रयोग; पद्य, गद्य का मिश्रण; शब्द के पद-परिचयगत विधान-रूपादि का भंजन; शब्दांशों का यथावश्यक दूसरे शब्दांशों से योग; विराम-चिह्नो का साभिप्राय प्रयोग; नवीन शब्दादि की रचना आदि।[२५] आधुनिक हिन्दी-कविता मे भी इस प्रकार के शब्दानुक्रम आदि के कौशल के कुछ उदाहरण मिलते हैं; यथा—

एकरूप प्रसार—जंगम दर्शक, जड दृश्य औ — र ं ध का र
आसपा पासपा ताल के (— — पायल बांध के — — जूना, सोता, काक-कौं)।
तीव्रगति—कलकल् — ताप — अंजा — बमेश।
— नलिन नकेन

ये पंक्तियां ध्वनि बिम्ब रूप में अपने कथ्य का सह ध्वनन प्रस्तुत करती है। परन्तु

साँझ : एक जिद्दी लड़की की तरह —
क
म रे
रे
में घुसी —   — श्री अग्नेय

इस शब्द-चित्रात्मक कौशल के द्वारा कमरे में सांझ की व्याप्ति का त्वरित बोध कराया गया है। पुनः निम्न पंक्तियों

मेरी गड़ती आँखें यहीं — आप्यायित
र   दे
ख   ही   — नलिन नकेन

में 'देख रहीं' का गुणा-चिह्न-रूप शब्द-प्रयोग यह सूचित करता है कि देखने में दृष्टि जहाँ केन्द्रित हुई है वहाँ '×'-जैसा गुणा-चिह्न बन गया है।

ऐन्द्रिः किल नखैस्तस्या विददार स्तनौ द्विज
प्रियापभोगचिह्नेषु पौरोभाग्यमिवाचरन्।   — (रघुवंश: १२/२२)

की ध्वनि 'र दे ख ही' के प्रयोग के कारण अकस्मात् अनुरणित होती है; इससे देखने की क्रिया की निर्बाध असमाप्ति और अतृप्ति का भी शब्द चित्र प्रस्तुत हो गया है। विराम-चिह्न, चरणखण्ड, पंक्तियों के प्रसार-संकोच के नवीन विन्यास आदि के द्वारा भी आधुनिक कवियों ने भाषा में झंकृतियाँ भरी हैं; यथा—

दैन्य दानव , काल   भीषण ; क्रूर
स्थिति ; कंगाल   बुद्धि ; घर मजदूर।

इनमें विरामों के साथ एक अर्थ-परम्परा है, तो विरामों को हटा देने से दूसरी। वैसा ही चमत्कार निम्न पंक्तियों के 'कोलन' के प्रयोग में है।

एक—जनता का   दुःख : एक

आगे चलकर उपरिलिखित पंक्तियाँ पूर्ण-विराम में बंध गई हैं—

दैन्यदानव। क्रूर स्थिति।   कंगाल बुद्धि। मजूर घर भर।

विरामादि के प्रति इतनी जागरूकता अच्छी बात जरूर है। पर इसकी संभावनाएँ अल्प हैं।

वियोजक चिह्न (डैश) के प्रयोग भी आज कम सार्थक नहीं है। भाव या विचार के प्रलम्बन हेतु, अनुगुंजन हेतु अथवा पाठक को अगली पंक्ति में

झट डुबो देने के लिए उसका व्यवहार तो होता ही है, बहुधा 'अपर' तत्त्व के ध्वनन के लिए भी इसका प्रयोग किया गया मिलता है। जैसे,

फिर—जाने कब—मैंने देखा नहीं। —अज्ञेय : चिड़िया ने कहा

चरण-विन्यास, पंक्ति-बद्धता, पंक्ति-भंजन में भी आधुनिक कवियों ने सामान्यतः मुक्त-काव्य की मुक्ति का मनमाना उपयोग नहीं किया है। लय की माँग पर तथा भाव और विचार की सान्द्रता और पूर्ति की एकान्विति मे ही उत्तम कविताओं की पंक्ति पृथक् हो बंधी दीखती है। फलतः भाव जहाँ एक शब्द मे सान्द्र और केन्द्रित हो उठा है, वहाँ एक शब्द ही पंक्ति है, और जहाँ लम्बे एकतान भाव-विचार है, वहाँ लम्बी पंक्तियाँ हैं। उदाहरणस्वरूप निम्न पंक्तियों के बंध तोड़ देने पर अर्थ बदल जायगा; लय भी दूसरी हो जायगी :—

फूल— थे;
हो गये· तुम हे
मौन धारा में मग उसके,
अमर जिसके गान। —शमशेर

ऊपर की पंक्तियों की लय विलम्बित गति की है। द्रुत गति से पढ़ने से उनकी सान्द्रता बिखर जायगी और विरामचिह्न, यति, गति, स्वर-प्रयोग आदि पर अन्याय हो जाएगा। डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने 'भाषा और संवेदना' मे यथार्थ ही बताया है कि इस प्रकार की कविता एक विशेष प्रकार की लय पर आधारित है, जिसकी व्यंजना शब्द के साथ-साथ कंठ मे भी है। छन्दमुक्त कविता में यति अर्थ की दृष्टि से रखी गई है। बलाघात, विराम तथा स्वर को मन्द्र या क्षिप्र करके कविता का मौलिक अर्थ आज का कवि स्पष्ट करना चाहता है। अतः शमशेर की इस कविता —

"आज का नहीं दिन ठीक,"

में 'दिन' और 'ठीक' के बीच का पॉज, जो पंक्ति-भंजन के कारण आया है, मानों कविता की मूल संवेदना को व्यक्त करता है। संकोच, द्विविधा, भय, मान, अनुज्ञा—न जाने कितने भाव इस विराम से व्यक्त होते हैं। रचना की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया स्पष्टतः उसके श्रव्य-रूप मे ही प्रकट हो सकती थी।' मुद्रित होने पर उसमें विराम-चिह्नों की बहुलता तथा जटिलता आ जाती है जिनसे पाठक उलझता—खीझता है। श्रीकान्त वर्मा आदि की कविताओं में इसके नाटकीय प्रयोग है और भवानी प्रसाद मिश्र की 'अंधेरी कविता' के 'पॉज' में अर्थ की परम्परा है। 'कविताएँ शिवचन्द्र शर्मा की' संकलन में लय-वैविध्य, गप्यता, आकस्मिकता, अनुगूँज, आदि के बेधक-बेबाक प्रयोग मिलते हैं।

(घ) उपमानों और प्रतीकों की उद्भावना कर भी आधुनिक कवियो ने भाषा की सामर्थ्य बढाई है। उन्होने कमल, गुलाब, वृक्ष, चम्पाकली, लता, मछली, नदी आदि अनेक परम्परा-प्राप्त प्राकृतिक उपमानो का नवीन रूप मे प्रयोग कर मुख, देह, मन, चेतना आदि का बिम्बन किया है, साथ ही अनेक नवीन उपमान कल्पित भी किए है, यथा—'काले अगरू' से बादल, 'फूलभरे' भुजबध, 'मलय पवन' सा उत्तरीय, 'चिडियो' सरीखा धवल अंचल, 'क्वाँरी हल्की रतनारी सीपी' मे दो पतले होंठ आदि। प्राचीन पौराणिक सांस्कृतिक, धार्मिक उपमानो के नये अर्थ मे प्रयोग बेधक हुए है। वैज्ञानिक उपमानों के प्रयोग से युग-जीवन की बौद्धिकता और वैज्ञानिकता का वातावरण सृष्ट हुआ है; यथा—

तुम — थरमामीटर के पारे-सी
चुपचाप जिसमें भावनाएँ चढती उतरती हैं। —सर्वेश्वर दयाल : काठ की घंटियाँ

इलेक्ट्रोन के आर-पार ज्योतिर्मय मसहरी में
उद्जन का विस्फोटक वासनाकुल
सत्ता की सर्ववल्लभा सुन्दरी
नग्न उत्सर्जित हो आई है।
परमाणु के सूक्ष्मतम आवरण-आँचल खिसकाकर
कंचुकि विसर्जित कर
पर-मिलन रति के हृदय-पद्म पर
—वीरेन्द्र कुमार जैन : युगचेतन पूर्ण

वैज्ञानिक उपमान विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रो से लिए गए हैं, यथा—लैंस, लाउड स्पीकर, टाइपराइटर की 'की', दाँतेदार पहिया, साइरेन, वायुयान, टिक्चर, क्लोरोफार्म, त्रिभुज, विन्दु, रश्मि-विकीरण आदि। इन नवीन उपमानो के अतिरिक्त लोक-जीवन और पारिवारिक परिवेश से गृहीत उपमान भी बडे सार्थक और रमणीय हैं; यथा —

धूप
हुई भासित
—माँ की हँसी के प्रतिबिम्ब-सी शिशुवदन पर
—अज्ञेय : इन्द्रधनु रौंदे हुए थे

वत्सल छाती-सी पहाडियाँ
बच्चे-सा सूरज सो जाता
दूध पिलाने आतुरा
लेकर मुँह में आँचरा।
—गिरिजा कुमार माथुर : शिला पंख

खंभों पर बिजली की गरदनें लटकी है
बेचैन खयालों के कोडे ....
मेरा दिल ढिबरी-सा टिमटिमा रहा है।
शर्म से जलते हुए बल्बों के आसपास
—मुक्तिबोध : चाँद का मुहँ टेढा है
—वही

उसी भाँति नये कवियो के रूपक भी सहज, ताजे और आधुनिक जीवन के अनुरूप हैं, यथा—अज्ञेय के 'भोर का बावरा अहेरी' और 'सूप सूप भर धूप कनक और एक अकेले कुरर के बीनने' के रूपक आदि। सर्वेश्वर के रूपक सुन्दर बने है; यथा —

झलमें सितारो की कामवाली
अम्बर का बड़ा सिंदौरा उलटा
गिरितरु के शिखरों से ढर-ढर कर
नीली मखमल का खोल चढ़ा
धरती पर नदियों के जल में
सब सेंदुर फैल गया।

इसमें भोर की फैलती ललाई को मुग्धा नायिका के अटपटे शृंगार-प्रसाधन और आकुलता के रूपक में प्रस्तुत किया गया है। उसी भाँति जगदीश गुप्त ने सूरज के निकलने के दृश्यको 'लोहार' की दुकान के रूपक मे मूर्त्त किया है—

भोर के बलिष्ठ हाथों ने   पूरब की भट्टी से लाल-लाल दहकता गोला निकाला
पर वह निकलते ही रात की लम्बी काली संडासी से छूट गिरा
गिरते ही लुढ़क चला पच्छिम की ओर   अँधेरे के लोहार ने लाचार
सुबह से ही अपनी दुकान बढ़ा दी   ताजी हवा की साँस भरता हुआ —शब्द दंश

कुछ रूपकों मे अनेकार्थकता की भी विशेषताएँ हैं। अधेरे की यदा-कदा टूटती-सी नीरव गहराई के निम्न प्रच्छन्न रूपक मे रात्रि-नायिका भी उभरती है चेतना भी, निस्तब्धता भी, अचेतन मानस की गहराई भी।

थाह—
अँधेरा घुप्   ताल का तट चुप्   एक कंकड डुप् !
दूसरा डुप् !!   तीसरा डुप् !!!
भला यह क्या खेल ठहरा,   फूलती साँसें समेटे।
खुली वेणी में अँधेरा बाँध लो   गौर माथे से पसीना पोछ डालो।
कंकडो की चोट दे   पायी किसी ने थाह अब तक?
कौन जाने ताल ही यह अतल निकले।   —जगदीश गुप्त : शब्द दंश

नई कविता के अधिकाश प्रतीक चाहे वे परम्परा प्राप्त हो, अथवा कवि-सृष्ट काव्य-कथ्य के अभिव्यंजक तो है ही, युग-जीवन की बदलती संवेदना के भी संवाहक हैं। यथा—अज्ञेय ने 'मछली' को मत्स्यानुभूति, जिजीविषा आदि का, 'सूरज' को एटम बम का, 'सागर' को अज्ञात अथाह आकर्षण का, 'लहर' को गतिशीलता का, 'साँप' को हिंसक नागरिक का प्रतीक माना है। वैज्ञानिक प्रतीकों मे बिलायती स्पंज, क्लोरोफार्म, थर्मामीटर, त्रिकोण, वृत्त आदि नवीन और कहीं-कहीं दुर्बोध है। यौन-प्रतीक अज्ञेय, गिरिजा कुमार, शकुन्त माथुर शान्ता सिन्हा, धर्मवीर भारती, शमशेर, इन्दु जैन आदि की कविताओं मे मिलते हैं। प्रतीकवादी प्रतीकों का सबसे अधिक वेधक प्रयोग मुक्तिबोध की कविता मे मिलता है।

प्रतीकवादी 'वास्तव' को गीली मिट्टी की तरह सॉद कर अन्तस् के अनुनाद के अनुसार काव्यादि मे विलक्षण प्रतीको की रचना करते है, जब कि बिम्बवादी वस्तुत्व पर आधारित होने के कारण स्थापत्यात्मक मूर्त्तन पर बल देते हैं, अत. प्रतीकों मे वास्तव का रूप प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक कवियों ने दोनों प्रकार के प्रतीक रचे हैं और 'कथ्य' का 'बिम्ब' प्रस्तुत किया है। उदाहरण-स्वरूप 'मेरी आत्मा का प्रथम जन्म घर' कविता ली जाए—

सूओं के पेड़
किनारे हंसों के बने
चाँद के पलंग पर
हिरन आखों की खिड़कियों पर
नीरव गीत गाती मैना
वहीं कहीं रहा होगा
मयूरों की झील
बंगले में
खरगोश की सुकोमल शैय्या
मासूमियत का
मेरी आत्मा का प्रथम जन्म घर
कौन जाने।

—वीरेन्द्र कुमार जैन : यातना का सूर्यपुरुष

इस कविता में प्रतीक और रूपक के द्वारा कथ्य को सघन और रहस्याच्छन्न बनाया गया है। रहस्याच्छन्नता इसमें दूरी की भी व्यंजना करती है। रूपक प्रकृति के अनन्त विस्तार से अन्तरंग सम्बन्ध स्थापित कराते हैं। अन्ततः दोनों के सम्मिलित बिम्ब ही दूरी और फैलाव को समेट कर ऐन्द्रियिक मूर्त्तता मे कथ्य का रूप प्रस्तुत करते हैं। बिम्बवादी प्रतीकों के उदाहरण पिछले पृष्ठों पर आ गए हैं।

(ङ) **रंग-योजना**—नई कविता की रंग-योजना भी कवियों की अभिनव संवेदनशीलता, नई दृष्टि और बिम्ब-निर्मात्री कल्पना का प्रमाण प्रस्तुत करती है। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी और रामकुमार वर्मा ने कोमल, हल्के और धुंधले रंगों के मेल, तारतम्य और वैषम्य के द्वारा हर्ष, अवसाद, करुणा, दैन्य आदि की प्रखर ऐन्द्रियिक अभिव्यक्ति प्रभाववादी बिन्दु-योजना की विधि से की थी। पत और निराला ने रंगों की आभाओं के मिश्रण मे और भी प्रयोग किए तथा उनके चुनाव में फैलाव लाने की भी कोशिशें कीं। नई कविता में रंग संकेतक भी हैं, वातावरण-निर्माण हेतु सार्थक उद्दीपक भी हैं, भाव-बोध के प्रकर्षक भी हैं और संवेदनशीलता के उद्बोधक भी। कवियों ने रंगों के चुनाव के लिए अपने रंगपट बहुवर्णी, स्थानीय रंगतों से पूर्ण और प्रशस्त रखे हैं। साथ ही उन्होंने रंगों की आभाओं के मिश्रण, तारतम्य आदि से लय की योजना की है और गत्वर चित्रित कर उन्हें नया आयाम दिया है। यथा—

गत्वर रंग-लय—

गुलाबी पाँखुरी पर एक हल्की सुरमई आभा
इन फिरोजी ओठों पर।
कि ज्यों करवट बदल लेती कभी बरसात की दुपहर

—धर्मवीर भारती : दूसरा सप्तक

प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे
राख से लीपा हुआ चौका अभी गीला पड़ा है
कि जैसे धुल गई हो
मल दी हो किसी ने
गौर झिलमिल देह
भोर का नभ
बहुत काली सिल जरा से लाल केसर से
स्लेट पर या लाल खड़िया चौक
नील जल में या किसी की
जैसे हिल रही हो।

—शमशेर : कुछ कविताएँ

यह सोनजुहीसी चाँदनी
मोर पंखिया चाँदनी।
किसमिसी मेघ चीवर विलास
किन्नर रम्भा चाँदनी।

नव नीलम पंख कुहर खोंसे
किसलयित गेरुआ वन पलास
मन बरफ़ शिखर पर नैन प्रिया

—नरेश मेहता ' पाँच जोड़ बाँसुरी

रंग-वैषम्य—

स्याह लहरों में नहा रही

.. .

सामने है अँधियाला ताल और

... ..

अन्धेरे की काली स्याह
भीतों और अहातों के, काँच-टुकड़े जमे हुए
चाँदनी की फैली हुई सँवलायी झालरें-

किरनीली मूर्तियाँ

. ...

स्याह उसी ख्याल पर सँवलायी चाँदनी

......

शिलाओं से बनी हुई
ऊँचे-ऊँचे कंधों पर

—मुक्तिबोध ' चाँद का मुँह टेढ़ा है

भारती, शमशेर, कुँवर नारायण, नरेश मेहता, सर्वेश्वर की कविताओ मे रग-सवेदना विविध रंगों की आभाओ की घुलनशीलता से लयात्मक होती है, तो गिरिजाकुमार, जगदीश गुप्त आदि मे शोख रेशमी रंगों की चमक और निखार से। मुक्तिबोध की रग-योजना काले रग से हल्के-गाढे अन्य रगो की टकराहट के द्वारा व्यग्य-विद्रूप का तीखापन प्रस्तुत करती है। अज्ञेय, शमशेर आदि की रंग-योजना प्रभाववादी है; अज्ञेय की इधर की रचनाओं के रंगों मे काव्य-विवक्षा के अनुरूप तारल्य, ऊष्मा, पारदर्शिता अथवा कान्ति और प्रशाति मिलती है। रंग-योजना में आज अधिक ताजगी और नफासत आई है।

(च) **आकस्मिकता**—आधुनिक पदार्थ-विज्ञान मे आकस्मिकता की भी मान्यता है—(क) रश्मि-तरंग हठात् पदार्थ-रूप हो जाती है, अथवा इलेक्ट्रन-प्रोटोन मे परस्पर आकस्मिक परिवर्त्तन होता रहता है। अत. रश्मि-किरण सतत प्रवाह नही, सन्तान-धारा है जिसके बीच मे आन्तरालिक कूदे हैं: (ख) चिंतन सतत एकोन्मुखी प्रवाह नहीं होता, बीच-बीच में अवान्तर तत्त्व उर्मित होकर चिंतन-प्रवाह को खडित करते हैं। उसमें छलांगे होती हैं; निष्कर्ष, निर्णयादि मे बहुधा उछल कर कोई सूझ आती है, जो हमे चमत्कृत करती है। आधुनिक कविता मे आकस्मिकता के ऐसे तत्त्व कई प्रकार से विन्यस्त है। पूर्व संस्कारों के ध्वस के द्वारा अथवा/और विरूप, विसदृश, विषम और विलक्षण कथनो के द्वारा भी आकस्मिकता के तत्त्व का प्रकारान्तर से उपयोग किया जाता है। काव्यादि से विषय-विषयि का द्वैध धीरे-धीरे मिटता गया है, परोक्ष-शैली के स्थान पर प्रत्यक्ष-शैली उभरती गयी है। नई कविता में 'मैं' की अनेक भंगिमाएँ एक ही कवि या कविता में मिलेगी और कभी-कभी इस 'मैं' को भी दुहरा-तिहरा व्यक्तित्व दे दिया गया है। इसमें भी आकस्मिक का संयोग है

सहसा मैंने चौंक कर
अपने को उस फिल्म में
एक कोहरे-सी भीड़ में
उठकर डूबता
और मैं भूल गया
या परदे पर

देखा
परदे की छाती से फूल कर उभरती
एक-दूसरे में मिले असंख्य चेहरों में
एक अतिरिक्त चेहरा ......
मैं हाल में हूँ
या कहीं नहीं।

—गिरिजाकुमार माथुर : जो बँध नहीं सका

कविता में कथ्य-अकथ्य सब कुछ प्रकट हो जाय, तो वह मुक्त आसंग की कविता होगी। रिचर्ड्‌स ने ऐसी कविता को 'पोएट्री ऑफ इन्क्लूजन' (समावेशी) नाम दिया है। इसके विपरीत 'पोएट्री ऑफ एक्सक्लूजन' (एकान्तक कविता) में कथ्य के अनुरूप विचारों को काट-छाँट कर प्रस्तुत किया जाता है। समावेशी काव्य में आकस्मिकता के तत्त्व अधिक रहते हैं। आकस्मिक विचार, भावादि के परिवर्त्तनों-मोड़ों से कविता नाटकीय हो जाती है। आकस्मिकता के कारण कविता में अन्तराल भी प्रतीत होते हैं।

अन्तराल—कवि रैम्बो का कहना था, 'मैंने एक ऐसी भाषा तैयार की है जो समस्त इन्द्रियों की है। मैंने नीरवता का अंकन किया है, रात को वाणी दी है। कविता अगम-अगोचर की स्वरलिपि है, मानव मन की अथाह गहराइयों को साँचे में ढालना है। कविता अंधकार में पकड़ी जाती है। ज्ञान काम की चीज नहीं है। आत्मज्ञान तक जाने की यह प्रेम की राह है, दर्द और वेदना की राह है, विक्षिप्तता और उन्माद की राह है।' लोफर्ग और मालार्मे ने भी अन्तरालों, अध्याहारों और संवृत्तियों का विन्यास किया था, पर कम। इलियट के छन्द-बन्ध में भी फाँके हैं। जिन कविताओं में, आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, निराला बहक गए हैं उनमें चिंतन के आवश्यक-अनावश्यक सभी कण बिना छने-निथरे ही प्रकट हो गए हैं, अतः उनमें अन्तरालें हैं। अज्ञेय की 'अनुभव-परिपक्व' 'कंकरीट का पोर्च' 'अंधकार में दीप' आदि कविताओं में अंतरालें हैं। मुक्तिबोध और श्रीकान्त वर्मा की कविताएँ अन्तरालों और आकस्मिक तत्त्व के विनियोग के अच्छे उदाहरण हैं। ऐसे अन्तराल विश्रामस्थल भी हैं, पाठकों में गूँजों के लिए भी हैं। पाठक अपने अनुरूप अर्थ प्राप्त कर फिर काव्य के प्रत्ययात्मक संगीत में ध्वनित हो सम्मिलित होता है। शमशेर, कुँवर नारायण, सर्वेश्वर, विजयदेव नारायण, प्रयागनारायण त्रिपाठी आदि की कविताओं में अन्तराल दृश्य-परिवर्त्तन, विचार-बिन्दु-परिवर्त्तन, भावादि के सकलन-जैसे कार्यों के लिये रिक्त स्थल हैं; निम्न कविता के अन्तराल कई व्यक्तियों के नाटकीय स्वर से मुखर हैं—

गरीब से गरीबन, नसीब से नसीबन, बनता है, कहता है व्याकरण,
तोड़ो मत नियम को, कुछ भी नहीं रहेगा।
कुछ भी नहीं रहा, लड़ना पड़ा मुझको, पाणिनी के व्याकरण…गलत हैं
मैकाले का भारत, जो, क्या कहूँ, मुझको मंजूर है !
हुजूर मेरा बेटा बेकसूर है, फाँसी दी जाय मुझे, कोर्ट फीस
पहले दे चुका हूँ।
रहम करें, माई-बाप ! बंद करो अपनी बकवास !
यह कह कर मैंने अवकाश लिया, अब मुझ से पढ़ा नहीं जाता इतिहास !
मुझे भुला दिया जाय। अगर न्याय हो सकता है तो बस
यही हो—
गूंगों के अभिनय को जिसने बदलने की कोशिश की कविता में।

—श्रीकांत वर्मा : जलसाघर

(छ) **बिम्ब-वैषम्य**—आधुनिक कविता के बिम्ब बिखरे हुए प्रतीत होते हैं। यह बिखराव कवि की क्षण-क्षण परिवर्तनशील सम्पृक्ति अथव अर्थासंग के कारण आता है, अथवा इस कारण भी, कि

धरती में है उमस आसमान में है रस
अधबिच में मनुज बेबस नीचे राह देखते बीज
प्रकृति-हृदय भी उठा पसीज।

— प्रभाकर माचवे : अनुक्षण

आधुनिक जीवन के अनेक त्रिकोणों को एक बिन्दु पर पकड़ लेने की त्वरा और समावेशी दृष्टि के कारण भी बिम्ब बिखरे हुए प्रतीत होते हैं। इसी कारण कविता (यथा—उपर्युक्त जलसाघर) में दुहरी-तिहरी चाल, भाव और विचार के पारस्परिक द्वन्द्व और हल्के-गाढ़े रंगों के उतार-चढ़ाव भी घुलते-मिलते हैं। हर्बर्ट रीड और डायलन टामस ने बिम्बों के लिए द्वन्द्वात्मक प्रवृत्ति का सिद्धान्त रखा है। रीड के अनुसार, 'दो बिम्ब, अथवा कहें, एक बिम्ब और एक प्रत्यय आमने-सामने आते हैं, टकराते है और पाठक को अकस्मात् चमत्कृत कर देते हैं।'[२६] साथ ही, इस प्रकार की बिम्बमाला में एक प्रस्तुत के लिए अनेक अप्रस्तुतों का जो विधान किया जाता है, उससे १ = १^ग का, ब्रह्म = अनेक रूपात्मक ब्रह्माण्ड का आभास होता है। खण्डित बिम्बमाला अथवा विकीर्ण बिम्बावली या तो मिश्र बिम्ब का प्रभाव प्रस्तुत करती है जिसमें सभी बिम्ब अपने आप सार्थक और स्वायत्त-से होते हैं, या बिम्बानु-बिम्ब का, जिसमें एक बिम्ब से दूसरा और दूसरे से तीसरा—इसी प्रकार बिम्ब से बिम्ब निकलते चलते हैं। अज्ञेय की 'शिशिर की राका निशा' कविता में अनेक विषम और टेढ़े-मेढ़े स्वायत्त से बिम्ब हैं, जिनका वैचारिक-भावात्मक ग्रहण आड़े-तिरछे रूप में होता है। 'मुक्तिबोध', श्रीकान्त वर्मा

आदि की काव्य-सृष्टियों में स्वायत्त से एवं आणविक विषम बिम्बों का अद्भुत लोक है। (आगे भी देखें)

(ज) पारदर्शिता : हड्डियों में खड़ी कविता— कविता की बिम्बवादी विशेषता के सम्बन्ध में हर्बर्ट रीड का कहना है, कि 'बिम्ब शब्दों के प्रति ईर्ष्यालु होता है; यानी कम से कम शब्दों में ही ढल कर वह अधिक से अधिक प्रभावशाली होगा।' आधुनिक कविता की विशेषता संक्षिप्ति, कसावट और तराश है। रिल्के का भी कथन है—

> कविताओं में सघनन और संक्षिप्ति (गीति-संघटन, न कि विवरण) ऐसी होनी चाहिए कि वे प्रतिभा-द्वारा सहज ही कौंध जायँ, न कि बोध या ज्ञान द्वारा धीरे-धीरे ग्राह्य हों।

आधुनिक कविता से अवान्तर कथन, व्याख्याएँ, विभक्तियाँ आदि झड़ गई हैं, जिससे कविता जमी हुई, सान्द्र और नग्न-सी हो गई है। लारेंस ने लिखा था—

> आज के सपाट और नीरस वास्तववादी युग में कविता का सार है—सीधी सपाट चोट, जिसमें मिथ्या की छाया भी न हो, अथवा तिर्यक् गति का भुलावा न हो। और चाहे जो भी चले, लेकिन कथन का यह सपाट, नग्न, पत्थर-जैसा दृढ़ निश्चय ही वह तत्त्व है, जिससे आज की कविता निर्मित होती है।'

इलियट ने इसे अपना उद्देश्य बनाया था—

> यही हमारा उद्देश्य रहा है कि कविता ऐसी लिखी जाय, जो बस कविता ही हो, जिसमें और कुछ हो ही नहीं – नग्न कविता, हड्डियों में खड़ी पूर्णतः नग्न कविता, अथवा ऐसी पारदर्शी कविता कि हम 'कवितापन' में न उलझ कर कविता के पार, उसके मूल कथ्य में सीधे उतर आयें।

कविता द्वारा कविता के पार उतर जाना—यह कैसे संभव है, वह दिनकर-कृत उर्वशी के स्फटिक-जैसे बिम्बों की पारदर्शिता में भी देखी जा सकती है। 'उर्वशी' से ऐसी एक कविता—पत्थर जैसी दृढ, हड्डियों में खड़ी पूर्णतः नग्न, फिर भी पारदर्शी कविता का उदाहरण यह है—

> तू पुरुष तभी तक, गरज रहा जब तक भीतर यह वैश्वानर।
> ....
> जितना ही यह खर अनल-ज्वार शोणित में उमड़ उबलता है
> उतना ही यौवन-अगुरु दीप्त कुछ और धधक कर जलता है।
> ....
> मानव मानव ही नहीं, अमृत-नन्दन यह लेख अमर भी है,
> वह एक साथ जल-अनल, मृत्ति-महदम्बर, क्षर-अक्षर भी है।
> ....
> कसे रहो, बस, इसी भाँति उर-पीड़क, आलिंगन में।
> और जलाते रहो अधर-पुट को कठोर चुम्बन से।

इन सबके मूल में है—स्वच्छ चिन्तन, खरी और संक्षिप्त अभिव्यक्ति। दूसरी ओर यह संक्षिप्ति अनेकार्थक बिम्बों की भी जननी है। ऐन्द्रियबोध की जटिलता और तीव्र संवेदन की युगानुरूप माग के कारण आज अर्थ-संकुल बिम्ब प्रस्तुत किए जा रहे है; यथा—निम्न कविता में मात्र एक शब्द के द्वारा बिम्ब-प्रस्तुति हुई है।

पतीली में उसीजी
बस गयी घर द्वार

अथवा — नि: शब्द
फूल बेले में
चुपके से

गंध बथुआ
गलियारे तलक।

रात ने
भर कर दूध
सिरहाने रख दिया था।

— विश्वकाव्य की रूपरेखा

(झ) मिश्र बिम्बन-पद्धति :—प्रत्यक्ष-बोध की परम्परित विधि से भिन्न, नये प्रकार के मिश्र प्रत्यक्ष की विधि का विन्यास इधर की कविता की विशिष्टता है; यथा —

धूप—'सेमल की गरमीली हल्की रुई के समान जाडो की धूप खिली' (गिरि० माथुर) में स्पार्श बिम्ब है।
शाम—'दिन एक पीली पुकार-सा डूबता चला गया' (श्रीकान्त वर्मा)—दृश्य-श्रव्य बिम्ब;
सन्नाटा—'यह सन्नाटा वह दर्पण है जिसके सामने हम निरावृत्त खड़े होते हैं' (भारतभूषण अग्रवाल)—श्रव्य और दृश्य बिम्ब।
टूक-टूक होकर छितराया सन्नाटा (नागार्जुन)—स्पृश्य, दृश्य, श्रव्य बिम्ब।

इसी तरह कुंवर नारायण ने 'खामोशी : हलचल' मे अपने अपर की प्रतिध्वनि के रूप मे सन्नाटे का दृश्य बिम्ब प्रस्तुत किया है और केदारनाथ सिंह ने 'दिग्विजय के अश्व' में भागते क्षण के बिम्ब को उसके घोडे की टाप, वृक्षों की थरथरी और उड़ती धूल के दृश्य, श्रव्य, स्पार्श बिम्बों के द्वारा बेधक बनाया है। नये और बोलते-से रंग, गंध देती झंकृति, (जैसे विजयदेव नारायण साही : मछलीघर) पाठक को एक नये प्रकार की प्रतीति के सम्मुख ले चलती है। 'मिश्रेन्द्रिय-ग्रहण और इन्द्रिय-संचरण व्यापार' पर विचार अगले अध्याय में किया गया है।

(ञ) बुद्धिरसत्व : गद्यता—बुद्धितत्त्व और गद्य का विनियोग आधुनिक कविता में कई रूपों में मिलता है: यथा—(क) जीवन के यथार्थ खुरदुरे, रूखे, कठोर रूपों का तदनुरूप भाषा में मूर्त्तन (ख) बौद्धिक विदग्धकथन (ग) जीवन के विरोधी तत्त्वो का नि:संग, विषम और चमत्कारी विन्यास (घ) धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक प्रत्ययों के साथ खिलवाड़, (ङ) व्यंग्य-विद्रूप,

विडम्बनादि एवं विमर्शधर्मी अथवा वितर्कधर्मी कल्पना द्वारा सार्वजनीन विचार-प्रेषण।[१७] विचार-प्रेषण या विमत-खण्डन और स्वगत-मंडन का यह अच्छा तरीका रहा है, कि भावों के द्वन्द्वात्मक प्रवाह में उन्हें डाल दिया जाय। इससे काव्य-शिल्प में अर्थात् भाव-धारा के प्रवाह में टकराहट लाकर गति-वैषम्य अथवा गति-वलयता उत्पन्न की जाती है। गद्य, उद्धृत वाक्य, सूक्तियाँ या पद्यांश में भी अपनी गूँजें रहती हैं, जो कविता के वातावरण को ऊर्म्मित या सान्द्र बनाती हैं। साथ ही वे एक प्रकार की दूरी (मनोवैज्ञानिक अन्तराल) लाती हैं जो फिर भावात्मक स्थल पर आत्मीय परिचयात्मकता के नैकट्य से मिलकर चामत्कारिक होती है। गद्यता और बौद्धिकता से कविता बुद्धिरसात्मक हुई है।

(ट) व्यंग्य-विद्रूपता—आधुनिक कविता में व्यंग्य और विद्रूप का स्वर तीखा है। आज जब द्विध्रुवीयता का मनोवैज्ञानिक रूप ज्ञात हो गया है, तब वस्तु, भाव, विचार, क्रियादि अपने वैपरीत्य या नकारात्मक रूप में भी गृहीत होती हैं। व्यंग्य-विद्रूपादि उस अपर को भी द्योतित करते हैं। फ्रेडरिक श्लीगेल एवं लुडविग टीएक ने 'व्यंग्य' को कला-धारणा का प्रधान सिद्धान्त बनाया था। 'अहं' संसार का सर्जन करता है, तो उसे विनष्ट भी कर सकता है, अथवा उसे हाथों में उठा कर उस पर हँस भी सकता है; ताने भी कस सकता है। श्लीगेल ने तो कला को अपनी ही चिरन्तन विद्रूप-सर्जना माना था—तटस्थ भाँड-रूप। टीएक की परिभाषा में व्यंग्य कवि की वह शक्ति है जिसके कारण वह अपनी समस्त सामग्री का विनियोग मनमाने ढंग पर कर सकता है। टीएक की इस धारणा को सोल्जर ने भी प्रचारित किया था।[१८] जिन कविताओं में सामंजस्य और संतुलन पूर्ण होगा, उनमें व्यंग्य-विद्रूप बर्दाश्त करने की शक्ति रहेगी; पर जो सीधे और सपाट एक भाव की सान्द्रता से निःसरित हैं वे व्यंग्य-विद्रूप की तीखी धूप में बिला जाएँगी या स्पर्श मात्र से छुई-मुई हो उठेंगी।[१९] इलियट ने हास्य या विदग्धता को आन्तरिक संतुलन (इंटर्नल इक्विलिब्रियम) का जनक माना है। नीत्शे ने 'संतुलन' की परिभाषा विसवादियों में से प्रत्येक की झंकृति का समन्वय कह कर दी थी। उत्तम जीवन में विसंगति और विरूप अथवा नकारात्मकता का भी पूर्ण सामंजस्य जिस प्रकार होता है, उत्तम कविता में भी अन्तर्विरोध या विद्रूप-व्यंग्यादि को समाहित कर लेने की वैसी ही शक्ति होती है। अतएव वारेन के शब्दों में 'कवि युयुत्सु में दक्ष व्यक्ति

की भाँति है, जो अपने विरोधी के विरोध-बल का उपयोग कर लेता है, उसी के कारण उसे दे मारता है। कवि के लिए विरोधी भाव काव्य-सामग्री है।[३०] आधुनिक कविता में व्यग्य-विद्रूप कई प्रकार से प्रयुक्त होते हैं, व्यग्य समाज, नेता, शासन तंत्र, आडम्बर आदि पर भी किए गए हैं। काव्य-विधा, काव्यभाषा और कविताओं पर भी, अपने पर भी। जैसे अज्ञेय की कविताएँ—'हवाएँ चैत की', 'साँप, तुम सभ्य तो हुए नहीं' 'वर्ग-भावना-सटीक' आदि। मुक्तिबोध की कविता व्यंग्य-विद्रूप के जीवंत उदाहरण हैं। उनके व्यंग्य में स्वर की भिन्नताएँ भी सुनाई पड़ती है। इधर के युवा कवियों में व्यंग्य कुछ तीखा और तात्कालिक है। क्योंकि उनका कथन है—

घोषित धोखों की भाषा में बेगनी नीले लाल फूलों के किस्मों की
पहचानें सारी उलट-पुलट जाती हैं, रोता है देवता मुरदार आसुओं के नाम,
जरूरी हो जाती है तब कविता एक किस्म की। —कमलेश

नेता पर व्यंग्य—गले में गेंदा लटकाए
गुच्ची आँखों वाला नेता
बैठी आवाज में
टट्ट जनता में छिपे खड़े
लद्धड़ हलवाई-सा
जब अपनी चिकट विचारों को
छिड़क फेंक देता है फिन्नी नाक से
तब मेरा मन होने लगता है ब्रह्म-ज्ञान पाने को
—कैलाश वाजपेयी : तीसरा अंधेरा

शहराती जीवन पर व्यंग्य—

शहर के आकाश पर छड़ें तनी हैं
तनाव में
विक्षिप्त होता जा रहा है हर कतरा
दीवारों पर
दर्द के साँप रेंगते हैं
एक जंगल
शहर की बाजुओं में घँसता है—बनैले नाखूनों की
कचोट से फट जाते हैं पर्दे। पूजा के शंखों में
दरारें पड़ जाती है और रविशंकर के सितार को
वराह अपनी थूथन से तोड़ता है।

सड़कों की जंघाओं पर संस्कारों की कतरनें चिपकी हैं या साप्ताहिकों के कालम :......
समय को दम्मा हो गया है या कैन्सर। हाँफते हुए निमिषों के
हिप्पोपैटोमस की आँख बद नहीं होतीं। अर्राता है उसका अहम्।
—श्याम परमार . कविताएँ कविता के बाहर

काव्य-कवि से व्यंग्य —

तुम्हें पता है मेरी कविता चिल्लाकर नारे लगाना नहीं जानती
उसे मैं इशारों की कुतिया नहीं बना सकता उसके लिए मेरी चेतना में कोई कीड़ा
कभी जन्म नहीं लेगा न तुम्हारे दर्द की साँपिन को मेरा साँप खींचेगा
यों तो आज तुमसे कहीं ज्यादा पैने नखों ने मुझे अन्दर से छीला है.... .
कविता के आगे भी एक तासीर का मुझे एहसास होता है
कविता को कविता से और भी आगे ले जाता है
उसका अंदाज —श्याम परमार : कविताएँ कविता के बाहर

युवा-कवियों की भाषा सपाट, बेमुरौव्वत और आक्रामक है। काव्य-बिम्बों में भी स्फीति और तनाव आ गया है। उनकी प्रकृति बदल गई है। इन काव्यबिम्बों मे सामाजिक और मानवीय तात्कालिकता ही मूल प्रकृति है। इन बिम्बो मे ताव है, ललकार और मुँह चिढ़ाने के तेवर हैं।

चीखते है नाजायज बच्चे
लीलने नगर का सुख
और पलने में सोए बच्चे की माताओं का सतीत्व।
और धूमकेतु-सा बढ रहा हूँ मैं
औरतों का कौमार्य
—जगदीश चतुर्वेदी

आम जनता की बोली और फिकरेबाजी के अंदाज और घरेलू बातचीत का लहजा उनके लयात्मक विधान है—यदि लय और विधान कबूल हों, तो, क्योंकि—

अब उसे मालूम है कि कविता
किसी बौखलाए हुए आदमी का संक्षिप्त एकालाप है। —धूमिल

किन्तु, ऐसे काव्यबिम्बों का प्रकार्य और प्रयोजन, चाहे प्रतिकूल वृत्ति से ही क्यों न हो, अन्ततः है वही जो काव्य का मूल प्रयोजन है—मानवनियति की खोज—

चिमनी के धूएँ में श्रमिकों के श्रम नहीं,
रुपये बटोरने वालों के विकृताकार फैलते दीखते है।
....
युद्ध आया, धुँआ आया, धुँध आया, लकवा मारा आदमी आया
... .
औजारों से गढा आदमी, तकनीक-भर तनकर रेंगने को विवश
धुएँ भर लेगा, सड़े फेफड़े जी लेगा। —कविताएँ शिवचन्द्र शर्मा की

दुनिया बदल गई है, पर कवि हैं और काव्यबिम्ब हैं।

इसलिए, कि जो है उससे बेहतर चाहिए
पूरी दुनिया साफ करने के लिए मेहतर चाहिए। —मुक्तिबोध

इन काव्यबिम्बों की प्रकृति में ही वैषम्य और खुरदुरापन है। परन्तु हमारा संश्लेषणात्मक मन उनकी विषम प्रवाहधर्मिता को भी सकलित कर, जैसा कि पृष्ठ १६८ पर द्योतित किया गया है, विलक्षण औत्सुक्य और तीखा बौद्धिक क्षोभ का समन्वित बोध प्राप्त कर लेता है। अज्ञेय ने ठीक ही कहा है—

मौन का ही सूत्र
सारे शब्द क्रमागत
कहीं बड़े गहरे में
सभी सर्जन केवल
किसी अर्थ को मिटाए बिना
सुमिरनी में पिरोता है।
सभी स्वर हैं नियम,
आँचल पसार कर लेना। —आँगन के पार द्वार

और तब, इनका वैचारिक खारापन भी 'रमणीय' होने की प्रक्रिया मे आ पडता है।

उपर्युक्त सारे तत्त्वों के मूल में एक ही आकुलता है—शब्द-क्रमादि द्वारा युग-जीवन के कथ्य को युगानुरूप जटिलता के साथ प्रस्तुत कर देने की —किन्तु ऐसी प्रस्तुति ने जो सरल हो, पर जटिल भी, ऐन्द्रिय हो और भाव एवं विचार को प्रत्यक्षवत् समुपस्थित भी कर सकती हो। भारती के शब्दों मे—

ऐसे किसी अनागत पथ का　　　पावन माध्यम-भर है गैरिक वसना
मेरी आकुल प्रतिमा　　　अर्पित रसना　　　—नयी कविता—१

इस प्रकार काव्य और काव्य-माध्यम जिस 'भाव-कल्प' को ले कर छायावाद तक आ पहुँचे थे उनमें अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है। 'भावकल्प' अब 'बुद्धि-कल्प' हो गया है। न केवल कविता आणविक होने की प्रक्रिया में पड गयी है, जैसे निम्न तीन-चार शब्दो की कविता में—

शीर्षक—'भोर'　　　गायें बधस्थल की ओर।
शीर्षक 'विद्युत'　　　आकाश में द-रा ऽ—र।

किन्तु, काव्यालोचन मे भी सूक्ष्मेक्षिक अध्ययन-विश्लेषण (क्लोज रीडिंग ऐंड एक्सप्लीकेशन) की दृष्टियाँ विकसित हुई है। इन दोनो के पारस्परिक आदन-प्रदानवश कविता ने शब्द इतने नपे-तुले, प्रसगगर्भ, अतएव अनेकार्थी प्रयुक्त होने लगे हैं, और शब्द की आच्छाया मे अन्य शब्दों का क्रमविन्यास इतना सघन और सूक्ष्म सूत्रों में बँधा हुआ होने लगा है कि वास्तव मे 'शब्द' एक ओर तो 'बादल की फटन' के बीच से कूद निकलने को (दिनकर) व्याकुल प्रतीत होता है, तो दूसरी ओर 'ओरँगउटाग' की ध्वनियो और फुसफुसाहट को प्रतिध्वनित करता भी (मुक्तिबोध)। अतः आज के कवि का उद्देश्य है—अभिनव बिम्ब-सर्जना और उसे भी खंडित कर निर्बिम्ब निःसंग वर्णना।

हिन्दी की आधुनिक कविता अपने भाषिक संस्थान, काव्य-शिल्प और काव्य-रूप में आधुनिकता के व्यक्तिवादी सीमित और विश्ववादी व्यापक, दोनों धरातलो पर प्रगतिशील हो रही है। इस संक्रमणकाल मे डॉ० नगेन्द्र काव्य मे परिपूर्ण चेतना के लिए अद्भुत तत्त्वो के विकास की आकांक्षा, आनन्द और कल्याण-भावना का विनियोग चाहते है। आज का कवि भी वही चाहता है। किन्तु उसने इनकी परिभाषा आधुनिक की है। वह मूल समष्टि और आत्मा के बीच के सम्बन्ध को तल से गह रहा है, तन्मात्राओ और महदाकाश की संवादिता ही उसकी दृष्टि मे पूर्ण चेतना है। अतएव, एक ओर तो उसमें रूपवाद की वृत्तात्मकता है तो दूसरी ओर रूप-भजन की गाणितिक-ज्यामितिक वृत्ति।[३१] भाषा की सामासिकता कहीं देशज, विदेशज शब्दों-

ध्वनियों का संघट्ट प्रस्तुत कर रही है, तो कहीं व्यास-प्रधान शैली रूढ़ि-विखंडक काव्यरूप उभार रही है। ऐसी स्थिति में ठोस और निश्चयात्मक प्रेषण के लिए पंतजी की 'ढल रे ढल आतुर मन'-जैसी पंक्ति के कथ्य से सर्वेश्वर दयाल की निम्न पंक्तियों का तथ्य अधिक निश्चयात्मक, श्रव्य एव ग्राह्य है, अतएव अधिक ऐन्द्रिय एवं व्यंजक भी।

जितनी भी ध्वनियाँ हैं इन सभी रगों से तजो
ओ काठ की घंटियाँ तजो।

अतएव दोनों में प्रवृत्तिगत अन्तर है। वह यह कि पंत प्रत्ययात्मक अधिक हैं, सर्वेश्वर बिम्बात्मक अधिक। फिर, 'मन' तथा 'काठ की घंटियाँ' (इन्द्रियाँ) में जीवन-जगत् के सम्बन्ध मे कवि की आस्था का तो भेद है ही।

कपित्थपाक या द्राक्षापाक :—भामह ने कविता के पाक के सम्बन्ध मे कहा है—

अहृद्यमसुनिर्भेदं रसवत्त्वेऽप्यर्थपेशलम्
काव्य कपित्थ मार्म यत्केषाञ्चित्सदृशं यथा।—काव्यालंकार ५।६२-३

हृदय पर असर न करने वाली, रसयुक्त होने पर भी कठोर हैं, और तब ऐसी कविता कठबेल हैं। काव्य मे ऐसा कपित्थपाक उत्तम नहीं होता। काव्य मे तो द्राक्षापाक ही होना चाहिए। बुद्धिकल्प' की आधुनिक कविताएँ परिनिष्ठित काव्य-गृहीताओं को कपित्थपाक प्रतीत हुई है—दुरूह और निगूढ़ भी। किन्तु यह बात प्रारम्भिक और कुछ ही कविताओं के लिए ठीक हो सकती है। जहाँ बौद्धिकता अनुभूति मे ढल कर आई है, वहाँ वह भी अनुभव गाढ़ करती है। साथ ही विचार अथवा बुद्धि के 'नारिकेल-पाक' के आस्वादन के लिए वह सामाजिक में स्वाद भी विकसित कर रही है। अवश्य ही काव्य-माध्यम के बदल जाने से काव्यगत कथ्य भी तथ्य अथवा सत्य से तिर्यक् मालूम पड़ता है। श्री नरेश मेहता के शब्दों में—

मेरे जल के जिस स्तर पर तुमको लगता है
सत्य यहाँ तक सीधा था अब टूट गया है।
किन्तु सत्य तो जल में भी वैसा ही है जैसा वह बाहर दिखता है।
बाहर वह प्रकाश है गति है सम्भवत' इसीलिये सीधापन है।
पर जल में वह रचना है, निर्मिति है क्षति भी है
अनुभव की यह टूटापन प्रक्रिया है
माध्यम की—सत्य की नहीं। —मेरा समर्पित एकान्त

जल की यह विशिष्टता युग-जीवन की विशिष्टता का ही रस है। जैसा कि पहले भी कहा गया है काव्यास्वादक को इसे नये सिरे से अर्जित करना पड़ता है। काव्यचेतना और युगचेतना के बीच साधारणीकरण और

सामाजिकीकरण की प्रक्रिया शाश्वत गतिशील एवं उत्तरोत्तर सवर्द्धमान प्रक्रिया है; दीक्षित होने, संस्कार ग्रहण करने, नई सवेदनशीलता विकसित करने की प्रक्रिया है। सभी कविताओं की भाँति आधुनिक कविताएँ भी लोक-जीवन को ही सबोधित हैं। 'वे आज के युग में संघर्ष को झेलने वाली चेतना के स्फुरण है और उनकी प्रेषणीयता भविष्य के विश्वास तथा आस्था को जन्म देने की पीड़ा सहने वाली भी वस्तु है।'[१२]

जीवन-रूपी काव्य का क्षण-रूपी शब्द से निरन्तर जूझना—यही जीवन-काव्य का आस्वादन है; उसे स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति का समर्प्यमाण प्रवाह कहे, अथवा पुरुषार्थनिष्ठ रस या 'काव्य-बिम्ब' कहें। फिर 'जूझने' की प्रक्रिया को तत्क्षण 'माध्यम' समझना, उस जीवन-काव्य का वास्तविक काव्य-दर्शन है।

काव्य का अकाव्यात्मकीकरण ?

आधुनिक कविता के विविध रूप-प्रकारो, अभिव्यंजन-विधियों आदि को देखने पर दण्डी का कथन सत्य प्रतीत होता है, कि

> वाणी के अनेक मार्ग हैं, जिनमें परस्पर सूक्ष्म भेद हैं… प्रत्येक कवि की अपनी प्रकृति में स्थित ये भेद वर्णन में अँट नहीं सकते; सरस्वती भी उनका आख्यान नहीं कर सकती।[१३]

यह तो ठीक है; पर वे 'काव्य' हैं भी ? जो कविता शास्त्र की भाँति तार्किक, विज्ञान की तरह निःसंग, ज्ञान की विविध विद्याशाखाओं की भाँति बौद्धिक कथन करती है, अथवा राजनीति की तरह शक्ति-समीकरण की पद्धति और मुद्रा-स्फीति की वणिक्-नीति अख्तियार करती है और जिसका व्यवहार और प्रयोजन वक्तृता की तरह उद्वेगकर या चामत्कारिक, नाट्य की भाँति वैषम्य-प्रधान, संवादात्मक और आकस्मिक, अथवा वार्त्तावत् सामयिक, या गद्यवत् शिथिल, सूचना-प्रधान हो, वह कविता है, तो क्यों कर ? उत्तर में इतना तो अवश्य ही स्वीकार किया जायगा, कि आज का काव्य, प्राचीन अर्थ-सन्दर्भों की दृष्टि से, अकाव्यात्मक है, होता जा रहा है। अर्थात् वस्तु, रूप-विन्यास और प्रयोजन में वह पिछले युग से नितान्त भिन्न है। वह जीवन-जगत् के मूलभूत और नैसर्गिक तत्त्व के अधिक समीप आ गया है और उसका यथार्थ अनावृत्त रूप अधिक स्पष्टता से आँक रहा है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—

स्पष्ट ही साधनों के साथ मनोभाव भी बदले हैं। इसलिए यह समझना कि मनोभाव और संस्कार एक-से बने रहते हैं, बिलकुल गलत बात है। एक-सी बनी रहती हैं आदिम शक्तियाँ, जिनका काल-रूप बदलता रहता है। पर जीवन की विविध क्रियाओं के मूल्य निरंतर बदल रहे हैं और इस प्रकार साहित्य के समझने का ढंग भी बदल रहा है।'[१]

अतः उसमें वैज्ञानिक निःसंगता, बौद्धिकता, तार्किकता, गद्यता और कहीं-कहीं अनगढ़पन आदि आ गए हैं, तो वे अनुचित, असगत और अस्वाभाविक नहीं है, चाहे उनके कारण कविता अबोधगम्य और अटपटी उसी प्रकार क्यों न लगती हो, जिस प्रकार अप्रशिक्षित किसी भी व्यक्ति को खुर्दबीन के सामने के पहले दृश्य-पटल। उनके परिशोधन और सस्कार से नए प्रकार का काव्य-प्रकार विकसित हो रहा है, होता चलेगा। पुनः, सभी कलाएँ अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करती है, ताकि वे दूसरी के कलात्मक उत्कर्षों के विनियोग से अपने को समृद्ध कर सकें। आधुनिक कविता ने कलाओं की इस पारस्परिक स्पर्धिता और आदान-प्रदान का व्यापक और महत्तम लाभ उठाना चाहा है। इस त्वरा में कुछ अतिरेकी क्रियाएँ हो गई हों, तो वे आधुनिक कविता के स्वाभाविक, स्वस्थ लक्षण माने जा कर, चिंता के विषय जहाँ बनते है, वहीं कुछ अस्वाभाविक, अस्वस्थ लक्षण के सदेह होते हैं। ध्यान देने की बात है कि आधुनिक कविता अपने कथ्य और कथन-ढग, आन्तरिक सत्त्व और बाह्य अभिव्यंजन, अनुभूति और परिवेश मे पूर्ण और अखंड एकत्व की स्थापना करना चाहती है। संगीत की भाँति वह भी अपने अभिव्यंजन को अभिव्यग्य से अवच्छिन्न, अभिन्न बना रही है; सो भी गद्यात्मक खुरदुरे नादों के भी सहारे। बहुत पहले पेटर ने पुराने उद्धरण का हवाला देकर बताया था कि 'सभी कलाएँ संगीत की ओर उन्मुख हैं।' काव्य भी विषय और शिल्प मे 'अर्थ' और 'शब्द' मे, जीवन और काव्य-रचना मे, कवि और आस्वादक मे ऐसा ही ऐक्य, संगीतवत् एकतानता लाने का प्रयास कर रहा है। यह ऐक्य कहीं वैषम्य-मूलक समन्विति का विस्मय प्रस्तुत करता है, तो कहीं समत्वमूलक एकान्विति का माधुर्य। तब कविता को अकाव्यात्मक क्यों कहा जाय ?

फिर, आधुनिक कविता जो अकाव्यात्मक प्रतीत होती है, उसके मूल में दो बातें और है—एक तो विषय का अणु से लेकर ज्योतिष्क पिंडों तक का अति व्यापक विस्तार; और दूसरी, अभिव्यंजन-प्रणाली मे विकास

अथवा काव्यभाषा मे प्रसार। आचार्य शुक्ल ने 'काव्य मे रहस्यवाद' प्रबध मे बहुत पहले ही आधुनिक विषय-वस्तु के अनन्त विकास और उसके जगद्व्यापी प्रसार का सकेत दिया था तथा कवियों के द्वारा उसके ग्रहण और अभिव्यजन-हेतु उचित काव्यभाषा की शक्तियों के उद्घाटन, सर्जन के लिए प्रेरणा और सुझाव दिए थे, जो उन्ही के शब्दों मे निम्न हैं—

> अब मनुष्य का ज्ञानक्षेत्र बुद्धि-व्यवसायात्मक या विचारात्मक होकर बहुत विस्तृत हो गया···विचारों की क्रिया से वैज्ञानिक विवेचन और अनुसधान द्वारा उद्घाटित परिस्थितियों और तथ्यों के मर्मस्पर्शी पक्ष का मूर्त्त और सजीव चित्रण भी—उसका इस रूप मे प्रत्यक्षीकरण कि वह हमारे किसी भाव का आलम्बन हो सके—कवियों का काम होगा। ये परिस्थितियाँ बहुत ही व्यापक होंगी, ये तथ्य न जाने कितनी बातों की तह में छिपे होंगे। यदि अत्याचार होगा तो उसका···फैलाव होगा। हाहाकार होगा तो जगद्व्यापी होगा। हाय होगी तो पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक होगी। यदि प्राणियो की किसी सामान्य प्रवृत्ति का चित्रण होगा, तो सामग्री कीटाणुओं की दुनिया तक से लाई जा सकती है। जगत्-रूपी चनचक्कर और गोरखधधे की महत्ता और जटिलता से चकित होने की चाह मे हम अपनी अन्तर्दृष्टि के सामने एक ओर अणुओं-परमाणुओं और दूसरी ओर ज्योतिष्क पिंडों के भ्रमण-चक्रों तक को ला सकते हैं।[३८]

> हमारी भाषा में व्यंजना-प्रणाली के और अधिक प्रसार और चित्ताकर्षक विकास की बहुत आवश्यकता है। हमारी पुरानी कविता में व्यजना-प्रणाली के प्रसार और चमत्कार के लिए अलकारों का ही विधान अधिकतर होता था। पर अलंकारों के अधिक प्रयोग से कविता · भाराक्रान्त और कहीं-कही भद्दी हो जाती है। ''अलंकार बहुत जगह लेते हैं और बहुत दूर तक भावना को एक ढाँचे में बंद किए रहते हैं। ···अब इस समय हिन्दी काव्यभाषा में मूर्तिमत्ता की समास-शक्ति का, लक्षणा-शक्ति का, अधिक विकास अपेक्षित है। ···लाक्षणिकता के सम्यक् और स्वाभाविक विकास द्वारा भाषा भावक्षेत्र और विचार-क्षेत्र दोनों में बहुत दूर तक, बहुत ऊँचाई तक और बहुत गहराई तक प्रकाश फेंक सकती है।[३६]

आधुनिक काव्यभाषा 'भावक्षेत्र और विचारक्षेत्र' दोनो मे बहुत दूर तक 'बहुत ऊँचाई तक और बहुत गहराई तक प्रकाश फेंक, रही है और नए ढंग से फेंक रही है, जिस कारण प्रकाश तो प्रकाश, प्रकाशित वस्तु भी नितांत भिन्न, जाने-पहिचाने रूप, रंग, परिवेशादि से एकदम विचित्र अर्थात् अकाव्यात्मक, अबोधगम्य प्रतीत होती है। इसका तो कारण दीक्षा-दोष भी है। ध्यान देने की बात है कि पिछले दोनों अध्यायों में उदाहृत ऐसी अनेक कविताएँ हैं,

जो शुक्लजी की तीनों ही बातें चरितार्थ करती है : विषय-वस्तु में विस्तार तो, आया ही है, 'कितनी बातों की तह में छिपे तथ्यों' का 'मूर्त्त और सजीव चित्रण' और उनका सूक्ष्मातिसूक्ष्म जगद्व्यापी प्रत्यक्षीकरण सभव हो रहा है तथा उनके सम्यक् और स्वाभाविक अभिव्यजन हेतु काव्यभाषा की (समास शक्ति और लक्षणा का ही नही, अपितु) सभी शक्तियों का—स्वर, राग, नाद, काकु, का और बौद्धिक आदि काव्येतर शब्दावली के प्रयोग से प्राप्त गूंजों तथा अन्य कलाविधियों और कौशलो के भी चतुर चामत्कारिक विनियोग से प्राप्त क्षमताओं-सभावनाओं का भी—विकास हुआ है। अतः आधुनिक काव्य प्राचीन परिपाटी की काव्यात्मकता से पृथक् प्रतीति देता है, उसके ही लिए वह रचित भी है। काव्यबोध बदल अवश्य रहा है; पर यह काव्यत्व का 'आभास' अथवा 'हीन रूप' उतना नही है, जितना सहज और सामाजिकीकृत रूप है। दूसरे शब्दो में यह उसकी 'नई व्युत्पत्ति' है, जिसके सम्बन्ध मे आनन्दवर्धन का उद्घोष है—

> हजारो-हजार वाचस्पतियों द्वारा भी यत्नपूर्वक निबद्ध काव्यवस्तु जगत् की प्रकृति की भाँति क्षीण नही हो सकती। यह काव्यस्थिति अनन्त कविबुद्धियो द्वारा भी होकर इस समय समाप्त नहीं है, बल्कि नई-नई व्युत्पत्तियों से बढती जाती है।[१७]

नवीन अभिव्यंजन-भंगिमाएँ और काव्यत्व का स्वरूप

'नई-नई व्युत्पत्तियों' मे वादादि समस्त अभिव्यजन-भंगिमाएँ, दृष्टिकोण, मनोभावादि सम्मिलित हैं। तब, इन वादों का लक्ष्य क्या है? डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार से—

> इस समय साहित्य के क्षेत्र में दिखाई देने वाले 'वाद' नामधारी अनेक दृष्टिकोण—सर्वमान्य सत्य को ढूंढ़ निकालने के प्रयत्न हैं। मेरी दृष्टि मे इनमे से कई सत्य के एक-एक पहलू पर अत्यधिक जोर देने के कारण अलग-अलग दीखते हैं। कोई जीवन के मानसिक पक्ष पर अधिक बल देता है, कोई आर्थिक पक्ष पर, कोई सामाजिक पक्ष पर, कोई वैयक्तिक पक्ष पर और कोई आध्यात्मिक पक्ष पर। ये सब प्रयत्न सत्य को ढूंढ़ने के प्रयत्न हैं।[१८]

द्विवेदी जी के इस 'सत्य' में 'युग-सत्य' (तथ्य) भी निहित है (द्रष्टव्य पृष्ठ १८५)। शास्त्रगत व्यापक प्रयोजन की दृष्टि से यह बात सही है कि 'ये सब सत्य को ढूंढने के प्रयत्न हैं'। तब प्रश्न होगा—क्या सत्य इनसे पृथक् है? ये साधन-भर हैं? ये प्रश्न पुनः उसी मूल प्रश्न को प्रतिध्वनित करते

हैं, जिनका उल्लेख पृष्ठ २८३-७ पर अनेक विचारकों और कवियों के कथनों के द्वारा किया गया है, कि 'अर्थ' क्या 'काव्य-शब्द' से पृथक् होता है? काव्य-शब्द क्या साधन-भर है? क्या कॉलरिज की वह घोषणा कि 'मैं शब्द और अर्थ के पुराने विरोध को ध्वस्त कर दूँगा…' एक निरर्थक डींग थी? नहीं; रचित हो जाने पर काव्य साधना-साध्य एकीभूत होता है, 'शब्द' वहाँ 'अर्थ' से अपने पुराने विरोध को ध्वस्त कर जीवंत-रूप में अभिन्न और एकमेक हुआ रहता है। रचना द्वारा कवि अपने काव्य में 'शब्द' और 'अर्थ' का द्वन्द्व ही तो मिटाता है। उनके 'संयोग' के प्रयास में वह तत्कालीन चिंतन-प्रणाली (युग-सत्य) का भी सहारा लेता है, परम्पराओं का भी, संस्कारों आदि का भी और स्व-वृत्ति-प्रवृत्ति का भी। इनके कारण 'शब्द' और 'अर्थ' के मिलन में विविध नाट्य-भंगिमाएँ आती हैं। इन्हें 'रीति', 'मार्ग', 'संघटना', 'शैली' आदि भी कहा जाता है (द्रष्टव्य अध्याय-७ के अन्तर्गत 'काव्यबिम्ब : गुण, रीति, दोष)। परन्तु काव्यत्व उस रीति, मार्गादि से प्रतीतितः पृथक् नहीं होता। डॉ० नगेन्द्र ने रीति, शैली आदि को अनिवार्य मानने का तो तर्क दिया है—

> वास्तव में काव्य को शास्त्र से पृथक् करने वाला तत्त्व शैली ही है। शास्त्र में विचार की समृद्धि तो रहती ही है, कल्पना का भी प्रचुर उपयोग हो सकता है, इसी प्रकार भाव का सौन्दर्य भी लोकवार्ता में निस्सन्देह रहता है; परन्तु अभि-व्यंजन-कला—शैली—के अभाव में वे काव्यपद के अधिकारी नहीं हो सकते। इस दृष्टि से शैली-तत्त्व की अनिवार्यता असंदिग्ध है।[१६]

इससे 'रीति अथवा 'शैली' की अनिवार्यता तो संपुष्ट हुई, यह भी स्पष्ट हुआ कि आधुनिक कविता 'अकाव्यात्मक' अनेक तत्त्वों से युक्त होने पर भी कविता ही जो कही जायगी, वह अपनी 'शैली' अथवा 'रीति' के भी कारण। किन्तु यह प्रश्न तो बना ही रहा कि क्या 'रीति' 'काव्य' से पृथक् साधन-भर है। इसके उत्तर में पेटर का यह कथन, रूपवादिता के अतिरेकी स्वर के बावजूद डॉ० नगेन्द्र से अधिक युक्ति-संगत और सत्य के समीप है—

> रूपाकृति बिना, अभिव्यंजन के चेतन-स्पर्श के बिना कविता के द्रव्य का, उदाहरण-स्वरूप उसके वर्ण्य-विषय, यथा—घटना, परिस्थिति—का और चित्र की आकृति का, यथा—घटनागत स्थिति अथवा भूदृश्य के रंग-रूप आदि का, कोई अर्थ नहीं होता। इस रूपाकृति को, अभिव्यजना की इस भंगिमा को, अपने लक्ष्य में एकनिष्ठ होना पड़ता है, उसे काव्य-विषय के प्रत्येक अंग में अनुप्रविष्ट होना ही चाहिए।[२०]

'काव्यविषय के प्रत्येक अंग में' 'रूपाकृति' के, 'शब्द-संघटना' अथवा 'रीति' के अनुप्रवेश का नाम, 'शब्द' और 'अर्थ' के विशेष और आह्लादकारी रूप से 'सहित' होने का अभिधान, कुन्तक के अनुसार 'साहित्य' है। उन्होंने बताया है, कि 'परिमल की तरह 'साहित्य' की सुगंध सम्पूर्ण वाक्य में फैल कर उसको सुगंधित कर देती है।' यही कारण है कि प्रतीतितः काव्य अपनी 'रीति' या 'शैली' से अभिन्न होता ही है। इसे ही लक्ष्य कर वामन ने घोषित किया था—'रीतिरात्मा काव्यस्य। विशिष्टापदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा।' दूसरी बात यह कि अपनी विशिष्ट भंगिमा में वह 'सत्य' का रूप आभासित करता है, प्रतीति में तत्काल वही 'सत्य' होता भी है।

तब फिर इतने वाद, इतनी रीतियाँ, शैलियाँ उद्भूत क्यों होती हैं? क्योंकि वे कवि की 'चर्वणा' की विशेष प्रकृतियाँ हैं, अथवा कवि-स्वभाव के, —युग-प्रवृत्ति और काव्य-परम्परा के भी—काव्य की अनुभूति से 'सहित' होने की विशिष्ट भंगिमाएँ हैं; अर्थात् वे शब्द और अर्थ की, 'भाषा' और 'अनुभूति' की मिथुनलीलाएँ हैं। और क्योंकि कवि में, काव्यानुभूति और काव्यभाषा में भी सतत परिवर्त्तन होता चलता है, अतएव काव्य-शैलियों में उत्तरोत्तर नवीनताएँ उद्भूत होती रहती हैं। काव्यभाषा को ही लें, तो यह भाव और विचार, अकृत्रिम सहज लोकभाषा और कल्पनामयी कलात्मक भाषा, गद्य और देश्यभाषा के खुरदुरेपन-अनगढ़पन और सांगीतिक माधुर्य से गुंजित अलकृत भाषा, आदिम राग और वैज्ञानिक बौद्धिकता आदि नाना प्रकार के विषम युग्मो के बीच तनाव की भी भाषा होती है और सामजस्य की भी। वह उच्च शास्त्रीय और भावात्मक संस्कारी शब्दों को (औदात्य, प्रौढ़ि, माधुर्य) युगधारा पर तिरने-फूटने वाले लोक-सामान्य मुहावरों (ग्राम्य, देश्य) के चाप में डाल देने से, प्रतिपल परिवर्त्तनशील समाज के सहज शब्दों, फिकरों-लटकों तक के सन्निकर्ष में ले आने से उपजी नाटकीय वैषम्य की भी भाषा है। इस मूलस्थ वैषम्य के भी कारण—और ऐसे वैषम्य कवि-स्वभाव मे तथा अनुभूति में भी रहते ही हैं—उसमे निरंतर नवीनताएँ विकसित होती चलती है। अतएव रीतियाँ या वाद काव्यभाषा की स्थितिगतिमयी (चैतन्य) विशिष्ट भंगिमाएँ हैं, जिनमे, और जिनसे होकर भी, 'शब्द' और 'अर्थ' के 'साहित्य' का स्वरूप प्रतिभासित होता है।

इस 'साहित्य' का स्वरूप क्या है? काव्य मे भी 'शब्द' और 'अर्थ' सहित होते है, शास्त्र, वार्तादि में भी। ठीक; पर काव्य में 'शब्द' और 'अर्थ'

दोनो अपनी-अपनी विशिष्टताएँ समर्पित कर एक नवीन रमणीय भावना को जन्म देते हैं। यह रमणीय भावना है 'सहित होने की भावना'। कुन्तक के अनुसार कविता का 'काव्यत्व' यही 'साहित्य' है। भोज के शृंगार-प्रकाश' मे 'शब्द' और 'अर्थ' के सम्बन्ध-रूप साहित्य के बारह प्रकार माने गए हैं—

किं साहित्यम् ? य. शब्दार्थयोः सम्बन्धः स च द्वादशधा अभिधा, विवक्षा, तात्पर्यम्, प्रविभागः, व्यपेक्षा, सामर्थ्यम्, अन्वयः, एकार्थीभावः, दोषहान, गुणोपदानं, अलंकारयोग', रसावियोगश्चेति ।[११]

इनमें से प्रथम आठ का सम्बन्ध लौकिक उक्ति से है, व्याकरण, निरुक्त मीमांसा अथवा न्याय से है। शेष चार काव्य से ही सम्बन्धित हैं, पर प्रथम आठ भी आधार अथवा उपादान रूप मे अपेक्षित रहते ही हैं। अन्तिम अवस्था अर्थात् 'रस' मे 'शब्द' और 'अर्थ' का 'साहित्य-तत्त्व' अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। कुन्तक के अनुसार, जैसा कि ऊपर सूचित किया गया है, वाक्य में भी भाषागत सौन्दर्य का आधार 'साहित्य-तत्त्व' ही है, जो परिमल की तरह 'सहितता की सुगन्ध' सम्पूर्ण वाक्य में फैला कर उसको सुगन्धित कर देता है। पर काव्य मे यह 'साहित्य', 'शब्द' और 'अर्थ' के 'सहित' होने की यह रमणीयता उत्कर्ष पर आ जाती है। अत काव्य न मात्र 'शब्द'-गत सौन्दर्य है, न केवल 'अर्थ'-गत; वह है उनके 'साहित्य' का सौन्दर्य, प्रत्येक तिल मे से निकले तेल के समान।

उनके अनुसार इस 'साहित्य' के लक्षण हैं—परस्परस्पर्धिता, शोभा-शालिता और सहृदयाह्लादकत्व। 'शब्द' और 'अर्थ' में एक दूसरे से न कम, न अधिक सुन्दर होने की विशेषता है 'परस्परस्पर्धिता'। इसके अभाव मे 'साहित्यविरह' की स्थिति होगी। 'साहित्य' मे तो वाचक 'शब्द' और वाच्य 'अर्थ' तथा इन दोनों की विविध इकाइयाँ काव्य को सुन्दर बनाने की क्रिया में एक दूसरे से बाजी मार लेने की भव्य दौड़ मे लगी रहती है। इसी से सौन्दर्य या 'शोभाशालिता' आती है। यह शोभाशालिता ऐसी है कि सहृदय को आह्लादित करती है। पुनः, उनका कहना है कि यह 'साहित्य' कविकर्म-कौशल से उद्भूत होता है, अथवा कवि-प्रतिभा की सृष्टि है। कवि-व्यापार से ही 'निसर्गसिद्धशब्दार्थसम्बन्ध', (वाच्यवाचकसम्बन्ध अथवा सामान्य 'साहित्य') विशिष्ट होता है।

तब काव्यत्व कहाँ है, वाच्यार्थ में अथवा लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ में ? शुक्लजी ने यह प्रतिपादन किया है कि 'कोई रसात्मक या चमत्कार-विधायक उक्ति लीजिए। उस उक्ति ही में, अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही में, काव्यत्व या रमणीयता होगी, उसके लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ में नही।' अपने प्रकरण में यह कथन उचित हो कर भी तत्त्वतः कुछ भ्रामक है। डॉ० नगेन्द्र ने इसे बताते हुए रमणीयता व्यंग्यार्थ मे मानी है[४१]; किन्तु यह कथन भी अर्ध सत्य है। काव्यत्व या रमणीयता 'शब्द' और 'अर्थ' के, अथवा कहा जाय 'वाच्यार्थ' और 'लक्ष्यार्थ', 'व्यंग्यार्थ' की 'सहितता' (उस 'सहितता' मे आस्वादक सहित है ही) में है।

> आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ,
> मैं अपने को आप मिटा कर, जा कर उनको लाऊँ। —साकेत

मे जो रमणीयता है, वह न तो व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ में है कि 'उर्मिला मिट ही जायगी तो लक्ष्मण को लाएगी क्या ?' न योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ में है कि 'उर्मिला को अत्यत औत्सुक्य है।' वह दोनों के 'अन्यूनातिरिक्तत्व' अथवा 'परस्परस्पर्धिता', कहा जाय, (**अलेन टेट और रिचर्ड्स के अनुसार**) होड़ भरे तनाव और संतुलन में है, और **रैन्सम के अनुसार** तार्किक संघटना (लॉजिकल स्ट्रक्चर अर्थात् बुद्धिग्राह्य व्यंग्यार्थ या मूलकथ्य) और काव्यात्मक शब्दाणुओं (पोएटिक टेक्सचर, अर्थात् व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ देने वाले शब्दादि) के पूर्ण सयोग में है। वह उत्कट मानवीय राग और नियति के निर्मम पाश में हिचकोले खाती, 'जाकर उनको लाऊँ' की तीव्र विकलता और 'अवधि बन सकूँ कहीं तो' की निष्करुण विवशता के बीच झूलती हुई उर्मिला की 'सभाव्य असंभव-भावना' के 'काव्य-बिम्ब' में है। इस 'काव्यबिम्ब' के हेतु प्रयुक्त 'शब्द' बंध के अन्य 'शब्दों' और 'नादों' से, 'अर्थ' से, और फिर 'अर्थ' अन्य अर्थों (वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ-व्यंग्यार्थादि) से परस्पर होड़ लेते हुए भी 'सहित' होकर एक बिन्दु पर व्यवस्थित हो गए हैं। यह व्यवस्था, संघटना अथवा सावयविक जीवत एकतानता ही 'काव्यबिम्ब' है। काव्यत्व इसी 'सहिता' मे है, रमणीयता उस सहितता का आस्वाद-रूप है। 'अभिधा' उसके लिए नाभिमंडलीय उपादान है। कुन्तक की दृष्टि से शब्द-शब्द के पारस्परिक होड और फिर (पराशर भट्ट के अनुसार) उनका सौभ्रात्र-भाव से बँध जाना, 'शब्द' और 'अर्थ' की पारस्परिक दौड़ और फिर उनका सुहृदभाव से संगत हो

जाना, 'अर्थ' 'अर्थ' का एक दूसरे को मनोहारी बनाते हुए व्यवस्थित हो जाना, इस प्रकार समस्त का एकमेक, अखंड हो जाना—यही 'साहित्य' है। राजशेखर ने इसी की विद्या को 'शब्दार्थयोः यथावत्सहभावेन विद्या साहित्य विद्या' बताया था। 'सहित' होने की इस प्रक्रिया से चित्त में प्रथमतः 'काव्यबिम्ब' ही स्फुट होता है, उसी की शोभाशालिता से आह्लादकत्व की प्राप्ति होती है। कुन्तक ने परस्परस्पर्धिता और 'सहित' होने की उसकी प्रक्रिया, प्रकार्य या विशेषताएँ अवश्य बताई, किन्तु चित्त पर प्रतिच्छायित और आस्वादनीय तो 'काव्यबिम्ब' ही रहता है। यह 'चारु-प्रतीति ही काव्य है।

आधुनिक युग में यह 'साहित्य-तत्त्व' और उसकी प्रक्रियाएँ अभिनव काव्यबिम्ब प्रस्तुत कर रही है, क्योंकि 'सहित' करने की उसकी विधियों-प्रविधियों मे मात्रागत एवं गुणात्मक अद्भुत विकास हुआ है।

उपर्युक्त 'साहित्य-प्रक्रिया' का ही दूसरे शब्दो मे नाम 'शोक-श्लोक समानुपात' भी दिया गया है। विलीयमान क्षण के शब्दार्थत्व से कवि एक शब्द-रूपी बीज, (शब्दार्थ- रूपी कहे) लेता है, चिंतन की धरती में उसे डालता है, रागो-भावो का जल देता है और वह बढ़ कर काव्य-तरु होता है। दिनकर जी के शब्दों में—

> पहली पंक्ति लिखी विधि ने जिस दिन कविता की
> उस दिन पहला वृक्ष स्वयं उत्पन्न हो गया
> प्रथम काव्य है वृक्ष विश्व के पहले कवि का।

युगीन भाषा का शब्द-संस्थान जब भाषिक फार्मूलो, प्रतीकों, अभिप्रायों मे रूढ़ होता है, तब उनके बीजों से नये शब्दो को गढ़ा जाता है: देशी-विदेशी शब्द भी गृहीत होते हैं। अश्क जी का कथन है—

> तभी शब्द के बीज को दिए मैंने अगणित
> ताकि मुझे जब रौंद चला जाए लोहे का गोला
> बीज कोख में धरती की बेगिनती, पनपें
> मेरा ही प्रतिरूप विटप फिर-फिर लहराए
> झुलसाए लोहे का गोला —खोया हुआ प्रभा मंडल

इनसे नये शब्द-तरु उगते है। फिर यह कवि-प्रदत्त नवीन अर्थ का जीवन-रस लेकर बढ़ता है। 'पश्यन्ती' रूप में उद्‌बुद्ध शब्द का यह नया प्रभात है। किन्तु उसी पल वह बिखरने की 'बैखरी' मे भी पड़ जाता है। उसकी किरण-रश्मियाँ अस्तंगामी होने लगती है। किरण-धेनुएँ तब हैं—'भोर—गायें बध-स्थल की ओर।' जीवन्-जगत् के महानाट्य मे प्रतिक्षण हमारे

अन्तस् का कवि शब्दार्थ-मिथुन का संयोग प्रस्तुत करता है, और प्रतिपल कालरूपी व्याध उसके अर्थ को शरविद्ध करता है। इस करुण दृश्य का ऋषि-प्रत्यक्ष करते ही मुनि आदि-कवि हो गये—क्रौंच पक्षी तो प्रतीक है।

पशु (!) तड़पा क्षण भर ही,
जीवन की लघुतम इकाई की हत्या में
पहला सौन्दर्यबोध—
जब समस्त जीवन संवेदनीय माना

लेकिन उस पीड़ा का महामर्म ज्ञानी ने जाना—
असम्मान जीवन का।
वीतराग ऋषि ने भी
उस नगण्य पशु तक के दर्द को प्रतिष्ठा दी।

—कुँवर नारायण 'मा निषाद प्रतिष्ठां'

और, 'मा निषाद प्रतिष्ठां' की कविवाणी में जितना अमर्ष है; पीड़ा भी उतनी ही है, अथवा वह उससे बहुत अधिक है। शमशेर की निम्न पंक्तियों में वही पीड़ा है। पर उसका रूप-प्रत्यक्ष बदल गया है।

लौट आ ओ धार·· · · ·····
फिर फूल में लग जा
कोई हाय ?

लौट आ, ओ फूल की पंखड़ी
चूमता है धूल का फूल

आदि-कवि की महाकरुणा चर्वित होकर शोक को श्लोक-रूपता प्रदान कर गई। कविता का बिम्बमूल यही शोक-श्लोक समानुपात है।

काव्यशब्द 'शोक' को 'श्लोक' बनाता है। किन्तु, मनोविज्ञान का 'शोक' किसी भी विधि 'श्लोक' बनकर काव्यत्व प्राप्त नहीं कर सकता। काव्य होने के लिए 'शोक' का इस प्रकार बिम्बन होना ही चाहिए कि शोक शोकवत् महसूस हो सके, कि वह एक का 'शोक' न हो, अनेक का, सबका 'शोक' बन सके; और फिर वह एकदेशीय, एककालिक 'शोक' न रहे, सार्वभौम, सार्वकालिक भी हो जा सके। अन्ततः, वह 'शोक' भी न रहे, 'श्लोक' के द्वारा बस आद्य वैकल्य की अनुभवैकगम्य अनुभूति का साक्षात्कार करा दे सके। यही काव्यबिम्ब की उपलब्धि है। तो क्या काव्यबिम्ब मनोवैज्ञानिक बिम्ब का कवि-रचित नवीन विन्यास ही है ? पर मनोवैज्ञानिक बिम्ब क्या है ? उसके रूप, प्रकार्य आदि क्या हैं ? प्रकार, प्रभावादि भी उसके भिन्न-भिन्न हैं क्या ? इस हेतु अगले अध्याय में 'बिम्ब' के मनोवैज्ञानिक स्वरूप, प्रकार आदि को जान लेना आवश्यक है, ताकि काव्यबिम्ब में उसके स्वरूप-प्रकार्य, आदि का परिचय उचित परिप्रेक्ष्य में प्राप्त किया जा सके।

५. संदर्भ-ग्रंथादि एवं टिप्पणियाँ

१. एजरा पाउंड : रिव्यू ऑफ अदर्स ' ऐन ऐंथॉलॉजी Maloepoea, or poetry which moves by its music : 2 Imagism, or poetry wherein the feelings of painting and sculpture are predominant,and 3. Logopoea, or poetry that is akeen to nothing but language which is a dance of intelligence among words and ideas.

डी० इ० एस० मैक्सवेल पोएट्री ऑफ टी० एस० इलियट में भाषा-संबंधी विचार पृष्ठ १४-१८ पर द्रष्टव्य।

२. डा० नगेन्द्र, राजकुमार कोहली ' पाश्चात्य काव्यशास्त्र—सिद्धान्त और वाद, पृष्ठ १-३७

३. पॉल गॉलतिए : दि मीनिंग ऑफ आर्ट, इट्स नेचर, रोल ऐंड वैल्यू—(अनुवादक एच० इ० बोल्डविन), पृष्ठ ४४-४६

४. बर्क : ए फिलॉसाफिकल इन्क्वायरी इन्टू दि ऑरिजिन ऑफ अवर आइडियाज ऑफ दि सैंसेज ऑफ सबलाइम ऐंड ब्यूटिफुल —

ए० डब्ल्यू० श्लीगेल ने उन पर व्यंग्य किया है कि बर्क की धारणा के मुताबिक सुन्दरता तनिक मनभावन वेश्या है और औदात्त्य बड़ी मूँछ वाला धमबाज।

५. जे० मि० मरी—दि प्रोब्लेम ऑफ स्टाइल, पृष्ठ २५-२६

जॉन ड्रिंक वाटर सम्पादक—दि आउटलाइन ऑफ लिटरेचर, पृष्ठ ७०७

This fusion is a large thing, not easily explained, Fusion is that Third Power to which composition must rise before it can be cansidered as a piece of enduring literature. Fusion is the taking of lower things into higher

६. हर्बर्ट रीड फॉर्म इन मॉडन पोएट्री, पृष्ठ ८४-८५।

७. जार्ज मालियर—हर्बर्ट रीड दि मीनिंग ऑफ आर्ट, पृष्ठ ९९ पर उद्धृत

एस० एच० स्टाइनबर्न . इनसाइक्लोपीडिया ऑफ लिटरेचर पृष्ठ ४७३ भी द्रष्टव्य

८. हर्बर्ट रीड : तत्रैव पृष्ठ १४२, एवं एस० एच० स्टाइनबर्न ' इनसाइक्लोपीडिया ऑफ लिटरेचर पृष्ठ २९० एवं सर विलियम आर्पेन : आउटलाइन ऑफ आर्ट पृष्ठ ५४९-६०६

९. हर्बर्ट रीड : दि मीनिंग ऑफ आर्ट, पृष्ठ १६७

जे० एम० कोहेन पोएट्री ऑफ दिस एज, पृष्ठ १६४-१६६

जॉन ड्रिंकवाटर : दि आउटलाइन ऑफ लिटरेचर, पृष्ठ ७७२-७७३

१०. केसल्स डिक्सनरी, पृष्ठ २१४

११. डा० रामधारी सिंह दिनकर : शुद्ध कविता की खोज, पृष्ठ ९८-११०

१२. डा० पद्मा अग्रवाल : प्रतीकवाद, पृष्ठ १२

१३. अज्ञेय : प्रतीक और सत्यान्वेषण, तथा प्रकाश दीक्षित : अस्तित्ववाद और नयी कविता, पृष्ठ ११८

१४. कॉलरिज : द्रष्टव्य पूर्वपृष्ठ–२८५; तथा रिचर्ड्स : दि फिलॉसफी ऑफ रेहटरिक, पृष्ठ १३१; वॉल्ट ह्विटमैन ने भी वैसी घोषणा की थी — 'सारे शब्द दैवो है।' द्रष्टव्य आग्डेन एवं रिचर्ड्स . मीनिंग ऑफ मीनिंग, पृष्ठ २४

१५. चार्ल्स फिडेल्सन . सिम्बॉलिज्म इन अमेरिकन लिटरेचर, पृष्ठ ११९-१३५

१६. एडिथ सितवेल का 'पोएट्री' पर निबंध ' इनसाइक्लोपीडिया ऑफ लिटरेचर : पृ० ४३३ आर्थर साइमन्स ने 'दि सिम्बालिट मूवमेंट इन लिटरेचर' पृष्ठ २ पर बताया है कि काव्यगत प्रतीक एक वास्तविकता है, सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है, किन्तु यथार्थ भी. अनिवार्य और स्वच्छन्द भी। किन्तु अदृष्ट वास्तविकता के लिए वह जड़ न हो जाय।'

सर विलियम ऑर्पेन दि ऑउटलाइन ऑफ आर्ट, पृष्ठ ६५३-६७४
टी० ड० ह्यू म ' स्पेकुलेशंस, पृष्ठ १३५
डा० रामधारी सिंह दिनकर : शुद्ध कविता की खोज, पृष्ठ १११ पर उद्धृत
आर्केबाइल्ड मैकलीश ' पोएट्री ऐंड एक्सपीरिएंस, पृष्ठ ५३-५६
राजकुमार कोहली : पाश्चात्य काव्यशास्त्र : सिद्धान्त और वाद, उद्धृत काव्य में बिम्बवादी आन्दोलन, पृष्ठ २४१-२६२ ;
एच० व्ही० रावत : इंग्लिश लिटरेचर ऐंड आइडियाज इन दि ट्वेन्टिएथ सेंचुरी, उद्धृत लारेंस डरेल ' की टु मॉडर्न पोएट्री, पृष्ठ-२२
जॉर्ज मैकवेथ : लंदन मैगेजिन, नवम्बर १६५६
डॉ० विजयेन्द्र स्नातक ' विश्वकाव्य की रूपरेखा, भूमिका
आ० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग-२, पृष्ठ २३०—'संवेदनावाद और मूर्त्तिविधानवाद दोनों को मिलाकर सबसे विलक्षण तमाशा पूर्वोक्त कमिंग्ज साहब (E. E. Cummings) ने खड़ा किया है। उन्होंने पदभंग, पदलोप, वाक्यलोप तथा अक्षरविन्यास, चरणविन्यास इत्यादि के न जाने कितने नए नए करतब दिखाए हैं।'

निम्न पंक्तियों में साँध्य दृश्य का वर्णन है, सूरज डूब रहा है, कबूतरों के एक झुंड पर किरणें पड़ती हैं। उससे पृथ्वी पर चमक फैल जाती है, तुरंत अंधकार छा जाता है। कमिंग्ज ने धुँधलके में सफेद कबूतरों के उड़ने, चक्कर काटने, सूर्यरश्मियों के शेषांश को अपने स्पर्श द्वारा तिर्यक् रूपमें प्रतिफलित-प्रत्यावर्तित कर देने की विविध क्रियाओं को समावेशी काव्यभाषा के द्वारा. शब्दों को तोड़-मरोड़ कर बनाई गई भाषा के द्वारा एक साथ पकड़ लेने का उपक्रम किया है।

Look
pigeons fly ingand
whee (' are, SpRiN, k, Ling
　　an instant with
　　Sun Light then).
　ing all go Black wh-eel
　　　　　　—ing.

लायोनेल ट्रिलिंग ने 'दि एक्सपीरिएंस ऑफ लिटरेचर : पोएट्री', पृष्ठ १३७-८, में लिखा है —

A considerable part of interest in E. E. Cummings' poem comes from our surprises over its use of parts of speech in wag's that we are not accustomed to.

लॉरा रीडिंग और राबर्ट ग्रेव्स के अनुसार 'कमिंग्ज ऐसे कवियों में हैं, जो अनुभूति को व्यक्तिगत देशकालावच्छिन्न विशिष्टता से निकाल कर सार्वभौम, सार्वकालिक बना लेते हैं। फलतः, उनके बिम्ब पाठक को भी स्रष्टा की कोटि में उठा ले चलते हैं।' द्रष्टव्य 'ए सर्वे ऑफ माडर्निस्ट पोएट्री, पृष्ठ—४१।

मुद्राराक्षस की निम्न कविता में कमिंग्ज की छाया द्रष्टव्य है —

नार्त्त काथि अधेरे
प्रभा प्रक्षिमे
अगी थासेबि कय
बुकी अकी खाव होसस्थय
कर्ध
बनामे स्थाली हाते
कजा　फिबे　लिबु।　　　　—स्टिल लाइफ, अकविता—१

शिवचंद्र शर्मा की कविता के विलक्षण संधि-प्रयोग और समासिकता पर भी उसकी छाप है, यथा—

१. स्वस्थ गोलापसमपीतमांसलाकृति —
कंप देती है, ...

२. युद्धलोलुपलपलपजिह्वा विचारपीत पिप्लवमक है, —पीले गुलाब, पीले विचार

३. पार्वत्य निर्झर निकट निनाद श्रुति-कर्कश,
समीपावलोकन नयनानयन स्पर्शसुख
दूर के ढोल श्रुतिमधुर गहनतिमिरामन्त्रण
ढोलाहत सामीप्य तथ्यवध्यचरित्रोद्द घोषक
वंध्यावंध्य, कथ्याकथ्य ढक्काहत काव्य। —महाकाव्य

नीचे शमशेरबहादुर सिंह, राजेन्द्र किशोर और सैयद सफीउद्दीन की कविताओं से एक-एक उदाहरण दिए जाते है जिन पर अतिप्रकृतवाद, भविष्याद्वाद आदि के भी प्रभाव देखे जा सकते है। ये रोचक अवश्य हैं; पर प्रवृत्ति-रूप में इनका स्वागत अब तक नहीं हो सका है, बाद की बात भविष्यत् जाने।

१—जो कुछ है	२—अलसायें।	३—"प्रेमकी ट्रेजेडी"
जो कुछ है	आये	—→ ... —→
खो।	गये।	(हाय।)
खो।	आई	(नहीं चैन,
खो।	गई	जागते ही कट गयी रैन)
ओ शीरीं! ओ लैला! ओ हीर!	वे।	(प्रेम यानी इश्क यानी लव)
जा!	भी!!	"।"
जा!	मैं	"॥"
जा! — सो! · ...	ने — —	Λ+Λ
बेखबर आधी सी रात	ही —	❀ ❀
बेखबर सपने हैं।	देखा पेड़? —	अरमानों के गाल पर चाटा
बाखबर है एक, बस, उसकी जात।	चाँद का।	फरवेरी का काँटा)
तू मेरी!... ...	—राजेन्द्र किशोर :	←— १ —→
आमीन!	वीणा, अप्रैल, १९५८	(मुहब्बत में घाटा !!)
आमीन!!		
आमीन!!!		सैयद सफीउद्दीन :
—शमशेर बहादुर : काव्यधारा, ११३		जनभारती वर्ष ८, अंक १, २०१७

२६. हर्बर्ट रीड : दि ड्रिफ्ट ऑफ मॉडर्न पोएट्री—इन्काउंटर, जनवरी १९५५, पृष्ठ ७
इंगलिश प्रोज स्टाइल
जार्ज ह्वेले : प्रोएटिक प्रोसेस, पृष्ठ—१४४-१४६

२७. डॉ० देवराज : प्रतिक्रियाएँ, पृष्ठ—१८६-२१३

२८. टीएक : बेनिदित्तो क्रोचे : एस्थेटिक्स, पृष्ठ-२११ पर उल्लिखित,
स्पिनगार्न दि न्यू क्रिटिसिज्म, पृष्ठ-६ — Art can find its alter-ego also in art.

२९. आइ० ए० रिचर्ड्स, प्रिंसिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृष्ठ २४८-८;-२५०,

३०. वारेन : डॉ० देवराज उपाध्याय : साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृष्ठ २४ पर उद्धृत

३१. डॉ० आर० के० मुखर्जी : दि सोशल फंक्शन ऑफ आर्ट, पृष्ठ-१४८, तुलनीय
डॉ० के० एस० रामास्वामी शास्त्री : इंडियन एस्थेटिक्स, पृष्ठ-४१

Modern poetry and drama have been emancipated from the medieval obsession with religious life --the result is that modern poetry and drama are hybrid and manysided and intricate and complicated as modern life itself.

एम० दि मैदरि आंगा : इंगलिशमैन, फ्रेंचमैन ऐंड स्पैनिअर्डस पुस्तक में बताया है कि क्रियापरक कर्मठ जाति के लिए वर्तमान का महत्त्व है। 'वर्तमान' ऐसा क्षण है जिसमें दो औच्चारणिक ध्वन्यंशों के लिए स्थान नहीं होता। अतएव एक से अधिक ध्वन्यंश से बने शब्द वाद-शब्द हैं, पर एक ध्वन्यंश वाले शब्दों में त्वरा है, जैसे स्लैश, स्मैश, उज, हुस्म, बज्ज। "बिप" में जो वेग है, वह 'स्टॉप' के झपाटे के साथ से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। द्रष्टव्य क्लाइड क्लकहान : दि गिफ्ट ऑफ दि टंग तथा मेरियो पाइ : स्टोरी ऑफ लैंग्वेज—

कवितादि में शब्दाकुंचन की विशेषता कुछ तो आधुनिक युग की कर्मसंकुल व्यस्तता से आई है; कुछ समाचार-पत्रों के शीर्षकों-उपशीर्षकों से, कुछ तार, टेलिफोन आदि की शैली से और कुछ स्वप्न-दिवास्वप्न अथवा आवेश के त्वरित प्रलोक-प्रवाह की शैली से आदि। स्रोत जो भी हो, इनसे कविता में घनत्व और तीव्रता आई है। इस जमाव और वेधकता में तीन प्रकार के तत्त्वों का प्रधान रूप से योगदान दिखाई पड़ता है— १. आवयविक संघटन में बाह्य प्राकृतिक रूपों के स्थान पर आन्तरिक लयात्मक रूप, २. आत्मपरक अनुभूति, और ३. माध्यम की शक्तिमत्ता। सघनता और तीक्ष्णता के फलस्वरूप वे गोचर होते हैं, अर्थात् काव्यबिम्ब रूप में प्रतीति में उभर आते हैं।

३२ डॉ० रघुवंश : साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृष्ठ-२१८
३३. दण्डी : काव्यादर्श—१/४०, १/१०१-१०२
३४ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क, पृष्ठ ७७
३५. आ० रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग-२ पृष्ठ १०२-३
३६. तत्रैव, पृष्ठ २१२-२१३
३७. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक ४/१०
३८ डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : विचार और वितर्क, पृष्ठ २४६
३९. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, आचार्य वामन (भूमिका), पृष्ठ ९८
४०. वाल्टर पेटर : दि स्कूल ऑफ 'जार्जियन' इन दि रिनासा, पृष्ठ ११०-१११

· in all other kinds of art it is possible to distinguish the matter from the form, and the understanding can always make this distinction, yet it is the constant efforts of art to obliterate it. That the mere matter of a poem, for instance, its subject, namely its given incidents or situation—that the mere matter of a picture, namely, the actual circumstances of an event, the actual topography of a landscape—should be nothing without the form, the spirit of the handling that this form, this mode of handling, should become an end in itself should penetrate every part of the matter : this is what all art contemplates and strives after and achieves in different degrees.

केनेथ बर्क : काउंटर स्टेटमेंट — पृष्ठ ३०-१

form is the creation of an appetite in the mind of the auditor and the adequate satisfying of that appetite. This satisfaction. at times

involves a temporary set of frustration, but in the end these serve to make satisfaction of fulfilment more intense. While obviously that is also the psychology of the audience.

४१ व्ही० राघवन भोजज, शृङ्गार प्रकाश, पठनीय पृष्ठ—८२-१०४

४२ आ० रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि, भाग—२, पृष्ठ १६६-१६८;
डॉ० नगेन्द्र एवं प० रामदहिन मिश्र ने शुक्ल जी की इस स्थापना और विवेचना का प्रतिवाद किया है। डॉ० नगेन्द्र के अनुसार —

'...अपने को मिटाने का अर्थ यहाँ- लक्षणा की सहायता से बडे-से-बड़ा कष्ट भोगना या बलिदान करना आदि भी हो सकता है। किन्तु लक्ष्यार्थ देते ही उक्ति में कोई चमत्कार नहीं रह जाता—चमत्कार तो अर्थ की बाह्य अनुपपन्नता परन्तु आन्तरिक उपपन्नता के विरोधाभास में है। फिर भी क्या उक्ति की रमणीयता, इसी चमत्कार तक सीमित है ? वास्तव में बात इतनी नहीं है। अत्यंत औत्सुक्य की व्यजना ही उक्ति की रमणीयता का 'कारण' है (१) — यही पाठक के मन का इस अत्यत औत्सुक्य के साथ तादात्म्य करके उसमें एक मधुर अनुभूति जगाती है। यही उक्ति की रमणीयता है।'

दूसरे शब्दों में उन्होंने विरोधाभासगत चमत्कार में, बाह्य अनुपपन्न अर्थ और आन्तरिक उपपन्न अर्थ में एकीकरण की प्रक्रिया स्वीकार की है। यह एकीकरण ही 'साहित्य' है और इस सहित होने की प्रक्रिया में पाठक के मन में एक काव्यबिम्ब ही उद्‌बुद्ध होता है। पुन उन्होंने 'अत्यत औत्सुक्य की व्यजना' को रमणीयता का कारण माना है—वह पाठक के मन का तादात्म्य करके उसमें एक मधुर अनुभूति जगाती है। इस तादात्म्य से भी उसमें एक काव्य-बिम्ब ही उद्‌बुद्ध होता है, जो फिर जगती हुई मधुर अनुभूति से सहित होकर पुन : एक काव्य बिम्ब उन्मिषित करता है। यही काव्यबिम्ब रसात्मकता या रमणीयता की प्रसरणशील परिधि है। इस काव्यबिम्ब के नाभिमडल में वह उक्ति है 'आप अवधि बन सकूँ कहीं तो ...।' उसमें वाच्यार्थ की, बाह्य अनुपपन्न अर्थ की बिम्बाच्छाया जुडी है, और फिर जिससे विरोधाभासगत लक्ष्यार्थ के 'चामत्कारिक अर्थबिम्ब' से लेकर 'अत्यत औत्सुक्य की व्यजना' के व्यग्यार्थ-रूप बिम्ब स्फुट होते हैं, तथा पाठक की स्मृति, कल्पना, विचारादि अर्थात् आदिम राग के बिम्ब भी। रमणीयता इन सब के, और सबमे सहित होने की चैतन्य प्रक्रिया है। उत्तरोत्तर सवर्द्धमान वृत्त में फैलने की वह एक रम्य यात्रा है—उक्ति से वाच्यार्थ तक, उक्ति और वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ तक; उक्ति, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक, सब का मिलजुल कर आदिम राग तक आदि। देखिये उपर्युक्त टिप्पणी, संख्या—५ में 'फ्यूजन'।

६

बिम्ब : मनोवैज्ञानिक स्वरूप और प्रकार

पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में यह प्रश्न समुपस्थित किया है कि पदार्थ जाति है या व्यक्ति। 'गाय' का अर्थ गाय 'जाति' है, अथवा गाय 'व्यक्ति'? उन्होंने इस विषय पर पाणिनी के मत का उल्लेख कर बताया है कि दोनों को मानना ही समीचीन है : उभयमित्याह। उभयथा-ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। प्राचीन काल से ही वाजप्यायन आदि जातिवादी और व्याडि आदि व्यक्तिवादी, ये दो वर्ग रहे हैं। इनसे भिन्न हैं समन्वयवादी कात्यायन, पतञ्जलि आदि, जिन्होंने दोनों को स्वीकार किया है। कैयट और नागेश के अनुसार जब वक्ता को जाति अभीष्ट होती है तब जाति का बोध होता है, और जब उद्देश्य व्यक्ति का हो, तो व्यक्ति का। वक्ता अथवा श्रोता की विवक्षा के अनुसार 'गाय' से कभी जाति-रूप 'गोत्व' और कभी व्यक्ति-रूप विशेष 'गाय' का अर्थ लिया जाता है। जाति-रूप-गोत्व 'गाय' का प्रत्यय है, और व्यक्ति-रूप 'गाय' 'गाय' का 'बिम्ब' है। भर्तृहरि के अनुसार 'जाति' प्राणशक्ति है, महासत्ता है, और सूक्ष्म ब्रह्मरूप। 'व्यक्ति' उसका दृश्य तत्त्व है, स्थूल सत्ता है, प्रकट रूप है।

> सत्यासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ।
> सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयः स्मृता॥ —वाक्यपदीय ३, पृष्ठ २८

व्यक्ति-रूप असत्य है, पर अतत्त्व नही है। वह असत्य इस कारण है कि वह सीमित है, उपाधि-युक्त है, अनित्य है। पर उसकी व्यवहारिक सत्ता और उपयोग पूर्णतः सत्य है। उसके रूप, आकार, क्रियादि से 'सत्य' का निश्चय होता है। अतः भर्तृहरि का कथन है कि तत्त्व और अतत्त्व मे कोई भेद नही है। दोनो अभिन्न और एक हैं। जयन्त भट्ट ने भी यही बात स्पष्ट की है कि प्रयोग मे कहीं जाति की प्रधानता रहती है और व्यक्ति गौण रहता है, और कही व्यक्ति अथवा उसकी आकृति की प्रधानता रहती है और जाति गौण।[१]

बिम्ब : शब्दार्थ और स्वरूप

'बिम्ब' शब्द काव्यादि के प्रेषण-मूल्यांकन-व्यापार मे जिस अर्थ में चल पडा है, उसमे उपरिलिखित 'व्यक्तिवादी' दृष्टि प्रधान है, किन्तु उसकी संकल्पना अंग्रेजी 'इमेज' और उसकी अर्थ-सरणियों के निकट की है। अतएव उसके विलोम मे 'आइडिया' अथवा प्रत्यय की संकल्पनाएँ हैं; अर्थात् भारतीय शब्द-विवेचन की परम्परा में जातिवादी दृष्टि। पाश्चात्य दर्शनादि मे भी प्रत्ययवादी और नामवादी के बीच रोचक शास्त्रार्थ प्राचीनकाल से ही होते आ रहे हैं।

'इमेज' यानी 'बिम्ब' और आइडिया यानी 'प्रत्यय' ये दोनों शब्द और इनकी संकल्पनाएँ मन की दो विषम वृत्तियों से सम्बद्ध है। 'आइडिया' यूनानी शब्द का रूपान्तर है। मूल धातु वीड, विएड, आइडिन है, जिसका अर्थ, वेबस्टर्स न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी पृष्ठ ७२० के अनुसार है—देखना। इसका प्राचीन अर्थ था आकार, ढाँचा, बिम्ब (आर्केटाइप, पैटर्न, इमेज) जो व्यक्ति द्वारा उद्‌भावित न हुआ हो, अर्थात् आद्यरूपक, आदिबिम्ब।[२] आइडिया के इसी अर्थ के द्वारा प्लैटो ने वस्तुओं आदि के आद्य रूप की प्रकल्पना की थी और जागतिक वस्तु को प्रतिकृति-रूप माना था। इस प्रकार प्लैटो के दर्शन में ही 'आइडिया' के दो अर्थों के सूक्ष्म संकेत मिलते है—(१) प्रत्यय या सूक्ष्म, मानसिक, आदर्श और आद्य रूप, तथा (२) 'इमेजिन' या बिम्बन, अथवा प्रतिकृति। 'आइडिया' की क्रिया 'आइडिएट' का अर्थ अभी भी बिम्बन है, कल्पना है—'इमेजिन' 'कन्सीव' (आक्सफोर्ड डिक्शनरी) 'आइडियल' 'आइडियलिज्म' (इनमे 'ल' ध्वनि यानी 'एल' अक्षर का आगमन हुआ है) आदि शब्दों में आदर्श, आदर्शवाद एव प्रत्ययवाद के जो अर्थ हैं, वे

अमूर्त आद्य अर्थ को किंचित् तिरोहित-सा किए हुए हैं। 'आइडिया ऑफ गॉड' में, फिर आद्य अर्थ अर्थात् विचार, प्रत्यय, कल्पना का संकेत है ही। इस प्रकार 'आइडिया' के अनेकार्थी आधुनिक प्रयोग में भी मानस-धारणा, बोध, भान या कल्पना के अर्थ हैं। प्राचीन प्रयोग और इस नवीन प्रयोग में बड़ा अन्तर आ गया है; परन्तु दोनों में साम्य यह अवश्य है, कि जो 'आइडिया' है, वह मानसिक है; अतः ठोस और भौतिक स्थिति अथवा वस्तु-जैसा वह नहीं है।

कलाकार कलाकृति में अपने 'आइडिया' का ही बाह्य अभिव्यंजन सृष्ट अथवा निर्मित करता है। उसका 'आइडियल' (आदर्श) भी है अपने अमूर्त विचार-भाव, कल्पना अथवा 'आइडिया' का यथावत् एवं संवेदनीय बिम्बन। इस प्रकार कलाकार का मानस-बिम्ब = आइडिया, कलाकृति = आइडिया का इमेज; और आदर्श अथवा 'आइडियल' = (मानस बिम्ब = रचित बिम्ब, अर्थात्) अनुभूति की यथावत् अभिव्यक्ति। किन्तु निरपेक्ष रूप में 'आइडिया' या धारणा जार्ज मूर के शब्दों में—कलाकृति के भक्षक, परजीवी तत्त्व हैं।[३]

'इमेज' लातनवी शब्द है, जिसकी धातु 'इमितरी' है, जिससे 'इमिटेट' शब्द (नकल करना) और इमेजिनेशन (कल्पना) भी निष्पन्न हुए हैं। 'इमेज' का अर्थ है जागतिक वस्तु आदि का मानसिक ऐन्द्रिय बिम्ब, अथवा यदि वस्तुएँ ही बिम्ब मानी जायँ, तो अक्षिपट पर दृश्य वस्तु की झलक की तरह उनका प्रतिबिम्ब; अथवा दर्पण या काँच आदि के माध्यम से प्रकाश-किरणों के विकीर्ण होने पर वस्तुओं का नेत्रग्राह्य अपर बिम्ब अथवा प्रतिकृति, रूपाकृति (आक्सफोर्ड डिक्शनरी, पृष्ठ ५९६)। इमेजिनेशन, इमेजिन, इमेजरी आदि शब्दों से कुछ अर्थान्तर के साथ मूलतः वही अर्थ ग्रहण किया जाता है—कल्पना अथवा स्मृति में उपस्थित चित्र अथवा प्रतिकृति जिसका चाक्षुष होना अनिवार्य नहीं है, किसी व्यक्ति या पदार्थ की प्रतिकृति; मूर्त और दृश्य प्रत्यंकन; एक पदार्थ के लिए किसी ऐसे मूर्त अथवा अमूर्त पदार्थ का प्रयोग जो उसके अत्यधिक समान हो अथवा उसे व्यंजित करता हो; जैसे—'मृत्यु' के लिए 'निद्रा' का प्रयोग। 'वेब्सटर्स न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी' में उपरिलिखित अर्थ के साथ इसकी आठ अर्थ-शाखाएँ हैं, जिनमें आइडोल, आइडिया, आदि भी गृहीत हैं। जार्ज ह्यूली के शब्दों में कहा जा सकता है—'आइडिया' और 'इमेज' में अन्तर भाषिक सुविधाजन्य है, चिन्तन प्रकार के कारण है।[४] बिम्ब एक प्रातीतिक सत्ता है। तदुपरान्त वह 'धारणा' या 'प्रत्यय' है। अतः बिम्ब का 'बिम्ब' नहीं बनता।

मनोविज्ञान में 'इमेज' प्रायः समस्त मानव अनुभव का पर्याय है। 'विचारणा' यदि मूर्त्त या भाषिक हो रही हो, तो कहा जायगा वह 'इमेज' के सहारे शब्द-बद्ध हो रही है। चेतना मे अनुभूत संवेग के समस्त शारीरिक आभ्यन्तर व्यापारादि का मानसिक अनुभव, 'इमेज' रूप होता है, संवेदनात्मक अनुभूति का मानस-बोध उसी प्रकार 'इमेज' है, क्रिया का संकल्प, अर्थात् कार्य-रूप में परिणति के पहले की उसकी मानस-दशा 'इमेजिनल ऐक्टिविटी' है, प्रत्यक्षीकरण तो 'इमेज' है ही; स्मृति भी 'इमेज' का प्रत्याह्वानादि के द्वारा पुनर्बिम्बन है और 'इमेजिनेशन' या 'कल्पना' इन्हीं का अभिनव रूप में सृष्ट 'इमेज' अथवा उसकी उद्‌भव-प्रक्रिया है। इस प्रकार समस्त मानस-व्यापार अधिकांशतः 'बिम्ब' अथवा बिम्बन-प्रक्रिया से सम्बद्ध है।

बिम्ब अथवा 'इमेज' की परिभाषा मनोविज्ञानी सी० डब्ल्यू० ब्रे के अनुसार है—

> 'इमेज' से अभिप्राय है ऐसी सचेत स्मृति जो मूल उद्दीपन की अनुपस्थिति में किसी अतीत अनुभव का समग्र अथवा अंश-रूप में पुनरुत्पादन करती है।[८]

ड्रेवर ने इमेज को परिभाषा इस प्रकार दी है—

> संवेदनात्मक उद्दीपन की अनुपस्थित में, संवेदनानुभव का पुनः उद्‌भूत रूप अर्थात् मानस चक्षुओं से देखना।

ब्रे की परिभाषा 'इमेज' को स्मृति से ही सम्बद्ध मानती है। और ड्रेवर की परिभाषा में वह केवल अन्तर्निरीक्षण मे ही व्याप्त माना गया है। बाह्य भौतिक ठोस वस्तुओं का प्रत्यक्ष भी बिम्बवत् होता है। नाली का चित्र देख कर हमारे मन में पूर्वानुभूत नाली के अनुभव के और दुर्गन्ध के बिम्ब उभर सकते हैं। ऐसा व्यापार, मनोविज्ञानी हंटर की परिभाषा मे, प्रातीकिक व्यापार है। जिसे हम साधारण भाषा मे धारणा (आइडिया) कहते हैं, वह भी प्रातीकिक व्यापार है। अर्थात् 'आइडिया' भी 'इमेज' है, पर सूक्ष्म।[९] मनोविश्लेषण में बिम्ब अथवा इमेज मूल अर्थ को रखते हुए प्रातीकिक अर्थ में विस्तार पा गया है;—जैसे 'फादर-इमेज' (फ्रायड) 'आर्केटाइपल इमेज' (युंग) आदि। अतः

> मनोविज्ञान की दृष्टि से 'बिम्ब' का व्यवहार वैसे मानसिक प्रत्यय (धारणा या आइडिया) के लिए होता है, जो मानस-चक्षुओं से दृश्यवत् प्रतीत होता है। (इन्सा० ब्रिटेनिका, १४, पृ० ३२०)

पिछले अध्याय में पृष्ठ ११३ पर विचारणा के मूर्त्त, और अमूर्त्त दो ध्रुव भी बताए जा चुके हैं और इस दृष्टि से मनुष्यों के दो प्रकार भी। यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रत्यक्ष-ग्रहण, चिंतन, स्मरण आदि प्राय: समस्त मानसिक क्रियाओं में ७ सामान्यतः दो प्रवृत्तियाँ लक्षित होती है-१-निश्चित मूर्तता या आनुरूप्य की एवं २—सामान्यीकरण अथवा विस्तीर्णता की। अतः एक व्यक्ति 'गो' में व्यक्ति और मूर्त्त प्रतीति का द्रष्टा होगा, दूसरा अथवा वही दूसरे क्षण मे 'गो' में 'गोत्व' की जाति और अमूर्त्त प्रतीति का कल्पक होगा। 'आइडिया' और 'इमेज' में वैसी ही दो दृष्टियाँ हैं। फलस्वरूप इनके तद्भव अनेक शब्द हैं जिनमें 'आइडिया' का अमूर्त्त और 'इमेज' का मूर्त्त रूप दोनों मिल गये है—उदाहरण-स्वरूप, 'आइडेटिक इमेज' (ठोस दृश्य-बिम्ब) में जिसकी परिभाषा है—

"अनुभव जो प्रत्यक्ष और बिम्ब की सीमारेखा पर स्थित हो; ८ अर्थात् आँख के सामने ठोस रूप से उपस्थित-जैसा, पर वास्तव में अनुपस्थित।

'आइडीफोर्स', 'आइडेंटरी', 'आइडियोग्राफ', और अन्तत; 'आइडॉल' मे 'आइडिया' का अमूर्त्त रूप (या धारणा) और 'इमेज' का मूर्त्तरूप दोनो मिल कर एक 'मूर्त्ति' में उभर आए है। उसी प्रकार 'इमैगो' में 'आइडिया' का अमूर्त्त भाव अनुप्रविष्ट है।

प्रत्यक्ष-ग्रहण में दो अंश समवायी रूप में रहते हैं—१—वस्तु का मूर्त्त रूप (इमेज या बिम्ब; विषय-पक्ष;) तथा २—प्रत्ययात्मक अंश (जातीय रूप विषयि-पक्ष)। प्रथम है वस्तु का ऐन्द्रिय अश, द्वितीय है द्रष्टा के प्रत्यय, सस्कार, स्मरण, बुद्धि, कल्पनादि का अंश। मूर्त्त कल्पक की दृष्टि से प्रक्रिया होगी—ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष या बिम्ब या विशेष, तब सामान्य; 'इमेज' तब 'आइडिया'। अमूर्त्त चिंतक का पूर्वापर-क्रम संभवतः इसका उल्टा होगा। इस प्रकार की दो प्रवृत्तियाँ सभी देशों में सभी कालों मे और अनेक प्रकार के मतवादों में रही हैं। अतः कुछ व्यक्ति सदा बिम्बन द्वारा चिंतन करते हैं और कुछ जीवन-भर निर्बिम्ब चिंतन कर लेते हैं। सामान्यत युवावस्था तक ऐन्द्रियता की प्रधानता के कारण बिम्बात्मिका शक्ति तीव्र रहती है और प्रौढावस्था में प्रत्ययात्मक चिंतन-प्रक्रिया की सूक्ष्मता आ जाती है। भावात्मक मनःस्थिति मूर्त्त और क्रियात्मक होती है, ज्ञानात्मक मनोदशा सूक्ष्म और धारणात्मक अधिक होती है। जातीय चेतनावश भी किसी वर्ग-विशेष में दूसरे की अपेक्षा अमूर्त्त और मूर्त्त चिंतन मे अन्तर पाया जा सकता है।

स्त्रियाँ अधिक मूर्त्त चिंतन करती है और पुरुष का चिंतन अधिकांशत: अमूर्त होता है।

सह-अनुभूति : मूर्त्तन और अमूर्त्तन

पिछले पृष्ठ पर एव पृष्ठ ११३ पर भी मानव-मस्तिष्क की मूर्त्तन-प्रधान और अमूर्त्तन-प्रधान दो कोटियाँ निर्दिष्ट की गई हैं। पुन पृष्ठ १४४-५ पर थियोडोर लिप्स की 'सह-अनुभूति' (आइनफूहलु ग) का भी परिचय दिया गया है। व्यक्ति 'दृश्य' में आत्म-प्रेक्षण करता है अथवा 'दृश्य' ही व्यक्ति में अनुरणित होता है, अथवा दोनों प्रक्रियाएँ होती हों, काव्यादि के प्रत्यक्षीकरण और भावन मे इसका महत्त्व है। किन्तु सह-अनुभूति के साथ-साथ सूक्ष्मीकरण की भी मानसिक प्रक्रिया होती है। विल्हेल्म वारिंगर के अनुसार मानव-मन की द्विध्रुवीय प्रवृत्तियाँ हैं[६]: एक प्रवृत्ति सह-अनुभूति अथवा मूर्त्तन की है, जिसके कारण व्यक्ति मनोदैहिक सस्थान मे 'दृश्य' के समान मूर्तित होता है; दूसरी प्रवृत्ति अमूर्त्तन की, 'दृश्य' को नकार जाने की है। मूर्त्तन अथवा सह-अनुभूति जैव और जागतिक वृत्ति है। वह कलाकार की जीवनेच्छा है। किन्तु अमूर्त्तन की वृत्ति जग-भीति जन्य है; कलाकार की मरणेच्छा है। आदिम मनुष्य अपने सामने की खुली विराट् प्रकृति की विस्मयजनक महा-लीलाओ से अभिभूत भी होता था और त्रस्त भी। उसे अपनी नगण्यता का बोध होता था। फलत: वह अपने भावन और आलेखन मे प्राकृतिक जगत् को झिटक देना चाहता था। कलाओं में जो अमूर्त्तन की वृत्ति है, उसके मूल में जागतिक प्रपंचों से, महाचेतना की अगम शक्तियो के पाश से छूट निकलने की आशा है, जो मरणेच्छा का ही प्रकाशन है।

प्रत्यय (कान्सेप्ट, आइडिया) एवं बिम्ब (इमेज)

कला को प्रतीति के सम्बन्ध ने हीगेल में मूर्त्त प्रत्यय (कंक्रीट कान्सेप्ट) का प्रथम बार अध्ययन किया था। उसने बताया है कि किसी भी प्रत्यय का इतना भ्रान्त विवेचन नही हुआ जितना स्वयं 'प्रत्यय (कान्सेप्ट)' का; क्योंकि प्रत्यय से साधारणत: तात्पर्य यह लिया जाता है कि वह अमूर्त्त है, पारमार्थिक और निश्चित है, अथवा स्वरूपाधान एवं बौधिक चिंतन में एकांगी है। ऐसे 'प्रत्यय' से स्वभावत: चिंतनात्मक व्यापार और सत्य का सर्वांग विचार अथवा मूर्त्त सौन्दर्य का पूर्ण भावन असभव है। हीगेल ने मूर्त्त प्रत्यय के क्षेत्र में कलाओं को सन्निविष्ट किया। कला, धर्म और दर्शन के त्रिक

आत्मा की मुक्ति के साधन हैं, जिनमें से कला तात्कालिक ऐन्द्रिय प्रतीति द्वारा, धर्म प्रातिनिधिक चैतन्य एवं पूजन द्वारा, एवं दर्शन पारमार्थिक और स्वतंत्र मनन द्वारा आत्ममुक्ति के द्वार खोलते है। सत्य प्रत्ययरूप प्रत्यय है (आइडिया ऐज आइडिया)। वह अपनी तथता मे, सार्वभौम सिद्धान्त रूप में ग्राह्य है। परन्तु प्रत्यय (आइडिया) को अभिव्यक्त भी होना पडता है। सौन्दर्य उसका ऐन्द्रिय रूप मे रूपायण है।[10] इस प्रकार अमूर्त्त और सूक्ष्म चिंतन-प्रक्रिया दर्शन की चिंतन-प्रक्रिया है। परन्तु 'दर्शन' को 'मूर्त्तता' से पल्ला छुड़ा लेना आसान नही प्रतीत हुआ है। बर्गसां ने 'शून्य' की प्रकल्पना को बिम्ब नही माना था, प्रत्यय माना था; परन्तु ऐसा प्रत्यय जो कल्पित नही हो सकता, जिसका अरूप भान भर हो सकता है। क्योंकि उसने प्रत्यय को भी जगत् को ठोस वस्तु की तरह, परन्तु कुछ हल्का और अरूप माना; बिम्ब-जैसा नहीं, किन्तु प्रतीक-जैसा।[11]

जगत् का बोध प्रधानतः भौतिक अथवा स्थूल रूप में और मानसिक अथवा सूक्ष्म रूप में होता है। भौतिक जगत् बाह्य संसार है. मानसिक जगत् आन्तरिक पारमार्थिक, सूत्रात्मक जगत् है। बाह्य जगत् जड़ प्रतीत होता है, अन्तस् की सत्ता अपेक्षया अधिक चेतन प्रतीत होती है। परन्तु सामान्यतः व्यक्ति बाह्य ठोस जगत् से ही प्रेरित, सवेदित और प्रवृत्त होता है और अन्तस् की सत्ता का भी चिंतन-भावन बाह्य की ठोस वस्तु-सत्ता के सहारे करता है। भौतिक जगत् उसे आछन्न किए है। फलतः उसकी समस्त अभिव्यक्तियों में भौतिक जगत् का ठोसपन रहता ही है। दार्शनिक भी अपने या अन्यों के दार्शनिक विचारों मे स्पष्टता, सरलता, प्रवाह के गुण देखना-दिखाना चाहते है, जो वस्तुओ के गुण हैं; भावों को अलंकृत करते हैं, तीक्ष्ण या पेय्य बनाते हैं, जैसे वे पदार्थ हो। मन को चचल 'तुरंग' मानते हैं, चित्त को 'निरुद्ध' करना चाहते हैं। भौतिक के सहारे ही अभौतिक या आध्यात्मिक की कल्पना करते और उसे समझते, रूप भी देते हैं। बहुधा दर्शन मे कठिनाई इसी भौतिकता के कारण आती है। जब भी चिंतक चिंतन करता हुआ अति-सूक्ष्मता के निकट पहुँच जाता है, तो अतीन्द्रिय वस्तुओं की कल्पना और चिंतना वह ऐन्द्रिय संकेतों के माध्यम से करने लग जाता है। मन मे उनके चित्रों-बिम्बों का निर्माण करने लगता है। बर्गसां के शब्दों में 'चेतना जितनी बौद्धिक होती चलेगी द्रव्य उतना ही देश घेरता जायगा।' सारे मानसिक बिम्ब-चित्रादि ऐन्द्रिय तत्त्वों की किसी न किसी प्रकार से निर्मितियाँ हैं।

दर्शन सत् का तद्वत्, उसकी तथता में ग्रहण है, अर्थात् विचार का विचार में स्वीकरण है; परन्तु कला उसका ऐन्द्रिय, रूपात्मक-भावात्मक ग्रहण है। अत: कला के लिए सब से बड़ा खतरा यही हो सकता है कि वह तर्कणा का मात्र माध्यम हो जाय और दर्शन की सब से अधिक हानि तब होगी जब वह 'कविता' द्वारा निर्देशित होने लगे। सौन्दर्य उद्देश्य हो, तो रूप, अत. कला का पथ वरेण्य है; पारमार्थिक सत्य लक्ष्य हो, तो विचार के सूक्ष्मतम संकेत-पथ का ही आश्रय स्वीकर्तव्य है।[१२] कला-काव्य बिम्बों के द्वारा संवेदनात्मक अनुभूति के प्रकाशन का ऐन्द्रिय माध्यम अपनाता है। प्रत्यय (आइडिया) कला और काव्य का आन्तरिक द्रव्य (कन्टेंट) है; उसका इन्द्रियबोधगम्य और कल्पनात्मक सरूपण ही रूप (फार्म) या बिम्ब है और दोनों अनुप्रविष्ट हो, एकमेक हो, तभी उनका समग्र और अन्वित प्रभाव पड़ेगा।[१३] मनोविज्ञान प्रत्यय और बिम्ब मे मानसिकता और ऐन्द्रियिकता का चित्तवृत्तिगत सूक्ष्म अन्तर ही स्वीकार करता है। जेयर्ड स्पोर्वस मूर की परिभाषा के अनुसार —

> प्रत्येक प्रत्यय (आइडिया) के केन्द्र में बिम्ब रहता है, एवं पार्श्ववर्ती सहचारी बिम्ब भी, जो नाभिबिम्ब को अर्थ देते हैं।'

इसलिए कहा गया है—

> बिम्ब एकमात्र विशिष्ट विषय (आब्जेक्ट) में प्रत्यय की पूर्ण उद्भावना है।[१४]

'पूर्ण उद्भावना' का अर्थ है बिम्ब के साथ। पिछले पृष्ठ ११५ पर यह स्पष्ट किया गया है कि 'प्रत्यय का मुँह बन्द नहीं रहता।' अब यदि 'बिम्ब' भी 'प्रत्यय' के नाभिकेन्द्र में विकसित होने वाली मानसिक सकल्पना है, तो उसे भी उत्तरोत्तर फैलने वाला मानना पड़ेगा।

एक ओर जहाँ अरस्तू और एक्विनास आदि अनेक मनीषियों ने बताया था कि 'बिम्ब निर्माण किए बिना चिंतन नहीं किया जा सकता'[१५] एवं विलहेल्म उंड (१८३२-१९२०) एडवर्ड ब्रेडफोर्ड टिचनर (१८६७-१९२७) आदि ने बिम्ब की सत्ता स्वीकार की है तो दूसरी ओर उजबर्ग सम्प्रदाय के अनेक मनोविज्ञानियों (कुल्पे, मार्बे, मेसर) तथा व्यवहारवादी वाटसन आदि ने उसकी सत्ता स्वीकार नहीं की है। फ्राँसीसी मनोविज्ञानी आल्फ्रेड बिने ने पहले तो उसे स्वीकार किया, परन्तु बाद मे चिंतन और बिम्ब में अविनाभाव के सिद्धान्त को त्याग दिया।[१६] अधिकांश व्यवहारवादी मनोविज्ञानी

संवेदन, प्रत्यक्ष, अन्तर्निरीक्षण को भी मान्यता नहीं देते; वे बाह्य आचार या व्यवहार को ही अर्थात् पदार्थ की गति को ही मान्यता देते हैं। बर्ट्रेंड रसेल ने स्पष्ट किया है कि विगत अनुभव के कारण एक इन्द्रिय के उद्दीप्त हो जाने पर दूसरी इन्द्रिय भी उद्दीप्त हो जा सकती है, जैसे —यदि पूर्वानुभव में चीख के साथ नेत्रग्राह्य दृश्य भी सामने आए हों, तो चीख सुन कर आँखों की पुतलियाँ भी फैल जा सकती हैं। दूसरी बात जो उन्होंने बतायी है, वह यह कि केवल मन ही सहचर दृश्य, बिम्बादि उद्‌भूत नहीं करता, इन्द्रियों और स्नायुओं एवं मांसपेशियों में भी सहचरण के नियम समान रूप से क्रियाशील प्रतीत होते हैं। इन सहचर संवेदनों के लिए भी पूर्वानुभव उसी प्रकार अनिवार्य है, जैसे मानसिक सहचारियों के उद्‌भव के लिए। उदाहरणस्वरूप, नाली का चित्र देखते ही (क) हमारे अक्षिपट पर नाली का बिम्ब बनेगा, (ख) स्नायुओं द्वारा मन नाली के चित्र को देखेगा और 'नाली' समझेगा, (ग) नाक में पूर्वानुभूत दुर्गन्ध का संवेदन होगा, (घ) मन में दुर्गन्ध का घ्राण-बिम्ब उभर आएगा, (ङ) नाक में सिकुड़न आएगी और वह सारे मुख पर फैल जायगी, (च) मन में अन्य (घृणा-संबंधी) सहचारी बिम्ब उभरेंगे, (छ) शरीर की अन्य इन्द्रियाँ भी यत्किंचित् संकोचादि की प्रतिक्रियाएँ करेंगी और स्नायुमंडल एवं शरीर में तज्जन्य प्रतिक्रिया होगी। इनमें '(क)' अक्षि-पट पर अंकित बिम्ब है, जो पूर्णतः बाह्य उद्दीपन का भौतिक और बाह्य चित्र है, मानसिक नहीं; '(ग)' संवेदन है और मानस बिम्ब से उसका संबंध है, पर वही बिम्ब नहीं है। '(ङ)' संवेदन के सहचारी संवेदन हैं और '(छ)' के समान हैं। शरीर की प्रतिक्रिया भी गति-बिम्ब हो सकती है, यदि पूर्वानुभूत गति के साथ वह सम्बन्धित हो। '(घ)' और '(च)' मानसबिम्ब हैं, जिनमें '(घ) मूल बिम्ब है, तथा '(च)' बिम्ब के सहचारी बिम्ब, जो फिर पूर्वानुभव पर आधारित है। यह तो स्पष्ट है कि 'बिम्ब' मानस-प्रक्रिया है और पूर्वानुभव (सेमन की शब्दावली में "नेमिक") पर अवलम्बित है, अतएव ऐन्द्रिय-संवेदन मात्र नहीं है। किन्तु ध्यातव्य है कि संवेदन भी मन से पूर्णतः असम्पृक्त नहीं रहते, वे भी मन से संचरित होते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'बिम्ब' पूर्वानुभव पर आश्रित प्रत्यक्ष एवं स्मृत विषयों का मन में स्फुट एवं ऐन्द्रिय उद्‌भव है। संवेदनों से उसका सम्बन्ध है, इन्द्रियों के उद्दीप्त हो जाने से भी वह सम्बन्धित है, परन्तु उनमें कार्य-कारण संबंध सदा नहीं रहता। यदि नाली का 'बिम्ब' उद्‌भूत हो, तो अस्पताल का

सहचर दृश्य भी बिम्बित हो सकता है, सड़ी लाश भी पूरी दुर्गन्ध के साथ बिम्बित हो सकती है, जिनसे सिद्ध होता है कि बिम्ब केवल संवेदनजन्य या इन्द्रियज नहीं है। परन्तु, बिम्ब प्रत्यक्षवत् होता है। स्मृति और कल्पना के बहुलांश 'बिम्ब' पर आधारित है। परन्तु कल्पना में सर्जन, नवनिर्मिति, या भावन पर बल है, पूर्वानुभव के यथावत् बिम्बन पर नहीं। पूर्वानुभूत विषयों का यथावश्यक अन्यथाकरण, तब नवीन परिप्रेक्ष्य में उनका अभिनव उपयोग अथवा, नवसृष्टि—यही कल्पना का सार है। नवसृष्टि विश्वसनीय लगे, इस हेतु उसे प्रत्यक्षवत् बिम्बित करना, सर्जन का एक पृथक् व्यापार है। तब फिर वह 'बिम्ब' है। अतएव बर्ट्रेण्ड रसेल ने ह्यूम के सिद्धान्त का अनुमोदन कर कहा है—कोई प्रत्यय (आइडिया) ऐसा नहीं जिसमें आनुषंगिक संस्कार (इम्प्रेसन) न हो, (छाप या बिम्ब, चिह्न न हो)।[१७] इस प्रकार बिम्ब की मूर द्वारा दी गयी उपरिवर्णित परिभाषा अभिप्रमाणित होती है। परन्तु, बिम्ब = प्रत्यक्ष अथवा बिम्ब = प्रतिकृति या छाप (इम्प्रेसन) ऐसा नहीं माना जा सकता। बिम्ब प्रत्यक्षवत् होता है, संस्कार या प्रतिछवि-जैसा है, पर कुछ अस्पष्ट भी है। उसमे मूर्त्तन के साथ अमूर्त्तन की विशेषता भी रहती है।

प्रत्यक्ष-बिम्ब, इन्द्रियाँ और संवेदन—

पिछले अध्याय-३ मे प्रत्यक्षीकरण का निरूपण किया जा चुका है। प्रत्यक्ष-ग्रहण मे इन्द्रियाँ माध्यम रहती हैं। संवेदन उद्भूत करने की क्षमता वैसे तो समस्त शरीरांग में है, परन्तु शरीरावयवो से जो संवेदन मस्तिष्क में पहुँचते हैं, जैसे मांसपेशियों, जोड़ों आदि से उद्भूत दर्द के संवेदन, वे जबतक विशिष्ट या तीव्र नहीं होते तबतक सामान्य स्थिति मे अनुभूत नहीं होते। इन से पृथक् विशिष्ट इन्द्रियाँ शरीर में हैं, जिनके संवेदन अधिकांशतः चेतन रूप मे मन मे पहुँचते हैं। इनसे प्राप्त संवेदनों के सहारे ही मन को जगत् की सूचनाएँ मिलती हैं। अतएव इन्द्रियों की क्षमता, पारस्परिक स्पर्धा, सहयोग और संख्या के कारण प्रत्यक्ष-बोध सीमित हैं; अतः सृष्टि में हो रहे अपार विद्युत्-परिवर्त्तनो और शक्तितरंगों के अगम आन्दोलनो, विघटनों का सर्वांशतः बोध इन्द्रियों को नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि जिन विषय-वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है, वे जटिल उद्दीपक-स्रोत हैं, एवं ऐसे परिवेशमंडल से घिरे हैं जिनके उद्दीपन-संस्थान पृथक् और गहन हैं। परन्तु, जब भी हम देखते हैं, तब कुछ चिह्न या

चेत्र ही देखते है, न कि प्रकाश-क्षेत्र; जब भी हम सुनते हैं, तब कुछ शब्द या ध्वनि-क्रम की लयात्मकता सुनते है, न कि अकेली ध्वनि या आकाशनाद। दूसरे शब्दों में जे० जे० गिब्सन का यह सिद्धान्त [१५] कुछ काम करता होता कि प्रत्येक दृश्य में दो तत्त्व रहते हैं, (१) दृश्य जगत् का फैलाव (विजुअल वर्ल्ड) और (२) दृश्य क्षेत्र की सीमा (विजुअल फील्ड)। गेस्टाल्ट मनोविज्ञानियों का पृष्ठाधार और आकार का सम्बन्ध स्मरणीय है, अर्थात् प्राथमिक प्रत्यक्ष पृष्ठाधार का, फिर उसमें उभरते हुए आकार का होता है।

तीसरी बात यह, कि प्रत्यक्ष-ग्रहण में गृहीता के पूर्वानुभवों का योग रहता है, क्योंकि पंचज्ञानेन्द्रियाँ एवं उनके कार्य अहंकार में अधिष्ठित है। पूर्वानुभव के योग के कारण प्रत्यक्ष में चेतन-अचेतन मानस के नाना सहचर बिम्ब, स्मृति बिम्बादि उभर जाते है। फलस्वरूप 'फूल' का प्रत्यक्ष एक के लिए विकसन-रूप, दूसरे के लिये पुष्प-रूप, तीसरे के लिए फूल-फल-रूप, चौथे के लिए सौन्दर्य-, कोमलता-रूप, पाँचवें के लिए फूल-काँटा-रूप, छठे के लिए प्रियतमा-प्रतीक-रूप, सातवें के लिए कामज बिम्ब-रूप आदि हो सकते हैं। अतः यद्यपि प्रत्यक्षीकृत विषय स्फुट रूप में रहता है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्यक्ष के विषय का ही बिम्ब गृहीता के चित्त में यथावत् उभर आएगा।

चौथी बात यह है कि बोध (अवेयरनेस), प्रत्यक्ष एवं सज्ञान (कौग्नीशन), संवेदन, राग, अनुभूति (सेन्सेशन, अफेक्शन, फीलिंग) और इच्छा क्रियादि (विलिंग, कॉनेशन) में इन्द्रियों के महत्त्व को गौण नहीं माना जा सकता। इन इन्द्रियों के सहारे ही वृत्तियों-प्रवृत्तियों आदि में चैतन्य होता है। फिर वह इन इन्द्रियों का अतिक्रमण भी करता है। कला-काव्य में तो वे अत्यधिक प्रबल रहती है, पंतजी के शब्दों में—

यह सौन्दर्य यज्ञ है
शांति ही होत्री है।
इन्द्रियाँ की
अमृत पान कर रही है।

कला यज्ञ
आत्मा
रूपहली लपटों का

—कला और बूढ़ा चाँद

अब इन्द्रिय-प्रणालिका के विकास का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए, ताकि बिम्ब-रचना मे इन्द्रियों के योगदान का निर्धारण किया जा सके। पिछले पृष्ठ ६५-६७ पर इन्द्रियों की प्रवृत्ति और कलास्वादन मे उनके महत्त्व का परिचय संकेत-रूप में दिया गया है। प्रत्यक्ष के समस्त

अनुभव काल और दिक् के चौखटे में अनुभूत होते हैं। अतएव काल और दिक् के प्रत्यक्ष-बोध से सम्बन्धित क्रमशः श्रवणेन्द्रिय और चक्षु महत्त्वपूर्ण इन्द्रियाँ हैं। प्राणी ने विकासशील जीवन की सुरक्षा के अनन्त प्रयोगों के उपरान्त प्रकाश और ध्वनि-तरगों एव वस्तुओं की रासायनिक गध प्राप्त करने की इन्द्रियाँ विकसित की, जिनके कारण प्राणी को सुदूर-व्यापी प्रभाव-कारी अभियोजन-क्षमता प्राप्त हुई। इन दो इन्द्रियों के साथ घ्राण भी इसी कारण महत्त्वपूर्ण है और तीनो सुदूर दिक् की ग्राहिका इन्द्रियाँ है। इनमें श्रवणेन्द्रिय और चक्षु जटिल अनुभव प्राप्त करने वाली तथा अन्यों के भी विषय-ग्रहण मे अन्तर्वर्ती और उपस्कारक इन्द्रियाँ हैं। इन दोनों मे मनुष्य अन्य जीवधारियो से आगे बढ़ आया है, जबकि अन्य इन्द्रियो मे पिछड गया है। इन दोनों की क्षमता बढाने मे मनुष्य ने अनेक वैज्ञानिक साधन भी जुटा लिए हैं। इनमें भी चक्षु अधिक शक्तिशाली इन्द्रिय है। श्रोत्र काल-स्थानीय इन्द्रिय है, जिसके माध्यम से क्रम, परिवर्त्तन और लय का अनुभव प्राप्त किया जाता है और सीमित परिमाण मे दिक्-स्थानीय विशेषताएँ भी।

दिक्स्थानीय इन्द्रिय चक्षु के विकास-क्रम में प्राणी को प्रकाश एव दृश्य-मडल के प्रति दीर्घकाल तक अनेक प्रकार की और असख्य प्रक्रियाएँ करनी पडी होंगी।[१९] सभवतः, वैसी प्रक्रियाएँ पहले प्राणी समस्त त्वगिन्द्रिय से करता होगा।[२०] निम्न प्राणियों की त्वचा पर चक्षुस्थानीय एक रग-जैसा चिह्न ही मिलता है। यह उसमें प्रकाश की प्रतिक्रियावश विकसित हुआ होगा।[२१] मछलियों एवं जलचर जीवो में प्रकाश-सवेदनीय त्वचा एव आँख दोनो हैं।[२२] विकास-प्रक्रिया मे चक्षु जैसे-जैसे मस्तिष्क एव तत्सबन्धी स्नायुओं के निकट आते गये, मस्तिष्क के निम्न और उच्च भागों के विकास के साथ-साथ चक्षु की क्रियाओं में भी नवीनता आती गयी—सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण एव सश्लेषण की क्षमता पैदा हुई। नाक के अगल- बगल दो नेत्रो के स्रोतो के खुलने से चक्षु मे दूरी और गहराई आदि को भी देख लेने की शक्ति आ गयी। यही नही, आँख इतनी सूक्ष्म और सशक्त इन्द्रिय हो गयी है कि प्रकाश-किरणो की संवेदनग्रहणक्षमता के लिए बनाये गए आजतक के किसी भी यत्र से बेहद अधिक ताकतवर है और सूक्ष्मग्राहिणी भी।[२३]

स्पर्श-संवेदन से सम्बन्धित इन्द्रिय त्वक् है। त्वचा सारे शरीर में है और वह वातावरणादि से रक्षा करने वाली भी है। यही नहीं, वह 'भौतिक

सुख' की जननी है—संभवतः आद्येन्द्रिय रूप भी है। त्वगिन्द्रिय का विशिष्ट विकास एवं केन्द्रण श्रवणेन्द्रिय में हुआ, वायु-तरंगों को ग्रहण करनेवाली स्पर्शेन्द्रिय ही श्रवणेन्द्रिय की आदिम रूप थी।[१४] इसी से प्रकाश-किरणों की प्रतिक्रिया में चक्षु का भी विकास हुआ है। अतएव त्वगिन्द्रिय-मूलभूत इन्द्रिय-जैसी है। तभी हल्के प्रकम्प का भान होते ही कुछ सुनाई-सा पड़ता है और सुनकर फिर उसे उधर देखने की इच्छा होती है जिधर से स्पन्द सुनाई पड़ा था। स्पर्श नैकट्य का ही संवेदक है, घ्राण कुछ दूर का, श्रवणेन्द्रिय उससे भी दूर का और नेत्र दूर-दूर तक का अवगाहक है। गति-संवेदन से सम्बन्धित इन्द्रिय श्रवणेन्द्रिय से ही लगी हुई है, और शरीर को नाना क्रियाओं का बोध देती, उसे संतुलित रखती और कार्य-व्यापार के लिए मांसपेशियों, पुट्ठों, अंगों आदि को तत्पर करती है। इनके अतिरिक्त आभ्यन्तर संवेदनों के ग्रहणादि और शरीर-स्वास्थ्य, प्रसन्नता आदि की सूचना के लिए भी इन्द्रिय-संस्थान में व्यवस्थाएँ हैं।

इन्द्रियाँ उनके उद्दीपक, विषय और संवेदन की सारणी[१५] इस प्रकार होगी—

	इन्द्रियाँ	उद्दीपक		संवेदन
बाह्यादातृक सम्पर्कगत	चर्म	रासायनिक, भौतिक, यांत्रिक	स्पर्श, दर्द, उष्ण, तीक्ष्ण	स्पर्शादि का संवेदनात्मक अनुभव
बाह्यादातृक दूरीगत	चक्षु	प्रकाश-तरंग	प्रकाश, वर्ण, रूप, दूरी	दृष्टि
	श्रोत्र	वायु प्रकम्प	स्वरकोटि, गुरुत्व, नाद, तीव्रता, दिशा	श्रोत्र
आन्तरादातृक	जिह्वा	रासायनिक तरल पदार्थ	अम्ल, मिष्ट, तिक्त, लवण, कषाय	रसना
बाह्यादातृक	नाक	वाष्पमय रासायनिक द्रव्य	अनेक	घ्राण

यद्यपि जैविक आवश्यकता के अनुसार इन्द्रियों का अधिमान-क्रम होगा—जिह्वा, घ्राण, त्वचादि ; तथापि महत्त्व और बौद्धिक आवश्यकता

के अनुसार क्रम होगा—चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, त्वचादि। मार्के की बात, यह भी है कि यद्यपि इन्द्रियाँ पाँच है, तथापि संवेदनाएँ अनेक हैं—बीस से भी अधिक; मिश्र रूप होने पर अनन्त भी।[२६] अतएव कुछ शरीर-शास्त्रियो ने संवेदनो के अनुसार इन्द्रियों की संख्या भी पाँच से अधिक मानी है। अंतिम बात यह, कि ऊपर के वर्गीकरण मे गति-संतुलन-चालन संवेदन आदि से सम्बन्धित आभ्यन्तर इन्द्रियों का उल्लेख नही किया गया है।

चक्षुरिन्द्रिय के उपरिवर्णित विकास-क्रम से यह संकेत मिल जाता है कि 'दर्शन' का नाम 'दर्शन' क्यो पड़ा, 'प्रत्यक्ष' क्यो 'प्रत्यक्ष' कहलाता है, नेत्रो के विषयों का ही सबसे अधिक 'आनन्दप्रद' क्यों होता है, आदि यह भी समझने की दिशा मिल जाती है कि अंधों मे क्षतिपूर्ति-रूप मे सामान्यतः त्वगिन्द्रिय या श्रवणेन्द्रिय का ही विकास क्यों होता है। सबसे बड़ी बात यह कि काव्य में दृश्य-बिम्बों की प्रचुरता का रहस्य भी खुलने लगता है। सूक्ष्म बिम्ब किस प्रकार क्रमशः स्थूल बिम्ब, स्थूलतर चित्र, स्थूलतम मूर्त्ति में निबंधित हो परम्परित शिल्पविधान मे जमता जाता है, तथा साक्षात् दृश्यवत् बिम्बन-पद्धति क्योंकि धीरे-धीरे ठोस, स्पर्श बिम्बन-पद्धति से जुड़ती जाती है (अट पिक्तुरा पोएसिस या पोयट्री इज फ्रोज़न म्यूज़िक आदि धारणाएँ) जिसका संकेत मि० मरी आदि ने किया है,[२७] इन सबका कारण भी चक्षु और त्वचा के ऊपर बताए गए सम्बन्ध मे मिल जाता है।

चक्षु और श्रवण-प्रत्यक्ष तथा काव्यकला मे दिक्काल-निरूपण

चक्षु दिक् में स्वतः फैल जाने वाली और श्रवणेन्द्रिय काल मे उन्मिषत लय, ध्वनि, शब्दादि प्राप्त करनेवाली इन्द्रिय है। काव्य-कलादि इन दोनों को ही विविध रूपों-झंकृतियो के द्वारा सम्बोधित होती है। दिक् और काल के निबंधन और रूपायण के संबध मे निम्न बाते मार्के की है—

(क) दिक् का प्रत्यक्ष जटिल प्रत्यक्ष है। वस्तु-जगत् में पदार्थ ऊपर-नीचे, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण के तीन आयामों मे प्रसरित दिखाई पड़ते हैं। नेत्र-द्वय एवं अन्य इन्द्रियों की अन्तरावलम्बित प्रक्रिया से पदार्थो के इन तीन आयामों और नेत्रों की सहायता से पदार्थो की पारस्परिक दूरी गहराई, घनत्व एवं अन्य सम्बन्धों आदि के बोध होते हैं। दिक्-प्रत्यक्ष मे इन्द्रियबोध के अतिरिक्त शरीर के संतुलन-बोध का, और मांसपेशियो, पुट्ठों, अंगों की मुद्रा तथा गति-आदि के बोध का भी योग रहता है। दिक्

प्रत्यक्ष के आयाम और बाह्य जगत की ज्यामिति में सादृश्य का अपबोध हो, तो दिक्-प्रत्यक्ष में भ्रान्तियाँ भी होती हैं—जैसे तारों को समान दूरी पर स्थित मानने का भ्रम ।

भारतीय दर्शन में सांख्य-योग, वेदान्त तथा महायान बौद्ध-दर्शन के कुछ सम्प्रदायों में दिक्-प्रत्यक्ष मानस-उद्भावना या बुद्धि की कल्पना मात्र माना गया है। न्याय, वैशेषिक मे दिक् को एक और नित्य बताया जाता है, परन्तु इसका प्रत्यक्ष नहीं होता । मीमांसा-दर्शन भी इसे स्वीकार करता है।[२८] दिक् आकाश-प्रस्फुटन है, विकार है। वह अवकाश को सूचित करता है। दिक् स्थिति है और उस स्थिति के पृष्ठाधार में सतत विद्यमान आक्षितिज और उससे भी परे अनन्त आकाश है।[२९] दार्शनिकों का कथन है कि दिक् का ऐसा प्रत्यक्ष साधना से ही संभव होता है।

(ख) काल अन्य प्रत्यक्षों के आधार-रूप में वर्त्तमान अवश्य रहता है, पर कभी-कभी उसका पृथक् प्रत्यक्ष भी होता है।

वर्त्तमान काल का ज्ञान इन्द्रिय-विशेष से नही होता, अपितु इन्द्रिय-विशेष के विषय के साथ वर्त्तमानकालिकता का ज्ञान विशेषण रूप मे होता है। दर्शन मे—विशेषत: सांख्य और वेदान्त में—काल की वास्तविक सत्ता नही मानी गयी है, बताया गया है कि काल बुद्धि की उपज है।[३०]

भौतिक काल 'काल' का देशगत रूप है। वह देश का चौथा आयाम है। वह पल, मिनट, घंटा, दिन, सप्ताह, महीना, वर्ष, संवत्सरादि मे परिमित और स्थानीकृत है, जिसमें घटनाओं का उदय-अस्त होता रहता है। इस कारण वैशेषिक् सूत्र मे दिक् और काल द्रव्य माने गए हैं। आइनस्टाइन ने 'दिक्काल सातत्य' को वैज्ञानिक विधि से प्रमाणित किया है। 'जनन्या जनक: काल.'—यह काल की शक्ति की भी परिभाषा है। सामान्यत: दर्शन में काल अनन्त, सर्वव्यापी शक्ति माना गया है। शक्ति 'गति'-रूप में काल है, स्थिति-रूप में दिक्।[३१] इसका प्रत्यक्ष आत्मविज्ञानी करता है।

मनोवैज्ञानिक काल :—कुछ स्थितियों में भौतिक काल तीव्रगामी लगता है, जैसे सुखद लीनता मे। कुछ स्थितियों में वह अव्यय-सा भारी, काटे-न-कटे जैसा ठहरा हुआ प्रतीत होता है। जगत् की घड़ी उस समय सुस्त चलती मालूम होती है। काल की भौतिक सत्ता का विलयन किसी मनोरम

गीत, प्रेम-प्रसंग या सुखद भावनात्मक स्थिति की लीयमानता में होता है। उस समय काल के अन्य पाश छूट-से जाते हैं, हम निरवधि, अनन्त-सा हो उठते हैं। जब तक वह गीत, वह प्रेमप्रवाह, काव्य-कलास्वादन की वह आह्लादक भावधारा चलती रहती है, तब तक हम 'वर्त्तमान' की पीठ पर सवार, उसके उठे हुए दोनों अगले पाँवों को रास खीचे हुए-से, निरुद्ध किए ऊर्जस्वित रहते हैं।[३१] काल का घोड़ा 'वर्त्तमान' को 'भूत' बनाता बढ़ता जाता है, पर हम जैसे उसके टमटम पर उल्टी मुँह बैठे 'वर्त्तमानता' के नजारे मे ही रहते हैं। 'वर्त्तमानता' का ऐसा प्रत्यक्ष कुछ क्षण टिक-सा जाता है और अनागत में अनुप्रविष्ट-सा भी हो चलता है: उसके प्राथमिक स्मृति-बिम्ब (प्राइमरी मेमरी इमेज) चेतना मे कुछ देर तक रुक कर तब विलीन होते हैं। 'वर्त्तमानता' मनोविज्ञान में व्यक्ति-सम्बद्ध, सतत गतिशील प्रक्रिया या प्रवाह है, और 'वर्त्तमान' उसका वह चेतन खण्ड है जो तत्क्षण व्यक्ति को क्रियानिष्ठ करता है।

'वर्त्तमानता' की प्रतीति—'वर्त्तमानता' वर्त्तमान होता चले, इस हेतु आवश्यक है कि अनुभव प्रतिक्षण रोचक, मनोहारी और सबसे जरूरी, नवीन हों, ताकि पूर्वक्षण के अनुभव के प्रवाह में वे प्रवाहित रहें और सम्पूर्ण अनुभव के संश्लिष्ट प्रभाव से शाश्वत 'वर्त्तमानता' की प्रतीति करा सकें।

भूतकाल का काव्यादि में 'वर्त्तमान'-सा चित्रण-भावन होता है। भारतीय चिन्तना में इस ऐतिहासिक वर्त्तमानकालिकता का, जो अनुभूयमान काव्य मे भूत का तत्कालीन वर्त्तमानवत् प्रत्यक्ष कराती है, आख्यान किया गया है। वार्तिक पर पतंजलि ने भाष्य करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि भूतकाल की घटनाओ के लिए 'वर्त्तमान काल' का प्रयोग क्यों शुद्ध है? 'कंसं घातयति' क्यों? इसका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया है—

"इह तु कथं वर्त्तमानकालिकता कंसं घातयति, बलिं बन्धयतीति चिरहते कंसे चिर बद्धे च बलौ अत्रापि युक्त'।
कथम्।
ये तावदेते शोभनिका नाम, एते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं बलिं बन्धयन्तीति।
चित्रेष्वपि उद्गुर्णा विपतिताश्च प्रहारा दृष्यन्ते कंसं कर्षण्यश्च—महाभाष्य ३।१।२६ वार्त्तिक

काल-सातत्य—आइन्सटाइन के 'दिक्कालसातत्य' सिद्धान्त से भी एक दूसरे प्रकार की वर्त्तमानता की अवधारणा आई है। समस्त पदार्थ को इससे चौथा आयाम प्राप्त हुआ है तथा सारी क्रियाएँ घटनाएँ, वस्तुएँ, सापेक्षिक हो गई हैं। काव्यादि पर इसका प्रभाव पड़ा है (द्रष्टव्य पृष्ठ—४०८)।

प्लैटो ने अपरिवर्तनशील शाश्वत तत्त्व का उल्लेख काल-प्रवाह के रूप में किया था[३३]। उसका मनोविश्लेषण की ओर से आख्यान फ्रायड ने किया है—

> तर्क के नियम, और उस पर भी विलोम भाव, 'इड' की प्रक्रिया के लिए उपयोगी तत्त्व नहीं। उसमें एक-दूसरे के विरोधी मनोवेग साथ-साथ टिके हैं और परस्पर नकारते नहीं, न आसक्त ही होते हैं। 'इड' में 'नकार' से तुलनीय कोई तत्त्व ही नहीं, और न दिक्काल तत्त्व है। 'इड' 'काल-भावना' जैसे किसी भी तत्त्व से निरपेक्ष है, काल-प्रवाह के बोध से असम्पृक्त है, और मार्के की बात एवं चिन्तन के लिये विशेष रूप में महत्त्वपूर्ण यह, कि कालधारा के कारण उसकी मानस-प्रक्रिया में कोई परिवर्तन नहीं होता। अनेक प्रवृत्यात्मक मनोवेग जो 'इड' से उत्तीर्ण नहीं हो सके हैं एवं प्रभाव जो दमनादिवश 'इड' में निपतित कर दिये गये हैं, वे वस्तुतः अमर हैं और दशाब्दियों तक ऐसे सुरक्षित रखे रहते हैं कि जैसे अभी के ताजे हों।......इससे लगता है कि सचमुच में किसी गंभीर सत्य के उद्‌घाटन का संधान मिल रहा हो, परन्तु मैं स्वयं इस दिशा में और प्रगति नहीं कर सका हूँ।[३४]

काल का सातत्य भारतीय चिन्तन में जिस प्रकार प्रकल्पित है, उसे आधुनिक विज्ञान एवं मनोविश्लेषण ने नया आयाम दिया है।

काल में दिक् का उदय :—काल की वर्त्तमानकालिकता और और अबाध अगम प्रवाह की प्रतीति तो क्षण भर को किसी प्रातिभ मानस को ही संभव है। काल की संरूपित, स्फटित ऊर्म्मि के प्रवाह का प्रत्यक्ष सामान्यतः अधिक होता है। काल में कुछ-न-कुछ घटित होकर उसे ऊर्म्मित करते रहते हैं और उनके पुंज काल को रूप या रूप-संस्थान (दिक्) देते हैं। दो ध्वनियों, जैसे 'प' और 'ट' के बीच अगर कम-से-कम १/२० सेकेंड का अन्तर होगा, तो वे दो यानी 'प' 'ट' ध्वनि-रूप में सुनी जा सकेंगी। यह अन्तर कम होगा, तो ध्वनि-सातत्य चल पड़ेगा। ऐसा भी हो सकता है कि दोनों पूर्णतः एक हो उठें। अन्तर बढ़ जायगा, तो अन्तराल भी प्रत्यक्षीकृत (श्रुत) होने लगेगा।

अन्तराल का भी काल-प्रत्यक्ष में महत्त्व है। कभी अन्तराल ही प्रधान हो श्रुत हो उठता है; यथा—निराला, जानकी बल्लभ शास्त्री, शमशेर बहादुर सिंह, मुक्तिबोध, श्रीकान्त वर्मा आदि की कविताओं में वाक्यों के अंतिम अंश के अध्याहार, अंत्यानुप्रास, विभक्तियाँ, सम्बन्धसूचकादि एवं अवान्तर गूंज आदि। कुछ स्थलों में बौद्धिक अथवा वैज्ञानिक विचारादि से अथवा

शास्त्रीय एवं विभाषीय शब्द-प्रयोग से भी अन्तराल उत्पन्न होता है। अन्तराल से मनोवैज्ञानिक दूरी का वातावरण बनता है और आस्वादक को अर्थासंगों की उद्बुद्धि का अवसर मिलता है (द्रष्टव्य पृष्ठ-४२७)। यथा—

मौन रही हार	—झु दूर।
प्रिय पथ पर चलती	उठाओ
सब कहते शृंगार।	निज वक्ष
—निराला	और—कस—उभर। —शमशेर बहादुर सिंह

दिक्कृत काल की ऊर्म्मि : लय और उसका संरूपण—लय का संवेग अथवा भाव से क्या सम्बन्ध है यह पिछले पृष्ठ १५२-१५७ पर तथा ३१०-३२३ पर वर्णित है। लय काल का ही संरूपित प्रवाह है, जिसमें क्रमिक आरोह-अवरोह की गति, तारता-मन्दता के कम्पन, गति-यति की इकाइयाँ रहती हैं। ये इकाइयाँ दृश्य प्रत्यक्ष के नियमों, यथा—समता, सामीप्य, अविच्छिन्नता, समगतित्व, परिपूर्णता, सुघड़ता-सौष्ठवादि के अनुरूप श्रुत होकर संपुंजित होती हैं। ऐसी पुंज की पुंज इकाइयाँ आकारीकृत रूप में उभरती हुई, या भिन्न-भिन्न मिश्र-जटिल रूपों में सरूपित होती हुई, क्रमबद्ध हो प्रवाहित होती हैं, तो मन को कालप्रवाह का तदाकार प्रत्यक्ष होता है। यही लयात्मक प्रतीति है। लय का बोध केवल श्रवणेंद्रिय को ही नहीं होता, यद्यपि है यह उसका विशिष्ट माध्यम; वह अन्य इन्द्रियों के द्वारा भी गृहीत होती है। यथा—वृक्ष, भवनादि एवं रिक्त मैदानों की लय और छायातप, तरंगों, नृत्य-भंगिमाओं की लय दृश्य हैं; कुछ खुरदरी वस्तुओं के छूने से स्पृश्य लय का संवेदन प्राप्त होता है। पुनः दृश्य-काव्य एवं श्रव्य-काव्य में पात्रों और घटनाओं के मूल में रहनेवाली भावानुभूति के उत्थान-पतन की लय हमारे मानस को स्पर्श करती है। फिर समस्त शरीर में व्याप्त एवं ब्रह्माण्ड से अनुक्षण प्रवाहित होने वाली उस जैविक एवं ब्रह्माण्डीय लय-धारा का भी अनायास आभास हम में सदैव होता रहता है जिससे समस्त प्राणि-जगत् स्पन्दित है।

कवितादि में सुखद लय वही होगी जिसमें गति-यति, आरोह-अवरोह, द्रुत न हों और न श्लथ ही हों। प्रति सेकेंड २/३ से ८ तक के परिमाण में यह संभव हैं। मनोहर लय में सामान्यतः प्रति मिनट ७० से ८० प्रकम्प अथवा १·२ से १·५ प्रकम्प प्रति सेकेंड रहते हैं। कहा जाता है कि इसका सम्बन्ध हृदय के स्पन्दन और नाड़ियों की गति अर्थात् जैविक लय-धारा से है।[१५] एक अन्य विद्वान् की धारणा है कि कविता आदि की लय-सुखदता

का सम्बन्ध कविता की भावधारा की लय से है। पर इस भावधारा की गति तथा ग्रह-समुद्रादि की गति में और शरीर के अंग-संचालन, कदम उठाने-गिराने की, रक्त प्रवाह, श्वसन, पाचनादि क्रियाओं आदि की गति में जो सामंजस्य होता है वही लय का माधुर्य है।[३६] इन सबसे भिन्न स्थापना इ० स्वीटलैंड क्लास की है, जिन्होंने कविता में १. शब्दगत और २. अन्तवर्ती अर्थगत लय के दो पटल माने हैं।[३७]

संगीत, नृत्य, कविता में काल का दिग्गत लय में विविध संरूपण होता है। श्रुतलयों की तुलना में दृश्यलयों को उद्भूत करनेवाली कला का विकास कम हुआ है; संभव भी नहीं है; क्योंकि दृश्यलय के प्रस्तुतीकरण में प्राविधिक कठिनाई है। चक्षु के माध्यम से इन्द्रियों का अन्तरावलम्बन-व्यापार श्रवणेन्द्रिय से भिन्न होता है और दृश्य की लयात्मक अनुभूति में उसका योगदान भी उस प्रकार का नहीं होता जैसा और जितना श्रुति के माध्यम से प्राप्त संवेदनों द्वारा अनुभूतियों में होता है। लयान्तरण मूलतः नाद पर आश्रित है, जो कान एवं शरीरी गति-सम्बन्धी इन्द्रियों का विषय है। ये इन्द्रियाँ पृष्ठाधार के सातत्य पर उभरने वाले स्फटनों का प्रत्यक्ष करती हैं। दृश्यवस्तु उतनी सूक्ष्म और प्रवाहमयी हो नहीं सकतीं। वे ठोस और सतत विद्यमान-जैसी हैं। उनमें ध्वनि-जैसी अस्फुट, स्फुट, प्रस्फुट की एवं अधिस्वर, अनुस्वरादि की तारतम्य-क्षमता नहीं होती। फलतः वे नाद की भाँति एक-दूसरी से घुलमिल भी नहीं सकतीं। दृश्य द्रष्टा के वश में है, ध्वनि स्वतः हावी होती है। नेत्र तेजरूप है, श्रवण आकाशरूप है। तैजस् के कारण जो रूप उद्भूत होता है, उसमें परिमिति भी अधिक होती है और रश्मि भी। आकाशीय विशेषता के कारण श्रवणेन्द्रिय को जो नादादि प्राप्त होते हैं उनमें व्याप्ति—उद्भव-विलय के गुण हैं, प्रसरणशीलता है। आंतरेन्द्रिय से प्राप्त गति-सम्बन्धी प्रत्यक्ष भी श्रवणेन्द्रिय के लक्षणादि से—गतिक्रम, उद्भव-विलय-क्षमता, प्रसरणशीलता आदि से—युक्त होते हैं।

संगीत और कविता काल-प्रवाह में दिक्-तत्त्व का, अगाध एवं निस्तरंग जल-प्रवाह में उभरने वाले बुलबुलों अथवा लघूर्मियों से लेकर उद्वेलनों तक का प्रस्फुटन प्रस्तुत करती हैं। उससे ऐसी धारणा बन सकती है कि कविता काल में दिक् का संरूपण है; यानी वह मूर्त्तन-व्यापार है। है वह सामान्यतः मूर्त्तन-व्यापार; पर साथ ही उसकी प्रक्रिया अमूर्त्तन की भी है। दिक्तत्त्व का विन्यास बाह्य स्वीकारात्मकता की अपेक्षा रखता है। कालतत्त्व का विन्यास

आन्तस् प्रेरणा की और बाह्य विखडन की। सामान्यतः आभिजात्यवादी, धार्मिक और आदर्शवादी कविता में दिक्तत्त्व का विन्यास होगा, मूर्त्तन होगा; क्योंकि वह काल के स्थित्यात्मक, अतः दिक्कृत रूप का, ऋत का सरक्षक है। उसी भाँति स्वच्छन्दतावादी रोमांटिक काव्य मे साधारणतः कालतत्त्व पर बल दिया जाता हैं; अमूर्त्तन की क्रिया उसमे अपेक्षया सशक्त होती है; वह दिक् के ठोस, रूढ़, सीमाबद्ध रूप का परिशोधक और काल के गत्यात्मक प्रवाह का उद्‌घाटक है। अपने शुद्ध, अथवा आस्वाद रूप में काव्य दिक्काल को अतिक्रान्त करता या स्वस्तिक-रूप देता है (द्रष्टव्य पृष्ठ-७१ एव २४५)।

इन्द्रियों में परस्परस्पर्धिता और तनाव :

कविता के ग्रहण में मन पर सकल इन्द्रियाँ समवेत प्रभाव प्रस्तुत करती हैं। फिर भी जैसा कि पृष्ठ ६५ एव २२० पर बताया गया है, उनमें से चक्षु और श्रवणेन्द्रियों का ही महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। इन दोनों में भी चक्षु की विजय का ही इतिहास कुछ प्रशस्त है। श्रवणेन्द्रिय सूक्ष्म और अन्तरंग भावन की अपेक्षा करती है।

पाश्चात्य अनेक दार्शनिकों ने चक्षु को ज्योति-स्वरूप तथा कला के मूर्त्त-पक्ष का गृहीता माना है। प्लैटो ने 'फिलेबस एव हिपियस मेयोर' में सौन्दर्य को नेत्र एवं श्रवणेन्द्रियों के द्वारा गृहीत माना है, क्योंकि ये इन्द्रियाँ उन्नत एवं बौद्धिक हैं तथा इनके ही माध्यम से सरूपता की धारणा बनती और सूक्ष्म एवं आध्यात्मिक रूप (फार्म) का भावन होता है। प्लॉटिनस ने तो स्पष्ट कहा है कि—सौन्दर्य मुख्यतः नेत्र को सबोधित है। 'एन्नीड' मे उसने बताया है कि आँख कदापि सूर्य को नही देख सकती, जबतक वह स्वयं सूर्यवत् न होगी। एक्विनास ने चक्षु और श्रोत्र को अधिकतम सवेदनक्षम (सेन्सस मेक्सिमे कागनोसीतिवी) बताया है। एडिसन के अनुसार 'कवि मूलतः आँख के लिए लिखता है। [१८]

इनके विपरीत अरस्तू ने चक्षु के स्थान पर श्रवणेन्द्रिय को महत्त्व दिया था। उनकी दृष्टि से संगीत नैतिक चरित्र का अभिव्यक्त बिम्ब है। मीठी लय शाब्दगुणों के अतिरिक्त नैतिक गुणो से भी युक्त रहते हैं। [१९] अरस्तू ने नैतिक गुणधर्मों के रूप और रग को, उनके संकेतों को ही नेत्रग्राह्य माना। अतः नेत्र-निर्भर कलाएँ मात्र बाह्य रूप-रंग तक रह जाती हैं; पर श्रवणेन्द्रिय सवेद्य कलाएँ मनके समक्ष नैतिक गुणों को सीधे उपस्थित कर देती हैं। अर्थात्

चक्षु-सवेद्य कलाएँ विश्रान्ति-प्रधान हैं; श्रवणेन्द्रिय-संवेद्य कलाएँ गति-प्रधान। काव्य प्रतीकों के माध्यम से रूप और अरूप, विश्रान्ति और गति का भावन कराता है। अरस्तू की विवेचना में काव्य, संगीत और नृत्य मे शाब्दलय, नादलय और आंगिक लय के लयाश्रित त्रिक संस्थान हैं और क्योंकि काव्य मानव-जीवन के चिरन्तन सामान्य तत्त्व की अभिव्यक्ति है, अतएव आनुकरणिक रूपायण की श्रेष्ठ विधा है।[४०]

काव्य-कलादि की प्रतीति में कौन-सी इन्द्रिय प्रधान माध्यम है, इस सम्बन्ध मे अनेक प्रवाद भी हैं। होम[४१] चक्षु को प्रधान और श्रवणेन्द्रिय को उसके बाद महत्त्वपूर्ण बताकर अन्यों को गौण, शरीरी और स्थूल गृहीता मानता है। इन पिछली इन्द्रियों में आध्यात्मिक सूक्ष्मता के ग्रहण की क्षमता नही है। लेसिंग की गति-बिम्बात्मक नाट्यकला की श्रेष्ठता के सिद्धान्त का तीव्र प्रत्याख्यान कर जर्मनी के विचारक जे० जी० हर्डर ने त्वचा की महत्ता का निर्वचन किया था। उन्होंने बताया था कि स्पार्श कलाओं में त्वचा की प्रधानता स्वयसिद्ध है। उसे स्थूल और भोड़ी मानना भ्रान्ति है। धरातल और वस्तु के बीच जो सम्बन्ध है, वही चक्षु और त्वचा के बीच है। धरातल का प्रत्यक्ष नेत्रों से होता है, त्वगिन्द्रिय से नहीं; पर वस्तु का प्रत्यक्ष त्वगिन्द्रिय करती है। यह मानना गलत है कि हम आँख से देखते हैं; वास्तविक बात यह है कि त्वचा द्वारा शैशव से ही गृहीत स्पर्शसवेदनों के सस्कारवश ही आँखें वह प्राप्त करती हैं, जिसे व्यक्ति 'आँख से देखना' मानता है। रूपगत प्रत्येक सुन्दर वस्तु अपने स्वरूप में मात्र दृश्य नही, स्पृश्य भी है। इस कारण कलाओं में श्रवणेन्द्रिय, नेत्र, त्वचा के विशिष्ट वर्ग उनमे से एक-एक की प्रधानतावश है, संगीत प्रधानतः श्रवणेन्द्रिय पर, चित्रादि नेत्र पर, तक्षण-मूर्त्ति आदि त्वचा पर आश्रित हैं। काव्य किसी एक विशिष्ट इन्द्रिय पर आधारित नही है। वह आत्मा की स्वतः स्फूर्त्त ऊर्जा है...रूप ग्रहण करने की अदम्य वृत्ति है, सिसृक्षा है। वह आत्मा की सांगीतिकता की शब्दमूर्त्ति है।[४२]

हीगेल ने इन्द्रियो के इस त्रिक-संस्थान का प्रतिवाद किया और इन्द्रिय-द्वयता की प्राचीन मान्यता का पुनराख्यान कर बताया कि कला की ऐन्द्रिय प्रतीति मूलतः आँख और कान के द्वारा ही गृहीत होती है। घ्राण मे भौतिक रासायनिकता का, स्वाद में भौतिक वस्तुओ की घुलनशील द्रव्यता का, एव त्वचा में ठोसपन, भारीपन, शैत्य, उष्णता आदि भौतिक तत्त्वों का ऐसा

गाढ़ा और अविच्छेद्य सम्बन्ध रहता है, कि कला-प्रतीति से उन्हें वर्जित ही मानना पड़ेगा।

इलीयरसेखर ने हीगेल के सिद्धान्त में तार्किक विश्लेषण का अभाव पाया है और बताया है कि चक्षु और श्रोत्रेन्द्रिय की श्रेष्ठता इसलिए है कि वे अन्यों की अपेक्षा स्वतंत्र, स्वच्छन्द भी हैं और उद्भाविकाएँ भी हैं; संवेदनों के अभाव में भी प्रतीतियाँ उपलब्ध कर-करा सकती हैं। कोसनिन ने भी इन्द्रियों के तारतम्य पर अपने विचार लगभग इसी प्रकार दिये हैं। ग्रांट एलेन ने अपनी पुस्तक 'फिजियॉलाजिकल एस्थेटिक्स' में संवेदनावादियों की नाना मान्यताओं की चर्चा की है। कौलिक के विद्वत्तापूर्ण कलाविभाजन के इन्द्रिय-भेदक सिद्धान्त, जिसकी खिल्ली ताल्सताय ने उड़ाई है[४३] इन्द्रिय-तारतम्य को स्वीकार करते हैं। इनके जवाब में 'हिपियस मेयोर' में पहले ही एक गंभीर बात कह दी गई थी, वह यह कि नेत्र आकार, रूप, मूर्त्ति, चित्रादि के प्रत्यक्ष के द्वार हैं, तथा श्रवणेन्द्रिय नाद, संगीत, ध्वनि, गीत, वक्तृता, वार्तादि के प्रत्यक्ष के माध्यम; परन्तु 'सौन्दर्य' की प्रतीति मात्र आँख और कान से बँधी नहीं है; वह उनका, एवं अन्य ऐन्द्रिय संवेदनों के संस्कारों का समवाय है और उससे भी उत्तीर्ण है। सन्तायन के अनुसार

> 'सौन्दर्य' समन्विति ले आता है और विषम ऐन्द्रिय प्रतीतियों को एक सामंजस्यपूर्ण बिम्ब में इस प्रकार सम्मूर्त्तित कर देता है कि उससे प्रशान्ति आती है। समन्विति में स्वीकृति भी है, अस्वीकृति भी। स्वीकारपूर्वक सामंजस्य में (यूनिटी बाइ इन्क्लूजन) अन्वित सौन्दर्य विराजता है, अस्वीकृति-पूर्वक प्राप्त सामंजस्य में, अथवा कहें, विरोध और वर्जन-द्वारा प्राप्त सन्तुलन में विराट् विभूति (सब्लाइम) का संदर्शन होता है। .. महान् कला हमें इस प्रकार भावित कर जाती है कि उसके जाल जो हमें फाँस लेते हैं, चाहे जितने भी जटिल हों, हैं वे मुक्त भी करनेवाले, प्रशान्त विश्रान्ति भी देने वाले।[४४]

रिचर्ड्स के सामंजस्य सिद्धान्त में भी स्वीकृति और अस्वीकृति, समन्वय और वर्जन के तत्त्व हैं[४५]। फिर भी वे 'विश्रान्ति' (बैलेंस) को पूर्णतः स्वीकृति-मूलक मनोदशा मानते हैं।

काव्यादि के ग्रहण-काल में प्रायः साथ-साथ तीन ऐन्द्रिय प्रक्रियाएँ मनोदैहिक संस्थान में प्रधान रूप से होती हैं—

१—निश्चेत्यता (एनसथेसिया)—अनेक बोध-वृत्तियाँ कुछ तन्द्रिल, कुछ संज्ञाशून्य-सी हो उठती हैं : बुद्धि, विवेक और विवेचना की प्रवृत्ति कुछ धुंधली-सी हो जाती है;

२—अतिचेत्यता (हाइपरएस्थेसिया)—भावोद्रेकवश कुछ वृत्तियाँ आपन्न और इन्द्रियादि तीव्रगामी हो उठती हैं, फलतः गृहीता भावना-सचारवश कुछ अधिक संवेदनशील, तीक्ष्ण-प्रक्रिया-क्षम हो जाता है, और

३—संचेत्यता—(सिनसथेसिया)—ऐन्द्रिय संवेदनोंमें सघन एककेन्द्रिकता, सहभाव, परस्पर-अन्तश्चरण की क्रिया होने लगती है तथा सकल शारीरिक व्यापार और मानस-संस्थान मे अंतरंग और सुसंगत ऐक्य स्थापित होता है। काव्यास्वादन की रसात्मक दशा में ऐसी ही अंतरंग और सुसंगत समन्विति में चित्त प्रवाहित रहता है।

इस विषय पर मनोविश्लेषक एन्टन एरंजवेग[४९] का कथन है कि वस्तु अपने यथार्थ रूप में दृश्य नहीं होती। दृश्यरूप में परिप्रेक्ष्य का प्रभाव भी रहता है। कला में वस्तु को परिप्रेक्ष्य में उपस्थित करने के लिए उसे और भी विरूपित किया जाता है। दृश्य वस्तु में स्थिरता है, उसमें रूप है, आकार है, व्यवस्था है, रंग है। इन गुण-धर्मों से युक्त वस्तु को जब हम देखते हैं, तो हमारा वस्तु-प्रत्यक्ष चेतन मन का धरातलीय प्रत्यक्ष कहलाएगा। परन्तु वस्तु का वास्तविक प्रत्यक्ष यहीं नहीं है। वस्तु-विहीन, व्यवस्था-विहीन, रूपहीन 'वस्तु' का प्रत्यक्ष भी उसका महत्त्वपूर्ण अंश है। इसका प्रत्यक्षीकरण अचेतन मन करता है। अचेतन मन वस्तु को अस्फुट (इनआर्टिक्युलेट) और अविशेषीकृत (अनडिफरेनशिएटेड) रूप में देखता है। यही तल-प्रतीति (डेप्थ पर्सेपशन) कहलाएगी। चेतन मन के धरातलीय प्रत्यक्ष में स्फुटता होती है और वही 'सुन्दर' माना जाता है। किन्तु उसमें दमन की क्रियाएँ (रिप्रेसन्स) अन्तर्भुक्त रहती हैं। अचेतन मन तल-प्रतीति करता है और उसे 'वास्तव' की प्रतीति मानता है। यह अस्फुट का प्रत्यक्ष है। एक में गति नीचे की ओर है, दूसरी में ऊपर की ओर। यह घोर तनाव की स्थिति है। किन्तु चेतन और अचेतन मन की परस्पर-विरोधी क्रियाएँ—ऊर्ध्वगामी स्फुटन और अधोगामी दमन—मिलकर एक ऊर्जस्वित मानसिक संतुलन की संगति लाती है। इस प्रकार का सामंजस्य, ऐसी अन्तरंग व्यवस्था सकल मनीषा का गुण-धर्म है। उसने 'सुनने' की क्रिया का भी विश्लेषण कर श्रुति में स्फुट नाद और अस्फुट, अनाकृत, सूक्ष्म स्पन्दन-रूप नाद के दो प्रकार माने हैं। सकल मनीषा द्वारा वे भी एकीकृत रूप मे गृहीत होते हैं। रूप एवं नाद के इन दोनों प्रत्यक्षों में चेतन मन के विघटन पर बल दिया गया है। चेतन मन का जितना विघटन होगा, बुद्धि-विवेक,

तर्कादि के आवरण उतने ही हटेंगे और सम्पूर्ण मन कला के उतने ही समीप आएगा। कलाकार इस हेतु ही दृश्य और श्रव्य बिम्बों की ऐसी प्रस्तुति करता है कि चक्षु और श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से सकल मनीषा को उन्मीलित किया जा सके; मूर्त्तन और अमूर्त्त के व्यापार युगपत् हो सकें।

पिछले पृष्ठों पर यह कई प्रकार से वर्णित हुआ है कि इन्द्रियों मे चक्षु प्रबल है। इसकी शक्तिमत्ता दो ऐन्द्रिय प्रक्रियाओं में कुछ विशेष रूप से देखी जाती है। इनका काव्यादि के आस्वादन में भी महत्त्व है। ये दो प्रक्रियाएँ हैं :—१–प्रत्यक्षवत् बिम्बन-प्रक्रिया (आइडेटिक इमेजरी) एव २–मिश्रेन्द्रिय-ग्रहण अथवा इन्द्रियान्तरण की प्रक्रिया (सिनसथेसिया)।

प्रत्यक्षवत् बिम्बन-प्रक्रिया (आइडेटिक इमेजरी) :

कभी-कभी प्रत्याह्वानऔर कल्पना मे वस्तुएँ (विषय) पूर्णतः मूर्त्त, और प्रत्यक्ष-जैसी ठोस रूप में उभर आती है। 'आइडेटिक इमेज' की परिभाषा (आइडॉस यूनानी शब्द = कॉपी; साक्षात् प्रतिरूप) पिछले पृष्ठ पर दी गयी है—"आँख के सामने ठोस रूप में उपस्थित, परन्तु वास्तव मे अनुपस्थित; ऐसा अनुभव जो प्रत्यक्ष और बिम्ब की सीमारेखा पर स्थित हो।" मर्फी ने बताया है कि व्यक्ति की बिम्बन-प्रक्रिया (प्रत्याह्वानादि में) मूल प्रत्यक्ष-सवेदन से पूर्णतः अभिन्न-जैसी हो, तो उसे 'आइडेटिक' कहेंगे। कवियों, चित्रकारों आदि मे यह वृत्ति विशेष रूप से देखी जाती है। गेटे और ब्लेक 'आइडेटिक' थे।[४७] बच्चों मे ऐसी बिम्बन-प्रक्रिया विशद और तीव्र होती है। **ई० आर० जायंश** (१९२०) नामक जर्मन मनोविज्ञानी ने प्रथम बार इस बिम्बन-प्रक्रिया का रहस्य उद्घाटित किया था। उनकी उपलब्धियो एवं अन्य मनोविज्ञानियों के तत्संबंधी अनुसंधानों का सारांश **जी० डब्ल्यू० आलपोर्ट** (१९२४) ने दिया है। पहले यह समझा जाता था कि प्रत्यक्षवत् बिम्बन-प्रक्रिया मूल प्रत्यक्ष की सर्वांशतः नकल है, 'फोटोग्राफ' है। उसका नाम भी 'फोटोग्राफिक मेमरी' इस हेतु ही दिया गया था। परन्तु अमेरिकी मनोविज्ञानी **एच० क्लूवर** (१९२६) आदि ने एव **डब्ल्यू० ए० बॉसफिल्ड और एच० बैरी** (१९३३) आदि ने 'आइडेटिक इमेजरी' पर प्रयोग कर स्पष्टतः सिद्ध किया कि प्रत्यक्षवत् बिम्बन-प्रक्रिया में जोड़-तोड, रूपान्तरण, क्रियाप्रेरण आदि के भी तत्त्व रहते है और मूल प्रत्यक्ष उसमें सर्वांशतः तद्वत् बिम्बित नहीं होता।[४८] इस प्रकार प्रत्यक्षवत् बिम्बन में भी स्मरण

पुनरावृत्ति नहीं करता, परन्तु विगत का नवरूपायण कर वर्त्तमान के प्रति अभिनियोजन का प्रयास करता है। प्रत्यक्षवत् बिम्बन-प्रक्रिया का जीवन में प्राय: वही उपयोग है, जो उद्दीपन-ग्रहण के लिए अभ्यास का; अर्थात् जगत् के ऐन्द्रिय पक्ष का मानसपटल पर गहरा अंकन; ताकि बाल-मानस प्रत्यक्ष-गृहीत विषय की अनुपस्थिति मे भी उसका प्रत्यक्षवत् बिम्बन कर लगभग आवृत्ति और अभ्यास का लाभ उठा सके।[४९]

प्रत्यक्षवत् बिम्ब श्रुति के भी हो सकते हैं, स्पर्श के भी, गंध आदि के भी। परन्तु, दृश्य बिम्ब सामान्यत: अधिक होते हैं। वैयक्तिक प्रवृत्ति ही इनके मूल में मानी जा सकती है।[५०] बॉसफिल्ड और बेरी ने साले फिल्केल्स्टाइन नामक एक विलक्षण द्रष्टा का अध्ययन प्रस्तुत किया है। सन् १९३२ ई० में वह अमेरिका के प्रेसिडेंट के मतदान के आँकड़ों का ब्योरा तैयार करने के लिए नियुक्त किया गया था, क्योंकि वह किसी भी आकलन-कर्त्ता यंत्र से अधिक तेजी से आँकडों को स्पष्टत: बिम्बित देख लेता था और उनका जोड़, घटाव, गुणा, भाग आदि निकाल लेता था। उसे आँखो से कुछ ही दूरी पर आँकड़ों के बिम्ब प्रत्यक्षवत् बाहर लिखे-से दिखाई पड़ते थे।

पृष्ठ ११६ पर प्रकांड मनोविज्ञानी टिचनर के विषय में उल्लेख है, जो लगभग वैसे ही बिम्बगृहीता थे। उन्होंने लिखा है—

> मेरा मन बिम्बमय है। मैं समस्याओं को दृश्य रूप में मानस-पटल पर बिम्बित कर देता हूँ और उनका फिर स्पष्ट दृश्य बिम्बों में निदान भी ढूँढ लेता हूँ। पढ़कर भी मैं कथ्य या तत्त्व को दृश्य बिम्बों में सजा लेता हूँ— जब मैं सुनता हूँ कि किसी ने विनम्रता, शालीनता, उदात्तता, सौम्यता अथवा भद्रता का कोई काम किया है, तो मुझे लगता है, नम्रता, शील, औदात्य, सौम्य अथवा भद्रभाव के दृश्य झलकें ले रहे हों। गरिमामयी नायिका का वृत्तान्त मेरे मन में लम्बी आकृति की कौंध लाता है जिसके हाथ भी साफ दिखाई पड़ते हैं और ललित प्रेमी मेरे मन में झुके हुए आकार को प्रस्तुत करता है, जिसकी पीठ साफ विनत दीखती है।[५१]

प्रत्यक्षवत् बिम्ब-द्रष्टाओं के अध्ययन से निष्कर्ष निकाले गये हैं कि (क) प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षवत् बिम्बन में अन्तर है; (ख) (i) प्रत्यक्षवत् बिम्ब और संवेदन-जन्य पश्च-बिम्ब (आफ्टर इमेज = पश्चबिम्ब) में अन्तर है; वह यह कि प्रत्यक्षवत् बिम्ब बाह्य पटल पर अंकित-जैसा दिखाई पड़ता है, किन्तु संवेदनजन्य पश्च बिम्ब मानस पटल में, तथा (ii) वह सहज है और व्यक्ति की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है; जबकि संवेदनजन्य पश्च-बिम्ब उद्दीपन की

प्रगाढ़ता, तीव्रता आदि बाह्य तत्त्वों पर निर्भर करता है, एवं (iii) प्रत्यक्ष बिम्ब में प्रत्यक्षगृहीत विषय और तदंकित बिम्ब में गुणात्मक अतर नहीं होता, जब कि पश्चबिम्ब मे कुछ होता है; परन्तु (iv) प्रत्यक्षवत् बिम्ब मे गुणात्मक अतर बिम्बद्रष्टा स्वत: कर लेता है, जबकि पश्चबिम्ब मे द्रष्टा गुणात्मक अतर नहीं ला सकता। (ग) प्रत्यक्षवत् बिम्ब मे ब्योरेवार पूर्णता रहती है जिसके कारण ही मनोविज्ञानियो ने इसे 'फोटोग्राफिक मेमरी' नाम दिया था, (घ) फिर भी प्रत्यक्षवत् बिम्ब प्रत्यक्षगृहीत विषय की हूबहू नकल नही होता, कुछ अश उसमे द्रष्टा की निर्मिति के भी रहते है; एव (ङ) एरिक जायंश के अनुसार कलाकार प्रत्यक्षीकरण और प्रत्यय-निर्धारण की प्रक्रियाओ में विशिष्ट एकता ले आते है और इस कारण ही वे प्रत्यक्ष के उपरान्त भी दृश्य का प्रत्यक्षवत् बिम्बन कर लेते है। मानव जाति की उस विशिष्टता को वे अतिरक्षित किये हुए हैं जिसके कारण वे अपने भावो-विचारों को महसूस भी करते हैं और उन्हें साक्षात् देखते भी है, उनके भावक भी हैं, प्रत्यक्षद्रष्टा भी।[५१] इसकारण ही कॉलरिज ने उन्हे 'आप्टिकल स्पेक्ट्रा' नाम दिया था। नीत्शे ने 'बर्थ ऑफ ट्रेजेडी' मे (१८७८) कलाकारो को स्थापत्यात्मक और सागीतिक नामक दो वर्गों मे प्रकल्पित किया था। स्थापत्यात्मक कलाकार स्थपति-जैसे हैं—श्रेण्यवादी निर्माता हैं, सागीतिक कलाकार गीतों मे प्रस्फुटित होने वाले रोमांटिक स्रष्टा-जैसे हैं। संभवत: इसी से प्रेरित हो फ्रांसीसी मनोविज्ञानी रिबॉट ने साहित्यकारों की कल्पना के दो वर्ग माने थे—(१) स्पार्श बिम्बों के प्रखर प्रत्यक्ष-द्रष्टा और (२) श्रुति-बिम्बों के प्रातीकिक उद्भावक, (रोमांटिक कलाकार)। प्रथम प्रकार के कलाकार बाह्य जगत् के शास्त्र-निष्ठ और मूर्त्त बिम्बन करेंगे, दूसरे प्रकार के कलाकार चतुर्दिक अपनी भावना, संवेदना, अनुभूति का लयात्मक और बिम्बात्मक प्रक्षेप करेंगे। इलियट ने दृश्य बिम्बों का प्राचुर्य दांते की कल्पना में और श्रुतिबिम्बों का आधिक्य मिल्टन की कल्पना मे बताई है और इन दोनों प्रकार की बिम्बन-क्षमता की जो चर्चाएँ की हैं, वह संभवत: रिबॉट और नीत्शे के ही ज्ञात-अज्ञात प्रभाववश। इस प्रकार, एक और निष्कर्ष जोड़ा जा सकता है—(च) प्रत्यक्षवत् बिम्ब में दृश्यबिम्बो का आधिक्य सामान्यत: क्लैसिकल वृत्ति के कवि-कलाकारों में तथा श्रुति आदि इतर बिम्बों की प्रधानता रोमाटिक प्रवृत्ति के कवियो आदि में दिखाई पड़ती हैं।

प्रत्यक्षवत् दृश्य बिम्ब पंत, महादेवी, अज्ञेय, जगदीश गुप्त, भारत भूषण आदि की कविताओं मे, और श्रुत बिम्ब निराला, प्रसाद, भारती, कुँवर नारायण, नरेश, शमशेर, आदि में अधिक मिलते हैं। यथा—

१. इधर केवल झलमलाते
सिहरते से पंगु टुंडे
पास फिर, दो भग्न गुम्बद
बाँस की टूटी हुई टट्टी, लटकती
निकटतर—धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
तीन टाँगों पर खड़ा, नतग्रीव
निकटतम
खड़ा बन्य बिलार, पीछे गोयठों के गन्धमय अम्बार

चेतहर, दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में
नग्न, बुच्चे, दईमारे पेड़।
निविडता को भेदती-सी मीनार—
एक खम्भे से फटी-सी ओढ़नी की चिन्दियाँ दो चार
मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
धैर्य घन गदहा।
रीढ़ बंकिम किए, निश्चल किंतु लोलुप
—अज्ञेय : शिशिर की राकानिशा

२. सलमें सितारों की कामवाली, नीली मखमल का खाल चढ़ा।
अम्बर का बड़ा सिंदौरा उलटा, धरती पर नदियों के जल में
गिरितरु के शिखरों से ढर-ढरकर, सब सेंदुर फैल गया। —सर्वेश्वर

३. याद शोख लडकी है
मुझे बहुत प्रिय लगते है
बहुत अधिक भाता है
मेरे उलझे बालो से
जिसके काले घुंघराले बालों के लालरीन
उसे मेरी टाई का सुर्ख रंग
उसकी पतली उंगलियों का
बड़ा मधुर नाता है —श्याम सुन्दर घोष

इनमे से अज्ञेय की कविता मे प्रत्यक्षवत् ठोस बिम्ब प्राय: सभी इन्द्रियों के हैं जब कि अन्यों के केवल दृश्य हैं। साथ ही अज्ञेय के ऐन्द्रियिक बिम्बो मे सहचरण भी है—'हलाहल स्निग्ध' 'निवीड़ता को भेदती सी मीनार' 'गन्धमय अम्बार' में क्रमश: स्वाद और स्पर्श बिम्ब का, श्रव्य और दृश्य का तथा गंध और दृश्य बिम्ब का सहचरण है। इस ऐन्द्रिय सहचरण की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का नाम है 'सिनसथेसिया', अर्थात् इन्द्रिय-संचरण, या मिश्रेन्द्रिय-बोध।

(२) सिनसथेसिया : मिश्रेन्द्रिय-बोध और इन्द्रिय-संचरण-व्यापार—(यूनानी शब्द इस्थीटिकास = देखना, प्रत्यक्ष ग्रहण करना, संवेदन प्राप्त करना आदि जिसमें सह, सम, आदि अर्थ देने वाला 'सिन' युक्त है।) ड्रेवर ने सिनसथेसिया की परिभाषा इस प्रकार दी है—

> ऐसी प्रक्रिया जिसमें एक इन्द्रिय के विषय का संवेदन अपने साथ दूसरी इन्द्रिय के विषय का संवेदन लिए-दिए संवाहित हो उठे, उदाहरण-स्वरूप 'रंगीन श्रवण' में।[१९]

कुछ व्यक्ति है, जो ध्वनि बिम्बों का प्रत्यक्ष रंगों के दर्शन के साथ करते हैं, अर्थात् जब भी वे कोई नाद-स्वर सुनते हैं, तो उन्हें विशिष्ट रंगो

का दर्शन हो जाता है। मनोविज्ञान में इस प्रकार के 'वर्ण-दर्शन' का नाम 'क्रोमेस्थेसिया' है, या 'रंगीन श्रवण' है। क्रोमेस्थेसिया पर प्रयोग कर मनोविज्ञानियों ने यह पाया कि ऐसे 'वर्ण-द्रष्टा' श्रुत ध्वनियों का जो वर्ण-बिम्ब ग्रहण करते है, वे प्रायः अपरिवर्त्तनशील हैं; अर्थात् यदि वह षड्ज को पीत, धैवत को लाल, पंचम को नील वर्ण मे प्रत्यक्ष करनेवाले हैं, तो ऐसा वर्णवत् प्रत्यक्षीकरण वे कालान्तर में भी करते रहेंगे। उसमें कोई विशेष परिवर्त्तन न होगा।[५४] इस प्रकार की विविध इन्द्रियान्तरण-प्रक्रिया का सामान्य अभिधान 'सिनसथेसिया' है, जिसमें प्रायः समस्त इन्द्रियार्थ विषयो का मिश्र प्रत्यक्षीकरण या सवेदन होता है। कुछ पंडितो ने ऐसे मिश्र-ग्रहण को शरीरशास्त्रीय दृष्टि से लाल-हरे रंग में अन्तर न देखनेवाली वर्णांधता-जैसी प्रक्रिया का प्रकार माना है। अन्यो ने इसे आदिकालीन उस स्थिति की विशेषता स्वीकार की है जब इन्द्रियो मे अपने विषयों के ग्रहण करने की विशेषीकरण वृत्ति विकसित नही हुई थी।

डा० पिटर मेककेलर ने 'सिनसथेसिया' को कल्पना का एक प्रकार माना है।[५५] कुछ व्यक्ति प्रत्यक्ष-ग्रहण करते ही जिस इन्द्रिय से सवेदन या प्रत्यक्ष-ग्रहण हुआ है, उससे अलग इन्द्रिय से सवेदन ऐसी तीव्रता के साथ ग्रहण कर लेते हैं कि उन्हें ध्वनि श्रुत भी होती है, दृश्य भी, और कभी-कभी स्पृश्य और गतिशील भी प्रतीत होती है। ऐसे मिश्रेन्द्रिय-गृहीता अपने ग्रहण-प्रकार में विशिष्ट होते है, अर्थात् यदि 'क' नामक व्यक्ति किसी ध्वनि का ग्रहण गति-बिम्ब में करता है, तो वैसा ग्रहण वह प्रायः सर्वदा करेगा और 'ख' नामक व्यक्ति यदि ध्वनि का ग्रहण दृश्य बिम्ब में करता है, तो वह भी अपने ग्रहण मे सदा प्रायः समान रहेगा। परन्तु 'क' और 'ख' के ग्रहण में अर्थात् व्यक्ति-व्यक्ति के ग्रहण में अन्तर होगा।

ए० आर० लुरिया ने मिश्रेन्द्रिय-ग्रहण पर 'प्रोब्लेम ऑफ साइकालोजी' में एक लेख लिख कर एस० ह्वी० शेरेशेवस्की नामक एक विलक्षण मिश्रेन्द्रिय प्रत्यक्षद्रष्टा का अतिरोचक वृत्तान्त प्रस्तुत किया है।[५६] शेरेशेवस्की १९२६ में मास्को के एक पत्र मे सवाददाता था, जो किसी भी संदेश को शब्दश. कही भी पहुँचा देता था। उसकी स्मरणशक्ति ऐसी तीव्र थी कि मनोविज्ञानी लुरिया ने उसे सौ-सौ अंकों की संख्याएँ दी, लम्बे शब्द और वाक्य दिए, निरर्थक शब्दांश-समूह और अपरिचित भाषा के शब्द दिए, गाणितिक लम्बे फार्मूले, ज्यामितिक आकृतियाँ और सगीत की स्वरलिपियाँ दीं, शेरेशेवस्की उन्हे

याद कर लेता और धाराप्रवाह बता जाता, उल्टे-सीधे, बीच से, किसी भी क्रम से। मान लिया जाय उसे एक निरर्थक फार्मूला दिया गया :—

$$N.\sqrt{d^2 . x\frac{85}{ux}}$$

शेरेशेवस्की इसे कुछ देर देखता और तब कहता—

> नीमेन नामक आदमी (N) बाहर आया और अपनी छड़ी से छेद किया (·)। उसने सामने के सूखे वृक्ष को देखा और उसे 'रूट' (जड़) का स्मरण हो आया (√) और तब उसने सोचा, 'अजीब बात है कि यह वृक्ष सूख गया, इसकी जड़ें उभर आयीं और यह उस समय भी था जब मैंने ये दो घर बनाये थे, ये ही दो घर '(d^2)'। ऐसा सोच कर उसने फिर छड़ी जमीन पर दे मारी (·)। फिर उसने मन में कहा—'ये घर पुराने हो गये हैं। इसलिए इनमें चिह्न (x) लगा देना चाहिए। उनमें ८५ हजार रूबल का खर्च लगा था और जब उसकी छत बनी थी (—) तब नीचे एक आदमी हार्मोनिका बजा रहा था (ux)।...'

इस प्रकार शेरेशेवस्की की स्मरणशक्ति के मूल में सहज मिश्रेन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मिश्र-कल्पना का योग है। उसके लिए अक्षर और अंक केवल अक्षर और अंक नहीं थे; नाना श्रुत-बिम्बों के प्रतीक थे। ध्वनियों में रंग और स्वाद के गुण भरे होते थे। दृश्य आकार से उसे नाना ध्वनियाँ या स्वाद प्राप्त होते थे। संगीत और आवाजें उसे अजीब-अजीब शक्लों में उभरती प्रतीत होती थी। 'अ' को वह सफेद और समतल या सीधी रेखा, 'ई' को नुकीला, 'इ' को टेढ़ा समझता था। जब वह 'आइसक्रीम' खरीदने जाता और बेचने वाली की आवाज कुछ रूखी या कर्कश होती तो उसे लगता इसके 'आइसक्रीम' में कोयले की बुझी चिनगारियाँ पड़ी हैं, ऐसा आइसक्रीम हो भी सकता है क्या ? छि:।' अपने कक्ष में बैठे-बैठे जब वह दरवाजे की खटखटाहट सुनता, तो यदि वह कुछ तेज धप्‌धप्‌ होती, तो उसे लगता वह आवाज स्थूल मूर्ति के रूप में छा गयी है और उसकी उँगलियाँ उन्हें स्पर्श कर ठंढी हो जातीं, जीभ में नमक का स्वाद भर जाता। रेस्तराँ में यदि हल्की धुन के साथ खाना दिया गया होता, तो उसे सुस्वादु लगता और जैसे ही छत पर होनेवाली मरम्मत की ठाय्‌-ठाय्‌ की आवाज आती कि शेरेशेवस्की का सारा खाना किरकिरा और रद्दी, एकदम कीचड़-भरा और भयंकर हो उठता। मीठी बात भी यदि खाँसी से रुद्ध हो उठती तो शेरेशेवस्की बिम्बग्रहण-प्रक्रिया बिखर जाती।

सिनसथेसिया या मिश्रेंद्रिय प्रत्यक्ष प्रत्याह्वान का उत्तम साधन तो है किन्तु साथ ही साथ प्रतिरोधक भी होता है। मधुर ध्वनि में उच्चरित 'सूअर' भी वस्तुवाचक न होकर ध्वन्यर्थ के कारण मृदु हो उठेगा और ललित-लवंगी भाषा का पाठ कटु स्वर में हो, तो तीखे बिम्ब उत्पन्न कर देगा। दूसरे शब्दों मे स्थिति का क्षणिक नादधर्म ही प्रधान हो जाता है, उसका वास्तविक मूलार्थ तिरोहित हो उठता है।

इस मानसिक शक्ति का परिचय कवियों को अनायास प्राप्त हो गया-सा प्रतीत होता है। क्योंकि अनेक प्राचीन कवियों की प्रगाढ़ भाव-संकुल पंक्तियो में इन्द्रियों के संचरण और सहबोध के उदाहरण मिलते हैं, रहस्य द्रष्टाओं मे तो खास कर। यथा—पिबत्वस्य गिर्वणः (ऋग्वेद ८।१।२६); अर्थात् गीत रसिक ! तू इसका पान कर। दिन भर नन्दिनी नामक धेनु चरा कर आते हुए राजा दिलीप को रानी सुदक्षिणा निमेषालसवक्ष्म पक्तिरूपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम् (रघुवंश २।१६) अपलक उपोषित नेत्र-द्वय द्वारा पीने लगी। उसी भाँति यश की धवलता, दु:ख की कालिमा, ईर्ष्या की अग्नि, आदि काव्य में जो वर्णित हैं, वे भी इन्द्रिय-संचरण और मिश्रेन्द्रिय-ग्रहण-व्यापार के निदर्शक हैं। लोकोक्तियो, मुहावरो, कहावतो में इन्द्रिय-संचरण के पर्याप्त उदाहरण मिलेंगे; यथा—जी हल्का होना, मन भारी होना, मीठी नींद, कड़वी बात, भारी आवाज, आर्द्र स्वर, सुरक्षित स्मृति, गरम खबर, नमकीन चेहरा, रूक्ष स्वर, तीखी गंध, मीठी खुशबू, सावन के अंधे को हरियाली सूझना आदि।

परन्तु पाश्चात्य अनेक कवियों ने इस मानसिक प्रक्रिया का सायास उपयोग किया है। पिछले अध्याय के पृष्ठ २८५ पर चार्ल्स बॉदिलेयर की कविता में सारी प्रकृति एक मन्दिर के रूप मे प्रकल्पित हुई है, जिसके जीवंत स्तम्भ वृक्ष हैं और इस 'प्रतीक-वन' में हवा बहती है तो स्पष्ट ध्वन्यात्मक शब्द स्फुट होते हैं और कवि अपनी विशिष्ट ग्रहणक्षमतावश उन्हें ग्रहण करता है। वहीं यह भी वर्णित है कि ग्रहण के समय 'सचरण' अनेक धरातलों पर होता है। प्रत्येक इन्द्रिय में ध्वनि, रंग, गंध ग्रहण करने की क्षमता है। गंध कभी शिशुचर्मवत् ताजी और कभी चारागाहों की भाँति हरी भी प्रतीत होती है। पुनः इन्द्रिय-संवेदन में अनन्तता भी रहती है। इसलिए विशिष्ट मानसिक वृत्ति, जैसे—विचार, पश्चात्ताप, या आकांक्षा, वैसा ही अन्य सहचर ऐन्द्रिय बिम्ब उद्भूत कर लेती है। बिम्बादि भी दूसरे ढंग या धरातल के, जैसे अचेतन-अवचेतन आदि के बिम्ब या विचारादि उकसा जाते हैं।

आर्थर रैम्बो (१८७१) ने तो कवि को वैसा कल्पक माना था कि जो अचेतन मानस से निःसृत बिम्बों का प्रत्यक्ष करता है। इस प्रत्यक्षीकरण के लिए, उसकी सलाह है, कि कवि को मादक द्रव्य, शराब या भोगादि के व्यसनों में भी डूब जाना चाहिए।

> कवि कल्पक है, और वह सुदीर्घ, व्यापक एवं सुनियोजित रूप से अपनी इन्द्रियों में अस्तव्यस्तता ला कर, सब कुछ को छिन्न-भिन्न कर ही कल्पक हो सकता है; विवेक और सामान्य वर्जना के पाश से मुक्त हो सकता है।[८७] रैम्बो ने 'वायेलिज' नामक सॉनेट में रंग और ध्वनि में अनुमानित सम्बन्धों की सूची भी तैयार की थी। उसने 'ए' को काला, 'इ' को उजला, 'आइ' को लाल, 'यू' को हरा, 'ओ' को नीला और उदात्त, 'औ' को रहस्यात्मक, कुछ बहुत 'ओम्' की तरह का माना था।[८८]

इनका प्रभाव मालार्मे, वैलरी, लोरका, येट्स, इलियट, एडिथ सितवेल, स्टीवेंस, टॉमस आदि से होता हुआ हिन्दी के आधुनिक कवियों पर भी पड़ा है। इस प्रवृत्ति का भी ग्रहण उन्होंने अपने ढंग से किया है।

विलियम एम्पसन[८९] ने एडिथ सितवेल की मिश्रेन्द्रिय-बिम्ब-प्रस्तुति पर विचार किया है। पहले उन्होंने **डॉ० जॉनसन** के एक कथन को उद्धृत कर मिश्रेन्द्रिय-प्रस्तुति पर फब्ती कसी है—

> डायोनिसीयस ने स्वयं बताया है, कि होमर की कविता से कभी-कभी मूर्त्त ठोसपन उभर आता है; क्या यह लगभग वैसी ही नयी सूझ नहीं, जैसी उस अन्धे आदमी की थी जिसने बहुत जाँच-पड़ताल के बाद तीखे लाल रंग की प्रकृति के विषय में यह पता दिया था कि और कुछ नहीं, बस वह तुरही की आवाज-जैसी है?

विलियम एम्पसन ने सितवेल से जो उदाहरण दिया है, वह है—

> 'दि लाइट इज ब्रेयिंग लाइक ऐन ऐस', अर्थात् प्रकाश गधे की तरह रेंक रहा है।

और तब बताया है कि ऐसी पंक्तियों का प्रभाव सारे वृत्तान्त पर निर्भर करता है। अवश्य ही एक इन्द्रियबोध के दूसरी इन्द्रिय के माध्यम से प्रस्तुतीकरण, अथवा एक की दूसरी से तुलना आदि की यह पद्धति कहीं-कहीं प्रभविष्णु होती है। इस कारण कि—

(क) पाठक इन्द्रिय-संवेदन-ग्रहण की आदिम अवस्था में आ जाता है; अथवा (ख) वह शैशव-दशा में पहुँच जाता है, जो प्रायः वही दशा है जिसमें

इन्द्रियाँ स्व-संवेदन-ग्रहण मे विशिष्ट नहीं हुई रहती; (ग) वह संवेदन-ग्रहण की नियमित प्रणाली मे कुछ ऐसी अस्तव्यस्तता जरूर महसूस करता है, जैसी मादक-द्रव्यादि के सेवन की दशा में होती है; (घ) उसे कुछ अस्पष्ट और अबोधगम्य भान होता है कि शायद ज्ञान के ऐसे कपाट खुल रहे है, जो महत्त्वपूर्ण तो लगते हैं, पर समझ में आ जायँ तभी; (ङ) इस पद्धति का उद्देश्य यह भी है कि पाठक जोर लगा कर अपने मानसिक संस्थान मे इन्द्रियो के द्वारा मिश्र-प्रत्यक्षीकरण की क्षमता विकसित कर ले और तब कवि की मनोदशा में आ जाय, ताकि कविता का सम्यक् अर्थ-बोध प्राप्त कर सके।

इधर मिश्रेन्द्रिय-प्रस्तुति करने वाली कविताएँ कुछ अधिक रची गई हैं, जिनके फलस्वरूप काव्यालोचकों ने उस पर और भी गहरी दृष्टि डाली है। उनके अनुसार (च) आज का कवि एक साथ दो धरातलों पर वर्णन करता है—१. चित्रकार के रूप मे भी और २. आलोचक के रूप में भी। वह संवेदन का गृहीता भी है, उसे नष्ट करने वाला भी। अतः वह सायास विसादृश्य के बिम्ब प्रस्तुत करता है; इन्द्रियो के स्व-धर्मों को भंग करता है और उन्हे अपने मनमाने धर्म से युक्त करता है। वह इन्द्रिय-इन्द्रिय का जटिल संश्लेष भी प्रस्तुत करता है। फिर उसे भी झिटक कर वह उससे अलग हो जाता है। (छ) वह इन्द्रियों के ही नहीं, भाषिक तंत्र के चौखटों, वाग्धाराओं, मुहावरों तर्क को अयोग्य, असमर्थ और घिसा रिकार्ड समझ कर ध्वस्त करता है। उसके लोक में 'घाव से टपकता खून गुर्राता है'; प्रेमालिंगन के समय 'सोने के रुधिर में सहस्रों साँप रेंगने लगते हैं' 'रंग का संगीत सुना जाता है'; 'वैश्वानर गरजता है (उर्वशी : दिनकर)।' (ज) निषेधों, ग्रस्तताओं, बद्धताओं, वर्जनाओ आदि की परतें उघड़ जाती हैं और पाठक मुक्त मनीषा के, पूर्ण स्वीकृति के लोक मे पहुँच जाता है; (झ) साथ ही पाठक झटका खा कर आधुनिक संसार की विरूप, विधर्मी विसंगतियो का बोध प्राप्त करता है और उसमें नई कर्म-चेतना, नई संवेदना जाग्रत होती है।

इस विषय पर पंडितों ने विचार किया है कि मिश्र ऐन्द्रिय बोध की प्रस्तुति आधुनिक काल में क्यों प्रवृत्ति-रूप धारण कर रही है। उनका कहना है कि नृतत्त्वशास्त्रीय, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, बौद्धिक और राजनैतिक उपलब्धियो और उनके चापों में पड़े आधुनिक कवि और साधारण जन की चित्त-वृत्ति पड़ी रेखा में ही आन्दोलित नहीं होती, ऊपर-नीचे भी उछाली-फेंकी

जाती है। कवि-चित्त आज अधिक संक्षुब्ध और विखंडित भी है। विज्ञान से वह ध्वस्त हुआ है। राजनीति से उसका मोह-भंग हो चुका है। व्यर्थता की भावना उसे आच्छन्न किये है। ऐटमी सभ्यता के सपाट और नग्न यथार्थ के संसार में कवि ही रहस्य-दर्शन का विशेषाधिकार रखता है। उसका जगद्दर्शन भी बदला है। इन्द्रियों के सहज संसार के प्रति, आदिम रागों और बालवृत्ति के प्रति उसमे नया आकर्षण आया है। उसे यह परिज्ञान भी हुआ है कि इन्द्रियाँ समवेत रूप से विषय का सहबोध प्राप्त करती रहती हैं, पर इस त्वरित बोध के तदनुरूप प्रकाशन मे व्याकरणादि से तोडी और घेरी गई भाषा चुक जाती है। जेट और राकेट की तीव्रातितीव्र गति के सामने भाषा की प्रकाशन-क्षमता कछुए की चाल से भी धीमी है; साथ ही, उसमें देश-देश और राष्ट्र-राष्ट्र की सीमाएँ है। मिश्र ऐन्द्रिय बोध की कविताएँ इन सीमाओं को ध्वस्त करना और मानव को विश्व-मानव के रूप में फैलाना, उसका साक्षात् कराना चाह रही है। इन कारणों से प्रेरित होकर आज के अनेक प्रबुद्ध कवियो ने मिश्रेन्द्रिय-गृहीत बिम्बों की प्रस्तुति की है।

बर्ट्रेंड रसल की यह स्थापना पिछले पृष्ठ ४५६ पर दी गई है कि इन्द्रियाँ आदि स्वतः सहचरण और सचरण करती रहती हैं; एक संस्थान के सक्षोभ से दूसरे सस्थान भी क्षुब्ध हो जाते हैं। पुनः मिश्रेन्द्रिय-ग्रहण एव इन्द्रियार्थ-सचरण के मूल में 'सचरण' का व्यापक सिद्धान्त भी है, जो अनेक धरातलों पर निसर्गतः सक्रिय माना जाता है। वह यह कि वस्तु और वस्तु मे, वस्तु और विचार में, विचार और विचार मे, भाव-भाव मे, इन्द्रिय-इन्द्रिय में, संवेदन-संवेदन में अर्थात् अनेक क्षेत्रों मे सचरण नैसर्गिक रूप मे होता रहता है। कवि उसका प्रत्यक्ष करता है और उसी का प्रेषण भी करना चाहता है। ये पाठक को पूर्व-ग्रह, परम्परित प्रतिक्रिया आदि से मुक्त कर नवीन परिप्रेक्ष्य की ओर ले चलते है। ऐसी कविताएँ कभी-कभी पाठक को झटकों के धक्के देकर भी युगबोध के समक्ष समुपस्थित कर देती है।

इधर इन्द्रिय-संचरण की एक विशेष विधि और भी ढूँढ़ निकाली गई है। आर्थर साइमन्स (वेल्स के रहने वाले; १८६५-१९४५) के प्रभाववश अंग्रेजी के कवि प्रतीकवाद की ओर तेजी से आकृष्ट हुए थे। प्रतीकवाद और संचरण के मिश्रण से इन्द्रिय-संचरण मे रहस्य और जादू के भी तत्त्व आने लगे।

साइमन्स ने तो जादू और प्रतीकवाद को समान माना था। साइमन्स ने जिरार्द द नर्वल (फ्रांसीसी कवि और लेखक जिनका वास्तविक नाम जिरार्द लबरूनी था, १८०८-१८५५) नामक प्रतीकवादी कवि के इन्द्रियसंचरण-(सिनसथेसिया) और सहचरण (कॉरेसपोन्डेन्स)-सम्बन्धी विचार का उद्धरण देकर बताया था कि रहस्यदर्शियों ने पिथागोरस से लेकर अब तक जो स्पष्ट किया है, वह यूनानी दार्शनिक हर्मिज त्रिस्मगिस्त (अति प्राचीन एवं पुरावृत्तात्मक मिथकीय व्यक्तित्व, जो ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी से नाना धर्म-तंत्रों के कल्पक के रूप में ख्यात माने गये) के इस सिद्धान्त में ही अन्तर्भुक्त है कि 'वस्तुएँ जैसी नीचे हैं, वैसी ही ऊपर हैं।' स्विडेनबर्ग (इमानुएल स्विडेनबर्ग, स्टाकहोम निवासी, वैज्ञानिक, दार्शनिक और रहस्यदर्शी; १६८८-१७७२) ने 'कॉरेसपोन्डेन्सेज' नाम से उसी सिद्धान्त का दूसरा रूप निर्दिष्ट किया था और बॉदलेयर का 'कॉरेसपोन्डेंस' स्विडेनबर्ग से ही प्रभावित था। नर्वल कविता को जादुई बना देना चाहता था। इसलिए उसकी कविता में हर्मिज के सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप हैं। मालार्मे के प्रकाण्ड प्रभाववश साइमन्स और येट्स जब प्रतीकवाद की ओर आकृष्ट हुए तो उन्होंने इन्द्रिय-संचरण व्यापार को दो रूपों में प्रस्तुत किया :—

१. लम्बरूप संचरण, जिसमें हर्मिज का सिद्धान्त गृहीत हुआ, जिससे जादुई, मिथकीय आदि प्रभाव के प्रतीक, शब्दादि प्रयुक्त होने लगे; यथा—

२. समभौमिक संचरण जिसमें इन्द्रिय-सहचार के, मिश्रेन्द्रिय बोध के प्रतीक, शब्दादि व्यवहृत हुए।[१]

इस प्रकार की कविताएँ येट्स आदि कवियों की अनेक हैं, जिनमें संचरण-व्यापार एक ओर तो मिथक, जादू, स्वप्नादि को छेड़ता हुआ चेतन जाग्रत जगत् के भावबोधों आदि को भी सन्निविष्ट कर लेता है, और दूसरी ओर एक इन्द्रिय से दूसरी, तीसरी, चौथी तक को सहचरित कर लेता है। हिन्दी के कवियों में प्रसाद, अज्ञेयादि की कुछ कविता-पंक्तियों में ऐसे उदाहरण मिलते हैं। यथा—'असाध्य वीणा' शीर्षक अज्ञेय की कविता में एक ओर मिथक, जादू, स्वप्नादि के प्रतीक, वातावरणादि के कारण लम्ब-

रूप संचरण होता है, तो दूसरी ओर विषम ऐन्द्रिय बिम्बों के कारण समभौमिक सहचरण भी होता है। संक्षेप में यह इस प्रकार द्रष्टव्य है :—
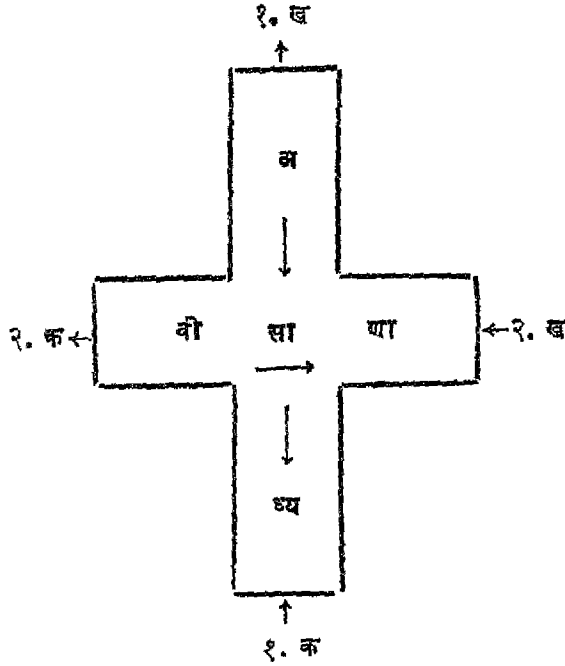
१.क→१.ख = हर्मिज का लम्ब-रूप संचरण या मिथकीय बोध। २.क→२.ख स्विडेनवर्ग, एडगर एलेन पो, बॉदलेयर आदि का समभौमिक सहचरण या मिश्रेन्द्रिय बोध :

इस कविता मे जो जादुई, रहस्यात्मक, पुरावृत्तात्मक एवं मिथकीय तत्व हैं, और जो पृष्ठ २७१ पर बताए गए हैं, वे लम्बवत् १.क→१.ख पर समाकलित रूप में आयेंगे। सहचारी मिश्रेन्द्रियग्रहण के उदाहरण जो समभौमिक रेखा २. क→२. ख में आयेंगे, वे हैं—

उसकी गंध प्रवण शीतलता से फण टिका नाथ वासुकि सोता था
(गंध—स्पर्श)
दूर पहाड़ों से काले मेघों की बाढ़ हाथियों का मानों चिंघाड़ रहा हो यूथ;
(दृश्य—श्रव्य)
झंझा की फुफकार, तप्त (श्रव्य—स्पर्श)
किरण भोर की पहली, जब तकती है ओसबूंद को उस क्षण की सहसा
चौंकी सिहरण (दृश्य—गति, स्पर्श)
किलक उठे थे स्वर-शिशु (श्रव्य—दृश्य—श्रव्य)

इसी भाँति उक्त कविता में 'अस्पर्श स्पर्श' 'अनकहे सत्य' 'स्पन्दित सन्नाटे' 'नीरव एकालाप' आदि तथा मूर्त्तीकरण, नादव्यंजना, विशेषण-

विपर्ययादि के नाना बिम्ब भी कुछ इस प्रकार प्रयुक्त हुए हैं, कि उनका ग्रहण समरूप नहीं होता, अपितु विषम रूप में होता है। ये भी ऐन्द्रिय बोध की समभौमिक रेखा २.क→२.ख पर समाकलित रूप में अंकित होंगे। इस प्रकार 'असाध्य वीणा' कविता के द्वारा किरीटी तरु की मंत्रपूत असाध्य वीणा का एक जटिल संघननात्मक संज्ञान अथवा भाव-बोध प्राप्त होता है, जिसमें एक धरातल पर तो इन्द्रिय-सहचरण के व्यापार हैं तो दूसरे धरातल पर रहस्यात्मक प्रतीति के भी।

प्रतीकवादियों में मालार्मे के बाद ऐसी धारणा बन गयी कि—

> प्रत्येक शब्द का आध्यात्मिकीकरण आवश्यक है, तभी संदर्भों, प्रसंगों, संकेतों का रूप गूढ़ हो सकेगा। दृश्य और अदृश्य मानस जगत् का वास्तविक अर्थ भी तो यही है। मनुष्य में आदिम भाषा का जो एक संस्कार है, जो भाषा आधी विस्मृत और लुप्त है तथा आधी जीवित है, जिसके कारण भाषा के शब्दों में प्रातीकिकता और सांकेतिकता आती है, वह संस्कार इस प्रकार से ही पूर्ण रूप से संजीवित हो सकेगा। उसी भाषा में संगीत और स्वप्न की सहधर्मिता भरी है।[६१]

इस धारणा के कारण इस युग में भाषातत्त्व की, और विशेषतः काव्य-भाषा की, मिथकीय, आदिम, सांस्कारिक एवं शैशव-सुलभ विशेषताओं का सशक्त प्रतिपादन किया गया और अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये जिनका संकेत पिछले अध्यायों में केस्सिरर, लैंगर, बार्डकिन, आदि की सिद्धान्त-चर्चाओं में किया गया है।

यद्यपि भारतीय कला-काव्यादि एवं शास्त्रों से उदाहरण देकर यह प्रमाणित तो किया जा सकता है कि 'कॉरेसपांडेंस' और 'सिनसथेसिया' के गुणधर्म भावतः यहाँ गृहीत थे तथापि तत्त्वतः वे उसी रूप में स्वीकृत न थे, जिस रूप में बॉदलेयर, लोरका, मालार्मे आदि पाश्चात्य कवियों के द्वारा प्रकल्पित और विवेचित हुए हैं। भारतीय काव्य और दर्शन एकान्विति-प्रधान हैं, रसपर्यवसायी और अद्वैतोन्मुखी रहे है। इस कारण ही कालिदास की उपमाओं आदि में प्रायः उपमेय की विशिष्ट इन्द्रिय-गम्यता ही उपमान की तदेन्द्रियगम्यता की निर्धारिका-निर्देशिका शक्ति है। अर्थात्, उपमेय या प्रस्तुत दृश्य हैं, तो उपमान या अप्रस्तुत भी, श्रव्य हैं, तो उपमान आदि भी श्रव्य हैं। पर समजातीय हो कर भी वे फैलते है। इससे प्रभावान्विति समरूप धरातल पर विशदीकृत होती है। उससे भावन प्रगाढ़ होता है। साथ ही, उसमें स्थिति-स्थापकता का गुण आ जाता है; यानी प्रमाता उसी धरातल पर फैल

कर—किंचित् स्फीत होकर, फिर सम पर आ जाता है। यही उसका 'माधुर्य' है। एकान्विति की दृष्टि से ही यहाँ मूलस्थ भाव-वैषम्य और रस-द्वन्द्व प्रकल्पित हैं, पर अंगीरस अथवा पार्यन्तिक रस तो शान्त ही है। इसी कारण आ० रामचन्द्र शुक्ल ने कई स्थलों पर वियोग-वर्णनादि में फारसी और उर्दू शायरी के फोड़े-मवाद आदि के वर्णन का प्रतिवाद किया है। इसके विपरीत एडिथ सितवेल की कविता-पंक्ति में 'प्रकाश' और 'गधे की रेंक' के भिन्नेन्द्रिय बिम्ब इन्द्रिय-विपर्यास प्रस्तुत करते हैं। इसका प्रभाव विषम रूप से पड़ता है, और मन उसे विषम समन्विति में ग्रहण करता है, न कि सम एकान्विति में। एरिक न्यूटन के शब्दों में—

> पौर्विक कला कुछ बहुत समानान्तर प्रवाही नहरों के जटिल संस्थान की भांति है; पाश्चात्य कला एक नदी की भाँति है जिसमें सहायक नदियाँ सदा गिरती हैं और उसे प्रभावित करती हैं। ..पूर्वदेशीय कलाकार लुब्ध भक्षक नहीं, प्रशान्त भावक है; अतः उसकी कला में सनातन स्थिति है, मनन है; परन्तु पाश्चात्य कला विकसित होती है, ऐन्द्रिय है, दृश्यादि बिम्बों के संघर्षों का विकासात्मक क्रम प्रस्तुत करती है। अतएव पूर्वीय कला में परिप्रेक्ष्य नहीं है; जिससे नेत्र को सुखद नीड़-सा प्रशांत एकत्व मिलता है; संगीत जैसे थम गया हो, वैसा अवकाश प्राप्त होता है। परन्तु परिप्रेक्ष्याश्रित पाश्चात्य कला में वाद्य सबके सब अपने-अपने अलग सुरों में बज-से रहे होते हैं, अनेक दृश्य-बिम्बों का ललचाता रूप उभरता होता है। फल यह है कि पूर्वीय कला में मनन, भावन, एकाग्रता है; पाश्चात्य कला में विस्मय, जिज्ञासा, औत्सुक्यादि।[८१]

विषम इन्द्रिय-बोध की कविताएँ छायावाद, प्रयोगवाद, प्रपद्यवाद तथा नई कविता में क्रमशः अधिकाधिक रची गई हैं। उदाहरण-स्वरूप प्रसाद की निम्न पंक्तियों में कई इन्द्रियों के बिम्ब एकत्र सचरित हैं—

> "व्यस्तनील में चल प्रकाश का कम्पन सुख बन बजता था।" —कामायनी

इसमें दृश्य, गत्वर, स्पार्श और श्रव्य बिम्ब एक साथ घुलेमिले हैं। निराला की निम्न पंक्तियों में उसी भाँति मिश्रेन्द्रिय-व्यापार हैं —

> मृदु सुगंध-सी कोमल दल फूलों की शशि किरणों सी वह प्यारी मुस्कान।
> स्वच्छन्द गगन की मुक्त वायुसी चंचल, खोई स्मृति की फिर आई-सी पहिचान।

मुस्कान में घ्राण, चक्षु, स्पर्श इन्द्रियों के गुण-धर्म मूर्त्तामूर्त्त रूप में आ जुटे हैं। पंत की निम्न पंक्तियों में भी अनेक इन्द्रियों के कोमल सांकेतिक सचरण और विनिमय द्रष्टव्य है—

> एक जल कण, जलद शिशु, सुकुमारता-सा पलक पर, आ पड़ा सुकुमारता-सा,
> गान सा, चाह-सा, सुधि-सा, सगुन-सा, स्वप्न-सा।

अनुरंजन की निम्न पंक्तियाँ इन्द्रियों में सहचरण-व्यापार के और भी स्पष्ट संकेत देती हैं।

स्तब्ध शान्त वातावरण कक्ष का : स्वच्छ पूजा के अगरु-सा,
निश्छल शिशु-कर-स्पर्श-सा, मा के स्तन-का।

शांत (श्राव्य बिम्ब) वातावरण को दृश्य और गंध-युक्त स्पार्श बिम्बों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उसी भाँति निम्न मिश्र बिम्ब मनोरम हैं—

देव-दम्पति के परस्पर-पार्श्ववर्ती मन्दिरों के शिखर की ज्यों युगल कलशी को
कँपाता, गूँजता हो·····अगुरु धूमिल आरती। —अज्ञेय ' इत्यलम्

जिसमें मुखर तपती वासनाएँ —आँगन के पार द्वार

आधुनिक कवियों ने कुछ विरूप, विसदृश, बिम्ब-विधान द्वारा जटिल और निबिड़ प्रतीति के लिए बड़े विचक्षण प्रयोग भी किए हैं, जो रम्य भी हैं और मानवीय विसंगति के संकेतक भी। यथा—

रात्रि के श्यामल ओस से क्षालित
महकता है लगातार
मात्र सुगंध है सब ओर,
कोई छिपी वेदना, कोई गुप्त चिन्ता

कोई गुरु-गंभीर महान् अस्तित्व
अंधेरे में पता नहीं चलता
पर, उस महक-लहर में
छटपटा रही है, छटपटा रही है।

—मुक्तिबोध ' चाँद का मुँह टेढ़ा है

अब बिम्ब के मनोवैज्ञानिक स्वरूप, प्रकार आदि देख लिए जायँ।

बिम्ब : मनोवैज्ञानिक प्रकार

मानव जीवन की तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। इन अवस्थाओं में वह सामान्यतः चेतन और अवचेतन/अचेतन मानस की लक्ष्यालक्ष्य प्रेरणाओं से परिचालित रह कर जागतिक आदि क्रियाओं में लगा होता है।

१. जाग्रत अवस्था : क–प्रत्यक्ष से सम्बद्ध बिम्ब—

१. **संवेदन बिम्ब**—व्यक्ति प्रतिक्षण प्रत्यक्ष-ग्रहण करता होता है। प्रत्यक्ष-ग्रहण मे संवेदन तो स्नायुओं में स्पन्दित होते हैं पर ये संवेदन पूर्ववर्त्ती अनुकूल और प्रतिकूल सवेदनों को भी जाग्रत करते हैं। संवेदन-बिम्ब वस्तुगत बिम्ब हैं और शरीर के एकदेशीय क्षोभ हैं। द्रष्टव्य पृष्ठ-२०४ भी।

अक्षि-बिम्बः शरीरज बिम्ब :—दृष्टि-पटल पर अंकित दृश्य पदार्थ के प्रतिक्षिप्त चित्र दृष्टि-बिम्ब हैं। जहाँ तक वे आँख में वर्तित हैं, वे अक्षि-बिम्ब हैं; अतएव देहज हैं। किन्तु दृष्टि की अक्षि-तन्त्रिकाओं में सम्वेदन उत्पन्न कर वे मस्तिष्क के स्नायुओं में उन्हे प्रेषित भी कर रहे हैं। मानस

उनका ऐन्द्रिय बिम्ब द्वारा बोध भी कर रहा है। इस प्रकार पदार्थ का प्रत्यक्ष-ज्ञान चेतना में ऐन्द्रिय बिम्ब के रूप मे होता है।[६३] अन्य इन्द्रियों में भी इसी प्रकार के संवेदन होते हैं, पर अक्षि-बिम्ब-जैसे स्फुट नहीं होते।

द्विबिम्बन-प्रक्रिया (डबल इमेज) :—अक्षि-बिम्ब एवं चाक्षुष (दृश्य) बिम्ब में एक और विशेषता है, कि दो आँखों के दो पटलों पर वस्तुओ के दो अक्स पड़ते हैं, बायी आँख पर वस्तु की बायी ओर का और दाहिनी आँख पर उसके दाहिने पार्श्व का। ये दोनों अक्स मानस-पटल पर बिम्ब-युग्म की प्रतिच्छवि अङ्कित करते हैं। ये दोनों एक दूसरे से मिल जाते हैं, और फलतः एक ही दृश्य-बिम्ब गोचर होता है। आँखो की इस द्विधा बिम्बन-प्रक्रिया के कारण ही परिप्रेक्ष्य, दूरी, एव वस्तुओं की मोटाई, छायातप आदि का हल्का-बोध होता है।[६४] इस प्रक्रिया का उद्घाटन मनोविज्ञानी हेरिंग (१८६१-१८६४) ने किया था।

२. **प्रत्यक्ष बिम्ब** :—सवेदन जब मानस-पटल पर, अंशतः अथवा पूर्णतः प्रतिच्छायित-से होते है और चित्त को उनका बोध होता है, तब वे प्रत्यक्ष-बिम्ब कहलाते है। (द्रष्टव्य पृष्ठ-२०४ तथा ४६०-४६४)।

शरीरज बिम्ब, संवेदन एवं प्रत्यक्ष :—(क) शरीरज अक्षि-बिम्ब अथवा अन्य इन्द्रिय-प्रणालिकाओं की भी स्व-विषय-स्पन्दन की नेत्र-जैसी प्रक्रिया, (ख) शरीरज स्नायु-स्पन्दन, जो पदार्थ के या बाह्य उद्दीपन के इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से इन्द्रिय-तंत्रिकाओ में प्रारंभ हो मस्तिष्क में दौड़ जाता है, और जो सवेदन कहलाता है, तथा (ग) उस सवेदन का मस्तिष्क के चेतोसंस्थान के द्वारा प्रत्यक्ष-बोध, जो मानसिक प्रक्रिया है, बिम्ब के प्रकृत प्रकार उतने नहीं माने गये हैं, जितने क्रमशः शरीरी स्पन्दन, ऐन्द्रिय संवेदन और प्रत्यक्ष। कारण यह है कि मनोविज्ञान के अनुसार इन्हें बाह्य उद्दीपन पर अधिक अवलम्बित माना जाता है और मानस के चेतन उद्भावन का योग इनमें कम स्वीकार किया जाता है। इनमें से (ग) में अवश्य ही चेतन उद्भावन की प्रक्रिया अपेक्षया अधिक है; इस कारण वह बिम्ब-सा है।

३. **पश्च-बिम्ब अथवा अनुबिम्ब (आफ्टर इमेज)** :—प्रत्यक्ष-बोध के उपरान्त प्रत्यक्षीकृत पदार्थ या उद्दीपन के हट जाने पर भी उसके बिम्ब कुछ काल तक इन्द्रिय-प्रणालिकाओं और मस्तिष्क में प्रभावरूप में अवशिष्ट-से रहते हैं। वे तुरन्त लुप्त नही होते। उनके प्रभाव धीरे-धीरे धूमिल पड़ते

हैं। इसी प्रकार उद्दीपन के हट जाने पर मानसदृष्टि पर प्रत्यंकित चित्रवत् या कर्ण-कुहरो मे प्रतिध्वनित अनुरणनवत् उनकी गूँज इन्द्रिय-प्रणालिकाओ और मस्तिष्क में प्रतिच्छायित-सी रहती है। वे पश्च-सवेदन, अनु-सवेदन या अनु-बिम्ब कहलाते हैं। ये स्मृति-बिम्ब के लगभग आरंभिक अवयव-जैसे होते हैं।

अनुबिम्ब चक्षु, श्रोत्र, घ्राणादि सभी ज्ञानेन्द्रियों मे लगभग समान होते है। गति के भी पश्चबिम्ब कुछ व्यक्तियों को लम्बी यात्रा या तेज रफ्तार की गति के उपरान्त कुछ काल तक प्रतीत होते हैं। चाक्षुप अनुबिम्ब के अनुलोम (पोजिटिव) और विलोम (निगेटिव) दो प्रकार बताये गये हैं और उनके अनेक विलक्षण लक्षणों का अध्ययन किया गया है। अनुबिम्ब-काल में फिर से समान उद्दीपन उपस्थित हो जाय, तो अक्षि-पट तीव्र प्रतिक्रिया नहीं कर सकता; परन्तु विपरीत वस्तु आ जाय, तो प्रतिक्रिया अभिवृद्ध संवेदनीयता से करता है। इससे यह अनुमान होता है, कि अनुबिम्ब द्वितीय बार उसी उद्दीपन या तत्समान उद्दीपन को निषिद्ध करने का साधन है, अर्थात् नवीन, विपरीत उद्दीपन की मांग करने का एक तरीका है।[६५] मैक्डूगल ने अनुबिम्ब को थकान के कारण बना सवेदन माना था; जो इस कारण भी भ्रान्त है, कि विश्रान्ति के बाद भी अनुबिम्ब की प्रक्रिया होती है। अनुलोम या सम अनुबिम्बों के अनुभव सवेदन-ग्रहण या प्रतीतिकाल के बाद भी टिके रहते हैं,[६६] संभवतः इसलिए कि प्राणी को पूर्ण अभियोजन के लिए कुछ लम्बा समय मिल जाय; अथवा वे चालन-मांसपेशियों मे स्पन्दन के निदर्शक हैं, ताकि प्रतीति के बाद भी ये निष्क्रिय रूप से गतिशील (इनर्शिया) रहें।

द्रष्टव्य यह है कि ये बिम्ब व्यक्ति या पदार्थ के मनश्चित्र : मानसी प्रतिकृति, अक्षि-पट पर पड़ने वाले उनके अक्स और/अथवा उसी प्रकार अन्य इन्द्रिय-प्रणालिकाओं मे होनेवाले स्पन्दनादि-जैसे होते हैं। ये संग्राहक यन्त्र पर अङ्कित उद्दीपक पदार्थ की प्रतिच्छवि होते हैं। यह भी स्मरणीय है कि संवेदन स्नायविक व्यापार है; अतएव स्वतः वह अरूप होता है; पर स्पन्दन, चालनादि क्रियाओ से सम्बद्ध रहता है। परन्तु इन्द्रिय-बोध या प्रत्यक्ष-बोध मानसिक क्रिया है और मानस का योग होते ही संवेदन प्रत्यक्ष-ज्ञान या प्रतीति (पर्सेपशन) में रूप ग्रहण करता है। 'प्रतीति' अनेक कारणो से स-रूप, स्पष्टतर और बिम्बात्मक होती है। प्रतीति और बिम्ब व्यक्ति-परक हैं। बिम्ब में परिवर्त्तन

और विकास प्रतीति में भी विकास लाते है, व्यवहार-क्रम मे भी।[९७] किन्तु प्रत्यक्षबोध या प्रतीति और बिम्ब के कुछ स्पष्ट भेदक धर्म है :—

(१) बिम्ब का स्वरूप अपेक्षाकृत धूमिल, तथा अनिश्चित होना है।

(२) बिम्ब अस्थिर होते है—उनकी प्रवृत्ति संचारी होती है और चूँकि वे किसी पूर्वानुभव की आवृत्ति का निरूपण करते है, अत. उनसे सम्बद्ध पदार्थ, या स्थिति के विषय मे नवीन तथ्य का प्रकाशन नही होता।

(३) बाह्य उद्दीपन के अभाव मे, जैसे आँखे मूँद लेने पर या कान बन्द कर लेने पर जब कि पूर्वानुभव की आवृत्ति के लिए अधिक अवकाश मिल जाता है, बिम्बो की निर्मिति अधिक सरल और सुगम हो जाती है।

(४) बिम्बों के लिए आवश्यक नही है कि वे वास्तविक पदार्थों के सर्वथा अनुरूप हो। वस्तुतः उनमे बाह्य पदार्थों की जो प्रतिच्छवियाँ उपस्थित होती हैं वे प्रायः अस्तव्यस्त, विकृत, अतिरंजित, अपूर्ण अथवा किसी दूसरे प्रकार से परिवर्तित या मिश्रित होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रत्यक्ष-ज्ञान की अपेक्षा बिम्ब व्यक्ति की आन्तरिक आवश्यकताओ के अधिक अनुकूल पडते हैं। ज्यो-ज्यो चिंतन बहिर्मुखी या यथार्थोन्मुख होता जाता है, त्यो-त्यो बिम्बो की संख्या घटती जाती है, तथा प्रत्यक्ष ज्ञान का उपयोग बढता जाता है, और जैसे-जैसे चिन्तन अन्तर्मुख होता जाता है, वैसे-वैसे प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व गौण होने लगता है और बिम्बो की संख्या एवं शक्ति बढ़ती जाती है।[९८]

परन्तु सी० डब्ल्यू पर्की ने प्रयोग कर यह पाया कि पदार्थ का भी ग्रहण बहुधा व्यक्ति स्वानुभूत बिम्ब के रूप मे करता है। उनके बाद भी अनेक प्रयोग हुए और अब निष्कर्षतः यह स्पष्ट शब्दों मे कहा जा सकता है कि धूमिल मानस-बिम्ब और क्षीण संवेदनगत प्रभाव मे अन्तर करना कठिन है।[९९]

प्रत्यक्ष से सम्बद्ध बिम्ब इन्द्रिय-प्रणालिओं के अनुसार निम्न हैं—

१. चक्षु—चाक्षुष बिम्ब-(रूप) २ श्रुति—श्रवण बिम्ब-(शब्द, नाद)

३. घ्राण—घ्राण बिम्ब-(गंध) ४. त्वक्—स्पार्श बिम्ब-(स्पर्श)

५. रसना—स्वाद बिम्ब-(रस) ६ शारीरिक संतुलनादि एवं गति का अनुभव करने वाली इन्द्रिय—गति-बिम्ब—(गति)।

इनके अतिरिक्त शरीर के वाह्य और आभ्यन्तर जैव अवयवों के भी अनुभव व्यक्ति को सदा किसी न किसी रूप में प्रतीत होते रहते हैं। ये जैविक प्रत्यक्ष (अथवा प्रतीति) व्यक्ति की गति, संतुलन आदि देने वाली इन्द्रिय-प्रक्रिया के साथ मिल कर प्रति क्षण उन्हें अलक्ष्य या लक्ष्य रूप में यह बताते रहते हैं कि वह कैसा है। वे उसके रागादि को, भाव को, एवं शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को प्रतिबिम्बित करते रहते हैं। इनकी रंगत, एक प्रकार से उपरिवर्णित ज्ञानेन्द्रियों की बिम्बन-प्रक्रिया पर भी छायातप बुनती है। इस हेतु ये महत्वपूर्ण हैं।[७०] फिर प्रत्यक्ष-बोध और प्रत्यक्ष-बिम्ब में पूर्वानुभूत स्मृति-बिम्बों आदि के भी लक्ष्यालक्ष्य योग तो रहते ही हैं।

ख-परोक्ष-अनुभव से सम्बद्ध बिम्ब :—

४ स्मृति-बिम्ब :—प्रत्यक्ष-बिम्बों के अनन्तर, उन-उन बिम्बों के अनुबिम्ब भी होते हैं, या हो सकते हैं। ये प्राथमिक स्मृति-बिम्ब-जैसे होते हैं।

सन् १८८३ ई० में सर फ्रांसिस गॉल्टन ने अपने समय के अनेक मनीषियों आदि के पास कुछ प्रश्नावली भेज कर उनके उत्तर मगवाए और उनका आकलन कर विस्तृत विश्लेषणात्मक अध्ययन 'इन्क्वायरी इनटू ह्यूमन फेकल्टी ऍंड इट्स डेवेलपमेंट' पुस्तक मे प्रस्तुत किया। बिम्बों के अध्ययन की अनेक दिशाओ को एवं विशेषकर स्मृति-बिम्बो से सम्बन्धित ज्ञातव्य अनेक तथ्यों को उद्घाटित करने वाला यह ग्रंथ युगान्तरकारी था।

बाह्य उद्दीपनों के अभाव में भी मनुष्य पूर्वकालिक अनुभवों के आधार पर जो मानस-साक्षात्कार करता है, वह स्मृति है, और यदि यह स्मृति बिम्बात्मक हुई, तो स्मृति-बिम्ब मानसपटल पर प्रत्यंकित हो उठते हैं। स्मृति-बिम्ब के भी वे ही भेद हैं जो प्रत्यक्ष अनुभव से सम्बद्ध बिम्ब के। पिछले पृष्ठ-२०६-७ पर उनके प्रकार आदि भी बताए गए है।

फ्रांसिस गॉल्टल के अध्ययन के बाद व्यक्तियों को बिम्बन-प्रक्रिया के अनुसार वर्गीकृत करने का प्रयास किया गया था और यदि वे दृश्य-बिम्ब के द्रष्टा अधिक थे, तो उन्हे चाक्षुषी, शब्द या नाद बिम्बों के श्रोता अधिक थे, तो उन्हे श्रवणेन्द्रिय-प्रधान और इसी प्रकार अन्यों को भी पृथक्-पृथक् माना गया था। परन्तु कालान्तर मे यह वर्गीकरण भ्रान्त सिद्ध हुआ। क्योंकि, व्यक्ति यदि बिम्बगृहीता है, तो वह सभी बिम्बो का ग्रहण करता है; कम या अधिक,

यह दूसरी बात है। १९०९ ई० में अमरीका के मनोविज्ञानी जी० एच० बेट्स ने इस निष्कर्ष द्वारा गॉल्टन के सिद्धान्त का परिशोधन किया।[१]

गॉल्टन के अध्ययन से चार अन्य निष्कर्ष, बिम्ब की सामान्य प्रवृत्तियों से सम्बद्ध, प्राप्त हुए :—

१. (क) दृश्य बिम्ब सबसे साधारण और प्रधानतः गोचर बिम्ब है, श्रव्य बिम्ब का स्थान उसके बाद आता है, तब स्पर्श बिम्ब का।

(ख) इन तीनों के उपरान्त बिम्बों का अधिमान-क्रम क्रमशः है, गति, स्वाद और निजी जैव बिम्ब।

(ग) गंध बिम्ब सबसे असामान्य और गोचरता की दृष्टि से क्षीण बिम्ब है।

२. बिम्ब-द्रष्टा किसी एक बिम्ब-प्रणालिका से बँधा नहीं प्रतीत होता। वह दृश्य बिम्ब का द्रष्टा है, तो अन्य बिम्बों की ग्रहण क्षमता में भी दूसरे की अपेक्षा तीव्र ही होगा। इस प्रकार बिम्बन सर्वगामिन ऐन्द्रिय प्रक्रिया है, न कि विशेषीकृत।

३. तन्द्रिल एवं स्वाप (हिप्नोगॉगिक तथा स्वप्नान्तर जागरण) की अवस्था में बिम्ब तीव्र गति और प्रखर गोचरता से स्वतः उद्भूत होते हैं। इस अवस्था में दृश्य-बिम्ब इतने मूर्त और साफ होते हैं कि लगता है उनका स्पर्श हो रहा हो; ध्वनि-बिम्ब ऐसे सुनाई पड़ते हैं, कि सारी ग्राहिका-सवाहिका स्नायु-प्रणालियाँ, मांसपेशियाँ आदि झनझना उठती हैं।

४–(क) बिम्बन स्मरण के विषय पर आश्रित है, अर्थात् यदि ठोस वस्तु के प्रत्याह्वान का हो, तो वह प्रायः तद्रूप होगा; यदि अमूर्त बुद्धि-सूम का तो निर्बिम्ब भी हो सकता है।

(ख) अमूर्त चिंतक के चिंतन, प्रत्याह्वानादि प्रायः निर्बिम्ब होते हैं; और इसके मूल में अवस्था आदि भेद एवं अन्य अनेक कारण हैं।

(ग) बिम्बन-क्षमता की दृष्टि से मनुष्यों में बड़ा व्यापक अन्तर है; परन्तु निर्बिम्ब-चिंतक के बाह्य व्यवहार भी प्रायः वैसे ही होते हैं, जैसे बिम्ब-कल्पकों के।[२]

बिम्ब-सहचार या बिम्बासंग :—स्मृति-बिम्बादि में बिम्बों के सहचरण के भी अनुभव होते है, अर्थात् वैसे बिम्ब भी उद्भूत हो उठते हैं, जिनका स्मरण

के विषय से सीधा सम्बन्ध नहीं : पूर्वोल्लिखित उदाहरण में 'नालो' के स्मरण से दुर्गन्ध और सहचर अस्पताल के बिम्ब वैसे ही हैं। प्रिया-स्मरण से उसके स्पर्श का बिम्ब और फिर सहचर इस प्रकार के बिम्ब भी उभर आयेंगे—

> तुम्हारे छूने में था प्राण, संग में पावन गंग-स्नान;
> तुम्हारी वाणी में कल्याणि, त्रिवेणी की लहरों का गान। —पंत, आँसू की बालिका

कुछ व्यक्ति दुर्गापूजा, होली, आदि त्योहारों का भी स्मरण सहचर बिम्बों के माध्यम से करते हैं, जैसे दुर्गापूजा—धूप, अगरु आदि की सुगंध के घ्राण-बिम्ब से; होली—रंग, अबीर आदि के दृश्य-बिम्बों और हुडदंग—आमोद-प्रमोद के गति-बिम्बों से। यही नहीं, वर्ष, महीने, दिन आदि भी सहचर बिम्बों के माध्यम से स्मृत किये जाते हैं; उदाहरणस्वरूप रविवार—मुक्त फैलाव-सा; अथवा करवट बदल-बदल कर सोनेवाले सा, अथवा घरेलू जीवन-सा आदि।[७३]

५ **कल्पना-बिम्ब** :—स्मृति-बिम्ब और कल्पना-बिम्ब स्वरूपत. एक हो कर भी रचना-प्रक्रिया और आन्तरिक निर्मिति में भिन्न है, यह पृष्ठ २०४-२२४ पर बताया गया है। स्मृति-बिम्ब पूर्वकालिक अनुभव की आवृत्ति-सा होता है, कल्पना-बिम्ब नवीन रचना, अभिनव व्यवस्थापन है। फिर स्मृति-बिम्ब विगतोन्मुखी होता है एवं मात्र वर्त्तमान से सम्बद्ध, कल्पना-बिम्ब विगत के आधार पर, भविष्योन्मुखी सर्जन है; वर्त्तमान से मुक्ति है। स्मृति-बिम्ब के आन्तरिक द्रव्य (कन्टेन्ट) अधिकाशत. वास्तविक या यथार्थ मात्र होते हैं, कल्पना-बिम्ब शमित (सप्रेस्ड) दमित (रिप्रेस्ड) नाना वृत्तियों के प्रातीकिक संरूपों (सिम्बालिक पैटर्न्स) से निर्मित होते है। अतएव उनमे मिथक, पूजाकृत्य, जादू, टोने आदि के नाना तत्व अपनी प्रातीकिक अभिव्यक्ति पा लेते हैं। उदाहरण-स्वरूप यह कविता ली जाय :—

संताली छोकरा

> सूअर की पीठ पर सवार, मचलता संताली छोकरा
> जैसे पहाडियों के सिर पर टिका बादल का टुकड़ा —खगेन्द्र ठाकुर, धार एक व्याकुल

पहली पंक्ति प्रत्यक्ष-बिम्ब है, दूसरी पंक्ति प्रत्यक्षाश्रित स्मृति-बिम्ब : दोनों को मिला देने वाले 'जैसे' शब्द ने दोनों के द्वारा एक अभिनव कल्पना-बिम्ब प्रस्तुत कर दिया है। यह दृश्य-बिम्ब सटीक, सगत और स्वच्छ भी है। इसमें स्वच्छन्द और प्रकृतिस्थ मुक्तता है।

पेड़ अमलतास का

चंचल किशोरी ने — फाल्गुनी संध्या मे
पहनी थी पीत-पीत चोली — और साडी पीत-पीत
तो — चीरहरण कर भागा कोई।
पकड़ाया बैशाख में — रंगे हाथ चोर वह पेड अमलतास का —वचनदेव ' ईहामृग

प्रहर्षिता की भाँति फूले हुए अमलतास के वृक्ष पर यह कल्पना 'संताली छोकरा' से अधिक कौशलपूर्ण है। द्रष्टव्य यह है कि फाल्गुनी संध्या की कल्पना चंचल किशोरी के रूप मे और उस संध्या की पीतता की कल्पना किशोरी के पीले वस्त्र के रूप में की गयी है। फिर बैशाख में फूले हुए 'अमलतास' की कल्पना रंगे हाथ पकडाने वाले 'चीरहरण-कर्त्ता चोर' के रूप में की गयी है। अवश्य ही, पहले दो बिम्ब प्रत्यक्षाश्रित कल्पना के हैं और अंतिम स्मृति के आधार पर सर्जनात्मक कल्पना का। समग्रत: इस कल्पना मे रसपूर्ण 'प्रच्छन्न प्रतीक' भी है। 'चीर-हरण कर भागा कोई' से मानस-पटल पर 'चीर-हरण' की कृष्ण-लीला का बिम्बासग उभरता है। इससे समस्त बिम्ब-कल्पना को मिथकीय आयाम प्राप्त होता है।

कल्पना-बिम्ब के प्रकार मनोविज्ञान में पुनरावृत्त्यात्मक, रचनात्मक, नियंत्रित, अनियन्त्रित आदि बताए गए है। कविता में उन सबके विविध विन्यास मिलते हैं। चिंतामणि और रसमीमासा में आ० रामचन्द्र शुक्ल के रूप-विधान के भेद बिम्ब-भेद ही हैं [७४] जिनके प्रकार हैं—(१) विशुद्ध स्मृति और (२) प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान तथा (३) स्मृत्याभास कल्पना एव (४) कल्पना, जो मूलत: प्रस्तुत रूप-विधान एव अप्रस्तुत रूप विधान के दो रूपो में समस्त काव्य में विन्यस्त रहती है। [७५] काव्य प्रधानतः प्रत्यक्ष, स्मृति-और कल्पना-बिम्ब पर आश्रित किन्तु कल्पना द्वारा रचित होता है।

प्रत्यक्ष और स्मृत और कल्पना-बिम्ब में अन्तर :—

प्रत्यक्ष संवेदना का आकारीकरण है, स्मृति उसका पुनरुद्भावन और कल्पना नव सर्जन। फलत: प्रत्यक्ष बिम्ब स्फुट और तीव्र एवं विशद होता है, स्मृति-बिम्ब क्षीण और आंशिक और कल्पना-बिम्ब कल्पना की प्रखरता और क्षीणता पर एवं विषय-वस्तु की भी तद्वत्ता पर आधृत होगा। परन्तु यह अन्तर व्यापक नही। विशेष क्षणो मे स्मृति-बिम्ब प्रत्यक्ष से भी तीव्र और विस्तृत हो उठते हैं, तथा कल्पना-बिम्ब भी सजीव और व्यापक रूप धारण कर लेते हैं।

स्मृति-बिम्ब देशकालादि से अवच्छिन्न होते है, कल्पना-बिम्ब सदा ताजा रहते हैं। इसके विपरीत गेस्टाल्टवादी स्मृति-बिम्ब को भी दृढ़ और स्थायी मानते हैं। फिर भी स्मृति-बिम्ब परिचय के पुरानेपन से मंडित रहते हैं और कल्पना-बिम्ब क्षण-क्षण नवीन होते रहते हैं। मनोविज्ञानी टिचनर के अनुसार

> स्मृति-बिम्ब धूमिल और वाष्पीय प्रतीत होते हैं, उनमें अत्यल्प उभार रहता है। किन्तु कल्पना-बिम्ब में दार्ढ्य गुण होता है; वे तीसरे आयाम में प्रसरित होते हैं, तथा बहुधा प्रखर रंगों से मंडित होते हैं। स्मृति-बिम्ब धीरे-धीरे विकसित होते हैं, कालक्रमवश परिवर्तित होते हैं, तथा क्षणस्थायी हैं। परन्तु कल्पना के बिम्ब तुरत उभर आते हैं और पूर्ण प्रतीत होते हैं, अत्यल्प परिवर्तित होते हैं अथवा बदलते ही नहीं और दीर्घस्थायी होते हैं। स्मृति-बिम्ब चालन उद्भूत करते हैं, कल्पना-बिम्ब प्रशान्ति।[७६]

दार्शनिक मूर ने स्मृति एव कल्पनागत बिम्बो में 'बिम्बत्व' को तो माना ही, उसके अलावा यह भी माना कि वैसे बिम्ब कुछ धूमिल, अस्पष्ट, अज्ञेय-से भी रहते हैं : अर्थात् उनमे दो विशेषताएँ रहती हैं— १—बिम्ब का ठोस आकारबद्ध रूप तथा २—उसके परिपार्श्व में या ऊपर आच्छन्न उसका धुंधला, अज्ञात-सा रूप।[७७]

२. तन्द्रा, निद्रा और स्वप्नावस्था के बिम्ब :—

६ तन्द्रा-बिम्ब :—निद्रा मे लीन होने के कुछ क्षण पहले या बाद तन्द्राबिम्ब (हिप्नोगॉगिक इमेजरी) और स्वप्न देख कर जग जाने के तुरन्त बाद स्वाप-बिम्ब स्वतः या स्वप्नाधृत अथवा यदृच्छा रूप मे मानस-पटल पर उभर आते हैं। ये बिम्ब भी चक्षु, श्रवण, त्वक्, गति, स्वादादि के होते है। कहा जाता है कि तन्द्राबिम्ब द्वारा प्राप्त बिम्बपुंजों का उपयोग रिचर्ड वैग्नर नामक संगीत विशारद, लेविस कैरोल नामक कथाकार और कवि विलियम ब्लेक ने क्रमशः अपने सगीत, कथा और चित्र मे किया था। लेविस कैरोल ने तो उन बिम्बों को अंकित करने के लिए निकटोग्राफ नामक एक यंत्र ईजाद किया था। विलियम ब्लेक इन बिम्बो मे सम्मोहनदशा मे आ जाते थे और नाना मिथ्या प्रत्यक्ष (हेल्युसिनेशन) के बिम्ब प्राप्त करते थे, जो उनके कुछ चित्रों में भी बिम्बित हैं।[७८]

ये सारे बिम्ब इन्द्रिय-प्रणालियों से गृहीत होकर चाक्षुष, श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्य, रस्य आदि प्रकार के होते हैं और मिश्र भी।

७. **स्वाप-बिम्ब**—स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न के अरूप, अगम स्थलों को रूप देता और रिक्त स्थानों की पूर्त्ति करता है। इस प्रकार वह स्वप्न को अन्वित अर्थ दे और अधिक पुष्ट रूप से ग्रथित होने देता है। यही स्वापबिम्ब है। सपने में उसने देखा वृक्ष गिरा है, फिर देखा नदी ऊपर उठ गई है। स्वाप-बिम्ब में वृक्ष का गिरना 'नदी की धारा' में समझ लिया जायगा, और तब 'उसके पानी का उठना'।

८. **दिवास्वप्न-बिम्ब**—मनतरंग के व्यापार हैं। अचेतन-उपचेतन मन दिवास्वप्नादि मे इच्छानुरूप बिम्ब-कल्पना द्वारा व्यक्तिगत अचेतन की अपनी इच्छाओं की पूर्त्ति करता है।

पिछले पृष्ठ १८६-१६७ तथा २१६-२१८ पर और २८० की ५२ संख्यक टिप्पणी पर 'फैंसी–फैंटेसी' को भी कल्पना-प्रकार बताया गया है जिसमें अवचेतन, अचेतन, उपचेतन की प्रेरणाएँ प्रभावशाली रहती हैं। मनोविज्ञानी युंग के अनुसार सर्जनात्मक स्फुरणा के मूल मे फैंटेसी है। इसकी अभिप्रेरणा से असामान्य, विलक्षण, अगम, मौलिक, शक्तिशाली और समृद्धबिम्ब स्फूर्त होते हैं। किन्तु रचनात्मक कल्पना से युक्त कलाकार ही उन्हे रूप दे सकता और जीवत, सौन्दर्यिक अन्विति प्रदान कर सकता है।[७६]

६. **स्वप्न-बिम्ब**—इसकी विशिष्टताएँ सघनन, अस्पष्टता, प्रातीकिकता, और विलक्षणता हैं। ये बिम्ब जटिल एवं गहन अर्थों के समूह होते हैं। इनमे व्यक्ति के प्राक्-चेतन, व्यक्तिगत अचेतन मानस के एवं आद्यबिम्ब के नाना इच्छा-रागों के पुंज अन्तर्लीन रहते हैं। **नीत्शे** का कथन है कि—नीद मे और स्वप्न मे हम अपने से पहले की मनुष्यता की समस्त विचार-सरणियो को पार करते होते हैं।[८०] जागने पर स्वप्नों के कुछ ही अंश शेष रहते हैं। ये अंश स्वप्न-बिम्बो में गोचर प्रतीत होते हैं। स्वप्न-बिम्बो के सकेत-चिह्नों अथवा आकृतियों से अनेक 'प्रतीक-चिह्न', अभिप्राय (मोटिफ, फेटिश) उद्भूत हुए हैं।

१०. **मिथ्या प्रत्यक्ष या भ्रान्तिजन्य बिम्ब** (हैलुसिनेटरी इमेज)—मन की भ्रान्ति से अथवा इन्द्रियों के मिथ्या-प्रत्यक्ष के कारण ऐसे बिम्ब उद्भूत होते हैं। रस्सी को साँप समझ लेने के मिथ्या प्रत्यक्ष के भ्रम में पड़ हम तदनुरूप प्रतिक्रिया कर उठते हैं।

११ **मानस-भ्रम** (इल्युजरी इमेज) अर्थात् अभाव में भावकल्पना भ्रान्ति का दूसरा प्रकार है। जहाँ कुछ नही है, वहाँ भी हम किसी वस्तु का 'बिम्ब'

कल्पित कर तदनुसार क्रियारत होते है। पहला भ्रम इन्द्रियज है और स्मर्यमाण पर आरोप है क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय को टेढ़ा-सा, लम्बा-सा कुछ दिखाई पड़ा और स्मरण ने साँप का बिम्ब उद्भूत कर दृश्य के वक्र, लम्बे आकार पर आरोपित कर डाला। किन्तु दूसरा भ्रम मानसिक उद्भावना है, क्योंकि वह दूषित प्रत्यक्षजन्य नहीं, अपितु बुद्धि, भावना, अहं आदि से उद्भूत है।[८१]

१२. **आर्केटाइप : आद्यबिम्ब या प्रतीक**--पिछले अध्याय के २२५-२३४ पृष्ठों पर यह बताया जा चुका है कि किस प्रकार मनोविश्लेषक युंग ने चेतनेतर मन को आद्य मानस माना है। सकल मानस को उन्होंने 'मनीषा' (साइके) नाम दिया है और उसके आन्तरिक विश्व को, जो डॉ० प्रोग्राफ के अनुसार 'दिक्कालनिरपेक्ष प्रसार-जैसा' है, तीन स्तरों मे विभाजित कर प्रस्तुत किया है--(१) इगो या चेतन, (२) वैयक्तिक अचेतन और (३) सामूहिक अचेतन। द्वितीय और तृतीय स्तर चेतन का सृजन करने वाली माता के समान हैं।

वैयक्तिक अचेतन---प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन-काल मे जिन दमित-शमित इच्छा-रागादि के अनुभव का संचय अचेतन में अनायास करता रहता है, उन अनुभव-पुंजों को 'वैयक्तिक अचेतन' कहते हैं। फ्रायड ने इसे काम-वृत्ति-मूलक माना था। युंग ने उसमें नाना प्रकार की भावनाओं की द्विध्रुवीयता बताई है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसके लक्षण व्यक्ति-व्यक्ति के निजी होते हैं।[८२] फ्रायड ने वैयक्तिक अवचेतन के शीर्ष को, जो लगभग चेतन को स्पर्श करता होता है, 'प्राक्-चेतन' नाम दिया था और 'उपचेतन' उस मध्य स्थल को बताया था जहाँ चेतन और अवचेतन दोनों भागों की मानसिक प्रक्रियाएँ घटित होती हैं। युंग की 'वैयक्तिक अचेतन' की अवधारणा मे ये दोनों हिस्से अन्तर्भुक्त हैं।[८३] पुनः 'प्राक्-चेतन' अभिधान मन की उस पुराकालीन अवस्था का नाम होना चाहिए जब विकास-यात्रा में चेतना और मन का उदय हो रहा था।

वैयक्तिक अचेतन सामूहिक अचेतन से भिन्न इस अर्थ में है कि उसका निर्माण ऐसी सामग्री से होता है जिसका व्यक्ति द्वारा किसी समय चेतन अनुभव किया गया था, पर जो अब दमित होकर विस्मृत अथवा विलुप्त-सा हो गया है। इसके विपरीत सामूहिक अचेतन की सामग्री चेतन मन का विषय और व्यक्तिगत अनुभव-सम्पत्ति कभी नहीं बनती। वह पूर्णतः आनुवंशिकता पर निर्भर करती है। पुनः वैयक्तिक अचेतन मे अधिकतर

ग्रंथियाँ, यथा—आत्ममौग्ध्य, वैकल्य-भीति, विरोध-भीति, एकाकी-भीति, शोषण-भीति, निरवलम्बता, ईडियस और एलेक्ट्रा (माता के प्रति पुत्र और पिता के प्रति पुत्री के विषम लैंगिक कर्षण से सम्बन्धित पुत्र का पितृद्वेष और पुत्री का मातृद्वेष) आदि की ग्रंथियाँ रहती हैं, जब कि सामूहिक अचेतन का निर्माण आद्य-प्रतीकों या बिम्बों से होता है।

यदि किसी व्यक्ति के मातृ-विषयक अनुभव कटु रहे हैं, तो 'पत्नी' और 'नारी' मात्र के प्रति उसके व्यवहार, चिन्तन आदि में असामान्यता के लक्षण दिखाई पड़ेंगे; उदाहरण-स्वरूप शेक्सपीयर के 'हैमलेट' में। गो० तुलसीदास के 'मानस' में जो 'नारी-निन्दा' है वह भी वैयक्तिक अचेतन से प्रेरित प्रतीत होती है। उसी भाँति 'कामायनी' में 'श्रद्धा' जो मनु से कुछ सौम्य और श्रेष्ठ प्रतीत होती है, तथा 'इडा' के आरम्भिक रूप-वर्णनादि जो विरूपीकृत और असंगत प्रतीत होते हैं, वे प्रसाद जी के वैयक्तिक अचेतन की ग्रस्तनावश। किन्तु सामूहिक अचेतन में मातृबिम्ब (प्रतीक) आद्यमाता-रूप होता है। आदिकाल से संचित धरती-माता, प्रकृति-माता, और निजी माता की जो धारणा प्राणि-जीवन से (या उससे भी पहले से) लेकर मनुष्य-जीवन तक की विकास-यात्रा में प्राणी ने बनाई है, वह आद्यमाता-रूप विराट् और अरूप धारणा मनुष्य में समान रूप से वर्त्तमान है। उसकी छाया में ही व्यक्ति धरती-माता से—अन्य नारियों से भी—अभियोजित होता है। 'मानस' की देवियाँ तुलसीदास के आद्यमातृबिम्ब की प्रतिच्छायाएँ हैं।

सामूहिक अचेतन :—सामूहिक अचेतन प्राणिमात्र के पूर्वजों के असंख्य क्रिया-कलापों की आवृत्ति के संस्कार हैं, जो चित्त में अन्तःस्थित हैं और मस्तिष्क के तन्तुओं तक में प्रकृतिस्थ हो गए हैं।[८४]

सामूहिक अचेतन की क्रिया-प्रणाली जिस प्रतीक अथवा बिम्ब-पद्धति के उपयोग से सम्पन्न होती है, उसका नाम युंग ने **जैकब बर्कहार्ट से शब्द** लेकर, पहले 'आद्य-बिम्ब' अथवा 'सामूहिक अचेतन का प्रेरक तत्त्व' दिया था। बाद में उसने उसे (द्रष्टव्य—पृष्ठ २८७ पर ६४ संख्यक टिप्पणी) 'आर्केटाइप' का अभिधान दिया। आर्केटाइप के दो सूक्ष्म भेद माने गए हैं—

१. मूलस्थ, जो अगम और अस्फुट होता है, तथा

२ अर्धं स्फुट, जो अंशतः बोधगम्यता और चेतना के क्षेत्र में आ गया है। यही बिम्बों में, प्रतिच्छवियों में, मानसिक अवधारणाओं, स्वप्नों आदि

में स्वतः प्रकट होता है, तथा सामान्य व्यवहार, क्रिया-कलाप, आचार, आसन, मुद्रा-भंगिमा आदि कि निश्चित संरूपों का भी अलक्ष्य रूप से नियमन करता है। दिनकर जी के शब्दों में—

> और ज्वार जो भी उठता ऊपर अचेतन अतल से
> विधि-निषेध का उस पर कोई जोर नहीं चलता है। —उर्वशी

इसका आभास निम्न कविता मे झील के हँसने पर "मैं" के मोहित होने के दृश्य बिम्ब में द्रष्टव्य है—

> मेघ में झील हँसी
> मैं मोहित हो गया स्वयं की उस सोनी छाया पर —नरेश मेहता : मनणाखी सुनो

मनोविज्ञानी उडवर्थ ने सामूहिक अचेतन में (१) सहज प्रवृत्ति, अर्थात् क्रिया-व्यवहार की प्रणाली का मूल स्रोत और (२) आर्केटाइप (आद्यप्रतीक) अर्थात् चितना का मूल स्रोत, ये दो ऊर्जा-केन्द्र माने हैं।[८५]

> युंग का कथन है—आद्य बिम्ब की धारणा से, जो सामूहिक अचेतन की धारणा के साथ अनिवार्यत: सम्बन्धित है, मानव-चेतना में ऐसे अनेक रूपो (या बिम्बों) का अस्तित्व मिलता है, जो सार्वभौम और सार्वकालिक प्रतीत होते हैं। पुराण-विद्या-सबंधी अनुसंधान में इनको 'अभिप्राय' के नाम से अभिहित किया जाता है; आदि-मानव-विषयक मनोविज्ञान में ये लेव्ही ब्रूह्ल द्वारा प्रतिपादित 'सामूहिक प्रतिच्छवियो' की धारणा के समवर्ती हैं और तुलनात्मक धर्मशास्त्र के क्षेत्र में ह्यूबर्ट और मौस ने इन्हें 'कल्पना की कोटियाँ' कहा है। आज से बहुत पहले अडोल्फ बस्टिआन ने इन्हें प्राथमिक अथवा 'आदिम विचार' का नाम दिया था।
>
> अतः मेरी स्थापना यह है, हमारी प्रत्यक्ष चेतना के अतिरिक्त जो पूर्णतः वैयक्तिक है और जिसे हम एकमात्र आनुभविक चेतना मानते हैं, चेतना का एक दूसरा स्तर भी है, जो सामूहिक, सार्वभौम तथा अवैयक्तिक होता है और जो सभी व्यक्तियों में समान रूप से विद्यमान रहता है। यह सामूहिक अचेतन व्यक्तिगत रूप में विकसित न होकर आनुवंशिक रूप में प्राप्त होता है। इसका निर्माण पूर्ववर्ती रूपों, दूसरे शब्दों में, आद्य बिम्बों के द्वारा होता है। यद्यपि ये बिम्ब केवल गौण या प्रत्यक्ष रूप से ही चेतन अनुभव का विषय बनते हैं, फिर भी इनसे अन्तश्चेतन में विद्यमान सामग्री (अनुभव संस्कारों) का निश्चित रूपाकार धारण करने में सहायता मिलती है। अचेतन की भाषा बिम्बों की भाषा है। उसमें आर्केटाइप आकारों अथवा प्रतीकों के माध्यम से प्रकट होता है। आर्केटाइप प्रधानतः रूपकों में व्यक्त होता है। यदि उसे सूर्य के सम्बन्ध में कहना है, तो सिंह, नृपति, ड्रैगन से सुरक्षित स्वर्ण-भंडार, अथवा जीवन-धारा के अक्षय स्रोत के विषय में रूपक बाँध कर

बात कही जायगी, जिसका अर्थ न तो यह होगा, और न वह, किन्तु दोनों से पृथक् अबोधगम्य तीसरा तत्त्व।[८६]

दूसरे स्थल पर युंग ने कहा है—मैं बिम्ब को आदि या आद्य नाम तब देता हूँ, जब उसमें पुरातन या अति प्राचीनता का (आर्केइक) लक्षण रहता है। उसकी पुरातनधर्मिता से मेरा मतलब है, परिचित पुराकथाओं के 'अभिप्रायों' (मोटिफ्स) से बिम्ब की आश्चर्यजनक एकरूपता। ऐसी अवस्था में ये बिम्ब सामूहिक अचेतन से सम्बद्ध सामग्री को अभिव्यक्ति देते हैं, तथा साथ-ही-साथ यह भी कि उस क्षण की चेतन अनुभूति वैयक्तिक पक्ष से उतनी प्रभावित नहीं होती जितनी सामूहिक पक्ष से।

आद्यबिम्ब जीवन-प्रक्रिया की प्रत्याह्लानात्मक अभिव्यक्ति है। वह ऐन्द्रिय एवं मानस-प्रतीतियों के बीच संगति द्वारा अर्थ प्रस्तुत करता है, जिसके बगैर अर्थ पहले असंगत और असंबद्ध प्रतीत होता है। इससे मानस को अपनी शक्ति के अपव्यय से, जो अबोध, अव्यवस्थित प्रत्यक्षों के कारण होता है, मुक्ति मिलती है।

आद्यबिम्ब और विस्पष्ट धारणा (प्रत्यय या आइडिया) में अन्तर यह है कि आद्यबिम्ब उससे अधिक उपयोगी और शक्तिशाली है; वह सजीव है। आद्यबिम्ब स्वयं-जीवी प्राण-व्यवस्था है, जो सर्जनात्मक ऊर्जा से संवलित है; क्योंकि आद्य बिम्ब मानस-ऊर्जा का आनुवंशिक संस्थान है, एक मूलस्थ व्यवस्था है, जो न केवल ऊर्जा-प्रक्रिया का प्रकाशन है, अपि तु अपने व्यवहार की क्षमता-संभावनाओं से पूर्ण भी है।[८७]

अन्यत्र युंग ने आर्केटाइप को 'मनीषा की इन्द्रिय-प्रणालिका', 'प्रकृति का बिम्ब' और 'निर्जल नदी' अथवा 'मृततरंग नदी-शय्या (रिप्ल-डेड रिवरबेड)' भी माना है। अर्थात् वह ऐसी सूखी नदी है जिस पर जल-प्रवाह अभी तो बन्द है, किन्तु जिसमें धारा लौट सकती है, क्योंकि जीवन-जल से सिक्त उसके गहरे कटाव में जल-प्रवाह का इतिहास रक्षित है, जो कभी भी आवृत्त हो सकता है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'रेत की नदी' कविता उसे बिम्ब-रूप में इस प्रकार प्रस्तुत करती है—

रेत की नदी
मिली मुझे राह में,
मैंने थोड़ा कुरेदा
आँखें छलछला आईं;
बोली—अतीत
छिपा है मेरे भीतर।
जल है पर वह
भूला है लहराना,
वर्त्तमान मेरा अब तो
अनवरत दाह है...
मैंने कहा—
अन्तःसलिला होना यह तुम्हारा
मुझे तो केवल देता है अन्तर्दाह,
अर्थहीन लगती है अपनी यह राह।

सो गई हो जहाँ	उद्दाम प्रखर धार
वहाँ मेरा प्यार	जीत कर भी रहा हार ।'
चुप थी वह,	चुप था मैं ।
चाँदनी आई,	वह उभरी नहीं,
धूप तपी,	वह सिकुड़ी नहीं,
समय बीतता गया	रेत बढ़ती गई
.....	....
दब गया नाव	दब गया आल
दब गई तैर कर	पार जाने का ख्याल
चिह्न भी तट के धीरे-धीरे खो गये	जल के और थल के भाव एक हो गये ।

—साप्ताहिक हिन्दुस्थान १९-१२-६७ ।

सारत: आद्यबिम्ब मानव की वासना, आनुवंशिक प्राण-चेतना और जातीय भावना से अनादि अनंत रूप से सम्पृक्त रहने के कारण नाना अर्थ-संभावनाओं के मूर्त्त रूप हैं; 'जल के और थल के भाव एक' करते हैं ।

हर्बर्ट रीड ने इन मान्यताओं पर जीव-विज्ञान और शरीर-विज्ञान को दृष्टिगत रखते हुए बताया है कि युंग की आदि-(आद्य) बिम्ब की मान्यता शरीर-विज्ञान से पूर्णत: समर्थित होती है। कारण, मानव-मस्तिष्क की संरचना और उसके विकासक्रम को देखकर यह पता चलता है कि वर्तमान बनावट तक पहुँचते-पहुँचते उसके रचना-विधान में अनेक परिवर्त्तन हुए हैं, किन्तु, इन परिवर्त्तनों के क्रम में भी प्रमस्तिष्क बाह्यकों पर आज भी कुछ प्राचीन संस्कार-लेख (एनग्राम्स) सामान्यत: अनिवार्य रूप में अंकित मिलते हैं, जिन्हें हम मनुष्य की जातीय या सामूहिक निधि कह सकते हैं। इस तरह प्रमस्तिष्क बाह्यको (सेरेब्रल कोर्टेक्स) पर अंकित ये पूर्वाघात या प्राचीन संक्षोभ (ट्रॉमा) कुछ विशेष प्रकार के बिम्बों की आशु-अवधारणा की सशक्त क्षमता रखते हैं। इन्हीं विशेष प्रकार के बिम्बों को व्यंजित करने के लिए युंग ने आदि या आद्यबिम्बों की स्थापना प्रस्तुत की है।[८८]

'आदिकालीन मानव के लिए दृश्यमान घटनाओं की यथार्थता ही सब कुछ थी; उसने गगन-पिण्डों के पथ, बादलों के गर्जन और सुदूर स्थित जगत् के उद्भव एवं उसकी रचना के विषय में ऊहापोह...आदि की एवं गाथाएँ रची। इन गाथाओं के मूल में मानव-मन का आद्यकालिक अभिवेग है, जिससे वह अशेष प्रकृति को चेतन इकाई का निकाय समझता है।'[८९] इसी प्रक्रिया से पहले आद्यबिम्ब का, फिर पुराकथाओं (मिथकों) का ताना-बाना

बुनता चला गया और ये आद्यबिम्ब मानव-जाति के सामूहिक अचेतन की सार्वभौम तथा सार्वकालिक सम्पत्ति बन गये। युग-युग और देश-देश के मानव के अचेतन मन मे ये आद्यबिम्ब वंशानुक्रम से, जन्म से ही, वरन् जन्म के पहले से ही विद्यमान रहते हैं और अनेक रहस्यमयी विधियों के द्वारा उसके मनोव्यापार को प्रभावित करते रहते हैं।[१०]

आदि काल से अनुभूत एकरूप अनुभवों के स्तरीकृत और स्थिर होने के कारण ये आर्केटाइप संख्या मे अपेक्षया कम हैं। युग ने उनमे प्रधान इन्हें माना है—व्यक्तित्वाभास (पर्सोना), छाया या अपर-रूप (शैडो), आद्यनारी (एनिमा), आद्यपुरुष (एनिमस), प्रौढ़ विवेकी (ओल्डमैन), आद्यमाता (मैगना मेटर) और आत्मा (सेल्फ)। ये सत्त्व-प्रधान भी होते हैं, तमोगुणी भी; तथा वैयक्तिक अचेतन से भी उद्‌बुद्ध होते है और सामूहिक अचेतन से भी।

व्यक्तित्वाभासी आर्केटाइप मनुष्य का बाह्य जगत् और समाज मे अभि-योजन-हेतु निर्मित अहं की व्यवहार-प्रणाली का जाल है। इसे 'अहंता' भी कह सकते है। इस मुखौटे को लगा कर आदिकाल से व्यक्ति अपने आदर्श, कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व, पद आदि के साथ एकाकार होने का आचरण करता आ रहा है, जिससे उसका सकल और खुला व्यक्तित्व आक्रान्त भी रहता आया है। वीरता-मूलक, उत्सर्ग-मूलक, दाक्षिण्य-प्रधान, प्रतिशोध-भाव-सम्बन्धी भावनाओं के मूर्त और अमूर्त रूपों में यह आर्केटाइप प्रतीकित और स्फुट होता है। छायावादी कवियों के जीवन-वृत्त मे एवं काव्य-कृतियों में भी इस प्रकार के आचरण और काव्य-प्रतीक के उदाहरण मिलते हैं, यथा—पंत जी का वेश-विन्यास, निराला जी का वीर-भाव, महादेवी जी की उत्सर्ग-मूलक जीवन-चर्या आदि। अज्ञेय का प्रयोगवादी रूप भी वीरतामूलक व्यक्तित्वाभासी आर्केटाइप मे परिचालित रहा है। पुनः रहस्यवादिता, आत्मपीड़न-वृत्ति, मृत्यु के वरण, प्लेटोनिक सूक्ष्म प्रेमानुभव के जो प्रतीक और बिम्ब काव्य-रचनाओं में अनायास आ गए हैं, वे भी सामान्यतः कवियों के व्यक्तित्वाभासी आर्केटाइप के रूपान्तरण हैं। नई कविता के कवियों में वीरत्वाभासी और प्रतिशोध-भावाभासी मुद्राएँ भी इसीके प्रकाशन है। यथा—निम्न कविता का व्यक्तित्वाभासी तेवर—

यह नहीं होगा कि मेरा प्यार मुरझा जाय
और यह भी तो नहीं हो पाएगा सभव
यह नहीं होगा कि मेरा व्यक्ति ही खो जाय
परिधि सिमटे और सिमट कर केन्द्र में सो जाय

—भारत भूषण : श्री अप्रस्तुत मन

छाया या अपर-रूप आर्केटाइप व्यक्ति के अथवा मनुष्य-जाति के न-कार-पक्ष का सूचक है। प्रत्येक व्यक्ति मे तथा मनुष्य-मात्र मे उसका दूसरा पक्ष, शत्रु अथवा इर्ष्यालु भाई की तरह शैशव अथवा आदिकाल से रहत आया है। वह मनुष्य का अंधेरा पक्ष है। कलाकार में इसके अनेक प्रतीक स्वतः प्रकट हो जाते हैं, यथा—शेक्सपीयर के 'कैलिबन', स्टीविन्सन के 'हाइड', मिल्टन के 'शैतान', फाउस्ट के 'मेफिस्टोफिलिस' आदि के प्रतीक-चरित्रो मे तथा 'मनु' के इड़ा के प्रति दुर्व्यवहार मे, नए कवियों के धार्मिक-पौराणिक आदि प्रतीक-चरित्रो के शील-भग में आदि। मन के नीचे के तल से निर्गमित होने पर इसके प्रतीक बौना, लघुमानव, वानर, मछली, साँप, आदि के भी बिम्बों में प्रकट होते है। व्यग्य-विद्रूप, शरारत, शहीदाना हरकत, लघु-मानव के गुण-गान, आदिमता, खुली यौनवृत्ति आदि रूपों मे भी इसके विविध प्रकार निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध, धर्मवीर भारती, भारत भूषण, कुंवर नारायण आदि एव युवा कवियों की रचनाओ मे मिलते हैं। यथा—

हम सब के कहीं एक अंध गह्वर है
स्वामी हमारे विवेक का
यह सब हैं अंधी प्रवृत्तियों की पोशाके
बर्बर पशु अंधा पशु वास वहीं करता है।
नैतिकता, मर्यादा, अनासक्ति कृष्णार्पण

—धर्मवीर भारती अंधा युग।

मेरे अन्दर अविवेकी एक
आता है जी में जो, करता है,
मुझ में या आप में
तृष्णाओं से भरा दर्पहीन स्खलित
उसमें शिव-पत्नी की आकांक्षा
मै दूंगा जन्म सब को—
तृष्णाओं को......।
सौतेला भाई जो है,
भाई के नाते मैं कुछ कह नहीं सकता
जो एक वेश्यालय,
जो एक भुवन है,
आस्था रहित शापित है।
सौतेले भाइयों, वेश्यालय की

—अनुरंजन प्रसाद सिंह · पाषाण पंक्तियाँ

आद्यनारी पुरुषों के और **आद्यपुरुष** स्त्रियों के अन्तर्मन में चिरन्तन काल से निवसित हैं। युंग ने इस युग्म को 'सोल-इमेज' का नाम दिया है। पुरुषों के अन्तर्मन मे रहने वाली यह आद्यनारी (आर्केटाइप) उन्हें भावुक बनाती और जीवन-व्यवहार तथा कला-रचना में अनुप्राणित-आलोकित करती रहती है। निम्न पक्तियो में उसीके सम्बन्ध में कथन है—

मैं देश काल से परे चिरन्तन नारी हूँ।
रूपसी अमर मैं चिरयुवती सुकुमारी हूँ।
मै आत्म तंत्र यौवन की नित्य नवीन प्रभा

—दिनकर : उर्वशी

उसी भांति नारी के भी अतललोक में छिपा आद्यपुरुष उन्हें विचार-पक्ष, उत्साह, अक्खड़पन देता है। प्रसाद और पंत, दिनकर तथा अज्ञेय, भारती आदि की रचनाओं में आद्यनारी के (व्रीडा संकोच गोपनीयता, लाक्षणिक वक्रता

यानी भंगिमा, प्रगाढ़ भावुकता, ममत्व आदि) विविध प्रतीक-बिम्ब हैं और महादेवी, शान्ता सिन्हा, इन्दु जैन आदि की कृतियों मे आद्यपुरुष के (प्रेषण, आलोड़न, निःसंगता, आदि)। वैयक्तिक अचेतन से निकलने पर ये दैवी अथवा मानुषी रूप धारण करते है। यथा—

> नहीं, चन्द्रिका नहीं, न तो कुसुमों की सहचरियाँ हैं।
> ये जो शशधर के प्रकाश में फूलों पर उतरी हैं,
> मनमोहिनी, अभुक्त प्रेम की जीवित प्रतिमाएँ हैं —दिनकर : उर्वशी

पर गहरे तल से नि.सरित होने पर ये तारिका, लहर, चन्द्रिका, गौ, बिल्ली, नौका, गुफा, शून्य (आद्यनारी-रूप) अथवा पर्वत, पेड़, वीणा, दीपशिखा, साँड़, सिंह, कटार, मीनार (आद्यपुरुष-रूप) के भी प्रतीकों में बिम्बित हो सकते हैं। आधुनिक कविता मे दोनों प्रकार के प्रतीक मिलते हैं।

छायाबिम्ब अपने व्यक्तित्व का समलिंगी प्रतिरूप (विरूप भी कह सकते हैं) होता है; किन्तु 'आत्मबिम्ब' (सोल इमेज) अपने मानस का विपरीत लिंगी प्रतिरूप। इस प्रकार 'आत्मबिम्ब' व्यक्तित्वाभासी आर्केटाइप का एकदम उल्टा होता है। व्यक्तित्वाभासी आर्केटाइप के द्वारा व्यक्ति का 'स्व' (इगो) बाह्य संसार से और 'आत्मबिम्ब' के द्वारा आन्तरिक अचेतन मानस से संतुलित होता रहता है। बुद्धिमान का व्यक्तित्वाभासी आर्केटाइप विवेकवान् पुरुष का होगा, पर आत्मबिम्ब होगा भावनामयी कामिनी का। उसी भाँति वैज्ञानिक ऊपर-ऊपर शांत,धीर, मनस्वी दिखाई पड़ेगा, पर उसका 'आत्मबिम्ब' रोमांस-प्रिय नारी का होगा, और कवि-कलाकार का इन्द्रिय-प्रधान, जड़ रमणी का।[११]

प्रौढ़ विवेकी का आर्केटाइप आध्यात्मिक सत्ता का मानवीकृत पुरुष-रूप है। कवियों मे जो मसीहाई मिजाज, पैगम्बराना अंदाज, गुरुडम, बड़बोलपन, आदि के तेवर या पैंतरे मिलते हैं, वे सामान्यतः 'प्रौढ़ विवेकी' के ही स्फुरण हैं। अज्ञेय ने निम्न कविता में उसका संकेत इस प्रकार किया है—

> इस झीनी चादर में है जो घुटन भेद कर आओ।
> और पैर रखो मिट्टी पर।
> वहाँ सामने तुमको
> नर, जिसकी अनझिप आँखों में नारायण की
> मानव का समूह-जीवन इस झिल्ली में ही पनप रहा
> खड़ा मिलेगा
> अनपेक्षित प्रतिरूप तुम्हारा
> व्यथा भरी है।
> —अज्ञेय ' इन्द्रधनु रौंदे हुए ये

नारी-रूप में उसके लिए प्रतिस्थानीय है आद्यामाता। जादूगर, धर्मोपदेशक, ऋषि, ज्ञानी सत, नेता, शासक, पुनः प्राण-रक्षक बुढ़िया,

मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, जलाशय आदि पितृस्थानीय और मातृस्थानीय ऐसे ही प्रतीक है। 'दिनकर' की निम्न पंक्तियों में 'असीम नारी' आद्यमाता-रूप और 'अधिक पुरुष' प्रौढ़ विवेकी-रूप है--

नारी के भीतर असीम जो एक और नारी है
सोचा है, उनकी रक्षा पुरुषों में कौन करेगा ?
वह जो केवल पुरुष नहीं, है किंचित अधिक पुरुष से —उर्वशी

उसी भाँति 'उर्वशी' की 'औशीनरी' और 'सुकन्या' मे, 'कामायनी' की 'श्रद्धा' मे 'आद्यमाता' के और 'काम' मे प्रौढ़ विवेकी के भी आर्केटाइप आभासित होते हैं। आद्यमाता की दूसरी मूर्ति 'आद्यकुमारी' (किशोरी) है, जिसकी झलक 'कामायनी' की 'इडा', निराला की 'सरोज स्मृति', पंत, अज्ञेय, भारती आदि की कविताओं मे मिलती है।

आत्मा मनीषा की निष्कल और अखड पूर्णता का, भूमा-तत्त्व का निदर्शक आर्केटाइप है। इसका प्रकटीकरण सूक्ष्म-गहन प्रतीको मे होता है, यथा—स्वस्तिक, चक्र, पूर्णवृत्त, सूर्य, पद्म, अपनी पूँछ खाता हुआ सर्प यानी युरोबोरस, शून्य आकाश, विराट् समुद्र आदि। इनका रम्य रूपायण 'मंडल' प्रतीक मे हुआ है।[६२] सर्वात्मक सश्लेष का यह उच्चतम प्रतीक है और संसार के धर्मों, मतों, पूजाकृत्यों, मिथकों, काव्य-कलादि में अनेकशः आवृत्त हुआ है। 'ईश्वरत्व' भी एक आर्केटाइप है। मनुष्य की आत्मा मे जो सहज आनन्द, विभुता, ऐश्वर्यपूर्णता का भाव है, वह ईश्वर-भावना के प्रति उसके सहज उन्मुखी भाव को द्योतित करता है। यह 'सहज राग' ईश्वर-बिम्ब के ही प्रतीकत्व का है। मानव-चित्त की अच्छाया के कारण उसका रूप 'मानुषी' प्रतीत होता है। परिपूर्णता, विभुता और अखंड विराटता का बिम्ब 'मधुमती भूमिका' के 'मधुवाता ऋतायते' आदि मे स्वाद-बिम्ब के द्वारा बिम्बित हुआ है। निम्न कविताओ में वह दृश्य और श्रव्य बिम्ब के द्वारा प्रस्तुत किया गया है—

दृश्य—माँ, मुझे वहाँ तू ले चल
दिवस के पार—
वेदना का संसार!
मुझे वहाँ तू ले चल।
उस अरण्य में बता रही है दैर, सभीत
किसका है अँधकार का अंचल
देखूँगा वह द्वार—
मूच्छित हुआ पड़ा है जहाँ
करती है तटिनी तरणी से छल तटि बल—
उतर रही है हाथ में प्यारा तारा-दीप
बता कौन वह ?
मुझे वहाँ तू ले चल —निराला : परिमल

दृश्य और श्रव्य—मुझे पुकारती हुई पुकार खो गई कहीं
अपार चर्म, वक्ष-प्राण का
प्रलम्बिता अंगार-रेख-सा खिंचा
पुकार खो गई कहीं बिखेर अस्थि के समूह।
—मुक्ति बोध : चाँद का मुँह टेढ़ा है।

मुक्तिबोध की कविता 'व्यक्तित्वान्तरण' और मूल्य-विघटन के दुहरे संघर्ष की कविता है।

> जितना ही तीव्र द्वन्द्व क्रियाओं का घटनाओं का बाहरी दुनिया में
> उतनी ही तेजी से भीतरी दुनिया में चलता है द्वन्द्व —अंधेरे में

दूसरे शब्दों में वह अगम आत्मा के निरन्तर अन्वेषण और उसकी अनुपलब्धि की सद्चिद्-वेदना की अथवा उसकी मृत्यु की कातर-प्रतीक कथा है—

> वह जो लेटी है शक्तिहता बिगना स्वर्णाभा विद्युत की
> वह कौन ! हमारी आत्मा ही तो नहीं कहीं ...
> मर गई हाय वह द्युति रेखा निष्कलुष युवास्वप्नों में निर्मल अवतरिता
> स्मितिमुखी हृदय में संचिरिता वह कहाँ गई !......
> उसकी महिमा सब बिला गई किसने उसकी हत्या कर दी !
> —इस चौड़े ऊँचे टीले पर

अतएव मुक्तिबोध की कविता मे दुहरे द्वन्द्वो और आत्मा की खोज की अभिव्यक्ति अन्तश्चेतना के बिम्ब-प्रतीको मे हुई है। इन दुहरे द्वन्द्वो मे कुत्सा, भीषणता, कटुता के भयकर और वीभत्स बिम्ब हैं, तो साथ ही आत्मा के भी आकर्षक श्यामल बिम्ब। अचेतन आत्मबिम्ब के कुछ विविध रूप निम्न हैं;

पुरुष-रूप—भयानक काला लबादा ओढ़े बराबर सामने प्रत्यक्ष कोई
स्याह परदे से ढका चेहरा सुरीली किन्तु है आवाज़ ..
सहसा किसी उद्वेग से मैं झपटता उस घोर आकृति पर भयानक टूट पड़ता हूँ।
व उसका आवरण उठा कर फेंक देता हूँ। कि मैं आतंक-हत जी धक
व जड़ निर्वाक् वह तो है, वही हाँ वही बिलकुल
प्रतेजस-आनना लावण्य—श्री मित्रस्मिता....
सहस्रों पीढ़ियों के विश्व का रमणीयतम जो स्वप्न देखा था, वही बिलकुल वही।
—अंत:करण का आयतन

सागर-रूप—सहस्रों वर्षों से यह सागर उफनाता आया है
उसका तुम भाष्य करो उसका व्याख्यान करो काली-काली उन लहरों को अंजली में पकड़ कर
जब-जब मैं देखना चाहता हूँ— क्या है वे ? कहाँ से आई है !
किस तरह निकली हैं उद्गम क्या, स्रोत क्या ! ....
कई मील मोटी जल-परतों के नीचे ढँका हुआ शहर जो डूबा है
उसके सौ कमरो में हलचलें गहरी हैं.. ...

पत्थर-रूप—स्याह समुन्दर के अतल तले पड़ा हुआ किरणीला एक दीप्त
प्रस्तर-युगानुयुग तिमिर-श्याम सागर विरुद्ध निज आभा की
महत्त्वपूर्ण सत्ता का प्रतिनिधित्व करता हो आज भी। सम्भव है वह पत्थर
मेरा ही नहीं वरन् पूरे ब्रह्माण्ड की केन्द्र-क्रियाओं का तेजस्वी अंग हो,

सहस्रदल रूप—१. परखें पंखुरियाँ स्वर्णोज्ज्वल नूतन नैतिकता का सहस्रदल खिलता है
मानव-व्यक्तित्व-सरोवर में।

२. काला सहस्रदल सम्मुख उपस्थित है—उसमें है कृष्ण रक्त।
गोता लगाऊँ और नाभि नाल रेखा की समानान्तर राह से
नीचे जल खोहों तक पहुँचू तो संभव है सागर का मूल सत्य
मुझे मिल जायगा।

माँ-रूप— देखता हूँ माँ व्यंग्यस्मित मुसकुरा रही डाँटती हुई कहती है वह—
तब देव बना अब जिप्सी भी······ निज को बहकाया करता है।···
पहचान अग्नि के अधिष्ठान जा पहुँच स्वयं के भित्रों में
कर अग्नि भिक्षा

—एक अन्तर्कथा

अंधकार में अनेक कवियों ने जादुई सम्मोहन पाया है, यथा—

१ ताकत है उजाले में खींच लेने की अपने भीतर
डुबाने की मगर कर लेने की अपने में लीन ताकत नहीं है उसमें
इसीलिए उजाले के घेरे से बाहर हो जाता हूँ एकाध बार अंधेरा पार कर जाने का
तब जी नहीं होता हलके अंधेरे से भारी में भारी से और भारी में
डूबते रहने का जी होता है इतना तो मानेंगे आप भी

—भवानी प्रसाद मिश्र अंधेरी कविता

२. हमारे अंदर जो विवश तमिस्रा है उसी से हम जीवित हैं अभी

अनुरंजन . पाषाण पंक्तियाँ

३. जल में लीन तिमिर प्रान्तों को मूर्च्छित यूँगे एकान्तों को
खींच रहीं माझिन प्रभातियाँ अंध घाटियाँ

—वीरेन्द्र मिश्र : अविराम चल मधुवन्ती

किन्तु 'अंधकार' को जितनी ममता से तथा जितने रंग-रूपों, ध्वनि-स्पर्शों के साथ मुक्तिबोध ने उजागर किया है, उतना शायद किसी ने नहीं। इसका कारण यह है कि वह कवि के द्वारा अचेतन के नाना बिम्बों-प्रतीकों का मूल स्रोत माना गया है—मनीषा की वह ऊर्जा है।

युंग भी निर्मल 'चेतनता' को मनीषा की ऊर्जा मानते हैं। यही ऊर्जा आद्य प्रतीकों-बिम्बों में स्वतः उद्गत होकर स्वप्न, मिथक, काव्यादि में प्रकट होती है। युंग का कथन है कि—

> जो आद्यबिम्बों में बोलता है, वह हजारों ध्वनियों से बोलता है। वह तन्मय करता है, अभिभूत करता है, और जिस अवधारणा को प्रकट करता है, उसे सीमित क्षणिकता से ऊपर उठा कर चिरन्तन बना देता है। वह हमारी वैयक्तिक (व्यक्तिगत भी) नियति को भी सामूहिक नियति बनाता है और इस प्रकार उन समस्त कल्याणकारी शक्तियों के द्वार उन्मुक्त कर देता है जो मनुष्य-जाति को सदैव संकट और पीड़ा से रक्षा करती आई हैं।[६१]

अचेतन के ये बिम्ब जब स्वप्न, मिथक, काव्यादि में सृष्ट होकर निःसरित होते हैं, तब इन्द्रिय-प्रणालियों की दृष्टि से दृश्य, श्रव्यादि विविध

प्रकार के पृथक्-पृथक् एवं साथ ही मिश्र भी होते हैं, तथा गोचरता की दृष्टि से स्पष्ट मूर्त एवं अस्पष्ट अमूर्त्त भी होते हैं और मूल एवं सहचारी भी।

विशिष्ट मानसिक अवस्था के बिम्ब :–पिछले पृष्ठों पर १३. प्रत्यक्षवत् प्रतीति (आइडेटिक) और १४. मिश्रेन्द्रिय प्रतीति (सिनसथेटिक) के बिम्बो की चर्चा हुई है। इन दो प्रकार के विशिष्ट बिम्बों के अतिरिक्त जीवन मे कुछ अन्य मानसिक दशाएँ भी हैं जिनमे बिम्बोद्भव कुछ चित्रविचित्र प्रकार के होते हैं, जैसे भावावेश-दशा मे, किसी मादक द्रव्यादि के सेवनोपरात, रुग्नावस्था मे एवं मरणासन्न दशा में आदि।

१५ **भावावेश** की दशा में भावों के अनुकूल और सहचर (तथा कभी-कभी प्रतिकूल) बिम्ब बनते है। बिम्ब भावक की मनोदशा के अनुसार प्रखर, मृदु, सघन, दुर्बल आदि होते हैं। प्रेम मे प्रेमी अपने प्रियजन के नाना मृदु-मसृण बिम्बो का अनुभव करता, तथा तदनुरूप संसार को शुचि, ऊर्जस्वी, मंगलमय रूपों में मंडित देखता है। उसमें नाना सहचर बिम्बो का संचरण भी होता रहता है। उसी प्रकार, क्रोध मे मनोदशा बदलती है और बिम्ब भी एवं संसार-दर्शनादि भी। भाव के आवेश में प्रत्यक्ष, स्मरण, कल्पना की क्रियाओ मे सामान्य स्थिति से कुछ भिन्नता, जटिलता और विषमता रहती है। काव्य-कलादि एवं प्रगाढ भक्ति में इस दशा का कुछ विनियोग हुआ है, होता है।

१६ **मादक द्रव्यादि** के सेवनवश भी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और फलत: ऊनचेत्यता या अधिचेत्यता के कारण प्रतीति वास्तविक नही होती। बिम्ब इस दशा में या तो धुंधले पर त्वरित, या प्रखर और तीक्ष्ण क्रिया प्रेरक होते हैं। प्रत्यक्षवत् (आइडेटिक) एवं (सिनस्थेटिक) मिश्रेन्द्रिय प्रतीति तथा अवचेतन/अचेतन बिम्ब भी इस दशा में उद्भूत होते हैं।

१७ **रुग्नावस्था** मे, तीव्र ज्वरादि मे खास कर, बिम्ब विलक्षण प्रकार के बनते हैं। उनकी प्रकृति तन्द्रा, स्वप्न और स्वाप-बिम्बों-जैसी होती है, परन्तु प्रक्रिया वही नहीं होती। संज्ञाशून्यता-जैसी दशा रहती है, अतएव बिम्बार्थों का पूर्ण बोध नहीं होता, पर बिम्ब यदि भयकारी झलक गए हों, तो सारा शरीर, अन्तरावयवादि के साथ जैवी प्रतिक्रिया तदनुरूप करने लगता है; हृदय धड़कने लगता है, सांस की गति तेज हो जाती है, पसीना, आँसू आदि झलक उठते हैं, चिल्लाहट, बड़बड़ाहट शुरू हो जाती है आदि।

१८ मरणासन्न अवस्था के बिम्बों में बिजली की कौंध की तेजी और तीखी झलक रहती है। उन बिम्बों की त्वरा और वेग में शैशव के भूले-बिखरे चित्रों से लेकर उस समय की झाँकियाँ पूर्णतः शृंखलाहीन रूप में, परन्तु प्रगाढ़ आभा में, झलक-झलक उठती हैं, जैसे दूर का कोई प्रकाशपुंज भादों की काली रात में बहती हुई उन्मद नदी पर या आसपास के जंगल पर, अथवा कगार पर कभी इधर, कभी उधर आलोकवृत्त बना-बना कर फिर खो जाता हो। मनोविज्ञानी जी० एस० स्ट्रेटन ने 'दि फंक्सन्स आफ इमोसन्स' में इनका अध्ययन किया है।[६४]

विशिष्ट मानसिक दशा के ये बिम्ब भी सभी इन्द्रिय-प्रणालिकाओं के प्रकार-भेद के होते हैं, तथा मूल और सहचर एवं गोचरता की दृष्टि से स्पष्ट और अस्पष्ट तथा चेतन और अवचेतन/अचेतन मानस से सम्बद्ध होते हैं।

सारणी का स्पष्टीकरण

(क) इसमें चेतोदय के पहले की अवस्था (प्राक्चेतन) से लेकर चेतोदय के बाद की अवस्था तक के विकासात्मक बिम्ब समेट लिए गए हैं। इसमें संख्या-क्रम विवरणानुसार न हो कर चित्त के सामान्य विकासात्मक क्रम से रखा गया है। काल-क्रम के सांकेतिक बोध के लिए सारणी कुछ तिरछी रखी जाय, ताकि प्राक्-चेतन ऊपर और बायें कोने में हो जाय और चेतन तक आने वाली रेखा नीचे की ओर इस प्रकार झुक जाय कि प्रत्यक्ष और संवेदन बिम्ब दाहिने कोने में आकर वर्त्तमान का द्योतन करें।

(ख) चेतन अधिक तात्कालिक, क्षण-परिमाणी और बोधनिष्ठ है अर्थात् अवधान का त्वरित आवेष्टन प्रस्तुत करनेवाला है। सारणी में १७ संख्यक बिम्ब प्रत्यक्ष-बिम्ब है। इसमें यह संकेत मिलता है कि यद्यपि प्रत्यक्ष-बिम्ब तात्कालिक बोध है, तथापि उसमें कम से कम १६ पूर्वकालीन मानसिक क्रिया-वृत्तियाँ अन्तर्लीन हैं।

(ग) अचेतन मानस का अन्तर्लीन और अगम महादेश है—चेतन की दृष्टि से वह धूमिल और निविड़ है। मनोविज्ञानी युंग के अनुसार उसमें (१) स्मृति, और (२) दमित रागादि के वैयक्तिक अचेतन के अंश हैं तथा (३) भाव (४) आवेग एवं (५) अगम्य अंश भी। दूसरी दृष्टि से मनीषा के मूल में (१) अतिवाहित चेतना है, जिसके चारों ओर क्रमशः (२) पशु और वनस्पति जगत् के, पूर्वजों के (३) आदियुगीन मानव-जाति के, पूर्वजों के
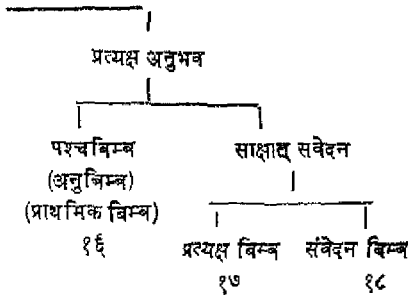
(४) नृतत्त्वीय मानव-वर्ग के (५) कुल के (६) जाति के (७) परिवार के और अन्ततः (८) निजी संस्कारो के पुञ्ज स्तरीकृत हैं। वह एकात्मक और सर्वान्तिक है; एकरूप और सर्वरूप है। उसमे परिवर्तन होता भी है तो मात्र 'स्मृति' के अंश मे अथवा निजी संस्कारों के भाग में, जो ऊपरी है।

(घ) रंग की दृष्टि से मात्र प्रत्यक्ष-बिम्ब एकवर्णी और प्रखर होगा। अन्य मिश्रवर्णी और धूमिल होगे। कल्पना से लेकर प्राक्चेतन की सीमान्त रेखा तक की मनोभूमि बहुवर्णी धुंधलके का नील लोक है। प्राक्चेतन निर्वर्ण अथवा वर्णकारूप्य की द्युतिमती भूमि है। अतएव क्रमांक २ से १५ तक की मनोभूमि रगों की धुंध की भूमि है। यही कलाओ एव काव्यादि के बिम्बों का उद्गमन-क्षेत्र है।

तब प्रश्न होता है कि क्या ये मनोवैज्ञानिक बिम्ब ही काव्य मे स्थांतरित होकर 'काव्यबिम्ब' बन जाते है। तब फिर 'काव्यबिम्ब' क्या रचित नहीं होते है? यदि वे स्वतंत्र उद्भावनाएँ है, तो उनका स्वरूप क्या है? उनके प्रकार्य, प्रयोजन मनोवैज्ञानिक बिम्ब से किस विधि भिन्न हैं? और अन्ततः भारतीय काव्यशास्त्र की मान्य संकल्पनाओ और अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य मे 'काव्यबिम्ब' की मौलिक सत्ता भी है? इन प्रश्नो पर अगले अध्याय मे विचार अपेक्षित है।

६. सन्दर्भ-ग्रन्थादि एव टिप्पणियाँ

१ कपिलदेव द्विवेदी ; अर्थविज्ञान और व्याकरण-दर्शन, पृष्ठ २७१-२९८
२ जेम्स सी० फर्नाल्ड : फंक ऐंड वागनॉल्स हैंडबुक ऑफ सिनानिम्स इटसेट्रा, पृष्ठ २४४
३ जार्ज मूर—Those pest and parasites of artistic work—Ideas फ्रैंक करमोड द्वारा रोमांटिक इमेज, पृष्ठ ४३ पर उद्धृत।
४ जी० ह्वेली : पोएटिक प्रोसेस, पृष्ठ १३० To speak of images and ideas as different in kind is a convenience of language.
५ इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग १२, पृष्ठ १०३
६ डब्ल्यू० एस० हटर . सिम्बॉलिक प्रोसेस साइकॉलाजिकल रिव्यू, पृष्ठ ४५८-४९७ नार्मल एल० मन० फडामेंटल्स ऑफ ह्यूमन एडजस्टमेंट, पृष्ठ ३११ पर उद्धृत
७ ऑग्डेन एवं रिचर्ड्स : मीनिंग ऑफ मीनिंग, पृष्ठ ६४
८ टी० इ० रेयन : फन्डामेन्टल्स ऑफ साइकालोजी में पृष्ठ १८७-१८८ पर
९ विल्हेल्म वारिंगर · ऐब्सट्रेक्शन ऐंड आइन फुहलु ग (१९०८), अनुवाद रौलेज केगन पॉल
१० बे० क्रोचे : एस्थेटिक्स, पृष्ठ २१८-२१९ एवं ३३१
११ वही : तत्रैव पृष्ठ ३०४ एवं १७५

१२ डब्ल्यू० टी० स्टेस : ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलासफी पृष्ठ ११,३,१५ एव
जे० क्रोचे० : एस्थेटिक्स, पृ० २६७
१३ जे० क्रोचे० : एस्टेटिक्स, पृष्ठ २११
१४ जे० एस० मूर : फाउन्डेशन्स ऑफ साइकालोजी, पृष्ठ १०३ Image is th
sation of an idea in a single object.
१५ गिल्बर्ट एवं कुन्ह: अरस्तू के डि एनिमा (III७) का उद्धरण देकर उसे स्पष्ट वि
१६ आर० एस० उडवर्थ : कन्टेम्परेरी स्कूल्स ऑफ साइकालोजी, पृष्ठ १६
१७ बर्ट्रेण्ड रसेल : आउटलाइन्स ऑफ फिलासफी, पृ० १८४-२००
१८ जे० जी० गिब्सन : दि पर्सेप्शन ऑफ दि विजुअल वर्ल्ड, पृष्ठ २६१
१९ हिलगार्ड : इन्ट्रोडक्शन टु साइकालोजी, पृष्ठ २२५
२० के० एम० बाइकाव : टेक्स्ट बुक ऑफ फिजियोलोजी, पृष्ठ ६९८-९
Lower animals perceive light by means of photo-sensitiv
situated in their external coverings. The concentration
cells leads to the formation of optic spots... .'
२१ एच० बर्गसाँ : क्रिएटिव इवाल्यूशन, पृष्ठ ७१
२२ के० एम० बाइकॉव : टेक्स्ट बुक ऑफ फिजियालोजी, पृष्ठ ६९८-९९
२३ एच० हार्टिज : स्टार्लिंग्स फिजियालॉजी, पृष्ठ ३८३
It is estimated that the eys is many times as sensitive to light
instrument that has been so far constructed.
२४ गार्डनर मर्फी : ऐन इंन्ट्रोडक्शन टु साइकालोजी, पृष्ठ १८१
२५ एच० हार्टिज स्पेशल सेन्सेज—स्टर्लिंग्स फिजियालोजी पृष्ठ ३८३
२६ आइ० ए० रिचर्ड्स : प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृष्ठ ९३
२७ मि० मरी : प्रोब्लेम ऑफ स्टाइल पृष्ठ ८०-८५
२८ नारायण शास्त्री द्राविड : भारतीय मनोविज्ञान, पृष्ठ ५४
२९ डॉ० जनार्दन मिश्र : भारतीय प्रतीक विद्या, पृष्ठ १८-१९
नारायण शास्त्री द्रविड : ऊपर-जैसा, पृष्ठ ५४
३० उपरिवत्
३१ सर जान उडरफ : दि वर्ल्ड ऐज पावर : पृष्ठ ४६, जनार्दन मिश्र : ऊपर-जैसा, पृ
३२ बोरिंग, लैंग्फेल्ड ऐंड वोल्ड : फाउन्डेशंस ऑफ साइकालॉजी, पृष्ठ २४३
३३ प्लैटो , टीमियस, एल० डरेल : की टु माडर्न पोएट्री में उद्धृत (द्रष्टव्य पिछले पृ
३४ सि० फ्रायड : एसेज, डरेल की उपर्युक्त पुस्तक में पृष्ठ ५०-५१ पर उद्धृत
३५ बोरिंग, लैंग्फेल्ड ऐंड वोल्ड : फाउन्डेशन्स ऑफ साइकालोजी, पृष्ठ २४६
वि० एम्पसन सेवन टाइप्स ऑफ ऐम्बीग्विटी, पृष्ठ ३०
३६ एच० कुम्बे : लिटरेचर ऐंड क्रिटिसिज्म, पृष्ठ १९-३५
३७ ए० वारेन : इंग्लिश पोएटिक थियरिज १८२५-६५ पृष्ठ १३६-४२
३८ जे० एडिसन—इरैसमस डारविन : दि बोटानिक गार्डेन II, पृष्ठ ४८ पर उद्धृत
३९ एस० एच० बूचर : अरिस्टाट्ल्स थियरी ऑफ पोएट्री ऐंड आर्ट, पृष्ठ १३०-३१
४० वही : तत्रैव १३२-१५०
४१ होम : एलिमेंट्स ऑफ क्रिटिसिज्म द्रष्टव्य भूमिका एवं अध्याय—३
४२ जे० जी० हर्डर : क्रिस्टवैवाल्डर, पृष्ठ ४६१ क्रोचे द्वारा 'एस्थेटिक्स' में उद्धृत
४३ काउंट लिओ ताल्सताय : ह्वाट इज आर्ट, पृष्ठ १९-२२
४४ जी० सन्तायन : दि सेंस ऑफ ब्यूटी, पृ० २३५-२३९

आइ० ए० रिचर्ड्स : प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृष्ठ १४६-२५०; रोचक यह कि आइ० ए० रिचर्ड्स एवं सी० के० आग्डेन एवं जे० उड : फाउन्डेशन्स ऑफ एस्थेटिक्स में 'सिनसथेसिस, पर प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म में 'सिंथेसिस' व्यवहृत।
एन्टन एरंजवेग—डा० हरद्वारी लाल शर्मा द्वारा 'रस और रसास्वादन' पृष्ठ २२१-२४५
गा० मर्फी : ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकालॉजी, पृ० २५५-५७
आइ० एम० एल० हन्टर : मेमरी, पृष्ठ ११५ पर उद्धृत
एच० क्लुवर : ए हैंडबुक ऑफ चाइल्ड साइकालोजी, दि आइडेटिक चाइल्ड
आइ० एम० एल० हंटर—मेमरी पृष्ठ २०१-२०३ पर सालो फिंकेलस्टाइन का वृत्तान्त
आर० एम० उडवर्थ : एक्सपेरिमेंटल साइकालॉजी, पृष्ठ ७२२
ई० बी० टिचनर : लेक्चर्स ऑन एक्सपेरिमेंटल साइकालॉजी ऑफ थॉट प्रोसेसेज, पृ० ७-११
एरिक जायंश "आइडेटिक इमेजरी ऐंड टाइपोलॉजिकल मेथड्स ऑफ इन्वेस्टिगेशन" तथा 'फीलिंग ऐड इमोशन' पृ० ३५५ "मेमरी" पुस्तक में उद्धृत।
जेम्स ड्रेवर : ए डिक्शनरी ऑफ साइकालॉजी, पृष्ठ २८६
एच० एस० लैंग्फल्ड : साइकालॉजिकल बुलेटिन १११४, ११/११२
डा० पीटर मेककेल्लर : इमेजिनेशन ऐंड थिंकिंग
ए० आर० लुरिया : मेमरी ऐंड दि स्ट्रक्चर ऑफ मेंटल प्रोसेसेज-'प्रोब्लेम ऑफ साइकालॉजी' ११६०, ' "मेमरी" में उद्धृत
आर्थर रैम्बो ' लेटर्स टु वायन्त (१८७१) "लिटररी क्रिटिसिज्म ए शार्ट हिस्ट्री" में ५१४ पर उद्धृत
जे० एम० कोहेन : पोएट्री ऑफ दिस एज, पृ० ११
विलियम एम्पसन सेवन टाइप्स ऑफ ऐम्बिग्विटिज, पृष्ठ १२-१४
फ्रेंक करमोड . रोमांटिक इमेज, पृष्ठ १०६-११
वेलेस फावली मालार्मे पृष्ठ २५५-२६५
एरिक न्यूटन : युरोपियन पेंटिंग ऐंड स्कल्पचर, पृष्ठ ३८-४४
गार्डनर मर्फी : ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकालॉजी, पृष्ठ २०७-८
आर० एस० उडवर्थ : एक्स्पेरिमेन्टल साइकोलोजी, पृष्ठ ४३३
आर० एस० उडवर्थ : एक्सपेरिमेंटल साइकालॉजी ४५७-५६
एच० हार्ट्रिज : स्पेशल सेंसेज—स्टार्लिग्स फिजिओलॉजी, ४४४ एवं ४५०
आइ० एम० एल० हण्टर ' मेमरी, पृष्ठ १८८
केनेथ ई० बोल्डिंग . दि इमेज, पृष्ठ ६-७
बिनाके ' दि साइकालॉजी ऑफ थिंकिंग, पृष्ठ ११७
टॉमसन गबर्ट ' दि साइकालॉजी ऑफ थिंकिंग, पृष्ठ १६७-१७६
डा० नगेन्द्र : काव्य-बिम्ब, पृष्ठ २२-२३
जी० मर्फी : ऐन इन्ट्रोडक्शन टु साइकालॉजी, पृष्ठ २५०-२५१
आर० एस० उडवर्थ : एक्स्पेरिमेण्टल साइकोलॉजी में भी विवेचित
जी० मर्फी : तत्रैव पृष्ठ २०१-२०२
आइ० एम० एल० हंटर ' मेमरी पृष्ठ १६३
आइ० ए० रिचर्ड्स ' प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म,पृ० १०६
आइ० एम० एल० हंटर . मेमरी, पृष्ठ ११३-६५
आ० रामचन्द्र शुक्ल ' रस मीमांसा, पृष्ठ २१५
वही ' तत्रैव एवं २५२
डा० बाई० मसीह : जेनेरल साइकालॉजी (सामान्य मनोविज्ञान : हिन्दी अनुवाद,) पृ० २२१

७७ जी० सी० मूर : सम मेन प्रोब्लेम्स ऑफ फिलासफी, पृष्ठ २३४-२५१
७८ राबर्ट टॉमसन : दि साइकालॉजी ऑफ थिंकिंग, पृष्ठ १९९
७९ जे० जैकोबी : साइकालॉजी ऑफ युंग, पृष्ठ २४
८० जे० जैकोबी : साइकालॉजी ऑफ युंग, पृष्ठ ४३
८१ नारायण शास्त्री द्रविड़ : भारतीय मनोविज्ञान पृष्ठ ६४-६५
जी० स्टैनले हॉल ' एडोलेसेंस, खंड-१, पृष्ठ ४५५, हैवलॉक एलिस ' साइकालॉजी ऑफ सेक्स खण्ड-१ पृष्ठ १९३ पर उद्धृत
८२ रॉबिन स्केल्टन : दि पोएटिक पैटर्न, पृष्ठ १३४
८३ जे० जैकोबी : उपरिवत्, पृष्ठ ३०-३१
८४ सी० जी० युंग : डेवेलपमेंट ऑफ पर्सनालिटी, पृ० ११७
सी० जी० युंग ' कन्ट्रिब्यूशन टु ऐनालिटिकल साइकालॉजी, पृ० २४८
८५ आर० एस० उडवर्थ : कन्टेम्पररी स्कूल्स ऑफ साइकालॉजी, पृष्ठ २०१-३
८६ सी० जी० युंग : दि आर्केटाइप्स ऐंड दि कलेक्टिव अनकान्शस, अनुवादक . हल पृ० ४२-४३
सी० केरेनी : इन्ट्रोडक्शन टु ए साइंस ऑफ माइथोलॉजी, पृष्ठ ९०-१३८
डा० नगेन्द्र : काव्य-बिम्ब, पृष्ठ २९-३०
८७ सी० जी० युंग ' साइकालॉजिकल टाइप्स, पृष्ठ ५५५-५६०
सी० केरेनी : इन्ट्रोडक्शन टु ए साइंस ऑफ माइथोलॉजी
८८ हर्बर्ट रीड ' दि फार्म्स ऑफ थिंग्स अननोन, पृष्ठ ५३-५५
अनुवादक—डॉ० कुमार विमल ' सौन्दर्य शास्त्र के तत्त्व, पृष्ठ २०१-३
८९ प्रो० मैकडानल वैदिक माइथॉलॉजी, अनुवाद डॉ० सूर्यकान्त' वैदिक देवशास्त्र, पृ० १
९० डा० नगेन्द्र : काव्य-बिम्ब, पृष्ठ ३१
९१ सी० जी० युंग—टाइप्स पृष्ठ ५९४
९२ सी० जी० युंग साइकॉलॉजी ऐंड रिलिजन पृ० ६५ से ८३; गोल्डेन फ्लावर भी;
९३ जे० जेकोबी . साइकॉलॉजी ऑफ सी० जी० युंग, पृष्ठ २४ पर उद्धृत
९४ जी० एम० स्ट्रेटन . उद्धृत नॉर्मन एल० मन्न : दि फंडामेंटल्स ऑफ ह्यूमन एडजस्टमेंट, पृष्ठ ३००

७

काव्यबिम्ब : परिभाषा, स्वरूप, प्रकृति
गुण, दोष तथा भारतीय काव्यशास्त्र

यत्किञ्चिन्मानसाह्लादि यत्रक्कापीन्द्रियस्थितौ।
योज्यते ब्रह्मसद्मानि पूजोपकरण हितम्॥
अभिनवगुप्त : तंत्रालोक

धारा बह जाती बिम्ब अटल —प्रसाद

बनता विसर्जन है बिम्ब उपलब्धि का—अज्ञेय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बताया है कि 'काव्य में बिम्ब-स्थापना प्रधान वस्तु है। बाल्मीकि, कालिदास आदि प्राचीन कवियों मे यह पूर्णता को प्राप्त है।'[1] काव्य-रचना का मूल मन्त्र यही है। कवि अपनी अरूप अनुभूति की अभिव्यक्ति शब्दाश्रित ऐन्द्रिय और नश्वर माध्यम मे / से करता है। तभी वह प्रकाशित भी होती है और सहृदय को संवेद्य भी। यथा—'कामायनी' की निम्न पंक्तियाँ ली जायँ—

तरुण तपस्वी-सा वह बैठा साधन करता सुर-श्मशान
नीचे प्रलय सिंधु लहरों का होता था सकरुण अवसान।...
अवयव की दृढ़ माँसपेशियाँ ऊर्जस्वित था वीर्य्य अपार
स्फीत शिराएँ स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।
चिंता-कातर वदन हो रहा, पौरुष जिसमें ओत-प्रोत......
हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लम्बी काया उन्मुक्त
मधु पवन क्रीडित ज्यों शिशु साल, मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।..

यहाँ आश्रय-रूप विभाव 'मनु' और आलम्बन-रूप 'श्रद्धा' के ऐन्द्रियिक बिम्ब उद्दीपन-रूप अवसन्न प्रकृति के विषम जल-प्रवाह के दृश्य बिम्ब के साथ संश्लिष्ट और सर्वांगपूर्ण रूप में वर्णित है। चिंता-कातर 'मनु' 'पौरुष' से ओतप्रोत एक ओर है, तो दूसरी ओर मुख पर मुस्कान की लालिमा लिए उन्मुक्त लम्बी काया के अधखुले अंगो से बिजली के फूल की भाँति कौंधती और गुलाबी रंग की कोमल दीप्ति बिखेरती अनुभावो और सात्विक संचारियो के साथ 'श्रद्धा' है। अनुभावो, सात्त्विक भावो, शरीर-धर्मों आदि के, और फिर प्राकृतिक दृश्य-स्पृश्य वस्तुओ की तुलयता आदि के उल्लेख के कारण वर्ण्य वस्तु बिम्ब-रूप धारण करती है। प्रयुक्त शब्द, शब्दादि के क्रम तथा व्यंजित अर्थ से लयात्मक संरूप, गूंज, झकृतियाँ भी उद्‌बुद्ध होती हैं, जो बिम्ब को स्पन्दित और गत्वर बनाती हैं। कविचित्त में अनादि वासना-रूप जो रति-भाव था (और रहता है) और जो पौरुष-प्रधान दृढता, ऊर्जस्विता आदि तथा नारी-प्रधान उदारता, मृदुलता, कान्ति के सहज कर्षण मे प्रकट होता है, यहाँ 'मनु' और 'श्रद्धा' की भावमूर्त्तियो में रूप-ग्रहण कर रसबिम्ब के लिए उत्तम विभाव प्रस्तुत कर सका है। यह सहृदय के आस्वादयोग्य भी है। एरिक गिल के अनुसार

> इसी भाँति कलाकार शब्द को मांस बना देता है; उसके चित्त से निकलने वाले शब्द 'शरीरी' हो उठते हैं 'वस्तु' बन जाते हैं। तब अज्ञात ज्ञात होता है, अपरिमिति परिमिति के द्वारा रूपान्तरित होता है।[१] पंत जी के शब्दों में—

> तन्मय क्षण में दीर्घ बुद्धि का पथ पार सहज करता मन अंतः स्थित
> गूढ़ प्रतीकों, बिम्बों, चिह्नों में मर्म्म सत्य का होता उद्‌भासित
>
> —लोकायतन

उस 'तन्मय क्षण' में पड़ कर अभिव्यंजन के सारे द्रव्य, समस्त प्रकृति और मानव-समाज कविता के बिम्ब हो उठते हैं।[२] अलेनटेट के कथनानुसार 'कवि को अपने ससार के लिए मानव-मूर्त्ति का सर्जन तो करना ही है, परन्तु इस प्रकार सृष्ट करना है, कि येट्स के शब्दों मे, 'वह यथार्थ और न्याय्य को समन्वित' एक विचार में कर दे।[४] क्योंकि जीवन के छोटे नगण्य क्षण और उपेक्षणीय कोने यदि वैसे ही प्रकट कर दिए जायँ, तो फिर उनके रूप ग्रहण में तुक ही क्या रहती है?[५] काव्यत्व तो इसमें है कि अवतरित 'रूप' फिर से 'अरूप' की झलक देने लगे, उसमे इतनी विभूति आ जाय कि उसके स्पर्श से भौतिक जडता में चेतना की बाढ आ जाय और वह दिव्य को भी समृद्ध कर डाले।[६] कविता में ऐसी विशेषता शुक्लजी के

अनुसार वस्तुओ के अंग-प्रत्यंग वर्णन, आकृति तथा आसपास की परिस्थिति के संश्लिष्ट विवरण से, कवि के अनुरागपूर्ण निरीक्षण के द्वारा प्राप्त सूक्ष्म ब्योरो के सश्लिष्ट चित्रण से आती है।[७] वास्तव में 'तन्मय क्षण' के मूल में यही अनुराग-पूर्ण स्मृतिपुंज है। ह्यूले इसे 'रागबोध' (फीलिंग) कहते है और बताते हैं कि :...

> रागबोध (फीलिंग) की बिजली की शक्ति ही स्मृति में कुछ ऐसी स्पन्दित हो उठती है कि स्मृति-बिम्ब का रूप ले लेती है। यह बिम्ब साधारण मनुष्य के बिम्ब से अधिक ऊर्जित प्रतीत होता है। संवेदन-बिम्बों पर रागबोध का योग नहीं होता, अपितु रागबोध ही 'बिम्ब' है। वही स्मृति में रहता है और गुप्त रूप से दूसरे रागों से मिलता है और उन्हे बदलता है। जब ये 'राग' प्रकाश में आते हैं और शरीर में उतर आने को सचेष्ट होते हैं तो कविता, चित्र, मूर्ति में बिम्ब का आभास ग्रहण कर लेते हैं।[८]

ऊपर के विवेचन का साराश यह कि 'काव्य में बिम्ब-स्थापना' के लिए कवि मे अनुराग अथवा रागबोध, सूक्ष्म निरीक्षण और अनुभव से प्राप्त स्मृति-पुंज होने चाहिए और रागबोध का अन्य रागों, स्मृति-पुंजों आदि से तालमेल (तनाव, टकराहट भी) बिठाने की कल्पना-शक्ति होनी चाहिए और किसी 'तन्मय क्षण' मे इन सब को ऐन्द्रिय, लयात्मक शब्द-विधान आदि के द्वारा सश्लिष्ट और चैतन्य रूप से, एक विशिष्टता के साथ प्रकट कर देने की प्रतिभा भी होनी चाहिए। क्योंकि **वाट्स डंटन** के अनुसार 'कविता तत्त्वतः है कल्पनात्मक (अतएव, बिम्ब-रचनात्मक) एव लयात्मक भाषा में मानव-मन की मूर्त्त एवं कलात्मक अभिव्यक्ति (इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका)। पिछले पृष्ठों पर इस समस्त प्रक्रिया को कवि-कर्म, कवि-प्रतिभा, कवि-कल्पना, आदि के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। काव्य-बिम्ब कवि-प्रतिभा का शब्द⟷रस-परामर्श है (द्रष्टव्य पृष्ठ ८०-८२)। इससे संरचित बिम्ब में अनुभूति को उद्बुद्ध करने की शक्ति आ जाती है। उसकी प्रेषणीयता का भी यही रहस्य है। प्रेषण की शक्तिशाली विधियों में महत्त्वपूर्ण होने के कारण रूपकात्मक-बिम्बात्मक भाषा-शैली के रूप में बिम्बन की प्रविधि का उपयोग प्रायः सभी धर्मों और आध्यात्मिक शास्त्रादि में किया जाता है।[९] असल बात यह है कि काव्य(में) का बिम्बत्व एक मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता है।

मनोविज्ञान-गृहीत बिम्ब और काव्यबिम्ब

तब क्या मनोविज्ञान के बिम्ब और काव्यबिम्ब एक ही हैं? कुछ के अनुसार 'साहित्यिक बिम्ब और मनोवैज्ञानिक बिम्ब में पर्याप्त अन्तर है; ये दोनों

समानार्थी नहीं'।[१०] पर, समानार्थी होने का सवाल उठता कहाँ है जब कि विशेषण दो ज्ञान-शाखाओ के हैं ? फिर, अन्तर अनुभूयमान बिम्ब और उसके बाद की बौद्धिक आदि प्रक्रियाओं—प्रतिक्रियाओ के कारण भी प्रतीत हो सकता है, जो स्वाभाविक है।[११] प्रस्थान-भेद से अन्तर तो होगा ही। पर सवाल यह है कि मनोविज्ञान-गृहीत बिम्ब ही क्या काव्यबिम्ब है ? या, वही क्या काव्यबिम्ब हो, या बन जाता है ? डा० नगेन्द्र ने पहले के जवाब मे बताया है कि नही; स्वरूप में वे भिन्न है। दूसरे के उत्तर मे उनका कथन है कि मनोविज्ञान के बिम्ब-भेद (अर्थात् प्रत्यक्ष, स्मृत, काल्पनिक आदि) प्रकृत रूप में काव्यबिम्ब के पर्याय नहीं हैं, परन्तु उनसे वे अनेक प्रकार से सम्बन्धित है :—

> प्रत्यक्षबिम्ब काव्यबिम्ब के उपकरण हैं; स्मृतबिम्ब और कल्पनाबिम्ब का काव्यबिम्ब के साथ सीधा सम्बन्ध है। ये ही वे सिक्के हैं, जिनके द्वारा काव्य का समस्त व्यापार चलता है। . ....स्वप्न-बिम्ब और काव्यबिम्बादि का भी सूक्ष्म-जटिल सम्बन्ध काव्यबिम्ब से है।[१२]

सारांशत: उन्होंने हर्बर्ट रीड के द्वारा एक छोटे वाक्य मे रखी गयी बात कि 'मनोविज्ञानादि के बिम्ब कविता के सौन्दर्यिक चैतन्यांश (काव्य-गेस्टाल्ट या इस्थेटिक मोनाड) हैं', कुछ अधिक साफ तौर से प्रकट की है।

मनोविज्ञान मे बिम्ब तटस्थ, बौद्धिक अध्ययन का विषय है और उसका ग्रहण विशेष नियमादि के अनुसार होता है। वहाँ उसके दैहिक, स्नायविक, मानसिक आदि उद्गम-स्रोतों की जाँच-पड़ताल और तत्त्व-लक्षणादि के विवेचन-विश्लेषण तथा आकलन-वर्गीकरण आदि के कार्य-व्यापार वैज्ञानिक विधि से किए जाते हैं। परन्तु, कविता में बिम्ब वैसा तटस्थ, बौद्धिक और विषयनिष्ठ अध्ययन का विषय नहीं होता। उदाहरण-स्वरूप निम्नपंक्तियाँ ली जायें—

> नव हो जगी अनादि वासना मधुर प्राकृतिक भूख समान। —कामायनी

इसमें 'अनादि वासना' मूलतः मनोविश्लेषणात्मक और 'भूख' मनोवैज्ञानिक बिम्ब होकर भी स्वरूपतः वही नही है, जो वे उन शास्त्रो मे वर्णित हैं। क्योंकि यहाँ वे कवि-सृष्ट हैं। उन्हें अपने काव्यस्थल से तोड़ा नही जा सकता। उनका प्रयोजन भी एकदम दूसरा है: काव्यविवक्षा के अनुरूप सम्मूर्त्तन और काव्य-पाठक के चित्त के लिए आस्वाद्यता। उनकी समस्त प्रक्रिया यहाँ संश्लेषणात्मक, अंतःस्पन्दनात्मक और भावोद्योतक होती

है। प्रेम, ईर्ष्या, क्रोध आदि मनोवैज्ञानिक भावों के अनन्त रूप-प्रकार आदि के बिम्ब काव्य में सृष्ट हुए हैं, होते रहेंगे। अतः, मनोविज्ञानगत बिम्ब से काव्यबिम्ब कुछ विशिष्ट, उदात्त और अवदात होता है। क्योंकि उसके तत्त्व, गुण-धर्मादि में कवि के आन्तरिक भावना का और फिर समग्र काव्य तथा काव्यस्थल के सत्त्व, ऊर्जा आदि का भी उसके निजी लक्षणादि से अपूर्व और अद्भुत संयोग हुआ रहता है। यह 'निजी लक्षण' क्या है? 'निजी लक्षण' है बिम्ब का मूलभूत तात्त्विक आधार, यथा—मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, धार्मिक, पौराणिक आदि। प्रतीति-काल मे ये 'निजी लक्षण' अन्तर्लीन-से हो जाते हैं, पर नेपथ्य से जिस प्रकार निर्देशक संकेत-ध्वनियाँ करता हुआ रंगमंच के पात्र को अभिनय के लिए उकसाता रहता है, उसी प्रकार मूलभूत तात्त्विक आधार और उसके लक्षणादि प्रतीत होने वाले काव्यबिम्ब को भीतरी अभि-प्रेरण देते रहते हैं। प्रतीति में प्रत्यक्षतः काव्यात्मक स्वरूप ही प्रतिभासित होता है—अद्वितीय, अखंड और स्वायत्त। अब, यह बात एकदम दूसरी है कि मनोविज्ञान की उपलब्धियों से उसकी विशेषताओं, प्रकार्यों आदि का विश्लेषण किया जाय और उनके आधार पर आस्वाद्यता के स्तरादि को और भी प्रगाढ अथवा व्यापक आयाम दिया जाय। उस प्रकार के दार्शनिक, नृतत्त्वशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, ऐतिहासिक आदि अध्ययन से काव्यबिम्ब के काव्यशास्त्रीय अध्ययन परिपुष्ट अवश्य होते हैं। किन्तु काव्यबिम्ब स्वरूपतः और प्रकार्यतः वही नही होता, जो वह मनोविज्ञान में गृहीत होकर होता। काव्य में बिम्ब कवि-सृष्ट, काव्यसंरूपित, गृहीता द्वारा उद्भावित ऐन्द्रिय और रागात्मक प्रतीति होता है।

काव्यबिम्ब और इन्द्रियाँ—काव्यबिम्ब की ऐन्द्रियता और रागात्मकता पर **हर्बर्ट रीड** का कथन है—

> मूलतः कला इन्द्रियों का अभ्यास या कर्म है; वह आद्य एवं मूलस्थ आकांक्षाओं का स्पृश्य अभिव्यंजन है।[११]

कविता मूर्त्त और स्पृश्य न भी हो, तो भी दृश्य और श्रव्य तो होती ही है। इन्द्रियों के ही माध्यम से संवेदनों का गाढ़ अनुभव और रस का आस्वादन भी होता है। **ह्विटमैन** ने बताया था कि—

> कविता को तीक्ष्ण ऐन्द्रिय बीजाणुओं से परिपूर्ण होना चाहिए। एडिथ सितवेल ने यही बात इस प्रकार बताई है—नीत्शे ने पाशवीकृत ईश्वर का ही रूप अति-मानव की कल्पना में प्रस्तुत किया था। कविता इसके सिवा है भी क्या?[१२]

भारतीय काव्यशास्त्र में इन्द्रियों का महत्त्व रस-निष्पत्ति में स्वीकृत है। अभिनवगुप्त के अनुसार मात्र शांत रस का 'शम' इन्द्रियादि-व्यतिरिक्त-ज्ञान माना गया है, अन्यों के स्थायी भाव नहीं। प्रस्तुति, किन्तु, उसकी भी अन्यों की भाँति, इन्द्रियों के धरातल पर तो करनी ही पड़ती है।[१५] बात यह है कि निर्विकार चित्त काष्ठ है, 'शक्ति' युक्त होकर वह या उसकी शक्ति त्वन्मयी = धी, और शिवमयी होकर मन्मयी = चित्त होती है। इन्द्रियाँ है भूत-शक्तियाँ जिनसे प्राप्तव्य पाकर चित्त 'धी' या 'बुद्धि' के स्फुल्लिग मे ज्वलित होता है।[१६] अभिनवगुप्त का कथन है—

यत्किञ्चिन्मानसाह्लादि यत्रक्वापीन्द्रियस्थितौ।
योज्यते ब्रह्मसद्धाम्नि पूजोपकरणं हितम्॥ —तंत्रालोक

अर्थात् जगत् में जो कुछ आह्लादकारी हैं, वे ऐन्द्रिय है; परन्तु किसी महत्तर के अंग में योजित होकर पूजा के उपकरण-जैसे मांगलिक हो जाते है।

पॉल वैलेरी ने काव्यानुभव मे इन्द्रियों का महत्त्व इस प्रकार बताया है—

अनुभूति और अभिव्यक्ति के एकान्वित लयान्दोलन से ही काव्य का सवेद्य प्राप्त होता है। काव्यानुभव का दोलक (पेंडुलम) पहले इन्द्रिय-सवेदन से चालू होता है, फिर वैचारिक प्रत्यय अथवा भावना की ओर बढ़ता है, और तब पुनः पूर्व इन्द्रिय-संवेदन को लौट जाता है, अथवा ऐसी क्रिया की ओर वापस होता है जो पूर्वानुभूत संवेदन को फिर से जगा सके।[१७]

बात यह है कि काव्यादि में इन्द्रियाँ हैं भोगभूमि। उनमे ही द्रव (नाम, सत्, अर्थ) संचित आदि होकर भोगीकृत होता है और उनके आश्रयण से ही 'रूप' मे उभरता तथा चर्वित और भावित भी होता है। रागात्मकता भी ऐन्द्रिय तोष का संस्कारगत भाव ही है। किन्तु उन्हे 'किसी महत्तर के अंग में योजित' भी होना पड़ता है। महत्तर, 'अतीन्द्रिय' के प्रति समर्पण-व्यापार में भी इन्द्रियों का महत्त्वपूर्ण सहयोग अपेक्षित है। ऐसी समर्प्यमाण ऐन्द्रियता से आदिम रागों का उन्मेष संभव होता है। काव्यबिम्ब इनके कारण अपने स्थल पर तन्मय, अभिन्न, ज्योतिष्पुंज-जैसे प्रतिभासित होते हैं। इसलिए मनोवैज्ञानिक आदि बिम्बों से वे प्रतीतितः, स्वरूपतः और प्रकार्यतः पृथक् होते हैं। वे बौद्धिक और प्रत्ययात्मक होते हैं, ये रागात्मक और बिम्बात्मक। नामवर सिंह के अनुसार—

जो इन्द्रियगम्य है, जो मूर्त्तिमान है, और जो वास्तव है, वही दीर्घायु है, शायद वही सत्य है—बाकी सब युक्ति-सत्य है, हेतुवाद है। भौतिकता ही बिम्ब की आयु है और विशिष्टता शक्ति। शायद यही विशेषता है जो कविता को कोरे दर्शन अथवा विज्ञान से अलग करती है।[१८]

'भौतिकता' बिम्ब की आयु न भी हो, तो उसकी ऐन्द्रियता और 'विशिष्टता' यानी रमणीयता, मानसिकता आदि प्रातिभ विशेषताएँ 'काव्यबिम्ब' को अद्वितीय बनाती हैं। इसका आख्यान कार्लग्रूस ने इस प्रकार किया है—

चेतना के दो ध्रुवों संवेदनशील (सेंसिबिलिटी) अर्थात् ऐन्द्रियता और प्रज्ञा (इन्टेलेक्ट) के बीच अनेक मध्यान्तर स्तर हैं, जिनमें सहजानुभूति या कल्पना (इन्ट्यूशन या फैन्सी) एक है, जिसका उत्पाद्य है बिम्ब अर्थात् बाह्यतः उसका झलक जाने वाला रूप। यह बिम्ब प्रकृत्या संवेदन और प्रत्यय (सेन्सेशन और कान्सेप्ट) के बीच का होता है। संवेदनात्मक प्रतीति की भाँति वह पूर्ण तो होता है, परन्तु प्रत्यय के द्वारा वह निर्दिष्ट भी होता रहता है; अर्थात् संवेदन की पूरी और तीक्ष्ण शक्तिमत्ता उसमें नहीं होती, अनन्त ऐश्वर्य उसमें नहीं होता, तो साथ ही उसमे प्रत्यय (धारणा) का नंगापन भी नहीं रहता। कलात्मक 'बिम्ब' (काव्यादि का बिम्ब) सामान्य बिम्ब से अधिक प्रखर जो प्रतीत होता है, वह चेतना के शीर्ष पर स्पन्दित होने के कारण।'[९]

सी० डे लोविस ने 'दि पोएटिक इमेज' पृष्ठ–४१ पर काव्यबिम्ब की ऐन्द्रियता और व्यंजकता में जो सम्बन्ध माना है उसका कारण ऊपर के विवेचन मे सूचित है। तब काव्यबिम्ब की परिभाषा मे ऐन्द्रियता क्या व्यावर्त्तक लक्षण है ?

काव्यबिम्ब : परिभाषा, स्वरूप और प्रकार्य

'बिम्ब' की सामान्य परिभाषा आ० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो में है—

जो मूलवस्तु प्रतिबिम्ब या छाया फेकती है, शास्त्रीय भाषा में वही बिम्ब कहलाती है।[१०]

परन्तु 'काव्यबिम्ब' की परिभाषा में 'बिम्ब' शब्द विद्वानों और कवियों के भी द्वारा भिन्न-भिन्न अर्थों में गृहीत हुआ है। इसलिए उसकी परिभाषा की भी परिभाषा देने का खतरा पैदा हो गया है। कुछ उदाहरणो से उसकी अनेकार्थकता समझी जा सकती है।

काव्यबिम्ब : अर्थसरणियाँ .—

अधिकाश परम्परावादी विद्वान् और कवि, जैसे एच० कूम्ब्स, मिड्लटन मरी, कैरोलिन स्पर्जन आदि 'बिम्ब' से उपमा, रूपक आदि चित्रधर्मी अलंकारों का अर्थ लेते है। उनमे कुछ लोग उसे मात्र 'दृश्य' भी बताते हैं, और अन्य या तो श्रव्य और/अथवा मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया उद्बुद्ध करने वाला

ऐन्द्रिय तत्त्व। बिम्बवादी ह्यूम, एजरा पाउंड और स्पर्जन के निम्न कथनों से अर्थान्तर का अंदाज लग सकेगा—

कविता में प्रत्येक शब्द बिम्ब हो, जो दृश्य ही हो, न कि मुहरा—ह्यूम [११]
बिम्बवाद प्रतीकवाद नहीं है·· बिम्ब कवि का प्रमुख तत्त्व है···बिम्बवाद बिम्ब का व्यवहार अलंकार के लिए नहीं करता। —पाउंड। [१२]
काव्य में प्रयुक्त प्रत्येक उपमा, रूपक, कल्पना-चित्र या काल्पनिक अनुभूति आदि जिसे कवि अपने विचारों और भावों से संयुक्त कर प्रस्तुत करता है बिम्ब की सीमा में आते है। —स्पर्जन [१३]

किन्तु कवि बिम्ब का अर्थ 'पाठक द्वारा उद्भावित अर्थ-बिम्ब' करते हैं। यथा निम्न कविता मे पर्वत की घाटी की निर्झरणी के चंचल जल के चित्र के साथ-साथ एक स्त्री का भी बिम्ब उभर आता है—

पर्वत की घाटी का जल,
झरने की दूध धवल,
एक उठा हाथ में,
साथ में
छलक-छलक जल गाता है छल-छल
चंचल
एक घडा सिर पर ले,
मैं चलती, जल चलता,
मेरी कच्ची कोमल देह पर,
जल चंचल।

—ठाकुर प्रसाद सिंह : वंशी और मादल

इस कविता का उद्भावित बिम्ब रूपकत्व के कारण अलकार-बिम्ब की कोटि में आएगा, क्योंकि उसे लक्ष्य कर शब्द-प्रयोग किए गए हैं। किन्तु, पिछले पृष्ठ—३८३-४०३ पर यह बताया जा चुका है कि आधुनिक कवि किस प्रकार संज्ञा, क्रिया आदि के प्रयोग अपनी भावना के अनुसार कर देते हैं। फिर चूँकि उनमें कोई रूपकत्व निहित नही रहता, इसलिए पाठक को वाच्यार्थ मे कोई रम्य या रोचक तत्त्व दिखाई नहीं पडता। तब वह मनचाहा प्रतीकत्व भर कर उनसे चामत्कारिक अर्थ-बिम्ब निष्पन्न कर लेता है। यथा—

कल बबूल फूले थे
आज नीम फूली-फली फिर रही है
अभागे हैं वे
आज फलियाँ निकल आई हैं
कल अमिया गदरायगी
जो बिना फूले-फले ही झर गए।

—शिव मंगल सिंह सुमन : मिट्टी की बारात

सडक पर धूल
पेड़ पर धूप
चौके में धुँआ
सुबह
एक बिल्ली मुंडेरे पर
दूसरी बिल्ली से
आँख में कीचड़
धोती पर दाग
अचानक हर घर में
फूट पडती है
बैठी हुई
झगडती है।

—श्रीकान्त वर्मा . माया दर्पण

इनके वाच्यार्थ में कोई विशेष चमत्कार नहीं है। पर पाठक अपने-अपने ढंगसे 'बबूल', 'नीम', 'अमिया', 'बिना फूले-फले झरने वालों' में और 'धूल', 'कीचड़', 'धूप', 'दाग' 'धुँआ', 'फूट', 'बिल्ली', मे प्रतीकत्व भर-कर रम्य काव्यबिम्ब उद्‌भावित कर लेंगे।

पाठक के 'निजी प्रतीकत्व' मे इस प्रकार 'निष्पन्न अर्थ' के लिए 'बिम्ब' शब्द चल पड़ा। 'बिम्ब' का यहाँ अर्थ हुआ—

> पाठक के मनःचक्षुओं से गोचर होने वाला वह अर्थबिम्ब जिसे वह कविता के शब्दार्थ के सहारे स्वय उद्भावित करता है। इसके लिए कविता मे भाषा का रूपकात्मक-प्रतीकात्मक विधान अपेक्षित नहीं है। इस अर्थ मे 'बिम्ब' अपने शब्द के निहितार्थ पर उतना निर्भर नहीं करता, जितना बाह्य परिस्थिति, अर्थात् संदर्भ, अन्य परिपार्श्वी बिम्बादि पर।[२१]

अब फिर निम्न कविता ली जाय—

> पुकार खा गई कहीं बिखेर अस्थि के समूह
> अपत्र पुष्प, वक्र-श्याम झाड-झखडों घिरे असख्य ढूह
> भग्न निश्चयो-रुँधे विचार स्वप्न-भाव के
> समस्त भग्नता दिखी
> उदास से किसी नगर
> मलीन ध्यक्त जग लगे कठोर ढेर
> चिलचिला रहे प्रचण्ड धूप मे उजाड
> (घोर धूप में) पहाड
> जीवनानुभूति की गभीर भूमि में।
> मुझे दिखे। ...
> कि ज्यों विरक्त प्रान्त में
> सटर-पटर
> भग्न वस्तु के समूह
> दिख गए कठोर स्याह
>
> —मुक्तिबोध : चाँद का मुँह टेढा है

यह कविता पहली दोनों से गंभीर तेवर की है। इसे देखते ही गृहीता का मिजाज कुछ गहरी पैठ के लिए तैयार हो जायगा। इसमे अपत्र-पुष्प, वक्रश्याम, झाड-झखाड, ढूह, भग्न निश्चय, जंग लगे ढेर, भग्न वस्तु के समूह, कठोर स्याह पहाड़ आदि अनेक विषम पदार्थ उल्लिखित हैं। अतः पाठक संदर्भ और परिपार्श्व के बिम्बों के सहारे प्रतीकत्व उद्भावित कर बिम्ब-सर्जन करेगा और अपने अन्तस् के उजाडपन अथवा देश के उखडेपन आदि का अर्थ ग्रहण कर लेगा।

कही-कहीं शब्द ही नही, पूरे का पूरा वाक्य, कार्य-विवरणादि की पुनरुक्ति अथवा गूँज भी बिम्ब-रूप में प्रस्तुत हुई है। ऐसी प्रस्तुति एक कथन-शृङ्खला में 'और' 'और' आदि के सयोजक-चिह्न के साथ, अथवा बिना संयोजक चिह्न के भी एक-पर-एक आनेवाले बिम्बों के धार-प्रवाह-रूप में या विस्फोटक-विध्वंसक रूप में की गई मिलती है। पाउंड, इलियट, येट्स, पॉंज, रिल्के, टॉमस आदि पाश्चात्य कवियो मे यह शैली प्रभावकारी उतरी है।

इस पर चीनी आइडियोग्रास की विधि का भी प्रभाव है, जिसका उल्लेख पिछले पृष्ठों पर किया गया है। हिन्दी-कविता पर भी इसके प्रभाव दीखते हैं। यद्यपि हिन्दी मे ऐसी विधि विशेषणों, समानाधिकरणो की लम्बी सूची के कारण तथा घनाक्षरी, छप्पय, कवित्त, कुंडलिया आदि में मूल कथ्य को अंतिम चरण तक गुप्त रखने के कौशल के कारण दूसरे रूप में प्रचलित थी, जिससे कथ्य पर अनेक चामत्कारिक परतें जमा हो जाती थीं, तथापि आज की विधि में यह कौशल प्रवृत्या-प्रकृत्या प्राचीन पद्धति से भिन्न है। अब इससे जटिलता और विषमता का तनावपूर्ण वातावरण तैयार किया जाता है। ऐसा ही तनाव ऊपर की कविता मे है। पर निम्न कविता का मिजाज एकदम दूसरा है—

मेरी आँखों से बह-बह कर नष्ट होता हुआ अन्धेरा
काली सडको पर लाल धब्बे छोडते मेरे पाँव
और दोनों तरफ अकड़े हुए अनाथालय के
'कुत्ते से सावधान'
आकाश में तैरती हुई वह अधजीवी देह
और एक चुड़ैल वहाँ ऊपर चीखी थी—
उस बहते हुए जहर को देख कर ही
और टूटे फानूश की तरह बिखरे
भाग खडा हुआ था मै
किम कदर बढ़ा लिया है उन्होंने
धातु को,
प्यार करने लगे हैं ...

मेरे भीतर मोह पैदा कर देता था
जम जाया करते थे बीच रास्ते में
बन्द फाटकों पर लिखा होता था
छब्बीसवें माले पर से छलाँग लगाकर
मेरे पैरो के पास ही गिर कर बिखर गई थी
हाय, अब मै किसका रक्त चुसूंगी
जलने लगी थी मेरी बाँयीं आँख
उस जिस्म को रौंदता हुआ
सचमुच, प्यार की शक्ति को
अब वे देह को, कुरसी को
कागज के कुडकुडे टुकडे को भी

—देवेन्द्र ' यातनागृह

इस कविता में गत्वर दृश्य की भाँति एक-के-बाद-दूसरे बिम्ब उभर कर कथ्य को उत्तरोत्तर गहन, तीखा और-प्रभावशाली जमाव देते चलते हैं। इसके कुछ बिम्ब 'और' के द्वारा और कुछ बिना संयोजक चिह्न के भी जुडे हैं, अथवा अलग-अलग टक्कर लेते हैं। मैकलीश का कथन है कि

> इस प्रकार के समान और असमान अथवा पूर्णतः विसदृश और विरूप बिम्बों का परस्पर अगल-बगल जब प्रयोग होता हैं, तब कवि का राग, उसका चर्वित भाव दोनो के बीच के अन्तराल में उस स्थल से फूटता होता है, जहा वे दोनों विषम-विधर्मी बिम्ब-युग्म मिलते या टकराते हैं। बिम्ब और बिम्ब के बीच इस प्रकार फासला छोड़ कर ही बिम्बों में अनुभूति भरी जाती है, अर्थात् पाठक में असाधारण से भी अधिक भावना की उद्बुद्धि की जाती है।[१५]
> ['असाधारण से भी अधिक भावना' और 'असामान्य संयम' में कवि-कल्पना की समन्वय-शक्ति कॉलरिज के अनुसार पृष्ठ—१९३-१९४ पर वर्णित है।]

बिम्ब बिम्ब के बीच तनाव, टकराहट और फिर सश्लेष की इस काव्य-पद्धति में 'बिम्ब' का अर्थ निश्चय ही कुछ दूसरा है। यह बिम्ब भी पाठक की उद्भावना है, किन्तु पहली विधि में बिम्बानुबिम्ब, बिम्बमाला, बिम्ब-स्तोक आदि की पद्धति है, तो इसमें बिम्ब-विस्फोट की। (आगे देखें डायलन टॉमस की बिम्ब-रचना-प्रक्रिया)। वहाँ सकलन की क्रिया होती है, इसमें संघनन की।

पुनः काव्यगत प्रतीक, बिम्बवादी 'बिम्ब' और मनोवैज्ञानिक प्रतीक-बिम्ब में 'बिम्ब' के अर्थ सामान्य 'बिम्ब' से कुछ भिन्न लिए जाते है।

काव्यगत प्रतीक पहली झलक में 'बिम्ब' ही प्रतीत होता है; बाद के अर्थ-बोध से उसका प्रतीकत्व उभरता है। यह बात प्रतीकवादी प्रतीक के लिए तो और भी ताकत के साथ कही जा सकती है। पृष्ठ—४२४-५ पर प्रतीकवादी 'बिम्ब' और बिम्बवादी 'बिम्ब' के अन्तर का सकेत किया गया है। एजरा पाउड के अनुसार—

> प्रतीकवादी 'बिम्ब' सागीतिक प्रस्फुटन-जैसा हो, तो बिम्बवादी 'बिम्ब' स्थापत्यात्मक मूर्त्तन-जैसा होता है। प्रतीकवादी कवि के जबर्दस्त पंजे में आकर वास्तव और माध्यम दोनों गीली मिट्टी की तरह लचीले बन जाते हैं। तब कवि मनचाहा रूप खड़ा करता है। कविता उसके लिए अन्तस् का अनुनाद है। किन्तु बिम्बवादी कवि के लिए जागतिक सत्ता और माध्यम प्रस्तर और फलक की भाँति सख्त होते हैं। इन पर कवि को कविता चीतने और उरेहने की क्रिया करनी पड़ती है।[१८]

दूसरे शब्दों मे प्रतीकवादी बिम्ब जीवन-जगत् और कथ्यादि का विरूपीकृत बिम्ब होता है, किन्तु बिम्बवादी बिम्ब में विरूपण उतना विसदृश नही होता। प्रतीकवादी बिम्ब मे अर्थ-भाव-सकुलता अपेक्षया अधिक सान्द्र और सघन होती है। अतएव प्रतीकवादी बिम्ब के अर्थ, स्वरूप, लक्षणादि बिम्बवादी बिम्ब से प्रकृत्या भिन्न होंगे। धार्मिक, साम्प्रदायिक, रहस्यवादी प्रतीक के तो और भी। कहना न होगा कि बिम्बवादी बिम्ब सामान्य काव्यबिम्ब से इस मानी में भिन्न अर्थ देता है कि वह साम्प्रदायिक है।

इन दोनों से पृथक् होता है साध्यवसाना-रूपक अथवा अन्योक्ति-रूपक का बिम्ब जिसमें किसी पूर्व स्वीकृत सत्ता, मान्यता आदि का प्रतिपादन—चाहे वह धर्म, नीति, दर्शन, राजनीति, काव्यादि की हो अथवा इतर मूल्य-भावना की—तिर्यक ढंग से किया जाता है अथवा उसके आधार पर कोई

दूसरी बात कही जाती है।[१७] यथा—निम्न कविता मे कविता का मूल्य शब्द संगीत और घटना-चमत्कार पर उतना आधारित नही है जितना कवि की हृदयगत भावना पर—

अरबी घोड़े पर सवार
नदी में डाल गया हो अपना यौवन
ऐसा है उसका यौवन
और कुहुकी—
और हाथ में लिए कटार !

जैसे कोई राजकुमार
और वह हो गई हो निहाल
जो नगर में आज नाची
आँखो में भरे मदिरा

—केदारनाथ अग्रवाल 'फूल नहीं रंग बोलते है।

इस कविता में उस वासती रात्रि की मस्त नायिका के नाच का वर्णन है, जो दिन के यौवन-दान (सूर्य के डूबने) से पुलकित नदी को देखकर सह-अनुभूतिवश स्वय भी मस्त हो गई है और नगर मे उतर कर चाँद की कटार लेकर कुहुक रही है, नृत्य-विभोर है। इसमे 'अरबी घोड़ा', 'राजकुमार', 'यौवन का डाला जाना', 'नाच', 'मदिरा', 'कटार' आदि काव्य और रसिक-समाज के मान्य उपकरण अथवा सकल्पनाएँ है, जो अपनी प्रकृत अर्थच्छायाएँ उद्बुद्ध कर स्वयं तिरोहित-सी होती है, पर अन्वित बिम्ब पर अपनी छायाएँ डाल कर, जिनके कारण अर्थ सघन होता है। इस प्रकार के बिम्बों के अर्थ सामान्य बिम्बो से प्रकृत्या-प्रवृत्या भिन्न होगे।

प्रतीक और बिम्ब के अर्थ मनोविज्ञान, प्रधानतः मनोविश्लेषण-शास्त्र में कुछ गहन हैं, जिनका सकेत पृष्ठ २३२—२३४, ३४३—३५१, ४९१—५०८ आदि पर किया जा चुका है। युग के अनुसार 'बिम्ब' की परिभाषा है—

वह विशेष रूपाकृति, जिसमें ऊर्जा मनस् में प्रकट होती है, 'बिम्ब' है। इसे रचनात्मक शक्ति—इमेजिनेशियो—अचेतन से उद्बुद्ध करती है। मनस् की रचनात्मक क्रियाशीलता अचेतन के सम्पूर्ण गड्डमड्ड (केओस) को ऐसे बिम्बों में रूपान्तरित करती है, जो स्वप्न, दिवास्वप्न, परिदर्शन (व्हीजन), कला, काव्यादि में दिखाई पड़ते हैं। वही 'बिम्ब' की अर्थ शक्ति का भी निर्धारण करती है, जो फिर प्रखरता-सम्बन्धी मूल्य और सदर्भगत पुंज से आँकी जाती है। पर, मनोवैज्ञानिक प्रणाली जो ऊर्जा का रूपान्तरण करती है, 'प्रतीक' है। इस ऊर्जा को 'लिबिडो' कहा जाता है। 'प्रतीक' इस 'लिबिडो' का ही रूप-पक्ष है। वह ऐसी आकृति है जो 'लिबिडो' की तत्समान अभिव्यक्ति कर दे सकती है और फिर नए रूप में ढाल भी दे सकती है।[१८]

प्रतीक मे बाह्याभिव्यंजक और अन्त प्रेरक दोनों लक्षण युगपत् रहते हैं। वह बिम्ब के मूल में रहनेवाली मानसिक प्रक्रिया को बाहर प्रकट भी

करता है, और फिर वह मन को अन्तस्तल स प्रभावित भी करता है, अर्थात् मानसिक ऊर्जा का प्रवाह बढ़ा देता है। 'बिम्ब' का अन्तरग गूढ पक्ष 'प्रतीक' है; 'प्रतीक' का मूलस्थ तत्त्व 'आद्य प्रतीक' अथवा 'आर्केटाइप' है। आद्य प्रतीक 'सामूहिक अचेतन' से निर्गमित होता है। अपनी 'माता का बिम्ब' धीरे-धीरे 'मातृमूर्त्ति के प्रतीकत्व' में विशद होगा, और फिर उसमे मिथकीय तत्त्व भी उभर सकते है; यथा—वह परी, अप्सरा, देवी, चन्द्रमूर्त्ति आदि में प्रकल्पित हो सकती है। अन्ततः, जैसा कि पिछले पृष्ठ ५०५-५०८ पर बताया गया है अधिक गहरे तल से निःसरित होने पर, यानी सामूहिक अचेतन के तल से उन्मिषित होने पर, वह 'गहन गर्त्त', 'अंधी गुफा', 'भूगर्भ तल', 'महासागर', अथवा और भी नीचे के अगम तल से स्फुरित होने पर 'अधकार' का रूप धारण कर लेगी, ऐसी 'तमिस्रा' का जो ज्योति का गर्भ-मडल भी है और साथ ही समस्त प्रकाश का अवसान-विन्दु भी।

पुनः 'प्रतीक' के दो पक्ष है—अर्थगत, अर्थात् विवेकाश्रित पक्ष और बिम्वगत, अर्थात् आन्तरिक मानसिक पक्ष, जिसके सहारे वह अचेतन से सम्वद्ध रहता है। 'प्रतीक' 'अन्योक्ति-परक' नहीं होते, न 'संकेत' होते हैं। 'सकेत' किसी अन्य के स्थानापन्न अथवा उसके शेष-चिह्न होते हैं और एक निश्चित प्रक्रिया के लिए रूढ़ अर्थ देते है।[२६] 'सकेत' भी बिम्ब हैं, पर अन्य के स्थान पर। 'प्रतीक' वैसे रूढ़ार्थ सकेत-भर नहीं होते। वे बिम्ब-पुज हैं, चेतनातीत अर्थ-संकुल ज्योतिकण हैं। कभी-कभी अर्थ-विस्पष्टता अथवा रूढिवश वे 'मृत प्रतीक' अथवा 'सकेत' भर रह जाते है। इनमें भी यदि आवृत्ति आदि की रागबद्धता विकसित होती है, तो इनमे जादुई शक्ति आ जाती है; जैसे—ताबीज, यंत्र, ध्वजा, शौर्य-चिह्न, ट्रेडमार्क आदि मे। काव्यादि में भी यदि कुछ शब्द, बिम्बादि रागात्मक रूप से आवृत्त होते रहे हो, अथवा संकुल रूप मे प्रकट हुए हो, तो वे प्रतीकवत् विपुल आकर्षण के केन्द्र बन जाते है, यथा—अज्ञेय की कविता मे 'हारिल' 'हरी घास' 'मछली' 'चक्रान्त' आदि और मुक्तिबोध की कविता में 'अधकार', 'वटवृक्ष', 'ब्रह्मराक्षस', 'पागल', 'माँ' और शिशु आदि के आवृत्त बिम्ब और श्रीकान्त वर्मा की 'जलसाघर' कविता मे 'जोसेफ अब्रकुआ' 'बाबर' 'कलिंग' 'स्तालिन' के सकुल बिम्ब। 'मिथक' का प्रतीक काव्यबिम्ब को कैसे रचता है, इस संबंध मे हर्बर्टरीड का कथन है—

मिथक अथवा उससे भी अधिक अंतरंग संबध रखनेवाला बिम्ब ही काव्य को संरचित करता है। उसकी दृश्यवत् ऊर्जा (आइडेटिक एनर्जी) नादगत परमाणुओं की झूलती-सी बूंदों के बीच कैटेलिस्ट की तरह काम करती है और उनमें से कुछ को इस प्रकार तरलायित करती है कि वे दीप्त शब्दों के रूप में 'बिम्ब' के आवरण हो जाते हैं।[१०]

बिम्ब और प्रतीक की यह मनोविश्लेषणगत अर्थ-राशि काव्यबिम्ब के सामान्य अर्थ से मूलतः भिन्न है। यह बात एकदम दूसरी है कि काव्य-बिम्ब के अर्थ में अब इनके कारण कुछ दूसरी झलकें भी आ गई हैं। यह सदैव स्मरणीय है कि मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण-शास्त्र में बिम्ब और प्रतीक सृष्ट नही होते। किन्तु काव्यबिम्ब और काव्यप्रतीक सर्वथा कवि की संरचना और सृष्टि होते हैं। यह सर्जना ही उनकी रमणीयता, अर्थात् काव्यत्व का मूल लक्षण है। दूसरे शब्दो मे 'काव्यबिम्ब' मे प्रतीतितः काव्यगत बिम्बत्व प्रधान होता है, मनोविज्ञानादि का बिम्बत्व अन्तर्लीन।

भारतीय संस्कृत साहित्य में 'बिम्ब' सामान्यतः सूर्य, चन्द्र आदि के गोलाकार मडल, प्रतिमा, छाया, एवं उपमित पदार्थ (बिम्ब-प्रतिबिम्ब) के अर्थ में प्राचीन काल से प्रयुक्त शब्द रहा है। परन्तु काव्यालोचन के लिए इस शब्द का व्यवहार और इसकी अवधारणा का निर्माण आधुनिक है। हिन्दी काव्यालोचन मे आ० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रथमतः 'बिम्ब' शब्द का आधुनिक अर्थ-संदर्भों में व्यवहार 'इमेजरी', और रूप-विधानादि के द्वारा निर्मित विभावादि के संश्लिष्ट चित्र और मूर्त्ति के अर्थो में तथा साधारणीकृत भाव और रस की मानसिक प्रतीति और रचना की समग्र प्रभाव-छवि के लिए भी पूर्णतः शास्त्रीय मान्यता के साथ किया। फिर भी, प्राचीन भारतीय मनीषा काव्यतत्त्व के अवगाहन और विवेचन मे प्रकारान्तर से 'काव्यबिम्ब' की आधुनिक अवधारणा तक स्वतः पहुँच गई थी। इसका संक्षिप्त परिचय पिछले १५७–१६४ पृष्ठों पर दिया जा चुका है। वह सारांशतः यह कि 'काव्यलक्षण', 'प्रत्यक्षवत्ता', 'चित्ररूपता', 'प्रतिबिम्बन योग्यता', 'अलंकारवत्ता', 'वाक्याभिनयात्मकता', 'सहृदयाह्लादकत्व', 'रमणीयता', 'रसमयता' आदि के द्वारा प्राचीन शास्त्रकार लगभग वही बात कुछ आध्यात्मिक-दार्शनिक शब्दावली में कह रहे थे जो 'काव्यबिम्ब' की संकल्पना में कुछ मनोवैज्ञानिक शब्दावली के आधार पर आज के विद्वानों के द्वारा बताई जाती है।

अब यदि भारतीय काव्यशास्त्र की उपपत्तियों और अवधारणाओं को 'काव्यबिम्ब' की संकल्पना के साथ संयुक्त और अन्वित कर लिया जाय तो उसमें निश्चय ही अर्थ-प्रसार आयगा और वह उपरिवर्णित प्राय: समस्त अर्थ-कोटियों को समाविष्ट कर ले सकेगा।

काव्यबिम्ब : परिभाषा और स्वरूप

'काव्य' और 'बिम्ब', फिर उनकी समष्टि 'काव्यबिम्ब' और उन्हें प्रकट करनेवाली भाषा तथा ग्रहण करनेवाली चित्तवृत्ति—ये सभी चेतन और गत्वर संकल्पनाएँ हैं। बिम्ब कवि तथा आस्वादक की चित्तवृत्ति पर काव्य की क्षण-परिमाणी प्रतिच्छाया है। दूसरे क्षण वह स्मृति-शेष होकर अवधारणात्मक, प्रत्ययात्मक अथवा मूर्त्त भौतिक रूप ग्रहण कर ले सकता है। तब वह प्रकृति-प्रवृत्ति-भेद से गृहीता को भिन्न-भिन्न और प्रतीति-काल से विविक्त मालूम पड़ेगा ही। पुन:, जैसा कि पिछले पृष्ठों पर सूचित किया गया है, 'बिम्ब' अनेक अर्थों में गृहीत अवधारणा है। अत: काव्यबिम्ब की परिभाषा और स्वरूप आदि के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। उन्होंने जो परिभाषाएँ, विवरण आदि दिए हैं, उन्हें तीन प्रधान कोटियों में रखा जा सकता है—१. वैज्ञानिक, २. भावात्मक-सौन्दर्यिक और ३. दार्शनिक-धार्मिक।

१. वैज्ञानिक—यद्यपि मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि शास्त्रों में वैज्ञानिक परिभाषा ही अपेक्षित है, तथापि काव्यबिम्ब की भावात्मक-सौन्दर्यिक प्रकृति बहुधा परिभाषा को भी स्पर्श कर जाती है। पिछले अध्याय में बिम्ब की मनोविज्ञान द्वारा स्वीकृत कई परिभाषाएँ आई हैं, जो काव्यबिम्ब के लिए आधार मानी जा सकती हैं, बशर्ते वे कविसृष्ट अर्थात् काव्यत्वयुक्त हों। उनमें से एक है—

> मानसिक प्रतिच्छाया, विगत संवेदनात्मक, अथवा प्रत्यक्ष-गृहीत अनुभव का स्मृति-रूप, विशेषत: दृश्यवत् प्रत्यंकन।

पिछले पृष्ठ १६४ पर **फ्रांसीस गॉल्टन** के प्रयोगों के आधार पर विगत अनुभवों के दृश्यवत् प्रत्याह्वान की प्रतिशतता बतायी गई है जिनसे यह पता चलता है कि दृश्य बिम्बन-क्षमता की दृष्टि से मनुष्यों में अन्तर है। इसलिए अब भी कुछ विद्वान् यद्यपि दृश्यत्व को बिम्ब का अनिवार्य गुण मानते हैं, चाहे दृश्यत्व चर्म-चक्षुओं की प्रक्रिया हो या मानस-चक्षुओं की, तथापि बिम्ब मात्र दृश्य नहीं माना जाता। भिन्न-भिन्न इन्द्रिय-प्रणालिकाओं और उनके

विविध प्रकार्यों तथा दैहिक-मानसिक संस्थानों से सम्बद्ध उसके विविध भेद भी स्वीकृत हैं, यथा—स्वाद-बिम्ब और गंध-बिम्ब, ताप-बिम्ब और चाप-बिम्ब, चालन-बिम्ब और सह-अनुभूतिगत बिम्ब, औच्चारणिक और मांसपेशीय बिम्ब, स्थिर और गत्वर बिम्ब आदि। मिश्र बिम्ब इन सबसे पृथक् है जिसमें कई इन्द्रियाँ और मन के धरातल सञ्चरित अथवा सम्मिश्रित होकर उसे जटिल बनाते हैं। दूसरी बात यह कि काव्यबिम्ब विगत अनुभवों पर प्रधानतः आश्रित होकर भी न तो उनका ही यांत्रिक प्रत्यंकन होता है, न वर्त्तमान और भविष्य से नितान्त निःसंग। कलाकार और कवि सर्जना के क्षण में लौकिक काल को अतिक्रान्त किए होते है। उस समय विगत, वर्त्तमान और अनागत के यांत्रिक-जैसे कठघरे टूट से जाते हैं। तब वे शाश्वत वर्त्तमान पर आरूढ़-से रहते हैं। डॉ० नगेन्द्र की यह स्थापना कि 'अनुभूयमान क्षण की अभिव्यक्ति की कल्पना असिद्ध है; अनुभूत की ही सर्जना या पुनः सर्जना संभव है'[३१] कथा-काव्य के संदर्भ में युक्तियुक्त होकर भी रसात्मक काव्यक्षण की दृष्टि से स्फोट-सिद्धान्त और मनोवैज्ञानिक वर्त्तमानता की (द्रष्टव्य पृष्ठ १००-१ और ४६५-७) मान्यता के विरुद्ध है। साराशतः बात यह कि काव्यबिम्ब विगत संवेदनात्मक अथवा प्रत्यक्षगृहीत अनुभवों के स्मृति-रूप भी होते है, वर्त्तमानकालिक और भविष्योन्मुखी भी; यथा—निम्न कविता में द्रव्य विगत के हैं, किन्तु उनका अनुभव वर्त्तमानकालिक होगा।

आज सर्प-मुख से मणि छीन, — अधोमुख अवचेतन पथ करो, चेतने ज्योतित
—पंत : लोकायतन

इसलिए भी कि अवचेतन के ज्योतित होने के भविष्यत्कालीन बिम्ब कल्पित हों (आगे देखें—अध्याय ८, पद-परार्ध वक्रतागत बिम्ब)। काव्य-रचना और आस्वाद भी 'अनुभूयमान' से 'अनुभूत' तक की रम्य और प्रायः असमाप्तयात्रा है, न कि 'अनुभूत' का उत्तरकालीन लेखा-जोखा। कैरोलिन स्पर्जन का कथन है—

> भावोद्रेक की उच्चता के क्षण में कवि द्वारा सरल प्रवृत्तिवश प्रयुक्त, प्रधानतः अचेतन के बिम्ब, एक अन्तर्दर्शन है। यह अन्तर्दर्शन है कवि के मानसिक उपकरण, विचार-स्रोत, वस्तुओं के गुणों का, दृश्य और स्मृत घटनाओं का और सबसे मार्के की बात, उनका भी जिन्हें उसने न तो देखा है, न याद किया है।[३२]

लॉजाइनस ने बिम्ब के विषय में अपने विचार इस प्रकार प्रस्तुत किये हैं—

> बिम्ब (या कल्पना-चित्र) भी'''गरिमा, ऊर्जा और शक्ति के सम्पादन में बहुत-कुछ सहायता करते हैं। इस अर्थ में कुछ लोग उन्हें मानसिक प्रतिकृति कहते हैं। सामान्यतः बिम्ब की संज्ञा मन के प्रत्येक ऐसे विचार को दी जाती है,

जो चाहे किसी रूप में प्रकट होकर भी वाणी को प्रस्फुरित करता है। पर आजकल यह शब्द मुख्यतः ऐसे अवसरों पर प्रयुक्त होता है, जहाँ उत्साह और आवेग में आकर हम सोचते हैं कि जो कुछ हम वर्णन कर रहे हैं, उसे साक्षात् देख रहे हैं। ...काव्य के क्षेत्र में कल्पना-चित्र का उद्देश्य अभिभूत करना है...आवेगों और भावनाओं को उद्बुद्ध करना है।[३३]

उन्होंने बिम्ब को 'मानसिक प्रतिकृति' माना है तथा प्रस्फुरण, प्रत्यक्षवत्ता, और आवेगों भावनाओं की उद्बुद्धि के द्वारा पाठक- श्रोता को अभिभूत कर लेना, उसके प्रकार्य बताए है। एडवर्ड डब्ल्यू० रोसेनहाइम उसमे ऐन्द्रियता का पक्ष उजागर करते है।

बिम्ब की चेष्टा है चित्त को वस्तु अथवा अनुभव के एन्द्रिय-संवेदनात्मक पक्ष से अवगत कराना—हमारे अन्तस् में स्मृतियों और कल्पना-शक्तियोंको उद्बुद्ध कर यह प्रभाव डालना कि वस्तुएँ कैसी दिखाई पड़ती, महसूस होती, सुनाई पड़ती, गंध देती और स्वाद-भरी हैं।[३४]

यह विवरण बिम्ब के प्रकार्य बताता है और उसे संवेदनावादी बिम्ब मे सीमित कर डालता है। बिम्ब अन्तस् पर केवल संवेदनात्मक और ऐन्द्रिय प्रभाव नही डालता। उसके प्रकार्य प्रातिभ; यानी सूक्ष्म-गहन हैं। कैथेलिनरेने[३५] के अनुसार इस प्रकार के बिम्ब चाहे जितने भी प्रखर और साफ क्यों न हों, आयाम-विरहित होते हैं और शीघ्र ही ऊब पैदा करते हैं। इस सम्बन्ध मे आइ० ए० रिचर्डस् का निम्न विवेचन अधिक सारगर्भ है—

बिम्ब को सामर्थ्य बिम्ब-रूप में उसकी सजीव मूर्त्तता (गोचरता) से उतनी नही प्राप्त होती जितनी मानसिक घटना-रूप में उसके उस लक्षण से मिलती है, जो संवेदन से विलक्षण रूप में सम्बद्ध है। बिम्ब संवेदन का प्रत्यंकन ही नहीं है, उसका प्रतिनिधि-रूप भी है। प्रत्यंकन-पक्ष तो क्षीण भी हो जा सकता है, इतना कि वह बिम्ब भी न रहे, अस्थि-शेष (प्रत्यय) हो उठे; फिर भी वह संवेदन का पूर्ण प्रतिनिधित्व कर सकेगा, ऐसा कि जादुई गोचरता में वह ज्वलित प्रतीत होगा। यही कारण है कि सवेदन-लक्षणों से भिन्न-भिन्न होकर भी, यथा—दृश्य और स्पृश्य बिम्ब अथवा तीव्र और मद्धिम बिम्ब आदि भी चित्त पर समान-जैसे प्रभाव और विवक्षित मनोदशा का निर्माण कर सकते हैं। ...मूर्त्तन की प्रवृत्ति जैविक अभ्यास-जन्य है। ...वस्तुतः राग-बोध ही वह अंतिम तत्त्व है जो हमारे मन में किसी पदार्थ, शब्द आदि के प्रति सचित है और जो जटिल एवं रहस्यात्मक ढंग से नाना प्रकार के अन्य रागों के जाल में बँधा रहता है। उनके पृष्ठाधार और निर्देश पर हम शब्दगत 'अर्थ' के अन्तर्निरीक्षण को निश्चयात्मक आनुरूप्य देते हैं। ये राग भी बिम्ब की भाँति मानसिक प्रतिक्रिया के लिए संकेत या प्रतीक हैं।[३६]

इस प्रकार रिचर्ड्स बिम्ब की सत्ता को अमान्य नहीं घोषित करते, उसकी स्नायविक-ऐन्द्रिय अतिरेकी महत्त्व को, जैसा कि पृष्ठ ४०३ पर सूचित किया गया है, अस्वीकार करते हैं। उन्होंने उसके रागात्मक, भावात्मक मानसिक प्रभाव को तो स्वीकार ही किया है; अर्थात् बिम्ब = संवेदन का प्रत्यंकन अथवा चित्र नहीं; अपि तु बिम्ब = मानसिक प्रभाव, अर्थात् संवेदन, राग, भावादि का प्रातिनिधिक रूप, जिसका प्रभाव मन पर अधिक पड़ता है। परन्तु संवेदन के प्रत्यंकन और प्रभाव में पर्की और मर्फी के प्रयोगों के आधार पर, अंतर प्राय नहीं के बराबर है (द्रष्टव्य पृष्ठ—४६१)। रिचर्ड्स ने कॉलरिज के उद्धरण के द्वारा, जो पिछले पृष्ठ १६४—५ पर भी उल्लिखित है, बिम्ब को भावात्मक-सौन्दर्यिक मानसिक तत्त्व अथवा घटना भी माना है। इस दृष्टि से रेनी वेल्लेक और ऑस्टिन वारेन की निम्न परिभाषा अच्छी है—

> बिम्ब संवेदनात्मक (ऐन्द्रिय) विशिष्ट तत्त्व है, अथवा संवेदनात्मक और सौन्दर्यिक सातत्य है, जो काव्य को संगीत और चित्रकला से सम्बन्धित एवं दर्शन और विज्ञान से विलग करती है।[१७]

बिम्बत्व और रूपकत्व इनकी दृष्टि से साहित्य के व्यावर्त्तक लक्षण हैं, जिनके कारण विज्ञान से वह नितांत भिन्न हो जाता है। कविता शब्दों का अद्वितीय सरूपण है, जिसकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती है और जिसका प्रत्येक शब्द 'वस्तु' भी है, 'संकेत' भी और जिसका व्यवहार ऐसा हुआ रहता है कि कविता के बाहर की किसी भी प्रणाली से वह संभव नहीं है। यह बात पिछले पृष्ठ—१२४-८, ३५३ तथा ४४२-४४३ पर विवेचित हो चुकी है। उनके आधार पर ही 'बिम्ब' को 'विशिष्ट' और 'सौन्दर्यिक सातत्य' कहा गया है। 'काव्यशब्द', फिलिप व्हीलराइट के अनुसार 'अनेकार्थक संकेत' होते हैं; रागपर्यवसायी और साधक भी होते हैं, मात्र साधन नहीं, मध्यस्थ भी रहते हैं, मात्र माध्यम नहीं; सौन्दर्यिक और स्वायत्त चेतना हैं, यान्त्रिक संकेत-चिह्न-भर नहीं। जैसा कि पृष्ठ—३४० पर बताया गया है, काव्यशब्द में भाषिक रूपकत्व अर्थात् शब्दमात्र में रहने वाले बुझे, घिसे, रुग्ण अथवा मृत रूपक आदि यथा—नारियल की 'आँख', शीशी का 'मुख', 'चोटी' का विद्वान्, गवेषणा, दुहिता, मंडप, मुखपृष्ठ आदि में जो प्रत्यक्षत: है, तथा बहुसंख्यक शब्दों में जो अन्तर्लीन है—के साथ, काव्यात्मक रूपकत्व का योग होता है।[१८] यथा—निम्न पंक्तियों के अर्थ, पद, षटपदी,

सप्तपदी, जड आदि शब्दो मे भाषिक रूपकत्व के साथ-साथ काव्यात्मक रूपकत्व का योग हुआ है—

> अर्थ तुझे भी हो रही पद-प्राप्ति की चाह —गुप्त साकेत
> पैठा है तू षट्पदी निज सरसिज में लीन
> सप्तपदी देकर यहाँ बैठी मैं गति हीन। —गुप्त : साकेत
> एक तत्त्व की ही प्रधानता कहो उसे जड़ या चेतन—प्रसाद , कामायनी

यही नही, काव्यशब्द अपने समानार्थी, समध्वनि, सहचर अथवा विलोम आदि को, यहाँ तक कि किसी कारणवश प्रयुक्त न होने वाले शब्दों-अर्थों को भी निरायास आहूत करते हैं। यथा—

> भाभी क्यों नही सरस्वती-सी प्रकट जहाँ तुम हो रही —साकेत

मे 'रसवती' ध्वनि भी अनायास श्रुत और संवेद्य होगी। 'अर्थ तुझे भी हो रही …' मे अनर्थ, समर्थ, व्यर्थ, परार्थ आदि की ध्वनियाँ भी गूँजेंगी। इस प्रकार काव्यबिम्ब जिन शब्दों से रचित होता है उनके भाषिक रूपकत्व को तो वह समाहित रखता ही है, उनके सहचर, स्मृत अनेक श्रुत-अश्रुत नादो, अर्थो की भी गूँजे उठाता है तथा कविता मे प्रयुक्त निकट या दूर के शब्दों से भी अर्थाच्छायाएँ प्राप्त कर विशिष्ट नादात्मक जाल बुन डालता है। उनके कारण अर्थ-वृत्त विशिष्ट संवेदनात्मक और सौन्दर्यिक सातत्य प्रस्तुत करता है, जिससे चित्र-कला के समीप की प्रतीति होती है, और नादात्मक गूँजो-अनुगूँजो के कारण वह संगीत-कला के निकट का लयान्दोलन प्राप्त करता है। इस दृष्टि से उपर्युक्त परिभाषा युक्तियुक्त ठहरती है। इस परिभाषा मे संवेदनात्मक और सौन्दर्यिक सातत्य अथवा नैरन्तर्य का बखान तो है, पर उनके प्रकार्य चित्रकला और संगीतकला के आधार पर बाहर-बाहर के बताए गए हैं। एजरा पाउंड की निम्न परिभाषा इस त्रुटि का परिमार्जन करती है—

> बिम्ब वह है जो निमिष मात्र में प्रज्ञात्मक और भावात्मक संश्लेष प्रस्तुत कर दे।[१६]

इसमे बिम्ब के शब्दार्थगत निमित्त कारण का उल्लेख प्रकटतः नही हुआ है, पर वह तो उसका प्राथमिक आधार है। इस परिभाषा मे बिम्ब की दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ—(१) क्षणिकता और (२) संश्लिष्टता भी बताई गई हैं। बिम्ब जिस क्षण भासमान् होता है,—और यह प्रातिभ दुर्लभ क्षण है,—उसी क्षण उसकी कौंध रहती है। तब वह अद्वितीय और कालातीत

भी हो उठे, यह दूसरी बात है। पर इस क्षणिकता के कारण लम्बी कविता और महाकाव्यादि के विराट् और प्रसरित बिम्ब को स्वीकारते समय कठिनाई हो सकती है। बिम्ब की यह विशेषता मन की विवशता ही है। पर कभी-कभी किसी मन में एक बिम्ब भी जीवन-भर टिका रहकर उसे आप्यायित कर सकता है। फिर भी क्षणिकता उसकी विशेषता है जरूर। पुनः, यह भी कहा गया है कि बिम्ब प्रज्ञा और भाव में संश्लेष प्रस्तुत करता है—ऐसा संश्लेष वह है ही। सी० डे लिवीस ने भी 'संश्लेष' की बात अपने ढंग से रखी है।

> वह बाह्य यथार्थ के यथावत् प्रत्यंकन से कुछ अधिक ही हमारी कल्पना में प्रस्तुत करता है। वह जैसे दर्पण के द्वारा देखता है, जिस में जीवन अपना मुख उतना नहीं देखता जितना मुख के विषय में किसी सत्य का दर्शन साक्षात् झिलमिलाता हुआ कर लेता है।[१०]

लिवीस ने काव्यबिम्ब के प्रकार्य बताए है, जो वैज्ञानिक तो हैं, पर 'कुछ अधिक' के कारण अस्पष्ट और अनिश्चात्मक भी हो उठे हैं। उसे स्पष्ट करने के लिए सौन्दर्यिक उछाल के साथ एक रूपक-कथन का सहारा लिया गया है, जिससे यह बोध होता है कि बिम्ब जीवन के विषय मे किसी सत्य का दर्शन भी कराता है। काव्यबिम्ब के दो प्रकार्य—१. कल्पना मे यथार्थ का प्रत्यंकन करना और २. जीवन के विषय में किसी सत्य का दर्शन कराना संश्लिष्ट रूप में सम्पन्न होते हैं। एजरा पाउण्ड के द्वारा संकेतित संश्लेष कविचित्त (अतः भावक-चित्त)-गत है और लिवीस के द्वारा द्योतित जीवन-यथार्थ और सत्यगत। स्पष्टतः दोनों प्रतिपूरक है। काव्यबिम्ब के इस सश्लेषणात्मक स्वरूप और प्रकार्य पर **आर्कीबॉल्ड मैकलीश** के विचार कुछ अधिक साफ और वजनी हैं। उन्हें समझने के लिए एक कविता ली जाय—

> अब कोरे दिवस विरह के आते हैं ऐंठे ऐंठे। जिनका मुँह देखा करता हतभागा बैठे-बैठे (?)॥
> दिनमणि अनुराग-भरा ही नलिनी से गया बिसारा। शशि था निशि की छाया में निशि से ही कसा किनारा॥
> वह उषा नहीं ज्वालाएँ जलते मेरे जीवन की। जल रही मेघ सी काया मेरे नव यौवन की॥
> जीवन में जलन तभी तो आँखें भर आया करतीं। नदियों मे व्यथा तभी तो अम्बुधि भर आया करती॥
>
> —रामसेवक चतुर्वेदी : मूर्च्छना

अब मैकलीश के विचारों के आलोक में बिम्ब-संश्लेष पर ध्यान दें—

> कविता मे जो भी भाव रहता है, वह बिम्बों में रहता है—अथवा, यदि उसमें न हो- तो उनके संघटन में रहता है। उपर्युक्त कविता में आत्यंतिक वेदना

और पार्यन्तिक समर्पण के जो भी भाव हैं, वे बिम्बों और उनके संघटनात्मक संश्लेष में है। दुःख और अदुःख, राग और अ-राग के ये भाव, जैसा कि संसार में उनकी प्रकृति है, पहले इन्द्रियों में जाने जाते हैं, उन इन्द्रियों मे जिन्हें काव्यबिम्बों ने स्पर्श और क्षुब्ध किया है। प्रस्तुत कविता में 'ऐंठे-ऐंठे कोरे दिवस' के स्पृश्य बिम्ब, 'अनुराग भरे दिनमणि' और 'शशि' के, 'नलिनी' और 'निशि' से विप्र (?) योग के दृश्य बिम्ब, 'जलते जीवन' और 'नवयौवन' के ज्वलन के ताप-बिम्ब, 'आँखों के भरने' और 'अम्बुधि के भरने' के तरल स्निग्ध दृश्य बिम्ब नेत्र-और त्वचा के संवेदनों को क्षुब्ध करते हैं। फिर उन ऐन्द्रिय संक्षोभों का संश्लिष्ट प्रभाव चित्त पर पड़ता है। इस संश्लेष में एक और बात घटित होती है।

शब्द में, जो शब्द मात्र से अस्पृश्य होते हैं, भाव फिर भरे कैसे जाते हैं? भाव का स्वतः कथन न कर, उसके व्यापार का अन्यत्र प्रभाव वर्णित कर, एकदम भिन्न वस्तु का वर्णन कर, यथा-काव्यगत 'मेरे' के विरह-भाव का वर्णन दिवस के कोरे ऐंठे-ऐंठे आने के ऐन्द्रिय स्पृश्य बिम्ब के द्वारा। तब फिर भाव का प्रसार कैसे होता है? उसके प्रभाव को अन्यत्र घटित कर या चतुर्दिक फैला कर; जैसे—उषा की ज्वाला, मेघ के जलन, अम्बुधि और नदियो में व्यथा-जल आदि के अन्यत्र घटित होनेवाले व्यापार ऐन्द्रिय दृश्य बिम्बो मे संश्लिष्ट होकर विरह-भाव को उषा, मेघ आदि से लेकर अम्बुधि तक मे फैला डालते हैं। भाव सर्वव्यापी प्रसार पाता है। इसी प्रकार दो-चार एकदम अलग वस्तुओं के विषय में कुछ कह कर कवि शब्द से वह कहवा लेता है, जो उसके बूते के बाहर है। वह इसी भाँति भाव-संश्लेष लाता है। तब सम्मिलित रूप में बिम्ब वह कह जाते हैं, जो प्रत्येक के द्वारा अलग-अलग संभव नहीं होता।

फिर, एक ऐन्द्रिय विषय और दूसरे ऐन्द्रिय विषय के बीच रिक्त स्थान छोड़ देने पर वह भी कहवा लिया जा सकेगा जो दूसरे उपाय से नहीं हो सकता। यथा—'मेरे अनुराग' और दिनमणि के अनुराग' के बीच, 'मेरे जीवन की ज्वाला' और 'उषा' के बीच और इसी भाँति अन्यों के बीच रिक्त अवकाश हैं। उनके बीच स्पृश्य और दृश्य बिम्बों की, उष्ण और शीतल बिम्बों की भी रिक्तताएँ हैं। ये रिक्तताएँ कालगत अवकाश और उसकी निःसंग प्रवाह-धर्मिता के सूचक हैं। प्रेम के काल द्वारा परास्त किए जाने की ऐन्द्रिय शारीरिक पीड़ा के बोध इन्हीं रिक्त अवकाशों के द्वारा व्यंजित होते हैं। इन्हें भंग करता है ऐन्द्रिय बिम्बों का संश्लेष। यह संश्लेष कालजयी प्रेम की दृढ़ता और सर्वव्यापकता का भी संकेत करता है। तभी 'गति' और 'स्थिति' की संश्लिष्ट प्रतीति होती है। [११] तो क्या जितनी रिक्तता, जितनी विषमता होगी, उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया भी होगी? इसके उत्तर में कहा

जायगा—हाँ भी, और नहीं भी। क्योंकि कहीं होगी, कहीं नहीं। इसका विवेचन पिछले पृष्ठ १६२-६३, ३४१-४२, ४२२ और ४४२-४३ पर किया जा चुका है। सारांशतः कह सकते हैं कि मैकलीश ने काव्यबिम्ब के सश्लेषण-व्यापार को जटिल, सूक्ष्म और व्यापक आयाम दिया है। इस संदर्भ में एजरा पाउण्ड का निम्न कथन अर्थ-गर्भ है।

इस संश्लेष के प्रतिनिधान से अनायास मुक्ति की भावना जाग्रत होती है, प्रतीत होने लगता है कि हम जैसे दिक् और काल की सीमा से स्वतंत्र हो गए हों, चरम विकास का अनुभव-सा होने लगता है—एक अनुभूति हम में भर जाती है, जो कला की महान् कृतियों के आस्वाद की परम अनुभूति है।

मुक्ति की भावना, दिक्काल की सीमा से उत्तीर्णता और स्वतंत्रता की अनुभूति, चरम विकास का अनुभव—ये बड़ी अवधारणाएँ है। यह सब होता क्यों और कैसे है? इस संबंध मे मैकलीश बताते हैं कि बिम्ब केवल भावोद्बोधन के लिए अथवा दृश्य-स्पृश्यादि प्रेष्य तत्त्व को अनुभूत कराने के लिए ही व्यवहृत नहीं होते। वे इसलिए जोड़ों मे लाए जाते हैं कि बॉदलेयर के शब्दो मे, 'वैश्विक एकरूपता' (यूनिवर्सल एनालॉजी) का अनुभावन किया जा सके। कवि के सम-विषम विविध ऐन्द्रिय बिम्ब और उनके बीच के अन्तराल आदि सश्लिष्ट होकर पाठक को कवि-चित्त की उस अवस्था के समीप ले आते हैं, जब उसने अपनी प्रतिभा से जगत् के मूल में रहने वाली और सबको ओत-प्रोत करने वाली 'एकता' का संदर्शन किया था; और तब पाठक का चित्त भी वैश्विक एकरूपता के दर्शन करने वाले कवि-चित्त से संश्लिष्ट-सा होता है। यह बात भारतीय काव्यशास्त्र मे भी नानाविध बताई गई है, जिसका सकेत पृष्ठ-७७-८२ और १४८-१५२ पर किया गया है। लिवीस के अनुसार यही दर्शन बिम्ब के दर्पण मे जीवन के मुख का दर्शन उतना नहीं, जितना मुख के विषय मे किसी 'सत्य का दर्शन' है। इस दर्शन से ही आस्वादक मुक्त, दिक्काल से उत्तीर्ण, स्वतंत्र, चरम रूप से विकसित अनुभव करने लगता है। काव्यबिम्ब के सश्लेषण-व्यापार की यह बड़ी ही साफ विवेचना है और कुंतक की 'सहितता' के प्रतिपादन से कुछ आगे आ गई है।

जार्ज ह्वॅले[४२] ने काव्यबिम्ब मे लक्ष्योन्मुखता की विशेषता बताई है—

बिम्ब भावना का ज्योतिष्पुंज है। न केवल वह भावोद्रेक का ऊर्जा-माध्यम है, अपि तु वह लक्ष्याभिमुखी भी होता है। किसी दिशा की ओर वह गतिशील रहता ही है। [वह लक्ष्य तात्कालिक चाहे जो भी हो, पर अन्ततः वही है जिसे ऊपर मैकलीश ने 'वैश्विक एकता' बताया है।] लिवीस के

अनुसार—बिम्बों में निश्चित संरूपण की शक्ति होती है। यदि कविता अन्वित पूर्णता प्राप्त करना चाहती है, न कि छूरे की मार अथवा निरर्थक चमकदार स्थलों का दृश्य होना, तो बिम्ब एक सरूप में ढलकर सृष्ट और विन्यस्त होंगे, उसी सम्बन्ध के अनुरूप जो समस्त यथार्थ जगत् के मूल मे, चाहे वह सजीव हो या निर्जीव, अवस्थित है।[४३]

दूसरे शब्दो में काव्यबिम्ब एक सघटित, संश्लिष्ट संरूप है और वह जगत् के सघटन और सरूपण का प्रतिरूप प्रस्तुत कर वैश्विक एकत्व का अनुभव कराता है। उपर्युक्त विवरणों का साराश स्टीफेन जे० ब्राउन के शब्दो मे होगा—

बिम्ब वे शब्द अथवा वाक्यांश एव सम्पूर्ण वाक्य (और सकल अर्थ-पदार्थादि भी) हैं, जो ऐन्द्रिय प्रतीति मे गृहीत पदार्थादि को सूचित करते हैं। बिम्ब प्रस्तुत पदार्थ का क्षणिक मानसरूप है; स्थानापन्न है, जो साक्षात् भी प्रकट हो सकता है औरपरोक्ष रूप मे भी; अर्थात् पदार्थ की प्रत्यक्ष उपस्थिति में भी, अप्रत्यक्ष अनुपस्थिति आदि में भी; बिम्ब भिन्न-भिन्न क्षेत्रों, जाति-धर्मादि के पदार्थों से नाना सम्बन्धों की सगति भी स्थापित करने का साधन है, और सश्लेष द्वारा विषय और विषयी के बीच अभिनव प्रत्ययात्मक बिम्ब या भाव उद्बुद्ध करने का भी माध्यम है।[४४]

इस सबंध मे कुतक का यह कथन स्मरणीय है—अन्यवाचक पदो के विद्यमान रहने पर भी, कवि के द्वारा अभीष्ट अर्थ का जो एकमात्र वाचक होता है, वही 'शब्द' है, और अर्थ तब सहृदय को आनन्द देनेवाला स्वत: सुन्दर रमणीय प्रतीत होता है।[४५] ऐसा शब्दार्थ-सयोग क्षण भर को उन्मीलित होकर जब आँखो से स्वरूप को और स्वरूप मे आत्म-रूप को देख लेता है, तो वही बिम्ब है।

नृतत्त्वशास्त्र आदि मे बिम्ब के स्वरूप, प्रकारादि पर आदिम प्रवृत्ति-सम्बन्धी वैज्ञानिक विचार प्रस्तुत हुए हैं। विसो, हर्डर, कैस्मिरर (द्रष्टव्य पृष्ठ १९० तथा २५०-४) आदि ने बताया है कि आदिम मनुष्य अभिभूत प्राणी थे। लेव्ही ब्रूह्ल के अनुसार प्राकृतिक शक्तियो के साथ उनकी एकात्मता थी (द्रष्टव्य पृष्ठ ७७ तथा ८९, टिप्पणी-१०२)। अतएव उनके चिन्तनात्मक एवं आलेखनात्मक आदि व्यापारो में काव्यात्मक भावावेग, अथवा तन्मयता, सागीतिक लयात्मकता और प्रत्यक्षवत् सम्मूर्त्तन की विशेषताएँ थी। इसी कारण बिम्ब, लय, प्रत्यक्षवत्ता आदि आदिम हैं। जी पॉल सर्त्रे के अनुसार—

भावावेश आदिम जादुई वृत्ति है, जिसके वश में पड़कर आदमी विवेकपूर्ण संतुलित आचरण न कर भावाविष्ट भूतात्मक व्यवहार करता है। बिम्बन मूर्त्तन आदि वैसे ही कार्य-व्यापार हैं।[४६]

काव्यबिम्ब में आवेश और आदिम राग की विशेषताएँ मिलती अवश्य हैं, परन्तु वे सभी जगह यथार्थ से पलायन और परास्तता के सूचक नही होते। कही-कहीं वे यथार्थ से युद्ध और विजय के भी द्योतक होते है, यथा—निराला, माखनलाल, दिनकर, अज्ञेय, भवानी प्रसाद मिश्र, सर्वेश्वर आदि की कविताओं मे। यह बात ठीक है कि—

जादू का जो कलाओं से सम्बन्ध हो जाता है, वह मूर्त्तन की प्रकृति को लेकर। जादूगर जिस प्रकार मूर्तियाँ गढ़कर उनमें जान डालता और बाह्य सत्ता को वशीभूत करता प्रतीत होता है, उसी प्रकार कवि शब्द-सत्ता को चंगुल में लाकर बिम्ब, मूर्तियाँ आदि गढ़ता है, जो प्रतीति-काल में संजीवित होकर पाठक को अभिभूत करती-सी दीखती है। आदिम मंत्र-रचयिताओं की भाँति कवि भी मंत्रात्मक कोटि की रचनाएँ प्रस्तुत करता है। किंतु, जादूगरों की सृष्टि और रहस्यवादी संत-कवियों की बिम्ब-रचनाओं में अन्तर है। संतो की बिम्ब-सृष्टि से साधनात्मक रहस्य-दशा का प्रकाशनभर होता है। उनके बिम्ब न तो मनोदशा के अभिन्न अंग होते हैं, न प्रेरणा और प्रकाश के अद्वितीय स्रोत; क्योंकि वही मनोदशा दूसरे बिम्बों के सहारे भी व्यक्त की जा सकती है।[४७]

पिछले पृष्ठ—३० पर वास्तुकला और जादू से उसके सम्बन्ध पर कुछ विद्वानो के विचार प्रस्तुत किए गए हैं। काव्यादि में मूर्त्तन-बिम्बन की प्रवृत्ति का जादू-आदि से कुछ सम्बन्ध जरूर है। पर यह सम्बन्ध कैसा और क्यों है, इस विषय पर विद्वान् एकमत नही हैं। कुछ के अनुसार चित्र, मूर्त्ति आदि बनाकर व्यक्ति शत्रु को बुला-सा लेता, वशीभूत करता या जीत लेता था और कुछ के अनुसार भीति से मुक्ति पाता या उबरने का अभ्यास करता था आदि। क्राइस्टोफर कॉडवेल ने अर्थोत्पादन-मूलक क्रियापरक सम्बन्ध माना है—

आदिम कविता में कल्पनात्मक उद्भावना इस हेतु होती थी कि क्रिया की प्रेरणा मिले। फसल बोने, काटने के सामूहिक व्यापार को वह उत्प्रेरित करती थी। उन कविताओं के शब्दों में वस्तुगत तथ्य के बिम्ब जादुई पुतलों के बिम्ब-जैसे थे,—ठीक जैसी प्रतिमाएँ या ढाँचे आदमी अपने शत्रु का बनाता है; वैसे ही बिम्ब उन कविताओं में रचित होते थे। उनसे भी आदमी क्रियाशीलता के लिए उसी प्रकार अभिभूत होता था, जैसे यथार्थ परिस्थिति के सामने। इस प्रकार आदिम कविता सहज-अनुभूतियों, आत्मरागों के प्रशिक्षण की भाषा थी[४८]

प्राचीन कविता प्रेरणा और प्रयोजन में ऐसी रही हो, पर आज के मनुष्य ने जादू, टोने, मिथक आदि का विवेकीकरण, वैज्ञानिकीकरण भी किया है। 'काव्य-मिथक मर गए हैं, उनके स्थान पर काव्यबिम्ब उठ खड़े हुए हैं।' दूसरे शब्दों मे पुराकालीन पाशववृत्ति, आदिम अभिभूत क्रियाप्रेरकता और सह-अनुभूति, तथा जादुई ग्रस्तता आदि के लक्षण काव्यबिम्ब में अन्तर्लीन अवश्य हैं, पर काव्यबिम्ब मात्र यही नही है। उस पर ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न आधुनिक मनीषा का आलोक है—'वह मानव का प्रज्ञाघन मन है।'

बिम्ब के स्वरूप, प्रकार्य आदि के सम्बन्ध में मनोविश्लेषको, खासकर फ्रायड, युंग आदि के विचार पिछल पृष्ठो पर दिए जा चुके हैं। उनकी उपपत्तियो और निष्कर्षों से काव्यबिम्ब की विषय-वस्तु, रचना-प्रक्रिया, आलोचना आदि को महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त हुई हैं।

२—भावात्मक और सौन्दर्यिक —

वैज्ञानिक कोटि के उपर्युक्त विवरणों में भी भावात्मक और सौन्दर्यिक तत्त्व कहीं-कही झलक जरूर गए हैं। पर प्रधानता स्वरूपाधायक वैज्ञानिक कथन की है। बिम्बन के आख्यान मे भाव-भरे उद्‌गार तो अनेक प्राचीन और आधुनिक विद्वानो और कवियों ने विविध प्रकार से प्रकट किए हैं। काव्यविद् बिम्ब को आतिशय्यपूर्ण भाषिक तत्त्व अथवा अलंकृति-रूप मे स्वीकार करते तो आए ही हैं।

यूनानी चिंतक **सिमनाइडिज, प्लूटार्क,** पुनः **अरस्तू और होरेस** आदि की काव्य-विषयक विचार-सरणियों से यह धारणा प्रचलित हो गई थी कि कविता सवाक् चित्र है और चित्र जमा हुआ काव्य। **ड्राइडेन** ने इस सम्बन्ध में (१६९५) एक फ्रांसीसी कविता का अनुवाद कर उसकी भूमिका मे कविता और चित्र की समानान्तर प्रक्रिया का सैद्धान्तिक प्रतिपादन भी किया था। **लैसिंग, हर्डर** आदि के प्रत्याख्यान के बावजूद यह मान्यता कभी निर्मूल नही हुई कि बिम्ब, अथवा चित्र-धर्मिता काव्य की विशिष्टता है। **जॉन केब्ल** ने 'प्रायलेकशन्स एकेडेमीसिया' (१८४४) में बिम्ब को अलंकार-रूप तो सिद्ध किया, पर साथ ही साथ उन्होने पहली बार उसे कवि के उपचेतन मन की कुंजी बताया और होमर के बिम्बों का वैसा ही विश्लेषण कर दिखाया। उन्नीसवी सदी तक पश्चिमी विद्वान् बिम्ब को या तो अलंकृति-रूप मानते थे या कविता का मूल द्रव्य। दूसरी धारणा के मानने

वालों में जॉन स्टुआर्ट मिल, बी० डब्ल्यू० प्रॉक्टर, जार्ज मायर, जॉर्ज श्रीमर इ० स्वीटलैंड डलास आदि यह भी स्वीकार करते थे कि काव्यबिम्ब दृ ही नहीं होता, बल्कि किसी भी इन्द्रिय से संवेद्य व्यापक तत्त्व है, जिस चरित, पात्र, स्थानादि भी रूपायित होते है। इस प्रकार की कुछ वैज्ञानि पर अधिकतर भावात्मक धारणाएँ देश-विदेश के अनेक विद्वानो औ कवियों ने प्रकट की है—

ड्राइडेन : कविता की उच्चता और जोवन बस बिम्ब-रचना है।[४६]

ब्रिमले : पद्यात्मकता भावना को संबोधित होती है। पर बिम्ब जो वस्तुतः कविता है, सवेदनीयता और बोधगम्यता को सप्रेषित होता है।[१०]

सिडनी डॉबेल : बिम्ब वस्तु और भाव का प्रतिरूप है।[१०]

ले हट : कल्पना का उचित प्रकार्य बिम्ब-रचना और बिम्ब-सृष्टि है, अथवा बिम्बों का आविष्कार।[१०]

इ० एस० डलास : कविता के तीन विधायक नियम हैं—१. क्रियात्मक अथवा कल्पना का नियम; २. समन्विति का नियम और ३. अचेतन का अथवा स्वचेतना से मुक्ति का नियम। पहले नियम के अनुसार कविता मे बिम्ब और पद्य जुडवाँ-जैसे होते हैं। बिम्ब दिग्गत ऐन्द्रिय यथार्थता का कल्पना द्वारा प्रकाशन है। बिम्ब अलंकार-मात्र नहीं है, क्योंकि दिक् का प्रसार व्यापक है। कविता के उपर्युक्त तीन नियमों के अनुसार बिम्बों के प्रकार्य होंगे क्रमशः—स्थानीयकरण (लोकलाइजेशन, कंक्रिटाइजेशन), समन्विति (संघटन, आवयविक सुसंगत एकता का स्थापन) और आत्मीयकरण अर्थात् स्व-चेतना (अहंता) से मुक्ति, आत्मता के साथ एकीकरण। ये कार्य क्रमशः नाटक, महाकाव्य और गीतिकविता में प्रधानतः संभव होते हैं।[१०]

ब्लेक : सभी कुछ जो विश्वास योग्य है; सत्य का बिम्ब है।[११]

शैली : कविता जीवन का बिम्ब है, ऐसा जो उसके शाश्वत सत्य में अभिव्यक्त होता है।

येट्स : विवेक प्रथमतः बिम्बों में बोलता है। कविता बिम्ब है तो जीवन करुण होगा ही।[११]

पंत : कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता होती है; उसके शब्द सस्वर होने चाहिए जो बोलते हों, सेब की तरह जिसके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हो। —पल्लव प्रवेश, पृष्ठ—१७

मिड्लटन मरी : बिम्ब मानस-चित्र है, जो आधा गोचर रहता है, आधा अगम, आध्यात्मिक होता है।[११]

दिनकर : चित्र कविता का एक अत्यंत आवश्यक गुण है। प्रत्युत कहना चाहिए कि यह कविता का एकमात्र शाश्वत तत्त्व है, जो उससे कभी नहीं छूटता।—चक्रवाल : भूमिका

नामवर सिंह : चिर-परिचित संसार में इस प्रकार प्रवेश करना, जैसे कवि पहली बार आ रहा हो और हर चीज को अपनी आँख से देखकर अपनी ओर से एक नाम दे रहा हो। वस्तु को इस तरह देखने और नाम देने का दूसरा नाम 'बिम्ब' है। प्लेटो ने जब कहा था—आँख से हम वस्तु को देखते हैं, लेकिन आँखों में से वस्तु तत्त्व को, तो उसने इसी कवि-दृष्टि की बात कही थी। दृष्टि के भीतर दृष्टि, लेंस के भीतर लेंस जब ऐसे बिन्दु पर स्थिर हो जायँ कि स्थूल वस्तु का बहुत सारा अप्रासंगिक अंश अदृश्य हो जाय, तो दृश्य वस्तु 'बिम्ब' हो जाती है। जैसे चाँदनी में सब-कुछ भूल जाने के बाद मानव-आकृति का अवशिष्ट बिम्ब; पहलुओं के तराश के बाद दमकता हुआ हीरा। इस प्रकार वस्तु जब 'बिम्ब' बन कर कविता में आती है, तो विशेष होते हुए भी सामान्य दिगन्तों को छू लेती है। दर्शन की भाषा में वह 'मूर्त सार्वभौम' या 'कांक्रीट यूनिवर्सल' कहलाती है।
— नई कविता, पृष्ठ-४२-४३

फ्रैंक करमोड : जेम्स ज्वायस के प्रसिद्ध पात्र स्टीफेन डिडेलस के कथनानुसार बिम्ब के तीन गुण हैं—अन्विति, सवादिता, और विमलता; जिनके कारण वह मनस् से इस प्रकार एक हुआ रहता है कि जैसे वह आत्मा को पूर्ण कर रहा हो, और आत्मा उसको। दिक्काल के असीम पृष्ठाधार पर, किन्तु उससे अलग स्वरूप धारण कर वह उभर आता है। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं—एक, यह कि बिम्ब दिक्काल से नि:सरित ज्योतिर्मय सत्य है और दूसरा, यह कि बिम्ब के लिए स्रष्टा में अकेलेपन या बिछोह की व्यथा व्याप्त होनी चाहिए। स्रष्टा मे समाज से विच्छिन्नता की वेदना जितनी तीव्र और पची हुई होगी उसके बिम्ब में उतना ही ज्योतिर्मय तत्त्व होगा। समाज-विच्छिन्न कवि की विपन्नता का उपहार, वेदना पर जयनाद 'बिम्ब' है। ऐसा बिम्ब मूर्त्तिवत् जड नही होता; वह प्रतिक्षण मरता है, प्रतिपल संजीवित-अधिजीवित होता है। मरण कला की पहली शर्त्त है। दूसरे शब्दों मे बिम्ब का स्थूल कोष प्रतिक्षण विघटित होता रहता है, उसके ठोस रूपावरण से प्रत्ययों के धुंध क्षण-क्षण निकलते और जमते जाते हैं; यही उसकी गति है; पर वह सदा 'स्वस्थ', मूर्त्तामूर्त्त दीखता है। वह मिस्री मम्मी नही है, जो आमूल मृत है, और न वह दर्शन का ब्रह्म है, जो सर्वांशत: अ-मृत है। मरणधर्मा होकर भी 'बिम्ब' जीवन और मृत्यु का, विचार और भाव का, अ-काल और कालकवलित का विवर्जन भी है, दोनों ध्रुवों का अखंड-अबाध सर्जन भी। सारे विचार जब बिम्ब हो जायँ, पूरी आत्मा

शरीर में उतर आए, उस एकमेक अद्वयता से 'नर्तन' संभव है, और यह नर्तन बीज का वृक्ष में और वृक्ष का पुष्प में जैसा तन्मय प्रस्फुटन है, वैसा ही शरीर का नृत्य-बिम्ब में प्रशांत थिरकन है।[१२]

बिम्ब के स्वरूप और प्रकार्य के सम्बन्ध मे उपर्युक्त विवरणों से केवल, दलास, मरी, नामवर सिंह और कम्मोड के द्वारा कुछ नई बातें मालूम होती हैं; यथा—उसका अचेतन से सम्बन्धित होना, और दिग्गत यथार्थता का उसके द्वारा रूपायण और स्थानीयकरण, समन्विति तथा आत्मीयकरण की उसकी विशेषताएँ, उसका आधा गोचर और आधा अगम होना अथवा विशेष होकर भी सामान्य दिग्गंत को छू लेना, कंक्रीट यूनिवर्सल होना तथा अकेलेपन की विपन्नता से सृष्ट होना और मृत्यु तथा जीवन के मध्य ऊर्जस्वी चैतन्य प्रभा के रूप मे प्रतिपल नर्त्तित रहना। पिछले पृष्ठों पर अकेलेपन की वेदना से निपीड़ित, त्रस्त अथवा आतंकित हिन्दी के कवियो की कविताओं के उदाहरण दिए गए हैं। यदि मुक्तिबोध की ही कविता ली जाय, तो उसमे अकेलेपन की पीड़ा प्रत्यक्षत: बिम्बित दीखेगी; यथा—

जितना मै लोगों की पाँतों को पार कर बढता हूँ आगे
उतना ही पीछे मैं रहता हूँ अकेला पश्चात्-पद हूँ
मेरे ही विक्षोभ मणियों को लिए वे मेरे ही विवेक रत्नों को लेकर
बढ़ रहे लोग अँधेरे में सोत्साह किंतु मैं अकेला।

किन्तु उसके भीतर से मानवता के साथ गभीर सम्बन्ध स्थापित करने की आकुलता भी झाँकती है; अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष को लोकहित-क्षेत्र में, जनोपयोग मे लगाने की बेचैनी झलकती है—

भूमि की सतहों के बहुत नीचे अँधियारी एकांत
प्राकृत गुहा एक। विस्तृत खोह के साँवले तल में
तिमिर को भेद कर चमकते हैं पत्थर झरता है जिन पर प्रबल प्रपात एक।
पाता हूँ निज को खोह के भीतर विक्षुब्ध नेत्रों से देखता हूँ—द्युतियाँ...
पाता हूँ अकस्मात दीप्ति में वलयित रत्न वे नहीं हैं
अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष मेरे ही अपने यहाँ पड़े हुए हैं..
अकेले में किरणों की गीली है हलचल गीली है हलचल !!
हाय हाय मैंने उन्हें गुहावास दे दिया लोकहित-क्षेत्र से कर दिया वंचित
वर्जित कर दिया। जनोपयोग से वर्जित किया और
निषिद्ध कर दिया खोह में डाल दिया। —अन्धेरे में

असल बात यह है कि आत्यंतिक अकेलापन, ऐसा कि विगत की स्मृतियाँ और अनागत की संभावनाएँ भी एकदम काट कर अलग कर दी गई हों, और मात्र नकार, केवल एकान्तता वर्त्तमान हो, एकदम असंभव, कल्पनीय

र बेहद खौफनाक स्थिति है; इसलिए अकेला, विच्छिन्न और विपन्न होकर व्यक्ति सामाजिकता से कट नही जाता, उल्टे उसमे और भी डूबने लगता । क्राइस्टोफर कॉडवेल ने ठीक ही बताया है—

सामाजिकता से जन्मे भाव अकेलेपन में भी टिके रहते हैं। इसी से अकेला आदमी जब गीत गाता होता है तो अपने अन्दर के भावों को समाजगत बिम्बो से ही परिचालित महसूस करता है। ऐसा आदमी कला का वह विरोधाभास प्रकट करता होता है, जिसमें मनुष्य दुनियाँ से खिंच कर कला के एकाकी लोक में बद तो होता है, पर बिना जाने ही इस हेतु, कि मानवता के साथ और भी घने लगाव से जुड़ा जा सके। [५५]

फिर **धर्मवीर भारती** का यह कथन भी युक्तियुक्त है—

सृजन का क्षण वस्तुतः इस रिक्तता, विघटन और विछिन्नता के क्षण से बिलकुल पृथक् होता है। उसमें हम क्षण को एक संगति, एक अर्थ, एक क्रम प्रदान करते हैं। [५६]

कहना न होगा कि संगति, अर्थ और क्रम लोकगत सगति, मानवीय र्थ और समाजगत क्रम के ही प्रतिरूप होते है। परन्तु कुछ कवि इस संगति, र्थ और क्रम को उलट भी देते है। **डायलन टामस** ने अपनी कविता के बन्ध में कुछ ऐसी ही बात बताई है—

मेरी कविता में बिम्बों के पुँजों की जरूरत पड़ती है, क्योंकि उसके केन्द्र में ही बिम्ब-पुंज रहते हैं। मैं एक बिम्ब निर्मित करता हूँ—किन्तु, निर्मित शब्द उचित नहीं है—मैं स्यात्, एक बिम्ब को भावात्मक रूप से अपने में निर्मित हो जाने देता हूँ। तब जो बौद्धिक और आलोचनात्मक शक्ति मुझे है, उसका विनियोग उस पर करता हूँ; फिर उससे दूसरे को पैदा होने देता हूँ, और इस दूसरे बिम्ब को पहले का खंडन करने देता हूँ एव इन दोनों के संबंध से तीसरे को जन्म लेने देता हूँ, तथा पहले दोनो एवं इस नये जन्मे तीसरे के सघात से चौथे विरोधी बिम्ब को उत्पन्न करने देता हूँ और इन सबको अपनी रूपाकृति की परिधि मे परस्परस्पर्धिता के लिए छोड़ देता हूँ। प्रत्येक बिम्ब अपने अन्तर्गत अपने भंजन का बीज रखता है और मेरी द्वन्द्वात्मक प्रविधि, मुझे बोध होता है, उन बिम्बों के निर्माण और विध्वंस के नैरन्तर्य की है जो केन्द्रीय बीज से उद्भूत होते हैं। यह केन्द्रीय बीज स्वत· ध्वंसक एवं सर्जक दोनों विशेषताओं से एक साथ युक्त है। मेरी किसी कविता में जीवनीशक्ति केन्द्रिय बिम्ब के चारों ओर नहीं घूम सकती, जीवनीशक्ति केन्द्र से निर्गत होती है। बिम्ब को उत्पन्न होना और दूसरे बिम्ब में प्राण-विसर्जन करना ही पड़ता है। बिम्बों का क्रम यदि है, तो यह क्रम है सर्जन, पुनः सर्जन, विसर्जन, विरोध...। बिम्बो के अवश्यम्भावी संघर्ष के मध्य —अवश्यम्भावी

इस कारण कि जो प्रेरणाशक्ति-रूप नाभिकेन्द्र है उसकी प्रवृत्ति ही सर्जन, पुनः सर्जन, विसर्जन, विखडन की है, अतएव वह संग्राम का गर्भमंडल है—मैं वह क्षणिक 'शांति' ले आता हूँ जो 'कविता' (हो उठती) है।[१७]

डायलन टामस के इस लम्बे उद्धरण से कविता के बिम्ब की विसर्जन-प्रक्रिया का केन्द्रापसारी पक्ष सामने आता है। जहाँ अन्य कवियों की कविताओं में एक केन्द्रीय बिम्ब के चारों ओर अन्य लघु-गुरु बिम्ब चक्राकार घूमते हैं; यथा— निम्न कविता में —

और और छवि रे यह
समझ लो सही
बादल वह नहीं जहाँ
वज्र है यहाँ
किन्तु नहीं पहले ही
नूतन भी कवि, रे यह, और और छवि।
जब भी यह नहीं गगन यह मही नहीं,
छिपा हुआ पवि, रे यह, और और छवि !
जैसा देखा पहले होता अथवा सुना
यहाँ कहीं हवि, रे यह, और और छवि !

— निराला, परिमल

वहाँ डायलन टॉमस की प्रक्रिया द्वारा रचित कविता में एक बिम्ब से दूसरा निकलता और पहले को खडित भी करता चलता है, जिससे केन्द्रीय बिम्ब द्वन्द्व अथवा विस्फोट का स्रोत मात्र रह जाता है। ऐसे बिम्बों में समन्विति कैसे आती है? इसका उत्तर है— 'एक बिम्ब निर्मित हो जाने देता हूँ, तब जो बौद्धिक और भावात्मक शक्ति मुझमे है उसका विनियोग उस पर करता हूँ।' अर्थात् सश्लेष बौद्धिक होता है, विचारानुबंध से होता है। इस प्रकार के खंडित बिम्बों की कविता अनेक रचित हुई हैं। उदाहरणस्वरूप मुक्तिबोध की निम्न कविता—

स्वप्न के भीतर एक स्वप्न
एक अन्य
कथ्य के भीतर एक अनुरोधी
नेपथ्य, — संगीत ॥
उसके भी अन्दर एक और कक्ष
कोठे के सांवले गुहान्धकार में
दृढ़, भारी-भरकम
यक्ष
अरे! डर यह है · ···
कहीं प्रत्यक्ष न यक्ष हो!
विचारधारा के भीतर और
सघन विचारधारा प्रच्छन्न !!
विरुद्ध विपरीत
मस्तिष्क के भीतर एक मस्तिष्क
कक्ष के भीतर गुप्त प्रकोष्ठ और
मजबूत · · · सन्दूक
और उस सन्दूक के भीतर कोई बन्द है
या कि औरांगउटांग हाय
न औरांग उटांग कहीं छूट जाय,
··· ·· ·· · ··

यह कविता आधुनिक सभ्यता का पर्दाफाश अपने पौरुषपूर्ण ओज से करती है। हर्बर्ट रीड ने बताया है कि 'मेरा विश्वास है कि कवि अनिवार्यतः क्रान्तिकारी होता है।' उसे इस प्रकार की कविताएँ चरितार्थ

करती हैं। ऐसी कविता के बिम्ब आधुनिक युग के घटाटोप द्वैध-वैषम्य को अनुशीलित करने, पहिचानने और विरेचित करने की दुधारी विधि है।[५८]

३. दार्शनिक-धार्मिक—

काव्यबिम्ब-विषयक उपर्युक्त विवरणों में भी कुछ दार्शनिक-आध्यात्मिक पुट हैं। दार्शनिकों-तत्त्वचिंतकों ने जीवन, जगत्, मूलसत्ता, चिंतन, मनन, सम्भाषण, व्यवहार आदि पर जो विचार रखे हैं, उनमें बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव, बिम्बन-चित्रण-प्रक्रिया और दर्पण आदि के भी सहारे रूपात्मक कथन के उदाहरण आदि मिलते हैं। प्लेटो ने काव्य-कला को तो मूल 'आइडिया' या सत् के प्रतिबिम्ब (यानी जगत्) का भी प्रतिबिम्ब माना था।[५९] अरस्तू का विवेचन कुछ अधिक वैज्ञानिक है। उनकी घोषणा तो यहाँ तक है कि 'बिना बिम्ब-निर्माण के कोई सोच ही नहीं सकता।'[६०] उनके अनुकरण-पुनःकरण सिद्धान्त और रेचन-प्रक्रिया में जीवन-जगत् की यथावत् तथा सम्भाव्य निर्मिति पर बल है, अतः उनमें बिम्ब-रचना अन्तर्निहित है। इससे उनके यहाँ 'रूप' का अर्थ होगा 'द्रव्य' या 'वस्तु' का प्रकाशन, और 'द्रव्य' या 'वस्तु' का अर्थ 'रूप' की संभावना; 'प्लॉट' मूल कथ्य का 'रूपक' है और 'पात्र' हैं उस 'रूपक' की जीवत मूर्ति।[६१] इस प्रकार कला प्रकृति का प्रतिबिम्ब हो जाती है।[६२] बाद के दार्शनिक-आध्यात्मिक चिंतकों ने, और उनसे प्रभाव-ग्रहण कर काव्यालोचकों और कवियों ने भी जो विचार प्रकट किए हैं, उनमें बिम्ब के सम्बन्ध में कुछ गूढ़ और रहस्याच्छन्न कथन हैं; यथा—

संत आगस्तिन—बिम्ब आदर्श और पूर्ण हो कर ही बिम्ब है। समबाहु त्रिभुज विषम बाहु से अच्छा होता है, वर्ग उससे भी उत्तम और वृत्त सर्वश्रेष्ठ है। —रूप और आकार के द्वारा ऐन्द्रियता का गुण पाकर ज्ञान सुखद रूप में गृहीत होता है।[६३]

मेजोनी—'वस्तु' प्लैटो के दर्शन के अनुसार दैवी धारणा या सत् की प्रतिच्छवि है, अतः बिम्ब है; फिर 'वस्तु' का मन के द्वारा ग्रहण भी बिम्ब है, और फिर मानस के द्वारा गृहीत वस्तु का प्रकटीकरण भी बिम्ब है। इसके दो प्रकार हैं—१. आइकॉस्टिक, यानी नमूने के अनुरूप बिम्बन और २. फैन्टास्टिक, यानी कलाकार के द्वारा स्वतंत्र बिम्बन।

सिडनी—तुक और पद्य से कवि नहीं बना जाता; कवि की पहिचान है-पाप और पुण्य के ख्यात बिम्बों का उचित विन्यास जो मनोरंजन के साथ सदुपदेश दे।[६४]

एडिसन—माध्यमिक कल्पना चित्रधर्मी होती है·· कवि प्रधानतः आँख के लिए लिखता है · · कल्पना का आनन्द उतना स्थूल नहीं होता जितना इन्द्रियों का; न उतना सूक्ष्म होता है, जितना बोध का। · शब्द इतने अधिक बिम्बों को आहृत कर सकता है, जितने को प्रकृति नहीं कर सकती। [६५]

रूसो—मानव-जाति के लिए इन्द्रियाँ हैं कवि और चित्त दार्शनिक। [६६]

बामगार्टन—सौन्दर्य का अनुभव स्पष्ट और निश्चित रूपाकृति में बँध नहीं जाता, वह झिल-मिला यानी कुछ स्पष्ट, कुछ अस्पष्ट रहता है। [६७]

जी० सी० मूर—बिम्ब में हम बिम्ब भी देखते हैं और बिम्ब से उत्तीर्ण भी रहते हैं। [६८]

कार्डिनल स्फोर्जा पल्लाविसी—कला-काव्य का एकमात्र उद्देश्य है बिम्बों द्वारा बोधवृत्ति को सज्जित करना, रम्य, नवीन, विलक्षण प्रतिच्छवियों द्वारा चमत्कृत करना। [६९]

आन्द्रे ब्रेंतो—बिम्ब आत्मा की शुद्ध सृष्टि है।···चमत्कार और नवीनता से मुग्ध करने वाला बिम्ब दो सर्वथा विषम तत्त्वों में बिना तुलना किए ही समन्विति के संयोग उत्पन्न कर देने से उद्भूत होता है—ऐसा आत्मा ही कर सकती है। [७०]

ई० एल० मेस्कल—धार्मिक भावों-विचारों के सम्प्रेषण के लिए कलात्मक बिम्ब का महत्त्व है। बाइबिल प्रत्ययात्मक शब्दों में लिखित नहीं है, बिम्बों के माध्यम से रचित है। वह ईश्वर से वार्ता का श्रेष्ठ माध्यम है। [७१]

ऊपर के विवरणों में बिम्ब की जो महत्ता, प्रकार्य और विशेषताएँ प्रकट की गई हैं, उनमें दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं, एक यह कि बिम्ब ऐन्द्रिय होने के कारण स्पष्ट, प्रेष्य, संवेद्य, ध्यानाकर्षक और प्रभविष्णु होता है और दूसरा यह कि मानसिकता के कारण उसमें नमनीयता, प्रसरणशीलता, सवाहकत्व के गुण आ जाते हैं।

उपर्युक्त विचार-सरणियों के आधार पर **काव्यबिम्ब की परिभाषा** होगी—

काव्यबिम्ब कवि-प्रतिभा-प्रसूत रम्य अथवा चामत्कारिक शब्द-निर्मिति का सहृदय के मनोदैहिक संस्थान में रमणीय प्रतिच्छाया और सह-अनुभावन है।

इसमें कवि, काव्य और गृहीता के तीनों पक्ष और वर्ण्यबिम्ब, बिम्ब-मूल तथा वाग्-बिम्ब की व्यवस्था अन्तर्लीन कर ली गई है और ऊपर के विवरणों की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ भी। वह संवेदनात्मक, सौन्दर्यिक सातत्य होगा ही, क्योंकि रम्य अथवा चामत्कारिक शब्द-निर्मिति है। एजरा पाउंड के द्वारा बताया गया उसका क्षण-परिमाणी और संश्लिष्ट

होना, मैकलीश के द्वारा सूचित किया गया उसका 'संघटनात्मक संश्लेष' होना अथवा 'लेविस, ह्वैले आदि के द्वारा उल्लिखित उसकी दर्पणवत् पारदर्शिता, भावनागत ज्योतित-स्पंदना, लक्ष्योन्मुखता, स्वरूपात्मक नश्वरता आदि विशेषताएँ उसके प्रकार्य और प्रकृति की हैं। वे भी उपर्युक्त परिभाषा में अन्तर्लीन हैं। उल्लास ने बिम्ब को केवल दिग्गत मानकर उसके कालगत आयाम और नादबिम्ब को अस्वीकार किया, अथवा 'लय' के क्षेत्र का माना था। काव्यबिम्ब में बिम्ब अलग हो और नाद या लय अलग—ऐसा द्वैध प्रतीति में होता नहीं। जहाँ होता हो, वहाँ निश्चय ही कुछ दोष है। उपर्युक्त परिभाषा में कालिक आयाम और नाद-बिम्ब को भी स्वीकार कर लेने की गुंजाइश है। समसामयिक कविता की तीखी प्रतिक्रियाएँ, गद्यता, प्रत्ययात्मकता, वैचारिकता, आलोचनात्मकता, फतवेबाजी आदि में कवि की जो संवेदनशीलता है, वही उन्हें 'मूर्त सार्वभौम' बनाती है। उसमें चमत्कार भी है। इनके कारण पाठक, 'ज्ञानात्मक संवेदन' और 'संवेदनात्मक ज्ञान' का एकीकरण भी करता है और सह-अनुभावन भी। इस प्रकार समसामयिक काव्यबिम्बों को भी यह परिभाषित कर सकती है, प्राचीन को भी। प्राचीन को इसलिए कि यह पंडितराज की काव्य-परिभाषा से मूलतः भिन्न नहीं है।

काव्यबिम्ब : स्वरूप और प्रकृति

तब 'काव्यबिम्ब' का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर पृष्ठ ४४१-४५४ पर दिया जा चुका है। वह सारांशतः यह कि 'काव्यबिम्ब' कवि की रचना है, प्रातिभ सृष्टि है। उसकी बाह्य अवस्थिति 'काव्य'-गत है और अन्तर्लीन मूल कवि और गृहीता की तदवच्छिन्न चित्तवृत्तिगत। वह शब्द और अर्थ की रूपाश्रित ऐसी विशिष्ट संघटना है जो शब्दातीत, रूपोत्तर निर्विशिष्ट का भी आभास करता है। चाहे वह मूर्त्त, अमूर्त्त, अथवा मूर्त्तामूर्त्त क्यों न हो, उसके बाह्य स्वरूप में कवि-स्वभाव की मुद्राएँ भी झलकेंगी, युग-भंगिमाएँ भी, रीतियाँ और 'वादादि' भी; किन्तु अन्तःस्थलः वह सबको 'सहित' करने वाली अन्यूनातिरिक्त, शोभाशाली और आह्लादक 'ऊर्जा' है। सहृदय में वह और उसमें सहृदय परस्पर अनरंग एकतानता प्राप्त करते हैं, किन्तु उसका स्वरूप दोनों की प्रतिबिम्बन-योग्यता पर निर्भर करता है; कि मनोदैहिक संस्थान के बाह्य (ऐन्द्रिय), मध्य (चेतन मनोभूमि) और आद्य (अचेतन तलीय) मनोलोक में से वह जिस पटल के द्वारा संरचित और गृहीत हो रहा है, उनके कर्षण की समीकृत शक्ति के अनुपात से ऊर्जित प्रतीत होगा। अतः कहीं वह मात्र संवेदन होगा, कहीं ऐन्द्रियिक और उत्तेजक, कहीं ऐन्द्रिय और प्रत्यक्षवत् मूर्त्त, कहीं मूर्त्तामूर्त्त, और फिर कहीं अमूर्त्त, अगम और रहस्यमय, आदि। किन्तु सर्वत्र वह कदम्बगोलकवत् अथवा अलातचक्र-रूप अर्थरश्मि होगा (द्रष्टव्य पृष्ठ ३, ८१)।

और उसकी प्रकृति-प्रवृत्ति क्या है? पिछले पृष्ठ पर दिए गए विविध विचारकों के विवरणों आदि मे और पृष्ठ ८१-८२, १६४-१७० आदि पर बताए गए वर्णनों में काव्यबिम्ब की प्रकृति-प्रवृत्ति का निरूपण हो गया है। प्रधानतः वे हैं—१. क्षणिकता, २. ऐन्द्रियता, ३ प्रज्ञात्मकता, ४. वैचारिकता ५. भावमयता, ६. रागपूर्णता, ७. कल्पनामयता, ८. आवयविक संघटना-रूपता, (सरूपात्मक, अन्वितिपूर्णता) और विसर्जकत्व, ९. विखण्डकत्व, १०. जादुई सम्मोहनशक्ति और वशीत्व; तथा ११. मिथकीय आद्य बिम्बात्मकता।

१. क्षणिकता—काव्यबिम्ब की आन्तरिक गत्वरता और मन की अणु-परिमाणी वृत्ति का यह परिणाम है जिस विषय का स्पष्टीकरण पृष्ठ १-३, ६९-७०, १५०-७८ आदि पर किया जा चुका है। काव्यबिम्ब प्रकृत्या क्षणिक तो होता है, पर पश्चबिम्ब, स्मृति और संस्कार आदि का रूप धारण कर वह मनोदैहिक संस्थान में व्याप जाता और स्थायी भी हो जाता है, जिसका प्रभाव कलात्मक-अन्तर्दृष्टि, जीवन-विधि, जगद्दर्शन और समस्त व्यवहार-प्रणाली पर सूक्ष्मत किन्तु व्यापक ढंग से पड़ता है। क्योंकि काव्यबिम्ब की प्रकृति में क्षणिकता के साथ सार्वकालिकता, या अनन्तता के परिदर्शन की भी वृत्ति अन्तर्निहित होती है, अतएव विशिष्ट 'वस्तु' मे उस क्षण 'वस्तुत्व' के अथवा निर्विशिष्ट के भी आभास होते हैं। द्रष्टव्य कालरिज के प्रतिभा-सम्बन्धी विचार, पृष्ठ १९४-५ पर 'ग' और 'घ'।

२. ऐन्द्रियता—रिचर्ड एच. फोगले[७१] ने काव्यबिम्ब की संवेदनात्मकता पर बल दिया है। संवेदनात्मकता से ऐन्द्रियता अधिक व्यापक शब्द है। ऐन्द्रियता काव्यबिम्ब की शाब्द अभिव्यक्ति अथवा रूपायण से सम्बन्धित जैविक वृत्ति है। अरूप, अशरीरी अनुभूति वाग्बिम्ब के अगम लोक से स्फुरित हो वर्ण-बिम्ब के पूर्णतः मानुषी लोक मे, जैसे ऐन्द्रिय शब्द-शरीर धारण कर, अवतरित होती है। दल्लास ने इसे ही काव्य का प्रथम विधायक नियम माना है—कल्पना द्वारा स्थानीयकरण। इस शाब्द ऐन्द्रिय रूप के कारण काव्यबिम्ब प्रत्यक्षवत् स्फुट होता है तथा सहृदय में प्रेषणीय और संवेद्य भी। काव्य-गृहीता उसकी शाब्द और ऐन्द्रिय प्रकृति को अपने संस्कारसे ग्रहण करता है। फलतः काव्य-शब्द प्रयोक्ता और गृहीता की वृत्तियो अथ च दोनो के मानसिक-सांस्कारिक वातावरण की प्रवृत्तियों आदि के बीच कर्षण लाता है। कर्षण का त्रिभुज किसी क्षण फैल कर वृत्त-रूप भी धारण करता और प्रत्यय की ओर फैलता भी चलता है। इस प्रकार काव्यबिम्ब की प्रकृति संवेद्यता की दृष्टि से ऐन्द्रियता और मूर्त्तन (सह-अनुभूति) की है, तो मानसिकता और अमूर्त्तन की भी (द्रष्टव्य पृष्ठ-४५६)। दूसरे शब्दों में ऐन्द्रियता की परिधि के अन्तर्गत एक ध्रुव पर दृश्य, स्पृश्य, श्रव्य घ्रातव्य, रस्यादि स्थूल संवेदन का क्षेत्र है, तो दूसरे ध्रुव पर प्रज्ञा का। इन दोनों

के केन्द्र में मन है जो दोनों में संयोग और संहति लाता है। पड़ी रेखा-जैसी फैलनेवाली इस ध्रुवान्तता को लम्ब की भाँति काटती है केन्द्रस्थ मन की एक दूसरी ध्रुवान्तता। वह है राग (भावना) और चिन्तन की ध्रुवान्तता। यह काव्य-कर्त्ता और काव्य-गृहीता के चेतन मन पर निर्भर करता है कि काव्यबिम्ब की ऐन्द्रियता इन ध्रुवों को कहाँ तक स्पर्श और उद्बुद्ध करती है तथा कितनी गहराई से।

३. प्रज्ञात्मकता—प्रातिभ काव्यबिम्बों की यह मूल प्रकृति है। तभी वे बोध-वृत्ति से गम्य न होकर भी रमणीय प्रतीत होते हैं। प्रज्ञा सहजज्ञान (इन्टयूशन) अथवा अन्तर्दृष्टि (इन्साइट)-जैसी होती है। विषयादि के इन्द्रिय-सम्पर्क हुए बिना भी जिस शक्ति के कारण विषयादि का अतर्क्य भान होता है, वह 'प्रज्ञा' है। काव्यबिम्ब की इस प्रकृति के कारण ही गृहीता में 'अबोधपूर्वं पर्युत्सुकी' भाव उद्बुद्ध होता है। पुनः 'प्रज्ञा' ज्ञान, और ज्ञान के पार का भी ज्ञान है। दूसरे शब्दों में काव्यबिम्ब कुछ ज्ञानातीत संज्ञान से पूर्ण होता, और पाठक को करता है।

४. वैचारिकता—काव्यबिम्ब का यह विवेकाश्रित निर्मिति का पक्ष है। यह बुद्धि-जन्य प्रवृत्ति है। भावमय काव्यबिम्बों में भी स्वयं कवि की अथवा कवि-पूर्व चेतन मन की सुदीर्घ चिन्तना के विचार-कण अथवा उनकी ऊष्मा अन्तर्लीन रहती है (द्रष्टव्य कॉलरिज पृष्ठ-१९४)। गृहीता भी उसकी प्रेरणा से, किन्तु अपने विवेकादि के अनुसार विचारादि प्राप्त करता है। नई कविता और अकविता में काव्यबिम्ब की वैचारिकता कुछ प्रखर और वैज्ञानिक हो उठी है। इससे विचार-बिम्ब और बौद्धिक बिम्ब कुछ अधिक निर्मित हो रहे हैं। जहाँ विचार और बुद्धि का सूत्र अल्प अथवा नहीं के बराबर है, उन्हीं के विषय में अशोक वाजपेयी का कथन है—'काव्य भाषा को अनुभव-भर नहीं, कवि के विवेक को भी चरितार्थ करना चाहिये" भाव-संवेदना के अलावा समझ होना भी आवश्यक है।'

५. भावमयता—यह काव्यबिम्ब की प्रवृत्ति-प्रधान संवेगमयता है। किन्तु काव्यबिम्ब के संवेग में कवि का 'भावन' ही प्रमुखतः आच्छादित रहता है, इसलिए उसकी भावमयता कवि के भावित भाव की भावमयता है। इस भाव-मयता से गृहीता में भी भावोदय होता है और वह अपने ढंग से उसे भावित कर ग्रहण करता है; द्रष्टव्य—पृष्ठ १३६-१५२।

६ रागपूर्णता—काव्यबिम्ब की भावमयता की अस्मिता-जन्य यह आद्य भावना है, जो प्रायः सुखात्मक और अ-सुखात्मक होती है (द्रष्टव्य—पृष्ठ १३७)। कवि द्वारा भावित भावमयता की प्रेरणा से काव्यबिम्ब गृहीता में भी अनायास आ राग उद्बुद्ध करता है—चाहे वह सुखात्मक हो, अर्थात् अस्मिता की वृद्धि करे, अथवा उसे विक्षुब्ध करे और अ-सुखात्मक हो, अथवा उनसे अतीत भी हो। विचार और बुद्धिरसात्मक काव्यबिम्ब भी प्रायः रागपूर्ण तो होते हैं।

७ कल्पनामयता—काव्यबिम्ब की रचयिता की यह देन है। रचयिता की कल्पना जैसी होगी काव्यबिम्ब में वैसी और उतनी स्फुरण-शक्ति आ सकेगी। यही बात गृहीता के लिए भी कही जायगी, क्योंकि वह भी रचयिता तो होता ही है; द्रष्टव्य—पृष्ठ १०८, १२२-१२४ तथा १५५-१६५, ५२२-४। पिछले खेवे के काव्य-बिम्बों में कल्पनामयता भावादि के क्षेत्र की है, नई कविता की कल्पनामयता विज्ञानादि के प्राविधिक बौद्धिक क्षेत्रों की।

८ (अ) आवयविक संघटन-रूपता, संरूपात्मकता और अन्विलिष्टता—काव्यबिम्ब प्रकृत्या सुसघटित घटक है, क्योंकि उसमें रचयिता और रचना का, अनुभूति और अभिव्यक्ति का, मूलस्थ वाग्बिम्ब और बाह्य रूपाकृति, शब्दादि का अद्वययोग हुआ रहता है। कविता में उसके आवयविक संघटन के चार पक्ष हैं—

१. क—कविता के सन्दर्भगत अर्थ की अच्युत प्रस्तुति, और ख-प्रत्येक बिम्ब के परिपार्श्व के अन्य बिम्बों, एवं ग-समग्र कविता के विवक्षित अर्थ-बिम्ब अथवा वैचारिक बिम्ब-मलादि के साथ की अपरिहार्य संगति का पक्ष :

२. क—काव्यादि की विकासात्मक परम्परा के साथ कवि की उद्भावना, अथवा ख-कलात्मक रूढ़ि आदि (आर्टिस्टिक कोडों) के अभियोजन का पक्ष,

३. समसामयिक सामाजिक-सांस्कृतिक आदि परिवेश-मंडल के साथ कवि के चेतन दायित्व-बोध के संयोग का पक्ष; और

४. जीवन के परिदर्शन, मूल्य-योजना और मानवीय नियति के प्रति कवि की अन्तर्दृष्टि के आभासन का पक्ष[७१] (द्रष्टव्य कॉलरिज पृष्ठ १९४-५)।

इन चारों का संघटन भाषा में होता है, जिससे उसके उत्तरदायित्व का अन्दाज किया जा सकता है। काव्यबिम्ब की इस प्रकृति-प्रवृत्ति का [illegible] एज़रा पाउंड और शुक्लजी ने 'संश्लेष' के रूप में किया है।

पुनः मैकलीश और लिवीस ने काव्यबिम्बों में संरूपात्मक प्रवृत्ति भी बताई है। मैकलीश के अनुसार काव्यबिम्ब एक ढाँचे में उभर कर [illegible] रूप से अनेकरूपता में एकता का 'संरूप' प्रस्तुत करते हैं। मैकलीश 'सरल' में बॉदलेयर के द्वारा प्रस्तुत 'वैश्विक एकता' तक को सन्निविष्ट [illegible] है लिवीस इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार रखते हैं—

बिम्ब वस्तु का ही सर्जन नहीं करता, अपितु अनुभव के सन्दर्भ में वस्तु का नवरूपायण करता है; अतएव वस्तु को अन्यों के सम्बन्धादि के परिप्रेक्ष्य में दिखाता है। कवि बिम्ब-संरूपण से यह भी संकेत करता है कि वास्तविक संसार में भी एक विधान है, संरूप है।... बिम्बों के मध्य एक प्रकार का 'भावात्मक तर्क' रहता है जो अन्यों को सुसंगत रूप में जोड़ता चलता है। इस कारण प्रत्येक बिम्ब समग्र कविता के अर्थ-निष्पादन में योगदान करता है,

तथा उससे स्वयं भी लाभान्वित होता है।…काव्यबिम्ब मनुष्य का मन है जो उन सबसे भाईचारे के सम्बन्ध की माँग करता है जो जीवन धारण कर रहे हैं अथवा कर चुके हैं और अपनी माँग पूरी भी कर लेता है।…रूपक (बिम्ब) में त्रि-आयामी सम्बन्ध होता है—विषयगत, विषयिगत एवं दोनों के पारस्परिक सम्बन्धगत, जिसका दर्शन प्रत्येक पाठक कविता के सन्दर्भ में कर लेता है।[७४]

८ (आ) प्रवाहधर्मिता और विसर्जकत्व—बिम्ब गत्वर प्रकृति के होते हैं। उनकी गति के दो प्रकार हैं-एक, प्रत्ययोन्मुखी जो पृष्ठ ११५, ११८, १५५ एवं ४५५-४५८ पर वर्णित है और दूसरा, संश्लेषोन्मुखी अर्थात् पारस्परिक संश्लेष तथा समर्प्यमाणता द्वारा बृहत्तर और अन्वित संरूप की प्राप्ति, जिसका उल्लेख पृष्ठ ३, ८२, १६८-१७०, आदि पर किया गया है। पृष्ठ २१२-४ पर बिम्ब की प्रवाहधर्मिता के कारण उद्भूत समवृत्तात्मक, समप्रसरणशील और विषम केन्द्रापसारी बिम्बों के अन्वित संरूपों के विविध प्रकार भी सहचार की दृष्टि से बताए गए हैं। गत्वरता के इन दोनों प्रकारों के मूल में है विसर्जकत्व की वृत्ति। विसर्जकत्व सर्जन की शर्त है। इसे कूपयंत्र-घटिका-न्याय ही मानेंगे कि सर्जन में कुछ का विसर्जन करना ही पड़ता है। मैकलीश ने दो बिम्बों के बीच के अन्तराल को विशिष्ट अर्थ के उदय का क्षेत्र माना है। हर्बर्ट रीड बताते हैं कि दो बिम्बों अथवा एक प्रत्यय और एक बिम्ब के जोड़े समान रूप से तने हुए रहते हैं, तो वे टकराकर अर्थवत्ता की आकस्मिक कौंध से पाठक को विस्मित करते हैं।[७५] ह्यूले के अनुसार वे परस्पर उर्वर होते और मिलकर अनुभव में समृद्धि लाते हैं। इस प्रकार कविता में प्रत्येक बिम्ब आसपास के बिम्बों से टकराता, उन्हें काटता-छाँटता और फिर उनसे मिल-जुलकर एक संश्लिष्ट बृहत्तर अन्विति का सम्पुंजन, अर्थात् पूर्ण काव्यबिम्ब का सम्मूर्तन करता है।

९. विखण्डन वृत्ति—दो विषम बिम्बों के (और सम भी) के बीच अन्तराल होता है, जिसे रीड ने टकराहट और ह्यूले ने पारस्परिक उर्वरता का क्षेत्र माना है। लिवीस ने बिम्ब-बिम्ब के अन्तराल में 'भावात्मक तर्क' की अवस्थिति बताई है। करमोड, ईस्टमैन, इलियट, और रिचर्ड्स भी (द्रष्टव्य पृष्ठ १६२), विषम बिम्बों में पाठक की तीव्र सचेतयता की उद्बुद्धि के लिए प्रेरणा-शक्ति का बखान करते हैं। ईस्टमैन के शब्दों में बिम्बों के अबूझ वैधर्म्यों के बीच लगता है कि जीवन जिया जा रहा है, चाहे वह जैसा भी हो। 'चाहे वह जैसा हो' इसी का प्रतिवाद रिचर्ड्स ने किया है, क्योंकि तब वैषम्यों की प्रवृत्ति अनन्तता की होगी और खतरा पागल प्रलाप को काव्यबिम्ब मान लेने का होगा।

डायलन टॉमस आदि की दृष्टि से विषम बिम्बों के बीच के अन्तराल पुराने बिम्ब को कब्र और नये बिम्ब के लिए गर्भ-मंडल-जैसे माने जायेंगे क्योंकि

उनके बिम्ब-सर्जन में निर्माण और विध्वस के नैरन्तर्य की पद्धति है। पृष्ठ २०६ पर यह संकेत किया गया है कि विषम सहचार परिपक्व और प्रौढ़ मानसिक वृत्ति है। आधुनिक वैज्ञानिक और बौद्धिक मानव परिपक्व और प्रौढ़ चित्त का न भी हुआ हो, तो भी उसमें या तो इसका अहसास-सा आ गया है, अथवा वह विश्व-व्यापी विषमताओं और विसंगतियों से त्रस्त है। ऐसा भी हो सकता है कि आज का मानव-चित्त मोह-भंग और निर्मम विज्ञानवाद के फलस्वरूप संवेदन, भाव और राग के पाश से मुक्ति और विचार के शुद्ध लोक की प्राप्ति की द्वन्द्वात्मक स्थिति में तनावों भरा वैसा चित्त हो, जैसा सहस्रों वर्ष पूर्व वह मिथकीय काल में भूतसमष्टि के पाश से मुक्ति और मानवीय मानस के उदय की द्वन्द्वात्मक स्थिति में था। कारण जो भी हों, जैसा कि पृष्ठ १७०-१७४ एवं ५४३ पर बताया गया है, तनाव और विखंडन आज एक प्रवृत्ति है। इधर के हिन्दी-कवियों में खासकर मुक्तिबोध, माचवे, हरिनारायण व्यास, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी, श्याम परमार और युवा-कवि कमलेश, धूमिल, मणिमधुकर आदि के काव्यबिम्बों मे विसर्जकत्व, विखंडन-वृत्ति और बौद्धिक वैचारिक सपाटपन की प्रवृत्तियाँ प्रधान हैं। इनसे काव्यबिम्ब की प्रकृति-प्रवृत्ति आमूल बदल गई है। अब उसमें तात्कालिकता, खुरदुरापन, गद्यात्मकता, बडबोलपन और सीधी चोट करने की विशेषताएँ दिखाई पड़ती है। परम्परा और भाव के अनुबंधों से मुक्त ऐसे काव्यबिम्बों में शुष्क, आत्मालापी चिंतन हैं जो सभ्यता, समाज, धर्म, काव्यादि की रूढ़ मान्यताओं-परम्पराओं और उनके कर्णधारों सूत्रधारों के सिर पर इत्मिनान से घहराए जा रहे हैं।

१० जादुई सम्मोहन और वशीत्व—यह काव्यबिम्ब की लयात्मक, आतिशय्यपूर्ण एवं भावाविष्ट (प्रचंड वैचारिक भी) प्रकृति की विशेषता है (द्रष्टव्य कॉलरिज पृष्ठ १६४)। दल्लास ने कविता के तीन विधायक नियमों में आत्म-विस्मृति को प्रायः उसी रूप में प्रस्तुत किया था जिस रूप में मनोविश्लेषकों ने बाद में रखा। काव्यबिम्ब गृहीता के मन को अन्य विषयों की ओर आक्षिप्त नहीं होने देता। साथ ही उस पर सम्मोहन और वशीकरण का जादुई असर डालता है। गृहीता के मन को काव्यबिम्ब का जादू जिस प्रकार ग्रस्त करता है यह कॉडवेल, युग आदि के अनुसार पिछले पृष्ठों पर तथा फ्रेजर के सिद्धान्त के अनुसार पृष्ठ ३२०-२१ पर बताया जा चुका है।

११ मिथकीय आद्यबिम्बात्मकता—काव्यबिम्ब की यह अन्तःस्थित या अन्तर्लीन प्रकृति है जिसका विवरण पृष्ठ २५०-५, २७१-२ एवं ४९६-५०८ पर दिया जा चुका है। काव्यबिम्ब की इस प्रकृति के परामर्श से गृहीता में अनायास मिथकीय चेतना उदित होती, या प्रत्यभिज्ञान-सा होता है और वह सर्वात्मिका संवित् का साक्षात्कार-सा करता है। लिवीस इसी कारण काव्य-बिम्ब को सत्य के दर्शन के लिए दर्पण के समान बताते हैं।

काव्यबिम्ब की उपर्युक्त प्रकृति-प्रवृत्ति को स्पष्टतः समझने के लिए [भवानी] प्रसाद मिश्र की 'सन्नाटा' शीर्षक कविता ली जाय —

कुछ लोग भ्रांतिवश मुझे शान्ति कहते हैं, निस्तब्ध बताते हैं, कुछ चुप रहते हैं
मैं शान्त नहीं, निस्तब्ध नहीं, फिर क्या हूँ ? मैं मौन नहीं, मुझमें स्वर बजते हैं।
कभी-कभी कुछ मुझमें चल जाता है, कभी-कभी कुछ मुझ में जल जाता है, ...
मैं सन्नाटा हूँ, फिर भी बोल रहा हूँ, मैं शांत बहुत हूँ फिर भी डोल रहा हूँ
यह 'सर-सर' यह 'खड-खड' सब मेरी है, है यह रहस्य मैं इसको खोल रहा हूँ।
मैं सूने में रहता हूँ, ऐसा सूना, जहाँ घास उगा रहता है ऊना
और झाड कुछ इमली के, पीपल के, अन्धकार जिनसे होता है दूना।
तुम देख रहे हो मुझको, जहाँ खडा हूँ ? तुम देख रहे हो मुझको जहाँ पडा हूँ ?
मैं ऐसे ही खण्डहर चुनता फिरता हूँ, मैं ऐसी ही जगहों में पला बढ़ा हूँ।
हाँ, यहाँ किले की दीवारों के ऊपर, नीचे, तलघर में या समतल पर, भू पर
कुछ जनश्रुतियों का पहरा यहाँ लगा है, जो मुझे भयानक कर देती है छूकर
तुम डरो नहीं, डर वैसे यहाँ नहीं है ? पर खास बात डर की कुछ यहाँ नहीं है;
बस एक बात है, वह केवल ऐसी है, कुछ लोग यहाँ थे, अब वे यहाँ नहीं हैं।
यहाँ बहुत दिन हुए एक थी रानी, इतिहास बताता उसकी नहीं कहानी'
वह किसी एक पागल पर जान दिए थी, थी उसकी केवल एक यही नादानी।
यह घाट नदी का, अब जो टूट गया है · · वह यहाँ बैठ कर रोज-रोज गाता था।
शाम हुए रानी खिडकी पर आती थी, पागल के गीतों को वह दुहराती थी।
किसी एक दिन राजा ने यह देखा ·· उसने माँगा इन सब साँझों का लेखा।
रानी बोली—पागल को जरा बुला दो, मैं पागल हूँ; राजा, तुम मुझे भुला दो।
वह राजा था हाँ, कोई खेल नहीं था (·· जैसे उसके) बड़े किले में कोई जेल नहीं था।
तुम जहाँ खडे हो, यहीं कभी सूली थी, रानी की कोमल देह यहीं झूली थी;
हाँ पागल की भी यहीं, यहीं रानी की, राजा हँसकर बोला, रानी भूली थी!
किन्तु नहीं फिर राजा ने सुख जाना, हर जगह गूँजता था पागल का गाना;
बीच-बीच में, राजा तुम भूले थे, रानी का हँसकर सुन पडता था ताना।
तब और बरस बीते, राजा भी बीते · · अब हम सब मिलकर करते हैं मनचीते।
पर कभी-कभी जब पागल आ जाता है · अनजान एक सकता-सा छा जाता है।

कविता समाप्त करते ही १. क्षण भर के लिए 'सन्नाटा' जो अमूर्त्त, अश्रव्यादि है, [श्र]व्य, मूर्त्त और नाट्यात्मक बिम्ब के रूप में, जैसे मानुषी शरीर धारण कर गृहीता के [मनो]दैहिक संस्थान पर प्रतिच्छायित हो जाता है। उस पर 'शांति' 'निस्तब्धता' 'मौन' के [स्प]ष्ट बिम्ब फिर 'स्वर के बजने' के उसके 'चलने', 'जलने', 'खडा' और 'पडा होने', [खण्]डहर' चुनने और 'जनश्रुतियों के पहरे' पडने के विषम बिम्ब और 'रानी' और 'पगले' के [प्रेम] तथा 'राजा' के नृशंस मृत्यु-दण्ड के रूपात्मक कथा-बिम्ब एक-पर-एक छाते चलते हैं। [इ]ससे आस्वादक के प्रज्ञा-चक्षु को सन्नाटे के भीतर और उसके पार एक अगम, अबूझ रहस्य प्रतिभान होता है। ४ आस्वादक को कविता के स्वच्छ विचारों की बुनावट और उसके [बी]च से फूटते हुए इस वैचारिक तत्त्व का बोध होता है कि सन्नाटे की तात्त्विक सत्ता है। कवि के भावित भाव को 'सन्नाटे' के प्रति, उसके अभिव्यंजन-माध्यम यानी शब्द, शब्द-विचार, कथा-चरित्रादि और फिर श्रोता-पाठकों के प्रति एकरूप तल्लीन पा कर [आस्]वादक, ६. स्वच्छ, मुक्त और आत्मीय प्रवाह में एकतान होता है, सह अनुभूतिवश उसे [सन्]नाटा और आत्मस्थ 'मौन' में एकता सी प्रतीत होती है और इससे उसमें सुखात्मक 'राग'

और 'आद्य वैश्वानर' का उन्मेष होता है। ७. 'सन्नाटा' की गूँजें-अनुगूँजें उसकी कल्पना में गुंजित होती हैं और यह कल्पना-लोक रम्य प्रतीत होता है। ८. (अ) कविकृत 'सन्नाटा' में शब्दादि समस्त तत्त्वों का आवश्यक संघटन है, (आ) लघु बिम्ब, कथा-बिम्बादि उसमें अन्वित हैं, और उसमें बृहत्तर काव्यबिम्ब के प्रति एककेन्द्रिकता है। अनेकता में ऐसी एकता, एककेन्द्रिकता के बोध से आस्वादक जीवन-जगत् के मूल में रहने वाली एकता का परिदर्शन करता है। ९. 'सन्नाटा' में रूपायन की नवीनता है, जिसमें पूर्वाभिव्यञ्जन-शिल्पादि का विघटन हुआ है। इस अभिनव 'रूप' का साक्षात्कार उसे पूर्वग्रहों आदि से, 'अहं' के विक्षेपक तत्त्वों से मुक्त करता है। १०. उसका 'अहं' विसर्जित अथवा विगलित लय, कथा-तत्त्व और आत्मीय स्वर के कारण भी होता है; ११. आस्वादक को अनायास आभास-सा होता है कि 'रानी' में मन की 'चिति', युंग के अनुसार मनुष्य-मात्र में रहने वाली क्रिया-रूप 'आद्य नारी' का, 'पगला' में सद्रूप अथवा स्वच्छन्द विहारी वैयक्तिक अचेतन का और उसके 'प्रणय' में स्वच्छन्द आनन्द विहार अथवा अचेतन के निस्तरंग अनन्त प्रवाह का और 'राजा' में 'अहं' अथवा इगो (सुपर-इगो) का मिथकीय प्रतीक बिम्बित है। 'सन्नाटा' है 'रानी' और 'पगले' के प्रणय का, आत्मदान का प्रतिरूप—मौन-मुखर गूँज है उस सनातन द्वन्द्व और करुण विद्रोह की जो सभी किलों, जागतिक निर्मितियों, शरीर की साज-सज्जा और प्रपंचों के बहुत भीतर 'राजा'-रूप अहं के कारण निरन्तर चल रहा है। 'सन्नाटा' वक्तव्य को कुक्षि में लीन करने वाली और फिर उसे जन्म देने वाली मातृमूर्ति-रूप प्रतीत होता है, जिसके साक्षात्कार या प्रत्यभिज्ञान से आस्वादक उसमें तल्लीन होता है—यह निमग्नता उसकी विश्रान्ति है। यही कवि-विवक्षा है। यह दूसरी विधि से भी सम्भव तो है, पर इसी रूप में नहीं। यथा—पृष्ठ-५३० पर, अथवा—

मैंने उठ कर खोल दिया वातायन —
वह सन्नाटा नहीं
ईश्वर गाता था।

और दुबारा चौंका
झरोखे के बाहर

—अज्ञेय चक्रान्त शिला

यहाँ भी 'सन्नाटा' रम्यमूर्त बिम्ब के रूप में उभरता है। पर इसमें कवि का विजोग दूसरा है; कविता की प्रकृति भी अलग है। निःशब्द सन्नाटा, आत्यंतिक नीरवता, घुप्प अँधेरा, सम्पूर्ण नकार—ये भयावह स्थितियाँ हैं, अकल्पनीय हैं। इस सन्नाटे का नकार-रूप में ग्रहण हम नहीं कर सकते। इसलिए उसे ध्वनियों के सहारे, कथा की रिक्तता के सहारे, या धर्म, ईश्वर-भावना आदि के सहारे ग्रहण करते हैं। यहाँ कवि का पैगम्बराना अंदाज सीधे धर्म और ईश्वर का सहारा लेता है; जो काव्येतर सहारा है। भवानी प्रसाद मिश्र कविता के प्रकृत क्षेत्र में ही हैं—'बैले' या लोक-कथा की बुनावट करते हैं। और उस बुनावट के जाल को फिर उठा भी लेते हैं। उसकी गूँज रह जाती है।

इससे यह जाहिर होता है कि कविता या काव्यबिम्ब की प्रकृति प्रवृत्ति समान नहीं होती। कुछ कविताएँ धार्मिक, रहस्यानुभूतिपरक, कुछ लोक-कथात्मक ऐतिहासिक, कुछ कथात्मक, कुछ गीतात्मक और कुछ 'मात्र कविता' आदि विविध प्रकार की होती हैं। उनको पहचानना कठिन है। फिर काव्य-बिम्ब की प्रकृति और आस्वादन की प्रक्रिया ऊपर बताए गए अनुक्रम से ही सदैव क्रियाशील या घटित नहीं होती। अतएव काव्यबिम्ब के प्रकार्य भी सभी स्थलों में समान नहीं होते। पर अपनी मूल प्रकृति के अनुरूप तो होना ही चाहिए।

काव्यबिम्ब के प्रकार्य—

कूम्ब्स ने बिम्ब के प्रकार्य इस प्रकार बताए है—

> अच्छे रचयिता के द्वारा ताजे और गोचर बिम्ब अपनी पूरी ताकत से भावादि को गाढ़ बनाने, स्पष्ट और समृद्ध करने आदि के लिए प्रयुक्त होते है। सफल बिम्ब हमें यह अनुभव करा देता है कि रचयिता वस्तु और परिस्थिति में पैठ सका है, उन पर कब्जा कर सका है और पूरे विश्वास के साथ उनका यथावत् गोचर और सशक्त, किन्तु संक्षिप्त रूप इस प्रकार प्रस्तुत कर सका है कि है लगेगा वह किसी न किसी तरह हमारे जीवन-तंत्र से अभिन्न है।[७६]

यद्यपि यह कथन अलकृति-रूप बिम्बों के सम्बन्ध मे है, तथापि दूसरे वाक्य से समग्र काव्यबिम्ब के प्रकार्य भी मालूम हो जाते हैं। वैसे, काव्य मे अलकारो के महत्त्व पर पृष्ठ ३३५-३५३ पर कुछ मनोवैज्ञानिक संकेत दिए जा चुके हैं। अलंकारो का सम्बन्ध भरत मुनि के द्वारा उल्लिखित 'काव्य-लक्षणो' सेमाना जाता है, जिनकी संख्या दो तालिकाओं को लेकर ५५ है। अभिनवगुप्त ने लक्षण का जो आख्यान किया है, उससे वह कवि-व्यापार का अर्थ देता है।

> 'मैं अमुक वस्तु इन शब्दो मे, इस पद्धति से, इस आशय से, अमुक चित्त-वृत्ति निर्माण होने के लिए कहूँगा।'—इस प्रेरणा से अभिधेय, अभिधान और अभिधा के रूप मे उसका व्यापार 'लक्षण' है। उसका यह प्रातिभ व्यापार शब्दार्थमय आविर्भाव है। 'लक्षण' से प्रेरित प्रकाशन में औचित्य ही प्रयोजन होता है। अन्यथा सब कुछ 'कुलक्षण' होगा। इस 'लक्षण' से प्रकाशित होने के कारण उसका शब्दार्थमय काव्य अलंकारत्व और गुणत्व को प्राप्त करता है। फलतः काव्यवर्णित पात्र, कथा, दृश्य, शब्दसंघटना और शब्द पर भी 'गुणालकारों' का संस्कार पड़ता है। यह संस्कार उन्हे लौकिक प्रत्यक्ष से उद्गत करता है; जिससे पात्र विभाव होते हैं, कथा लोकातिक्रांत होती है, समस्त प्रसंग त्रैलोक्य के भावरूप मे प्रतिभासित होता है, शब्दादि भी चामत्कारिक प्रतीत होते हैं और पाठको में हृदय-संवाद रूप निमग्नता आती है।[७७]

इससे 'अलंकार' मूलतः क्या है, उसका अदाज मिलता है। फिर न केवल शास्त्रकारों ने 'लक्षणों' को 'काव्यालकार' माना है, जैसा कि पृष्ठ—३५८ पर भी बताया गया है, अपि तु स्वयं भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र (२७/९२) में नाट्य सेसंबंधित चारों अभिनय और दूसरे भी तत्त्वो को जिनके एकीभूत समुदय से सौन्दर्य का आविर्भाव होता है, 'अलंकार' ही नाम दिया है—

यदा सर्वे समुदिता एकीभूता भवन्तिहि। अलकारः स तु तदा मन्तव्यो नाट्याश्रय.

बाद के काव्यशास्त्रियों, यथा भामह, दण्डी, वामन आदि ने भी काव्य-सौन्दर्य के सभी तत्त्वों का अन्तर्भाव 'अलंकार' के अन्तर्गत किया है। परन्तु किसी ने 'रस' का विरोध नहीं किया। असल बात यह है कि रसाभिव्यक्ति के लिए काव्य को समर्थ होना पड़ता है और इस हेतु वाच्य को लौकिक, अथवा सामान्य से भिन्न, लोकोत्तर बनाना पड़ता है। यह लोकोत्तर रूप ही वाच्यार्थ का अलंकृत रूप' है। इस 'अलंकृत-रूप' के चारु, विच्छित्ति-पूर्ण, वक्रोक्तियुक्त आदि भिन्न-भिन्न अभिधान काव्यशास्त्रियों ने दिए जरूर है, पर वे 'सौन्दर्य' की प्रतीति के ही अलग-अलग नाम है। सच तो यह है, जैसा कि आनन्दवर्धन आदि ने बताया है—

> प्रतिभा के परामर्श से जो रचना होती है उसमें अलंकार मैं पहले, मैं पहले करके दौडे आते हैं।

अतः अलंकार का व्यभाषा से पृथक् और प्रतीतितः काव्य से भी अलग नहीं होते। प्रो० लिविंगस्टोन लॉवेस का कथन है—

> उपमा और रूपकों के सम्बन्ध में रूढ, बँधे-बँधाए कथनों की ऊब से कि ये काव्य के अलकृति-रूप मात्र हैं, हम इतने ग्रस्त रहते हैं कि यह सारगर्भ बात भूल ही जाते हैं कि बिम्ब अनिवार्य है—वे कवि के माध्यम को, भाषा की जड़ तक मे, तल तक की प्रकृति में भिदे हुए वैसे ही अनिवार्य तत्त्व हैं, जैसे कि नाटकीय माध्यम में रंगमचीय काल और चौरस धरातल में परिप्रेक्ष्य।[७८]

अर्थात् काव्य मे अलकारो का काव्यात्मा से अन्तरंग सम्बन्ध है। जैसे उत्तम काव्य मे शब्द अथवा भाषा ही काव्य है, उसी भाँति अलकार भी। तब प्रश्न है कि अलकार्य क्या है? इस सबध में प्राचीनों में भी मतभेद है। तथाकथित अलकार-सम्प्रदाय की ओर से कहा जायगा—शब्द और मुख्य वाच्यार्थ ही अलंकृत होनेवाला काव्य-तत्त्व हैं, वक्रोक्तिवादी आचार्य वस्तु-स्वभाव को, ध्वनिवादी विद्वान् ध्वन्यमान अर्थ को और रसवादी आचार्य रसादि व्यंग्यों को अलकार्य कोटि मे रखेंगे। वस्तुतः कवितात्पर्य ही अलकार्य है। ऐसी ही मान्यता पंडितराज जगन्नाथ की भी है। जिसे अलंकार कहा जाता है, वह कवितात्पर्य को, अथवा मुख्य अर्थ या काव्यत्व को ही स्फुट, प्रत्यक्षवत्, चारु, चमत्कारी, शोभाधायक अथवा विस्मयकारक और सुन्दर रूप में प्रस्तुत करता है। वही वहाँ काव्य है। तात्पर्य यह कि आधुनिक काल के विद्वानों ने 'अलंकारों' को सीमित अर्थ देकर उन्हें काव्य के अन्तरंग 'लक्षण' से अलग कर जो दिया है उससे गडबड़ी हुई है। तो

निष्कर्ष यह हुआ कि काव्यबिम्ब के प्रकार्य के विवरण मे समग्र काव्य पर दृष्टि होनी चाहिए और जहाँ व्यापक अर्थ में अलंकारत्व हो, वहाँ तो अवश्य ही, सीमित अर्थ मे भी यदि अलंकारत्व कवितात्पर्य हो, तो वहाँ भी। आनन्दवर्धन का कथन है—

> निष्पत्ति में आश्चर्यभूत जिस अलकार का निबंधन रस- (अथवा भाव-) आक्षिप्त रूप से किया जा सका है, वह उसका अंग है, रस की अभिव्यक्ति में वह बहिरंग नहीं है।[७९]

यदि वह कवितात्पर्य या काव्यविवक्षा का बाधक, विलम्बक, विघातक हो, तो उसे 'दोष' माना जायगा, 'अलकार' कदापि नहीं।

अब कूम्ब्स के उपर्युक्त काव्यबिम्ब के प्रकार्य से सम्बन्धित कथन पर गौर किया जाय। इसमें दो प्रकार के प्रकार्य हैं—१. ताजगी, गोचरता आदि के कारण भावादि को गाढ बनाने, रचयिता की पैठ और पकड को अनुभूत कराने के और २. जीवन-तंत्र से अभिन्नता की प्रतीति कराने के। बात यह है कि कविता में कवि के सामान्यत. दो स्मृति-पटल परस्पर गुँथे-से प्रकट होते हैं—१. वैयक्तिक और २. सामूहिक, जातीय (द्रष्टव्य पृष्ठ २२४ तथा २२८–२३२ आदि)। फलस्वरूप काव्यबिम्ब के भी दो पटल प्रतिच्छायित होते हैं—एक, पृथकशः गोचर बिम्ब-पटल जिसमे तथा-कथित अलंकार-विशेष, गुण, रीति, छन्दादि के चामत्कारिक तत्त्व, भाव-कथादि के तंत्र रहते हैं और दूसरा, अन्तर्लीन सूक्ष्म, रागों की बिम्ब-भावना। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर काव्यबिम्ब के प्रकार्य प्रधानतः होंगे—

१. काव्यानुभूति की ऐन्द्रिय, प्रत्यक्षवत् प्रस्तुति, या संवेद्यता,

२. आवयविक संघटन, औचित्य और समग्रतः अन्विति का निर्वाह,

३. भावानुप्रवेश या सह-अनुभूति के लिए रमणीयता, चमत्कार;

४. युग-जीवन की सम्पृक्ति के आधार पर मानवीय नियति की खोज या अभिव्यक्ति,

५. सबके संश्लेष द्वारा शाश्वत, सार्वभौम सत्य का संवहन, और

६. सहभावन जाग्रत कर (तन्मय कर) गृहीता के आद्यराग के उन्मेष द्वारा संवित् विश्रान्ति, निमग्नता अथवा चैतन्यीकरण।

इन प्रकार्यों पर ध्यान रख कर ही लिवीस ने काव्यबिम्ब को शाश्वत आत्मा का लीला-नैरन्तर्य माना है।[८०] भारतीय ऋषियों ने 'असमष्ट काव्य'

और 'पुनर्पुनर्जायमान काव्य' में लीला-नैरन्तर्य का दर्शन प्रज्ञा-चक्षु से हजारों वर्ष पहले कर लिया था (द्रष्टव्य पृष्ठ ७९—८०)।

खंडित बिम्ब : स्वरूप और प्रकार्य

'पूर्ण-बिम्ब' की उपरि-वर्णित कविता के विविध प्रकारों से तत्त्वतः और प्रवृत्त्या भिन्न आधुनिक कविता की ऐसी कोटि भी है, जिसके बिम्बों में भावासंग के स्थान पर विचार के सहचरण-व्यापार (विचारानुबंध) अथवा अचेतन के अनुबंधहीन अनुबंध, समता-सादृश्यादि के स्थान पर वैषम्य, वैपरित्यादि की वृत्ति और संश्लेष की जगह बिखराव की प्रक्रिया पर बल दिया गया प्रतीत होता है। ऐसी कविता के बिम्ब 'खंडित बिम्ब' बताए जाते है, जो नाम कोटि-निर्धारण की दृष्टि से सार्थक होने पर भी तत्त्वतः भ्रांतिमूलक है। इस प्रकार के बिम्बधर्मी कवि का इष्ट सम्पूर्ण वस्तु का ब्योरेवार चित्रण नहीं होता, संकेत-लिपि के द्वारा उसका आभास मात्र देना होता है। ऐसे बिम्बसृष्ट क्यों होते हैं? मदन वात्स्यायन[८१] के अनुसार कविचित्त मे अतिचेतन और अवचेतन के द्वन्द्व के बीच भाव के धक्के बिजली की तरह कौंधते है; जिससे एक बिम्ब आता है, फिर अनुभव की पिटारी में से दूसरे चित्र सूत्र मे गुँथने लगते है। दिनकर जी इसे 'प्रकाश और अंधकार की संधिरेखा का काव्य'[८२] मानते हैं। पुनः यह भी कहा जाता है कि आधुनिक युग मे विषयवस्तु का अपार विस्तार हुआ है, किन्तु भाषा का माध्यम सीमित है; परम्परित काव्य-शैली भी रूढ़ हो गई है, अतएव कवि शैली के रूढ रूपों को ध्वस्त कर कभी अर्धगीतात्मक, कभी अर्धचिन्तनात्मक मनःस्थिति में कविता रचता-सा प्रतीत होता है; कभी वक्तृता के आवेश में फतवे देता सुनाई पड़ता है, तो कहीं वीर-मुद्रा में अभिनय-सा करता हुआ। वह कथ्य को बेबाक अर्थात्, अतिरिक्त भावात्मक कल्पना, अतिशय लयात्मकता अथवा रसिकोचित साजसज्जा से काव्यात्मीकृत किए बिना ही बेधड़क प्रकट कर देना चाहता है। वह विचार और शब्दादि भी विवेक के अर्थानुशासन मे प्रयुक्त नही करता (द्रष्टव्य—आगे 'अविवेकीकरण की प्रवृत्ति')। फलतः, उसके बिम्बों में प्रखरता, कसावट और तीक्ष्णता रहती हैं, तथा वे संख्या और विविधता मे भी अधिक होते हैं। उनका संरूपण भी अनुबंधो, तर्कों, कार्य-कारण-शृंखलाओं की परम्परानुमोदित विधियों से बँधा नहीं होता। रोसेनहाइम के शब्दों मे

> आधुनिक कवि बिम्बों के आलंकारिक अथवा प्रतीकात्मक उपयोगिता पर समुचित ध्यान दिए बिना ही उनका व्यवहार इस प्रकार करता है कि जिससे

तर्कसम्मत सरल शब्द-व्यवहार का अतिक्रमण होता है, तर्कातीत के लिए जैसे वह सामान्यत तैयार रहता है। मानवीय चेतना और बोधवृत्ति की आधुनिक और नवीन व्याख्याओं से प्रेरित हो कवि बहुधा स्वेच्छया कई इन्द्रियों को एक साथ सम्बोधित कर, अमूर्त और मूर्त को घुलामिला कर, वास्तव यथार्थ और काल्पनिक को संयुक्त कर, दैशिक और कालिक आयामों को एकमेक कर तर्कहीन किन्तु भावनिषिक्त बोधगम्य द्रव्य-सा निर्मित करता है। फलस्वरूप परम्परा-स्वीकृत रीतियों और कथन-माध्यमों के अनुसार जो विलक्षण लगता है, वह इस विधि से 'अपूर्व वास्तविकता' की ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेता है, कि जैसे वह संवेदनीय, भावपूर्ण और प्रज्ञात्मक अभिव्यक्ति का सच्चा रूप हो। उसमें अनेकार्थकता भी समृद्धि लाती है। ८३

खण्डित बिम्ब अज्ञेय (शिशिर की राका निशा, देखें पृष्ठ-४७७, चार का गजर, हरी घास पर क्षण भर, आदि) मुक्तिबोध (चाँद का मुँह टेढ़ा है, देखें पृष्ठ—५०६-९, ५३३,५४४), कुँवर नारायण (आत्मचित्र,आदि), शमशेर (आओ, रेडियो पर यूरोपीय संगीत; टूटी हुई बिखरी हुई), केदार नाथ सिंह (शाम आदि), विजयदेव नारायण साही (मछली घर), श्रीकान्त वर्मा (माया दर्पण, पृष्ठ ५२२, जलसाघर ४२८) विपिन अग्रवाल, लक्ष्मी कान्त वर्मा, अशोक वाजपेयी, शम्भुनाथ सिंह, (द्रष्टव्य पृष्ठ-४२८), नलिन, (द्रष्टव्य पृष्ठ-४०९), शिवचन्द्र शर्मा, (द्रष्टव्य पृष्ठ-४३३) अनुरंजन, (द्रष्टव्य पृष्ठ-२६०) आदि और श्याम परमार (द्रष्टव्य पृष्ठ-४३२), राजकमल चौधरी आदि युवा कवियों की रचनाओं मे विविध प्रकार के मिलते हैं। कुछ उदाहरण लिए जायँ—

१ टूटी हुई बिखरी हुई चाय
पत्तियाँ
बाल, झड़े हुए, मैले से रूखे, गिरे हुए गर्दन से फिर भी
... कुछ ऐसी मेरी खाल,
मिली-सी
दोपहर-बाद की धूप-छाँह में खड़ी इन्तजार की ठेले गाड़ियाँ
जैसे मेरी पसलियाँ..
मेरी आँखों का सूनापन हैं
जो कि मेरी दोस्त है।

की दली हुई पाँव के नीचे
मेरी कविता
चिपके
मुझसे अलग-सी मिट्टी में
खाली बोरे सूजों से रफू किए जा रहे हैं...जो
ठढ भी एक मुस्कराहट लिए हुए है

—शमशेर कुछ और कविताएँ

२ उषा-किरण से धुली, ख्वाब-सी हसीन
अनावृत्त पृथुल जंघा, पृष्ठ और नितम्ब पर
दीखती हैं महानगरी की सडकें।...
की रक्तवर्णी नियन लाइट से
साहिल से हट कर तैरती है पानी में
जैसे आत्महत्याओं के अवशेष हों

हौवा की बेटी की
उग आए हंटर के दाग-जैसे
हावड़ा स्टेशन—হাওড়া ষ্টেশন
हुगली का झलमल पानी खूनी रंग-सा दीखता है
दुर्गा और सरस्वती की विसर्जित नंगी ठठरियाँ

—अनुरंजन प्रसाद सिंह । पाषाण प्रतिमा

३. इसके पहले
मैं मारा जा चुका था।
पीछे कुछ नहीं
सिलसिला है।...
फेंक दिया गया था

कुछ भी नहीं होते हजार वर्ष
बहुत कुछ बना
मैं ही हूँ अश्वत्थामा, जिसे नर या कुंजर

कि मैं चीख कर कहता
दबी की दबी रह गई
केवल स्मृतियाँ ....
अभी कल ही की तो बात है
दस हजार कुत्तों के बीच।

कुछ भी नहीं बना
और बहुत कुछ बिगड़ा है

'हिरोशिमा अमर है'
चीख।
मोहनजोदड़ो से अब तक का
ढाँचा
युद्ध कब शुरू हुआ था हिन्द
चीन में?
और कुछ भी नहीं बिगड़ा है
।.. .. ..
मारा जाता है हर युद्ध में।
—श्रीकान्त वर्मा जलसाघर

इस प्रकार के खंडित बिम्बों पर आइवर विंटर्स[८४] का आक्षेप है कि इनमें संवेदनीयता है, पर मन यानी 'स्थिर विवेक' नहीं है। उन्होंने और जॉन क्रो रैन्सम[८५] ने इलियट के खंडित बिम्बों में अर्थगत [illegible], सैद्धान्तिक अन्तर्विरोध, लँगड़ाती लय के द्वारा पंगु अध्यात्म के प्रकाशन, आवेश के विस्फोट आदि कई दोष बताए हैं। उन्हें कवि तीव्र अनुभूतियों के जोर और जोश में बिम्ब-वृक्षों पर कूदें लगाता दिखाई पड़ता है। उपर्युक्त तीनों उदाहरणों में भी ऐसी ही हरकतें हैं। ऐसे बिम्बों के [illegible] को द्वि-आयामी मनोदशा का—जैसे ऊपर के १ और ३ संख्यक उदाहरणों में विरोधी कथन अथवा कही हुई गंभीर बात को नकार जाने के [illegible]—उदात्त की ऊँचाई पर पाठक को उठा कर हठात् जमीन पर पटक [illegible] व्यग्र-क्रिया समझते हैं। विंटर्स पूछते हैं — जब पटकना ही था, तो ऊपर उठाया ही क्यों था? क्यों निर्माण का धन-चिह्न लगा देने के बाद ऋण चढ़ा दिया? व्यंग्य और घटाव तो जरूरी है, किन्तु आसमान पर चढ़ा कर नहीं। कवि को चाहिए था कि '+' और '—' का अपना हिसाब पहले दुरुस्त कर लेता; न कि तब जब कविता बाजार में चर्चित हो रही हो उस समय 'घटाव' का ढिंढोरा पीटते चलना। ऐसी विखंडन-वृत्ति काव्यबोध और विवेक के प्रतिकूल है। इसके उत्तर में इलियट का कथन है—

'कविता के अभिप्रेत स्वारस्य से अनभिज्ञ व्यक्ति को ही बिम्बक्रम में व्यवस्था और अव्यवस्था के बोध का फासला कष्ट देता है।' अर्थात् उनका इशारा इस सिद्धान्त की ओर है कि विशृंखल बिम्ब एक मनोवैज्ञानिक असत्य है; क्योंकि मन गेस्टाल्ट-प्रक्रिया (द्रष्टव्य पृष्ठ २००—१) से विखंडित में भी अखंड पूर्णता का दर्शन कर लेता है। बल्कि उसके दर्शन के लिए पाठक और भी मनोयोग से आकृष्ट होता है और उसकी उद्भावना उसे अपनी सर्जना-सी मोहक लगती है द्रष्टव्य-पृष्ठ ५२२-५२५; ५३४ ५३६। फिर, रॉबर्ट ग्रेव्स[८६] ने एक और भी बात बताई है—

वह त्वरित है, स्पष्ट बिम्बों का भावक, मैं शिथिल हूँ विशृंखल बिम्बों का चिन्तक
बजाता है [illegible] वह, स्पष्ट बिम्बों में आस्थावान्, बनता हूँ तीक्ष्ण मैं विशृंखल बिम्बों
में विश्वास [illegible]

खडित बिम्ब कवि के औदार्य, सहानुभूति, समावेशिता आदि को सूचित करते हैं। वे तात्त्विक विचार की सपुष्टि, अभिप्राय की वकालत भी करते हैं; यथा—यह कि कोई भी वस्तु, विचार, शब्दादि अकाव्यात्मक नही है, न ही पदार्थ, जीवादि चेतना-रहित और स्वसत्ता-हीन हैं, और यह भी कि कवि स्वाधीन, स्वच्छन्द और उपलब्ध ज्ञानराशि के आलोक में वैयक्तिक प्रयोग करने के लिए मुक्त है, तथा यह भी कि आधुनिक जीवन की वस्तुस्थिति, मूल्यभावना, अभिव्यंजन-पद्धति पूर्व युग से नितांत भिन्न हैं और युग-जीवन की विसंगतियो, असगतियो, बिखरावो के (यानी यथार्थ के) सही और ईमानदार प्रकाशन के लिए विचक्षण, अनगढ़ और निक्षेपक उपमान उपयुक्त और संगत भी हैं तथा पाठकों की मिथ्या प्रतिबद्धताओं, भ्रात धारणाओं, गलत सस्कारो, रसिक मुद्राओं आदि को ध्वस्त करने के लिए सार्थक (रिलेवेंट) और उपयोगी भी। ये सारे मुद्दे पेचीदे हैं और शास्त्रियों के सामने दलीलो के लिए चुनौतियाँ जरूर हैं।

खंडित बिम्बो में दो विशेषताएँ दीखती हैं—१ उपमानों की नवीनता, अर्थात् उनका एकदम ताजा, अननुभूत-सा होना और भिन्न-भिन्न क्षेत्रों, विद्याशाखाओं, इन्द्रियबोधों, मानसिक स्तरों, प्रकृतियों आदि का दीखना, जिनके कारण वे अनुबंध-हीन-से मालूम पड़ते हैं, और २. उपमानों के प्रयोग मे त्वरा, अर्थात् एक के बाद दूसरे-तीसरे आदि का तेजी से निकलते हुए जमते जाना, गुँथना या टकराना और विस्फोट करना, परस्पर-विरोधी दीखना आदि; जिनकी वजह से वे परम्परित काव्यबोध की व्यवस्था मे सघटित नहीं प्रतीत होते। उपमानों की नवीनता की दृष्टि से वामन के 'कल्पित उपमान' आधुनिक खडित बिम्ब के ढंग के है। उसके उदाहरण मे उन्होंने कालिदास की निम्न पक्ति उद्धृत की है—

> अभी-अभी मूड़ी गई दाढी वाले मदिरा से मत्त हूण के चेहरे की स्पर्धा करने वाली नारंगी
> सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुक प्रस्पर्धिनारंगकम्। ८७

नारंगी की इस उपमा में जो उपमान लाया गया है, वह नवीन, और ताजा है; तात्कालिक है। उससे १. नारगी के रंग का दृश्यबिम्ब तो गोचर होता ही है, साथ ही २. रचयिता और तत्कालीन जनता की हूण-सम्बन्धी चित्तवृत्ति का, आलोचनात्मक दृष्टि का भी निर्देश मिलता है; फिर ३. उसमें अन्तर्लीन बिम्ब (संकेन इमेज) यह भी है कि जो व्यवहार नारंगी के साथ उचित है, वही हूण के लिये भी समीचीन है।

खंडित बिम्बों के उपमानों में काव्य-कथ्य और लोक-जीवन से इसी प्रकार के अन्तरंग सम्बन्ध दिखाई पड़ते हैं। रचयिता की आलोचनात्मक दृष्टि दोनो ओर पड़ती है। अनुबंध-हीनता के कारण जहाँ फाँकों-सी दरार मालूम पड़ती है, वह पाठक के लिए उद्भावना-क्षेत्र है (देखें पृष्ठ-५२२-२४ तथा ५३४-३६)। परन्तु कुछ उपमानों के सम्बन्ध में यह सवाल तो होगा, कि उनमे लोकपरिचितता और संभावना कितनी है। अर्थात् 'टाइपराइटर', 'इंजिन', 'साँप और सीढी के खेल', 'वीरता-चक्र' आदि की तरह के उपमान जो कुछ कवियों के द्वारा प्रयुक्त हुए हैं, व्यंजक कितने है, या जब अर्थ-हीन हो जायँगे, या इतिहास अथवा अजायबघर मे होंगे, तब उनका स्वारस्य क्या होगा? और यह भी कि तीखे, आवेशपूर्ण और त्वरित उपमानों के कारण कविता से जो साक्षात् क्रिया की उत्तेजना मिलती है, वही क्या काव्यगत क्रिया-भावना है? लड़ाई-झगडे की इन्द्रियोत्तेजक, आक्रामक भाषा और काव्यभाषा के बीच क्या फासला नहीं है? सीधी-सी बात यह कि अपनी अन्तर्दृष्टि पर ही भरोसा करने और काव्यगत औचित्य या समझदारी (लोक-प्रसिद्धि) का तिरस्कार या उपेक्षा करने से बिम्ब तीखे और विस्मयकारी तो हो सकते हैं, पर वे सवेद्यता और संवाहकत्व में सीमित भी होंगे। बीच मे ही चुक जाने या उपेक्षित हो जाने का खतरा उनके साथ बराबर बना रहता है।

खडित बिम्बो के विवेचन से इतना तो साफ मालूम होता है कि वे वास्तव यथार्थ का मूल्यांकन, अथवा उनकी तीखी आलोचना करते हैं, उन पर टिप्पणियाँ देते है और काव्य-रूढियों, मिथ्या निषेधो, भ्रात धारणाओ, विडम्बनाओं का विध्वस करते हैं, स्नायविक सक्षोभ की बाढ का अथवा जीवन में व्याप्त घोर ऊब, तनाव आदि कुण्ठाओं का निष्कासन, प्रकाशन आदि करते हैं और नवीन सार्वभौम मानवीय विचारों की सपुष्टि कर भौतिकता से आक्रान्त जीवन-जगत् पर चित्त की पुनः विजय स्थापित करना चाहते हैं। इस अंतिम प्रकार्य में उनके भी लक्ष्य पूर्ण काव्यबिम्ब की भाँति व्यवस्था, सुसगति, समावेशिता ही हैं और तब ऊपर बताए गए प्रकार्य संख्या ४, ५, ६, इनके भी प्रकार्य होते हैं।

काव्यबिम्ब: गुण, रीति और दोष

नमिसाधु की यह मान्यता कि रीति, गुण, अलंकार, रस आदि काव्य के समस्त सौन्दर्य 'गुण' ही हैं, यद्यपि अतिवादी है, तथापि उसमें इतना तो सत्य

है ही कि 'गुणशून्यं तु न काव्य किञ्चिदपि'—अभिनवगुप्त। सिसिल डे लिवीस बताते हैं कि काव्यबिम्बों मे ताजगी, तीव्रता और व्यंजकला के गुण आवश्यक हैं।[८८] इनकी प्रभावोत्पादकता और बढ जाती है जब ऐन्द्रियता के साथ बौद्धिक सूक्ष्मता, नवीनता के साथ कल्पना की मौलिक बारीकी भी रहे, यथा—सीता के 'कलश-पयोधर' की ऐन्द्रियिकता के निम्न पूत सूक्ष्मीकरण मे

अंकुर हितकर थे कलश-पयोधर पावन, जन-मातृ-गर्वमय कुशल वदन मनभावन
—गुप्त : साकेत

कभी उत्कट राग की प्रेरकता से भी बिम्ब प्रखर और व्यंजक होते हैं, यथा—उर्मिला की अपने आपको अवधि बना कर मिटाने और लक्ष्मण को लाने की उक्ति में। वहाँ प्रकरण के द्वारा तैयार चित्त को असंभव कल्पना भी संभाव्य और ऐन्द्रियिक स्थूलता मृदु लगने लगती हैं।

गुण : प्राचीन प्रकल्पना और प्रकार्य

काव्य से प्रभावित होकर उसके कारणों की पड़ताल लोग प्राचीन काल से करते आए है। मुनिगण आदिकाव्य को जब 'पाठ्ये गेये च मधुरम्' 'प्रत्यक्षमिवदर्शितम्', 'विचित्रार्थ पदम्' आदि कहते थे, तो वे उसके काव्यबिम्बो की मधुरता, प्रत्यक्षवत्ता, विचित्रताआदि का ही बखान करते थे, जो उसके गुण के सूचक हैं। बाणभट्ट के अनुसार नवीन अर्थ की उद्भावना, अग्राम्य जाति (स्वभाव)-वर्णन, अक्लिष्ट श्लेष, रस-स्फुटता, विकट (नृत्य करते-से) अक्षरबंध, आदि से सम्बन्धित गुणो का एकत्र होना सच्चे कवि की पहिचान है। उसी भाँति माघ के अनुसार ओज और प्रसाद और भवभूति की दृष्टि से अर्थ-गौरव और प्रौढि काव्य के महत्त्वपूर्ण गुण हैं। भरत मुनि ने नाट्य के काव्यबंध के लिए माधुर्य, लालित्य, औदार्य, सुखार्थता आदि को गुण बताकर यह निर्दिष्ट किया था कि इनसे नाट्य खिले कमल और राजहंस से सुशोभित पद्म-सरोवर की भाँति प्रतीत होता है। स्पष्टतः यह कथन वहाँ के बिम्बो की ही रंगीनी, चित्रात्मकता और शोभाशालिता के गुणों के सम्बन्ध में है। उन्होने नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से काव्यबध के दस गुणो का अलग से भी उल्लेख किया है, जो परवर्त्ती काल में भी अर्थ, क्रम आदि की कुछ भिन्नताओ के साथ स्वीकृत रहे हैं। मुनि के अनुसार अर्थ और (नाट्यगत) प्रकार्य-सहित वे है—

१. श्लेष (अर्थ और पद का परस्परानुसंबंध), २. प्रसाद (सुख-शब्दार्थ-संयोग) ३ समता (व्यर्थ और दुर्बोध शब्दाभावत्व; एकरूपता), ४. समाधि (उपमादि द्वारा अर्थ-संयोगत्व),

५. माधुर्य (अनुद्रेजक ललित शब्द-प्रयोगत्व), ६. ओज (उदात्तता, शब्दार्थ-सम्पत्तिपूर्णता), ७. पद-सौकुमार्य (सुखद संधि-प्रयोगत्व), ८. अर्थव्यक्ति (झटिति प्रतीतिकारिता), ९. उदारता (उदात्तता, अनेकार्थ सौष्ठवयुक्तता, दिव्य भावपूर्णता) और १०. कान्ति (मन और श्रोत्र का आह्लादकत्व)।

भामह के द्वारा निर्दिष्ट गुण है —

काव्यालंकार द्वितीय परिच्छेद में — माधुर्य, प्रसाद, ओज। आगे चल कर बताए गए गुण है—अलंकारवत्ता, अग्राम्यत्व, पुष्टार्थत्व, (अर्थ-सौन्दर्य युक्तता), न्याय्यत्व (लोकशास्त्रानुकूलत्व), अनाकुलत्व अथवा प्रसन्नता, निगूढता और स्पष्टता। ये सब वक्रोक्तियुक्त होते है, जिनसे काव्यार्थ स्फुट, प्रत्यक्षवत् प्रतीत होता है, जो भाविकत्व गुण है (द्रष्टव्य पृष्ठ—१५९ और १६३)।

दण्डी के अनुसार उपर्युक्त गुण (क्रमादि के परिवर्त्तन से) वैदर्भी (उत्तम) काव्य की विशेषता हैं, और उनमें से कुछ के विपर्यय प्रायः गौड़ीय मार्ग की। वामन ने भी उन्हीं दस गुणों को शब्दगत और अर्थगत दो प्रकार का (अतः बीस मानकर) स्वीकार तो किया, पर उनके क्रम, स्वरूप और महत्त्व अपनी इस मान्यता के अनुरूप रखे कि रीति काव्य की आत्मा है; रीति विशिष्ट पद-रचना है और यह विशिष्टता गुणात्मा है।\

दण्डी के अनुसार 'गुण-विपर्यय' (अतः गौड़ीय मार्ग के गुण) ये हैं —
१ श्लेष x शैथिल्य, २ प्रसाद x व्युत्पन्नता, ३. समता x वैषम्य, ४. क—माधुर्य (रसावह) x अरसावह उल्वण वर्णानुप्रास और बंधपारुष्य तथा ख—(अग्राम्यता) x ग्राम्यता, ५ सौकुमार्य x निष्ठुर अथवा उर्जित दीप्तशब्दत्व, ६ अर्थव्यक्ति x नेयार्थत्व, ७. ओज (हृद, अनाकुल) x अहृद, आकुल ओज (गद्यता) और ८. कान्ति x अत्युक्तिपूर्णता।

वामन के अनुसार शब्दगत गुण हैं— १. ओज (गाढबंधत्व), २, प्रसाद (बंधशैथिल्य) ३. श्लेष (शब्दनिष्ठमसृणता), ४. समता (रचना-शैली की एकरूपता) ५ समाधि (आरोहावरोह), ६. माधुर्य (पदों की पृथकता), ७. सौकुमार्य (अकठोरता), ८. उदारता (वर्णों की नृत्यता, लीलायमानत्व), ९. अर्थव्यक्ति (झटिति प्रतीतिकारिता), और १०. कान्ति (औज्ज्वल्य)। द्रष्टव्य है कि 'समाधि' को 'लय' या 'छन्द' के रूप में माना गया है।

अर्थगत विशेषताएँ उनकी क्रमशः है—१. अर्थ प्रौढि, (पाँच प्रकार — पद में वाक्यत्व, वाक्य में पदाभिधा, व्यास, समास, साभिप्रायत्व ही बताए गए हैं, जो गलत है) २. अर्थवैमल्य, ३. अनुल्वणत्व ४. अवैषम्य, ५. अर्थ की एकाग्रता जिसके दो प्रकार बताए गए हैं अयोनि और छायायोनि एवं पुनः दो भेद भी—व्यक्त और सूक्ष्म तथा फिर सूक्ष्म के दो प्रभेद—भव्य और वासनीय ६, उक्ति-वैचित्र्य, ७. अपारुष्य, ८. अग्राम्यता, ९. वस्तु स्वभाव-स्फुटता और १०. दीप्तरसत्व।

वामन के गुणानुक्रम और उनके प्रकारों से काव्यबिम्ब के रचना-विधान और अनुभव की प्रक्रिया का बड़ा साफ रूप सामने आता है।

'कवि की प्रौढोक्ति मे अभिप्राय होता है (ओजस्); शब्द-रचना विवक्षित अर्थ से समुचित होती है, (प्रसाद); वर्णित घटना में क्रम, वैदग्ध्य, अनुल्वणत्व और उपपत्ति होती है (श्लेष), उसमें विषमता अथवा क्रमभेद नहीं रहता (समता);

कवि के काव्य मे अर्थ नवीन हो सकता है (अयोनि), अथवा अन्यप्रेरित (छायायोनि), व्यक्त हो सकता है, अथवा सूक्ष्म या प्रतीयमान, सूक्ष्म भी भाव्य या अगूढ हो सकता है अथवा वासनीय या गूढ (समाधि), कवि इस अर्थ को उक्ति-वैचित्र्य से (माधुर्य) परुषता तथा ग्राम्यता को वर्जित करते हुए (उदारता) हमे यथार्थ-रूप में स्फुटतया प्रतीत कराता है (अर्थव्यक्ति); ऐसे ही काव्य मे रस दीप्त होता है (कान्ति)। इस दीप्तरसता के कारण काव्य में प्रतिक्षण नवीनता (उज्ज्वलता) आती है। रसके अभाव में काव्य पुराने चित्र के समान उदास हो जाता है; रस-हीनता से कवि-वाणी बन्ध्या होती है। जिस काव्य का अर्थ उपर्युक्त गुणों से रहित हो वह व्यर्थ है। वह विचार के योग्य नहीं है।[८९]

'पुराणचित्रस्थानीय काव्य' पर स्टीफेन स्पेंडर का भी कथन है—

काव्यबिम्ब के गंभीर प्रयोजन और अर्थ के प्रति कवि को सचेत होना ही चाहिए। उसके बिम्ब सच्चे होने चाहिए। वे दीवाल पर टाँगे जाने के लिए बने, जीवन के स्थिर और जड चित्र नही हैं। वे मानव जाति के विकासात्मक इतिहास के परिदर्शन हैं, जीवन और मृत्यु के साक्षात् स्वप्न हैं।[९०]

इस गंभीर उत्तरदायित्व के कारण एजरा पाउड ने बताया है कि जीवन भर में एक बिम्ब प्रस्तुत करना विशाल ग्रंथों की रचना से कहीं उत्तम है।[९१]

भोज की गुण-प्रकल्पना अधिक युक्तिसंगत और विश्लेपणात्मक है, क्योंकि उन्होने दण्डी और वामन के द्वारा निर्दिष्ट गुणों की एकाधिक विशेषताओं को अलग-अलग कर उन्हें नए नाम दिए और उनके द्वारा गिनाए गए दस गुण स्वीकार कर चौदह अन्यो की प्रकल्पना भी की। उनके २४ + २४ भेदो के साथ उन्होने दोषाभाव-रूप २४ वैशेषिक गुण भी माने जिसमे गुणों की सख्या ७२ हो गई है। दोषाभाव-रूप गुण को न तो '+' और न '—', अतः '०' ही माना जायगा। निर्दोषता प्रकर्षाधायक तत्त्व जो नही है। फिर उन्होंने 'अरीतिमत वाक्यदोष' के अन्तर्गत नौ पूर्व-स्वीकृत गुणों के विपर्यय का उल्लेख किया है, जो 'औचित्य' के योग मे गुणवत् होते हैं। भोज ने प्रबध के गुणों को भी बताया है। इस प्रकार भोज के अनुसार गुण हैं—

दण्डी के स्वीकृत गुण—प्रसाद, समता, अर्थव्यक्ति, ओज, समाधि और सुकुमारता, वामन के स्वीकृत गुण—श्लेष, माधुर्य, कांति, औदार्य, स्वप्रकल्पितगुण—उदात्तता, (उत्कर्षाधायक) और्जित्य (वर्णनूत्नता), प्रेयस् (चाटूक्ति), सुशब्दता, सौक्ष्म्य (अन्तर्लीन विशिष्टता), गाभीर्य (ध्वनिमत्ता), विस्तार, सक्षेप, समितत्व, भाविकत्व (तरंगमयता), गति, उक्ति, रीति (प्रक्रम-निर्वाहकत्व) और प्रौढि (शब्द-पाक); इन चौबीसों के शब्दगत, अर्थगत भेद भी।

गुण-विपर्ययगत गुण (अरीतिमत वाक्यदोष)—

शब्दगत—श्लेष × शैथिल्य, समता × वैषम्य, सौकुमार्य × कठोरत्व,
अर्थगत—प्रसाद × अप्रसन्नता, अर्थव्यक्ति × नेयार्थत्व, कान्ति × ग्राम्यता,
शब्दार्थगत—ओज × असमस्तत्व, माधुर्य × अनिर्व्यूढत्व, औदार्य × निरलंकारत्व।

प्रबंध गुण—

शब्दगुण—यथासंभव (अ) संक्षिप्त ग्रंथत्व, अविषमबंधत्व, अनतिविस्तीर्ण सर्गादित्व, श्लिष्ट सधित्व,

अर्थगुण—चतुर्वर्गफलायत्त्व, चतुरोदात्तनायकत्व, रसभावनिरन्तरता, विधिनिषेध-विधायकत्व, सुसूत्रविधानकत्व,

उभयगुण—रसानुरूपसंदर्भत्व, पात्रानुरूपभाषत्व, अर्थानुरूपछन्दस्त्व, लोकरंजकत्व, सदलंकारवाक्यत्व।

कुन्तक की गुण-विवेचना अपने ढग की है। उनके अपने सिद्धान्त के अनुसार, जिसमें काव्य-सौन्दर्य 'वक्रता'-रूप ही मान्य है, गुणो को 'वक्रता' के भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक प्रभाव के प्रकार-विशेष स्वीकार किया जायगा। उनका गुण-विवेचन सारांशतः इस प्रकार है—

बंध की परिभाषा में शब्दार्थ-सम्बन्ध और व्यापार के परिपोषक और पुष्टातिशायी दो गुण—१. सौभाग्य (चेतन चमत्कार, प्रतिभा-प्रेरित सौन्दर्य के लक्ष्य की पूर्ति) और २. लावण्य, (शब्दार्थ का निजी सन्निवेश-सौन्दर्य)। काव्यमार्ग के दो साधारण गुण है—१. सौभाग्य (उपरिवत्) और २. औचित्य, जो वाक्यादि का 'जीवित' है। पुनः तीन काव्यमार्गों के असाधारण या विशेष गुण हैं—१. माधुर्य, २. प्रसाद, ३ लावण्य और ४. आभिजात्य। ऐन्द्रिय प्रभावशालिता की तीन विच्छित्तियों के नाम ही है—माधुर्य, लावण्य और अभिजात्य, क्योंकि उनके अर्थ है क्रमशः मनोहारी अर्थ के लिए विन्यास-वैचित्र्य, श्रुतिपेशलता और मसृण बंधविन्यास-विशिष्टता। औचित्य निश्चय ही महत्त्वपूर्ण गुण है, जिसका आख्यान आनन्दवर्धन और क्षेमेन्द्र ने किया है।

मम्मट ने पूर्वकाल में भामह के द्वारा बताए गए तीन गुण ही स्वीकार किए—प्रसाद, माधुर्य और ओज। अन्यों को या तो उन्होने दोष-रूप (समता), या दोषाभाव-रूप (सौकुमार्य; कांति) माना अथवा तीनो में गतार्थ किया। परन्तु काव्य के प्रभाव-वैविध्य के विश्लेषण और सम्यक् परिभाषा के लिए तीन गुण या तो अपर्याप्त हैं, या 'व्याप्ति' दोष से ग्रस्त। 'माधुर्य' शृंगार में मधुर हो, पर करुण मे 'आर्द्र' और शांत में 'दीप्तद्रुति' रूप होता है; 'ओज' भयानक में मग्नता-रूप, वीभत्स में संकोच (क्षोभ)-रूप और रौद्र मे दीप्ति-रूप प्रतीत होता है। गुणत्रय की अपर्याप्तता पर डा० राघवन के विचार युक्तियुक्त हैं कि गुणों के दो वर्ग स्वीकार करने चाहिए—१. सामान्य और २. विशेष।[६१] परन्तु पहले यह जान लिया जाय कि 'गुण' और उनके प्रकार्य वास्तव मे क्या हैं।

काव्यबिम्ब के गुणों के प्रकार्य

प्राचीन शास्त्रकारों में दण्डी ने गुण को शब्दार्थ से, वामनादि ने विशिष्ट पद-रचना (रीति) से, उद्भटादि ने शब्द-संघटना से संबंधित माना

था। आनन्दवर्धन ने उसे रसधर्म सिद्ध किया और चित्तवृत्तियों से संबधित बताया। पर पंडितराज ने रस-रूप निर्गुण आत्मा मे गुण की सत्ता अमान्य घोषित कर गुण का सम्बन्ध प्रयोजकता के व्यापारवश शब्दार्थ, रचना और रस तीनों से सिद्ध किया। आनन्दवर्धन ने एक और महत्त्वपूर्ण बात यह बताई कि गुण का नियामक रस तो है, पर एक दूसरा नियामक भी है— १. वक्ता २. वाच्य ३. विषयादि और ४. रस का सदर्भगत औचित्य। रसौचित्य भी प्रकृत्यौचित्य, अर्थात् पात्र और सदर्भ मे अवच्छिन्न माना जायगा। भीम का 'शृंगार' और उसका गुण 'माधुर्य' उसकी प्रकृति के औद्धत्य के कारण अर्जुन की ललित प्रकृति के शृंगार और माधुर्य से प्रकृत्या भिन्न होंगे।[६३] 'औचित्य' को परवर्ती काल में क्षेमेन्द्र ने 'काव्य जीवितम्' सिद्ध कर उसके अनेक प्रकार बताए और शब्दौचित्य, अर्थौचित्य, रसौचित्य के तीन व्यापक गुण शब्दवैमल्य, अर्थवैमल्य, रसवैल्मय माने। इनसे यह तो मालूम हुआ कि गुण के नियामक रस और औचित्य हैं और उसका सबध शब्दार्थ, रचना और रस तीनों मे है। पर उसकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया और प्रकार्य क्या है? इसके उत्तर मे डॉ० नगेन्द्र कहते है—

> 'गुण भी मनःस्थिति है, जिसमें कहीं चित्तवृत्तियाँ द्रवित (माधुर्य गुण से) हो जाती है, कही दीप्त (ओज से), और कही परिव्याप्त (प्रसाद)।··· विशेष भावों में और विशेष शब्दों में भी चित्तवृत्तियों को द्रवित अथवा दीप्त करने की शक्ति होती है। उदाहरण के लिए मधुर शब्दो को सुनकर और प्रेम, करुणा आदि भावों को ग्रहण कर हमारे चित्त में एक प्रकार का विकार पैदा हो जाता है, जिसे तरलता के कारण द्रुति कहते हैं। और महाप्राण वर्णों को सुनकर एवं वीर, रौद्र आदि भावो को ग्रहण कर हमारे चित्त में दूसरे प्रकार का विकार हो जाता है, जिसे विस्तार के कारण दीप्ति कहते हैं। परन्तु हम विकारों को पूर्णतः आह्लाद-रूप नही कह सकते। यहाँ काव्य (वस्तु) भावकत्व की स्थिति को पार कर भोजकत्व की ओर बढ़ रहा है। अभी उसमें वस्तु-तत्त्व निःशेष नही हुआ और स्पष्ट शब्दों में हमारी चित्तवृत्तियाँ उत्तेजित होकर अन्विति की ओर बढ़ रही हैं। अभी इसमें पूर्ण अन्विति की स्थापना नही हुई, क्योंकि तब तो रस का परिपाक हो जाता।··· अतएव गुण को अनिवार्यतः आह्लाद-रूप न मानकर केवल चित्त की एक दशा ही माना जायगा, तो उसे सरलता से रसपरिपाक की प्रक्रिया में रसदशा से ठीक पहली स्थिति माना जा सकता है, जहाँ हमारी चित्तवृत्तियाँ पिघल कर, दीप्त हो कर, या परिव्याप्त होकर अन्विति के लिए तैयार हो जाती हैं।[६४]

पर, सवाल है कि वस्तुतत्व नि:शेष होता है क्या ? वह अन्तर्लीन जरूर होता है, पर उसे नि:शेष कैसे माना जायगा ? फिर, गुण रसदशा की ठीक पहली स्थिति तो है, पर यह स्थिति शुरू कहाँ से होती है, और रसदशा में उसका क्या हो जाता है ? और अन्तिम वाक्य में 'परिव्याप्त' के पहले 'या' क्यो ? क्योंकि, 'प्रसाद' का प्रकार्य (व्याप्ति) दोनों में अनिवार्य माना ही गया है। बात ऐसी मालूम होती है कि काव्य-ग्रहण में गृहीता के मनोदैहिक सस्थान मे, यानी उसकी इन्द्रियो मे ही नही, बल्कि पुट्ठों, मांसपेशियो, शरीर के बाह्य अवयवों, श्वसन, रसन, रक्त-प्रसारादि से संबधित आन्तरिक अवयवों-ग्रन्थियो आदि में भी कविता के नाद, स्वरता, लहजा, काकु, शब्दादि की इकाइयो और अर्थों आदि के ग्रहण से लेकर रसपरिपाक तक की यात्रा मे सूक्ष्म-जटिल क्रिया-प्रतिक्रिया घटित होती चलती है और उस क्रिया—प्रतिक्रिया का शीर्ष-बिन्दु 'रसपरिपाक' है। इस क्रिया-प्रतिक्रिया-स्वरूप की प्रकृति या मुख्य लक्षण का नाम मनोदैहिक सस्थान की ओर से 'गुण' है। अर्थात् सकल मनोदैहिक सस्थान में काव्यबंध और काव्यानुभव से जो तारल्य, आर्द्रता, मधुरता आती है, उसका नाम 'माधुर्य' है, और जो क्षोभ, संकोच, काठिन्य, दीप्तता आती है, उसका नाम 'ओज' है, और इसी प्रकार अन्यों के विविध नाम हैं। यह प्रक्रिया व्याप्त होती हुई अन्ततः चित्तवृत्ति को तद्रूप बनाती और फिर रसमग्न करती है। विभाव-साक्षात्कारात्मक रसदशाओं मे भी यह अन्त-प्रवाही रहती ही है, और रस-प्रतीति को विशिष्ट रंग, प्रकृति आदि देती है। तभी एक ही रस की कविताएँ भिन्न-भिन्न गुणों की प्रतीत होती हैं। महारस की स्थिति में वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म धारा में अन्तर्लीन-सी होती है। निष्कर्ष यह, कि गुण काव्यानुभव की विशिष्ट मनोदैहिक क्रिया-प्रतिक्रिया की प्रकृति है, जो अन्ततः आस्वाद की चित्तवृत्ति से भी सम्बद्ध है और काव्य के शब्द, अर्थ और उनकी सघटना या रीति से भी। तब प्रश्न है—रीति से कैसे ?

गुण : रीति और शैली

नमिसाधु के अनुसार 'रीति' भंगिभणिति, विच्छित्ति आदि पर्याय हैं और रीति है शब्दाश्रय गुण। वामन ने भी माना है कि 'रीति' विशिष्टपदरचना है और काव्य की विशिष्टपदरचना की विशिष्टता गुणात्मक होती है। अर्थात् कुछ विद्वान् गुण को शब्द, शब्द-क्रम-विन्यास अथवा उनकी संघटना यानी

'रीति' से ही सम्बन्धित मानते है। पडितराज भी, जैसा ऊपर बताया गया है, गुण को शब्दार्थ, रचना और रस तीनो से सबंधित मानते हैं। क्यो? डॉ० नगेन्द्र का कथन है—

> वर्ण तथा शब्द मन की स्थितियो के प्रतीक हैं–वे स्वयं मन की स्थितियाँ तो नहीं हैं, परन्तु विशेष मनोदशाओं के संस्कार उन पर आरूढ हैं। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि कुछ वर्ण अथवा शब्द चित्त की द्रुति के अनुकूल पड़ें और कुछ दीप्ति के और कुछ परिव्याप्ति के। इस प्रकार ये वर्ण और शब्द द्रुति-रूप माधुर्य के, दीप्ति-रूप ओज के और परिव्याप्ति-रूप प्रसाद के अनुकूल या प्रतिकूल पड़ते हैं। ··रीति भी रस का उपकार करती हुई अपनी सार्थकता सिद्ध करती है।[११]

सारांश यह कि गुण 'रीति' और 'रस' से, अतः रीति-रस के उपादान शब्दादि से भी, यानी तीनों से सम्बन्धित है। पाश्चात्य काव्यशास्त्रियो ने भी काव्यगुणों का विवेचन 'स्टाइल' अथवा शैली के अतर्गत किया है। स्वीफ्ट 'शैली' की परिभाषा 'उचित स्थान पर समर्थ शब्द-प्रयोग' कह कर और कॉलरिज कविता को 'श्रेष्ठ शब्दों का श्रेष्ठ क्रम-निबधन' बता कर यह तो द्योतित करते ही हैं कि 'शैली' का काव्य मे अन्तरग महत्त्व है, पर वे वामन की गुणात्मा-रूप रीति-विषयक और कुन्तक के परस्परस्पर्धी शोभा-शालिता-सम्बन्धी कथन तक पहुँच नही पाते। रीति के काव्यगत महत्त्वादि पर विचार पिछले पृष्ठ-४३९-४४१ पर प्रकट किए जा चुके हैं। पाश्चात्य विचारकों का अभिधान 'स्टाइल' और उसका हिन्दी रूपान्तर (शील = स्वभाव से बना शब्द) 'शैली' व्यक्ति-तत्त्व से युक्त अर्थ रखने के कारण 'रीति' के पर्याय नहीं हैं, प्रायः समानार्थी है। फिर भी पाश्चात्य विचारकों का भी काव्य-गुण की प्रकल्पना शैली के तात्त्विक और मनोवैज्ञानिक पक्षो पर प्रायः उसी प्रकार आधारित है, जैसा भारतीयो का विवेचन।

यह कम रोचक बात नहीं है कि भारतीय तीन प्रधान प्राचीन रीतियों—वैदर्भी, गौडीय, पाचाली, (वामन आदि) अथवा सुकुमार, विचित्र, मध्यम (कुंतक); उपनागरिका, परुषा, कोमला (मम्मट) के समान उनके यहाँ के प्राचीन शास्त्रकारों ने भी प्रसन्न, उदात्त, मिश्र, (अरस्तू); सज्जित, कठिनोदात्त और मिश्र (डायोनिसियस); एशियाटिक, ऐटिक, र्होडियन (क्विंटिलियन) आदि भिन्न-भिन्न नामों से तीन रीतियाँ ही प्रधान मानीं। संभवतः इस कारण कि 'द्रवणशील मधुर स्वभाव और दीप्तिमय ओजस्वी स्वभाव ···तथा इन दोनों का संतुलन सामान्य या स्वस्थ-प्रसन्न स्वभाव' (डॉ० नगेन्द्र) इन तीन स्वभाव-वृत्तियों के प्रधान घटक के अनुरूप तीन रीतियाँ या शैलियाँ प्राचीनकाल से प्रायः सभी देशों में स्वतः प्रचलित रहीं।

गुणों के दो वर्ग, सामान्य और विशेष, होने चाहिए, इसका संकेत ऊपर किया गया है। उनकी प्रक्रिया-प्रकार्य-विवेचना से यह पुष्ट होता है। कहीं वे व्यापक हैं, चित्तवृत्ति को आच्छन्न करते हैं, कहीं विशेष हैं, शरीरांगों पर संवेदन-भर उद्दीप्त करते हैं। कुंतक ने तो साफ ही दो वर्ग माने भी हैं। अन्यों की विवेचना से भी ऐसी धारणा झलकती जरूर है। पाश्चात्य शास्त्रकारों ने भी गुण-विवेचन ऐसा ही किया है। अरस्तू सामान्य गुणों में स्पष्टता और औचित्य (पर्सपिक्विटि, प्रोप्राइटी) का महत्त्व बताकर विशिष्ट शैलियों के लिए विशेष-विशेष गुण, यथा—अर्थवैमल्य, वक्रता, सामासिकता, अलंकारवत्ता आदि की अवस्थिति का निर्देश करते हैं। सिसेरो, होरेस, डायोनिसिस, डिमेट्रियस, क्विटिलियन आदि ने भी पहले औचित्य और स्पष्टता (भिन्न-भिन्न नामों से) को महत्त्वपूर्ण माना है, तब भिन्न शैलियों के विशेष गुणों का कथन किया है—यथा कठिनोदात्त शैली के लिए शब्दों की स्तंभवत् दृढ़ता, उदात्त लयों का विस्तार, सामासिकता, तज्जन्य गरिमा, भव्यता, उज्ज्वलता और आभिजात्य; सज्जित शैली के लिए मसृणता, सौकुमार्य, सरलता, सहज स्वच्छ प्रवाहधर्मिता, छायातप की घुलावट, किशोरी के मुख की-सी कोमलता, संगीत की माधुरी, रम्य अलंकारों का कल्पना-विलास, और मिश्र शैली के लिए गरिमा और मसृणता के बीच संतुलन आदि।

आधुनिक कवियों और विचारकों ने काव्य-दर्शन, और फलस्वरूप काव्यगुण-विवेचन पर विशेषीकृत दृष्टि डाली है, जिससे काव्यगुण की दो कोटियाँ मानने की धारणा को बल मिलता है। मिल्टन बताते हैं कि कविता को सरल, ऐन्द्रिय और आवेगपूर्ण होना चाहिए। सरलता जटिलता के तनावों में सुसंगत और अन्वित संतुलन मानी जाती है। ऐसी सरलता एक ओर हो और ऐन्द्रियता और आवेगपूर्णता दूसरी ओर—ये दो ध्रुव हैं। वर्ड्सवर्थ कविता में आदिम और अकृत्रिम सहजता, लोकसम्पृक्ति और गद्य की सरलता को महत्त्व देते थे, जब कि उनके मित्र-आलोचक कॉलरिज उनका प्रतिवाद कर तीव्र भावनामयता, वैचारिक गांभीर्य, व्यंजकता, मर्यादिता और अन्विति को गुण सिद्ध करते थे। वर्ड्सवर्थ के अनुसार 'प्रशांत चिंतन' व्यवस्था लाता है, कॉलरिज के अनुसार व्यवस्था लाने का काम 'भावना' करती है। आधुनिक कविता में दोनों गुण मिलते हैं— भाव-प्रेरित विचार भी, विचार-प्रसूत भाव भी, मुक्तिबोध के शब्दों में कहा जाय 'संवेदनात्मक ज्ञान' भी और 'ज्ञानात्मक संवेदन' भी। फिर गद्यात्मकता, अनगढ़पन और आदिमता को भी

गुण माना गया है, तो कलात्मक सौकुमार्य, संघटन और तात्कालिकता को भी।

काव्यगुण के सम्बन्ध मे पश्चिम देशों के विचारकों-कवियो ने बडी-बडी उपपत्तियाँ रखी हैं। एक ओर रस्किन की नीतिमत्ता, मैथ्यू आर्नल्ड की समाजनिष्ठता और बेलिन्स्की आदि की सामाजिक उपयुक्तता (रेलेवेंसी) और विकासमान राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति की यथार्थता अथवा निश्चयात्मक भौतिकवादिता के सिद्धान्त हैं, तो दूसरी ओर तॉल्सताय के धर्मप्रवण कारुण्यभाव की सक्रमणशीलता के। इनके दूसरे ध्रुव पर गॉतियर, ऑस्कर वाइल्ड, ब्रैडले आदि की कलाकाव्य की स्वायत्तता और जीवन-जगत् से निःसंगता की धारणाएँ है। विज्ञान और मनोविश्लेषण आदि विविध शास्त्रों की खोजों के बाद तो काव्य और काव्यगुण पर एक बार फिर से युगान्तरकारी विचार होने लगे है। अभिव्यजनावादियो, प्रतीकवादियो, बिम्बवादियो आदि ने नए काव्यगुणों की चर्चाएँ शुरू की। बॉदलेयर ने जादुई या मंत्रात्मक विशेषता को, मालार्मे ने शब्दादि में अर्थ-झकारो के स्पृश्य बिम्बवत् सघन जमाव को, वर्लेन ने सागीतिक अनुगूँज को, रैम्बो ने इन्द्रियबोध के अतिक्रमण और अतिचार को, येट्स ने मिथकीय चेतना के उन्मेष को काव्यगुण स्वीकार किया। इलियट, ईस्टमैन, कामू, टॉमस, और हिन्दी कवियों में माचवे, मुक्तिबोध, श्रीकान्त वर्मा आदि तनाव, विलक्षणता, वैधर्म्य-वैषम्य, धुरीहीनता, विकेन्द्रिता आदि को काव्यगुण मानते है। परन्तु इन असाधारण, विशेष गुणो के अतिरिक्त और इन सब को समाविष्ट कर लेने वाले सामान्य गुण—नियमन, संघटन, सतुलित नियोजन, औचित्य भी प्रायः सभी को स्वीकार है। रैन्सम के अनुसार काव्यगुण है—'स्ट्रक्चर', अर्थात् रूपात्मक संघटना और 'टेक्सचर' अर्थात् स्थानिक तत्त्व के बीच—विशिष्ट शब्द, लय, अर्थ, रूपक, बिम्ब, प्रतीक आदि के विधान की आवयविक इकाई के बीच—पग-पग पर उभरने वाले तनाव और फिर सतुलन की अवस्थिति, दूसरे शब्दो मे कुन्तक का 'साहित्य' (द्रष्टव्य पृष्ठ-४४०-४४४)। यहाँ भी तनाव विशेष गुण है, और सतुलन सामान्य।

इस कारण काव्यबिम्ब के गुणो को व्यापक या सामान्य और विशेष, इन दो वर्गों में मान लेने पर व्यापक गुण होगे—औचित्य, अन्विति, प्रवाह-धर्मिता, प्रत्यक्षवत्ता, व्यजकता और नादात्मक झकृति—रचनाविधान और

शब्द-प्रयोग से संबंधित तथा प्रसाद, ओज, माधुर्य, औदात्य (भोज और लाजाइनस) और औजित्य (भोज)—काव्यवस्तु और ,रस-भावादि से संबंधित गुण।

औचित्य और अन्विति के परिचय ऊपर दिए जा चुके हैं। प्रवाहधर्मिता को वामन 'समाधि' नाम से और भोज 'गति' नाम से स्वीकार करते है। आरोह-अवरोह-क्रम 'प्रसाद' और 'ओज' में ही नही कई विषम युग्मो के बीच यथा—समता—वैषम्य, प्रखरता—धूमिलता, ऐन्द्रियता—बौद्धिकता, गाढता—शैथिल्य, वक्रता—स्वाभाविकता, सपाट बयानी—तीखी चोट, सहजधर्मिता—उत्सवधर्मिता आदि में भी होता है। प्रत्यक्षवत्ता और व्यंजकता ही कुछ स्थूल होकर मूर्त्तता (जड़ता) और अमूर्त्तता कहलाती है। व्यंजकता को उर्वरता, संवाहकत्व, रागोद्बोधन-क्षमता, भावना का ज्योतिष्पुंज, औज्ज्वल्य, कांति, पारदर्शिता आदि नामों के द्वारा भी विशिष्ट किया जाता है। व्यजकता के तीन क्षेत्र हैं—१. अर्थगत, २. जीवनगत ३. आद्यचेतनागत। नादात्मक झंकृति भी वामन के द्वारा सौकुमार्य, श्लेष, समाधि, समता और उदारता गुणों तथा भोज के द्वारा सुकुमारता, औदार्य, भाविकत्व गुणों के अन्तर्गत प्रकारान्तर से स्वीकृत है। 'प्रसाद' गुण में समर्पकत्व, व्याप्ति, वैमल्य, सारल्य, स्पष्टता आदि की, 'ओज' में दीप्ति, गाढ़बंधत्व, व्युत्पन्नता, क्षोभ, प्रौढि आदि की; 'माधुर्य' में द्रुति, आर्द्रता, मधुरता, सौकुमार्य, ऋजुता आदि की, औदात्य में आभिजात्य, भव्यता, गरिमा, अर्थगौरव आदि की, औजित्य में उद्वेग, तनाव, आक्रोश आदि की विशेषताएँ सन्निविष्ट हैं।

विशेष गुण अनेक और कविता-कविता में भिन्न होंगे, पर उनके प्रधान-प्रकार निम्न माने जा सकते हैं—मसृणता (श्लक्ष्णता) समर्पकत्व (प्रसाद) संवादिता (एकस्वरता, समता), लालित्य (माधुर्य), सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, आनुगुणत्व, कांति, नव्रता, उदात्तता, दीप्ति (ओज); ऊर्जिता, औदार्य (औपम्य-रूपकत्व-प्रतीकत्व से संबंधित), सौक्ष्म्य, गांभीर्य, विस्तार, सम्मितत्व, विकटत्व या नृत्यता (भाविकत्व), प्रक्रमनिर्वाहिकत्व, तथा इनमें से कई के विपर्यय, यथा—शैथिल्य, क्षुब्धता, व्युत्पन्नता, ग्राम्यता, पारुष्य, निगूढता (आब्स्क्योरिटी), अत्युक्ति, सारल्य, आकुल ओज, गद्यता, दूरारूढ़ता, तीव्रता, वैषम्य आदि।

किन्तु काव्यबिम्ब के गुण दोषों की सापेक्षिकता में महत्त्व रखते हैं। तब दोष क्या हैं?

काव्यबिम्ब के दोष

कविता आस्वाद्य ही होती है, उसकी रचना का यही उद्देश्य भी है। उसका ग्रहण भी वैसा ही होना चाहिए। किन्तु उसकी रचना अथवा ग्रहण-आस्वादन मे विघ्नकारी तत्त्वों के कारण बिम्ब वांछित रूप मे उद्भूत नही होता, अथवा अनुचित या हेय प्रभाव डालता है। काव्यशास्त्रियों ने ऐसे विघ्नकारी समस्त तत्त्वों को 'दोष' माना है। भरतमुनि आदि ने 'दोषो' को गुण-विपर्यय माना था, पर अन्यो ने उनकी पृथक सत्ता स्वीकार की है। मम्मट ने तो अपने काव्य-लक्षणों में 'दोषरहितता' को और भोज ने भी 'दोषहान' को काव्य का प्रथम लक्षण माना है।

भरत और दण्डी ने दस, भामह ने लगभग बत्तीस (अत्यलंकारता, उपमादि के सात दोष, अपुष्टार्थता, शब्दाडंबरता, आकुलत्व, आदि को गिन लेने पर) और वामन ने पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ के वर्गों मे पाँच-पाँच, अर्थात् कुल बीस दोष बताए हैं, भोज ने सत्तावन। दोषों के वर्ग, उनके विविध प्रकार और संख्याएँ भी मम्मट के 'काव्य प्रकाश' में अधिक हैं। आश्चर्य है कि गुणो को तो इन्होने घटा कर तीन किया, पर दोषों को बढ़ाकर लगभग ८५ तक पहुँचा दिया।[६९]

काव्यबिम्ब मे अपकर्षक तत्त्व १. काव्यगत (कविकृत) भी हो सकते हैं, और २. आस्वादन-प्रक्रियागत (गृहीता-कल्पित) भी। पुनः दोनों प्रकार के दोष क—कला के भी हो सकते है और ख—मूल्य के भी। भारतीय काव्यशास्त्र मे परिगणित (i) रसदोष (ii) वाच्यार्थ दोष (iii) शब्दसंघटना-रूप प्रकरण, प्रबंध, रीति, वृत्तादि से सम्बन्धित, अर्थात् रचना के दोष (iv) शब्द-चयन और (v) वर्णयोजना, नाद-लयादि से सम्बन्धित दोष प्रधानतः काव्यगत, अतः कविकृत कलागत दोषरूप में विवेचित हुए है।

१. क—(i) रुद्रट, नमिसाधु आदि ने यह भी बताया है कि रसदोष महान् दोष है, अर्थदोष उससे निकृष्ट और पदादि-दोष निकृष्टतम हैं। मम्मट ने रसदोष के तेरह प्रकार बताए हैं; जिनमे से प्रतिकूल विभावग्रहण, प्रधान रस का विस्मरण, प्रकृति-विपर्यय आदि के कारण कविता का मूल्यबिम्ब भी दोषग्रस्त हो सकता है। किन्तु प्रधानता वैसे रसदोषो की है जिनका संबंध रस-निवेदन, और निर्वाह से अथवा रचना-विन्यास से है। दोषो के

परिहारादि के उपाय में भी कलापक्ष से ही संबंधित विचार प्रधान है। आधुनिक काल मे स्वशब्दवाच्यत्व, रस-विरोध आदि सर्वथा और सर्वत्र मान्य दोष नहीं रह गए हैं।[९७]

(ii) मम्मट ने खीचतान कर उदाहरण देते हुए, अर्थ के तेईस दोषो (iii) वाक्य के, जिनमे रचनागत भी दोष अन्तर्भुक्त हैं तैंतीस दोषो (iv) पद के सोलह दोषो का और (v) उनके ही अन्तर्गत नाद, लय, छन्द, यति आदि से सम्बन्धित कुछ दोषो का परिचय दिया है। उन्होने 'दशम उल्लास' मे अलंकार-दोषो का भी वर्णन तो किया है, पर उन्हें पद, वाक्यादि के दोषो मे गतार्थ कर दिया है। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' द्वितीय उद्योत २/१५, १६, १८, १६, में अलकार-प्रयोग के नियमादि से सबधित जो दोष बताए हैं, यथा—यमकादि अलकार का विप्रलभ मे एकरूप निबधन, पृथक् यत्न द्वारा व्यवहार, रस-हानिकर प्रयोग, अकाल ग्रहण-त्यागादि और अतिनिर्वहण—वे कलागत दोष है; अतः रस और रचना से सबधित हैं, पद और वाक्यगत दोष मे उनका अन्तर्भाव नही होना चाहिए। भोज ने प्रबध-दोषो की चर्चा 'अनौचित्य' के अन्तर्गत किया है।

भामह, वामन, भोज और फिर मम्मट आदि का यह निर्देश भी है कि अनेक दोष विशिष्ट अवसरों पर निर्दोष या गुणवत् हो जाते हैं। अतः गुण-दोष-प्रतीति सापेक्षिक है। सदिग्धत्व, नेयार्थत्व, सकीर्णता, गर्भितता, साकाक्षता आदि निगूढ़ता (आब्सक्योरिटि) के लिए कही-कही प्रकर्षक गुणावयव हैं; उसी भाँति पतत्प्रकर्ष, प्रसिद्धि विरुद्ध, ग्राम्य और गुणविपर्यय-रूप दण्डी के बताए गए कतिपय दोष आज गुणरूपता भी प्राप्त कर रहे हैं।

आधुनिक काल के विद्वान् काव्यबिम्ब के दोषो की पडताल में संस्कृति, काव्य-परम्परा और मानवीय चेतना का आधार लेकर कवि की वृत्ति, प्रवृत्ति, रीति, वादादि तक की जांच करते दिखाई पड़ते हैं, जो मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति है। शुक्ल जी ने अपने समय की कविता के सम्बन्ध मे निम्न दोषो का उल्लेख किया है तथा उनकी सिद्धान्ततः चर्चा भी की है—

द्विवेदीयुगीन कविता में गद्यवत्ता, इतिवृत्तात्मकता, प्रबंधत्व की कमी, परम्परा—प्रतिष्ठित पात्र के स्वरूप की विकृति (अनाड़ीपन), आदि;

छायावादी-रहस्यवादी कविता में काव्येतर वादग्रस्तता यथा—परोक्षवाद, रहस्यवाद आदि, पाश्चात्य वादों की नकल, यथा—अभिव्यंजनावाद, कलावाद, कल्पनावाद, प्रतीक-पद्धति, मूर्त्तिविधानवाद, रूपवाद आदि की,—बेलबूटोंवाली नक्काशी, प्रचुर अप्रस्तुत रूप-विधान, खेलवाड के रूप में लाए गए दूरारूढ़ उपमान, वैलक्षण्य-भरे प्रगीत मुक्तकों की भरमार, वेदना

की विवृत्ति, 'सूफियाना तर्ज', भावों की अस्फुटता, बिम्ब-बाहुल्य, शरीर-धर्मों की अशिष्ट असगत अभिव्यक्ति, शब्दाडबर, 'प्रस्वेद—गंधयुक्त चिपचिपाती और भिनभिनाती भाषा', शब्दों की रूढि, प्रायः अलापने की जरूरत वाले पद्य और रचना में अनन्विति आदि।[९८]

अन्य विद्वानो ने उनमें पाए जानेवाले दोषों, यथा–निषेध वृत्ति, पलायनवृत्ति, स्वपीडक-वृत्ति, अतिशय व्यक्तिवादिता, हवाईपन, स्वप्निल रहस्याच्छन्नता, अलंकृत संगीतमयता, भाववाचकत्व, क्रियाल्पता, यतिभ्रष्टता, विराम-चिह्नगत विविध दोषों का उल्लेख किया है।

इधर के विद्वानों ने मनोविज्ञान, नृतत्त्वशास्त्र, समाजशास्त्र, पाश्चात्य काव्यशास्त्र आदि के आलोक के सहारे काव्य को कुछ गहरे उतर कर परखना शुरू किया है; यथा—निम्न दो कविताओं में प्रयुक्त 'आत्मा' शब्द की पडताल में अशोक वाजपेयी की पैठ—

१. अरी ओ आत्मा री   कन्या भोली क्वाँरी
महाशून्य के साथ भाँवरे तेरी रची गई   —अज्ञेय' चक्रान्त शिला

२. पर तुम भी खूब हो   देखो तो —
प्रतिपल तुम्हारा ही नाम जपती हुई   लार टपकाती हुई आत्मा की कुतिया
राह का हर कुत्ता जिसे छेड़ता है, छेंकता   —मुक्तिबोध: एक अरूप शून्य के प्रति

अतर सिर्फ दृष्टियों का नही अज्ञेय की दृष्टि जाने हुए को एक परिचित बिम्ब की सहायता से 'सेलीब्रेट' भर करती है, जब कि मुक्तिबोध एक परिचित बिम्ब के सहारे आत्मा की तथाकथित गरिमा को ध्वस्त कर उसके बारे में कुछ विचलित करने वाला जाहिर करते हैं। अज्ञेय के बिम्ब में कोई तनाव नही है—जब कि मुक्तिबोध के बिम्ब में आत्मा की शाश्वत धारणा और उसके समकालीन सस्करण के बीच एक तनाव है, जो उनकी कविता को अधिक सम्पन्न, अधिक काव्यात्मक और अधिक प्रखर बनाता है।[९९]

अतएव प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता और युवा-कवियो की कविताओं के आकलन में विद्वानों ने आधुनिक व्यवहारवादी प्रयोजन और मनोविज्ञानवादी अन्तर्दृष्टि से काम लिया है। उन्होंने उनमें निम्न दोष पाए हैं—

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में |अराजकतावाद, मुक्त-आसंग-पद्धति, अवचेतन वृत्ति का आतिशय्य, अन्तर्मुखता, प्राकृतिकतावादिता, नग्नयथार्थवादिता, बाह्य राजनीतिकता, शिल्पीय अतिवादिता, शिल्पहीनता, व्यक्तिगत कुठाग्रस्तता (घुटन, संकीर्णता, एकरसता), विक्षोभ और अहंवादिता, अन्तर्मन की दुरूह और अर्धविक्षिप्त चेतनाओं की अभिव्यक्ति, विध्वंसकता आदि।

नई कविता और युवा-कविता में रचनाकार की वृत्ति के दोष—आत्मलिप्ति, दंभ या आत्मस्फीति, कहीं-कहीं द्रोह, पैगंबराना या शहीदाना अदाज, वीरत्वाभासी मिजाज, दकियानूसी; उत्सवधर्मिता ; आक्रामकता (साहसिकता, नग्नता, दुराग्रह) तथा इनके साथ ही बौद्धिकता, सहजता, निःसंगता, फक्कडाना बेफिक्री आदि—

रचना के दोष — अतिसामान्यीकरण, अविवेकीकरण, वास्तविकता का अतिसरलीकरण, प्राकृतिकीकरण, शहरातीकरण, तात्कालिकता, सांस्कृतिक असम्पन्नता, जीवन और

मानव की लघुता का चित्रण, यान्त्रिकता, अतिकेन्द्रिता और फिर कहीं अतिविकेन्द्रिता, नाटकीय तनाव का अभाव, अकाव्यात्मकीकरण आदि;

शब्द और शब्द-संघटना के दोष—अनगढ़पन (छन्द, भाषा, शब्द-विधानादि में भी और रचनात्मक इकाई के आदि-अंत-हीन स्वरूप-विन्यास में भी), फिकरेबाजी फटके, बेबाक ठेठपन, सपाटपन, अमूर्त्तता, गद्यता, अभिव्यंजन-रूढ़ि, कथन-रूढ़ि और प्रतिबद्ध ऐन्द्रियता, भावस्फीत शब्द-प्रयोग, फूहड़पन आदि।[१००]

पाश्चात्य काव्यशास्त्र काव्यालोचन में समाजशास्त्र, विज्ञान, मनोविज्ञान आदि का सहारा अपेक्षया अधिक लेता है। लौकिक पक्ष वहाँ दृष्टि के सामने बराबर रहता है। इसका आख्यान शास्त्रकारोंने कविता को 'सावयविक संघटन' मान कर किया है, जो जगत् की अन्वित व्यवस्था का प्रतिरूप है। अरस्तू ने भी जब प्लैटो के असत्य, उद्वेगकर, अनैतिक, अतः राष्ट्रहितार्थ नितान्त औचित्यहीन कला-काव्य को आपातत दूषित मानने के (पृष्ठ-१०६ पर उल्लिखित) सिद्धान्त का खंडन किया था तो 'अनुकरण' में पुनःकरण के साथ-साथ सर्जन और संभाव्य की शक्ति बताई थी, नव रचना के लिए दीप्ति बताई थी और सिद्ध किया था कि काव्य चैतन्य जीव की तरह पूर्ण और अखंड आवयविक संघटन है। अरस्तू के अनुसार सावयविक अन्विति और समग्र एकता के विघ्नकारी तत्त्व 'दोष' हैं। सीमित क्षेत्र का होने के कारण काव्य यदि विराट् और अनेक का ग्रहण करेगा तो दोषग्रस्त होगा ही। भाषा, छन्दोयोजनादि में भावों का आनुगुण्य न होगा तो वह अनगढ़ लगेगा ही। साराशत उन्होंने दोष के पाँच कारण बताए है—[१०१]

१. असभव अर्थात् ऐसा अनुकरण जो हो न सके, २. तर्क-विरुद्ध या बुद्धि को अग्राह्य, ३. नैतिक चोट, ४. अन्तर्विरोध और ५. कलात्मक साधुता। ये कारण अन्विति के विघातक हैं। होरेस ने भी असंभव बिम्ब-विधान को दोष माना है, क्योंकि तब कोई भी बिम्ब अपने आप में न तो सावयव होगा, न सार्थक। अरस्तू के अनुसार महत्त्व की दृष्टि से दोष के दो प्रकार हैं—१. सार को दूषित करने वाले, यथा—असमर्थतावश किया गया गलत अनुकरण और २. प्रासंगिक यानी छोटी-मोटी शिल्पीय त्रुटियाँ। यही भारतीय शास्त्रकारों की भी धारणा रही है।

लांजाइनस का दोष-दर्शन 'औदात्त्य' की महान् धारणा आदि के अपकर्षक तत्त्वों से सम्बन्धित है:[१०२] यथा—

तुच्छ धारणा, अनगढ़ परिष्कार, हीन, कर्कश, क्षुद्र विचार; दया, शोक, भय-जैसे दुर्बल आवेग, मिथ्या त्रासद-भावना, वागस्फीति, बालेयता (विद्याजड़ व्यक्ति की पांडित्यपूर्ण तुच्छता और निष्प्राण वाचालता), भावाडम्बर, क्षुद्र, हीन प्रसंग, संघटन का अभाव, विवेकहीन अलंकार-प्रयोग, संक्षिप्तता और अतिविस्तार, जड़ाव, अतिसुकुमारता, भाषा की खंडित, क्षुब्ध गति, कृत्रिमता, अतिलयमयता आदि काव्य की महान धारणा, उद्दाम आवेग, उदात्तभाषा शैली और गरिमामयी ऊर्जित रचनाविधान के अपकर्षक हो कर दोष है।

अन्य विचारकों, यथा—क्विंटिलियन, दांते, वर्ड्स्वर्थ आदि ने भी अपने-अपने ढंग से यही बताया है कि सामंजस्यपूर्ण अन्विति के विघातक तत्त्व दोष हैं। कॉलरिज के शब्दों में —

> प्रत्येक युग के चिन्तनशील समालोचक सभी देशों के इस अन्तिम निर्णय से सहमत रहे हैं कि न तो मन को अभिभूत कर लेने वाली पंक्तियों या श्लोकों की ऐसी शृंखला को सच्ची कविता की प्रशस्ति से मंडित किया जा सकता है जिनमें से प्रत्येक, पाठक का सारा ध्यान अपने आप में केन्द्रित करके उसे सन्दर्भ से विच्छिन्न कर दे और उसे सामंजस्यकारी अंग बनाने के बजाय पृथक् और स्वतः पूर्ण बना दे, और न किसी ऐसी निर्जीव रचना को जिसमें पाठक उसके घटक अवयवों की ओर आकृष्ट हुए बिना सीधा सामान्य निष्कर्ष ग्रहण कर ले। पाठक केवल, अथवा मुख्यतः, उत्सुकता के यान्त्रिक आवेग की प्रेरणा से या अन्तिम समाधान तक पहुँचने की उद्वेगमयी इच्छा से नहीं, बल्कि यात्रा (पाठ) के आकर्षण से जनित मन के सुख की लब्धि के लिए आगे बढ़े—तब बात है।[१०३]

दोष : अनौचित्य-रूप और उसका मनोविज्ञान

लिवीस और कूम्ब्स[१०४] ने काव्यबिम्ब के गुण-दोषों का अच्छा विवेचन किया है। उनके अनुसार काव्यबिम्ब में ऐन्द्रियता के साथ बौद्धिक सूक्ष्मता, कल्पना और मानवीय राग का संयोग नहीं होने पर बिम्ब में ताजगी की जगह परिचितता, सस्ती भावुकता, पिष्टपेषण, बासीपन, व्यक्तित्वहीनता, आदि के दोष विघात लाएँगे। पुनः मौलिकता का अर्थ व्यक्तिगत होना नहीं है; व्यक्तिगत बिम्ब तो प्रदर्शनपूर्ण और ग्राम्य होते हैं, ओछी चतुराई जाहिर करते हैं। मौलिकता नटबाजी भी नहीं है। उससे तो ध्यान कथ्य से विच्छिन्न हो कर शुक्ल जी के शब्दों में 'बाजीगर के तमाशे देखने में लग जायगा।' दूसरी ओर, तीव्रता अगर प्रखरता, बेधकता, पैनेपन में ही बँध जाय, तो बिम्ब जड़ हो जायँगे। तीखी बेधकता से सूझ और साहसिकता का अंदाज लग तो सकता है, पर काव्यबिम्ब का यही उद्देश्य तो होता नहीं। यथा—निम्न पंक्तियों में १- व्यक्तिगत प्रदर्शनपूर्ण २. चतुर नटबाजी के बिम्ब और ३. प्रखर, वेधक बिम्ब अपने उद्देश्य से च्युत हैं—

१. धारा यह मरमैड-सी समुद्री रेत का सीमात, सिलवर सिंक-सा, फैला, उभरा भरा तन
कसी नोची स्नान स्केन्टी, सूर्य ऊपर खिला, जिसके बदन के रंग जैसी धूप का रस ले
रही लेटी धरा
—गिरिजा कुमार माथुर : धूपके धान

२. गायें मैली सफेद काली भूरी, पत्थर लुढ़के पड़े
पेड़ स्थिर नीरव दो पहाड़ियाँ धूम विनिर्मित पावन —शमशेर
३. उस दूर क्षितिज की छाती पर छाले-सा सहसा एक सितारा फूटा।
—भारती 'दूसरा सप्तक

यह तुम्हारा छलछलाता प्रखर निर्मल प्यार छिछली नदी-सा—विजयदेव ना० साही,
—तीo सप्तक

फिर बिम्बों को ढीला-ढाला, लचपच अथवा गड्डमड्ड बहाव भी नहीं होना चाहिए, जैसा कि 'शेली' के 'स्काइ लार्क' या 'पंत' के 'बादल' आदि में है। इनसे कथ्य धुँधले होते हैं। संगीत या भाषा की रूमानियत में उड़ चलने वाले एक उम्र के पाठकों पर उनका जादू चल तो सकेगा, पर कुछ ही समय तक। ऐसे बिम्बों में ऊर्जाधिक्य होता है, आवेश रहता है। पॉल व्हैलेरी का निर्देश है कि 'आवेश कलाकार का धर्म नहीं है।' उससे कविता की गति रुक जाती है। आध्यात्मिक-धार्मिक कविता में वे मूर्तिपूजा के प्रतिरूप-जैसे होते है, और उनकी भी स्वरता स्वस्थ, वैयक्तिक चिंतन को निरस्त ही करती है। यही उनका प्रयोजन भी होता है, जो उचित है। पर कविता के औचित्य का आयाम ही दूसरा है। वह प्रभु अथवा सुहृद-सम्मत उपदेश जो नहीं है। अतः कविता में चिंतन रुद्ध नहीं होता, भावमय और अन्तःप्रवाही हो जाता है—गहरे उतर कर अधिक व्यापक और गंभीर सत्य का साक्षात्कार कराता है। इसलिए कवि में अनुपात, संगत संघटन और आनुगुणत्व का ज्ञान होना ही चाहिए। इस सम्बन्ध में एलिजाबेथ होम्स, नीत्शे और जी० एम० ट्रेवेलियन के निम्न कथन युक्तियुक्त हैं—

होम्स—अनुपात का ज्ञान ही बिम्ब-विधान के महत्त्व का अनिवार्य लक्षण है, वह जब उचित संकल्पना को रूप देता है, तब महान् है, अन्यथा बौने के ऊपर दानव का चोगा।[१०५]

नीत्शे—अणु का विप्लव भी ध्वंसक होता है। जब एकाध शब्द महत्त्वपूर्ण होकर वाक्य में उछल-कूद मचाए, वाक्य अपनी सीमा फाँद कर छलाँगें मारे और पूरे पृष्ठ के तात्पर्य को धूमिल कर डाले, पृष्ठ भी पूर्ण की परवाह न कर अपनी बुलंदी का सिक्का जमा डाले, तब पूर्ण-पूर्ण रहता नहीं।[१०६]

ट्रेवेलियन (कवि मेरेडिथ के संबंध में)—जहाँ भी वे असफल हुए हैं, कल्पना के अभाव के कारण नहीं, अपितु अतिरेक के कारण ही; उनके रूपक कभी-कभी गड्ढे में पड़े खूँख्वार जानवरों की तरह परस्पर पीठ पर कूदते-फाँदते और अधिजीवन-संघर्ष में एक-दूसरे के अंग-प्रत्यंग को तोड़-मरोड़ डालते हैं।[१०७]

अनुपात के ज्ञान से 'आवेश के तर्क' और 'काव्य-सरूप' मे अन्विति आएगी। तभी रचना-विन्यास मे 'स्थापत्यात्मक बिम्ब' सघटित प्रतीत होगा। फिर कॉलरिज के अनुसार यह अन्विति काव्य-प्रतीति में उपस्थित परिस्थिति, भाव और चरित्र में आनुरूप्य लाती है, जिससे सभी बिम्ब उचित, सघटित और संगत लगते हैं, ठीक-ठीक ढले हुए, रंगत लिए मालूम पड़ते हैं। अनुपात का ज्ञान न हो, तो विवरण के इतने बारीक विस्तार भी आ सकते हैं कि वर्ण्यवस्तु नजर और दिमाग की पकड़ से बाहर जा पड़े; अथवा किसी एक बिम्ब की तेज रोशनी के सामने दूसरे सारे निस्तेज और रुग्न हो जायँ; या नीत्शे के अनुसार अणु का विप्लव उपस्थित हो जाय। ट्रेवेलियन ने भी वही बात दूसरे ढग से रखी है। लिवीस ने बताया है कि आधुनिक कविता के बिम्ब-विधान पर ट्रेवेलियन का कथन अक्षरश. लागू होता है। शुक्ल जी को भी अपने समय की कविता मे 'इधर-उधर से बटोरे वाक्यो का एक असश्लिष्ट और असम्बद्ध ढेर-सा दिखाई' पड़ा था।[१०८] मुक्तिबोध, माचवे, श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी और युवा कवियों की कविताओं में खासकर और अज्ञेय, धर्मवीर भारती आदि की रचनाओ मे साधारणतः बिम्बों के बेतरतीब अम्बार पाए जाने की शिकायत कुछ विद्वानो ने की भी है।

लीविस और कूम्ब्स के विवेचन का निचोड़ यह है कि व्यापक दृष्टि से दोष 'अनौचित्य' के अन्तर्गत आएँगे। महिम भट्ट ने भी बताया है—शब्ददोषाणामनौचित्योपगमात्।[१०९] पर केवल शब्ददोष ही क्यों ? शब्द ही बाह्याधार है, शायद इसलिए। आनन्दवर्द्धन और फिर क्षेमेन्द्र ने तो औचित्य का निरूपण कर यह सिद्ध कर ही दिया है कि वह काव्य का सूक्ष्म, अन्तरग और व्यापक तत्त्व है, रस की परा-उपनिषद् है। उसके निर्वाह मे रचमात्र भी असावधानता हुई तो काव्य दोषग्रस्त होगा।

औचित्य के विविध क्षेत्र हैं— (क) शब्द-चयन, शब्द विन्यास का क्षेत्र—इसमें अनौचित्य हुआ तो शब्दच्युत, गूढ़ार्थ, एकार्थ, विषम, भिन्नार्थ (भरत) अथवा नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, श्रुतिदुष्ट, आकुल, यतिभ्रष्ट, अपक्रम (भामह) आदि दोष होंगे। काव्य का सवेदन ग्रहण जड़, उद्वेगकर, या अस्पष्ट होगा।

(ख) वैयाकरणिक अथवा लोक-परम्परागत प्रयोग का क्षेत्र—इसमें औचित्य के भंग से अर्थहीन, विसन्धि, अर्थान्तर, अभिप्लुतार्थ (भरत) अथवा अपार्थ, व्यर्थ, ससंशय, अर्थदुष्ट (भामह) आदि दोष होंगे। तब काव्य के ऐन्द्रिय संवेदन-

ग्रहण आदि के साथ मानसिक बोध का सामंजस्य न होगा, अर्थ में बाधा होगी।
(ग) तार्किक वैचारिक क्षेत्र—इसके अतिक्रमण से न्यायापेतम् (भरत) अथवा अयुक्तिमत, अपुष्टार्थ, अत्यलंकारता, प्रतिज्ञा-हेतु -दृष्टान्तहीनता, देश-काल-लोक-न्याय-आगमविरोध (भामह) आदि दोष होंगे। रचनात्मक संघटन भी बिखर जा सकता है। तब काव्यबिम्ब का अन्वित संरूप ही संघटित नहीं होगा; वह प्रलाप की तरह विशृंखल, निरर्थक, बुद्धि को अग्राह्य लगेगा।
(घ) रागात्मक-भावात्मक क्षेत्र—यह तो काव्य का प्रकृत क्षेत्र है। इस क्षेत्र में असावधानता हुई तो काव्य नीरस, विरस अथवा कुकाव्य, यानी और का और हो जायगा। तब तो चित्तवृत्ति की एकतानता और काव्यबिम्ब की रागात्मक स्फुटता संभव ही नहीं हो सकेगी। (द्रष्टव्य पृष्ठ-५६७ भी)
अंतिम दो क्षेत्रों में औचित्य का सम्बन्ध 'कालधर्म' यानी युग आदि से भी है।

काव्यबिम्ब के, तथा अन्यों के भी, रूपबोध और भावन के मूल में प्रत्यक्षीकरण की मनोदैहिक प्रक्रिया है, जिसमें पूर्वस्मृतियाँ भी सहयोग करती हैं, संस्कार, कल्पना—अनादिवासना—भी। तभी विचार और भावना की उद्बुद्धि और उसके संघात से राग का उदय और मानसिक वृत्तियों का उन्मेष होता है, जिनकी एकतान धारा भावन (कन्टेमप्लेशन = तन्मयता, या एप्रिसिएशन = बोधपूर्वक आस्वाद) कहलाती है, या रस। कविता में यदि असाधु, ग्राम्य, अप्रतीत, अनर्थक आदि पदों का प्रयोग हुआ हो, तो काव्य के वास्तविक संवेदन-ग्रहण और प्रत्यक्षबोध मे विघ्न होगा और सारी मानसिक प्रक्रिया व्याहत होगी। अश्लील शब्दार्थ से असभ्य पाशविक स्मृतियाँ जगेंगी, इन्द्रियाँ क्षुब्ध होंगी और मन काव्य-संदर्भ से कट कर निपीड़ित इन्द्रियों से, जड़ भौतिकता या व्यक्तिगत राग-द्वेष से आक्रान्त होगा। भावन तब संभव नहीं है। एडवर्ड बुलो के सिद्धान्त के अनुसार जिसका उल्लेख पृष्ठ ३३३ पर हुआ है, काव्यास्वाद के लिए उचित 'मनोवैज्ञानिक दूरी' और 'निकटता का सस्पर्श' चाहिए; व्यक्तित्व को छनना भी चाहिए। 'दूरी अगम और अबाध की झलक लाती है, उसी की प्रतिध्वनि या प्रतिरूप है'।[११०] निकटता सीमा है, धरती अथवा जड़ भौतिकता है, हड्डी और मांस है। इनके उचित और आनुपातिक विन्यास से ही काव्यबिम्ब न तो दूर पर फेंका जा कर अगम, अलक्ष्य हो जायगा, न समीप लाया जा कर दबोच ही लेगा। दूरी ज्यादा हुई तो बिम्ब एकदम ठंढा, संवेदनहीन, हवाई होगा। तब उसमें गर्मी न होगी; संस्पर्श न होगा। फिर अगर वह एकदम निकट से खींचा गया हो कि, जैसे घर दबा रहा हो, तो बिम्ब प्रचंड, क्षोभकारी, इन्द्रियोत्तेजक, उद्वेग-

कर होगा। उसमें अवकाश या फैलाव ही न होगा। मन मथा जा कर गँदला हो जायगा। साक्षात् क्रियापर्यवसायी प्रतिक्रिया-सी होगी। दोनों हालतों में भावन संभव नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र में व्यक्तिगत पक्ष को छानने, चित्त को विगलित करने के उद्देश्य से विभावन, अनुभावन, संचरण आदि व्यापार और साधारणीकरण-प्रक्रिया का विवेचन हुआ है; चर्वणा का आख्यान किया गया है। उन पर ध्यान नहीं देने से काव्य दुष्ट होता ही है।

इस दृष्टि से दूरी बढ़ाने के कारण जो अपकर्षक तत्त्व दोष होंगे, वे हैं—कष्टपद, अप्रतीत, अनर्थक, नेयार्थ, अन्यार्थ, गूढार्थ, व्यर्थ, संदिग्ध, अप्रयुक्त, अपक्रम; फासला बहुत कम कर देने के कारण जो दोष होंगे, उनके नाम हैं—असाधु, ग्राम्य, अश्लील, भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट, विसंधि, उक्तार्थ, लोकविरुद्ध, विद्याविरुद्ध। (वामन के द्वारा बताए गए दोष; अन्यों के भी इसी भाँति प्रकार्यतः बाँटे जा सकते हैं।)

अतः काव्यबिम्ब के ग्रहण-आस्वादन की मनोदैहिक प्रक्रिया में जो अपकर्षक तत्त्व संवेदन-ग्रहण, स्मृति, कल्पना, विचार, भावन आदि की उद्बुद्धि से संवधित व्यापार और मनोभाव की धारा-रूप प्रक्रिया मे विलम्ब, अवरोध और / अथवा विघात लाते हैं, वे दोष हैं। इनसे काव्यास्वाद-तत्पर चित्त में अवांछित क्षोभ, या उद्वेग उत्पन्न होता है, और काव्यबिम्ब स्फुट नहीं होता, अथवा अवान्तर अर्थबिम्ब प्रस्तुत करता है। अर्थात् सहृदयोद्वेग-जनकत्वेन हि दोषता (रत्नेश्वर)।

१ (ख)—पुनः, दोष कलागत भी होते हैं और मूल्यगत भी। **रिचर्ड्स** के अनुसार कभी प्रेषण की त्रुटि के कारण कला अधम होती है; कभी प्रेषित भाव की निकृष्टता के कारण, कभी दोनों ही वजहों से। अतएव उन्होंने सदोष या दुष्ट (बैड) शब्द उनके लिए सीमित करना चाहा है जिनमें प्रेषण तो प्रायः ठीक ही होता है, पर प्रेषित तत्त्व ही अयोग्य रहता है। अन्यों को उन्होंने त्रुटित (डिफेक्टिव) मानने की राय दी है।[१११] अर्थात् त्रुटित कविता में कलागत दोष रहता है, दुष्ट कविता मूल्य-च्युत होती है। यथा—त्रुटित कविता ली जाय; मान लें कविता है 'अज्ञेय' की—

चिड़िया की कहानी

उड़ गयी चिड़िया
थिर

काँपी, फिर
हो गयी पत्ती

—अरी ओ करुणा प्रभामय

यह कविता प्रकृति, और यदि प्रतीक को खोलें, तो मानव-जीवन की नियति में व्याप्त वियोग-वैकल्य और फिर सम रूप स्थिर प्रवाह के सम्बन्ध में एक मूल्यवान काव्यबिम्ब प्रस्तुत करती है। अब, रिचर्ड्स के कलागत दोष दिखाने के तर्क कुछ इस प्रकार होंगे—कविता पूर्ण है। अतएव, कवि के अनुभव और पाठक के अनुभव के बीच संयोग उपस्थित करने के सारे सूत्र मौजूद हैं। पर, इसमें वह आयाम (मैग्नीच्यूड) नहीं है, जिसे अरस्तू ने, भिन्न संदर्भ में और दूसरे ही कारणों से सही, पर अनिवार्य माना है। (अरस्तू का कथन ट्रेजेडी के प्लॉट के आकार के विषय में है कि उसमें उचित विस्तार होना ही चाहिए, क्योंकि सौन्दर्य आयाम और व्यवस्था पर निर्भर करता है। द्रष्टव्य एस० एच० बूचर : अरिस्टॉटल्स थियोरी ऑफ पोएट्री ऐंड फाइन आर्ट, पृष्ठ–३१)। यह कविता अभिव्यंजन-माध्यम की सक्षिप्ति के कारण ही नहीं, सरलता के भी कारण प्रभावहीन हो रही है। मुक्त काव्य में छन्द की बलि तो दी जाती है, पर लम्बाई पूरक-सा काम करती है। दोनों के अभाव में कविता की रूपाकृति ही नहीं उभरती, वह अस्पष्ट रह जाती है। कवि पाठक से बहुत-कुछ की माँग कर तो अवश्य सकता है; और बड़े-से-बड़ा कवि तो साधिकार बड़ी-से-बड़ी माँगें करता भी है; पर यह माँग कवि के अपने योगदान के अनुपात में ही होनी चाहिए। उपर्युक्त कविता में पाठक को अपनी ही ओर से अधिक डालना पड़ता है; उसे कवि-प्रदत्त मात्र नौ शब्दों से अपनी ही कविता अलग गढ़नी पड़ती है। ऐसा तो वह स्वतंत्र रूप से भी कर सकता है।

इस प्रकार की कलात्मक छोटी-बड़ी त्रुटियाँ छोटी कविताओं में ही नहीं, प्रबंधों में भी मिलेंगी : यथा—'कामायनी' में श्रद्धा के द्वारा मनु को रहस्य के दर्शन कराने का ऐन्द्रजालिक कौशल, 'उर्वशी' में भरत के शापवश उर्वशी को अदृश्य करने का तथा फिर वीर-मुद्रा-स्फीत प्रियावियुक्त पुरूरवा को नेपथ्य से 'चन्द्रकुल प्रारब्ध' की आवाज सुना कर हठात् वीतरागी बना डालने का नाट्याभासी अथवा अतिनाटकीय शिल्प-विधान और 'यशोधरा' 'साकेत' में जड़े गए अनेक पैबंद आदि। ऐसे दोषों से भी मूल्यबिम्ब पर कुछ तो प्रभाव पड़ता ही है। पर मूल्य-दोष सर्वथा विघातक होते हैं।

मूल्य के दो घटक हैं—१. समग्र और २. आनुषंगिक। उसी भाँति मूल्य-दोष के भी दो रूप होंगे—१. सारी रचना को दूषित करने वाला और फिर २. विशेष, यानी स्थलगत। पहले प्रकार के दोष से ग्रस्त एक कविता उद्धृत कर जिसमे गर्मी के बाद पतझड़ (ऑटम) के आने के वर्णन के परिपार्श्व में प्रणय के बाद सौहार्द भाव के आगमन का उन्मन स्वागत किया गया है, रिचर्ड्स ने बताया है कि इसमें जिस सामंजस्य और तोष का विधान है, वह मूल्यच्युत है, क्योंकि

> काव्यगत मूल्य निर्भर करता है उस संघटन-स्तर पर जहाँ सामंजस्य घटित होता है, अर्थात् इस पर कि जो मनोवृत्तियाँ संघटित हो रही हैं, वे यथेष्ठ हैं, या नहीं। कविता में गर्मी, पतझड़, प्रणय और सौहार्द-भाव के लाये गए चार घटकों में से किसी एक पर भी जिन पाठकों की मनोवृत्तियाँ यथेष्ठ हैं, वे इस

कविता से तुष्ट नहीं होते। इसका जादू रूढ, एकरूप, असंतुलित प्रतिक्रिया के अभ्यासी पर ही कारगर होगा।[१२१]

[रिचर्ड्स के द्वारा उद्धृत दोनों कविताएँ बिम्ब-विधान के दोष से ग्रस्त हैं—पहली में बिम्बवादी रिक्तता का दोष है, दूसरी में असगत, अपुष्ट, अनन्वित विन्यास का।]

शुक्ल जी ने काव्यमूल्य पर अधिक सफाई से बातें रखी हैं—

कितने गूढ, ऊँचे और व्यापक विचारों के साथ हमारे भाव या मनोविकार का संयोग कराया जा सका है, कितने भव्य और विशाल तथ्यों तक हमारा हृदय पहुँचाया जा सका है, इसका भी विचार कवियों की उच्चता स्थिर करने मे हुआ करेगा।[१२२]

अर्थात्, तब पृष्ठ-१२६ और फिर १४२ पर बताए गए फार्मूले के नुसार पाठक का काव्य प्रत्यक्ष (१ − १) − (१ − १)-रूप न होकर ‌९९ ..ⁿ − ९९९ ..ⁿ) − (९९९...ⁿ − ९९९....ⁿ)-रूप होगा। इस फार्मूले ा यानी गूढ़ता, ऊँचाई, व्यापकता आदि का प्रभाव क्या पडेगा, इस पर ्चर्ड्स के विचार उपयोगी हैं —

सब से मूल्यवान् मनोदशाएँ वे हैं, जिनमें क्रिया-व्यापारों के व्यापकतम और सर्वाधिक सार्थक सहयोग की गुंजाइश रहती हो, साथ ही मनोवृत्तियो में कम-से-कम छँटनी करनी पड़ती हो, उनमें कम-से-कम द्वन्द्व रहता हो, उन्हें न तो उपास छोड़ा गया हो, और न रोका ही गया हो। यानी कि व्यर्थता और बर्बादी को जिस अनुपात में कम किया गया हो, मनोदशाएँ मूल्य-भावना मे उतनी ही ऊँचाई पर होंगी।...काव्य-ग्रहण-काल में ऐसा अनुभव कविता के द्वारा उद्भावित मनोवृत्तियों की सघटना और सामंजस्य से सम्भव होता है। यह सामजस्य जितने प्रबल मनोवेगों के बीच, जितने व्यापक भावों को साथ लेकर और जितनी ऊँचाई तक पहुँचा कर घटित किया जायगा, वह सामंजस्य उतना ही मूल्यवान होगा। उस मनोदशा में व्यक्तित्व के अधिक पटल खुलते और सक्रिय होते हैं, मन की अधिक वृत्तियाँ सवेदनशील होती हैं, अथवा घुमा कर कहा जाय, वस्तुओ के अधिक पहलू हमारी भावनाओं को छूने लगते हैं। परम स्वीकार की इस मनोदशा में हमारे राग, रुचि, व्यक्तित्व आदि मे सघनता और विस्तार आ जाते हैं।[१२३]

प्रबंध-काव्य आदि की इस व्यापक मूल्य-भावना से अलग गीतिकाव्य या छोटी कविता की मूल्य-भावना है। दोनो मे कलात्मक समृद्धि और विस्तार का अतर तो है ही। ये सक्षिप्त, सरल और सहज भगिमा से मानवीय भावना का सीधा साक्षात्कार करातीं, आदिम रागो या शुद्ध जीवन-सत्य के समीप ले आती हैं। एक-(सम)-केन्द्रिक स्वच्छ अभिव्यक्ति होने के कारण

उनमें कलात्मक बनाव-सिंगार का मूल्य उतना नहीं होता जितना सहजता और उत्कटता का। उनके सम्मोहन की मनोवैज्ञानिक विशेषता ऊपर जैसी ही होती है, अर्थात् $(१^n - १^n) \div (१^n - १^n)$-रूप। पर उसके मूल्यांकन में भी यह तो देखा ही जायगा कि वे हमें मानव के किन रागों से, कितनी हृदयस्पर्शिता के साथ और किस विधि साक्षात्कार कराती हैं।

रिचर्ड्स की मूल्यवान् मनोदशा का आख्यान शुक्ल जी के अनुसार है—

हृदय की ऐसी भावदशा भी होती है, जिसका न धर्म से विरोध होता है, न ज्ञान से और न किसी दूसरी भावदशा से। यही सामंजस्य हमारे यहाँ का मूल मंत्र है। जिस काव्य में यह सामंजस्य न होगा, उसका मूल्य गिरा हुआ होगा।[११५]

सारांशत. रिचर्ड्स के लिए काव्य-मूल्य है—अन्तर्वृत्तियों का परितोष और उनमें सामंजस्य-स्थापना; शुक्ल जी का—हृदय की मुक्तावस्था और अन्तर्वृत्तियो मे अविरोध-भावना; और रसशास्त्र का—आत्म- अथवा संवित्-विश्रान्ति; जिसका आभोग-पक्ष है आनन्द। पिछले पृष्ठ-२६-२९ पर कला-काव्य के जीवसस्थानीय मूल्य पर विचार किया जा चुका है। यदि उनका विश्लेषण करें तो उनमें जीवन-मूल्य भी निहित मिलेगा : रिचर्ड्स और शुक्ल जी मे क्रमशः मनोवैज्ञानिक और सास्कृतिक कल्याण-भाव और रसवाद मे आध्यात्मिक आनन्द-भाव। दूसरे शब्दों मे काव्य-मूल्य के दो पटल हैं—१ काव्यनिष्ठ और २ तद्प्रभव जीवननिष्ठ।

मूल्य क्या है, इस पर विविध शास्त्रों ने निजी अधिमान-क्रम से (द्रष्टव्य स्प्रैंगर के भी अनुसार पृष्ठ ९५ पर) शारीरिक-जैविक, आर्थिक, क्रीड़ा-संबंधी या पुनः सर्जनात्मक, सहचर-सबंधी या वैयक्तिक-सामाजिक, कलात्मक या सौन्दर्यिक, बौद्धिक, धार्मिक, नैतिक-चारित्रिक, सुखात्मक, आध्यात्मिक आदि वर्गीकृत मूल्य-भावनाओं का विवेचन किया है।[११६] परन्तु सब का सार यह है कि जगत् के जैव व्यवहार की गहराई मे तत्त्वतः तुमुल जैविक संघर्ष निरन्तर हो रहा है। अतः लगता है कि उसके भी नीचे, किसी अगम तल में, उससे भी अधिक गहन रूप से परिव्याप्त कुछ मूलस्थ शक्ति-केन्द्र है, जो व्यवस्था, संघटन, जीवन और चेतनता (मन) के लिए, 'शुभ' की स्थापना के लिए सतत प्रयत्नशील है। यही वास्तविक और नाभिस्थानीय मूल्य-चेतना है। इसमें भी नवीन युग्मों के नए द्वन्द्वों के बीच सामंजस्य की नवीनता का सर्जन होता चलता है। सर्जना से मूल्य की भी संरचना या

विकास होता है।[११७] कुछ धुँधला और सामान्य ही सही, यही मूल्यभावना का नश्वर बिम्ब है। काव्यगत मूल्य कलात्मक या सौन्दर्यिक मूल्यभावना को केन्द्रस्थ मान कर अन्यों का सामंजस्य स्थापित करता है, अर्थात् उसमें 'शब्द' और 'अर्थ' के शोभाशाली रूप में सहित होने के मूल्य के साथ-साथ उस सहितता के द्वारा मानवीय मूल्य की स्थापना अथवा अन्वेषण की भी चरितार्थता रहती है। शुक्ल जी ने, और रिचर्ड्स ने भी इसका संकेत किया है। भारतीय काव्यशास्त्र मे काव्य का सारभूत पदार्थ 'रस' है। वही उसका मूल्य है; जिसका विवेचन पिछले पृष्ठ २६-२६ और ५६-७१ पर किया जा चुका है। फिर जीवन-मूल्य से इसका सम्बन्ध कैसे है ?

बात यह है कि समस्त रस-प्रपंच चार मूलस्तंभों पर टिका है—

१. पुरुषार्थ चतुष्टय, २—प्रस्तुत और अप्रस्तुत विधान में जीवन-जगत् का पक्ष ३—औचित्य और ४—साधारणीकरण व्यापार।

१—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-रूप पुरुषार्थ-निष्ठा मे निबद्ध हो कर रस सत्व प्राप्त करता है, नायक और भावादि भी उसीसे प्रेरित-संचालित होते हैं और काव्यफल की भी प्राप्ति संभव या संभाव्य होती है। शुक्ल जी ने रसमीमांसा, पृष्ठ—२२४ पर बताया है कि 'शब्द-काव्य की सिद्धि के लिए वस्तु-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।' उसी भाँति कहा जा सकता है—वस्तु-काव्य की सिद्धि के लिए शब्द-काव्य का अनुशीलन परम आवश्यक है।

२—फिर समस्त काव्य-प्रपंच प्रस्तुत अर्थात् जीवन-जगत् से किसी-न-किसी प्रकार सम्बद्ध वस्तु या तथ्य को लेकर खड़ा किया जाता है। उस प्रस्तुत के साम्यादि पर आधारित विधान 'अप्रस्तुत' कहा जाता है। शुक्ल जी का कथन है—

> रसानुभूति में बोधवृत्ति का उपादान बराबर रहता है। किसी वस्तु या तथ्य के मार्मिक पक्ष की प्रतीति लिए हुए ही सच्ची रसानुभूति होती है। वस्तु या तथ्य का मार्मिक पक्ष उस वस्तु या तथ्य से अलग कोई वस्तु नहीं होता, उसी के अन्तर्भूत होता है। सत् के भीतर ज्ञान का विषय भी रहता है, हृदय का भी।...शुद्ध सच्चे काव्य में दो पक्ष अवश्य रहते हैं—जगत् या जीवन का कोई तथ्य तथा उसके प्रति किसी की अनुभति।...वही वस्तु या तथ्य कल्पना द्वारा उपस्थित काव्य-सामग्री को व्यवस्थित ढंग से संयोजित करके एक कृति का रूप देता है।...अतः काव्य में जगत् या जीवन की किसी वस्तु या तथ्य का होना, प्रस्तुत पक्ष का होना अनिवार्य है।...तब उसके अतिरिक्त जो कुछ रूप-विधान होगा, वह अप्रस्तुत होगा। विचार करने पर इन दोनों में प्रभाव-साम्य छिपा मिलेगा। —रसमीमांसा, पृष्ठ—२७६

३—पुन: 'औचित्य' काव्य का अंतरंग, अति व्यापक तत्त्व है, जिसका परिचय पृष्ठ—५५०, ५५७, ५६७, ५७०-५७२, ५७७-८१ आदि पर दिया जा चुका है। उसके भंग होने से रस रसाभास और व्यभिचारी भाव भावाभास की कोटि में आ गिरते हैं। अनौचित्य से बढ़ कर कारण रसभंग का दूसरा नहीं। औचित्य का नियम 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत' के चयन में और उनके विधान मे, पदार्थों के साथ भावो के प्रकृत संबंध के प्रत्यक्षीकरण में तथा उनके अभि-व्यंजन के समस्त शब्दादि के चयन, क्रम-निबंधन और विन्यासादि मे कार्य करता होता है। अनौचित्य को परखने के मूलाधार है—लोक, यानी प्रकृत जगत्– जो है, जैसा हो रहा है; और शास्त्र, यानी नीति, दर्शन आदि—जैसा होना चाहिए, जो शुभ या उत्तम हो।

४—चौथा स्तंभ साधारणीकरण-व्यापार मानवीय सहानुभूति और भाषा के सुसगत, बिम्बाधायक प्रयोग पर निर्भर तो करता ही है, पर सच पूछा जाय तो उसकी भावगत सहज साधारणता, और फिर उसकी मानव-मानव के बीच की रागात्मक, सहानुभूतिगत प्रवृत्ति और भाषागत सुसंगतता-बिम्बधायकता भी जीवननिष्ठ और लोकनिष्ठ ही होती है। (द्रष्टव्य आ० रामचन्द्र शुक्ल—रस-मीमासा काव्य का लक्ष्य, पृष्ठ७०-७३,और ७९)। दीक्षितजी के अनुसार

> साधारणीकरण और रसाभास दोनों मिलकर सामाजिक तथा नैतिक मूल्यो की स्थापना करते हैं। जनहित में प्रवर्त्तित रस-सिद्धान्त साधारणीकरण के माध्यम से काव्य को सद्-उद्देश्य-युक्त सिद्ध करता है। रसाभास उन कृत्यो के वर्णनो पर अंकुश लगाता है, जिनसे सामाजिक, नैतिक बंधन टूटते हो, या किसी प्रकार का अनौचित्य जन्म लेता हो। महत्त्व की बात यह कि इनके आधार पर रस-सिद्धान्त काव्य के मूल्यांकन के लिए युग-सत्य को ही नहीं, युग-युग के सत्य को स्वीकृति देता है। साधारणीकरण के द्वारा जहाँ वह युग-युग तक चलने वाले सामान्य मानव-भावों को भी स्वीकार करता हुआ दिक्काल-निरपेक्ष सत्य को वाणी देता है, वहाँ प्रतियुग में बदलने वाले नैतिक मूल्यों को रसाभास के द्वारा महत्त्व देता हुआ वह उन मानव-भावों के उपयोगी नियंत्रण में विश्वास भी प्रकट करता है।
>
> —आनन्द प्रकाश दीक्षित संस्कृत काव्यशास्त्र में रस सिद्धान्त : काव्यशास्त्र पृष्ठ—६३

इस प्रकार आस्वाद मे आनन्दनिष्ठ काव्य प्रकार्य मे जीवननिष्ठ प्रवृत्ति और फल के विधान को स्वीकार करता है। इसलिए प्राचीन काव्य में कला-मूल्य और जीवन-मूल्य में प्राय: अविरोध था। जीवन-निष्ठा की दृष्टि से लोकमंगल ही काव्य का लक्ष्य था। आनंद की साधनावस्था और सिद्धावस्था मे वैसा द्वैध न था। पर अब बात ऐसी सरल नही दीखती।

कवि व्यक्ति तो है ही, पारिवारिक-सामाजिक दायित्व का रक्षक-पालक, या वृहत्तर मानव-समुदाय और विश्व-चेतना का साझेदार भी है, काव्यकला (काव्य भाषिक कला है, और भाषा जीवन-समाज को अर्थ देती है) की अबाध धारा में चैतन्य प्रवाह भी है और है मुक्त, प्रबुद्ध स्रष्टा भी। इन दायित्वों के बीच राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक आदि दबावों के कारण आज व्यापक सापेक्षिक समीकरण स्वीकार किया गया है। इनके असंतुलित चाप के कारण जब कवि की मूल्य-संहिता में अन्तर्विरोध आता है, अथवा कवि का समावेशी व्यक्तित्व विघटित होता है, तो रचना रससिद्ध क्यों न हो, मूल्यच्युत होती है।

> धर्मवीर भारती के शब्दों में—साहित्य में व्यक्ति के विद्रोह के नाम पर बहुत कुछ ऐसा आया है, जो अन्ततोगत्वा समाज के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुआ है और अक्सर सामाजिक कल्याण के नाम पर बहुत कुछ ऐसा आता रहा है, जो रूढ़ियों का समर्थक, विकास का विरोधी, समाज के लिए अहितकर और जीवन के सर्वाङ्गीण विकास में बाधक सिद्ध हुआ है।[११८]

दूसरे शब्दों में कविता अच्छी हो, यह अलग बात है, मूल्यवान् भी हो यह एकदम जुदा बात। पेटर के अनुसार—

> 'कला अच्छी होगी, पर यह आवश्यक नहीं कि वह महान् कला भी हो ·· कला की महानता इस पर निर्भर करती है कि वह जिस वस्तु को अनुप्राणित अथवा निर्मित कर रही है, वह किस कोटि की वस्तु है: उसकी विविधता, महत् उद्देश्यों से उसकी संधि, उसमें विद्रोह की गहराई अथवा आशा का संदेश—ये सब उसकी महानता को निर्धारित करते हैं।· अच्छी कला·· यदि ···मानवता की कल्याण-साधना में, पीड़ित-दलित के परित्राण में अथवा हमारी सहानुभूति के विस्तार में लगाई जाय · अथवा यदि कला हमारे विषय में तथा हमारे और विश्व के सम्बन्धों के विषय में ऐसे नए या पुराने सत्य का उद्घाटन करे जिससे हमारे ऐहिक जीवन को शक्ति और उन्नयन मिले··· तो वह कला महान् होगी।[११९]

वही बात इलियट इस प्रकार बताते हैं—

> मात्र साहित्यिक प्रतिमान से साहित्य की महत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती; हालाँकि यह तो याद रखना ही पड़ता है कि कोई रचना साहित्य है भी या नहीं, इसका निर्णय केवल साहित्यिक मानदंड कर सकता है।

निष्कर्ष यह कि काव्यगत मूल्य अपने निजी कलागत मूल्य के अतिरिक्त मानव-जीवन के वृहत्तर मूल्यों के सामंजस्य पर आधारित है। इस दृष्टि से

आधुनिक समाजशास्त्रीय पद्धति के अनुसार मूल्य-दोषों के सामान्यीकृत, इसलिए मूल्य-च्युति के जोखिम-भरे प्रकार निम्न हो सकते हैं—

१—सौन्दर्यिक-कलात्मक भावबिम्ब की अनुचित प्रबलता और सामाजिक, नैतिक, सांस्कृतिक आदि मानव-कल्याण से सम्बन्धित भावबिम्बों की उपेक्षा से पलायनवादी, ह्रास-शील, कलावादी रचनाएँ निर्मित होंगी। विलासी, कामकला-सिद्ध रचनाएँ, नायिका-भेद या नखशिख-वर्णन की मानसिक भोग-प्रधान कविताएँ, आलकारिक, अतिशय रोमानी, भावुकता-पूर्ण, कल्पनावादी, रूपवादी कविताएँ इसी कारण मूल्यच्युत हो जा सकती हैं। छायावाद के उत्तरार्द्ध की कविताएँ—चाहे वे कला के समृद्ध नमूनों मे शुमार किए जाने वाले 'जड़ाव और कढ़ाई' से भरे पंत के पैने चित्र हों, या 'रंग-धुली तरलता' और लावण्य से युक्त महादेवी के हल्के चित्र हों, अथवा 'आँसू' आदि की नकल में उतारे गए उस्ताद तक को बे-आबरू करने वाले पुरजोर अलबम हों, है समग्रतः मूल्यच्युति के खतरों से भरी हुई रचनाएँ। सांस्कृतिक-नैतिक भावबिम्ब के मूल्य-दोष के कारण कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट कृति 'नूरजहाँ' (गुरुभक्त सिंह) अपना प्राप्य न पा सकी।

२—आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक अथवा पौराणिक भावबिम्बों की वैसी ही प्रबलता और अन्यों की उपेक्षा से बहुधा रूढ़ रहस्यवादी, साम्प्रदायिक, सैद्धान्तिक अथवा मसीहाई मिजाज की कविताएँ सृष्ट होती हैं। महादेवी, पंत, निराला आदि की कतिपय रचनाएँ इस दोष से ग्रस्त हैं। 'कामायनी' के प्रायः अंतिम सर्गों मे भी यह दोष है। अंगराज, पार्वती, लोकायतन, पुरुषोत्तम राम, रश्मिरथी, कुणाल, सावित्री (द्विजेन्द्र) आदि कृतियाँ सर्वथा मूल्य-दुष्ट न भी हों, तो मूल्यहीन हैं, तथा अज्ञेय ('आँगन के पार द्वार' 'कितनी नावों में कितनी बार') भारती, जगदीश गुप्त आदि की कुछ कविताओं में इस कोटि के मूल्य-दोष हैं।

३. वैयक्तिक-जैविक अथवा मनोविज्ञानवादी पक्षधरता से अहंवादी, रुग्ण यौनवादी, नग्न यथार्थवादी, बुभुक्षावादी, आक्रोशवादी, अथवा अन्तश्चेतनावादी, छायाभासी रचनाएँ निर्मित होती हैं। इस प्रकार की दुष्प्रवृत्तियों से ग्रस्त रचनाएँ अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर (चूड़ी का टुकड़ा, एसोसिएसंस आदि) शंकुत माथुर (पूर्णमासी रात भर, एक घूमता हुआ

रिकार्ड आदि) शमशेर, शान्ता सिन्हा, इन्दु जैन आदि और युवा-कवियों की कुछ कृतियों में मिलती हैं।

> वाजपेयी जी के अनुसार—संप्रति नई प्रतीकवादी या अवचेतनावादी रचनाएँ जिस कुरूपता की सृष्टि कर रही हैं, और जो अवांछित संकेत दे रही हैं, उनका एक उदाहरण इस प्रकार है—
>
> लुढ़की सुराही तो
> गर्द भरे खुदे हुए फर्श पर
> देख देख मन कैसा हुआ
>
> हुचक-हुचक पानी डरा
> चुपचाप
>
> —शमशेर—नई कविता, पृष्ठ—१६

४. राजनैतिक-आर्थिक पक्षधरता से मार्क्सवादी (प्रगतिवादी), चीन वादी अथवा प्रतिष्ठानवादी या तद्विरोधी अथवा पूँजीवादी आदि प्रचार-काव्य रचित होता है। माचवे के अनुसार

> प्रगतिवाद में एक अनावश्यक प्रदर्शन-प्रियता, दमित इच्छाओं से निर्मित होनेवाला, औद्धत्य की सीमा तक पहुँचाने वाला पीड़न-प्रेम (सेडिज्म) और प्रचार के विद्रूप कुनैन पर कला का शर्करावरण पहनाने की या राजनैतिक पक्ष-विशेष को मार्ईक-कविता बनाने की प्रवृत्ति आदि दोष रह गए हैं।—तारसप्तक

नरेन्द्र शर्मा, नेमिचन्द्र, शिवमंगल सिंह 'सुमन', रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, नागार्जुन, शमशेर, केदारनाथ सिंह, राजीव सक्सेना और अ-कवियों आदि की कुछ कविताओं में प्रचारात्मकता है।

५. बौद्धिक-वैचारिक मूल्य की प्रबलता काव्य- अथवा कला-मूल्य अथवा दोनों में अवरोध या विघात ला सकती है। 'कामायनी' में कुछ स्थलों पर दर्शन-विज्ञान आदि से संबंधित पद्य बौद्धिक-वैचारिक गरिष्ठता और प्रौढ़ि या गाम्भीर्य लाते अवश्य हैं, पर वे निजी और आनुषंगिक कलात्मक वैषम्य प्रस्तुत कर कथाधारा को उच्छ्वसित-तरंगायित करते और भावधारा को टकराहट का वेग भी देते हैं। उसी भांति अज्ञेय की कुछ बौद्धिक रचनाएँ, यथा- 'सत्य तो बहुत मिले, 'समानान्तर सूत्रों से' आदि में चिन्तन का रम्य परिपाक हुआ है, अथवा प्रतिभा की कौंध चमक आई है। किन्तु उनके अभाव में त्रिलोचन, लक्ष्मीकान्त, नलिन, जगदीश गुप्त, शिवचन्द्र शर्मा और युवाकवियों की कुछ कविताओं में तर्क-वितर्क, नारेबाजी और कृत्रिम अथवा पुस्तकीय बौद्धिकता ही लाठी भांजती दिखाई पड़ती है। उसी भांति 'लोकायतन' की बौद्धिकता काव्य और कला के आँड़े आती है।

मूल्यगत दोष के खतरों से भरे और भी क्षेत्र तो हो ही सकते हैं।

मूल्य-दोष स्थानीय या विशेष स्थल, सामान्यतः शब्दार्थ, प्रसंग अथवा अलंकार आदि के अनुचित प्रयोग से भी होते हैं; यथा—निम्न कविता-पंक्तियों में 'सती', 'उन्मन', 'तू', 'गाली', 'ज्ञान' कविता के मूल्यबिम्ब के विधायक शब्द हैं—

मूल्यहीनता—तुम व्रती रहो, मैं 'सती' रहूँ— गुप्त : साकेत
मूल्यांतरण—मनु तन्मय बैठे 'उन्मन' —प्रसाद कामायनी
मूल्य-विघातक (द्रोह)—आ 'तू' आ हाँ, आ मेरे पैरों की छाप पर रखता पैर
मिटाता उसे मुझे मुँह भर भर 'गाली' देता
आ 'तू' आ —अज्ञेय नये कवि के प्रति
मूल्यावरोधक—धूप नहीं यह बैठा है खरगोश पलँग पर
उजला रोएँदार, मुलायम—
इसको छू कर 'ज्ञान' हो गया है जीने का
फिर से मुझको। —केदारनाथ अग्रवाल : फूल नहीं रंग बोलते हैं

उसी भांति पंत की कविता 'नौका विहार' में अंतिम वध का अध्यात्म-दर्शन, दिनकर कृत 'हिमालय' कविता में 'ओ री उदास गंडकी ! बता विद्यापति कवि के गान कहाँ', अज्ञेय की 'नन्ही शिखा' (इत्यलम्) में प्रारंभिक सात और अंतिम तीन (कोष्ठक की) पंक्तियाँ आदि मूल्य को निपतित करती हैं।

अविवेकीकरण की प्रवृत्ति

अब एक भिन्न प्रकृति के मूल्यगत दोष के लिए निम्न कविताओं के शब्द-प्रयोग पर विचार किया जाय कि किस प्रकार यहाँ भाषा-परम्परा के साथ जुड़ी यादों, ध्वनियों, गूँजों, बिम्बों, यानी सारे संस्कारों की जड़ों तक को उखाड़ फेंका गया है और शब्दों को 'चीजों' की तरह इस्तेमाल होने दिया गया है —

मेरे मित्र, नग्नता पर कविताएँ लिख सकते हो, भोग नहीं सकते, सब स्त्रीलिंगों पुल्लिंगों के
द्वारों पर भारत सुरक्षा का ताला जड़ दिया है —राजीव सक्सेना : आत्म-निर्वासन
अपने यहाँ संसद तेल की वह धानी है जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है दरअसल अपने यहाँ जनतंत्र एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान मदारी की भाषा है —धूमिल : पटकथा
इक्कीसवीं शताब्दी के इस बेरौनक गोचर लोकतंत्र में जीना है तो
वेश्या की सार्वजनिक योनि से संभव करना है न्याय की सड़ी हुई गलियों में
वह संभोग और संविधान के बीच चीजों के चेहरे मिटा देगा।
—मंगलेश डबराल

रीता फारिया अब
अमेरिका के शिश्न पर विपरीत रति की मुद्रा में गिरती हुई
भारतीयता का प्रतीक बन गई है और देश के हथौड़े
अपनी विवशता में लटक गए हैं —श्रीराम शुक्ल : प्रतीक प्रश्न

कोई भी नहीं बताता तुम्हें
मल ढोते हुए

इस सुअर सभ्यता का
तुम्हें कहाँ जाना है —कैलाश वाजपेयी

ऐसी कविताएँ धडल्ले से लिखी जा रही हैं। इनमें जो दोष हैं, वे अश्लील, ग्राम्य आदि के द्वारा परिभाषित नहीं किए जा सकते। इनके मूल में मूल्य-ध्वंस की दुर्दम आक्रामकता है। प्रवृत्ति की दृष्टि से उसे 'अविवेकीकरण की प्रवृत्ति' नाम दिया जाता है। यह बात ठीक है कि विवेक के कारण, धर्मवीर भारती के शब्दों में—

> विज्ञान और भौतिक साधनों की जो उन्नति हुई है, और उससे पूर्व और पश्चिम में संस्कृतियों का जो विकास हुआ है, उनके भविष्य में कलाकारों, दार्शनिकों और संतों के सारे स्वप्न खंडित हो चुके हैं प्रमुख स्वर आज मानव की मुक्ति का स्वर है...यह दायित्व किसी बाह्यारोपित दायित्व को नहीं स्वीकार करता।[१२०]

विवेक की दकियानूस, झूठी परतों को उघाड़ कर रखने के लिए जो संसार-व्यापी युवा-आक्रोश, छात्र-विद्रोह आदि की असामाजिक प्रवृत्तियाँ फूट पड़ी हैं, उनकी गहरी पड़ताल कर इधर के कुछ विद्वानों ने बताया है—[१२१]

> भासमान् और यथार्थ नामक दो जगत् के बीच आदमी का जीवन चलता है। भासमान् आकस्मिक परिवर्त्तन—संदेह, भ्रांति, ठहेपन और अलगाव की दुनिया है। यथार्थ वास्तविक जगत् है, जहाँ ये सब नहीं हैं; न काल और मृत्यु है, न संदेह और भ्रांति; क्योंकि वहाँ व्यक्ति स्वच्छन्द है, दुनिया को स्वेच्छया बदलता, कष्ट और विच्छिन्नता को सुखद अन्विति और संगति देता चलता है। पर आदमी के दिमाग में पुराने जमाने से ही भासमान् को ही यथार्थ समझने का झूठा ज्ञान ठूँस दिया गया है. संस्कृति. जाति. धर्म, आचार, व्यवहार-पद्धति आदि उसे नित्य पुष्ट भी करती आ रही है। इससे भीतर का सम्पूर्ण मानव टूट-बिखर गया है। विज्ञान ने प्रकृति को तोड़ कर फार्मूलों में मूर्त्त, नंगी, राग-स्पंद-शून्य और परिवेश को भयावह रूप में तटस्थ बना डाला है। उसने 'आदमी' को 'चीज' या 'आँकड़ा' करार दिया है। ऐंठ भरा दिमाग संख्या, तर्क, यांत्रिक घटकों के सहारे एक अमूर्त्त भाषा में सोचता-समझता है। पर शरीर की भाषा मौन, अगम भाषा है, तरल-प्रक्रिया है, सहज ज्ञान की लयात्मक भूम है। इन दोनों को पश्चिमी संस्कृति की जैव-विरोधी कट्टरता ने एक-दूसरे को मुँह बिराते हुए रूप में, बड़े भद्दे ढंग से दो टूक किया है। यह सारा बखेड़ा विवेक का है; और उसकी किलेबन्दी दुर्भेद्य है। अविवेकवादी प्रवृत्तियाँ इस किलेबन्दी को जड़ से खोद डालना चाहती हैं। उनका लक्ष्य सर्वांगपूर्ण और अखंड जीवन की उपलब्धि है; पाशमुक्त, स्वच्छन्द, आदिम जीवन के साथ आधुनिक जीवन को एकरूप कर देने का है।

इन विचारों से और उनमें लक्षित आन्तरिक मांगो के औचित्य से असहमत होना कठिन है। बहस अलबत्ता इस पर हो सकती है कि इस हेतु विधि कौन-सी अख्तियार की जाय। वैसे भी इन अविवेकवादियों की विधियाँ अनेक हैं; जैसे—आक्रामकता, अराजकता, उद्वेगपूर्णता, विमुखता, निरुद्वेग सहजता, आदिमता आदि। इधर आकर पश्चिम की ऐटमी और बाजार-प्रधान शृगाल-संस्कृति के बड़े देशों मे दो, अथवा एक मूल, एक पारिणामिक बातें और भी घटित हुई हैं: विचारों की टकराहट और उनकी होड़ में अलग-अलग ज्ञानशाखाओं के द्वारा भाषा की प्राविधिक और पारिभाषिक जकडबंदी। इस पदार्थीकरण, टकराहट और जकड के परिणाम मे सार्त्र और कामू की रचनाएँ आईं और रैम्बो-जैसे कवियो का महत्त्व उजागर हुआ। सार्त्र के 'उबकाई भरे', कामू के 'विसंगत' और रैम्बो के 'संसारहीन' संसार (आ० मैकलीश के मुहावरे) का मूल्य कूता जाने लगा। उनके साहित्य को मूल्यवान् बनाने वाले तत्त्वो मे वहाँ का परिवेश तो है ही, रचयिता की अदम्य उत्कटता, उन्माद तक को छूने वाला, फिर भी उद्वेगहीन, अविचल भावावेग, निष्कम्प साहस और लक्ष्य के प्रति निश्छल समर्पण-भाव भी है। स्वीकृत मूल्यों के ध्वंस के खतरो से खेलने वाले ये 'त्रासदीय नायक' अगर मिट कर भी पश्चिमी जगत् की भयावह मानवीय स्थिति में ऐसे अर्थों का उन्मीलन कर जाते हैं कि जिससे मनुष्य की नियति के विषय में अधिकतम अन्तर्दृष्टि मिल सके, तो वे मूल्यवान् ही कहे जायँगे।[१११] तो क्या भारतीय परिवेश में रचित 'समकालीन नरक का एक भूगोल', 'भयानक खबर की कविता', 'विचारों से विदाई' (क्रमशः श्रीकान्त वर्मा, मुक्तिबोध और अ-कवियों, युवा-कवियों की कविताओं के लिए अशोक वाजपेयी के परिचयात्मक शीर्षक) आदि का भी मूल्य वही है?

यह बात ठीक है कि कृषि-प्रधान भारत में अन्य देशों की अपेक्षा अमानुषीकरण, यांत्रिकीकरण की प्रवृत्ति कुछ देर से और धीमी गति से आई, पर आई जरूर है (देखें पृष्ठ—३५४-३६८)। अमानवीयकरण के त्रास के अभिव्यंजन में मुक्तिबोध श्रीकान्त वर्मा आदि तथा उनकी तरह के कुछ अ-कवियों और युवा-कवियों की रचनाओं में अविचल और कहीं-कहीं उद्वेगहीन सहज भावावेग, लोकसम्पृक्ति, वैचारिक फैलाव और टकराहट या जमाव है। उनके शब्दादि भी सामाजिक-सांस्कृतिक परम्पराओं की जड़ों

से जुड़ी हैं। पर अन्यों मे वैसी बात नहीं है। न तो आयाम है, न सघनता, न नाटकीय तनाव या मानवीय संदर्भों की गूँज। कॉडवेल का कथन है—

> विचार ज्ञान है, उसका अनुभव करना 'होना' है; और प्रत्येक नए कदम में नया अनुभव पुराने विचार को नकारता है।[११३]

विचारों की टकराहट तो होगी ही, जहाँ विचारों में जीवंत गति हो; पर उससे भी जरूरी बात है, विचार मे 'होना'। तभी साझेदारी और हिस्सेदारी (इन्वाल्वमेंट) का अहसास होता है। ऊपर के उदाहरणों में यह अहसास भी नहीं, समझदारी भी नहीं। उनमें फतवेबाजी है या पैगम्बराना या कि शहीदाना अंदाज भर है। इसलिए वहाँ शब्द चीजो की तरह इस्तेमाल किए गए हैं। सारा खिलवाड़ उनके फितूरी पटाखों के कुछ धडाके-भर मे फिस्स् होता है—संवेदनहीन, उत्तरदायित्वहीन और मूल्यहीन। कॉलरिज के पृष्ठ-५७७ पर उद्धृत कथन के अनुसार—ऐसी कविताएँ पाठक को 'संदर्भ' से विच्छिन्न करती हैं और वह उसके घटक अवयवों की ओर आकृष्ट हुए बिना सीधा सामान्य निष्कर्ष ग्रहण कर लेता है।' अज्ञेय ने अच्छी ताकीद की है—

> अनुभूति से मत डर मगर पाखंड उसके दर्द का मत कर—अरी ओ करुणा···

भामह की भी सलाह है—

> कुकवि बनने से तो अच्छा है, अ-कवि रहना; क्योंकि अ-कवित्व से अधिक-से-अधिक व्याधि या दण्ड का भागी होना पड़ेगा; परन्तु कुकवित्व को तो विद्वान् साक्षात् मृत्यु ही समझते हैं।[११४]

२. आस्वादन-प्रक्रियागत : गृहीता-प्रकल्पित दोष—

काव्य के ग्रहण-आस्वादन में गृहीता की त्रुटित, अक्षम अथवा दुष्ट दृष्टि भी काव्यबिम्ब को विलम्बित, अवरुद्ध अथवा विनष्ट कर सकती है। काव्यप्रतीति निर्विघ्न होनी चाहिए, मोहादि से आविष्ट नहीं। यह 'वीत विघ्न-प्रतीति' जो है। इसमें बाधक अर्थदृष्टि को अभिनवगुप्त ने 'रसविघ्न' नाम दिया है और उसके सात प्रकार (द्रष्टव्य पृष्ठ-१४२) बताए है—

१. संभावनाविरह, २ स्वगतपरगत-देशकाल-विशेषावेश, ३. निजसुखादि-विवशीभाव, ४. प्रतीत्युपाय-वैकल्य, ५. स्फुटत्वाभाव, ६. अप्रधानता और ७. संशययोग।

रिचर्ड्स ने आलोचना की, जैसा कि पृष्ठ—२१५ पर भी सूचित है, दस कठिनाइयों की चर्चा की है,[११५] जो काव्यग्रहण और मूल्यांकन में आडे आती हैं। वे हैं—

१ सम्यक् अर्थ-ग्रहण की अक्षमता— भाव, काकु, प्रयोजन ही नहीं, वास्तविक गद्यात्मक अभिप्राय (सेंस) समझ पाने में भी कुछ पाठक असमर्थ होते हैं, पर सम्यक् अर्थ तो इन चारों का, और उनके पीछे छिपी अर्थ-ध्वनियों का समुचित बोध है—द्रष्टव्य पृष्ठ—३००-३१० २. ऐन्द्रिय संवेदन ग्रहण करने और लय-स्पंदों को पकड़ पाने की अशक्तता; ३ बिम्ब-रचना करने की मानसिक शक्ति में गृहीता के बीच विस्मित करने वाले फर्क; कोई श्रव्य बिम्ब का गृहीता है, तो कोई दृश्य बिम्ब का, आदि, ४ अप्रासंगिक, भूले-बिसरे पूर्वानुभवों की स्मृति की अनुगूँज या उद्बुद्धि; ५. पूर्वग्रह या रूढ धारणाएँ, ६. भावातिशयता; ७. निषेध या वर्जनशीलता, ८. मताग्रह, या धर्म, दर्शन, मान्यता, राजनीति आदि से सम्बन्धित विचार रूढ़ियाँ, ९. कलात्मक या प्राविधिक प्रस्तता, यानी एक प्रकार के सफल शिल्प आदि से तुष्ट होने पर उसी को एकमात्र उत्तम शिल्पादि समझना और १०. काव्यादि से संबंधित आलोचनात्मक रूढ़ धारणाएँ या मान्यता।

दोनों ने प्रकारान्तर से काव्यगृहीता के दृष्टि-दोष के कारण होने वाले बिम्बदोष का बखान किया है। अभिनवगुप्त के द्वारा निर्दिष्ट संभावना-विरह का अर्थ है कल्पना-शक्ति का अभाव। रिचर्ड्स के द्वारा बताई गई पहली तीन कठिनाइयाँ भी इसी के अन्तर्गत आती और उसे मनोवैज्ञानिक रूप से विश्लेषित करती हैं। कविकृत वर्ण्यवस्तु अगर पाठक की कल्पना में आ ही नहीं पाती तो वह सवेद्य क्या होगी ? कवि मे ही यदि अशक्ति हो तो यह दोष कविगत भी होगा। शुक्ल जी (रस-मीमांसा, पृष्ठ-२१) के शब्दों में

> जिनकी भावना या कल्पना शिथिल या अशक्त होती है, किसी कविता या सरस उक्ति को पढ़-सुन कर उनके हृदय में मार्मिकता होते हुए भी वैसी अनुभूति नही होती। बात यह है कि उनके अंतःकरण में चटपट वह सजीव और स्पष्ट मूर्त्ति-विधान नहीं होता जो भावों को परिचालित कर देता है।.

स्वगत-परगत-देशकाल विशेष का आवेश गृहीता को लौकिक भाव से आविष्ट करता है। अर्थात् वह 'यह हमारा ही चित्रण है', इस प्रकार स्वगत यानी व्यक्तिगत या 'यह हमारा नही, उस पात्र का है' इस रूप मे परगत सुख-दुःख के लौकिक भाव से आविष्ट होता है। ये दोनो आवेश गृहीता को व्यक्तिबद्ध, देशकालबद्ध करते हैं। पाठक काव्य के बहाने अपने आपको या एक तटस्थ व्यक्ति को पढ़ने लगता है।

निजसुखादिविवशीभाव में व्यक्ति पहले से ही अपने सुख-दुःख आदि भावों से विवश हुआ रहता है। काव्य-ग्रहण मे प्रवृत्त होने पर वह एकाग्र नही हो सकता। बार-बार उसे पहले के भाव विवश करते हैं। उपर्युक्त दोनो रसविघ्नों के अन्तर्गत रिचर्ड्स के द्वारा बताई गई चौथी से दसवीं तक की कठिनाइयाँ आ जाती हैं और उन्हें भिन्न भिन्न प्रकारो मे विश्लेषित करती हैं

रिचर्ड्स का उद्देश्य आस्वादन ही नहीं, आस्वादन-प्रक्रिया की तात्त्विक पड़ताल, यानी मूल्यांकन भी है। इसलिए स्मृत पूर्वानुभवों और भावातिशयता के साथ—जो स्वगत-परगत-देशकाल की आबद्धता कोटि की है—पूर्वग्रह, निषेध, मताग्रह, ग्रस्तता और रूढ़िवादिता भी, जो निज विवशीभाव के प्रकार हैं, उल्लिखित हैं। इस स्थल पर शुक्ल जी के प्रासंगिक विचार पर गौर कर लेना चाहिए। भट्टनायक ने रसास्वाद मे निज-कान्ता-स्मृति—स्वकान्ता-स्मृत्य-सवेदनात् कह कर—विघ्नकारी मानी है। निविड़निजमोहसंकटतानिवारण नितात आवश्यक बताया गया है। अभिनवगुप्त भी 'घनमोहान्ध्य-संकटतानिवृत्ति के द्वारा आस्वाद' मानते हैं। परन्तु शुक्ल जी का कथन है—

> यदि किसी पाठक या श्रोता का किसी सुंदरी से प्रेम है, तो शृंगार रस की फुटकल उक्तियाँ सुनने के समय रह-रह कर आलम्बन रूप मे उसकी प्रेयसी की मूर्त्ति ही उसकी कल्पना में आएगी।
>
> किसी काव्य में यदि औरंगजेब की घोर निष्ठुरता और क्रूरता पर शिवाजी के भीषण क्रोध की व्यंजना हो, तो पाठक का रसात्मक क्रोध औरंगजेब नामक व्यक्ति पर ही होगा...पाठक या श्रोता के मन में रह-रह कर यही आएगा कि औरंगजेब सामने होता तो उसे खूब पीटते।[१२६]

शुक्ल जी, मनोविज्ञान के 'आर्केटाइप' के अनुसार निर्भ्रान्त हैं। वे रसात्मक बोध की आदि-मध्य की प्रक्रिया का, चर्व्यमाणता का स्वरूप स्पष्ट कर रहे हैं, जब कि अन्यों ने उसकी अन्तिम परिणति का बखान किया है। उन्हे एकदम नकार देने का अर्थ होगा रस की चरम अवस्था की प्रगाढ़ता और वैपुल्य को प्रक्रियागत सापेक्षिकता पर अवलम्बित न मानना और उसे आत्यंतिक और निरपेक्ष स्वीकार कर लेना, जिसके खतरे गंभीर हैं। अच्छी कविता हो, या सस्ते रसीले, अथवा जासूसी उपन्यास—उनमें से कुछ, सभी नहीं—पाठक के स्मृति-पुंजो को कुरेदते-झनझनाते जरूर हैं। पर अच्छी कविता से जो स्मृतियाँ जगती हैं,—और स्मृतियो के पटल अनेक होते है, जो पृष्ठ-२८, तथा २०६-२२४ पर बताए गए है,—उनकी गूँजें कुछ गहरे तल तक को स्पंदित करती हैं। उनकी लहर अधिक आदिम, इसलिए व्यापक भी होती है। तब हमारे व्यक्तित्व पर वह कविता और उस पर हमारा व्यक्तित्व, दोनों एक-दूसरे पर हावी होते है। ऐसी आक्रान्तता, परस्परस्पर्धी ग्रस्तता उसकी और हमारी जानदार प्रतिक्रिया है, आपसी पहचान की मुद्रा है। इस पहचान की प्रक्रिया की पड़ताल करना कि कहाँ दोनों एक स्वर हो जाते हैं, कहाँ भिन्न, इस प्रकार के मेल, तनाव, टकराहट का बखान करते हुए मानव-संदर्भ से उनका तालमेल

बैठाना भी आस्वादन और मूल्यांकन का एक जायज तरीका है। शुक्ल जी, नन्ददुलारे जी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह, अज्ञेय, भारती, मदान आदि की आलोचना में ऐसा व्यक्तिगत ताप उसे मानवीय सार्थकता देता है। साम्प्रतिक कविता के लिए तो इसकी खास जरूरत महसूस होती है। कविता, गीत आदि की इस आक्रान्तता या रसास्वाद से उबर कर जो निर्वैयक्तिक, निःसंग आलोचना होती है, वह दार्शनिक, वैयाकरणिक, ऐतिहासिक आदि शास्त्रीय और तात्त्विक होगी।

प्रतीति के उपायों का, अर्थात् विभावादि का वैकल्य, असंगति, अथवा अभाव हो, और वे स्फुट रूप में प्रतीत नहीं होते हों, तो चौथे और पाँचवें प्रकार का रसविघ्न होगा। ये दोनों दोष प्रधानतः कविगत और नटगत होते हैं; किन्तु, कुछ कारणवश, गृहीता में भी हो सकते हैं। इन दोनों को कुछ विद्वान् एक ही मानते है। तब वे दूसरे रसविघ्न को 'स्वगत' और 'परगत' की दो कोटियों मे विभाजित कर 'सात रसविघ्नों' की सांख्यिक संगति बैठाते हैं।

अप्रधानता छठा रसविघ्न है। समस्त रसविधान मे प्रधान है स्थायी भाव। विभावादि अप्रधान हैं। अप्रधान पर अधिक बल दिया गया हो, तो रसप्रतीति मे विघ्न होता है। तात्पर्य यह कि आलम्बन के नखशिख आदि वर्णन, या प्रकृति, नगर, ग्राम आदि के उद्दीपनगत वर्णन में अथवा व्यभिचारियो के कथन में अथवा गुणों और अलंकारों के चक्कर में उलझने से प्रधान अर्थात् रस की हानि हो सकती है। उसी भाँति अभिनवगुप्त ने पुरुषार्थचतुष्टय के साथ सम्बन्धित रस को, यथा—शृङ्गार, वीर, शांत आदि को—प्रधान माना है और शेष को अप्रधान। इसके विपर्यय से भी रस में बाधा पड़ सकती है। इस प्रकार यह दोष कविगत है। किन्तु बहुधा काव्यगृहीता भी इस दोष के फेरे में आ पड़ते है और अप्रधान का आस्वादन प्रधान मान कर करते तथा उसका संदर्भ-विच्छिन्न मूल्यांकन करते हैं; यथा—विभाव को प्रधान मान कर 'मानस' को 'सूरसागर' से ऊँचा स्थान देना, 'कामायनी' के हिमालय-वर्णन को कालिदास के हिमालय-वर्णन और वास्तविक हिमालय से तुलना कर 'प्रसाद' को नीचा दर्जा देना; आधुनिक छोटी कविताओं की रूपवादी, अलंकारवादी आदि आलोचनाएं।

संशययोग के कारण रस के अवयवों के सम्बन्ध में शंका उत्पन्न होने से रस की निर्विघ्न प्रतीति बाधित हो जाती है। स्थायीभाव के विभाव,

अनुभाव, संचारी तो नियत और निश्चित नहीं हैं। सिंह भय का भी विभाव हो सकता है, क्रोध का भी; चिंता और दैन्य शोक के भी संचारी हो सकते हैं और विप्रलंभ शृङ्गार के भी। इस प्रकार इनके विषय मे गृहीता को सदेह हो जाय तो रसास्वाद मे विघ्न होगा। संशययोग न हो, इस हेतु कवि उन अवयवों का उचित 'संयोग' करता है।

उपर्युक्त सात विघ्नो अथवा दस कठिनाइयो का निरास होने पर रसास्वाद हो सकता है, अन्यथा उसकी प्रतीति खंडित अथवा बाधित हो जाती है। काव्यानुभव के लिए अभिनवगुप्त और रिचर्ड्स दोनों ने प्रकारान्तर से यह ध्वनित किया है कि काव्य-गृहीता एक विशिष्ट स्तर से काव्य का आस्वाद ले। यह विशिष्ट स्तर प्रत्येक कविता के साथ गृहीता में होने वाले तनाव और संतुलन के आपसी दबाव से निर्मित होता है। इसलिए यह जरूरी है कि कविता को कविता समझा जाय, न कि 'चीज', जिसे कबूतरखानो मे बाँट कर परखा-समझा जाता है, अथवा जिरह के लिए कठघरे में पेश किया गया गवाह, या मुद्दई, जिसके बखिए हर मिनट उघाडे जाते हैं। स्वीकृत साँचो से वर्गीकरण और उन्हीं के नपे-तुले औजारों के द्वारा विश्लेषण से अक्सर कविता अपनी पहचान खोल नही पाती। इस प्रकार की त्रुटित, और कभी-कभी दुष्ट दृष्टि से की गयी आलोचनाएँ; यथा—छायावाद के कवियों को रसाभास में सिद्धहस्त घोषित करना, नई कविता पर छन्दः शास्त्र, रसशास्त्र, अथवा ध्वनिवादी अथवा समाज, अर्थ, राजनीति आदि के सिद्धान्तों को ख्वाम-ख्वाह घटित कर दोष दिखाना आदि कविता को अप्रासंगिक ही नही, बेजान बना डालती हैं। कवि की निम्न उक्ति मे सचाई है—

वह जीवन नहीं है, जो शब्दो में बँधे सब फार्स है, जो बँधता आया है,
असत्य और अस्वाभाविक है, अभिनय बँधता है,
कविता नहीं, विज्ञान सरल है, कविता विरल।
साहित्य भिग नहीं साहित्य माहित्य है समग्रता का पोषक, सडी आँत के शैतान का भक्षक
प्रचार साहित्य विहितादेश धर्म है, अवसराईना, दूसरों के चेहरे उभाडने वाला
स्वयमाकार पोतनेवाला, अकथ्य रोगाबिद्ध। —कविताएँ शिवचन्द्र शर्मा की

अतः टी०एस० इलियट का यह कथन याद रखना चाहिए,

> आप कह सकते हैं कि आलोचना का विकास कविता के विकास अथवा परिवर्त्तन का लक्षण है; कविता का विकास तो स्वयं ही सामाजिक परिवर्त्तन का लक्षण है...
>
> समय-समय पर, जैसे हर सौ वर्षों पर यह उचित है कि कोई आलोचक प्रकट होकर काव्यानुशीलन का मार्ग प्रशस्त करे, विगत की समीक्षा कर कवि और

कविता का नवीन अधिमान-क्रम निर्धारित कर दे ··प्रत्येक युग की अपनी मांग और पहचान है · आलोचना के पंडित की महत्त्वपूर्ण सेवा यही है कि उसकी गलतियाँ पिछले युग से अलग किस्म की होती हैं।[१२७]

राजशेखर का कथन भी स्मरणीय है—कुछ आलोचक वचन के सौष्ठव (शब्द-गुम्फ) का विवेचक होता है, कोई हृदय (काव्यमर्म) का, कोई सात्त्विक-आंगिक अनुभावों का, कोई गुण का। कोई दोष ही दोष ढूँढ़ता है, कोई गुण-ग्रहणपूर्वक दोष-त्यागी होता है.. तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक हजारों में एक होता है—जो शब्दों की रचना-विधि का भलीभाँति विवेचन करता है, सूक्तियों—अनोखी सूझों से आह्लादित होता है, काव्य के सघन रसामृत का पान करता है और रचना के गूढ़ तात्पर्य को ढूँढ़ निकालता है।[१२८] तथा अन्त में लांजाइन्स का भी—

जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि महान् प्रतिभा निर्दोषता से बहुत दूर होती है, क्योंकि सर्वांगीण शुद्धता में अनिवार्यतः क्षुद्रता की आशंका रहती है और औदात्य में, जैसा कि विपुल सौभाग्य में होता है, कुछ-न-कुछ छिद्र अवश्य रह जाते हैं।[१२९]

अन्ततः, यह जानते हुए कि दोष कुछ, खास कर पर-पीड़क गृहीता को ग्रस्त करते और फिर काव्यास्वाद के भी कारण होते हैं, क्षेत्र भी होते हैं। निष्कर्ष यह कि

रीति, गुण और दोष तीनों मिलकर काव्य की रचना, कला और भावभूमि के संतुलन-सौन्दर्य उपस्थित करने की विधि बताते हैं।[१३०]

काव्यबिम्ब और भारतीय काव्यशास्त्र

काव्यशास्त्र के अनुसार काव्य शब्दार्थमय होता है। उसका पर्यवसान रसास्वाद में माना गया है। इन दोनों, शब्दार्थरूपता और आस्वादरूपता, के बीच जो विशेष प्रक्रियाएँ घटित होती हैं, उनके पारिभाषिक घटक हैं—अलंकार और फिर प्रस्तुत और अप्रस्तुत विधान, गुण और रीति, वक्रोक्ति, औचित्य, साधारणीकरण (और भोग) और अन्त में रमणीयता, रस एवं आनन्द। इनके रू-ब-रू काव्यबिम्ब की स्थिति जान लेना उपयोगी न भी हो, तो प्रासंगिक और रोचक अवश्य होगा।

शब्दशक्तियाँ और काव्यबिम्ब—काव्यशास्त्र में शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गई हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना, हालाँकि व्याकरण को 'लक्षणा' और मीमांसा-न्याय को 'व्यंजना' मान्य नहीं हैं। शब्द, और वाक्य भी, जैसा कि पृष्ठ-११० और ३२६-३२९ पर बताया गया है, काव्य में तत्त्वतः वैया-

रणिक नहीं होते। उनके वैयाकरणिक अथवा अन्य स्वरूप, प्रकार्य आदि अन्तःस्थित, अथवा अन्तर्लीन तो रहते हैं पर प्रकार्यतः और प्रतीतितः पृष्ठ-५१ पर बताए गए विधान से वे विशिष्ट यानी ऐन्द्रिय, गत्वर, संघटनात्मक चैतन्य, एक शब्द में, काव्यबिम्ब-रूप होते हैं।

शब्द का मुख्य या वाच्य अर्थ वाच्य-वाचक संबंध से उत्पन्न अर्थ होता है। इसी को 'अभिधा' या मुख्य व्यापार कहा जाता है। यह शब्द की साक्षात् वृत्ति है। शुक्ल जी के अनुसार (द्रष्टव्य पृष्ठ-३०८)—

> अभिधा द्वारा दो प्रकार का ग्रहण होता है—**बिम्बग्रहण और अर्थग्रहण।** किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिए हुए सफेद पंखड़ियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अंतःकरण में थोड़ी देर के लिए उपस्थित हो जाय; और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थ मात्र समझ कर काम चलाया जाय। व्यवहार में तथा शास्त्रों में इसी दूसरे प्रकार के संकेत-ग्रह से काम चलता है।...कवि का लक्ष्य बिम्ब-ग्रहण कराने का रहता है, केवल अर्थग्रहण कराने का नहीं...बिम्बग्रहण कराने के लिए चित्रण काव्य का प्रथम विधान है।[१११]

इससे यह स्पष्ट हुआ कि काव्यशब्द की अभिधा-शक्ति मे भी विशिष्टता यह होती है कि वह बिम्बाधायक होता है। साथ-साथ यह संकेत भी मिलता है कि 'काव्यशब्द' के सम्यक् आख्यान के लिए 'अभिधा' शब्द समर्थ नही है। फिर शब्द की अभिधा-शक्ति और मुख्यार्थ से ही सारा काम तो चलता नहीं। तब लक्षणा-शक्ति और लक्ष्य-लक्षक सम्बन्ध से अर्थ करना पड़ता है। इसे लाक्षणिक अर्थ या लक्ष्यार्थ कहा जाता है। वैसा शब्द लक्षक कहलाता है। लक्षणा के द्वारा शास्त्रों मे 'अमुख्य अर्थ' का ग्रहण होना बताया जाता है। 'काव्यशब्द' की दृष्टि से यह कथन नितांत असंगत प्रतीत होता है। पर, शास्त्र उसे 'अमुख्य अर्थ' इस कारण मानता है कि लक्ष्यार्थ 'शब्द' से सबधित न होकर, उसके मुख्यार्थ से सबंधित है; और प्रयोजन के कारण आरोपित है। इसलिए लक्षणा के तीन निमित्त बताए जाते हैं—१. मुख्यार्थ का बाध, पर मनमाना नहीं, २. अपि तु मुख्यार्थ से सम्बन्धित, जिसके पाँच भेद बताए गए हैं :—सादृश्य,सामीप्य, समवाय, विपरीत अथवा क्रिया के कारण आया हुआ; और तीसरा निमित्त है, ३. लोक-प्रसिद्धि (रूढ़ि) अथवा वक्ता का प्रयोजन। इस तीसरे को लेकर लक्षणा के दो भेद होते हैं—रूढ़ और प्रयोजनवती। किन्तु, एक तो रूढ़-लक्षक शब्द धीरे-धीरे

अभिधा के अन्तर्गत आ जाते हैं, यथा—कुशल, द्विरेफ, लावण्य, मंडप, तैल आदि और उनमें लक्षणा व्युत्पत्ति के ही आधार पर मान्य होगी; (ठीक मृत रूपक या 'डेड मेट'फर' की तरह) अतएव काव्य मे सामान्यत अन्तर्लीन रहा करेगी; दूसरे, कवि लक्षक शब्दों के प्रयोग से कुछ प्रयोजन सिद्ध करता ही है, इस कारण काव्य प्रधानत: प्रयोजनवती लक्षणा का क्षेत्र है। प्रयोजनवती लक्षणा का प्रयोजन क्या होता है? उसका प्रयोजन व्यग्य होता है। प्रयोजनवती लक्षणा व्यंग्य सहित ही काव्य में आती है, व्यंग्य कही गूढ़होता है, और कहीं अगूढ। शुक्ल जी लक्षणा के कई प्रकार्य बताते हैं—

> मूर्त्त विधान के लिए वह (कविता) भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है। जैसे—'समय बीता जाता है' कहने की अपेक्षा 'समय भागा जाता है' कहना वह अधिक पसंद करेगी। किसी काम से हाथ खींचना, किसी का रुपया खा जाना, कोई बात पी जाना—इत्यादि ऐसी ही कवि-समय-सिद्ध उक्तियाँ हैं, जो बोल-चाल में रूढि होकर आ गयी हैं। लक्षणा द्वारा स्पष्ट और सजीव आकार-प्रदान का विधान प्रायः सब देशों के कवि-कर्म में पाया जाता है।... फिर लक्षणा व्यंग्य-प्रयोजन सिद्ध करने के अतिरिक्त प्रस्तुत भावना के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण भी करती है। लोभ से चचल मन को यदि कहा जाय, 'किसी ओर लपक रहा है' तो उसकी वृत्ति का स्वरूप गोचर हो कर सामने आ जाता है।[१११]

इन प्रकार्यों के कारण काव्य के समस्त उपचार, बहुत सारे अलंकार, वक्रोक्तियाँ, अनेक मुहावरे और वस्तुओ के प्रतीकवत् ग्रहण आदि लक्षणा के ही अन्तर्गत आते है। इसीलिए शुक्ल जी ने बताया है—लक्षणा का पेट बहुत गहरा है।[११२] लक्षणा द्वारा प्रयोजन की प्रतीति शब्द के तीसरे व्यापार से होती है। इसका नाम है व्यंजना। यहाँ व्यग्य-व्यजक सम्बन्ध काम करता है। यह शब्द में भी काम करता है, अर्थ में भी, और फिर चेष्टा, भंगिमाओ, अंगादि-सचालन में भी। इसलिए व्यग्य गूढ़ और अगूढ होने के अलावा, कभी तो अभिधा पर आधारित होता है, कभी लक्षणा पर। शब्द की एक और वृत्ति है तात्पर्य। किन्तु व्यंजना से ही सहृदय को वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, तात्पर्य की सीमा से परे कुछ अधिक अर्थ की प्रतीति होती है। यह अधिक अर्थ ही व्यंग्यार्थ, या ध्वनि अथवा प्रतीयमान कहा जाता है। इसे समझने के लिए प्रतिभा आवश्यक है। व्यग्यार्थ के प्रधान प्रकार हैं वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि, रसादि ध्वनि।

अभिधा की बिम्बग्रहण कराने की शक्ति से काव्यबिम्ब सम्बन्धित है ही। पुन: डॉ० नगेन्द्र के विचार से

> बिम्ब का सम्बन्ध लक्षणा और व्यंजना अथवा ध्वनि से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ट है। लक्षणा में मूर्तिविधान की स्वाभाविक क्षमता निहित है, अतः बिम्ब-निर्माण उसका सहज गुण है। इस दृष्टि से भाषा को चित्रमय बनाने मे लक्षणा का योगदान सर्वाधिक है। व्यंजना में भी बिम्ब उद्भूत करने की शक्ति है और ध्वनि के भेद बिम्बरूप होते हैं।[११९]

तब फिर काव्यबिम्ब और अभिधा, लक्षणा, व्यंजना अथवा उनके प्रकार्य में अन्तर क्या है? अन्तर दृष्टि का तो है ही; पुनः, यह भी है कि काव्यबिम्ब को शब्दशक्तियों के द्वारा उद्बुद्ध मान लेने पर बिम्ब शब्दार्थ से सम्बद्ध दीखते तो जरूर है, किन्तु प्रकार्यतः वे स्वतंत्र-से होते हैं। अर्थात् उनका सम्बन्ध श्रोता की कल्पना से अपेक्षया अधिक होता है। इसी दृष्टि से रिचर्ड्स ने बद्ध (टायड) बिम्ब से अलग स्वच्छन्द (फ्री) बिम्ब का वर्ग स्वीकार किया है। मूल बात यह कि बिम्ब गृहीता की सबसे पहली मनो-दैहिक प्रतिक्रिया है, और वह काव्य के सबसे निकट के तत्त्व का साक्षात्कार है—अतरंग तथा व्यापक सत्ता की प्रतीति है। बिम्ब शब्दार्थ और अनुभव (लोकानुभव भी) के बीच संवादी होता है। पर अभिधा, लक्षणा, व्यजना शास्त्र-बुद्धि द्वारा परिकल्पित शब्द के व्यापार है। उस रूप में और काव्या-स्वाद की उदबुद्धि के शब्दगत उपादान की प्रक्रिया को समझने-परिभाषित करने के लिए वे उपयोगी हो सकते है। पर 'काव्यबिम्ब' उनसे महत्त्वपूर्ण अंतरंग तत्त्व हैं। बिम्ब में वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव हो जायगा, पर समस्त काव्यबिम्ब उनमें नही समा सकता; यथा—औच्चारणिक, लयात्मक, रूपाकृतिगत अनेक सूक्ष्म बिम्ब। निम्न कविताएँ ली जायँ—

१ चींटी को देखो
तम के तागे सी जो हिलडुल
वह है पिपीलिका पाँति।
वह सरल, विरल काली रेखा
चलती लघु पद पल पल मिल जुल
—पन्त

२ भरे जगमगाते हाल में
मैं खड़ा था
सोचता—करूँ क्या
हारा थका उन्हे ले
... ...
अब भी बाहर निकली थी
तब मुझे अपना देश याद आया
टांगे तथा बांहे—लिपटी
काला कोट और पतलून ओढे
अजब-सा
अपनी बाहों और टाँगों का
कुर्सी पर जा बैठा
पर बाहें और टांगें
... ...
जहाँ हम जमीन पर बैठते थे
और अपने पास रहती थी।
—बिपिन कुमार अग्रवाल

इनमे सहृदय को प्रतीति बिम्ब की होती है या शब्दशक्ति की? पहली में 'अभिधा' या वाच्यार्थ और दूसरी मे 'लक्षणा' या लक्ष्यार्थ का सौन्दर्य है, यह कह देने से काम चल जाता है क्या? रचना करते समय कवि-चित्त के समक्ष शब्दशक्तियों, और अभिधा, लक्षणा आदि की विशेष भंगिमा के प्रदर्शन का उद्देश्य था या कि वर्ण्यवस्तु के बिम्ब थे और उनकी ही अभिव्यक्ति का लक्ष्य था? 'निराला' की प्रसिद्ध कविता 'जूही की कली' संश्लिष्ट बिम्बमाला मानी जाकर अधिक आस्वाद्य होती है या पंक्ति-पंक्ति, शब्द-शब्द को विश्लिष्ट कर कहीं अभिधा, कही लक्षणा, कही प्रतीक, कही रूपक, कही व्यंजना मान कर? इन अभिधानो की तुलना मे उसका सारा चित्र कही अधिक संश्लिष्ट है।[११५] अतः निम्न कथन अनुचित नही है, अतिवादी चाहे हो,

> प्राचीन साहित्यशास्त्र के इन विभावनों...लक्षणा तथा व्यंजना का सादृश्य नव्य समीक्षा के विभावनो—प्रतीक तथा बिम्ब या भावचित्र के साथ एकदम नहीं स्थापित किया जा सकता। प्रतीक और लक्षणा की स्थिति परस्पर निकट है, पर दोनों एक नही हैं। हाँ, लक्षणा और मेटाफर में समानता देखी जा सकती है।...लक्षणा या मेटाफर में भाव को एक स्थिति से दूसरी स्थिति में प्रक्षिप्त किया जाता है;...परन्तु प्रतीक की स्थिति लक्षणा और मेटाफर दोनों से भिन्न है।... व्यंजना बिम्ब की तुलना में नही रखी जा सकती... व्यंजना प्रायः ऐसा अर्थ देती है, जो सामान्यतः उन शब्दो के संयोजन से प्रकट नहीं होता।[११६]

इस विषय पर डॉ० नगेन्द्र के निष्कर्ष अपेक्षया युक्तियुक्त हैं—

> लक्षणा-बिम्ब विधान का अत्यन्त समर्थ उपकरण है...बिम्ब के निर्माण मे उसका योग प्रायः रहता है...परन्तु लक्ष्यार्थ और बिम्ब में ऐकात्म्य नहीं है। इसी प्रकार व्यंग्यार्थ-ध्वन्यर्थ भी बिम्बरूप होता है किन्तु ध्वन्यर्थ सदा बिम्ब-रूप नहीं होता।[११७] [इसमें अभिधा को भी शुमार कर लेना होगा।]

बात यह है कि शब्दशक्तियाँ शब्दार्थ के शास्त्रीय विश्लेषण-वर्गीकरण-आकलन के लिए व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि की शब्दार्थ-विवेचना की पद्धति पर, जैसे उनके जवाब में काव्य के शास्त्रकारों की बुद्धि द्वारा गढी गई अवधारणाएं हैं। काव्यबिम्ब के शब्दार्थ, उनके व्यापार और कवि के शब्द-विधान की पडताल के लिए वे विशिष्ट बौद्धिक संकल्पनाएँ है। बिम्बत्व की शक्तियाँ भी उनमे निहित मानी, अथवा देखी जाती है, यह काव्यबिम्ब की ओर से उन्हे समझने का नया उपक्रम है, जो आधुनिकीकरण की दृष्टि से ही नहीं 'बिम्बन' की काव्यगत मनोवैज्ञानिक अनिवार्यता के

याल से, पुनराख्यान के लिए भी, उपयोगी है। इस संबंध में शुक्ल जी
अच्छी सलाह भी दी है—

शब्दशक्ति का विषय बड़े महत्त्व का है। वर्तमान साहित्य-सेवियों को इसके संबंध में विचार परम्परा जारी रखनी चाहिए। काव्य की मीमांसा या स्वच्छ समीक्षा के लिए यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।[१३८]

अलकार और काव्यबिम्ब—इस विषय पर पृष्ठ ३१०-३२३, ३३५-३५३, ३६३-३६५, ५५५-५७ और पर विचार किया जा चुका है। सारांशत:, **आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र** के शब्दों मे, यह कि—

कविता में जो बाह्यतः विशेषता दिखाई पड़ी, वह कहीं अलकार, कहीं रीति कहीं गुण मानी गयी और विश्लेषण करने पर शब्द-विशिष्टता शब्दालंकार, अर्थ-विशिष्टता अर्थालकार; पदविन्यासगत विशिष्टता रीति कहलाई तथा उन अलकारों में औपम्य, वक्रोक्ति, आतिशय्य की मूलभूत प्रवृत्ति का भी उद्घाटन किया गया एवं उनके प्रभावरूप मानस-पक्ष की दृष्टि से उन्हें गुण नाम दिया गया और सब के चित्त-स्पन्दन को दीप्ति, द्रुति, द्रवणशीलता बतलाया गया, जो काव्य की पूर्ण मानस-प्रतीति के लिए भूमिका-रूप हुआ।[१३९]

अलंकार आदि काव्यबिम्ब की पूर्ण मानस-प्रतीति के लिए भूमिका-रूप तो हुए, किन्तु बाद के कतिपय आचार्यों और कवियो ने अलंकार को सीमित अर्थ में ग्रहण कर १. शब्द-चित्र २. अर्थ-चित्र और ३. उभय-चित्र के महत्त्व का निदर्शन कुछ इस प्रकार किया कि मानस-प्रतीति की पूर्णता खंडित हुई और काव्य कहीं-कहीं अलकार के सिवा कुछ भी न बचा। फलत: निम्न पंक्तियो में अलंकार तो है, पर 'बिम्ब' नहीं—

मुकुर उज्ज्वल-मंजु निकेत में मलिनता अति की प्रतिबिम्बता।
परम नीरसता-सह-आवृत्त सरसता-शुचिता-युत वस्तु थी॥
—हरिऔध : प्रियप्रवास

प्रमाण, संभावना, असंभव, भाविक, तद्गुण, अल्प आदि अलंकार इसी प्रकार के अनाकर्षक विधान है। कुछ अलकारों को छोड़कर शेष के नाम भी पूर्णत: काव्येतर शास्त्रादि से लिए गए हैं, यथा—अत्युक्ति, भ्रांतिमान् आदि नाम काव्य-क्षेत्र में असंगत हैं। पुन: अलंकारवत्ता के कारण कभी-कभी वर्ण्यवस्तु का बिम्ब अवरुद्ध, या विनष्ट भी होता है। यथा—निम्न रूपको मे बिम्ब का औज्ज्वल्य दूरारूढ़ता अथवा अतिशयता से या तो दब गया है या विनष्ट हुआ है—

१. सोने की वह मेघ चील
अब बैठ गई दिन अंडे पर,
गगन बीड से सूरज ग्वाला हाँक रहा है दिन की गाएँ।
अपने चमकीले पंखों में ले अंधकार
नदी बधू की नथ का मोती चील ले गई
—नरेश मेहता ; मेरा समर्पित एकांत

२. मैं नहीं हूँ
त्रिविध अथवा बिविध
ये एक भी आकार
किन्तु सीमा-रुद्ध, स्वयमाबद्ध।
यह त्रिभुज, यह चतुर्भुज, यह वृत्त
रेखा-पराजित
सुन्दर स्पष्ट
बिन्दु हूँ मैं
—प्रयाग नारायण त्रिपाठी; तीसरा सप्तक

३. कैमरे के लैंस-सी आँखें बुझी हुई
जिनके मुख नि:शब्द खुले है।
दाँतेदार पहिए-सा दिल घम जाता है,
'रेडियो एक्टिव' धूल की पर्तें जमी बैठी है।
सब के पैर बारी-बारी से उठते हैं।
बिगड़े कम्बख्त लाउडस्पीकर-से
रिपिटों-सी ठुकी हुई निश्चल उँगलियाँ है
वार्निश-से पुते हुए चेहरों पर
टाइपराइटर की 'की' तरह
—भारत भूषण अग्रवाल; ओ अप्रस्तुत मन

उसी भाँति कभी-कभी अत्युक्ति, असंगति, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों से काव्यबिम्ब असंगत अथवा बिखरा हुआ भी प्रतीत होता है। बिम्ब सीधा और स्वत: प्रभावित करता है। कोई जरूरी नही कि उसमें अलंकार हो। अतएव अलंकार से बिम्ब का क्षेत्र भी बड़ा है, और काव्यसत्त्व से सम्बन्ध भी गहरा है। दूसरी ओर सीमित अर्थ में जो अलंकार काव्य मे आते हैं, वे वर्ण्यवस्तु को अथवा उसके प्रति कवि के रागादि को गोचर, स्पष्ट, प्रकर्षपूर्ण करने के लिए अथवा पाठक मे भाव का अनुभव गाढ़ बनाने के उद्देश्य से। ये उद्देश्य और प्रकार्य बिम्ब के ही तो हैं। फिर यह भी याद रखना ही चाहिए कि कवियो के द्वारा कुछ ऐसे बिम्ब भी सृष्ट या निर्मित होते रहते हैं, जो स्वीकृत अलंकार-प्रणाली से बाहर के लगते हैं। आगे चलकर आचार्य उनके सौन्दर्याधायक तत्त्व के लिए नए अलंकारों के नाम गढ़ते चलते है। यथा—ध्वानबिम्ब की निम्न कविता-पंक्तियाँ 'अनुप्रास' में नही सिमटतीं;

दल बादल भिड गये धरा धस चली धम से। भडक उठा धय कड़क तड़क से चमक दमक से —गुप्त

चमक-झमक-मय मन्त्र वशीकर छहर-घहर-मय विष-सीकर
स्वर्गसीकर से इन्द्रधनुषधर, कामरूप घनश्याम अमर। —पंत

झूम झूम मृदु गरज गरज घनघोर राग अमर अंबर में भर निज रोर।
झर झर झर निर्झर गिरि सर में घर मरु तरु मर्मर सागर में। —निराला

चीड़-वनों में गंध-अंध उन्मद पतंग की जहाँ-तहाँ टकराहट।
रेतीले कगार का गिरना छप्-छड़ाप्
झंझा की फुफकार, तप्त,
पेड़ों का अरराकर टूट टूट कर गिरना।

—अज्ञेय

ध्वानबिम्ब का अर्थानुप्रवेशी रूप कमिंग्ज की कविता में पृष्ठ ४२० और ४४७ पर बताया गया है। ध्वानबिम्ब का दृश्य और स्पृश्य रूप शेर की चिंघाड और गुर्राहट को साक्षात् 'सिर पर लाद देनेवाली' निम्न कविता में प्रयुक्त हैं—

Thus roared the Lions	ऐसे दहाड़े शेर
We want Daniel Daniel Daniel	हमें चाहिए डेनियल डेनियल डेनियल
We want DANIEL DANIEL DANIEL	हमें चाहिए डेनियल डेनियल डेनियल
Gr r r r r r r r r r	ग र्र्र्र्र्र्र्र्र्र
Gr r r r r r r r	ग र्र्र्र्र्र्र्र्र

—विचेल लिन्डसे

उसी भांति 'दिव्यता' का ढिंढोरा पीटने वालों और यौनाकर्षण से घुटनेवालों पर व्यंग्य करते हुए कवि ने आज की ऊब को निम्न कविताओं में दृश्य और स्पृश्य बनाने की 'शरारत भरी' हरकत की है—

फेंका गया है—	दि दिव्यदि
व्यदि दिव्य दिदिदि	दिदिदि व्य व्य
दिव्यदि	व्यदिव्य···दिदि

मुद्राराक्षस

ताक कमसिनवारी,	ताक कम सिनवारी,
ताक कम सिन वारि	सिनवारि, सिनवारि।
ता कमसि नवारि	ताक कमसि नवारि
ताक कमसि नवारि।	कमसिन कमसिनारि।
इरावनि समक कात्	इरावनि सम ककात
इराव निसम ककात	सम ककात सिनवारि।

—निराला ; सांध्यकाकली पृष्ठ ४७।

स्वीकृत 'अलंकारों' के द्वारा उनका चारुत्व परिभाषित नहीं होता। पुनः 'बिम्ब' कविता को जहाँ तक उठा और फैला कर आस्वाद्य बनाएगा और उसके मूल्यांकन के लिए जितने शुद्ध और प्रशस्त मार्ग उद्घाटित करेगा, अलंकार के उपकरण उतने नहीं कर सकेंगे। यथा—निम्न कविता ली जाय—

दूज का चाँद

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया	तुम्हारे मन्दिर के विस्तृत आँगन में
सहमा-सा रख दिया गया।	—अज्ञेय : आँगन के पार द्वार

भौगोलिक-पारिवारिक परिदृश्य के बाह्य और शब्दार्थ-भावादि के आंतरिक संश्लेष में तन्मय इस पारदर्शी काव्यबिम्ब के द्वारा जिस कांति, औज्ज्वल्य और सौभाग्य गुण से मंडित अर्पण-भाव का 'सहमा-सा' पवित्र अनुभव संवेद्य होता है, उसे यमक, अनुप्रास, रूपक आदि अलंकारों के विधान द्वारा अनुभूत किया अथवा परखा जा सकता है क्या? अलंकार तो उसे भंग ही करेगा।

प्राचीन काव्यशास्त्रों में अलंकारों को बिम्बवत् मानने की धारणा का संकेत मिलता है। पिछले पृष्ठों-१५८ और ५५५ पर यह बताया गया है कि भरत मुनि ने (नाट्यशास्त्र अध्याय) १६ काव्य-लक्षणों को 'काव्यविभूषण' (अध्याय १७) माना है, पर लक्षणों के विस्तृत परिचय भरत ने नहीं दिए हैं।

अलंकारैर्गुणैश्चैव बहुभिः समलंकृतम्। भूषणैरिव चित्रार्थैस्तद्भूषणमिति स्मृतम्।

—नाट्यशास्त्र १७/६

यह 'भूषण' नामक 'काव्यलक्षण' का परिचय है। इसमें 'चित्रत्व' विशेषता है; इसका उदाहरण है–'मेघदूत'। इससे 'काव्यलक्षण' को बिम्बवत् मानने का संकेत मिलता है। अभिनवगुप्त के काव्यगुरु भट्टतौत के भी अनुसार लक्षण अलंकार से पृथक् हैं, पर उनके योग से काव्य 'चित्र'-रूप में विभूषित होता है। यह कथन उपर्युक्त 'भूषण' की भरत की उपर्युक्त परिभाषा के अनुरूप है। अभिनवगुप्त ने 'लक्षण' के सम्बन्ध में अनेक प्राचीन मतों में से दस का उल्लेख किया है, जिनमें से तीसरे में काव्य के प्रबंध-धर्म के चित्रत्व को 'लक्षण' माना गया है और नवें में 'शब्देन अर्थेन चित्रत्व लक्षणम्'। पिछले पृष्ठ पर यह भी बताया गया है कि दण्डी आदि 'लक्षणों' से ही अलंकारों की रचना और विकास का मार्ग मानते हैं। इनसे अलकारों मे 'चित्रत्व' की धारणा की मान्यता द्योतित होती है। पुनः अभिनवगुप्त के अनुसार काव्य में छन्द भूमिकल्प है, वृत्तादि संघटना क्षेत्रपरिग्रह है और अलंकार आदि भित्ति-चित्रादि का काम करते हैं।[१४०] इस रूपक-कथन और भानुदत्त के काव्य-पुरुष के निम्न रूपक मे जिसमें अलंकार 'गुण' को काव्य-पुरूष का इन्द्रियस्थानीय बताया गया है—

अथ रसा आत्मानः तेषां शरीरं काव्यं तस्य यतिरीतिवृत्तिदोष तदभाव गुणालकारा इन्द्रियाणि व्युत्पत्तयः शक्तयः प्राणाः अभ्यासो मनः।[१४१]

अलंकार की ऐन्द्रियता और चित्रधर्मिता का स्पष्ट स्वीकार है। पुनः राजशेखर ने काव्यमीमांसा के 'अर्थव्याप्ति' शीर्षक नवें अध्याय में मुक्तक और प्रबध-काव्य के पाँच-पाँच भेद बताए हैं, जिनमे द्वितीय भेद 'चित्र' है। उसकी विशेषता है–विस्तार के साथ वर्णन। उसके मुक्तकगत और प्रबंधगत उदाहरणों मे विस्तार ही के साथ ऐन्द्रिय विशेषताएँ भी एकदम साफ झलकती हैं। उन्हे पारिभाषिक रूप से काव्यबिम्ब कह सकते हैं। इन सबसे यह धारणा तो पुष्ट होती ही है कि चित्रधर्मिता अलकार आदि की विशेषता मानी जाती रही है।

पुनः आनन्दवर्धन ने यह बताया है कि वाच्य-वाचक-वैचित्र्य से ही रचित अर्थात् प्रतीयमान अर्थ-विरहित काव्य जब आलेख्य (चित्र) की भाँति

मालूम पड़ता है, तो उसे 'चित्रकाव्य' कहा जाएगा। उसके दो भेद हैं–१. शब्दचित्र, जिसमे यमक आदि अलकार प्रधान होते हैं, अथवा वे आलेख्य की भाँति चक्रबंध, मांगलिकबंध, आयुधबंध आदि के भेदो में रचित होते हैं; और २. वाच्यचित्र जिसमे रसहीन उत्प्रेक्षा आदि अलंकार मुख्य रूप मे रहते हैं। आगे चल कर अप्पय दीक्षित ने काव्य के दो भेदों—ध्वनिकाव्य और गुणीभूत व्यंग्य काव्य—के अतिरिक्त तीसरा प्रकार वैसे का माना है, जो अव्यंग्य—अस्फुट व्यंग्य—हो कर भी चारु हों, अर्थात् चित्र काव्य। इसके तीन प्रभेद हैं–शब्दचित्र, अर्थचित्र, उभयचित्र। पंडितराज ने अर्थचित्र और समप्रधान उभयचित्र को काव्य के मध्यम तथा शब्दचित्र को निम्न दर्जे मे रख कर अलकारो को भी महिमा दी। शब्दचित्र शब्दालंकार मे और अर्थचित्र, उभयचित्र अर्थालकार में सामान्यतः वर्गीकृत हो सकें, तो प्रथम वर्ग प्रधानतः श्रव्य बिम्ब का और द्वितीय दृश्यादि का क्षेत्र हो सकेगा। ऐसे सकेत संस्कृत के अलंकार-शास्त्रो में मिलते हैं। इन सब के आधार पर अलकारो का बिम्बत्व की दृष्टि से विभाजन भी हो सकता है। निष्कर्षतः, काव्य से बिम्बका संबंध 'अलंकार' से अधिक निकट का, अंतरंग, व्यापक और सूक्ष्म गहन है। किन्तु, कभी-कभी रस शास्त्रीय पक्षधरता के कारण 'शब्दचित्र' और 'बिम्ब' के अर्थ आज भी विचलित होते दिखाई पडते हैं। डा० नगेन्द्र ने अज्ञेय की 'सोन-मछली' (पृष्ठ-२०८ पर उद्धृत) के प्रमाता की कल्पना मे उद्बुद्ध) 'बिम्ब को अत्यंत आकर्षक और सजीव' बता कर भी उसे 'शब्द-चित्र' मान लिया है। फिर पूछा है—क्या शब्द-चित्र को रससिक्त करने वाली संवेदना' "इसकी चरम सिद्धि नहीं है ? उत्तर में उनका निष्कर्ष है—बिम्ब निश्चय ही कला की सिद्धि है, पर उस बिम्ब को जीवंत करने वाला तत्त्व तो मानव-चेतना का स्पर्श है, और उसी का नाम 'रस' है।[१४२] इनसे जो समीकरण कथित या लक्षित होते हैं, वे हैं—शब्दचित्र = (प्रमाता की कल्पना में उद्बुद्ध) बिम्ब, बिम्ब = कलासिद्धि, बिम्ब + मानव-चेतना का स्पर्श = रस। अपने प्रकरण में डा० नगेन्द्र का कथन सोद्देश्य और उचित तो है, पर क्या समीकरण भी निर्भ्रान्ति है ?

प्रस्तुत और अप्रस्तुत विधान तथा काव्यबिम्ब–पिछले पृष्ठ पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत विधान का परिचय दिया गया है। पृष्ठ ३४२ पर उल्लिखित मेटाफर के सम्यक् ग्रहण के सम्बन्ध में रिचर्ड्स का कथन कि वह अद्वय-रूप संश्लिष्ट बिम्ब है, 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत' के समस्त विधान के सम्बन्ध में भी सत्य है।

काव्यबिम्ब दोनों को अद्वय-रूप अनुभूत कराता है। अप्रस्तुत-विधान से इसी हेतु वह अधिक व्यापक है।[१४३] कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि 'अप्रस्तुत-विधान कविता में उपमानों का प्रयोग और संगठन है, भाषागत संगठन की दृष्टि से वह काफी ऊपरी स्थिति है; बिम्ब उसकी अपेक्षा आन्तरिक तत्त्व है।'[१४४]

गुण, रीति और काव्यबिम्ब—पिछले पृष्ठों (४३६-४४२ और५६२-५७२) पर इस विषय से सम्बन्धित विचार आ गए हैं। इस सदर्भ में **वामन** अपने गुणात्मा-रूप रीति-सिद्धान्त के निर्वचन में काव्यबिम्ब की आधुनिक अवधारणा को किस प्रकार प्रत्याशित कर गए थे, इसका रोचक संकेत भी दिया जा चुका है। वहीं गुणों के पुनराख्यान आदि के संबंध में भी कुछ विचार दिए गये हैं। आधुनिक काव्य-पद्धति की विविध भंगिमाओं को देखते हुए गुणों और रीतियों का उद्घाटन करना चाहिये। काव्यबिम्ब की दृष्टि से रीतियों को अब नाद-प्रभाव-भर, जैसा कि शुक्ल जी ने बताया है,[१४५] नहीं माना जाना चाहिए। परुष, कोमल, उदात्त और मिश्र रूप के नाद-प्रभाव प्रस्तुत करने वाले काव्य-बिम्बों में साथ ही साथ प्रवाह की भी विविध गतियाँ, बंध और मुद्राएँ आदि दीखती हैं; यथा—'मेलप' 'जलसाधर' आदि संग्रहों की कविताओं में जो झोंकें, बवंडर वेग कौंध, (समाज और इतिहास-धारा के 'स्वीप' और 'फ्लैश' हैं), वे नाद-प्रभाव-भर नहीं हैं। काव्यबिम्ब में उनके आकलन-निर्देशन के लिये रीतियों का भी पुनराख्यान जरूरी है। पुनः गुणात्मा-रूप रीति (फार्म और स्टाइल भी) जैसा कि पृष्ठ ४४९-५० की टिप्पणी-संख्या-४० पर बताई गई है गृहीताके मनोविज्ञान को विकल और फिर तुष्ट करने के लिए रचित होती है। अतः उनका परिचय ऐसा ही होना चाहिए।

वक्रोक्ति और काव्यबिम्ब—पृष्ठ ३२६-३२७ पर यह बताया जा चुका है कि काव्य में 'वाक्य' वैयाकरणिक स्वरूप और प्रकृति का नहीं होता। काव्यगत भाषा की वैयाकरणिक इकाई 'शब्द' हो, तो व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक इकाई है 'वाक्य'; पर 'शब्द' तथा 'वाक्य' दोनों काव्य मे 'बिम्बरूपता' प्राप्त करते हैं, 'स्वस्पन्द सुन्दर' तथा 'सहृदयाह्लादक' हो उठते हैं। ऐसा न हो, तो 'शब्द' शब्द ही रहेगा, 'काव्यशब्द' नही कहला सकेगा, 'वाक्य' मात्र वाक्य होगा, काव्यत्व प्राप्त नहीं कर सकेगा। पुनः कवि 'वाक्य' नहीं लिखता; वह एक भाव-रूप, एक कल्पना-बिम्ब, एक विचार-संरूप, संदर्भगत पूर्णता में अपनी सकल 'अभिव्यक्ति' रखता है। अपने आप में पूर्ण इस शब्दार्थ-संस्थान को 'वचन' या 'उक्ति' कहना 'वाक्य' कहने से

अधिक सार्थक है। काव्य में 'उक्ति' प्रधानतः विशिष्ट या 'वक्र' होती है। अतः उसे 'वक्रोक्ति' भी कहते हैं। पिछले पृष्ठ ११०-१११, १५६-१६०, १६२-३ और ५६४, ५६६ आदि पर वक्रोक्ति के सम्बन्ध में यथा-सदर्भ सकेत दिए जा चुके हैं। वक्रोक्ति चाहे भामह की समावेशी दृष्टि से 'अर्थ' को 'विभावित' करने वाली, सौन्दर्य-मूल या अलंकार-मूल आदि मानी जाय, अथवा कुन्तक की सूक्ष्मा-वगाही दृष्टि से काव्य-मूल, है यह काव्यबिम्ब के स्वरूप को परखने-समझने का विशेष शास्त्रीय आधार। वक्रोक्ति जिस 'स्वभावोक्ति' पर खड़ी समझी गई है, वह तो 'बिम्बरूप' होती ही है, उसके आधार पर वह जिस स्वरूप की प्रस्तुति करती है, उसे भी 'बिम्बरूप' ही माना जायगा। यही नहीं, उसकी सहितता (द्रष्टव्य पृष्ठ-४४१-४४४) और आह्लादकत्व (देखें पृष्ठ-६१४) दोनों बिम्बरूप ही होते हैं। तात्पर्य यह कि विश्लेषणात्मक बुद्धि के द्वारा पारिभाषिक शब्द मे जो 'बात' 'वक्रता' मानी जायगी, चित्तवृत्ति पर प्रतिच्छायित होने के कारण प्रतीतितः वह काव्यबिम्ब ही है। निष्कर्ष यह कि 'काव्यबिम्ब' अधिक अंतरंग और समावेशी अवधारणा है; बाद के बोध का विश्लेषणात्मक वर्गीकरण 'वक्रोक्ति' के आधार पर किया अवश्य जा सकता है (द्रष्टव्य अगला अध्याय पृष्ठ-६४०-६४६)।

औचित्य और काव्यबिम्ब :—इस विषय पर विचार पिछले कई स्थलों (देखें पृष्ठ-५८६) पर किया जा चुका है, जिसका निष्कर्ष यह कि औचित्य अतिव्यापक और अंतरंग, अतः अनिवार्य विधान है; पर 'औचित्य' ही काव्य अथवा 'काव्यबिम्ब' हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। क्षेमेन्द्र के द्वारा भी वह 'रससिद्ध' काव्य का ही 'स्थिर जीवित' माना गया है। आनन्दवर्धन ने भी उसे 'रस' की 'परा उपनिषद्' या परम गुह्य रहस्य बताया है। तात्पर्य यह कि 'औचित्य' 'काव्यबिम्ब' का भी नितांत अंतरग, गूढ़ और सूक्ष्म विधायक और सयोजक तत्त्व तो है, पर प्रथमतः संवेद्यता और प्रतीति 'काव्यबिम्ब' की होती है; तदुपरान्त संगठन, अर्थ आदि के 'औचित्य' की।

साधारणीकरण और काव्यबिम्ब—मानव-सत्य को परख कर मनुष्य को सहज मानवीय स्तर पर ले आने का क्रांतिकारी कार्य भरत मुनि ने 'नाट्य-रस' की प्रकल्पना के द्वारा किया, तो भट्टनायक ने उसे शक्ति प्रदान की 'रस' को समस्त सामाजिको, देश और काल विशेष के सामाजिकों में ही नहीं, सभी देशों, सभी कालों के सभी सामाजिकों मे प्रतिष्ठित कर। भट्टनायक ने यह काम किया भावकत्व, भोजकत्व और भोग के व्यापार की प्रकल्पना द्वारा 'रस' की व्याख्या प्रस्तुत कर। उनका कथन है कि—

विभावादि साधारणीकरणात्मना.. भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः... भोगेन परमुच्यते इति। अर्थात् विभावादि के साधारणीकरण-रूप भावकत्व नामक व्यापार द्वारा भाव्यमान स्थायिभाव-रूप रस भोजकत्व व्यापार के द्वारा आस्वादित होता है।

तात्पर्य यह कि काव्यगत निर्दोषता, गुण, अलंकार आदि के कारण शब्दों मे स्थित साधारणीकरण-व्यापार होता है। 'विभावादि का साधारणीकरण होता है'; 'इस भावकत्व-व्यापार से रस भावित होता है'—इन वाक्यो का मतलब यह हुआ कि रामादि की रति आदि चित्तवृत्ति साधारणीकृत हो जाती है। साधारणीकरण का अर्थ तब है, रामत्व-सीतात्व आदि विशेषता से मुक्त हो कर उनका साधारण मानव-सहज रति-आदि भाव से युक्त रूपों मे उपस्थित होना। तब सामाजिक को उसका जैसा साक्षात्कार होता है, वह 'भोग' है। भोगीकरण में सत्त्वगुण की अवस्थिति के कारण सामाजिक को रस आत्मानंद-रूप प्रतीत होता है। इस प्रकार भट्टनायक ने दो महत्वपूर्ण उपपत्तियाँ रखीं—१. विभावादि का साधारणीकरण और २. सामाजिक का रसास्वाद मे अन्तर्भाव। आगे चल कर अभिनवगुप्त आदि ने रस के समस्त अवयवो, और प्रधान रूप से, आस्वादक के स्थायिभाव के साधारणीकरण का सिद्धान्त रखा। पुनः, बाद मे प्रकारान्तर से **पंडितराज** ने और स्पष्टतः **विश्वनाथ** ने आश्रय के साथ आस्वादक के तादात्म्य को भी साधारणीकरण-व्यापार में महत्त्वपूर्ण सिद्ध किया। हिन्दी-काव्यलोचन मे **आ० रामचन्द्र शुक्ल** ने आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है और बताया है कि कही आश्रय के साथ तादात्म्य होता है, तो कही नही भी होता है। पुनः उन्होंने साधारणीकरण मे बिम्बत्व का महत्त्व बताकर उसका मनोवैज्ञानिक आख्यान भी किया है—

व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है...थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है।[११९]

प० केशव प्रसाद मिश्र शुक्ल जी से असहमत हैं, और भाव का साधारणीकरण मानते हैं। **डॉ० नगेन्द्र** 'कवि की अनुभूति' या 'कवि-भावना' का साधारणीकरण होना सिद्ध करते हैं। उनके मत का भी प्रतिवाद और विरोध हुआ है। वस्तुतः यह मत अभिनवगुप्त का है—

कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरःसरो नटव्यापारः।
सैव संवित परमार्थतो रसः......११७

अर्थात् काव्यगत सम्पूर्ण व्यापार का उद्गम कविगत साधारणीभूत संविद् में ही होता है।

'कवि-भावना' या 'कवि की अनुभूति' से 'काव्य-भावना' या 'काव्यानुभूति' कहने को अधिक उपयुक्त समझने वाले विद्वान् भी हैं (हालाँकि इस 'बारीक कताई' से जाल सुलझता नहीं है); बाबू गुलाबराय बताते हैं कि 'जनता के मन में भी परम्परागत संस्कारों से एक सामान्य भावना बनी रहती है।' 'कवि-भावना' या 'काव्य-भावना' का साधारणीकरण मानने पर जनमानस में रहने वाली 'सामान्य भावना' की वस्तुगतता उपेक्षित हो जाती है। कुछ विद्वान् न तो सभी प्रकार की कविताओं के लिए रस-विधान को ही काव्यास्वाद का एकमात्र विधान स्वीकार करते हैं, न सबके लिए साधारणीकरण-व्यापार को ही आवश्यक मानते है। इस प्रकार साधारणीकरण को लेकर विद्वानों ने अच्छा-खासा असाधारणीकरण-व्यापार घटित किया है।

आधुनिक लोकतांत्रिक औदार्य, सह-अस्तित्व की व्यापक समावेशी दृष्टि तथा व्यक्तिगत संवेदना आदि की बेबाक अभिव्यक्ति के लिए वैज्ञानिक प्रायोगिकता के महत्त्व की स्वीकृति हुई दीखती है। फलतः कविता के क्षेत्र में और फिर आस्वादन की प्रक्रिया और उसकी पड़ताल के तौर-तरीकों में जितने अधिक वैविध्य और परिवर्तन हुए हैं, कि लगता है अब साधारणीकरण-प्रक्रिया का पुनराख्यान मनोविज्ञान-सम्मत रूप में होना ही चाहिए। शुक्ल जी इस कार्य में भी अग्रणी माने जायँगे। इधर अनेक विद्वान् इस पर काम कर भी रहे है।

साधारणीकरण अथवा काव्य-भावन से सम्बन्धित विविध प्रक्रियाओं-उपपत्तियों की यथा-संदर्भ चर्चाएँ पिछले पृष्ठों, जैसे—भावन-व्यापार के विभिन्न अर्थादि—पृष्ठ-१३६-१४६; प्रेषण और साधारणीकरण—पृष्ठ-२८८-२६८, ३०६-३१०; साधारणीकरण और सामूहिक अचेतन—पृष्ठ २६-२७, १००, ४६८-५०८, भोग—पृष्ठ-२५, व्यक्ति-सत्ता का विलयन—पृष्ठ-२६, ६६-१००, और १५०-१५१ आदि पर हुई हैं। इस संदर्भ में पहली बात यह स्पष्ट कर देनी है, कि

रसिकगत प्रतीति में अथवा इस प्रतीति को गोचर करने वाले भावों में जब तक साधारणीभाव न होगा, तब तक रसास्वाद ही संभव नहीं होता। विभावादि ही एकमात्र उपाय हैं जिससे कि इन दोनों में यह साधारणीभाव आ सकता है। विभावादि ही सर्वप्रथम साधारण्य-से प्रतीत होते हैं; तब रत्यादि भी साधारण्य-से ही प्रतीत होते हैं। उपाय ही साधारणीभूत होते

से पाठक की व्यक्तिगत सीमाएँ विगलित हो जाती हैं, तथा उनकी प्रतीति में भी व्यापकता, अपरिमितता तथा साधारण्य आ जाता है।[१४८]

दूसरी बात, यह कि चाहे विभावादि साधारणीकृत हो और/अथवा समस्त रसावयव और पाठक की चित्तवृत्ति, उस अवस्था में भी वे प्रत्ययात्मक, अथवा बिम्बत्व-विनिर्मुक्त नही होते। सामान्य कथन भी सामान्य हो सकता है; पर निर्विशेष तो नहीं होता। काव्य में तो सब कुछ विशेष रहता है। उसका 'काव्य-बिम्बत्व' ऊर्जित ही रहता है। अतः शुक्ल जी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक कहते हैं कि—

कल्पना में मूर्त्ति तो विशेष ही की होगी,· व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा…सामान्य धर्म की रहती है…

रस-भावादि भी विभावसाक्षात्कारात्मक ही माने गये हैं। अतः जैसा कि पिछले पृष्ठों ८१-८२, १५२-१६४ और ३२९ पर बताया गया है भावादि भी बिम्बरूप प्रतिभासित होते और आस्वादक की चित्तवृत्ति को तदनुरूप रंजित अथवा प्रभावित करते हैं। आस्वादक साधारणीकृत तो होता है, किन्तु निर्विशेष या रूपादि-विवर्जित और निःसंग नहीं हो जाता है। जैसा कि पृष्ठ-१०२-१०८ और १५१-२ पर बताया गया है, उसका व्यक्तित्व विगलित तो होता है, पर उसकी व्यक्तिता (इन्डिविडुअलिटि) जाग्रत हो जाती है। अंत मे यह भी स्वीकार करना ही पड़ता है कि कुछ कविताएँ साधारणीकरण-व्यापार और आश्रय-तादात्म्य दोनों घटित करती हैं, कुछ में मात्र साधारणीकरण होता है और कुछ से वस्तु-बोध या सवेदन-भर प्राप्त होता है। इनका बिम्बत्व भी तदनुसार गाढ़ या हल्का आदि भासित होगा।

साधारणीकरण और सह-अनुभूति (इम्पैथी, आइनफुहलुंग) में—जैसा कि पृष्ठ-१४३-१४५, २०२ और ४५६ पर सह-अनुभूति का परिचय दिया गया है—अंतर दृष्टि-भेद का है। मनोविज्ञानी हैरी स्टैकसुल्लीवन[१४९] 'इम्पैथी' को माता की गोद से शुरू होने वाला भावनात्मक संचार-व्यापार मानते हैं, जो आगे चलकर व्यक्ति को जीवन के प्रायः समस्त व्यापार मे विविध प्रकार से सहचरित करता रहता है। इस व्यापार में 'स्व' को विगलित कर वह अन्य के साथ भावनात्मक सहचार कर सकता है। यह प्रक्रिया मनोवैज्ञानिक है; साधारणीकरण-व्यापार को यह विश्लेषित-परिभाषित करती है।

रमणीयता, रस, आनन्द और काव्यबिम्ब—काव्यास्वाद को परिभाषित करने वाली दो प्रसिद्ध अवधारणाएँ हैं–रमणीयता और रस। 'रस' भरत मुनि

के द्वारा नाट्य-काव्यगत आस्वाद के लिए प्रयुक्त शब्द है, जिसकी परिभाषा है–विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पति। इस कथन में भारतीय शास्त्र-कारों के सुदीर्घ चिंतन-मंथन की भी अर्थवत्ता समाहित है। अभिनवगुप्त ने 'रस' की जो व्याख्या की है उसके बल पर उसका अर्थ हुआ समस्त असं-लक्ष्यक्रमव्यंग्य। इसे स्वीकार कर विश्वनाथ आदि ने काव्यलक्षण बताया–रसात्मकं वाक्यं काव्यम्। रसवादियों की दृष्टि से 'रस' काव्यात्मा है। ध्वनिवादियों ने ध्वनि को महत्त्व दिया था; पर रसवादियों ने रसादि को व्यंग्य सिद्ध कर और ध्वनि को आनन्त्य दोष से ग्रस्त बता कर काव्यो-चित ध्वनि का 'रस'-सिद्धान्त में अन्तर्भाव कर लिया।

विश्वनाथ आदि की तरह पंडितराज रसवादी नहीं थे। वे रस के अव्यंजक, किन्तु रमणीय वस्तु या अलंकारके व्यंजक पद्य को भी काव्य मानते हैं। फिर वे ध्वनिवादी तो माने जा सकते हैं, पर व्यंग्य को ही काव्य के लिए आवश्यक नही मानते। वे रमणीय अर्थ को, चाहे वह अर्थ रस हो, अथवा वस्तु-व्यंग्य हो, या अलंकार-व्यंग्य, या कि लक्ष्य अथवा वाच्य ही हो, काव्य मानते हैं। उनकी काव्य परिभाषा है–रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। इसमें 'प्रतिपादक' शब्द व्यंजक, लक्षक, वाचक तीनों प्रकार के शब्दों को संगृहीत कर लेने वाला है। इसलिए पडितराज की दृष्टि से काव्यात्मा है—रमणीयता।[१५०] पंडितराज के इस सिद्धान्त में यह प्रशस्तता है कि वैसी अनेक रचनाएँ काव्य कहला सकेंगी जो 'रस' के अव्यजक तो हैं, फिर भी रमणीय हैं; यथा—आधुनिक अनेक बौद्धिक आदि कविताएँ।

काव्यगत रसत्व और रमणीयता दोनों काव्यबिम्ब-रूप ही हैं। एक तो विभावादि समस्त अवयव ऐन्द्रिय, प्रत्यक्षवत् आदि होते हैं, दूसरे उनके द्वारा उन्मिषित स्मृति, कल्पना, विचार, आदिम राग आदि, जिनके सघात से काव्य-गृहीता की चित्तवृत्ति में स्थायिभाव का उद्रेक होता है, स्वयं अन्तःस्थतः बिम्ब-रूप ही होते हैं। फिर स्थायिभाव भी बिम्ब-रूप ही होता है। इन सबके संयोग से निष्पन्न 'रस' चाहे वह स्थायिभाव-रूप हो, अथवा स्थायी-विलक्षण हो, विभावसाक्षात्कारात्मक तो होता ही है। अतः वह भी बिम्बरूप है। रमणीयता में भी चित्तवृत्ति पर शब्दार्थ की रमाने वाली विशेषताएँ प्रतिच्छायित रहती । बिम्ब के कारण ही स्थायिभावों के विशेष-विशेष नाम, प्रभेद, प्रकार और उनके लक्षणादि बताए जाते हैं; उनके स्तर, क्रम, तारतम्यादि की कल्पना की जाती है (देखें पृष्ठ-५६, ८१-८२ भी)। कारण यह कि काव्या-

स्वादन में प्रमाता के अन्तर्लोक में शब्दादि द्वारा उद्भावित रसबिम्ब ही प्रवेश करता है और वही शेष भी रह जाता है (द्रष्टव्य पृष्ठ-७७)। फिर जैसा कि पृष्ठ-१३६ पर बताया गया है रस की द्वन्द्वात्मकता की भी प्रकल्पना बिम्बाश्रयी ही है।

आस्वाद्यता—'आस्वाद्यता' रस का भेदक लक्षण है। इसके लिए ही दृष्टि-भेदादि से 'चर्वणा', 'हृदयसवाद', 'चमत्कार', 'आह्लाद', 'रमणीयता', 'रस', 'आनन्द' आदि अभिधान व्यवहृत होते है, जो धनात्मक अर्थ से युक्त है; और साथ ही वीतविघ्नप्रतीति, निर्विघ्न या एकघनसंविद्विश्रान्ति आदि भी जो अपेक्षया ऋणात्मक हैं। चर्वणा, चमत्कार, रस—और आस्वाद्यता भी—भोजन और पाक-प्रपञ्च से, स्वाद अर्थात् 'रसना' से विशिष्ट रूप से सम्बन्धित शब्द है।[१५१] रमणीयता 'सर्वेन्द्रिय भोग' से सम्बन्धित व्यापक अर्थ से भरा शब्द है, और आह्लाद, आनन्द उनका शरीर, मन, आत्मा पर फलरूप प्राप्त होने वाला प्रभाव है। अर्थ-सरणि से ही यह पता चलता है कि 'आस्वाद्यता' निरपेक्ष नहीं होती, यह 'केवल' स्थिति नहीं है। प्रबंध के अर्थ की प्रत्यक्षवत् कल्पना करने पर ही विभावादि के योग से महाकाव्यादि का रस आस्वाद्य होता है। मुक्तक मे कभी विभाव और कभी अनुभाव की प्रधानता रहती है, जिस कारण पाठक कवि द्वारा अकथित, शेष रसावयव की कल्पना कर रस-प्रत्यय आस्वाद्य बनाता है। इस प्रकार प्रबन्धार्थ और विभानुभाव आदि आस्वाद्यता को रूप, रग, गुण-धर्म आदि में विशिष्ट बनाते अर्थात् बिम्ब-रूपता प्रदान करते है। पिछले पृष्ठ-१६०-१६१ पर अभिनव-गुप्त के गुरु भट्टतौत का कथन उद्धृत है कि—

> काव्य में जब तक प्रयोगत्व नहीं आता, तबतक रसास्वाद संभव नही। इस रसास्वाद के लिए काव्य के भाव और पदार्थ प्रत्यक्षवत् स्फुटता से प्रतीत होने चाहिए और इस हेतु कवि उन भावों पदार्थों को प्रौढ़ोक्ति द्वारा उचित रीति से उपस्थित करता है।

इन सब कारणों से रसादि की आस्वाद्यता बिम्बरूप ही होती है।

इन सबका निष्कर्ष यह कि 'महारस' और विशेषविशेष रसादि की पार्यन्तिक अवस्थाओ मे 'आस्वाद्यता' प्रतीतितः निर्बिम्ब-जैसी मानी तो जा सकती है, क्योंकि उस क्षण बिम्बत्व आन्तरिक, सूक्ष्म और अन्तर्लीन हुआ रहता है; परन्तु उसे सर्वथा बिम्ब-विनिर्मुक्त अथवा विवर्जित मानने मे कठिनाई है। क्योंकि बिम्ब अथवा उसके स्पंदादि प्रभाव (पश्चबिम्ब आदि) मूलतः विलुप्त या निःशेष नही होते। विविध रसो, भावों आदि की आस्वाद्यता तो पूर्णतः बिम्बात्मक होती ही है (द्रष्टव्य पृष्ठ-८०-८१, ३२६ आदि)।

काव्यास्वाद 'स्थिति' नही, काव्यत्व-प्रधान स्थिति है। योगस्थिति और दार्शनिक के केवलानन्द मे वह प्रकृत्या-प्रवृत्या भिन्न होता है (द्रष्टव्य पृष्ठ-१४१-१४२)। अतएव उसके 'आस्वाद' का 'आनन्द' भी किंचित भिन्न माना जायगा ; भिन्न इस अर्थ में कि जगत् अपनी समस्त प्रवृत्तियों-अर्थो के साथ उस क्षण चित्त में, जैसे भर आता है। आस्वादक अपनी भी वृत्तियो-एषणाओ के प्रातिनिधिक परितोष से जैसे विभुता प्राप्त कर स्पन्दित होने लगता है। वह जीवन-जगत् के लीला-वैपुल्य का 'आस्वाद' लेने लगता है (द्रष्टव्य पृष्ठ-१५१-१५२)। निश्चय ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की यह विभु-स्थिति, भूमा-सुख नि:संग और विरजस्क मन:स्थिति नहीं है। अतएव बिम्बत्व का आत्यतिक अभाव मानकर काव्यास्वाद और काव्यानन्द का आख्यान करना काव्य की कब्र पर, क्रोचे के शब्दो मे, चार स्मारक-अक्षर चीतने-जैसा (द्रष्टव्य पृष्ठ-६३) अनुचित और जोखिम का काम है। परन्तु उससे भी अधिक खतरे काव्य, और फिर उसके आभोग के आख्यान में 'आनन्द' को सुखवाद, मनोरंजन और 'रमणीयता' को मजा, गुदगुदी, खिलवाड आदि 'ही' (भी नहीं) से जोड़ने से पैदा हुए हैं। रिचर्ड्स, शुक्लजी आदि ने इस सम्बन्ध में सचेत किया भी है।

वास्तव मे काव्यास्वाद्यता काव्यस्थिति भी उतनी नही है, जितनी स्थिति-गतिमयी जीवंत प्रक्रिया है। चित्त का वह वैपुल्य उत्तीर्ण दृष्टि से देखने पर एकघनचित्तविश्रान्तिरूप प्रतीत होगा, पर जैसा कि पृष्ठ-३, २८, ८० आदि पर बताया गया है, उसमे प्रवृत्त्या वैकल्य स्पन्दित रहता है। यह वैकल्य ही उसे गति देता है। उसका अनुभवैकगम्य अनुभूति-रूप आस्वाद, जैसा कि पृष्ठ- ४४५ पर निर्दिष्ट है, प्रतीतित: आनन्द-वैकल्य-संघात-रूप होता है।

और फिर कविता 'आस्वाद्य' हुई नहीं, कि उसका स्वारस्य उससे छूट निकलता है। कविता तब 'प्रत्यय' की ओर बढ चलती है, जहाँ से विद्वान् उसका 'तटस्थ' आख्यान करते हैं। रह जाती है कविता एक तीर-छूटी प्रत्यंचा के समान प्रकम्पित—

हरदम यह होता है देह झकझोर कर
पुरुष निकल जाता है तीर-सा, थर्राकर
रह जाती है डोरी बेचारी नारी। —कैलाश वाजपेयी 'संक्रात

इस प्रकार काव्यबिम्ब एक चेतन प्रक्रिया है, न कि ठोस वस्तु, प्रवाह है न कि केवल स्थिति। वह न तो मात्र 'ऊर्जा' है, न ही 'पदार्थ'। वह दोनो है एक साथ; एकरूप। वह सकल ऐन्द्रिय शक्तियों का पूर्ण मनीषा के साथ

सम्यक् योग की प्रक्रिया है। यह योग नाद और शब्द के भौतिक तत्त्वों से लेकर अर्थ, अनुभूति और चिंतना के आध्यात्मिक क्षेत्र तक मे विविध रूपों-प्रकारोका संघात प्रस्तुत करता है। इस प्रस्तुति में सर्वत्र चमत्कार, सौन्दर्य अथवा अद्भुत का तत्त्व रहता है (द्रष्टव्य पृष्ठ-४४३, और ४५० पर टिप्पणी-४२)। इसे ही प्राचीनों ने अलंकार, रीति, संघटना, गुण, वक्रता, औचित्य, ध्वनि, रस आदि नाम दिए हैं।[१५२] 'काव्यबिम्ब' इन सबको समेट लेने वाली व्यापक अवधारणा है। काव्यतत्त्व से उसका अंतरंग, जटिल और अभिन्न सम्बन्ध है। वह वाग्बिम्ब, बिम्बमूल और वर्णबिम्ब तीनों को समाहित कर लेने वाली संकल्पना है। अतएव उपर्युक्त काव्यशास्त्रीय घटक उसमे सिमट आते है। किन्तु काव्यशास्त्रीय अवधारणाएँ अपनी अर्थसरणियों के अवलम्ब से उसे और भी पुष्कल बनाती हैं। निम्न बीज-यंत्र[१५३] में इनका सार दिखाया गया है—
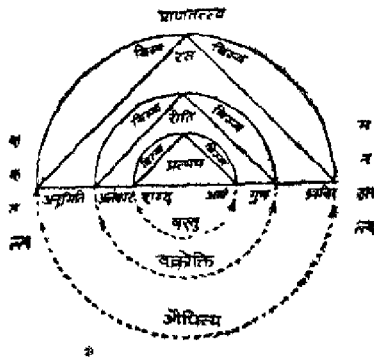
इस यंत्र में भारतीय साहित्य-शास्त्र के तीन महत्त्वपूर्ण तत्त्व, १. औचित्य, २. ध्वनि और ३. रस बड़े वृत्त में, फिर (क) वक्रोक्ति, (ख) गुण और (ग) रीति उसके अंदर के छोटे वृत्त में काव्यबिम्ब के शास्त्रीय आधार के रूप में दिखाए गए हैं।

सबसे छोटे वृत्त में (च) नामरूपात्मक वस्तु या पदार्थ है, जो (छ) शब्दार्थ-रूप में प्रकट हो कर (ज) अन्ततः प्रत्यय-रूप धारण करता है। यह काव्य का बीजाणु-रूप है।

दूसरे अन्तर्वृत्त के त्रिभुज की आधार-रेखा के दो बिन्दु हैं—अलंकार और गुण जिनका संघटन या प्रवाह है रीति। बाहरी वृत्त के अन्तर्गत जो त्रिभुज है, उसकी आधार-रेखा के दो बिन्दु हैं—ध्वनि और अनुमिति, जिनमें अनुमिति

ध्वनि-विरोधी सम्प्रदायों का प्रतीक है। उन दोनों का शीर्षस्थ प्रयोजन है रस, जिसमें 'औचित्य' का योग रहता ही है। वृत्त के बाहर के वर्ग में त्रिक-सस्थान हैं—वाक्, मनः और प्राण के। उनका भी प्रसार-संकोच होता रहता है, जिनसे रूपादि सम्पुजित होते चलते हैं। 'बिम्ब' ऐसी ही उन्मीलन-निमीलन-प्रक्रिया का संघात, स्थिति-गति युगपत् है। इस बीज-यंत्र में वह शब्दात्मरूप, रीत्यात्मरूप और रसात्मरूप तीन क्रमों में दिखाया गया है। काव्यबिम्ब मे तीनों प्रायः परस्परावलम्बित रहते हैं, पर उसका रसात्मक-भावात्मक रूप प्रतीति में प्रधानतः छाया रहता है। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र के विविध घटक काव्यबिम्ब को बौद्धिक और प्रत्ययात्मक अवलम्ब देते हैं।

काव्यबिम्ब यदि पृथकशः प्रतीत होते हैं, तो उन्हे वर्णबिम्ब कहते हैं। र वर्णबिम्ब के प्रकारादि क्या हैं? उन्हें किस विधि पृथक् किया जाय? प्रश्नों के संबध में विवेचन अगले अध्याय में कर लेना उचित होगा।

७ संदर्भ ग्रन्थादि एव टिप्पणियाँ

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल रसमीमासा, पृष्ठ-२६२
२. एरिक गिल : दि प्रीइस्ट ऑफ क्राफ्टसमैनशिप
३. वि० वर्डस्वर्थ इग्लिश क्रिटिकल एसे १६वीं सदी, पृ० १४ (उद्धृत)-Poetry is the image of man and nature
४ अलेन टेट : एट्रिब्यूट ' थाट, के० आर० श्रीनिवास अय्यंगर एवं के० चन्द्र द्वारा सस्कृत पोएटिक्स पृष्ठ ४२५ पर उद्धृत।
५. रॉबिन स्केल्टन : दि पोएटिक पैटर्न, पृ० ५७-५८
६. जे० मि० मरी : दि प्रोब्लेम ऑफ स्टाइल, पृ० ८०—What has happened is not ·· that the Spiritual has been brought down to the Physical, but the Physical has been taken up to the Spiritual.
७. आ० रामचन्द्र शुक्ल : रसमीमांसा, पृष्ठ २६२, चिंतामणि भाग–१ भी
८. जॉर्ज ह्वैले : पोएटिक प्रोसेस, पृष्ठ–१७६
९. ई० एल० मैसकेल : वर्ड्स ऐंड इमेजेज, पृष्ठ—११०
१०. डॉ० सुधा सक्सेना ' जायसी की बिम्बयोजना, पृष्ठ ३०
११. जॉर्ज ह्वैले : पोएटिक प्रोसेज, पृष्ठ–१३०, If an idea is introduced into poetic activity it takes on something of the character of an image and an image in technical activity will become an idea
१२. डॉ० नगेन्द्र : काव्यबिम्ब, पृष्ठ—३२,
१३. हर्बर्ट रीड : आर्ट नाउ, पृष्ठ—४७,
१४. एडिथ सितवेल : इनसाइक्लोपीडिया ऑफ लिटरेचर,
१५. अभिनवगुप्त ' अभिनव भारती (हिन्दी), पृष्ठ–६१८-६२६,
१६. सर जॉन उडरफ : तन्त्र राजतंत्र—३६, पृष्ठ—१११
१७. पॉल व्हैलेरी : जॉर्ज ह्वैले द्वारा, 'पोएटिक प्रोसेस', पृष्ठ-८६ पर उद्धृत

१८. डॉ० नामवर सिंह . नई कविता, पृष्ठ—४१;
१९. कार्ल ग्रूस ' क्रोचे द्वारा 'एस्थेटिक्स, पृष्ठ–४०८ पर उल्लिखित,
२०. आ० रामचन्द्र शुक्ल . चिंतामणि, भाग-२, पृष्ठ—१५७,
२१. एच० कूम्ब्स : लिटरेचर ऐंड क्रिटिसिज्म, पृष्ठ—४६,
जे० मि० मरी ' कंट्रिज ऑफ दि माइंड, पृष्ठ—१-१६;
ह्यूम ' क्राइटेरियन, III, न० १२, १९२५ में उद्धृत,
२२. एजरा पाउंड क्रि० ब्रूकरोज के 'ए ग्रामर ऑफ मेटफर्स' पृष्ठ—३५ पर उद्धृत
२३. कैरोलिन एफ० इ० स्पर्जन शेक्सपीयर्स इमेजरी ऐंड ह्वाट इट टेल्स अस, पृष्ठ—५;
२४. क्रि० ब्रूकरोज : ए ग्रामर ऑफ मेट' फर्स, पृष्ठ—६७;
२५. आर्कीबाइल्ड मैकलीश : पोएट्री ऐंड एक्सपीरिएंस, पृष्ठ—६०-६५;
२६. एजरा पाउंड : इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका १९६५, पृष्ठ १०१९,
२७. फ्रेजर : माडर्न राइटर ऐंड हिज वर्ल्ड, पृष्ठ २६;

कॉलरिज ने गेटे के कथन का पल्लवन कर 'मिसलेनियस क्रिटिसिज्म' २९, में बताया है कि—Allegory changes a phenomena into a concept, and a concept into an image, but in such a way that the concept is still limited and completely kept and held in the image and expressed by it (whereas symbolism) changes the phenomena into the idea, the idea into the Image, in such a way that the idea remains always inifinitely active and unapproachable in the image, and will remain always inexpressible even though expressed in all languages.

जॉन ह्विजिन्गा के अनुसार (दि वेनिंग ऑफ दि मिड्ल एजेज, अनु० हापमैन, पृष्ठ २०५) All realism, in the medieval sense, leads to anthropomorphism, Symbolism expresses a mysterious connection between two ideas, allegory gives a visible form to such a connection इसलिए अन्योक्ति-रूपक के बिम्ब बहुधा चमकीले, अर्थसंकुल और अद्भुत होते है, जादुई भी।

२८. का० गु० युंग-जे० जैकोबी : दि साइकोलोजी ऑफ युंग, पृष्ठ ५७.
२९. आइ० ए० रिचर्ड्स : प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृष्ठ १०;
बोरिंग, लैंग फेल्ड एवं वोल्ड : फाउन्डेशंस ऑफ साइकॉलॉजी, पृष्ठ १९१;
३०. हर्बर्ट रीड : उद्धृत राम अवध द्विवेदी ; साहित्य सिद्धान्त, पृष्ठ १४७-८;
३१. डॉ० नगेन्द्र रससिद्धान्त, पृष्ठ—३६२;
३२. कैरोलिन एफ० इ० स्पर्जन : शेक्सपीयर्स इमेजरी ऐंड ह्वाट इट टेल्स अस, पृष्ठ—४,
३३. लाजाइनस काव्य में उदात्त-तत्त्व, (डॉ० नगेन्द्र—सम्पादक) पृष्ठ— ६६,
३४. एडवर्ड डब्ल्यू० रोसेनहाइम . ह्वाट हैप्न्स इन लिटरेचर, पृष्ठ ४४;
३५. कैथलीन रेनै : सिम्बॉल ऑफ दि रोज,
३६. आइ० ए० रिचर्ड्स : प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म, पृष्ठ ११९-२३;
आग्डेन एवं रिचर्ड्स ' मीनिंग ऑफ मीनिंग, पृष्ठ २०२ तथा
रिचर्ड्स . कॉलरिज ऑन इमैजिनेशन भी,
३७: रेनी वल्लेक एव आस्टिन वारेन : थियोरी ऑफ लिटरेचर, पृष्ठ ११०;
३८. जार्ज कैम्पबेल : फिलॉसफी ऑफ रेहटरिक मे रिचर्ड्स द्वारा, पृष्ठ ११७, ३२१, ३२६
आई० ए० रिचर्ड्स : ऊपर ३६ के अनुसार, पृष्ठ ५७-६५;
३९. एजरा पाउंड ' एफ० एस० फ्लिंट एव एजरा पाउन्ड; अमेरिकन पोएट्री,

१. सी० डे लिवीस : पोएटिक इमेज : पृष्ठ १८;
आर्कीबाइल्ड मैकलीश : पोएट्री ऐंड एक्सपीएरिएंस, पृष्ठ ६०-८० के आधार पर,
२. जार्ज ह्वैले : पोएटिक प्रोसेस, पृष्ठ १४१,
३. सी० डे लिवीस : पोएटिक इमेज, पृष्ठ—६५,
४. स्टीफेन जे० ब्राउन : दि वर्ल्ड ऑफ इमेजरी, पृष्ठ—२,
५. कुंतक वक्रोक्ति जीवितम् १/१
६. जी० पॉल सार्त्र : ए स्केच फार दि थियोरी ऑफ इमोशन पृष्ठ ६३-९०

It is a transformation of the world· but by magic·· It is a consciousness whose aim is to negate something in the external world by means of magical behaviour and will go so far as to annihilate itself in order to annihilate the object also·· The emotion of sadness is a magical play-acting of impotence·· to dance or to sing for joy. These represent the behavior of symbolic approximation of incantation Emotion may be called a sudden fall of consciousness into magic. ·· ·· emotion arises when the world of utilization vanishes and the world of magic appears in its place.

७. रेन्नी वेल्लेक एव ऑस्टिन वारेन : थियोरी ऑफ लिटरेचर, पृष्ठ २११

जादू का प्रभाव मूर्त्ति और फिर काव्यबिम्ब पर जानने के लिये फ्रेजर : 'गोल्डेन बाउ', अर्न्स्ट किर्त्जिगर दि कल्ट ऑफ इमेजेज बिफोर आइकोनोक्लाज्म', ब्रॉनिस्लॉ मैलिनोव्स्की 'मैजिक, साइंस ऐंड रिलीजन,' टी० ईजुत्सु : 'लैंग्वेज ऐंड मैजिक, स्टडिज इन दि मैजिकल फंक्शन ऑफ स्पीच' तथा अन्गस फ्लेचर 'एलेगरी : दि थियरी ऑफ ए सिम्बॉलिक मोड' पठनीय। फ्रेजर दो प्रकार के जादू बताते हैं—अनुकरणात्मक और सम्पर्कगत। अनुकरणात्मक के द्वारा विवक्षित दृश्य या घटना आदि का अनुकरण किया जाता है। काव्यबिम्ब में नाट्यव्यंजनात्मक तत्त्व, धार्मिक-दार्शनिक कथन, उपदेश, भयावह वर्णन, दो विषम वस्तुओं के एकीकरण आदि विधान से 'अनुकरणात्मक जादू' का प्रभाव आता है। सम्पर्कगत जादू में व्यक्ति के केश, कपड़े आदि के द्वारा चित्त प्रभावित किया जाता है। काव्यबिम्ब जब अंश में अंशी का रूप अथवा नक्षत्रीय दूरी, उदात्तता, चमक, अगमता, विच्छिन्नता, द्विभवीयता, आकस्मिक एकता, भीति अथवा विभूति, और ऐश्वर्य की प्रस्तुति करता है, तो पाठक पर सम्पर्कगत और अनुकरणात्मक जादू का असर पड़ता है। इनका विश्लेषण अन्गस फ्लेचर ने उपर्युक्त ग्रंथ में अच्छे ढंग से किया है। पुन

'The language of cosmic correspondence is an inherently magical language. In poetry any two systems of images put in parallel and kept parallel, will appear to be magically joined पृष्ठ १९५,

'The common denominator of all beliefs and practices, which attribute magic properties to an image, is that the distinction between the image and the person represented is to some extent eliminated'.—अर्न्स्ट किर्त्जिगर : उपरिवत् पृष्ठ—१००—१०१

काव्य में भी इस विधि का भाषिक अवलम्बन लिया जाता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि 'जादुई प्रतीति' में दो विषम अकस्मात् एकीकृत होकर चित्त को आच्छन्न करते हैं,

पर 'मिथकीय प्रतीति' स्वत., अनायास एकात्मक बोध है, क्योंकि अचेतन से सम्बद्ध होती है। द्रष्टव्य मॉड बॉडकिन : 'आर्केटाइपल पेटर्न्स इन पोएट्री' एवं एरिक न्यूमैन्न : 'दि ग्रेट मदर : ऐन ऐनालिसिस ऑफ दि आर्केटाइप।

४८. क्रिस्टोफर कॉडवेल : इल्यूजन ऐंड रियलिटि,
४९. ड्राइडेन : सी० डे लिवीस द्वारा पोएटिक इमेज में उद्धृत,
५०. बोमले, सिडनी डॉवेल, ले हंट और इ० स्वीटलैंड दल्लास : अलबा एच० वारेन के द्वारा 'इंग्लिश पोएटिक थियोरी १८२५-६५' में पृष्ठ-८-३४, ९३-११०, १२६-१५१ पर विवेचित,
५१. ब्लेक : सी० डे लिवीस द्वारा 'पोएटिक इमेज' में उद्धृत'
५२. येट्स : सी० डे लिवीस द्वारा तत्रैव उद्धृत,
५३. जे० मिडलटन मरी कन्ट्रीज ऑफ दि माइंड, एव द्रष्टव्य केरोलिन एफ० इ० स्पर्जन शेक्सपीयर्स इमेजरी, पृष्ठ-८,
५४ फ्रैंक कर्मोड रोमांटिक इमेज, येट्स, वाल्टर डि ला मेयर आदि भी अपने को समाज से विच्छिन्न समझते थे, निराला, मुक्तिबोध आदि भी।
५५ क्राइस्टोफर कॉडवेल · इल्यूजन ऐंड रियलिटि तथा; उद्धृत— सी० डे० लिवीस पोएटिक इमेज, पृष्ठ—१४४,
५६. धर्मवीर भारती · मानव मूल्य और साहित्य, पृष्ठ—३७;
५७. डायलन टॉमस : उद्धृत सिसिल डे लिवीस पोएटिक इमेज, पृष्ठ—१२२,
५८. हर्बर्ट रीड : पोएट्री ऐंड एनार्किज्म, पृष्ठ-५ तथा जे० एस० फ्रेजर-दि मॉडर्न राइटर ऐंड हिज वर्ल्ड, पृष्ठ १८७-२२७,
५९. प्लैटो · रिपब्लिक-२५३ एव ५९८ तथा क्रेटिलस-४३२, एवं एस० एच० बूचर · अरिस्टॉट्ल्स थियोरी ऑफ पोएट्री ऐंड फाइन आर्ट, पृष्ठ-१५९,
६०. अरस्तू : डि अनीमा : गिलबर्ट ऐंड कुह्न पृष्ठ १५७ पर उद्धृत.
६१. एस० एच० बूचर · उपरिवत, पृष्ठ ३४६,
६२. तत्रैव It presents to us not only an image, but a purified image of nature's original, पृष्ठ-१५८;
६३. संत ऑगस्तिन : बेनिदित्तो क्रोचे द्वारा एस्थेटिक्स, पृष्ठ १७५ पर उद्धृत
६४. सर फिलिप सिडनी · उद्धृत
६५. जोसेफ एडिसन · स्पेक्टेटर – ४११,
६६. विको : क्रोचे द्वारा एस्थेटिक्स, पृष्ठ – २२२ पर उद्धृत
६७. बामगार्टन : फिलासफिकल थॉट्स ऑन मैटर्स कनेक्टेड विथ पोएट्री;
६८. जी० सी० मूर · 'सम मेन प्रॉब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी' में इमेजिनेशन ऐंड मेमरी' अध्याय, पृष्ठ २३४-२५१;
६९. कार्डिनल एस० पल्लाविसी : क्रोचे द्वारा एस्थेटिक्स पृष्ठ – १९४ पर
७०. आन्द्रे ब्रेतों : 'सुररियलिस्ट' पहले मैनिफेस्टो पर उद्धृत · हर्बर्ट रीड के द्वारा कलेक्टेड एसेज इन लिटररी क्रिटिसिज्म, पृष्ठ ९८-९९ भी द्रष्टव्य
७१. इ० एल० मैस्कल · वर्ड्स ऐंड इमेजेज; पृष्ठ १०९-११०, १८०, इस विषय पर रोजमंड तुवे एलिजाबेथन ऐंड मेटाफिजिकल इमेजरी, और नार्थ्रप फ्राई : एनाटमी ऑफ क्रिटिसिज्म' फियरफुल सिमेट्री, लेव्स ऑफ मिनिंग इन लिटरेचर' पठनीय हैं।
७२. रिचर्ड एच० फोगले · इमेजरी इन कीट्स ऐंड शेली, पृष्ठ – ३,
७३. डेविड डैचेज · ए स्टडी ऑफ लिटरेचर, पृष्ठ – १८७,
७४. सि० डे लीविस : दि पोएटिक इमेज, पृष्ठ - २८-३६,
७५. हर्बर्ट रीड : इंगलिश प्रोज स्टाइल,

एच० कुम्ब्स : लिटरेचर ऐंड क्रिटिसिज्म, पृष्ठ - ४८-४९;
अभिनवगुप्त अभिनव भारती, तथा
गणेश त्र्यम्बक देशपांडे · भारतीय साहित्य-शास्त्र, पृष्ठ ५४-५५
प्रो० लिविंगस्टोन लावेस : सी० डे लीविस द्वारा दि पोएटिक इमेज, पृष्ठ १३५ पर उद्धृत एवं प्रशंसित;
आनन्दवर्धन : हिन्दी ध्वन्यालोक, पृष्ठ २३२-४;
सि० डे लीविस : दि पोएटिक इमेज, पृष्ठ - १३५-१५७;
मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक;
रा० सिंह दिनकर : धर्मयुग : दीपावली १९५६,
रोसेमहाइम : व्हाट हैप्न्स इन लिटरेचर, पृष्ठ - १३६-१३७,
आइवर विंटर्स : फ्रैंक करमोड के द्वारा रोमांटिक इमेज, पृष्ठ - १५६-७ पर उद्धृत;
जॉन क्रो रैन्सम : इन डिफैंस ऑफ रिज़्न, तथा न्यू क्रिटिसिज्म, पृष्ठ - १५३
जी० एस० फ्रेजर · दि माडर्न राइटर ऐंड हिज एज, पृष्ठ - २५० पर उद्धृत -
He is quick thinking in clear images
I am slow thinking in broken images
He becomes dull trusting to his clear images
I become sharp mistrusting my broken images.
वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति पृष्ठ १८७-१९०
रोजमंड तुवे एलिजाबेथन ऐंड मेटाफिजिकल इमेजरी—Neither a modern nor a 17th Century image is to be judged indecorous by virtue of its being unconventional.
सिसिल डे लिवीस : दि पोएटिक इमेज, पृष्ठ - ४०;
गणेश अम्बक देशपांडे : भारतीय काव्यशास्त्र, पृष्ठ - ३७८-९ एवं
वामन : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति (हिन्दी); पृष्ठ १३५-१३७;
स्टीफेन स्पेंडर - दि डिस्ट्रक्टिव एलिमेंट;
एजरा पाउंड - सि० डे लीविस द्वारा 'दि पोएटिक इमेज', पृष्ठ - २५ पर उद्धृत;
डॉ० व्ही० राघवन - भोजज शृंगार प्रकाश, पृष्ठ - ३५० ;
डॉ० व्ही राघवन - तत्रैव, पृष्ठ - ३२७-३३१;
डॉ० नगेन्द्र : वामन काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, भूमिका, पृष्ठ - ६६-६७
डॉ० नगेन्द्र · तत्रैव, पृष्ठ - १८४-५,
भरत : नाट्यशास्त्र - दस दोष —
गूढार्थम्, अर्थान्तरम्, अर्थहीनम्, भिन्नार्थम्, एकार्थम्, अभिप्लुतार्थम्, न्यायापेतम्, विषमम्, विसन्धि, शब्दच्युतम्
भामह · काव्यालंकार-(क) अध्याय - १/३७ में छह दोष और ४७ में चार दोष
नेयार्थ, गूढार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत और गूढ़-शब्द-अभिधा, पुनः श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट, श्रुतिकष्ट।
(ख) अध्याय ४ में दस दोष -
अपार्थ, (शिशु खल अपलाप), व्यर्थ (अन्तर्विरोधी कथन), एकार्थ, ससंशय, अपक्रम शब्दहीन (अपशब्द), यतिभ्रष्ट, विसन्धि, देश-काल-कला-लोक-न्याय-आगम-विरोधी और प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त-हीन।
(ग) अलंकारों के सात दोष -
हीनता, असम्भव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिकत्व, असदृशता।

(घ) पुन: कम-से-कम पाँच दोषों के संकेत–भामह का कथन (I. ३४-३५) है कि वैदर्भी काव्य को अलंकारों, आदि से केवल सज्जित नहीं करती है, वह प्रसन्न और स्पष्ट कथन भी करती है, ऋजु है। किन्तु प्रसन्नता, स्पष्टता आसानी से ग्राम्य और सामान्य हो जा सकती है, जिनसे 'अपुष्टार्थ' और 'अवक्रता' के दोष होंगे। 'प्रसाद' गुण के साथ कुछ चमत्कार 'उत्कर्ष गुण-प्रतीति', कुछ श्लाघ्य विशेषण-प्रयोग, 'सूक्ष्म, तत्त्व का होना जरूरी है, जो मनोवृत्ति को उकसाए। अन्यथा 'प्रसाद' सपाटपन में बदल जाएगा। पुन:, भामह के अनुसार अत्यलंकारता' 'शब्दाडंबरता' 'आकुलत्व' भी दोष है।

दण्डी काव्यादर्श – १. दस दोष –

अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, अपक्रम, ससंशय, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, देशादि-विरुद्ध, भिन्नवृत्त, विसन्धि

२. गुणविपर्यय-रूप सूक्ष्म दोष (पर, प्राय: गौडी की विशेषता)—१ श्लेष x शैथिल्य, २. प्रसाद x अनतिरूढ ३. माधुर्य x शब्द और अर्थ की ग्राम्यता, ४. सुकुमारता x निष्ठुरता, दीप्तत्व या कृच्छ्रोद्यत्व, ५. अर्थव्यक्ति x नेयार्थ, ६. कान्ति x अत्युक्ति।

वामन :– काव्यालंकार सूत्रवृत्ति – बीस दोष,

पाँच पद दोष – १ असाधु, २ कष्ट, ३ ग्राम्य ४ अप्रतीत और ५ अनर्थक,

पाँच पदार्थ दोष – १ अन्यार्थ, २ नेयार्थ, ३ गूढार्थ, ४ अश्लील और ५ क्लिष्टत्व,

तीन वाक्य दोष – १ भिन्न वृत्त, २ यतिभ्रष्ट, और ३ विसन्धि,

सात वाक्यार्थ दोष—१ व्यर्थ, २ एकार्थ, ३ सन्दिग्ध, ४ अप्रयुक्त, ५ अपक्रम ६ लोकविरुद्ध और ७ विद्या-विरुद्ध,

भोज : शृंगार प्रकाश—४८ पदादि के दोष, और ९ अरीतिमत के दोष

(क) सोलह पद दोष—१ असाधु, २ कष्ट, ३ अनर्थक, ४ अन्यर्थक, ५ अप्रतीत, ६ क्लिष्ट, ७ गूढार्थ, ८ नेयार्थ, ९ ग्राम्य, १० अप्रयुक्त, ११ अपुष्टार्थक १२ असमर्थ, १३ सन्दिग्ध, १४ विरुद्ध, १५ अप्रयोजक, और १६ देश्य।

सोलह वाक्य दोष—१ विसन्धि, २ भिन्नवृत्त, ३ भिन्न यति, ४ शब्दहीन, ५ पुनरुक्तिमत, ६ अपक्रम, ७ व्याकीर्ण, ८ संकीर्ण ९ गर्भित १० अपद, ११ अशरीर, १२ ऊनोपमा, ३ अधिकोपमा, १४ भिन्नलिंग, १५ भिन्नवचन, १६ श्लेषादिगुण-विपरीत।

सोलह वाक्यार्थ दोष—१ अपार्थ, २ व्यर्थ, ३ एकार्थ, ४ ससंशय, ५ अपक्रम, ६ खिन्न, ७ अतिमात्रा, ८ परुष, ९ विरस, १० हीनोपमा, ११ अधिकोपमा, १२ असदृशोपमा, १३ अप्रसिद्धोपमा, १४ निरलंकार, १५ अश्लील, १६ विरुद्ध।

भोज ने भी दाँते की भाँति शब्दों को वर्गों में बाँटा है, यथा —

प्रथम वर्ग — प्रकृतिस्थ, कोमल और कठोर, अर्थात् शब्द के निजी गुण

द्वितीय वर्ग— ग्राम्य, नागर और उपनागर, अर्थात प्रयोग या प्रसिद्धि-रूप। काव्य में सन्दर्भादि के अनुसार प्रकृतिस्थ, कोमल, कठोर वर्ग से शब्द लिए जायँगे और पात्रादि की प्रकृति के अनुकूल ग्राम्य, नागर, उपनागर वर्ग से। ऐसा न होने पर 'अपद' दोष होगा।

(ख) अरीतिमत (रीति-विरुद्ध होने के) नौ दोष

शब्द-प्रधान — श्लेष x शैथिल्य, समता x विषमता, सौकुमार्य x कठोरता

अर्थ-प्रधान —प्रसाद x अप्रसाद, अर्थव्यक्ति x नेयार्थत्व, कांति x ग्राम्यत्व,

उभय-प्रधान—ओजस् x असमस्तता, माधुर्य x अनिर्व्यूढत्व, औदार्य x अलंकार

मम्मट - काव्य-प्रकाश—(1) रस के तेरह दोष—१ व्यभिचारी भावों, २ रसों अथवा, स्थायिभावों का अपने वाचक शब्दों के द्वारा कथन, ४ अनुभाव और ५ विभाव की कष्ट

कल्पनाभिव्यक्ति, ६ रस के प्रतिकूल विभावादि-ग्रहण, ७ रस की बार-बार दीप्ति, ८ अनवसर में विस्तार, ९ अनवसर मे विच्छेद, १० अप्रधान रस का अत्यधिक विस्तार, ११ प्रधान रस का विस्मरण १२ पात्रों की प्रकृति का विपर्यय, और १३ प्रकृत रस के अनुपकारक का कथन।

(ii) अर्थ के तेईस दोष—१ अपुष्ट, २ कष्ट, ३ व्याहत, ४ पुनरुक्त, ५ दुष्क्रम, ६ ग्राम्य, ७ संदिग्ध, ८ निर्हेतु, ९ प्रसिद्धि-विरुद्ध १० विद्याविरुद्ध, ११ अनवीकृत, १२ नियम में अनियम, १३ अनियम में नियम, १४ विशेष में अविशेष और अविशेष में विशेष, १५ विशेष परिवृत्त, १६ साकाक्षता, १७ अपदयुक्तता, १८ सहचर-भिन्नता, १९ प्रकाशित-विरुद्धता, २० विध्ययुक्तता, २१ अनुवादायुक्तता, २२ त्यक्त पुनः स्वीकृत २३ अश्लील जिसके तीन प्रभेद हैं — व्रीडाजनक, अमंगलजनक, जुगुप्साजनक।

(iii) वाक्य में रहने वाले बीस दोष – १ प्रतिकूल-वर्णता, २ उपहतविसर्गता ३ विसन्धि, ४ हत्त-वृत्तता, ५ न्यूनपदता ६ अधिकपदता, ७ कथित-पदता, ८ पतत्प्रकर्ष, ९ समाप्त-पुनरावृत्तता. १० अर्धान्तरैकवाचकता, ११ वाक्यगत, इष्ट सम्बन्धकी अविद्यमानता,(अभवन्मत योग), १२ अनभिहित-वाच्यता, १३ अस्थानपदता, १४ अस्थान समासता, १५ संकीर्णता, १६ गर्भितता, १७ प्रसिद्धि-विरोध, १८ भग्न-प्रक्रमता, १९ अक्रमता और २० अमत परार्थ (दूसरा अर्थ विपरीत हो।) साथ ही तेरह वाक्यगत दोष पद-पदांशगत दोष में भी बताए गए है – २१ श्रुतिकटु, २२ अप्रयुक्त, २३निहतार्थ, २४ अनुचितार्थ, २५ अवाचक, २६ अश्लील, २७ संदिग्ध, २८ अप्रतीत, २९ ग्राम्य, ३० नेयार्थ, ३१ क्लिष्ट. ३२ अविमृष्ट विधेयाश और ३३ विरुद्ध-मतिकृत। इनमें उपहत विसर्गता, विसन्धि, अर्धरन्तरैकवाचकता संस्कृत भाषा की प्रकृति के दोष हैं। अन्य दोष या तो वाक्यगठन से सबंधित है अथवा/और रचना की आवयविक संघटना से।

(iv) पदगत सोलह दोष — ऊपर के २१ से ३३ तक के नाम से १३ दोष और १४ च्युत संस्कार, १५ असमर्थ और १६ निरर्थक।

(v) नाद—लय, छन्द, यति आदि के दोष ऊपर के दोषों में ही आ गए हैं, यथा – प्रतिकूल-वर्णता, हतवृत्तता, श्रुतिकटुता आदि तथा अन्यों मे सूक्ष्मतः जुड़े हैं। इस प्रकार मम्मट ने रस के १३, अर्थ के २३, वाक्य के २०+१३. और पद के १६ कुल ८५ दोष गिनाए है। कुछ नामों के अन्तर्गत एकाधिक दोषों को अलग माना गया है।

९७. डॉ० नगेन्द्र : रस-सिद्धान्त, पृष्ठ - २९०-२ तथा पृष्ठ २७६-८०

९८. आ० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, तथा चिंतामणि दोनों भाग, तथा रस-मीमांसा

९९. अशोक वाजपेयी : फिलहाल, पृष्ठ - १२५,

१०० आ० नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ० नगेन्द्र, अज्ञेय, इन्द्रनाथ मदान, गिरिजा कुमार माथुर, रघुवंश, नामवर सिंह, शंभुनाथ सिंह, मुक्तिबोध, देवराज, धर्मवीर भारती, अशोक वाजपेयी, श्याम परमार आदि की आलोचनाएँ द्रष्टव्य।

१०१. अरस्तू एस० एच० बूचर : एरिस्टॉट्ल्स थियोरी ऑफ फाइन आर्ट, पृष्ठ – ९९, एवं पृष्ठ १०७

Thus, there are five sources from which critical objections are drawn. Things are censured either as impossible, or irrational or morally hurtful, or contradictory, or contrary to artistic correctness.

१०२. लांजाइनस : काव्य में उदात्त-तत्त्व (डा० नगेन्द्र-सम्पादक), पृष्ठ ९६;

१०३. कॉलरिज . डा० सावित्री सिन्हा (स०) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा, पृष्ठ- १६५ पर उद्धृत;

१०४. सि० डे लिवीस : —दि पोएटिक इमेज, पृष्ठ – १६-८८,
क्रुम्प्स : लिटरेचर ऐंड क्रिटिसिज्म, पृष्ठ - ४८-७२,
१०५. होम्स : लिवीस द्वारा 'दि पोएटिक इमेज' पृष्ठ - ४७ पर उद्धृत,
१०६. नीत्शे : कृष्ण चैतन्य : संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ - १११ पर उद्धृत,
१०७. ट्रेवेलियन लिवीस द्वारा दि पोएटिक इमेज, पृष्ठ - ८८ पर उद्धृत, द्र
आ० मैकलीस : पोएट्री ऐण्ड एक्सपीएरिएंस, पृष्ठ - ५८ भी
१०८. आ० रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि, भाग – २, पृष्ठ ९९-१००;
१०९. महिम भट्ट व्यक्ति विवेक, पृष्ठ - ३१,
११०. जी० पॉल सार्त्र : एसेज इन एस्थेटिक्स, पृष्ठ - ५७-६४,
१११. आइ० ए० रिचर्ड्स : दि प्रिन्सिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज्म; पृष्ठ
११२. तत्रैव : पृष्ठ – २०१-२०२;
११३. आ० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग – २, पृष्ठ - १०३;
११४. आइ० ए० रिचर्ड्स : उपरिवत्, पृष्ठ - ५१, ५७-५८, २४९-२५२,
११५. आ० रामचन्द्र शुक्ल : उपरिवत्, पृष्ठ - १९६,
११६. वाल्टर जी० एवरेट्ट : मोरल व्हैल्यू. पृ० - १८२;
११७ ड्युरैंड ड्रेक : इन्विटेशन टू फिलॉसोफी, पृ० - ५११;
११८ धर्मवीर भारती : नई कविता, पृ० - ३३;
११९. पैटर : डॉ० सावित्री सिन्हा (सं०) पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा,
१२०. धर्मवीर भारती : उपरिवत्, पृ० ३४-३६,
१२१ आर० डी० लेंग : दि पोलिटिक्स ऑफ एक्सपीएरिएंस,
थियोडोर रोजाक : ए काउंटर कल्चर, ह्वेयर दि वेस्ट लैंड एंड्स,
: दि मेकिंग ऑफ टॉम उल्फ
: दि इलेक्ट्रिक कूल-एड एसिड टैस्ट आदि
१२२. डेविड डेसेज ए स्टडी ऑफ लिटरेचर, पृ० - १८७,
१२३. क्राइस्टॉफर कॉडवेल : फर्दर स्टडिज इन डाइंग कल्चर, पृ० - २५४
१२४. भामह : काव्यालंकार १/११-१२
१२५. आइ० ए० रिचर्ड्स : प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म, भूमिका, पृ० - १२-१७
१२६. आ० रामचन्द्र शुक्ल रस-मीमांसा, पृ० २५४ एवं २१७
१२७. टी० एस० इलियट : दि यूज ऑफ पोएट्री ऐंड दि यूज ऑफ क्रिटिसि
१०८-१०९, १४१;
१२८. राजशेखर : काव्यमीमांसा (हिन्दी) चतुर्थ अध्याय, पृ० - ३५ एवं ३
१२९. लॉजाइनस : काव्य में उदात्त-तत्व, पृ० - ९६,
१३०. आनन्द प्रकाश दीक्षित : काव्य शास्त्र, पृ० ५४, तथा १७८-९;
१३१. आ० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग—२, पृ० – १-२;
१३२. आ० रामचन्द्र शुक्ल . तत्रैव, पृ० ६६-६७, तथा रस-मीमांसा, पृ० –
१३३. तत्रैव, पृ० १५३, २२४ तथा २२५,
१३४. डॉ० नगेन्द्र : काव्यबिम्ब, पृ० - ४१-४२,
१३५. डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, भाषा और संवेदना, पृ० - २८,
१३६. वही : तत्रैव
१३७. डा० नगेन्द्र : काव्यबिम्ब, पृ०—७;
१३८. आ० रामचन्द्र शुक्ल चिंतामणि, भाग–२, पृ० १६४,
१३९. आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद, पृ० - ।

१४०. अभिनवगुप्त : व्ही० राघवन द्वारा 'सम कान्सेप्ट्स ऑफ दि अलकार शास्त्र में दि हिस्ट्री ऑफ लक्षण, पृ० – ३७७-३७९,
१४१. भानुदत्तः अलंकार तिलक, के० एस० राम स्वामी शास्त्री के द्वारा 'इंडियन एस्थेटिक्स पृ० – ७३ पर उद्धृत;
१४२. डॉ० नगेन्द्र : रस सिद्धान्त पृ० – ३५६-३५७,
१४३. डॉ० नगेन्द्र . काव्यबिम्ब, पृ० – ४१;
१४४. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : भाषा और संवेदना, पृ० - २८;
१४५. आ० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग - २, पृ०—२२५,
१४६. आ० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग - २, पृ० - २२७-२३०;
१४७. अभिनवगुप्त : अभिनवभारती एवं देशपांडेय : भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० - ३४१-३५१,
१४८. देशपाडेय : भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ० – ३११
१४९. हैरो स्टैक सुल्लीवन . जे० के० सी० ब्राउन ; फ्रायड ऐंड दि पोस्ट-फ्रायडियन्स, पृष्ठ १६८-९ पर उद्धृत;
१५०. पंडितराज जगन्नाथ . रस-गंगाधर ; भूमिका, पृ० ५२-५७;
१५१. व्ही० राघवन : सम कॉन्सेप्ट्स ऑफ दि अलकार-शास्त्र, पृ० २६८-२७१,
१५२. प० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य शास्त्र, भाग - २, पृ० - १०८,
१५३. म० कुप्पु स्वामी शास्त्री , हाइवेज ऐंड बाइवेज ऑफ संस्कृत लिटररी क्रिटिसिज्म; पृ० २७-३१ के आधार पर प्रकल्पित।

८

काव्यबिम्ब : प्रकार-भेद
और वर्गीकरण के विविध आधार

महावैयाकरण भर्तृहरि ने शब्दब्रह्म के आविर्भाव के तीन चरण उसके तीन आभ्यन्तर क्रम मे निर्दिष्ट किए है जो अभिनवगुप्त के अनुसार पृष्ठ-४६, और ७१ पर इस प्रकार बनाए गए हैं—

	पश्यन्ती	मध्यमा	वैखरी
१– स्थूल	आलाप	मृदग पर कराघात निर्गत ध्वनि	शाब्द (गायन)-रूप
२– सूक्ष्म	गायनेच्छा-रूप	मृदंगवादनेच्छा-रूप	वक्तुरिच्छा-रूप
३– परा	शुद्ध चैतन्य	शुद्ध चैतन्य	शुद्ध चैतन्य

'त्र्यवस्थ काव्य' भी अपने आभ्यन्तर वाग्बिम्ब रूप मे पूर्वकाव्य है—अक्रम, अरूप; बिम्बमूल-रूप में वह स्फुट और रूपायित होता है एव वर्णबिम्ब-रूप मे स्फुटतम एव प्रकट। पिछले पृष्ठ ७१-८० पर यह बताया जा चुका है कि 'काव्यबिम्ब' वाक्कवि का सम्प्रसारण है। प्रमाता लयक्रम द्वारा (द्रष्टव्य पृष्ठ-२९५) काव्यकवि के सम्प्रसारित बिम्ब के माध्यम से वाक्कवि के बिम्ब तक का, महारस तक का अवगाहन कर लेता है। आस्वाद' अथवा 'चर्वणा' (देखे पृष्ठ-३२१) ही उसका स्वरूप है। अतएव उसका वर्गीकरण सम्भव नहीं है।

वर्गीकरण की कठिनाई

काव्यबिम्ब सकल मानस-प्रतीति है। प्रतीतिकाल में वह अधिक-से-अधिक कवि के रागात्मक अनुभवों पर आधारित होने के कारण अपने साथ एक व्यापक सन्दर्भ लिए होता है। उसके तल तक पहुँचने के लिए उस सन्दर्भ का ज्ञान आवश्यक है। वह उन नाना पद-पदार्थों आदि का तात्त्विक और भावित (स्ट्रक्चरल एवं इमोशनल), साथ ही रूपात्मक और ऐन्द्रिय (टेक्स्चरल और सेन्सुअल) अभिन्न अंग है, जिनकी प्रतीति प्रतीतिक्षण में होती है।[2] प्रतीति के उपरान्त वह 'बिम्ब' विघटित अथवा सूक्ष्मीकृत अथवा जडीभूत होने लगता है। कविता में वह अपनी प्रवृत्तिनिमित्तता में अद्वितीय होता है अर्थात् 'प्रवृत्ति-निमित्तता' में ही उसका बिम्बत्व है, किन्तु, व्युत्पत्ति-निमित्तता अन्तर्लीन रहती है। अतः काव्यबिम्ब की आच्छाया (पेनम्ब्रा) की एक ओर महारस-रूप एक अक्रम, अरूप बिम्बसमष्टि है, कहा उसे जाय प्रतिभा अथवा सर्वात्मिका संवित् या आद्यबिम्ब अथवा आस्वाद। दूसरी ओर जितने कवि और जितनी कविताएँ एवं उन्हें ग्रहण करनेवाली जितनी चित्तवृत्तियाँ हैं, उतने ही बिम्ब हैं। प्रायः यही बात क्रोचे ने भी कही है।[3] काव्यबिम्ब के वर्गीकरण के लिए ये स्थितियाँ कठिनाई पैदा करती हैं।

वर्गीकरण के आधार

परन्तु अनुभूति-अभिव्यक्ति की अद्वयता में भी क्रम का अनुसंधान हो जाता है। क्रोचे ने बताया है कि जब हमें शब्द (रूपायण का पक्ष) मिल गया, और अन्तस् की अनुभूति स्पष्टतः रूपायित हो गयी, तो अभिव्यक्ति का जन्म हो गया। उसने व्यावहारिक दृष्टि से लालित्यसर्जन के सम्पूर्ण व्यापार में चार क्रम बताए भी हैं—१–अनुभूतिग्रहण एवं २–अभिव्यक्ति अथवा लालित्यसर्जनात्मक संश्लेष का आन्तरिक व्यापार, एवं ३–आनन्द का चामत्कारिक अंश, और ४–भौतिक-तत्त्वों में उसका रूपान्तरण।[4] इस प्रकार, वर्गीकरण के दो मूलाधार मिलते हैं—१ शब्द अर्थात् अभिव्यंजन-पक्ष, और २ अर्थ अर्थात् अनुभूति या कथ्य। शब्द अथवा अभिव्यंजन-पक्ष को लेकर बिम्बों का वर्गीकरण दो प्रकार से होगा :—१–नादात्मक, एवं २–भाषिक।

१ नादात्मक आधार : नादबिम्ब :—

नादबिम्ब लयादि का विन्यास है, जिसका विवेचन पिछले ३१०-३२४ तथा ४६८-४७४ पृष्ठों पर किया जा चुका है। नादात्मक लय-संरूप में

(क) आन्तरिक तन्तु की समप्रवाही पृष्ठाधार-रूप एकरूपता रहती है और उस पृष्ठाधार पर (ख) बाह्य रूपाकृति में नाद की उर्म्मियों के लहराने और स्फुट होने की विषम प्रवाही अनन्त धाराएँ उभरती रहती है।

शब्द के भाषिक तत्त्व की लघुतम इकाई है वर्ण, अर्थात् (क) स्वर और (ख) व्यंजन। स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, संवृत्त, विवृत्तादि भेद एवं व्यंजनों के ऊष्म, स्पृश्यादि भेद उनके वायु-प्रकम्प के वेग, तारता और बलादि को सूचित करते हैं, जिनके आधार पर शब्द के नाद-पट पर वे नानावर्णी रेखाचित्र, रूपछवि उरेहते हैं। स्वरो मे निजी आरोह-अवरोह, ह्रस्वता-दीर्घता, प्रसार-सकोच, मंदता-तारता के गुण हैं, जिनसे बिम्ब उभरते हैं। स्वर काल मे प्रसरित होते हैं, व्यंजन उनका जमाव या प्रस्फुटन हैं; मूर्त्तामूर्त्त व्यापार प्रस्तुत करनेवाले; काल-प्रवाह में वे देश का तत्त्व भरनेवाले हैं। इनकी नियमित-सी गति और संरूपण-विधि 'छन्द' कहलाती है। छन्द अर्थपरामर्श से रंगरूप या भावानुबधादि प्राप्त करता है। इस प्रक्रिया में नाद-धारा शब्द के भाषिक तत्त्व से भी परिचालित, अतः उदात्त अनुदात्तादि भी होती चलती है।

'छन्द' के प्रकार्य पृष्ठ ३२२-३२३ और ४६८-४७० पर बताए जा चुके हैं। नादात्मक इस प्रकार के बिम्ब (क) श्रव्य (ख) औच्चारणिक, अतः (ग) गत्वर और (घ) कहीं-कहीं स्पृश्य-जैसे भी होते हैं।

छन्दों से (क) वर्णिक वृत्त (ख) मात्रिक वृत्त (ग) देशज, विदेशज लय-सरूपो के विधान और (घ) नवीन छन्दो के नाद-सरूप उभरते है। इस प्रकार बिम्बों के वर्गीकरण का एक आधार है छन्दः शास्त्रीय एवं लय-विन्यासगत वर्गीकरण।

जैसा कि ऊपर सकेतित किया गया छन्दादि के विन्यास की दृष्टि से कविता में तीन धरातल के नादात्मक संरूप मिलते हैं —१—स्वरात्मक, अथवा अन्तःप्रवाही एकतान नाद-धारा का पृष्ठाधार, २—उस पृष्ठाधार पर स्वर-व्यंजन के आरोह-अवरोह आदि उदात्त, अनुदात्त, और प्रसार-संकोच, ऊष्म-स्पृश्य आदि का स्फुट नर्तित-प्रवाह, और ३—समग्र प्रवाह की अन्वित छन्दोमूर्त्ति, लय-विधान या नादात्मक-संरूप। इस संरूप में पहली धारा सम-प्रवाही पड़ी रेखा समझी जाय तो दूसरा प्रवाह विषम रूप मे आन्दोलित खड़ी रेखा है। कविता के नादबिम्ब में इन दोनों की चित्रविचित्र बुनावट होती है।

पंत जी ने 'पल्लव' के प्रवेश में बताया था कि 'काव्य-संगीत के मूल तन्तु स्वर है, न कि व्यंजन।' गिरिजा कुमार माथुर ने भी वही बात कही है—

स्वर-ध्वनियों के आधार पर रचा गया नाद-तत्त्व अधिक संश्लिष्ट एवं आंतरिक गतिमयता अर्थात् लयवत्ता को उत्पन्न करता है। व्यंजन-प्रधान अनुप्रासों के आधार पर रचित नाद-तत्त्व उन कवियों में अधिक है, जो रीतिबद्ध रहे हैं।[५]

अतः यद्यपि निराला ने कवित्त को हिन्दी का जातीय छन्द बताया है[६] और पंत के मत की प्रत्यालोचना की है तथापि व्यंजन-प्रधान कवित्त-सवैया आदि का छायावाद में कम प्रयोग हुआ है; कवित्त-सवैया व्यापक फलक और गंभीर गूंज उत्पन्न करनेवाले दीर्घ और उदात्त नाद-पटीय संस्थान हैं। यथा—

जीवन जगत के विकास विश्वदेव हो, परम प्रकाश हो स्वयं ही पूर्ण काम हो…

—प्रसाद ; झरना

इन आँखों ने देखी न राह कहीं इन्हें धो गया नेह का नीर नहीं…   महादेवी : यामा

प्रसाद के कवित्त में दीर्घ स्वरों का विस्तार मूल स्वर 'आ' के कारण और घनत्व 'ई', 'ए', 'आ', 'ओ', 'ऊ' के नाद-तत्त्व के कारण और महादेवी के सवैया में मूल स्वर 'ई' के कारण तथा सानुनासिक साद्रता और निविड़ कारुण्य 'आ', 'ओ', 'ई' के कारण ध्वनित होते है। इनमें, मूलस्वर के साथ अन्य स्वरों के चाप-संस्पर्श द्वारा जो आन्तरिक नादतत्त्व उभरता है, वही स्वरात्मक अन्तःप्रवाही नाद है। इस अन्त प्रवाही नाद के आधार पर व्यंजन जो छवियाँ बुनते चलते है, जैसे पहली में 'क,स, प, ह' और दूसरी में 'न, ख, द, ह, ध' वे नादतत्त्व को और भी उभारते है। कुछ कविता में उदात्त आदि स्वर भी नाद को विषम जालो में बुन डालते है। नाद का यह स्फुट रूप और उसका मन्द्र, तार आदि सुरो में उठना-गिराना भी 'लय' ही है, जिससे कविता को नादात्मक संरूप प्राप्त होता है। वामन ने इसे 'समाधि' गुण माना है (द्रष्टव्य पृष्ठ ५६४) इसके बाद समग्र नाद-सरूप का जो बिम्ब बनता है, वही उसका नाद-संरूपात्मक प्रभावान्विति अथवा नाद-बिम्ब है। तब उसके संरचनात्मक तत्त्वो के अनुसार उसका बौद्धिक नाम दिया जाता है 'कवित्त' या सवैया' आदि, अर्थात् छन्दगत नाम।

यद्यपि प्रसाद, पंत, निराला महादेवी और इधर के कुछ कवियो ने भी अनेक वर्णिक, मात्रिक एवं मिश्र वृत्तों में कविताएँ रची है, तथापि विश्लेषण से यही प्रतीत होगा कि आधुनिक नादबिम्ब बाह्यरूपाकृति-प्रधान प्राचीन छन्दों की जाति (स्ट्रकचरल पैटर्न) के नहीं है, अपितु आन्तरिक स्वरात्मक नाद-संरूप पर आधारित (टेक्सचरल पैटर्न) नवीन नाद-सम्मोहन की उपलब्धियाँ या उनके लिए प्रयास हैं। क्योंकि, वर्णिक, मात्रिक छन्द-संरूपों को ग्रहण कर भी कवियों ने गति-यति के नियमादि स्वेच्छया तोडे है,[७] छन्दो के विधान से मुक्ति का आन्दोलन चलाया है; शास्त्रीय छन्दो मे अन्य देशी, विदेशी छन्दों का मिश्रण किया है; गद्य, तुक, मोड़ आदि का आकस्मिक प्रयोग कर नाटकीय स्वर-प्रवाह की विलक्षणता प्रस्तुत की है, लोक-धुनों, लोकगीतों में रचनाएँ की हैं और उनकी टुकड़ियाँ शास्त्रीय छन्दों मे भी जोड़ी है; उर्दू,

बंगला, मराठी आदि के छन्दों में कविताएँ रची हैं तथा कई विदेशी छन्दों को अपनाया है, आदि। छन्द: शास्त्रीय वर्गीकरण से छान्दिक प्रवाह में अन्तर्निहित भावप्रेरित स्वरता की ('उदात्त, अनुदात्त, स्वरित'-रूप आरोहावरोह की, जो कविता का अर्थ-प्रेरित वास्तविक लय-सस्थान है,) उपेक्षा होती है। निम्न 'बद्ध कविता' तो उसमें प्रवेश भी नहीं पा सकती है—

१. सुनो मेरे प्यारे !
सखी को तुमने बाँहों में गूँथा
क्यों गए प्रभु ?
तुम्हारे इतिहास का
राधा के बिना
रक्त के प्यासे
सुनो, मेरे प्यार !
सब छोड़ कर आ गयी हूँ
कि तुम्हारी अन्तरंग केलि-सखी
लय बन कर रह गयी
मेरी वेणी में अग्निपुष्प गूँथनेवाली
अब इतिहास में अर्थ क्यों नहीं गूँथती ?
प्रगाढ़ केलि-क्षणों में अपनी अन्तरंग
पर उसे इतिहास में गूँथने से हिचक
बिना मेरे कोई भी अर्थ कैसे निकल पाता
शब्द, शब्द, शब्द...
सब
अर्थहीन शब्द
तुम्हें जरूरत थी न, सो मैं
ताकि यह कोई न कहे
केवल तुम्हारे साँवरे तन के नशीले संगीत की
मैं आ गई हूँ प्रिय,
तुम्हारी अँगुलियाँ

— भारती : कनुप्रिया

२. सितार के तार टूट जाते हैं, पर गूँज रह जाती है।
जो जीवन में जादू जगाती है,
वह मुर्दों का टीला बनकर भी जगत् को आंदोलित करता है
क्योंकि जो प्राणों में बस जाता है, वह दूर जाकर
और अधिक समीप आ जाता है।
व्यक्ति मर जाता है, पर याद रह जाती है।
सितार के तार टूट जाते हैं, पर गूँज रह जाती है।

— नन्दकिशोर : पर गूँज रह जाती है।

इनमें दीर्घ-ह्रस्व स्वरों के उतार-चढ़ाव के साथ कोमल-करुण भावों-विचारों के आरोह-अवरोह को भी पकड़ने का प्रयास किया गया है। टेक में 'गीति' शैली है; वह उसका नाभिकेन्द्रीय स्वर है; जिसके चारों ओर गद्यात्मक, पर एक वजन के वाक्यांश विचारों और भावों का कुहरा अथवा ज्योतिकण की झिलमिली अभिछाया प्रस्तुत करते चलते हैं। 'दीर्घ' स्वरों की गूँज, 'ह्रस्व' स्वरों पर छायी हुई रह जाती है।

अत: लय-खण्डों के छन्दःशास्त्रीय वर्गीकरण के पुराने प्रतिमानों में व्यापक परिवर्तन करना और नए छन्दों के नियमादि निर्धारित करना अब जरूरी हो गया है। आधुनिक हिन्दी-कविता में सामान्यतः १. प्राचीन संस्कृत वृत्त, २. हिन्दी के प्राचीन छन्द, ३. परिवर्तित परम्परागत छन्द, ४. मिश्रित छन्द, ५. लोकगीतों का लयात्मक संरूप, ६. मुक्त छन्द, ७. विविध अन्य

भारतीय भाषाओं के प्रभाव से लाए गए लय-स्वरूप, ८ विदेशी भाषाओं के लय-विन्यास से प्रभावित छन्द आदि, इतने प्रकार के विन्यास मिलते हैं।

२. भाषिक आधार : अलंकार बिम्ब :—

काव्य के भाषिक आधार पर भी काव्यबिम्ब का वर्गीकरण भारतीय काव्यशास्त्र में स्वीकृत है। शब्द के दो लक्षण हैं—(क) नाद और (ख) अर्थ।

(क) नाद :—स्वर और लयादि में बँधकर शब्द-क्रम 'छन्द-स्वरूप' बनाता है, साथ ही भाषिक नाद और अर्थ के लयात्मक भाषिक-वर्त्तन से दो अन्य सौन्दर्याधायक भाषिक इकाइयाँ भी बोधगम्य होती है—

(१) नादात्मक शब्दगत सौन्दर्याधायक भाषिक इकाई, यानी शब्दालंकार, जो श्रव्यबिम्ब-रूप हैं एवं (२) रूपात्मक अर्थगत सौन्दर्याधायक भाषिक इकाई, यानी अर्थालंकार, जो नाना प्रकार के बिम्बों में वर्गीकृत हो सकते हैं—दृश्य, श्रव्य, स्पृश्यादि एवं मूर्त्त, अमूर्त्त, गत्वर, आदि। इन दोनों के मिश्ररूप भी मिलते हैं। तब बिम्ब की दृष्टि से वे एक दूसरे में अनुप्रविष्ट आदि भी रहते हैं।

(ख) अर्थ :—शब्द अर्थद्योतन की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा, व्यंजना की शब्दशक्तियों में विभाजित माना जाता है। पुनः शब्द का भाषिक तत्त्व 'संघटना' या क्रमप्रवाह में 'रीति' कहलाता है—और रीति का स्वरूप नित्य गुणात्मक है (वामन) अथवा दोनों रस से सवादी है और भिन्न-भिन्न है, गुण पर ही संघटनारूप रीति आश्रित है (आनन्दवर्धन)। साथ ही काव्य के शब्द-व्यापार को 'वक्रोक्ति' भी माना जाता है। इस प्रकार मात्र भाषिक आधार की दृष्टि से १. शब्द-शक्ति २—अलंकार, ३—रीति और उनके गुण एवं ४—वक्रोक्ति ये चार दिशाएँ वर्गीकरण की मिलती हैं। ५-इन सब से पृथक भावमूलक दिशा है जो 'रस' है। इन सब में 'अर्थ' उत्तरोत्तर प्रधान होता चलता है।

१. **काव्यबिम्ब का शब्दशक्ति की दृष्टि से वर्गीकरण** :—बिम्बों में इनके भी तीन प्रकार होंगे—१. वाच्य २. लक्ष्य और ३. व्यंग्य।

२ काव्यबिम्ब का अलंकार की दृष्टि से वर्गीकरण—

इनमें अलंकार-शास्त्र द्वारा प्रकल्पित वर्गीकरण प्राचीन है। भरत मुनि ने चार अलंकार बताये थे—यमक अथवा अनुप्रास, उपमा, रूपक और

दीपक। ये चार बड़े व्यापक आयामों में प्रसरित हो सकते हैं; क्रमशः श्रव्य बिम्ब, रूपक (मेटाफर), प्रतीक (भरत प्रकल्पित रूपक) और मिथक के जैसे वे बीज हो। अलंकारो को 'बिम्ब' मानने की भी धारणा प्राचीन है, जिसका उल्लेख पृष्ठ ६०२-६०५ पर किया जा चुका है।

कूम्स ने अलंकार-रूप बिम्ब के दो भेद बताए है—संक्षिप्त बिम्ब या व्यंजक बिम्ब (कन्साइज और सजेस्टिव) अर्थात् उपमा या सांगरूपक; एव शिथिल या विकीर्ण (लूज या डिफ्यूज)[८] अर्थात् कारणमाला, अथवा उपमाओं की लम्बी झड़ी।

बिम्ब और शब्दालंकारों का वर्गीकरण :—शब्दालंकारों का अच्छा वर्गीकरण डा० रामशंकर शुक्ल रसाल ने किया है। उनकी दृष्टि से शब्दालंकारो के दो भेद हैं (१) आवृत्तिमूलक और (२) वर्णकौतुक या चित्र। आवृत्तिमूलक के तीन भेद हैं—१-वर्ण की आवृत्ति, २-पद की आवृत्ति एव ३-शब्द की आवृत्ति। फिर उनके अलग-अलग प्रकार है। वर्णावृत्ति-सम्बन्धी अलकार के भेद चित्र, अनुप्रासादि हैं और शब्दावृत्ति-सम्बन्धी अलकार के भेद पुनरुक्ति, श्लेषादि हैं। अनुप्रास के भेदों के समुच्चय या संघटना से फिर गुणमूलक वृत्तियों का सम्बन्ध है। नीचे के रेखालेख से यह स्पष्ट होगा—
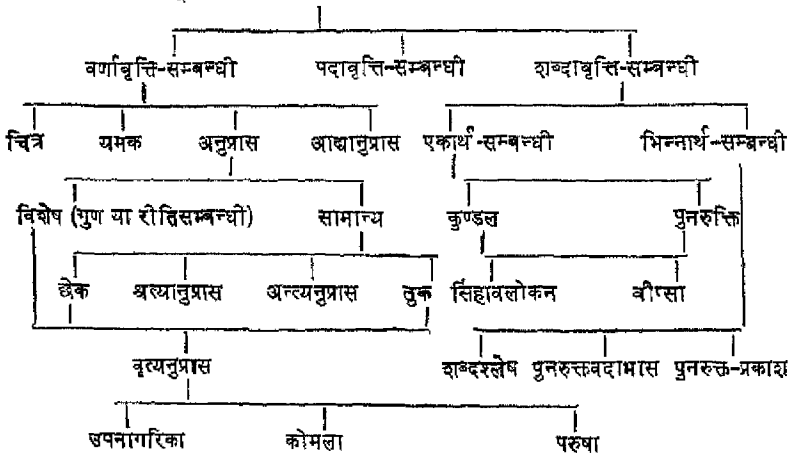
२. वर्णकौतुक या चित्रालंकार।

ध्वनि-व्यंजनात्मक शब्द : ध्वनिबिम्ब :—अनुप्रास, पुनरुक्ति, पुनरुक्तवदाभास आदि शब्दालंकारों का आधारभूत अलंकार है 'अनुप्रास'। अनुप्रा

के मूल में है, लित्स अथवा ली-प्रकल्पित सह-अनुभूति अथवा विषयवस्तु का विषयिगत शरीरी ध्वनन (द्रष्टव्य पृष्ठ १४३-१४४, २०३)। ध्वानबिम्ब पृष्ठ ३१८-३२१ पर कई प्रकार के बताए गए हैं। ऐन्द्रियता की दृष्टि से भी उनके विविध भेद हैं; यथा—

१. दृश्य-स्पृश्य - धूम-धुँआरे, काजरकारे, हमही विकरारे बादर …
पावस के उड़ते फणिधर : —सर सर् मर् रेशम के-से स्वर भर। —पंत

२. गंध— लहलह पालक महमह धनियाँ लौकी और सेम फली फैली —पंत।
— चीड़वनों में गन्ध-अन्ध उन्मद पतंग की जहाँ - तहाँ टकराहट।
— अज्ञेय।

३. गति —निर्दय उस नायक ने निपट निठुराई की,
कि झोंकों की झड़ियों से सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली;
चौंक पड़ी युवती, चकित चितवन निज चारों ओर फेर … …
— निराला।

ध्वानबिम्ब का महत्त्व—अनुप्रासों की योजना अनायास होती है। उनके मूल में प्राकृतिक ध्वनियों की सादृश्य-योजना है, उस शरीरी ध्वनन का प्रतिरूप है, जिसे आदिम युगों से भूत-समष्टि और चेतना प्राकृतिक सत्ता के ऐकात्म्य में गुंजित-अनुगुंजित करती आ रही है। उसमें जादुई तत्त्व रहता है (द्रष्टव्य पृष्ठ-३२१, ५३८ तथा ६१६ पर तत्संबंधी टिप्पणियाँ-४६,४७)। ऐसा ध्वानबिम्ब विषयगत दृष्टि से कविता की आच्छाया का प्राथमिक नादपट होता है, जो आच्छाया की इस ओर ध्वनित होता है। आच्छाया की दूसरी ओर कविता का मूल भाव या रस-बिम्ब आदि रहते हैं। ध्वानबिम्ब-रूप यह ध्वनिपट बहुवर्णी और अनन्त रेशों-ओरों वाला होता है। उसके एक-एक वर्ण या रेशे को लेकर पाठक उस कविता में जिधर भी बढ़ेगा उसे उसीकी ध्वनि सुनाई पड़ेगी : वस्तु को, अर्थ को, वर्ण्य को वही उभारता-सा चलता है। छन्दों की गति, यति साम्य-वैषम्यादि में उसकी ही झंकृति है, तुक उसी का पद-चाप है। सारी कविता का स्थापत्यात्मक विधान, उसका रचनागत सम्पूर्ण तंत्र उसी का पूर्ण प्रतिफलन है। इस प्रकार, कविता की आच्छाया की दूसरी ओर उसका रसबिम्ब और स्थापत्यात्मक वस्तु-मूर्ति है, और उधर ध्वानबिम्ब। इन दोनों के मध्य रहते हैं पूरी कविता में फूटने वाले नाना सम, विषम, मिश्र श्रव्यबिम्बादि जो कहीं प्रधानतः दृश्य है, कहीं स्पृश्य, कहीं गत्वर आदि।

इस अनुगुंजित ध्वनिबिम्ब को न पकड़ सकने के कारण कभी-कभी कविता का सम्यक् ग्रहण नहीं हो पाता और काव्यशिल्प समग्रतः काव्य-विवक्षा से

इतर हो आता है। 'निराला' की कविता 'बादल राग' घोष, ऊष्म, महाप्राण ध्वनियों का ध्वनिपट बुनती है और उसका स्थापत्यात्मक मूर्त्तन उदात्त है—

बज्रघोष से ऐ प्रचण्ड ! आतंक जमानेवाले ! गरजो विप्लव के नव जलधर !

किन्तु पंत की कविता 'बादल' 'सुरपति के हम ही हैं अनुचर' की प्रथम पंक्ति से लेकर 'कामरूप घनश्याम अमर' की अन्तिम पंक्ति तक कोमल ध्वनियों का लीलामय ध्वनिपट बुनती है। 'विप्लव' का ध्वनन निराला की कविता में भीम भयंकर है, तो कौतुकपूर्ण कामरूप 'बादल' पर पंत की कविता कोमल है।

बिम्ब और अर्थालंकारों का वर्गीकरण:—अलंकारों के वर्गीकरण का बीज भामह, दण्डी, वामन ने रखा अवश्य पर सर्वप्रथम किया उद्भट्ट ने। उन्होंने छह वर्ग माने :—

प्रथम वर्ग — पुनरुक्तवदाभास, छेक, वृत्ति, लाट, अनुप्रास, रूपक, दीपक, उपमा, प्रतिवस्तूपमा,
द्वितीय वर्ग—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति;
तृतीय वर्ग—यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति,
चतुर्थ वर्ग—प्रेयस्वत, रसवद, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट;
पंचम वर्ग—अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, संकर, उपमेयोपमा, सहोक्ति, परिवृत्ति;
षष्ठ वर्ग — संदेह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक, काव्यलिंग, दृष्टान्त।

यह वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं है। इससे उत्तम और वैज्ञानिक वर्गीकरण रुद्रट कृत है। रुद्रट ने शब्दालंकारों को पृथक रखा और अर्थालंकारों के मूल में चार तत्त्व या विशेषताएँ—वास्तव, औपम्य, अतिशय, श्लेष प्रधान, मान कर उनका वर्गीकरण किया। उनके बाद रुय्यक ने अर्थालंकारों के वर्गीकरण में मूलभूत पाँच तत्त्वों को आधार माना और उन्हें पाँच वर्गों में विभाजित किया—

१—सादृश्यगर्भ (क) भेदाभेदतुल्यप्रधान; जिसमें उपमा आदि चार अलंकार हैं, (ख) अभेदप्रधान जिसमें रूपकादि आरोपमूलक छह एवं उत्प्रेक्षादि अध्यवसान-मूलक दो अलंकार हैं; और (ग) गम्यमान औपम्य जिसमें पदार्थगत दो, वाक्यार्थगत तीन, अभेद प्रधान तीन, विशेषण-वैचित्र्ययुक्त दो, विशेषण-विशेष्य-वैचित्र्य एक, एवं शेष में पाँच अलंकार अर्थात् कुल सोलह है; और ऊपर के योग से अट्ठाइस;

२—विरोधगर्भ जिसमें बारह अलंकार हैं; ३—शृङ्खला-बन्ध जिसमें चार अलंकार हैं, ४—न्यायमूल : (क) तर्कन्याय, जिसमें काव्यलिंगादि दो, (ख) वाक्यन्याय जिसमें यथासंख्यादि आठ और (ग) लोकन्याय जिसमें प्रतीपादि आठ अलंकार है।
५—गूढार्थ-प्रतीति-मूल जिसमें सूक्ष्म, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति आदि सात अलंकार है।
कुल योग=६४।

विद्याधर और विद्यानाथ ने भी अलंकारों का वर्गीकरण किया है।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने भी वर्गीकरण का प्रयास किया था। आधुनिक काल में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, व्रजरत्नदास, पं० रामदहिन मिश्र आदि ने अलंकारों के वर्गीकरण का प्रयास किया है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रुद्रटकृत वर्गीकरण को स्वीकार किया है।[६]

डॉ० नगेन्द्र ने अलकारो के प्रयोग में उक्ति की प्रभावोत्पादकता को प्रयोजन मान कर अलंकारों के वर्गीकरण के मनोवैज्ञानिक आधार माने हैं—स्पष्टता, विस्तार, आश्चर्य, अन्विति, जिज्ञासा और कौतूहल। इनके मूर्त-रूप हैं—साधर्म्य, अतिशय, वैषम्य, औचित्य, वक्रता और चमत्कार (बौद्धिक)। अत: अलकारो के छह मनोवैज्ञानिक आयाम हैं।

१—साधर्म्यमूलक—उपमा और रूपक से लेकर दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार;

२—अतिशयमूलक—अतिशयोक्ति के विभिन्न भेदों से लेकर उदात्तादि;
३—वैषम्यमूलक—विरोध, विभावना, असंगति से लेकर व्याघात, आक्षेप;
४—औचित्यमूलक—यथासख्य, कारणमाला, एकावली से लेकर स्वभावोक्ति;
५—वक्रतामूलक—पर्याय, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशसा से लेकर सूक्ष्म, पिहित;
६—चमत्कारमूलक—श्लेष और यमक से लेकर मुद्रा और चित्र आदि अलंकार। इनमे अतिशय, औचित्य, वक्रता, चमत्कार के विशेष अर्थ हैं।

काव्यबिम्ब के वर्गीकरण में परम्परित अलकार-बिम्बो की कोटि जैसा कि पिछले कई स्थलो पर बताया गया है, अन्यो से अलग माननी पड़ेगी। फिर इनका वर्गीकरण उपयुक्त अथवा यथावश्यक विधि से करना चाहिए।

३. रीति, शैली और गुण के अनुसार वर्गीकरण के लिए संकेत पिछले पृष्ठ-५६८-५७२ पर दिए गए हैं।

४. और ५. वक्रोक्ति और रस की दृष्टि से वर्गीकरण के लिए आगे के पृष्ठ द्रष्टव्य हैं।

३. स्थापत्यात्मक आधार और वर्गीकरण :—

काव्यशब्द के समाहारात्मक भाषिक रूप के विषय में अभिनवगुप्त का कथन है—

"चित्रपुस्ताद्यपि च नाट्यस्यैवार्थ-भागाभिष्यन्दो यथा सर्गबन्धादि शब्द-भागाभिष्यन्दः"। अर्थात् चित्र तथा शिल्प आदि भी नाट्य अर्थ-भाग के सार-रूप हैं; जिस प्रकार सर्गबन्ध आदि (महाकाव्य, नाट्य के) शब्द-भाग के सारभूत हैं।[१०]

शब्द का भाविक सारभूत भाग काव्य का बाह्य रूप; उसका स्थापत्यात्मक बाह्याकार होना है। वह बीज का विशाल वृक्ष-रूप में एकाग्र प्रस्फुटन और संकुचित है। वह उसका बाह्य प्रतीक है।[११]

दो निस्सग, अघुलनशील एवं अन्तरावगाही ज्ञानेन्द्रियों को आधार मान कर काव्य को दृश्य और श्रव्य के दो भेदों मे (हेमचन्द्र के द्वारा) विभाजित किया गया है। फिर भामह ने श्रव्य काव्य को दो तत्त्वों के आधार पर विभाजित किया—१. वस्तु और २. बंध। उन्होने वस्तु के चार प्रकार बताए—कल्पित, देवादिवृत्त-निरूपक, शास्त्राश्रित और कलाश्रित। बंध के अनुसार भामह ने दो भेद माने—निबन्ध एवं अनिबन्ध। वामन ने भी (१,३, २१-२६) उसके ये ही दो भेद माने है।

दण्डी ने काव्य-शरीर के तीन भेद—पद्य, गद्य, मिश्र—माने हैं और उसके रूप सर्ग-बंध (निबद्ध) मुक्तक, कुलक, कोश, संघात आदि बताए हैं। राजशेखर ने उन्हें क्रमशः १–प्रबंध और २–मुक्तक माना है।[१२] आनन्दवर्धन ने दोनो के कई भेद भी बताये है—

> यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं संस्कृतप्राकृतापभ्रंश निबन्धं, सन्दानितक-विशेषककलापककुलकानि, पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथे, सर्गबन्धो, अभिनेयार्थ, आख्यायिकाकथे, इत्येवमादयः।[१३]

विश्वनाथ आदि शास्त्रकारों के अनुसार पद्यात्मक श्रव्य काव्य-रूपों के निम्न प्रधान प्रकार होंगे—

> १—प्रबंध—महाकाव्य, काव्य, और खण्ड काव्य २. मुक्तक (अनिबद्ध)—
> क—स्फुट, जिसके भेद हैं; कोष एवं व्रज्या। ख—संयुक्त, जिसके भेद है
> युग्मक, संदानितक, कलापक, कुलक।

आधुनिक काल में प्रबंधों और मुक्तकों के भेद और उनके नामकरण में अन्तर दिखाई पड़ता है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने—

> १—प्रबंध, कथात्मक, २—प्रबंध वर्णनात्मक एवं ३—मुक्तक (जिसमें गीति-काव्य या प्रगीत मुक्तक भी गृहीत है) तीन प्रधान भेद माने हैं। उन्होंने मुक्तक के लिए (जो गीतिकाव्य न थे) फुटकल कविता, फुटकल पद्य नाम दिया है।
>
> आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने प्रबंधकाव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, एकार्थ-काव्य (विश्वनाथ—काव्य) और खण्डकाव्य को माना है और निर्बंध के अन्तर्गत मुक्तक गीत और प्रगीत को।

बाबू गुलाबराय ने 'मुक्तक' मे प्रगीत और पाठ्य के दो प्रकार बताये हैं और फिर स्फुट मुक्तक और संयुक्त मुक्तक के दो भेद माने हैं; एवं हिन्दी में प्रचलित अंगरेजी गीतकाव्य के प्रकारों, यथा—सॉनेट या चतुर्दशपदी, ओड या संबोधनगीत, एलिजी या शोकगीत, सेटायर या व्यंग्यगीत, रिफ्लेक्टिव या

विचारात्मक एवं डाइडेक्टिव या उपदेशात्मक आदि को नये नाम देकर स्वीकार किया है[१४]।

महाकाव्य की स्थापत्यात्मक मूर्त्तता :

महाकाव्य काव्यबिम्ब का विभु-रूप है। भामह ने भी बताया है—सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत्। वह अग्राम्य, सालंकार शब्दार्थ-संघात है और सदाश्रय, ऋद्धिमत होता है। यह लांजाइनस के औदात्त्य की प्रकल्पना से बहुत भिन्न नहीं है।[१५] महाकाव्य की वस्तुसंघटना, वस्तुविकास और वस्तुवैचित्र्य पर कुन्तक ने प्रकरणवक्रता के अन्तर्गत जो विवेचना की है, उसमें उन्होंने प्रधान कार्य एवं विविध प्रकरणों में उपकार्य-उपकारक भाव को और कथांशों में नाट्यात्मक किन्तु औचित्यपूर्ण पूर्वापर-अन्वितिक्रम को आवश्यक माना है। यह अरस्तू के द्वारा प्रकल्पित कार्यान्विय सिद्धान्त से मेल खाता है। अरस्तू ने प्रबंध को एक सम्पूर्णतः सावयव जीवित प्राणी की तरह बताया था जो अखंड और स्वायत्त होता है। त्रासदी के लिए विस्मय आवश्यक है, पर महाकाव्य (एपिक) तो उससे भी बढ़ कर होता है, क्योंकि वह असंभाव्य और अविश्वसनीय को भी ग्रहण कर सकता और उनको संभवनीय और विश्वसनीय बना सकता है।[१६]

महाकाव्य (एपिक) में मूलतः एक प्रगाढ़ विचार या भावना रहती है। वही काल और देश के व्यापक प्रसार में नाना रूपों और जटिल कथात्मक जालों में उलझती हुई सम्प्रसारित होती है। हर्बर्ट रीड ने मिल्टन के विषय में कहा है—

> 'इस (पैराडाइज लास्ट) कविता में मिल्टन के मन में कथा से अधिक कुछ कथनीय था। पतन की कथा तो बाहरी छिलका मात्र है या कथावस्तु है जिसका सम्प्रसारण वह प्रथमतः एक नाटकीय मिथक के रूप में और द्वितीयतः दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में करता है। स्पष्टतः यहाँ उसकी महाकाव्यात्मकता एक विचार से अनुप्रेरित है।[१७]

पात्रों की जीवंत नाटकीयता के बिना महाकाव्य या तो इतिहास-मात्र होकर रह जायगा या रोमांस-मात्र।[१८] महाकाव्य मात्र अधिक कथा-पृष्ठ या अधिक पात्र नहीं, किन्तु जीवन्त कथा है, सजीव चरित्रों की नाटकीय प्रत्यक्षवत्ता से प्रस्तुति है। ऐबरक्राम्बी के शब्दों में—

> वह एक आन्तरिक शैली है, जिसमें उसका कथासूत्र कल्पित होता है। वर्णना की वह शैली जिसमें वह अभिव्यक्त होता है, भावना और चित्त की पूर्ण

प्रगाढ़ता की शैली है। तभी (महाकाव्य) ऐसे लोक में ले चलता है, जहाँ कुछ भी ऐसा घटित नहीं होता जिसका गंभीर अर्थ न हो। ऐसी कविताओं में एक शक्तिशाली महिमा रहती है, एक प्रतीकात्मक उद्देश्य रहता है, जो सर्वशक्तिमान की तरह झलकता रहता है और पूरी कविता को व्यवस्थित, अनुशासित एवं समूचित करता रहता है।[१९]

टिलियर्ड के अनुसार महाकाव्य मे (१) प्रकथनात्मकता (२) विश्वात्मकता और (३) निश्चित विधायकता के तीन गुण होने चाहिए, न कि आलोचना का गुण।[२०] 'गरिमा और घनत्व उसकी विशेषता है'।[२१] मूल विचार या भाव उसका शीर्षबिन्दु है, जो नाना-पर्वो-पठारों का निर्माण करता हुआ धरती में भूधर की भाँति प्रस्थित होता है। उस मूल विचार या भाव के एकघन, सूक्ष्म-सान्द्र बिम्बों के संश्लिष्ट, एकतान उत्थित स्थापत्य का ही काव्यरूप में नाम महाकाव्य है।

खण्डकाव्य भी रचनातन्त्र की दृष्टि से महाकाव्य के समान ही होता है, पर उसमे जीवन का सर्वाङ्ग या विपुल आयाम ग्रहण नहीं किया जाता, किंतु खण्ड जीवन ही ग्रहण किया जाता है।[२२] 'खण्ड' शब्द अनुभूति के स्वरूप[२३] को नहीं, प्रत्युत् उसके प्रसार को सूचित करता है। अनुभूति का स्वरूप खण्डकाव्य मे भी खण्ड-रूप नहीं, पूर्ण ही होता है।

एकघन सूक्ष्मसान्द्र अन्तर्वर्त्ती बिम्ब के रश्मिपुंज से प्रस्फुटित नाना चित्र-मूर्त्तियो एव शब्दार्थरूप तत्पर्यवसायी बिम्बो के सम्प्रसारण-संग्रथन की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' से 'उर्वशी' तक के आधुनिक काल के महाकाव्यो, और 'चाँद का मुँह टेढा है' जैसे महाकाव्यात्मक काव्यो एव खण्डकाव्यो पर विचार करने पर प्रतीत होता है, कि १—कथावस्तु पहले जैसी केन्द्रापसारी न होकर अधिक केन्द्रानुगामी, बाह्याभिमुखी न होकर अधिक अन्तर्मुखी और घटनामूलक न होकर अधिक भावात्मक अथवा चिन्तनात्मक हो गई है।

२—रचनातंत्र ज्यामितिक और कोणात्मक समन्विति का प्रभाव प्रस्तुत करने लगा है, न कि वृत्तात्मक एकान्विति का। मूलस्थ वैषम्य धीरे-धीरे प्रधान होता आया है और अब शीर्षस्थ भी है।

३—चरित्र-परिकल्पना आध्यात्मिक के स्थान पर साक्षात् मनोवैज्ञानिक धरातल पर की जा रही है। फलत. आधुनिक 'चरित्र' मात्र अभिव्यक्ति नहीं होते—अनादि प्राक्तनसस्कार की नैष्ठिक एव धर्मकर्म-ऐकात्म्य की प्रतिमूर्त्ति नही होते, किन्तु हैं क्रम-विकास। अपना 'चरित्र' वे स्वयं अर्जित करते चलते हैं।

धीरोदात्त, धीरप्रशान्त. आदि के साचे तो अब टूट-से गए है। शुक्ल जी का शक्ति-शील-सौन्दर्य का समीकरण अब यथावत् गृहीत नही है, आधुनिक चरित्रो मे छायातप और परिप्रेक्ष्यगत आयाम आ गए हैं—बौद्धिक, मनोवैज्ञानिक-मनोविश्लेषणात्मक आदि। 'कामायनी' से ही यह प्रवृत्ति-प्रारंभ होती है। ऋतवरा, कनुप्रिया, उर्वशी, 'चॉद का मुँह टेढ़ा है' आदि मे वह और स्फुट हुई है।

४—काव्य-रूप, रचनातंत्र, चरित्र-परिकल्पना के आदिसृष्टि-जैसे तरल असतृप्त घोल एक ओर हैं, तो शब्द, भाषा, शैली आदि का अशक्त-सा साधन दूसरी ओर है; वह भी वैसा ही असतृप्त घोल है।[१४] अनिश्चय के इन दो पाटों के बीच, काव्यशैली ने निश्चयात्मक एवं घुलनशील मूर्त्तन-बिम्बन की शिल्प-विधियो का अद्भुत विकास किया है। रागो-भावो के अनुबंधो में भास्वर, ऐश्वर्यदीप्त चित्रों, बिम्बो का वैभव छायावादी कविता मे जितना अधिक मिलता है, उतने ही अधिक विचार और कर्म के अनुबंध प्रगतिवाद-प्रयोगवाद और नयी कविता मे मिलते है।

संक्षेप मे यह कि महाकाव्य और खण्ड काव्य आदि का स्थापत्य बदल गया है। अतः उनके वर्गीकरण में आधुनिक परिवर्त्तित स्थापत्यात्मक विधान पर ध्यान रखना आवश्यक है।

गीतिकाव्य और मुक्तक :—भामह ने अनिबद्ध काव्य की परिभाषा काव्यालंकार (१।३०) मे यह दी है:—

अनिबद्धं पुनर्गाथाश्लोकमात्रादि तत्पुनः।
युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते। काव्यालंकार: पृष्ठ-४

अभिनवगुप्त ने बताया है कि जिसका अन्य कवितादि से पूर्वापर सम्बन्ध न हो, किन्तु फिर भी उससे रसानुभूति हो उसे मुक्तक कहते हैं—

—मुक्तकमन्येनाऽलिङ्गितं तस्यसंज्ञायां कन्। पूर्वापर निरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणाक्रियते तदेव मुक्तकम्।[१५]

मुक्तक के अनेक भेद प्रकल्पित हैं, जिनमें गीतिकाव्य की विधा पृथक्-सी प्रतीत होती है। इस कारण, कि मुक्तक से वृत्ति बाह्यार्थ-निरूपिणी रहती है, गीति है अन्तर्मुखी।

गीतिकाव्य के भेद आकार की दृष्टि से १—गीत, २—शोकगीति, ३—सुबोधगीति, ४—चतुर्दशपदी, ५—आइडिल, ६—मिश्र हैं जिनके पारम्परीण एव नवीन और स्वानुभूतिपरक आदि प्रभेद भी होंगे।

भाव-विचार आदि के उपनिबंधन की दृष्टि से इसके प्रभेद होंगे—भावात्मक, एवं वैचारिक आदि, जो पुनः धर्म अथवा अध्यात्मपरक, समाज-परक, प्रकृतिपरक आदि प्रशाखाओं में विभाजित किए जा सकते हैं।

मुक्तक के भेद आकार (छंद, संग्रहादि), उक्ति (संध्याभाषा, समस्या-पूर्त्ति, मुकरियाँ) आदि की दृष्टि से एव कथ्य तत्त्व के अनुसार प्रकल्पित हो सकते हैं।

सूक्तियाँ मुक्तक से भी अधिक बौद्धिक होती है। इनका वर्गीकरण भी आकार, प्रेष्य तत्त्व एवं प्रेषण-विधि आदि के अनुसार करना चाहिए।

४. रसशास्त्रीय आधार और वर्गीकरण :

यह वर्गीकरण पूर्णतः रसशास्त्र के अनुसार किया जा सकता है जिसके लिए आधार रसशास्त्र के घटक होंगे; अर्थात् नवरस, भाव, भावोदय, भावशबलता, रसाभास, भावाभास आदि तथा उनके विविध प्रकार और प्रभेद अर्थात् प्रस्तुति के भेद, शुक्लजी के रसात्मक बोध के विविध रूप, सुखात्मक-असुखात्मक आदि रूप, उत्कृष्टता आदि के स्तर, विभावादि के आधार पर किए गए विविध भेद, ध्वनि के अनुसार प्रकार और प्रभेद आदि।

५. रचनाविन्यास अथवा व्याकरण का आधार और वर्गीकरण :

ए० ई० सापिर ने बताया है कि कोई भी भाषा उद्देश्य और विधेय के मौलिक भेद से पूर्णतः पृथक् नहीं होती।[२६] संस्कृत भाषा में सुबन्त और तिङन्त शब्द मूलतः उस भेद के ही कारण कल्पित हैं। अतएव समस्त बिम्ब-विधान में इन शब्दों—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, अव्यय और क्रिया—का ही चमत्कारी प्रयोग होता है। इस चामत्कारिक प्रयोग को 'वक्रोक्ति' भी कहते हैं। कुन्तक ने वक्रोक्ति के व्यापार का जैसा प्रतिपादन किया है, वह 'बिम्ब' के रचना-विन्यासगत अथवा वैयाकरणिक वर्गीकरण के लिए एक आधार प्रस्तुत करता है। उनके आधार पर बिम्ब के शब्दादि-विन्यासगत रूप-प्रकार निम्न हैं :—

१—**वर्णविन्यासगत बिम्ब**—(अनुप्रास इति प्रसिद्धम्) यह (क) एक वर्ण की (ख) दो वर्णों की (ग) अनेक वर्णों की आवृत्ति पर आधृत है। (क) वर्गान्त-योगी क से म तक स्पर्श वर्ण (ख) त, ल, न की द्विरुक्त आवृत्ति और (ग) शेष वर्णों की आवृत्ति से मिल कर वर्ण-विन्यास एक चारुत्व का सर्जन करते हैं।

वर्णविन्यासगत चमत्कार है अनुप्रास, यमक, वृत्तियों आदि का ध्वान-रूप जो श्राव्य बिम्ब प्रस्तुत कर वर्ण-सौन्दर्य द्वारा कविता को नादात्मक रूप में चारुत्व

प्रदान करता है। पिछले पृष्ठ-३११-३२३ आदि पर बताया जा चुका है कि नाद-सम्मोहन का प्रभाव अर्थ-युक्त होने पर विशिष्ट होता है: यथा—

कंकण क्वणित रणित नुपूर थे; हिलते थे छाती पर हार। —प्रसाद ' कामायनी

मौन रही हार — . . . . . .
कण-कण कर कंकण प्रिय किण् किण् रव किंकिणी,
रणत्-रणत् उर लाज लौट रङ्किणो;
और मुखर पायल स्वर करे बार बार।
प्रिय-पथ पर चलती सब कहते शृंगार।। —निराला : गीतिका

के 'कंकण क्वणित···' में श्रुत और औच्चारणिक बिम्ब दोनों प्रायः समान हैं; पर पहिली कविता-पंक्ति से प्रमत्त विलासिता का ध्वान-बिम्ब प्रस्तुत होता है, जो पाठक की चित्तवृत्ति को एक रूप में संकल्पित करता है, तो दूसरी कविता के वे ही ध्वानबिम्ब 'मौन रही हार—' की उदास वृत्ति में डुबोते हैं। अर्थात् 'ध्वानबिम्ब' कविता में पृथक् अर्थ या सत्ता रखते तो हैं, पर उनकी स्वरता अर्थ मे परिचालित होकर चित्तवृत्ति को विशिष्ट रूप से द्रवित-द्रुत-दीप्त आदि करती है। इ० स्वीटलैंड दलास ने ठीक ही बताया है कि कविता के ग्रहण-काल में मन शब्द के बाह्य संवेदनात्मक (ऐन्द्रिय) रूप का प्रत्यक्ष करता हुआ अर्थात् नाद से परिचालित होता हुआ, अर्थ-प्रतीति के लिए अन्तस् में डूबता है।[१७] कुन्तक ने भी अपर्यालोचित अर्थ की ऐसी प्रक्रिया बताई है।

२—पदपूर्वार्धगत बिम्ब (क) रूढ़ अर्थ से भिन्न अर्थ—यथा-

१—तो क्या अबलायें सदैव ही अबलायें है बेचारी —गुप्त

२—मेरे छोटे-घर कुटीर का दिया, तुम्हारे मन्दिर के विस्तृत आगन में
सहमा-सा रख दिया गया। —अज्ञेय ' इत्यलम

(ख) पर्याय शब्द का भिन्नार्थ प्रयोग ; यथा—

कृषक-बालिका के जलधर —पंत
मैं प्रभु-पथ हूँ —भारती : सात गीत वर्ष

(ग) उपचार (भेद-प्रतीति में अभेद-दर्शन) यथा-

अमूर्त का मूर्त बिम्ब—

केतकी में आ गये फिर फूल पत्ते, सब नये —
वचन के इस बकुल को पर क्या हुआ, जो हमें तुम दे गये ?
—नरेश वनपाखी सुनो

अचेतन का चेतन बिम्ब—

चञ्चला स्नान कर आवे, चंद्रिका-पर्व में जैसी —प्रसाद।
चल चरणों का व्याकुल पनघट —निराला

उपचार-वक्रता की प्रकल्पना में कुन्तक ने रूपक, मानवीकरण, चेतनीकरण, विशेषण-विपर्यय और फिर वस्तुरूप सह-संबंध-(आब्जेक्टिव कोरिलेटिव) जैसे विधान को भी समेट लिया है।

(घ) विशेषण द्वारा बिम्बन : यथा--

१—वस्तु-रूप बिम्ब—देखता रह जायगा शीघ्र ही उड़ेंगे गीलों के जटायु मेरे . . .
यह कुबड़ा सूरज यह बौना चाँद। —प्रवासी ' बधन के सेतु

२-भाव-रूपबिम्ब—आज की शाम उर्वशी बन आई, मुझे मोह गयी
—श्यामसुन्दर घोष : नये शिशु का जन्म

३--विचार-बिम्ब — मेरे नगपति, मेरे विशाल। --दिनकर : हुंकार

४—क्रिया-बिम्ब -- जब तारों की तरल कंपकंपी स्पर्शहीन झरती है,
मानों नभ में तरल नयन ठिठकी
निःसंख्य सवत्सा युवती माताओं के आशीर्वाद
उस सन्धि-निमिष की पुलकन् लीयमान। —अज्ञेय : असाध्य वीणा

अज्ञेय के क्रियाबिम्ब में बिम्बान्तर्गत बिम्ब है। प्रथम बिम्ब 'तारों की तरल कँपकँपी के स्पर्शहीन झरने में' है, जिसमें उपचार-वक्रता तो है ही, चेतनीकरण की वृत्ति भी है। दूसरा बिम्ब 'रूपक' है। 'सवत्सा युवती माताओं के आशीर्वाद' ही स्पर्शहीन झर रहे हैं। इसमें चेतनीकरण ही नहीं, मानवीकरण है। उस आशीर्वाद के कारण सन्ध्या का वह सन्धि-पल पुलकित हो रहा है और अपनी पुलक को भी लीन करता जा रहा है। यह तीसरा बिम्ब है। इस प्रकार दो सूक्ष्म बिम्बों के अन्तर्गत पड़ा हुआ एक बिम्ब ही टिक रहता है--'नभ में तरल नयन ठिठकी निसंख्य सवत्सा युवती माताओं के आशीर्वाद' का बिम्ब।

इन तीन प्रधान बिम्बों के आभ्यन्तर द्रव्य भी बिम्बात्मक हैं—तरल कँपकँपी, स्पर्शहीन झरना, तरल नयन ठिठकना, सवत्सा युवती माता, सन्धिनिमिष की पुलकन आदि। ये पृथक्-पृथक् विशेषण-बिम्ब के उदाहरण भी हैं। प्रथम पंक्ति में ध्वानबिम्ब 'कँपकँपी' दूसरी में 'झरना' तीसरी में 'ठिठकी' और पाचवी में 'पुलकन लीयमान' बीज है, अथवा केन्द्रीय बिम्ब है। इन नाद-बिम्बों की ध्वनि-प्रतिध्वनि सम्प्रसारित होती हुई कई प्रकार के स्थिति-गति के बिम्ब प्रस्तुत करती हैं।

क्रिया-बिम्ब कभी-कभी वस्तु, भाव-विचार में मूर्त्तता के कारण 'स्थिर'-सा भी होता है अथवा दो स्थिर वस्तुओं आदि में समाहित ('संकेन') भी; यथा—

मेरे पास है कुछ कुत्ता-दिनो की छायाएँ और बिल्ली-रातों के अन्दाज हैं।
— श्रीकान्त वर्मा : मायादर्पण

इनमें 'कुत्ता-दिन' और 'बिल्ली-रात' के बिम्ब पहले प्रतीत होते हैं। उनकी भागदौड़ का सुप्त बिम्ब 'संकेन इमेज' बाद में।

(ङ) संवृत्ति—(संवरण, 'सप्रेसन') अनिर्वचनीय भावों, सौन्दर्यातिशायी विचारों का[१८] स्पष्ट वर्णन न कर संकेत द्वारा, संवरण कर कथन—

१ — जागृति यह —
उर्वर धरा के प्राणद रसायन में
सिर उठाये : विस्तरित हो
दुस्साहसी अंकुर · ···
अनिश्चित आदि–घटना
रात मानो उन रहस्यों की मंत्रणा सी

जैसे अप्रकट संकल्प का कोई अजन्मा बीज
अचानक मुक्ति का संकेत पाकर
किसी आतुर सृष्टि का
स्वयं घोषित
किसी भावी के लिए तैयार
सूर्य उस षड्यन्त्र का कोई सफल विस्फोट है

-एक वीणा की मृदु झंकार ! कहाँ है सुन्दरता का पार ! —पंत : आधुनिक कवि

-बता कहाँ अब वह वंशीवट कहाँ गये नटनागर श्याम ! —निराला : परिमल

किस तृषित की तृषित गोद में आज पाछती वे दृगनीर
कहाँ छलकते अब वैसे ही ब्रज-नारियों के गागर —निराला : परिमल

-जुही सुरभि की एक लहर से निशा बह गयी, डूबे तारे।
अश्रु बिन्दु में डूब-डूब कर दृग-तारे ये कभी न हारे ॥ —रामकुमार वर्मा : आधुनिक कवि

-मोहन मिलिन्द था बैठा नलिनी के मुख पर तिल-सा
शोभन मुखमंडल उसका कुछ और गया था खिल-सा। —शास्त्री : मानममूर्च्छना

उपर्युक्त पंक्तियों में 'किसी', 'कोई', 'एक', 'वह', 'कहाँ', 'किस', 'ये', 'वे', 'कुछ और' आदि शब्द सौन्दर्यातिशायी तत्त्व, अनिर्वचनीय भाव का संवरण करते हैं, न कि पूर्ण प्रकाशन। इस संवरण में भी चमत्कार है।

पंत की कविता में संख्यावाची शब्द अथवा शब्दों की संख्यागत आवृत्ति में कुछ रहस्यात्मक संकेत, मिथकीय आयाम हैं, यथा—'नित्य जग' कविता में नव बार 'एक' आया है। उसमें नव बंध भी हैं। परन्तु, बिम्ब दहाई, सैकड़ा, हजार··· अनन्त की व्यंजना करते हैं। इस प्रकार उसमें 'एक' इकाई का प्रतीक भी है और 'नव' के रहस्यमय अंक का 'रूपक' भी। वह मिथकीय प्रस्तुति भी करता है। उसी प्रकार 'चाँदनी' में 'वह' २२ बार आया है। अंग्रेजी के 'ए' 'ऐन' 'दि' आदि के प्रयोग किस प्रकार बिम्ब को रहस्यात्मक आभा से मंडित कर देते हैं, इसका अध्ययन रोस्ट्रेवर हेमिल्टन ने किया है।[१६] लगभग वैसा ही प्रभाव हिन्दी में भी 'एक', 'वह', 'यह', 'वह' आदि के प्रयोग द्वारा उत्पन्न किया जाता है। 'एक' अनिश्चयात्मक-रहस्यात्मक प्रभा-मंडल की भी सृष्टि करता है, जैसे—'एक वीणा' (पंत) में, तो कभी दृढ निश्चय की भी; जैसे—'एक लहर' (रामकुमार वर्मा) अथवा 'मैं हूँ 'एक' सिपाही' (माखनलाल : भारतीय आत्मा), 'कौन तुम संसृति-जलनिधि तीर तरंगों से फेंकी मणि 'एक'' (कामायनी)। ऐसा ही अन्तर 'यह', 'वह' के प्रयोग द्वारा भी लाया जा सकता है। सर्वनाम, और विशेषण की संवृत्ति कहीं तो शून्यस्तर पर होती है, और कहीं धनात्मक।[१७]

(च) प्रत्यय-प्रयोग द्वारा रमणीय बिम्ब प्रस्तुत करना—जैसे,

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लम्बी काया, उन्मुक्त;
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल सुशोभित हो सौरभ संयुक्त। —प्रसाद : कामायनी
उस सन्धि-निमिष की पुलकन लीयमान —अज्ञेय : असाध्य वीणा

(छ) वृत्ति—समास, तद्धित आदि के द्वारा, यथा मधुऋतु के स्थान पर 'अधिमधु' 'पांडुत्व' के स्थान पर 'पांडिमा', एवं 'एकातपत्रायते' जैसे नामधातु के प्रयोग द्वारा बिम्ब-प्रस्तुति।

१—तुमने यह कुसुम-विहग ! लिबास क्या अपने सुख से स्वयं बुना ? —पंत

२—समास द्वारा—आज का तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्त कर, वेग-प्रखर,
शतशेल सवरणशील, नीलनभ गर्जित स्वर ·· —निराला: राम की शक्तिपूजा[११]

३—नामधातु—खुले ताल जलधुली आँख से
टेसू सुलगे शुकचोंचों से
ईख फूल खेतों इगुराने
दिन उजलाने हंसपाँख से··· ··
सिधुरे सभी पलास
झालझाल पल्लव तंबियाने
—नरेश कुमार . बनपाखी सुनो

मतियाया सागर लहराया। —अज्ञेय : आंगन के पार द्वार
जल गयीं फूल की बारीक नसें जिनसे होकर ये पानी की रंगिम लहरें
फूल बनी पेड बनी। —नरेश कुमार : बनपाखी सुनो

नरेश मेहता की 'वनपाखी सुनो' में प्रत्यय, वृत्ति आदि के अभिनव प्रयोग भरे पड़े हैं, यथा···'डाकते संझा' में—

नील आकाशे खिचे हैं
उत्सवप्रिया इन द्रोणियों में भिरणारेखा खींच
गिलहरी सी चचला बनबाट दूबो बीच
हेमलोनी यही हंसद्वार
साँझ संगीता भरी घनघण्टियाँ
शेष गायन गा रहे सुधिहम
जलधुले नवक्षितिज उजियारे; ·· ·
ऽविनम्री बादल, प्रणत लौ से --
हंस देशों और ले जाती हमें यह खींच
शिखरवस्त्रित वायु की वनबोलियाँ,
सुनो यात्रिक ! सुनो
सहस्रगीतसी संझा, बनपाखी ! सुनो ॥

(ज) भाव अथवा क्रिया द्वारा बिम्ब प्रस्तुत करना (पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार सिद्ध क्रिया')[१२]—नरेश मेहता की उपर्युक्त कविता की 'साझ सगोता' में 'सिद्ध क्रिया' प्रयुक्त है। 'शिखरवस्त्रित वायु की वनबोलियाँ', 'घनघंटियों से भरी' जब तक सांझ में घुलती और संगीतित होती है, उसके पहले ही सांझ सगीता हो उठती है। क्योंकि यह सांझ, भाद्रपद के मेघ से आच्छन्न है। क्रिया का कर्त्ता के साथ रमणीय योग से एवं कर्म आदि के संवरण की शोभा से और फिर उपचार की मनोज्ञता से भी बिम्ब बनते हैं। क्रिया के विशेषण-वैचित्र्य के लिये डा० नगेन्द्र द्वारा उदाहृत पंक्ति निम्न है—

घुमा रहे है घनाकार जगती का अम्बर — पंत : निष्ठुर परिवर्त्तन

एवं उपचार-मनोज्ञता के लिए निम्न—

उन्नत वक्षो में आलिंगन सुख लहरों-सा तिरता।[१३]

कर्म आदि कारकों के संवरण में 'किमपि'-जैसे प्रयोग भी भाव-या क्रिया-बिम्ब में रमणीयता लाते हैं। छायावादी कविता में, खास कर महादेवी वर्मा की रचना में सवृत्ति और कर्मादिगुप्ति के उदाहरण अधिक हैं।

जब संध्या को लाली में दिन लोल गोल ढलता है,
जाने किसकी ज्वाला में किसका कपोल जलता है। —शास्त्री : मानस मूर्च्छना
मैं अपने ही बेसुधपन में, लिखती हूँ कुछ कुछ लिख जाती —महादेवी : यामा

नई कविता मे संवृत्ति और कर्मादिगुप्ति के भाव-या क्रिया-बिम्ब एवं अनिश्चयात्मक निश्चय अथवा निश्चयात्मक अनिश्चय की प्रस्तुति भी करते हैं : यथा—

अनिश्चयात्मक निश्चय का संकेत—

एक भूखा समुद्र था
कहते हैं एक भूखा समुद्र था · · · ·
यों हुआ एक दिन धरती को तोड़ कर
आकर समुद्र की बाहों में सो गयी
र उस समुद्र की बूँद-बूँद शहदीली हो गयी

हर क्षण गरजता पछाड़े खाता हुआ
एक बहुत दुबली-सी चंदन-धुली हुई अलसायी धार
धारा तो खो गयी
कहते हैं कभी एक भूखा समुद्र था।

—कैलाश वाजपेयी . स्पर्श संक्रान्त

निश्चयात्मक अनिश्चय का संकेत—

मैं हूँ
जो किसी सुविधापरस्त छटपटाते,
दो खाली कमरों में, न किये अपराधों का दण्ड भोगता हुआ,
बिना आत्मघात किये हर क्षण अकालमृत्यु मरता है

या वह कोई और है,
नगर की छत पर टँगे

—कैलाश वाजपेयी : संक्रान्त

भाव-वैचित्र्यवक्रता-रूप बिम्ब में क्रिया साध्यरूपा होती है। 'परन्तु कभी-कभी चमत्कार उत्पन्न करने के लिए भाव का सिद्ध-रूप प्रदर्शित किया जाता है।'[१]

(ख) लिंग-वैचित्र्यवक्रता-रूप बिम्ब—डा० नगेन्द्र द्वारा उदाहृत पंक्ति है—

हृदय की सौन्दर्य-प्रतिमा! कौन तुम छवि-धाम?

मनु के द्वारा श्रद्धा को सम्बोधित यह पंक्ति कामायनी के वासना-सर्ग की आणविक महा-बिन्दु है जिसके बाद परवर्त्ती कथातन्त्र में भोग और प्रवृत्ति की धारा का उद्वेलन आता है। इसके पहले तक मनु श्रद्धा को 'अतिथि' कहते आए हैं; श्रद्धा अबतक 'दिव्य सौन्दर्य' है। किन्तु, अब मनु की मनःस्थिति रागाच्छन्न हो रही है। अतएव सम्बोधन है—सौन्दर्य-प्रतिमा, छवि-धाम; पुल्लिंग-स्त्रीलिंग, स्त्रीलिंग-पुल्लिंग—उभयलिंगी। कुछ ही काल बाद 'श्रद्धा' मनु के लिए 'नारी' 'विश्व नारी', 'सुन्दरी नारी' हो जाती है। अतः लिंग-वैचित्र्य साभिप्राय है।

"नाम्नेव स्त्रीति पेशलम्" के अनुसार भावना की पेशलता के आग्रह से जहाँ स्त्रीलिंग का प्रयोग हो वहाँ भी एक प्रकार का बिम्ब उभर आता है—जैसे—नीचे की पंक्तियों मे 'हथेली' और 'कर' मे—

जलदागम मारुत से कम्पित पल्लव सदृश हथेली
श्रद्धा की धीरे से मनु ने अपने कर में ले ली। —प्रसाद ; कामायनी

श्रद्धा की 'हथेली' आभ्यन्तर रसन-व्यापार (जलदागम), प्राण (मारुत) और शरीर (पल्लव) के पुल्लिंगों से प्रेरित थी। अतएव 'धीरे से' मनु ने उसे अपने 'कर में' ले लिया।

३—पद-परार्धवक्रतागत बिम्ब—

(क) कालगत बिम्ब—भविष्यत् का—

जब असीम से हो जायेगा, मेरी लघु सीमा का मेल,
देखोगे तुम देव, अमरता खेलेगी मिटने का खेल। —महादेवी

भूत का वर्त्तमान कालिक प्रत्यक्ष बिम्ब—कैसे कहती हो सपना है, अलि उस मूक मिलन की बात
भरे हुए अब तक फूलों में मेरे आँसू उनके हास?—महादेवी

वर्त्तमान के सातत्य का—जिसकी विशाल छाया में जग बालक-सा सोता है
मेरी आँखों में वह दुःख आँसू बन कर खोता है। —महादेवी

हर हाँक पीछे छोड़ता, अनसुना, अनजान,
अभी बिल्कुल अभी।
झुटपुटे में फिर कहीं वह बिला जायेगा।

इस पथ से गया है—
आह, कोई उसे रोके, उसे बाँधे

—केदारनाथ : अभी, बिल्कुल अभी,

(ख) कारक वक्रतागत बिम्ब —

१—हर धनुर्वार को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त। —निराला

२—आँसू से भींगे अंचल पर मन का सब कुछ रखना होगा। —प्रसाद : कामायनी

दूसरे में 'पर' का स्वारस्य तुल्यप्रधानता में है, अर्थात् एक पलड़े पर 'आँसू का भींगा अंचल' हो दूसरे पर 'मन का सब कुछ'; जैसे तौला जा रहा हो।

३—सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर। —प्रसाद : चन्द्रगुप्त

यहाँ 'पर' का स्वारस्य फिर तौलने से सम्बन्धित है। किन्तु उपर्युक्त उक्ति के द्रव्य-भार का तोल यहाँ काल-प्रवाह का तोल या 'ताल' है तरुशिखा के नाचने के लिए।

४—और जब सन्नाटे की लाठी पर
सो चुकता है बच्चे की तरह दर्द —भवानी प्रसाद मिश्र : अँधेरी कविताएँ

यहाँ 'पर' के अन्तर्गत दो अर्थ हैं, एक लाठी की मार से डर कर, और दूसरा सचमुच खड़े ही खड़े लाठी पर सिर झुकाए सो जानेवाले ग्वाल-बाल का बिम्ब।

५—जीवन ! वह जगमग एक काँच का प्याला था,
जिसमें मदभरमाथे हमने भर रखा तीखा भभके-खिंचा उजाला था।
कौंध उसी की से वह फूट गया। —अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय

'उसी की से' में अर्थ की तीन परतें हैं—उसी की कौंध थी, उसी से वह उजाला फूटा था, उसी की कौंध की तरह वह कौंध कर फूटा था।

(ग) संख्या या वचनवक्रतागत बिम्ब— बहुवचन को एकवचन के द्वारा समेटना; यथा—
हैं ये ऊजड़ ग्रामदेश का हृदय चिरन्तन।

(घ) पुरुष-वक्रतागत बिम्ब—यथा—करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काये।
फूल उठे हैं कमल अधर-से ये बन्धूक सुहाये। —गुप्त

(ङ) उपग्रहवक्रतागत बिम्ब— (कर्मकर्तृ वाच्य प्रयोग), यथा—
मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूँ —प्रसाद : कामायनी

(च) प्रत्ययवक्रतागत बिम्ब—१—पिय सों कहहु संदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग। —जायसी
२—कांगड़े की छोरियाँ—कुछ भोरियाँ कुछ गोरियाँ · ···
ज्वार मक्का की क्यारियाँ—हरियाँ-भरियाँ-प्यारियाँ —अज्ञेय

(छ) उपसर्गवक्रतागत बिम्ब-यथा—विकम्पित मदुउर पुलकित गात पंत

(ज) निपातवक्रतागत बिम्ब—यथा—जन कर जननी ही जान न पायी जिसको —गुप्त
च्युत हुए अहो नाथ जो यथा। धिक् वृथा हुई उर्मिला व्यथा। —गुप्त

कुन्तक ने वक्रोक्ति का विनियोग वाक्य, प्रकरण और प्रबंध में भी किया है। उनका वक्रोक्ति विवेचन-काव्य के सर्वाङ्गीण रूप-संस्थान का उद्घाटक है।

व्याकरण एवं भाषाविज्ञान की दृष्टि से 'मेटाफर' पर जो भी अध्ययन पाश्चात्य विद्वानों ने किए हैं, वे प्रारंभिक हैं।[३५] क्रिस्तिन ब्रुकरोज ने 'ए ग्रामर ऑफ मेटाफर' (१९५८) में वैयाकरणिक दृष्टि से 'रूपक'-विधान का अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने बिम्ब और रूपक, रूपक और प्रतीक के अन्तर का विश्लेषण चौसर से लेकर डायलन टॉमस तक पन्द्रह कवियों की कुछ

.न ओं को आधार मान कर (क) आर्टिकल अर्थात् निश्चय-बोधक, और निश्चय संकेतक शब्दों (यह, वह, एक) एवं तत्समान प्रयुक्त शब्दों (मेरे, तेरे, से, कितने आदि) की विधि, (ख) निर्देशात्मक इंगित-विधि (अर्थात् 'ऐसे', 'से', 'इसी भाँति', 'इस प्रकार', आदि उपमावाचक चिह्न-प्रयोग द्वारा, सीधे। सकेत्त द्वारा, व्यंजना द्वारा, समानान्तर कथन द्वारा या संबोधन द्वारा ादि) (ग) क्रिया-विधि, (घ) सम्बन्ध-उपस्थापन विधि से (सबंध कारकादि ारा) केया है। और उसके अन्तर्गत संज्ञा, सर्वनाम, कारक, क्रियादि का ्पकल्पियास मे कितना, कैसा योगदान है, इसके आकलन द्वारा नतीजे निकाले । उनके निम्न निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण हैं और हिन्दी-कविता के अध्ययन के लिएभी दिशा-निर्देश करते हैं—

१—भाषिक प्रतीक के ही नहीं, किसी अन्य प्रतीक के बिना भी कविता लखी जा सकती है। पाउंड ने इस ओर प्रयास किया था; इलियट की 'वस्तुरूप हसंबध' की विधि उसका ही प्रतिरूप है। येट्स की अनेक कविताओं मे त्यक्ष बिम्ब तो वास्तविक यथार्थ का ही रहता है, जिसके मूल मे यह विश्वास रहता है कि पाठक अपने-अपने प्रतीकार्थ प्रक्षिप्त कर उनके अर्थ करेंगे। कवि पाठक से शब्दों की गंजो-अनुगूँजों, वातावरण, अन्य कवियो-मनीषियों के अर्थ-संदर्भ आदि के ज्ञान और संस्कार की भी उम्मीद करते हैं।

२–आधुनिक कवियों ने सम्बन्ध चिह्नों (सा, जैसे, यथा आदि), निश्चयात्मक सर्वनाम, विशेषणादि को भी छोडना शुरू किया है और अविशेषीकरण, तथा अनिर्दिष्ट-संकेतन की विधि अपनायी है। इससे शब्द वस्तुवाची ठोस रूप में प्रयुक्त तो हुए, परन्तु पाठक सडक, गाछ-वृक्ष, लकड़ी, मेढक, ग्लास-कटोरा, साँप आदि शब्दो को पढ कर उनके साक्षात् ठोस अर्थों के नीचे कुछ-न-कुछ गूढ काव्यार्थ पाने के लिए गहरी डुबकी लगाने लगा। अतएव किसी को कुछ मिला, किसी और को कुछ और। फलस्वरूप 'बिम्ब' और बिम्बन-प्रक्रिया की प्रकल्पना की गयी। 'बिम्ब', प्रतीकों का पुंज हो उठा और महिमा-पूर्ण भी।

३—इसका प्रभाव यह हुआ कि साधारण प्रतिभा के व्यक्ति भी वस्तुओं की सूची प्रस्तुत कर कवि बन जाने की कल्पना करने लग गये। दूसरे शब्दों मे, भाव-विचार की शब्द द्वारा मूर्त्तन-प्रक्रिया धीरे-धीरे अमूर्त्तन-प्रक्रिया में बदलने लगी। अमूर्त्तन-प्रक्रिया को प्रधान मानने के कारण बिम्बरूप मे प्रस्तुत करने वाले वस्तुवाची शब्दों—संज्ञाओं, क्रियाओं—का व्यवहार होने लगा; जिससे कविता प्रस्तुति-रूप में साधारण-सी हो उठी। अर्थात् कविता लिखित-मुद्रित-श्रुत रूप में 'अल्प कविता' रही; गृहीत, संकलित, ध्वनित व्याख्या-रूप में अधिक कविता हो उठी। फलतः, आलोचना भी साथ-साथ चलने लगी, जो उसकी पूरक बनी। यह परम्परागत प्रकार से भिन्न भी थी।

४—शब्दों में नाना प्रकार के प्रतीकों का सवाहकत्व विकसित हुआ।

५—साधर्म्य, साम्य आदि का दर्शन पहले कवि आदि जिस दृढ़ आस्था से करते थे, अब नहीं करते। जगत् की कल्पना खंड-दर्शन पर आधारित है, धर्म-ग्रथादि पर नहीं; वैयक्तिक और नीति-निरपेक्ष, वैज्ञानिक और शुद्ध अधिक है, आस्थामूलक नही। अतएव कोई भी वस्तु दूसरी वस्तु नही हो सकती ('मुख' चाद नही हो सकता)। बहुत हुआ तो दूसरी से हल्की समानता ही झलकेगी। उसका अनुभव पाठक के संकेत-ग्रहण प छोडना उत्तम है।

६—भाषा एक तुला पर तौल कर कटी-छंटी-बुनी व्यवहृत होती है। वह भावसंकुल ऐसी शब्दराशि के बीच चलती है कि उसमें गूँजें भरी होती है।

७—मिस हेडविग कोनराड के निष्कर्षों के आधार पर ब्रुकरोज का यह स्थापना ठीक है कि क्रिया में—(क) नमनीयता और अर्थ-निर्वहण की पार शक्ति है; अपनी लोच से वह स्वयं नयी गति स्फुट करती है और सा में बेधकता भी ले आती है। (ख) रूपकादि में निबधित होकर क्रिया अपने मूल अर्थ से हट भी जाती है और केवल सम्बन्धित सज्ञा से ही सम्पृक्त हो उसमें अपनी झलक ले आती है। मूलार्थ का सर्वथा त्याग कर वाक्यार्थवश सग्रह में ऐसा समर्पकत्व क्रिया की विभुता है।

सारांश यह कि 'क्रिया'-प्रयोग में प्रेषण की अमित्त शक्ति है। फिर, क्रियाशीलता की दृष्टि से अचेतन का चेतनीकरण अधिक काव्यात्मक है,न कि मानवीकरण। वृक्ष का चित्रण यदि पशु-रूप हो, तो उसमे जैसे मानव से असम्पृक्त, प्राकृतिक एव जैव विभूति आ जाती है—एक दिग्गत-प्रसारी रहस्यात्मकता भी। इस दृष्टि से 'दिनकर' जी का निम्न बिम्ब 'तपस्वी' की मानवकेन्द्रितावादी दृष्टि के कारण उत्तम होते-होते रह जाता है :

पक्षियों का ग्राम केशों में बसाये, यह तपस्वी वृक्ष सबको छाँह का सुख बाँटता है।

'असाध्य वीणा' में अज्ञेय के 'किरीटी तरु' का बिम्ब बाजी मार ले जाता है। पंत की पंक्ति 'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया' भावुकता भरी कविता कही जायगी। परन्तु, कोनराड से पूर्णतः सहमत होना कठिन है, क्योंकि द्रुम को द्रुम-रूप या वन-रूप ही प्रस्तुत करना एक दिशा है, मानव-प्रेरणा रूप में चित्रित करना दूसरी दिशा। और 'उत्तमता' प्रस्तुति-गत होती है। इतनी बात ठीक है कि आदमी को कहीं प्रकृति में समर्पित होना चाहिए, यथा—निम्न पंक्तियों मे

घास की एक पत्ती के सम्मुख
मैं झुक गया
और मैंने पाया कि
मैं आकाश छू रहा हूँ

—सर्वेश्वर : एक सूनी ना

तो कहीं प्रकृति में यथासंदर्भ मानवीय राग और दिव्य रूप भी देखना चाहिए।

८—काव्यभाषा आधुनिक काल में 'क्रिया' की ओर से 'संज्ञा' की ओर सरकती आई है।

९—इलियट क्रियाओं के व्यवहार में दक्ष हैं—यह अमूर्त्तन-प्रणाली है। फिर वे निश्चयवाचक विशेषण (दि) या आर्टिकल का व्यवहार करते हैं। यह भी निजी बिम्ब का विशेषीकरण एवं विशेषीकरण द्वारा सार्वभौमीकरण (युनिवर्सलाइजेशन) अर्थात् अमूर्त्तन की प्रवृत्ति है। उनकी कविता के स्थापत्य में क्रिया-सातत्य रहता है। डायलन टॉमस की कविता बिम्ब-विखण्डन करती हुई बढ़ती है। फलतः कविता अर्थों के वात्याचक्र में घूमती-नाचती है—जिस कविता-संसार में प्रतिक्षण जो झिलमिलाता है, वह टूटता चलता है। बिम्ब तब क्रिया, वस्तु, शब्द आदि की प्रतिक्रिया-शृंखला में अणु-विकिरण की भाँति चमकता हुआ विस्फोट कर जाता है। परन्तु कविता, अन्ततः, वहीं खत्म होती है, जहाँ से शुरू हुई थी। अतएव, उसका अन्वित प्रभाव 'मूर्त्तन' या स्थिति का है।

इलियट में सभी इन्द्रियाँ अलग-अलग जलती-सी हैं, पर सब मिलकर मन को समन्वित क्रिया की ओर प्रेरित करती हैं। डायलन टॉमस में भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के सभी वाद्ययंत्रों से स्वर गुंजित-अनुगुंजित होता है और मन के तार को छू कर नाना प्रतीकों के वातावरण को उकसा जाता है। अन्ततः सारे वाद्ययंत्रों की भिन्नता से निकलने वाले सारे स्वर एक की ही झंकृतियाँ प्रतीत होते हैं। अतः इलियट की कविता में क्रिया की धारा है, टॉमस में स्थिति की दृढ़ता।

आधुनिक हिन्दी-कवियों में से कुछ क्रियावृत्ति-प्रधान हैं, इलियट की ओर पड़ते हैं, तो कुछ स्थिति-स्थापकता-प्रधान डायलन टॉमस की ओर। एक ही कवि की दो रचनाएँ भी इन दोनों-जैसी भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति की मिलती हैं।

-वृत्तात्मक टॉमस-जैसी प्रवृत्ति—स्थितिस्थापक : मूलस्थ अमूर्त्तन शीर्षस्थ मूर्त्तन—

अकसर एक गन्ध
मेरे सामने भर जाती है
अकसर एक प्रतिमा
पड़ा हुआ मिलता है,
मैं जहाँ होता हूँ
यात्रा बन जाती है।

मेरे पास से गुजर जाती है,
अकसर एक नाव
धूल में बन जाती है
सूरज की गिलहरी
वहाँ से चल पड़ता हूँ

अकसर एक नदी
आकर तट में टकराती है।
अकसर चाँद जेब में
पेड़ पर बैठ खाती है,
अकसर एक व्यथा

—सर्वेश्वर : एक सूनी नाव

-त्रिकोणात्मक इलियट-जैसी प्रवृत्ति—गति-प्रेरक : मूलस्थ मूर्त्तन; शीर्षस्थ अमूर्त्तन—

सड़क पर धूल,
धोती पर दाग
सुबह
एक बिल्ली मुँडेर पर
झगड़ती है।

आँख में कीचड़
चौके में धुँआँ
फट पड़ती है।
बैठी हुई
दूकानें खुलती हैं।

पेड़ पर धूप
अचानक घर घर में
दूसरी बिल्ली से

—श्रीकान्तवर्मा : मायादर्पण

प्रथम कविता में पहली पंक्ति 'अक्सर एक गंध मेरे पास से गुजर जाती है' को ही अंतिम पंक्ति लौट जाती है। लौटने की क्रिया के लिए ही जैसे नाना दृश्यादि के बिम्ब प्रस्तुत किये गये थे, ऐसी वृत्तात्मक प्रतीति होती है। दूसरी कविता में अनेक मूर्त्त बिम्ब हैं, पर असम्बद्ध से, जिनके कारण उनमें सम्बन्ध का आरोप पाठक को करना पड़ता है। अंतिम पंक्ति में आकर पाठक 'दूकाने खुलती हैं' का इशारा पा, सारे बिम्बों में दूकान खुलने वाली वणिकवृत्ति के प्रसार का व्यंग्यपरक अर्थ पाता है। यह प्रसारण तिर्यक-रूप में होता है। उसकी हल्की-सी फब्ती 'दूकाने खुलती हैं' जीवन-जगत के प्रति विद्वेष जगाती है। पहली कविता में निमग्नता है, दूसरी में क्षिप्तता। यानी, पहली अमूर्त्तन करती हुई एक मूर्त्त बिम्ब में डुबोती है, दूसरी मूर्त्त बिम्ब प्रस्तुत करती हुई अमूर्त्त क्रियादि का उद्रेक जगाती है। पहली कविता में बिम्ब एक दूसरे पर स्तवक-रूप में आरोपित हैं, दूसरी में विस्फोटक।

१०—सामान्य उपमान जब किसी विशेषणादि से सर्वथा असम्बन्धित रूप से प्रयुक्त होता है, तो वह प्रभाव की दृष्टि से शून्य-स्तर पर रहता है; अतएव अस्पष्ट या धुँधली छाप छोड़ता है। ऐसे शून्य स्तर के शब्द व्यक्तिवाचक, अथवा बहुवचन में प्रयुक्त संज्ञादि होते हैं। उनमें जब कुछ अन्य शब्द, वाक्यांशादि जोड़कर उन्हें विशिष्ट रूप, रंग, क्रियादि में निर्दिष्ट किया जाता है, तो वे शून्य-स्तर से ऊपर उठ जाते हैं। उपमानों में नवीन योग ही आधुनिक कविताओं में अपरिमित रूप और प्रकार का हुआ है—जैसे, सामानान्तर ऐन्द्रिय-बोध द्वारा, अथवा ज्ञान-विज्ञान के दूसरे —कभी-कभी अब तक अछूते—क्षेत्रों की समतोल उक्तियों के विनियोग के द्वारा, आदि; ताकि लगभग समान कथन की गूँज-अनुगूँज उठती चले; यथा—पंत की 'बादल', धर्मवीर भारती की, 'तुम्हारे पांव मेरी गोद में', श्रीकान्त वर्मा की 'जलसाघर', आदि में।

११—मिस कोनराड एवं ब्रूकरोज दोनों की दृष्टि से विशेषण, सामान्य प्रत्यायात्मक अर्थ-सदर्भ रखते हैं और क्रिया की तरह नमनीय हैं। उनकी चमक ऐसी है, जो तुरंत उड़ जाती है। इसलिए विशेषण आलसी लेखक की ताकत है। विन्ढेम लेविस और एज़रा पाउंड दोनों ने उत्तम लेखन के लिए उसका त्याग आवश्यक माना है। वैसे, विशेषण कभी क्रिया-रूप व्यवहार करते हैं और संज्ञा को अनुप्राणित करते हैं; किन्तु कभी-कभी वे संज्ञा-रूप हो उठते हैं। जैसे—

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल। अपलक अनन्त नीरव भूतल

में अनेक विशेषण 'ज्योत्स्ना' और 'भू-तल' को एक क्रिया-व्यापार में उन्मिषित न कर संज्ञा-रूप हो गए हैं और उसी के रंग में ढल गए हैं—

भूल सकता मैं नहीं
ओठ से चूमे गये,
जो तुम्हारे साथ बीते
बावरे दिन,

ये कुच-खुले दिन,
उजले, धुले दिन,
रस-भरे दिन,
दीप की लौ-से गरम दिन।

—केदार ना० अग्रवाल - फूल नहीं रंग बोलते हैं।

में सारे विशेषण 'दिन' को गंध, स्वाद, रस, स्पर्श के ऐन्द्रिय बिम्बों में बांधते हैं; यानी यहाँ विशेषण से 'संज्ञा' 'अधिसंज्ञा' होती है।

लहर की पंखयुक्त 'वीणा' पर पवन ने भर उमंग से गाया।
फेन-झालरदार मखमली चादर पर मचलती किरण-अप्सरायें भारहीन पैरों से थिरकीं -
जल पर आलते की छाप छोड़ पलपल बदलती।
दूर धुँधला किनारा झूम झूम आया, डगमगाया किया।

—अज्ञेय; आँगन के पार द्वार

'पंखयुक्त' विशेषण वीणा को संज्ञा देता-सा लगता है। फिर ऐसी वीणा 'लहर' का सस्वर बनाती है; पवन उसे छेड़ता है। समुद्र-फेन मखमली और झालरदार चादर होता है। संज्ञा और विशेषण जुड़-से गये हैं। उस चादर पर किरण अप्सरा-रूप हो कर थिरकती है। भारहीन विशेषण 'पैर' को सुकुमारता देता है। वे इस नाच में जल में आलते की छाप छोड़ती है--किरण की घुलती-मिटती रंगीनी ही छाप है। कालिदास का प्रसिद्ध पद है—

यस्यावरोधे स्तनशातशोभिर्मदीर्धैर्विगाह्यमानो गलिताङ्गरागैः।
सन्ध्योदयः साभ्र इवैष वर्णं पुष्यत्यनेकं सरयूप्रवाहः॥ -रघुवंश। १६-५८

यही नहीं, अज्ञेय की कविता में दूर का किनारा धुँधला-सा तो है, पर उस नृत्य-गीत के समा में झूम रहा है। इस प्रकार यहाँ विशेषणों के संज्ञारूप, क्रिया-रूप दोनों प्रयुक्त हैं।

१२—रंग भी विशेषण की तरह संज्ञा-रूप अथवा क्रिया-रूप होते हैं :—

संज्ञा-रूप - अरुण यह मधुमय देश हमारा। —प्रसाद : चन्द्रगुप्त

बैठ गुलाबी विजन उषा में गाते कौन मनोहर राग।

नील परिधान बीच, सुकुमार : —प्रसाद : कामायनी

क्रिया-रूप - पश्चिम की सुनहरिया घुँघराई —भारती : सात गीत वर्ष

टुसुक हठीली, हरी पर्त में हल्की नीली, आग लपेटे - एक कली कचनार की।

--भारती सात गीत वर्ष

स्वच्छ, शुभ्र, उज्ज्वल, और हरा, नीला, लाल आदि रंग प्रतीक-रूप होकर संज्ञा-सरीखे प्रयोग पाते हैं। उज्ज्वल=पवित्रता, हरा=यौवन, प्रकृति; नीला=गाम्भीर्य, अनन्तता, लाल=प्रेम, क्रोध आदि।

१३—'क्रिया' के अधिक प्रयोग का युग सांस्कृतिक इतिहास के सन्दर्भ में अधीत होना चाहिए। संभवतः, उसका कारण रोमांटिक प्रवृत्ति हो। संज्ञाएँ स्थैर्य और विश्वास में पलती हैं। संभवतः, उनके आधिक्य के मूल में आदर्शवादी दृष्टि हो; अथवा दुर्दम आवेश, भावावेग, त्वरा हो।

शास्त्रनिष्ठ अथवा श्रेण्यवादी कविताओं में ठोसपन संज्ञाओं के एवं ऐश्वर्य विशेषणों के आधिक्य के कारण आते हैं। रोमांटिक स्वच्छन्दतावादी कविताओं में विशेषण चमत्कृति और भावनात्मकता लाते हैं, क्रियाविशेषण क्रियाओं को प्रबल गति देते हैं; और इन कविताओं में क्रिया का प्रयोग अपेक्षया अधिक होता है। द्विवेदी-युग की कविता संज्ञा-प्रधान है, छायावाद विशेषण और क्रिया-प्रधान, प्रगतिवाद क्रिया-प्रधान, प्रयोगवाद का प्रतीकात्मक रूप फिर संज्ञा-प्रधान हो उठा है और नयी कविता सूक्ष्मीकरण एवं विशेषण-प्रधानता से धीरे-धीरे क्रिया-प्रधानता की ओर बढ़ रही है। अधुनातन नयी कविता, अ-कविता, ठोस-कविता आदि में 'संज्ञा' जोर पकड़ रही है। ये विशेषताएँ उनके काव्य-संग्रहों के नामकरण से भी द्योतित होती हैं।

इस प्रकार वैयाकरणिक अध्ययन से काव्य-प्रवृत्ति और युग-प्रवृत्ति के अनेक रहस्यो के कपाट खुलते है, यानी काव्यबिम्ब के वैयाकरणिक वर्गीकरण मे कुंतक और ब्रूकरोज आदि की विधियों और निष्कर्षो से युगधारा, कवि-प्रवृत्ति और दोनों के पारस्परिक सामंजस्य को समझने की दिशा प्राप्त होती है।

६. तात्त्विक आधार और वर्गीकरण :

अध्ययन की एक पृथक् दिशा है बिम्बों का आभ्यन्तर द्रव्यगत अर्थात् तात्त्विक दृष्टि से किया गया वर्गीकरण। यह विश्लेषणात्मक विधि है और प्राचीन है। भारतीय शास्त्रकारों ने भी अलंकारों के उपमानों, संबंध-चिह्नो, विभावो आदि की तात्त्विक पडताल की थी। पाश्चात्य देशों मे उसके अध्ययन की चार विधियाँ दीख पड़ती हैं—

(क) जाति-विशेष की विधि (ख) चेतन-अचेतन की विधि (ग) वैचारिक क्षेत्र द्वारा वर्गीकरण-विधि एवं (घ) मूल प्रवृत्ति द्वारा वर्गीकरण-विधि।

(क) जाति-विशेष के आधार पर वर्गीकरण-विधि अरस्तू द्वारा प्रकल्पित है, जिसमें रूपक, और इस कारण बिम्ब, में (१) जाति या सामान्य शब्द के स्थान पर विशेष का (२) विशेष के स्थान पर सामान्य या जाति का (३) विशेष के स्थान पर अन्य विशिष्ट का प्रयोग, और (४) साधर्म्य आदि के कारण समतुल्य भाव-बोधक शब्द का प्रयोग किया गया होता है। इस वर्गीकरण का अन्तर्भाव भारतीय 'औपम्य' अथवा कुन्तक की उपचार-परिकल्पना में हो सकता है। चौथा भेद स्वतः पृथक् नहीं है, वह अन्य तीनों के मूल मे है।

(ख) चेतन-अचेतन वर्गीकरण—यह क्वीन्टिलियन द्वारा प्रकल्पित है और चार प्रकारों में विभाजित है :

(१) चेतन के स्थान पर अचेतन (२) अचेतन के स्थान पर चेतन (३) चेतन के स्थान पर अन्य चेतन एवं (४) अचेतन के स्थान पर अन्य अचेतन।

इसमे आगे चल कर ज्याफ्री ने (पोएट्रि यानोवा) चेतन-अचेतन के स्थान पर मानव-मानवेतर के बीच स्थानान्तरण को उत्तम माना था। 'आकाश-पुष्प' से उत्तम बिम्ब 'नभ-मुस्कान' है। अरस्तू और ज्याफ्री दोनो रूपक मे चेतनीकरण या मानवीकरण की प्रवृत्ति देखना चाहते थे। कहना न होगा यह सर्वात्मवादी दर्शन भारतीय अलंकारिकों की भी थी; अतएव औपम्य, रूपक और उपचार आदि में क्वीन्टिलियन की मूल भावना अन्तर्भुक्त है।

(ग) वैचारिक क्षेत्र द्वारा वर्गीकरण की विधि की मूल कल्पना सिसेरो ने की थी। वैसे, प्राचीन काल से ही कवि वक्ता, निर्माता, गायक आदि कहलाता था

और ज्ञान के विस्तृत क्षेत्रों से उसका सीधा सम्बन्ध था। यही कारण है, कि सिसेरो ने जब कहा था कि संसार मे कोई वस्तु ऐसी नही जिसका नाम दूसरे क्षेत्र की विषयवस्तु में स्थानान्तरित नहीं हो सकता, तो उसने कोई बहुत बड़ी बात नही कही थी। परन्तु, रूपकादि मूर्त्तन या बिम्बन के अध्ययन द्वारा कवि-चित्त के व्यापक ज्ञान का पता लगाने का काम और तदनुरूप कवियों को, अथवा कविताओं को वर्गीकृत करने का काम मध्ययुग में कम हुआ, नाना शास्त्रीय उपलब्धियों के प्राविधिक विकास के कारण आधुनिक युग में अधिक।

इस दृष्टि से काव्यबिम्ब के वर्गीकरण मे धर्मशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणात्मक, पुरातात्त्विक, ऐतिहासिक आदि अनेक आधार गृहीत हो सकते है।

(घ) मूल प्रवृत्तिगत वर्गीकरण की विधि पर विशेष रूप से विचार अपेक्षित है।

७. प्रवृत्तिगत आधार और वर्गीकरण :—

उपर्युक्त वैचारिक क्षेत्र के अध्ययन के फलस्वरूप वृत्ति अथवा मनोदशा की दृष्टि से वर्गीकरण की दिशा भी विकसित हुई और विदेशो में शेक्सपीयर, शेली, कीट्स, येट्स आदि की बिम्बमालाओ पर तथा भारत में रामायण, कालिदास, जायसी, आदि कवियो के बिम्ब-विधान पर शोध हुए हैं जिनमे कवियों अथवा उनके काव्यबिम्बों की मूल प्रवृत्तियो की पड़ताल और वर्गीकरण विविध 'वादों'—धर्म और अध्यात्मशास्त्र, दर्शन और मनोविज्ञान, राजनीति और समाजशास्त्र, कला और काव्य—आदि से सम्बन्धित विचार-धारा के आधार पर किया गया है। विषय-प्रधान (आब्जेक्टिव) और विषयि-प्रधान (सब्जेक्टिव) वर्गीकरण, शक्ति-काव्य (पोएट्री ऐज एनर्जी) और कला-काव्य (पोएट्री ऐज आर्ट) आदि मे कवियों और कविताओ आदि का विभाजन भी इसी प्रवृत्ति के ही आधार पर किया जाता है।

धर्मशास्त्रीय-नीतिशास्त्रीय दृष्टि से बिम्बों, रूपकों आदि के वर्गीकरण की कल्पना सुकरात, प्लेटो, प्लॉटिनस, एक्वीनस एवं मध्ययुग के अनेक रोमवासी और जर्मन दार्शनिको ने की थी। क्विन्टिलियन ने जब रूपको के वर्गीकरण के लिए दो प्रवृत्तियाँ (क) चेतनीकरण एवं (ख) अचेतनीकरण की उद्भावित कीं, तो उसने अरस्तू के ही सामान्य और विशेष के वर्गो मे एक नयी दृष्टि डाली और उसके दो वर्ग बताए (क) चेतन और (ख) अचेतन।

बाद में एच० पॉक्स[३६] ने इन दोनों में व्यापक द्विध्रुवीय तत्त्व दिखाए—
१. प्रथम में मिथकीयतत्त्व और आत्मतत्त्वात्मक विशेषता रहती है, क्योंकि चेतन वर्ग के रूपक-बिम्बादि में कल्पना मानवकेन्द्रिक वर्ग (सीलटाइपस) के होते हैं। और २ द्वितीय में पदार्थरूपात्मक अर्थात् सह-अनुभूति की शक्ति होती है (एम्पेथाइज़िंग, एफूलुटाइपस)। रस्किन की दृष्टि से पहली वृत्ति 'पैथेटिक फैलेसी' है।

भगवान के साथ साक्षात् सम्बन्ध-दर्शन के लिए जगत् में तीन ही कोटियाँ या विधियाँ प्राप्य हैं, जिनके आधार पर रहस्यवादियों एवं भक्तों-संतों ने आत्मानुभूति के श्रेष्ठ मिलन-क्षणों का मूर्त्तन किया है :

क—भौतिक पदार्थों-द्रव्यों का मिश्रण अथवा रासायनिक मिश्रणादि—आत्माओं का लहररूप हो ईश्वर में, अग्निकण रूप हो भगवान् में मिलन इसी रसायनिक मिश्रण के रूप में प्रकल्पित है। वह समुद्र, ज्योति, शब्दादि माना जाता है, तो आत्मा जलबिन्दु, नदी, रश्मि, अर्थादि।

ख—शारीरिक और तात्त्विक सम्मिश्रण—शरीर अपने प्राणतत्त्व के उपयोगी साधकों-साधनों का मिश्रण जिस रूप में समजित पाचन-रसनादि में करता है, उसी चेतन व्यवहार-प्रणाली की भाँति सम्मिश्रण। समस्त शास्त्रों में प्रभु उन शब्दों में प्रतीकित हैं, जिनमें हम सदा घिरे हुए हैं—प्रकाश, वायु, जल, आकाश आदि। अतः मिलन आत्मा-परमात्मा का उन्हीं क्रिया-व्यापारों का महत्तम और उदात्त रूप है, जो शरीरी व्यापार में प्राणन, रसन, श्वसन, भोजन-पानादि का ग्रहण-पाचन आदि है। फलतः, रहस्यवाद और भक्ति में परमात्मा प्राणरूप, जलरूप, वायुरूप, एवं सोमरूप में प्रकल्पित है (ब्रेड, फिश, वाटर, मिल्क एवं वाइन सभी मजहबों में, ईसाइयों में तथा सूफियों में भी, मिथकीय प्रतीक ही नहीं धार्मिक प्रतीक भी हैं।)

ग—मानवीय सम्बन्ध-स्थापना-द्वारा मिलन—शत्रुभाव या विरोध—राम-रावण-जैसा—भाव य लेकर जन्यजनक, सौहार्द, दास्य, आदि में स्फुट यह मिलन-भाव अन्त में कान्ता-भाव में पर्यवसित होनेवाला माना गया है और बहुरंगी बिम्बों-मूर्त्तियों में प्रकल्पित है।

पौक्स 'क' और 'ख' के मिलन-प्रतीक को उपर्युक्त सह-अनुभूति के रूप में परिगणित करेंगे और दोनों के आभ्यन्तर तत्त्वों का फिर विश्लेषणकर दो प्रकार-भेद मानेंगे—(क) रहस्यदर्शी एवं (ख) जादुई। चार्ल्स बैली[३७] ने इनमें भी तीन शाखाएँ बताई हैं—१. मूर्त्त बिम्ब, अर्थात् काव्यबिम्ब २. भावमूर्त्तियाँ अर्थात् पूजाकृत्यादि के (रिचुअलिस्टिक) अत:, बद्धबिम्ब और ३. मृत या बौद्धिक बिम्ब, अर्थात् भाषावैज्ञानिक सुप्त रूपकत्व या मृत प्रतीक।

भाषिक बिम्ब के सम्बन्ध में केम्पबेल, रिचर्ड्स आदि के विचारों का उल्लेख पिछले ३४०-३४६ और ५३२-५३३ पृष्ठों पर हो चुका है। भावमूर्त्तियाँ धर्मग्रन्थादि के शब्दबिम्ब हैं, पूजा, मंत्रादि के वैसे प्रतीक हैं, जिनकी ओर आदर्शी अनायास भावापन्न हो उठता है। 'मूर्त बिम्ब' प्रधानतः, काव्य-कलादि के बिम्ब माने गये हैं। स्पष्टतः, यह वर्गीकरण त्रुटित है। काव्य के बिम्ब जड़ मूर्त बिम्ब नहीं, और न अन्य दोनों प्रकार के बिम्बो का काव्यबिम्ब मे आत्यंतिक अभाव रहता है। वस्तुतः काव्यबिम्ब में रहस्यात्मक, जादुई तत्त्वों के अलावा भी अनेक तत्त्वों का अन्तर्भाव रहता है।

(१) रहस्यात्मक बिम्ब, रूपक, प्रतीक में पदार्थ वस्तु-रूप, प्रत्यय-रूप, सज्ञा-रूप ही नहीं समझे जाते, अपि तु वे प्रातिनिधिक सत्ता से उद्भासित कल्पित होते है, साथ ही निजी स्वरूप में स्पन्दित भी। 'पुष्प' किसी महत्तर की कोमलता है, 'नदी' किसी अनन्त का प्रवाह, साथ ही पुष्प और नदी में उस महत्तर के प्रति समर्पण का स्वस्पन्द भी है। महासत्ता और जागतिक सत्ता के मिलन-विन्दु-रूप में ये रहस्यात्मक बिम्बादि सर्वात्मवादी हैं; अद्वैतदर्शन के चेतन सौन्दर्य हैं।

रहस्यदर्शी रूप के आधान का विसर्जन करता है। रूप और आकार की परिसीमा को लाँघ कर वह अरूप, निराकार और निस्सीम की ओर प्रयाण करता है। अतएव रहस्यद्रष्टा के बिम्ब, रूपकादि मे बाह्य आकार उतने प्रधान नहीं होते, जितने उनके आभ्यन्तर तत्त्व, आन्तरिक भव्यता, सामर्थ्य, विस्तार आदि। अतः रहस्यात्मक बिम्ब मुक्त करते हैं, फैलाव लाते हैं।

(२) इसके विपरीत, जादुई बिम्ब-रूपकादि मे अरूप को ठोस रूप देने की प्रवृत्ति रहती है। इस प्रकार की बिम्ब-प्रणाली में 'नाद' को शब्दरूप में, शब्द को 'नामरूप' मे, नाम-रूप को साक्षात् 'शक्ति-रूप' मे मूर्त्तित और गतिशील बना देने के वशीकरण-सम्मोहन, स्तम्भनादि व्यापार पर विश्वास रहता है।

वॉरिंगर द्वारा प्रकल्पित सह-अनुभूति के (द्रष्टव्य-पृष्ठ ४५६) दो भेद (क) सूक्ष्मीकरण पर आधृत (ऐब्सट्रैक्शन) एवं (ख) सह-अनुभूत्यात्मक (आइनफ़ुहलुंग) बताए गए हैं। जीवन जगत् की दुर्धर्ष एव कठोर वास्तविकता से भीत मनुष्य जागतिक प्रपंचों को झाड़पोंछ कर जादुई प्रतीकों में अपना अलग अमूर्त ससार गढ़ता है, जो रेखाओं, त्रिभुजों, रगों का ज्यामितिक एवं शुद्ध बिन्दुमय संसार है। अमूर्तन-प्रेरित इन रेखाकणों की व्यवहार-प्रणाली जीवन-जगत् के ठोस, नियतिकृत नियमों पर आधारित नहीं होती। वह सृष्टि अपनी है। ऐसे बिम्ब, रूपक, प्रतीक जीवन-जगत् को झिटक भी देते हैं। पर वे द्रष्टा को बांधते भी हैं।

कविता में बिम्ब, रूपक, प्रतीकादि, इसलिये सुभाषित नहीं होते कि भ्रांति का धुँधलका कायम किया जाय, परन्तु इसलिये स्फुल्लिंगवत् छूटते हैं,

कि वे स्वयं प्रज्वलित रहें और दूसरों को भी प्रज्वलित करें। काल के महासागर मे कवि बिम्ब, रूपक, प्रतीक, जैसे आद्यशक्ति द्वारा, उलीच लेते हैं, और उन्हें कालपटल पर जाज्वल्यमान उल्का की भाँति चिपका-से देते हैं। अब उनका अपना व्यवहार है, अपनी सत्ता और अक्ष है।

नृतत्त्वशास्त्री प्रागैतिहासिक संस्कृति-सभ्यता मे (१) चेतनीकरण एव (२) सम्मोहन दोनो प्रवृत्तियाँ पाते हैं। चेतनीकरण की प्रवृत्ति में प्रसारण है, एकीकरण और आत्मविसर्जन की महिमा है। सम्मोहन प्राक्-तर्कणा युग की प्राग्वैज्ञानिक प्रवृत्ति है और उसमे मूर्त्तन की क्रिया अधिक प्रबल होती है। इस कारण के० बास्लर रहस्य वृत्ति और जादुई वृत्ति दोनों में नैरन्तर्य और परस्पर-विरोधी वृत्तियाँ मानते है—जैसे वे एक दूसरी को सम्पूरित करती हुई क्रियाशील हों।[३८] वास्तव में बिम्बोद्भव में दोनों प्रवृत्तियों की यौगपदिक क्रियाशीलता रहती है। (देखें पृष्ठ-६१९-६२० पर टिप्पणियाँ ४६-४७)

अनादिकाल से मनुष्य कवि को रहस्यद्रष्टा और जादुई शक्ति से युक्त दैवी व्यक्ति मानता आया है। आदिम कवि में द्रष्टा-स्रष्टा तत्त्व जितने मंत्रात्मक रूप में सघन थे, उतने आज नही दीखते; फिर भी येट्स-जैसे कवि आज भी रहस्यदर्शन करते हैं, और अपने बिम्बों को जादुई तत्त्वों से अभिषिक्त भी।

पंत की 'धेनुएँ' शीर्षक रचना में नदियों का वर्णन मंत्रात्मक-सा रहस्यपूर्ण भी है, जादुई भी,

ओ रंभाती नदियों !
कहाँ भागी जाती हो ?
तुम्हारे ही भीतर है।
लहरों की पूँछ उठाए
इस पार-उस पार भी देखो
सुनहले धान के खेत हैं !

बेसुध
वशी-रव
ओ फेन-गुच्छ
दौड़ती नदियो !
जहाँ फूलों के कूल,

पंत ने 'कला और बूढ़ा चाँद' मे, और 'अज्ञेय' ने भी रहस्याच्छन्न अनेक बिम्ब सृष्ट किए हैं, जिनमें जादुई ग्रस्तता भी है। रहस्यात्मक बिम्बों में जितनी पारदर्शिता रहती है, स्वभावत जादुई बिम्बों मे उतनी नही रह सकती। रहस्य-दृष्टि 'बिम्ब' को सर्प से उठाकर 'कालियनाग' तक और फ़िर वहाँ से 'तक्षक' एवं 'शेषनाग' तक में प्रतीकित करती हुई, वैदिक 'अहि' और 'काल' के मिथक में ले जाकर अन्ततः कालातीत (ब्रह्म के रहस्य) में पर्यवसित करेगी। तो, जादुई शक्ति उसके रहस्य को बाँधती हुई नीचे उतारती चलेगी और सर्प को उसकी पूरी कुडली और दंश के साथ ठोस बनाकर वशीभूत, सम्मोहित-उच्चाटित करेगी। जैवीकरण, गत्वरता और अमूर्त्तन—यह प्रसार और सूक्ष्मता के लिए आवश्यक है; तो निर्जीवीकरण, अचलता और मूर्त्तता दृढ़ स्थैर्य के लिए प्रेषण की पहली और बुनियादी शर्त्त है। दोनों प्रतिपूरक हैं—एक केन्द्रापसारी है, दूसरा केन्द्र-पर्यवसायी।

बिम्बों की ये दो प्रवृत्तियाँ नाना शास्त्रीय मान्यताओं का भी स्पर्श करती है। अत: बिम्बों के रहस्यवृत्ति और फिर जादुई शक्ति के भी अनुसार वर्गीकरण में धर्मशास्त्र, नृतत्त्वशास्त्र, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविश्लेषण आदि की मान्यताओं-उपलब्धियों और 'वादों' पर भी ध्यान रखना पड़ेगा।

८. विनियोग अथवा विन्यासगत आधार और वर्गीकरण :—

विनियोग के अनुसार वर्गीकरण की एक दृष्टि कूम्ब्स ने दी है, कि बिम्ब (१) संश्लिष्ट एवं (२) शिथिल या विकीर्ण होते हैं। संक्षिप्त बिम्ब संश्लिष्ट और व्यंजक होता है; क्योंकि उसमें अर्थ-संदर्भों का संवाहकत्व रहता है। शिथिल या विकीर्ण बिम्ब को विश्रृंखल (ओकूल) भी कहा जाता है। शिथिल या विश्रृंखल बिम्ब खण्डित बिम्बों की टूटती-सी श्रृंखला प्रस्तुत कर भी सुसम्बद्ध बिम्बमाला (इमेजरी) विन्यस्त नहीं कर पाता। पर उससे चित्त पर विषम समन्विति का औत्सुक्य-भरा प्रभाव पड़ता है। (द्रष्टव्य पृष्ठ, ५४३-५४५ और ५५८-५६२)।

शुक्ल जी भी संश्लिष्ट बिम्ब को ही उत्तम समझते थे। कहा जा सकता है, पूर्ण संश्लेष और संक्षिप्ति—शास्त्रनिष्ठ या क्लैसिकल मांग है; विखडन, विसंगति और विश्रृंखला को मान्यता देते है यथार्थवादी और आधुनिक मनोविश्लेषणवादी कलाकार और कवि।

हेनरी वेल्स ने[२६] उद्भव, काव्योपयोग और विन्यास की दृष्टि से बिम्बों के सात प्रकार माने हैं—

(१) अलंकृत (डेकोरेटिव) (२) सुप्त (सनकेन) (३) उग्र (व्हायलेंट) (४) श्रेण्य (रैडिकल) (५) अन्तरंग (इन्टेन्सिव) (६) प्रसरणशील या व्यंजक (एक्सटेन्सिव) एवं (७) सघन (एक्जूबरेंट)।

उन्होंने एलिजबेथ-युग की बिम्बमाला का अध्ययन कर बिम्ब-कोटियों (इमेज-टाइप्स) के उद्भव, और आवर्तन-चक्र का भी विवरण दिया है। चारुत्व (सौंदर्य) की दृष्टि से उग्र या व्हायलेंट बिम्ब की कोटि सब से निचले स्तर में आती है और तब अलंकृति-रूप बिम्ब की। उग्र बिम्ब उस आदिम और प्राक्-तर्कणा युग के लोक-रूपक के वंशधर हैं जब भूतात्मकता और आध्यात्मिकता, भोंडापन और सुकुमारता, श्लील और अश्लील, स्थूलता और सूक्ष्मता में भेद नहीं था; दोनों दृष्टियाँ अद्वय-रूप, अथवा एक में ही समाहित थीं। पर, अलंकृति-रूप बिम्ब कौशल और चातुरी की निर्मिति होते हैं। इस

प्रकार के उग्रबिम्ब में आदमी की आदिम सभ्यता के अवशेष है और किसी भी युग मे प्रभूत मिलेंगे। कहा जाता है कि उनमे व्यक्तित्व की पूर्णता का स्पर्श नहीं रहता; वे एक भौतिक बिम्ब का दूसरे भौतिक बिम्ब से संवेदनात्मक-प्रज्ञात्मक सबंध-दर्शन पर आधारित होते हैं, न कि बाह्य प्राकृतिक संसार और आन्तरिक मानव-ससार की सह-अनुभूति पर। दूसरी बात यह कि दोनों प्रकार के इन बिम्बो के आभ्यन्तर तत्त्व परस्पर तिलतण्डुलवत् पृथक्-पृथक् रहते हैं, न कि घुलमिल कर एक हो जाते है। पर, ये दोनो बाते सर्वथा ठीक नही है। उग्र और अलकृति-रूप बिम्ब के प्रभूत उदाहरण रीतिकाव्य, हरिऔध, गुप्त, छायावादी कवियों और नए कवियों की रचनाओ में भी मिलेंगे। यथा—

उग्र बिम्ब—और वह दृढ पैर मेरा है, गुरु, स्थिर, स्थाणु-सा गडा हुआ,
तेरी प्राण-पीठिका पै लिंग-सा खडा हुआ। —अज्ञेय

अलंकृति-बिम्ब—निश्वासों का नीड निशा का बन जाता जब शयनागार
लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के वन्दनवार।
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार
आँसू से लिख लिख जाता कितना अस्थिर है संसार।
—महादेवी वर्मा

भद्दी स्थूलता और प्रदर्शन की स्थूल वृत्ति से किंचित हटने पर उग्र और अलकृति-रूप बिम्बों से सूक्ष्मीकरण प्रक्रिया के द्वारा क्रमशः सघन और अन्तरंग बिम्ब उद्भूत होते है। सघन बिम्ब बिम्बमाला अथवा बिम्बस्तवक प्रस्तुत करते है, यथा—

छपी-सी, पी-सी, मृदु मुसकान छिपी सी खिंची सखी सी साथ
उसीकी उपमा-सी बन, मान गिरा का धरती थी धर हाथ। —पंत

अन्तरंग बिम्ब मे सारभूत तत्त्व एकाकार हुए रहते हैं। ऐसे बिम्ब वर्ण्यवस्तु का रूप इतनी सघन मूर्त्तिमत्ता से उपस्थित कर देते है कि वह आँखों के सामने ठोस, खडी-सी मालूम पड़ती है। दांते के 'हेल' के चित्रण में और प्रसाद की 'कामायनी' में प्रमत्त विलासिता, प्रलय, दुश्चिता, रागाच्छन्नता आदि के वर्णन मे वैसी ही बिम्बमाला प्रस्तुत हुई है। अन्तरंग बिम्ब मे परम्परा की अभ्यस्त गूँज रहती है और दृश्य कलाओ से उसका निकट का सम्बन्ध भी होता है। इसलिए उसमें 'सामूहिक प्रतीकत्व' रहता है। यह शास्त्रनिष्ठ, श्रेण्यवादी, नैतिक-धार्मिक प्रवृत्तियो की स्थिति-स्थापकता के लिए भी प्रधान बिम्बमाला है। जैसे—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्थितं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य। —कालिदास

दुष्यन्त का शरीर तो आगे जा रहा है, पर शकुन्तला पर लगा हुआ असंस्थित चित्त पीछे की ओर दौड़ रहा है—सामने जाती हुई पताका का रेशमी कपड़ा जैसे विपरीत वायु से पीछे उड़ रहा हो। निम्न स्पार्श बिम्ब भी रम्य है—

> अपने हल्के-फुल्के उड़ते स्पर्शों से मुझको छू जाती है,
> जार्जेट के पीले पल्ले सी यह दोपहर नवम्बर की। —भारती

इन दोनों बिम्बमालाओं में व्यंजकता है। अपनी स्थिति-स्थापकता में स्थिर, सटीक ये बिम्ब रबर की तरह खींचे और अनेक अर्थ-क्षेत्रों में फैलते भी हैं।

सुप्त, श्रेण्य और प्रसरणशील (व्यंजक) बिम्ब वेल्स की श्रेष्ठ बिम्ब-कोटियाँ हैं। सुप्त बिम्ब प्रच्छन्न बिम्ब होता है, बाहर से निष्क्रिय, पर भीतर से गतिशील, जैसे—'तामरस गर्भविभा पर नाच रही तरुशिखा मनोहर' के 'पर' में 'ताल', लय और समतुल्य भाव का बिम्ब सुप्त है। सुप्तबिम्ब जूते की 'जिह्वी', और चिलम की 'गर्दन' में रहने वाला मृत बिम्ब भर नहीं होता है। उसका शान्त बाह्य पक्ष मनन-प्रधान काव्यों के महत्त्व का भी होता है। पृष्ठ-६४२ पर जो सुप्त बिम्ब 'कुत्ता-दिन' 'बिल्ली-रात' की भागदौड़ का है, वह विचलित करता है। श्रेण्यबिम्ब में शास्त्रीय ज्ञानराशि के स्रोत अन्तर्निहित रहते हैं, जिनके कारण वह कुछ गूढ़ और सूक्ष्म-गहन होता है। जैसे—

> सहज मातृगुण गन्ध था कर्णिकार का भाग।
> विगुण रूप दृष्टान्त के अर्थ न हो यह त्याग —गुप्त : साकेत

भ्रमर को सम्बोधित करती हुई उर्मिला की इस उक्ति में निघंटु और वनस्पति-शास्त्र का ही नहीं प्रकृति की लीला का, फूल और भौंरों का ज्ञान भी निहित है, जो 'विगुणरूप-दृष्टान्त' के न्याय के कारण-कथन में प्रौढ़ि और गांभीर्य ला रहा है।

प्रसरणशील बिम्ब व्यंजक होते हैं। अन्तरंग बिम्बमाला में गति प्रधानतः केन्द्रानुगामिता की होती है, पर प्रसरणशील में द्विध्रुवीय। वे सान्द्र अधिक हैं, ये सान्द्र होते हुए भी फैलने वाले अधिक। वह धर्मनिष्ठ, मध्य-युगीन वृत्ति पर आधृत है, यह दर्शन और अध्यात्म पर। प्रसरणशील या व्यंजक बिम्बमाला के शब्द और अर्थ, प्रस्तुत और अप्रस्तुत, 'टेनर' और 'व्हिक्ल' परस्पर अन्तरंग होकर भी ऐसे अर्थ-पुंजों को समाहित किये रहते हैं, कि दोनों से अनन्त धाराएँ फूट-सी चलती हैं। स्वदेश-मूर्त्ति की दो कविताएँ ली जायँ—

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है, सूर्यचन्द्र युग-मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेमप्रवाह फूल तारे मण्डन है, बन्दीजन खगवृन्द शेषफन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की।
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण मूर्त्ति सर्वेश की !

गुप्त जी की इस 'मातृ-मूर्त्ति' में अन्तरंग बिम्बमाला की विशिष्टता यह है कि सारे बिम्ब केन्द्रीय मूर्त्ति 'सगुण मूर्त्ति सर्वेश की' को समर्पित हैं। इसकी अन्तरंगता में शास्त्र-निष्ठ मूर्त्तिमत्ता है। बिम्बमाला चाक्षुष मूर्त्ति ही नहीं, स्पार्श ठोसपन भी प्रस्तुत करती है। इसकी तुलना में —

अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुमकुम सारा ॥··· —प्रसाद ' चन्द्रगुप्त

इस कविता में अनेक सुप्त बिम्ब 'अरुण', 'मधुमय', 'अनजान क्षितिज' और 'एक सहारा' में है। 'अरुण' सभ्यता के सूर्य की अरुणिमा और कमल के विकसन की हल्की ललाई का संकेतक है, और 'मधुमय' ज्ञान और मनन ऐश्वर्य और परिपूर्णता का संकेत देनेवाला। फिर ये बिम्ब श्रेण्य-बिम्ब कोटि के हैं। आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म, भूत-अध्यात्म के मिलन के सुप्तबिम्ब 'अनजान क्षितिज' में है। अनन्त ज्ञानधारा को 'एक' सहारा यहाँ मिलता है। इस 'एक' में 'संवृत्ति' है, निर्विशेष विशिष्टता और हल्कापन है। इन सब में अन्तर्लीन यह बिम्ब भी है कि 'सरस' रस का, 'तामरस' स्वर्ण और कमल का, 'विभा' ज्योति का, 'तरु' प्रकृति, भूतसमष्टि और जीवन का प्रतिनिधित्व करते है; साथ ही यह संकेतित करते है कि 'अनजान' कैसे 'क्षितिज' फिर 'तामरस', फिर 'प्रकाश' और अन्ततः 'सरस' और नृत्य करने वाली 'तरुशिखा' बन चलता है। 'अनजान' का रूप-ग्रहण 'अरुण', फिर 'मधुमय' और 'जीवन-हरियाली पर मंगल कुमकुम-वर्षा करनेवाला' होता है। सृष्टि के उदय, विकास और नर्त्तन का, अरूप के रूप-संधान का यह बिम्ब अपनी व्यंजकता में अनन्त-प्रसारी है। गुप्त जी की मूर्त्यात्मक बिम्बमाला में जादुई आच्छन्नता है, स्थिरता है। उसकी तुलना में यह चित्रात्मक, आद्य और गत्वर बिम्ब है। इसमें रहस्यात्मकता तो है ही। इस की वृत्ति भी रोमांटिक है।

एक दूसरे विद्वान् रॉबिन स्केल्टन ने शब्द और उसकी अन्तर्निहित बिम्बन-शक्ति को ध्यान में रख कर बिम्बों के दस प्रकार माने है[४०] —

(१)—सरल या साधारण (सिम्पल) बिम्ब—ऐन्द्रिय संवेदन जगाने वाले शब्द जैसे—चमकीला, रसीला, ठण्ढा आदि;

(२)—अमूर्त्तन के बिम्ब (इमेजेज ऑफ़ ऐब्सट्रैक्शन)—ऐन्द्रिय संवेदन नहीं जगाने वाले शब्द—जैसे सत्य, प्रत्यय, धारणा, न्याय आदि;

(३)—तात्कालिक (इमेजिएट) बिम्ब—स्पर्श, श्रवण, दृश्य, गंध, स्वाद के भावों को तत्काल एवं प्रथमतः उद्बुद्ध करने वाले शब्दादि, जैसे चहक, चमक, महक, रसदार आदि;

(४)—विकीर्ण (डिफ्यूज) बिम्ब—ऐन्द्रिय संवेदन को प्रकारान्तर से उद्बुद्ध करने वाले अथवा इन्द्रिय-विषय में निर्विशिष्ट प्रतिक्रिया उद्दीप्त करनेवाले शब्दादि, यथा—कामना, विछोह, शैथिल्य, मिलन, आदि,

(५)—अमूर्त (ऐब्सट्रैक्ट) बिम्ब—उपरिवर्णित अमूर्त्तन के बिम्ब, किन्तु अन्तर यह कि ये मानवीकरण आदि के साधनों द्वारा उपनीत हो ऐन्द्रिय प्रतीति के माध्यम बन जाते हैं, जैसे—करुणा, ममता आदि;

(६)—संयुक्त (कम्बाइण्ड) बिम्ब—शब्द-समुच्चय जिनसे एक शुद्ध बिम्ब बने, जैसे—बर्फ की भाँति निष्करुण, रक्त-कांति, आदि;

(७)—मिश्र अथवा संकुल (कम्प्लेक्स) बिम्ब—शब्द-समुच्चय जिनसे एक से अधिक शुद्ध बिम्ब बनें, जैसे स्वर्णकमल, गुंजरित उपवन, 'वह सुनहला हास तेरा !' (महादेवी)।

(८)—संयुक्त अमूर्त बिम्ब—शब्द समुच्चय जिनमें एक अमूर्त बिम्ब हो, पर शुद्ध बिम्ब एक भी न हो, जैसे—निष्पक्ष न्याय, शालीन सत्य;

जीवन का पहला सत्य, दहन, तुम सको सीख ! — दिनकर : हुंकार

(९)—मिश्र अमूर्त बिम्ब—शब्द-समुच्चय जिनमें एकाधिक अमूर्त बिम्ब हो पर शुद्ध बिम्ब एक भी न हो; जैसे—अभेद भक्ति, निर्मम सत्य, आदि

विश्व को चाहिए उच्च विचार ? नहीं, केवल अपना बलिदान। — दिनकर : हुंकार

(१०)—अमूर्त संयुक्त एवं अमूर्त मिश्र बिम्ब - संयुक्त अथवा मिश्र बिम्ब जिसमे अमूर्त्तन मूर्त बिम्ब से अधिक विवक्षित हो; बिम्ब जिससे अमूर्त्तन ही विशेषीकृत हो,—यथा—शंखोज्ज्वल सत्य, बर्फीली ईमानदारी।

"अरी उपेक्षा भरी अमरते ! री अतृप्ति ! निर्बाध विलास ! —प्रसाद : कामायनी

निम्न कविता मे उपर्युक्त बिम्बों का उदाहरण एकत्र देखा जा सकता है—

गोधूली अब दीप जला ले।

किरण-नाल पर घन के शतदल; कलरव-लहर विहग-बुद्बुद् चल

क्षितिज-सिन्धु को चली चपल, आभासरि अपना उर उमगा ले।

—महादेवी : दीपशिखा

'गोधूली' और 'दीप जला ले' में सरल बिम्ब हैं। दूसरी पंक्ति में बादल ठंठल के रूप में दिखाई पड़ने वाली अंतिम किरण के नाल पर टिका शतदल बताया गया है। अत: इसमें तात्कालिक बिम्ब है। चिड़ियों की चहक में श्रव्यबिम्ब और उसके बुद्बुद् रूप में दृश्य बिम्ब हैं। अमूर्त बिम्ब 'कलरव' और दृश्य बिम्ब 'बुद्बुद्' 'चल' के गति-बिम्ब द्वारा 'संयुक्त बिम्ब' में उपनिबंधित होते हैं और 'बुद्बुद्' वीचियों से युक्त 'लहर' का गत्यात्मक मिश्रदृश्यबिम्ब प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार यहाँ एक साथ अमूर्त्तन के बिम्ब, विकीर्ण बिम्ब, संयुक्त और मिश्र बिम्ब आ गए हैं। 'क्षितिज-सिन्धु' में अमूर्त मिश्र बिम्ब है। 'चपल' विकीर्ण बिम्ब है। 'विहग-बुद्बुद्' 'कलरव-लहर' को तरंगायित करता हुआ चपल गति से 'क्षितिज-सिंधु' से मिलने को चल पड़ा है। मिलन की गति, त्वरा, लहर, प्रवाहसिन्धु आदि गत्यात्मक बिम्ब, फिर बुद्बुद्, कलरव आदि श्रव्य, मिश्र, और अमूर्त मिश्र-बिम्ब उद्बुद्ध करते हैं। तदुपरान्त 'उर' में अमूर्त्तन का बिम्ब है, 'आभासरि' में सरल बिम्ब और अमूर्त बिम्ब के योग से तात्कालिक बिम्ब 'आभासरि अपने उर में' बनता है जिसे 'उमगा ले' का विकीर्ण बिम्ब स्पन्दित करता है। 'आभासरि अपना उर उमगा ले' में प्रकारान्तर से वही बात कही गयी है जो पहली पंक्ति 'दीप जला ले' में। कविता चित्रात्मक गतिशीलता प्रस्तुत कर जहाँ से शुरू हुई थी वहीं लौट जाती है।

स्केल्टेन की बिम्ब-कोटि प्रधानतः 'शब्द' पर आधारित है, 'काव्यशब्द' या 'काव्यबिम्ब' पर नही। 'काव्यबिम्ब' की द्विध्रुवीयता का पक्ष ओझल हो गया है। इस बिम्बकोटियों में भेदक लक्षण कल्पनाधृत हैं; यथा—'अमूर्त न के बिम्ब' और 'अमूर्त बिम्ब' में, फिर 'सरल' और 'तात्कालिक', और फिर 'विकीर्ण' मे अन्तर स्पष्ट नही है। स्केल्टन के बिम्ब-प्रकार का अन्तर्भाव हेनरी वेल्स की बिम्बकोटियों में आसानी से हो जाता है; जैसे-'सरल', 'तात्कालिक', 'विकीर्ण', आदि 'अलंकृतिरूप बिम्ब' में, 'अमर्त्त बिम्ब' 'सुप्त' बिम्ब में, एवं 'संयुक्त' 'सश्लिष्ट' आदि 'अन्तरग' 'सघन' एवं 'प्रसरणशील' या 'व्यंजक' में। स्केल्टन का बिम्ब-विभाजन व्यक्ति-निष्ठ है; बिम्ब-निष्ठ नही। फिर, इनके वर्गीकरण मे बिम्ब जड़ से हैं जिन पर कोटियाँ आरोपित हैं। हेनरी वेल्स ने बिम्ब को प्रवृत्ति-प्रक्रिया में रखकर वर्गीकृत किया है; अतः उनके आकलन में बिम्ब चेतन हैं; वह बिम्ब के बोध्यनिष्ठ रूप का बोद्धानिष्ठ आकलन है।

स्केल्टन ने बिम्बन-प्रक्रिया का भी सकेत करते हुए उद्भावना और विनियोग की दृष्टि से बिम्बन के तीन चरण माने हैं :—१-प्रायमिक (प्राइमरी), २-माध्यमिक (सेकडरी) तथा ३-पार्यन्तिक (टरसियरी)।[४१]

१ प्राथमिक बिम्ब—ये बिम्ब जागतिक वस्तुओं के प्रत्यंकन-से होते हैं। उनमें भौतिक ठोसपन और रूपाकार की प्रधानता रहती है। पिछले पृष्ठों पर वर्णित एरिक न्यूटन की शब्दावली में (देखें पृष्ठ ९०-९२) कलाकृति-रूप प्याज का वह बाहरी छिलका है।

२. कलाकार और कवि इन प्राथमिक बिम्बों में समीकरण-व्यापार घटित करते और उनके ठोस त्रि-आयामी रूप का अन्यथाकरण करते हैं। तब कल्पना के योग से जो बिम्ब कवि या काव्यमानस में उद्भूत होता है, वह पूर्णतः प्राथमिक बिम्ब- जैसा ठोस नहीं होता। यह माध्यमिक बिम्ब है। सहज मूर्तिमत्ता इसकी विशेषता होती है। किंतु आक्रामकता और आभिजात्य की प्रवृत्ति नैसर्गिक है। अतः, वह अन्यथाकृत भी होता है।

३. अन्यथाकरण का यही व्यापार और भी सक्ष्म एवं गहन तब होता है, जब कवि और कलाकार रूप का पूर्ण भंजन करते हैं, अथवा उसे अन्तर्निहित भाव या मूल तत्त्व का आधान भर मानते हैं। मनुष्य तब मानव या देवता की आकृति छोड़ देता है। वह प्रकृति के समक्ष चैतन्य ललकार हो उठता है। बिम्बन की यह पार्यन्तिक अवस्था बिम्ब का तीसरा चरण है। जिसमें स्रष्टा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की सर्जना करता है। निम्न पंक्तियो में भारतभूमि का रूप भूगोल-वर्णित भारत का रूप, अथवा प्राथमिक बिम्ब है :—

जिसके तीनों ओर महोदधि रत्नाकर है। उत्तर में हिमराशि-रूप सर्वोच्च शिखर है।
जिसमें प्रकृतिविकास रम्य शनुक्रम उत्तम है। जीवजन्तु फलफूल शस्य अद्भुत अनुपम है।

— रामनरेश त्रिपाठी

किन्तु पिछले पृष्ठ पर उदाहृत गुप्त जी की 'मातृभूमि' शीर्षक 'हे मातृभूमि तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की' कविता में माध्यमिक बिम्ब है; और प्रसाद की कविता 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' में पार्यन्तिक बिम्बन-प्रक्रिया। पार्यन्तिक बिम्ब वास्तविक जगत् का वस्तुवत् प्रतिबिम्ब नहीं होता; अपि तु अपने आप में कला की विराट् सृष्टि (आर्ट कास्मस)—स्वतः पूर्ण महिमा-मयी सृष्टि होता है, जगत् से अन्यथाकृत होकर, जगत् से पृथक्-सी भी।[४१]

६. प्रभावगत आधार और वर्गीकरण :—

प्रभाव की दृष्टि से फाग्ले ने बिम्ब के दो प्रकार माने हैं—(१) मूर्त्त (कन्क्रीट) बिम्ब और (२) अमूर्त्त (ऐब्सट्रैक्ट) बिम्ब।[४३] कारमोड ने भी निर्वाहकत्व और ऐन्द्रिय प्रतीति की दृष्टि से (१) निर्जीव (डेड) बिम्ब और (२) सजीवित (लिविंग) बिम्ब के प्रकार[४४] बताए हैं। अवश्य ही फाग्ले और कारमोड की कोटियाँ व्यापक हैं। स्केल्टन द्वारा मूर्त्त बिम्ब और अमूर्त्त बिम्ब के मिश्र प्रकार मूर्त्तामूर्त्त एवं अमूर्त्तमूर्त्त भी माने गये हैं। यही नहीं, मूर्त्त बिम्बों में भी ऐन्द्रियता और ऐन्द्रियिकता में अन्तर है—एक सूक्ष्मीकृत है, दूसरा स्थूल, इन्द्रियोत्तेजक यानी इन्द्रिय-राग जिसमें कुछ ऐसा प्रबल हो कि जैसे उद्दीपन इन्द्रियों में ठहर जाय, कल्पना-प्रतीति में सूक्ष्मीकृत होकर आने से रुक जाय। इसके भी विविध प्रकार हैं; यथा—

१. जड़—वासना के पंक-सी फैली हुई थी,
   धारयित्री सत्य-सी निर्लज्ज, नंगी...औ' समर्पित। —अज्ञेय : सावनमेघ

२. गत्वर—चाँदनी मिल रात चितकबरी, उसे भूखण्ड की गंजी सतह पर
   खोह से खंडहर, कपालों में धँसा ज्यों रेंगता अँधियारा। —कुँवर नारायण : रात चितकबरा

३. घरेलू—है छुहारे-सी मुबारक एक कार्मल-सी मिठास।
   सीले बिस्कुट-सी मुबारक एक सीला-सा हुलास।
   छीमियाँ दाना-रहित-सा साल पिछला दुबक गुजरा।
   और सूखे सन्तरे-सा यह नया आया है पास।
   फट गया ही तला जिसका वह सजीली टोकरी है।
   छूटती भी नहीं तीखी मिर्च-सी यह नौकरी है।—मदन वात्स्यायन : नया साल

प्रभावगत वर्गीकरण शरीर-शास्त्र की दृष्टि से भी किया जा सकता है। तब बिम्ब के संवेदन-बिम्ब, मांसपेशीय बिम्ब, औच्चारणिक बिम्ब, जैव अथवा शरीर-क्रियागत बिम्ब (फंक्शनल या आर्गेनिक), अक्षि-बिम्बादि के नाना भेद होंगे। दूसरी ओर राग, अनुभूति, प्रवृत्ति आदि की ऐन्द्रिय मानस-प्रतीति, और सहचारी 'आसंगों के पुंज' के (स्टार्म आफ एसोसिएशन्स—वर्डस्वर्थ)

आन्तरिक स्मृतिबिम्ब अथवा कल्पना-बिम्ब के भी भेद-प्रभेद है। पुनः इनका वर्गीकरण मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की दृष्टि से पिछले अध्याय—६ मे बताए गए प्रकारों में किया जा सकता है।

जैसा कि पिछले पृष्ठ पर बताया जा चुका है, हिन्दी-आलोचना मे 'बिम्ब' के काव्यगत महत्त्व का प्रथम आख्यान आचार्यप्रवर शुक्ल ने किया। उन्होंने यह स्थापना रखी कि साक्षात्कारात्मिका शब्द-शक्ति ही बिम्ब के मूल में है। इस प्रकार उन्होंने प्राचीन उपपत्ति का प्रथम बार पुनराख्यान किया और अभिधा मे बिम्ब के महत्त्व का निर्देश देकर विभाव-चित्रण, प्रकृति-चित्रण, और साधारणीकरण एवं रस-प्रतीति में भी 'बिम्ब' का तात्त्विक योग स्वीकार किया—

> हम विभाव-पक्ष को कविता मे प्रधान स्थान देते हैं, विभाव वस्तु-चित्रमय होता है। वस्तुओं के रूप और आसपास की परिस्थिति का ब्योरा जितना स्पष्ट या स्फुट होगा, उतना ही पूर्ण बिम्ब-ग्रहण होगा और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायगा। संश्लिष्ट चित्रण करके श्रोता को बिम्ब-ग्रहण कराने से क्या प्रयोजन? ··उन्हीं दृश्यो के बीच जिनमें हम रहते हैं, राम-लक्ष्मण को पाकर हम उनके साथ तादात्म्य-सम्बंध का अधिक अनुभव करते हैं, जिससे साधारणीकरण पूरा-पूरा होता है।·· बिम्ब जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा।[४५]

उन्होंने रसात्मक बोध के तीन प्रकार माने : प्रत्यक्ष रूप-विधान, स्मृत रूप-विधान और कल्पित रूप-विधान।[४६] कहना न होगा, यह बिम्ब-विधान के ही प्रभावगत उद्भव के तीन मनोवैज्ञानिक प्रकार है।

शुक्लजी ने 'बिम्ब' शब्द के पर्याय में चित्र, मूर्त्ति शब्दों का भी प्रयोग किया है, और रूप शब्द का भी; यथा—'प्रथम प्रकार की आभ्यन्तर रूप-प्रतीति स्मृति कहलाती है, और द्वितीय प्रकार की रूपयोजना या मूर्त्ति-विधान को कल्पना कहते हैं।' अन्यत्र उन्होंने बताया है—

> कविता में कही गयी बात चित्र-रूप में हमारे सामने आनी चाहिए·· इस मूर्त्ति-विधान के लिए वह भाषा की लक्षणा-शक्ति से काम लेती है।

चित्र-विधान के सम्बन्ध मे 'गोस्वामी तुलसीदास' मे उन्होंने बताया है—

> वर्ण के उल्लेख से 'जलद' पद में बिम्ब-ग्रहण कराने की जो शक्ति आई थी, वह रक्ताभ शृंग के योग में और बढ़ गई। और बगलों की श्वेत पंक्ति ने मिल कर चित्र को पूरा कर दिया। यदि ये तीनों वस्तुएँ—मेघमाला, शृंग और बकपंक्ति—अलग-अलग पड़ी होतीं, उनकी संश्लिष्ट योजना नहीं की गयी होती, तो कोई चित्र ही कल्पना में उपस्थित नहीं होता। तीनों का अलग-अलग अर्थग्रहण हो जाता, बिम्ब-ग्रहण न होता।[४७]

इनसे यह सूक्ष्म संकेत मिलता है कि मात्र शब्द से बिम्ब-ग्रहण—यह पहली प्रक्रिया है। शब्द-योजना से संश्लिष्ट बिम्बों द्वारा चित्र-ग्रहण, यह दूसरी प्रक्रिया है; और फिर उपयुक्त चित्रण होता चले तो प्रगाढतावश काव्य मे मूर्त्ति-विधान प्रतिष्ठित होगा, यह तीसरी प्रक्रिया है। सम्पूर्ण काव्य का 'रूप-विधान' है 'फार्म' और 'स्ट्रक्चर' को व्यक्त करने वाला शब्द। उस रूप-विधान में ही रूपगत तन्तुओं (टेक्सचरल) आदि की भाँति, अथवा कहीं कहीं रूप और बाह्याकृति की भाँति १ उत्तम और पूर्ण चित्रण की मूर्त्ति, २. स्फुट संश्लिष्ट चित्र एवं ३. स्पष्ट, सरल बिम्ब रहते हैं। इस प्रकार शुक्ल जी ने 'बिम्ब के तीन आयाम' संकेतित किए हैं—सरल बिम्ब, चित्र, और मूर्त्ति।

श्री जानकी वल्लभ शास्त्री ने 'काव्य में चित्र और संगीत' शीर्षक प्रबंध मे (१९५४) काव्यनिष्ठ चित्रकला (या बिम्बन) के तीन भेद माने हैं : ४८
१—तमोगुण प्रेरित, बाह्येंद्रिय ग्राह्य, बहिर्मुखी—आधिभौतिक चित्र;
२—रजोगुण प्रेरित बाह्य एवं आन्तरेन्द्रियग्राह्य बाह्यान्तरिक—आधिदैविक,
३—सत्त्वगुण प्रेरित मनःप्राण-ग्राह्य, अन्तर्जगत के—आध्यात्मिक चित्र।

१—आधिभौतिक बिम्ब या चित्र :—आधिभौतिक चित्र (या बिम्ब) में भी आधिदैविक बिम्ब झलक जाया करते हैं। ऐसा मानवीकरण के कारण होता है। फलतः प्रकृति-चित्रण के विशिष्ट क्षेत्र में भी, जहाँ आधिभौतिक चित्र ही होना चाहिये शुद्ध प्राकृतिक बिम्ब दुष्प्राप्य हो रहे हैं। पृष्ठ-६४८ पर उल्लिखित कोनराड की मान्यता भी ऐसी ही है। आधिभौतिक चित्र के उदाहरण में निराला की 'सन्ध्या-सुन्दरी' की ये पंक्तियाँ अच्छी हैं ;

दिवसावसान का समय मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी धीरे-धीरे-धीरे।

आगे की पंक्तियों में उनकी रेखा, रंगादि और स्पष्ट होती हैं, पर मानवीकरण के कारण चित्र आधिदैविक भी हो जाता है।

आधिभौतिक चित्र या बिम्ब के (क) आधार स्थूल होते हैं (ख) उनकी स्पष्ट रेखाएँ होती हैं और वे (ग) चर्मचक्षु ग्राह्य होते हैं। इस दृष्टि से उत्तम आधिभौतिक चित्र (बिम्ब) की कविताओं के उदाहरण हैं :

पेटपीठ दोनों मिल कर हैं एक चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता। निराला

वह तोडती पत्थर देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर।
श्यामतन, भर बँधा यौवन, नत नयन, प्रिय-कर्म-रत-मन।
खुले केश अशेष शोभा भर रहे, पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे,
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे। —निराला

उसी प्रकार 'अंचल-पट में खोंस कछोटा मारे' अथवा 'उलटा लेट, कुहनियों के बल धरे वेणु पर ठोढ़ी' सुन्दर आधिभौतिक बिम्ब या चित्र प्रस्तुत करते हैं।

२—आधिदैविक बिम्ब या चित्र :—इस प्रकार के चित्र में मानवीकरण की विशेषता रहती है। परन्तु, मानवीकरण अथवा चेतनीकरण जहाँ उत्तम संश्लिष्ट बिम्ब प्रस्तुत करते हैं, वहाँ मानव या चेतना के मात्र आरोपण उत्तम बिम्ब प्रस्तुत नहीं कर सकते—चित्र या बिम्ब का छायाभास ही दे सकते हैं; जैसे—'कहो कौन तुम दमयन्ती-सी हो तरु के नीचे सोई ?' ऐसी पंक्तियों में भावना की मार्मिकता है अवश्य, पर बिम्बन संश्लिष्ट नहीं है। 'दमयन्ती-सी' और 'छाया' दोनों का संश्लिष्ट एकमेक हुआ चित्र बन नहीं पड़ा। आधिदैविक चित्र के उत्तम उदाहरण निम्न हैं—

नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिनी;
मृदु करतल पर शशि-मुख धर नीरव अनिमिष एकाकिनी। —पंत

एवं प्रसाद का पद—

'अम्बर-पनघट पर डुबा रही ताराघट ऊषा-नागरी।' —प्रसाद

३—आध्यात्मिक बिम्ब या चित्र :—ये आधिदैविक से सूक्ष्म और अन्तरंग होते हैं। भौतिक रंग-रेखाएँ, भौतिक भाव एवं अनुभूतियाँ इस क्षेत्र में दिव्य हो जाती हैं। यथा—

चढ़ कर मेरे जीवन-रथ मे प्रलय चल रहा अपने पथ में
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर उससे हारी होड़ लगाई। —स्कन्दगुप्त : प्रसाद

भौतिक और दिव्य भावों से गुंथा यह गीत आधिदैविक को आध्यात्मिक क्षेत्र तक उठा ले चल रहा है।

आध्यात्मिक सत्त्वगुण-प्रधान बिम्ब है। उसमे यत्किंचित जो भौतिक या मानुषी अथवा दैवी झलक रहती है, वह आधार है। परन्तु आध्यात्मिक बिम्ब पर पहुँच कर तो उसकी भौतिकता लीन-सी हो जाती है; यथा—

लाली मेरे लाल की जित देखे तित लाल। लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥—कबीर
'तुम्ही गाती हो अपना गान व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान' —निराला

शास्त्री जी ने साधारण बिम्ब और असाधारण बिम्ब के प्रकार-भेद भी सूचित कर उनके नाम दिए हैं—(१) सामान्य और (२) विराट्। सामान्य बिम्ब सर्व-साधारण-सुलभ कोमल अथवा स्थूल बिम्ब होते हैं। विराट् बिम्ब 'उदात्त' अथवा 'आध्यात्मिक बिम्ब' हैं। 'सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह, छाँह-सी अम्बर पथ से' चलने वाली संध्या के चारों ओर एक अव्यक्त शब्द जो गूँज रहा है वह विराट् बिम्ब है। उस 'नीरवता' का विराट् बिम्ब निम्न कविता में इस प्रकार है—

व्योम-मंडल में—जगतीतल में —
सोते शान्त सरोवर पर उस अमल कमलिनी-दल में —
सौन्दर्य-गर्विता सरिता के अतिविस्तृत वक्ष स्थल में —
धीर-वीर गम्भीर शिला पर हिमगिरि-अटल-अचल में —
उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि-प्रबल में —
क्षिति में, जल में, नभ में, अनिल-अनल में —
सिर्फ एक अव्यक्त-शब्द-सा 'चुप-चुप-चुप' है गूँज रहा सब कहीं।

इस 'चुप-चुप्-चुप' का विराट् बिम्ब आधिभौतिक, आधिदैविक, स्थूल एवं सूक्ष्म, भौतिक एवं मानवीय सभी वेष्ठनों मे अन्तर्व्याप्त होता हुआ, उनसे उत्तीर्ण और लीयमान होता चलता है। यही उसकी विशेषता है। निराला के शब्दों मे—

रूप की सार्थक लघु-विराट् कल्पनाएँ संसार के सुन्दरतम रंगों में जिस तरह अङ्कित हैं उसी तरह रूप तथा भावनाओं का अरूप में सार्थक अवसान भी आवश्यक है। कला की यही परिणति है और काव्य का सबसे अच्छा निष्कर्ष।

काव्यबिम्ब की तिरोभावी ऐसी विशेषता निराला, प्रसाद, अज्ञेय, मुक्तिबोध, भवानी प्रसाद मिश्र आदि की रचनाओं मे मिलती है।

डॉ० नागेन्द्र ने 'रीतिकाव्य की भूमिका', भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' 'रससिद्धान्त' आदि स्व-रचित अथवा सम्पादित ग्रन्थो और उनकी भूमिकाओं मे बिम्ब एवं/अथवा चित्र शब्द का प्रयोग तत्त्वतः पारिभाषिक अर्थों मे किया है। 'काव्यबिम्ब' नामक छोटी-सी पुस्तक में प्रथम बार 'बिम्ब' की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का निरूपण करते हुए उन्होंने उसका मूल्यांकन किया है और उसके वर्गीकरण के निम्न आधार भी बताए हैं :—[४१]

१— विधायक तत्त्वीय ऐन्द्रिय आधार :—इसके पाँच प्रकार हैं : (क) दृश्य, (ख) श्रव्य, (ग) स्पृश्य, (घ) घ्रातव्य, (ङ) रस्य।

२— सर्जक कल्पनागत आधार :—इसके दो प्रकार हैं : (अ) मनोवैज्ञानिक जिसके दो भेद होंगे—(क) स्मृत एवं (ख) काल्पनिक तथा मनोविश्लेषणात्मक (ग) स्वप्न एवं (घ) आद्यबिम्ब, और (आ) प्रस्तुतिपरक, जिसके दो भेद होंगे (क) प्रस्तुत या लक्षित और (ख) अप्रस्तुत या उपलक्षित; तथा फिर (इ) प्रेरक अनुभूति के आधार पर बिम्ब के भेद होंगे—(क) सरल, मिश्र और जटिल (ख)—खंडित या विकीर्ण एवं पूर्ण या समाकलित ;

३— काव्यार्थगत आधार : अ—(क) एकल या मुक्तक जो उपरिनिर्दिष्ट सरल बिम्ब हैं और (ख) संश्लिष्ट या निबद्ध जो मिश्र तथा समाकलित बिम्ब हैं।

आ–प्रबंधात्मकता की दृष्टि से–(क) घटना (ख) प्रकरण (ग) प्रबन्ध के बिम्ब,
इ–पात्र की दृष्टि से–(क) पृथक्-पृथक् चरित्रों के एवं (ख) समष्टि चरित्रगत बिम्ब;
उ–परिवेश–वातावरण, देशकालादि के बिम्ब;

४– काव्य-दृष्टि-संबंधी आधार—इस दृष्टि से दो प्रकार के बिम्ब माने गये हैं–
(क) वस्तुपरक अथवा यथार्थ एवं (ख) रोमानी या स्वच्छन्द।

५– काव्य-उपादानगत आधार–(अ) मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणशास्त्रीय बिम्ब (उपरिवर्णित)
(आ) बौद्धिक या प्रज्ञात्मक बिम्ब, जो सामान्यतः धारणा है, बिम्ब नहीं; पर प्रयोग से बिम्ब-रूप होता है, यथा 'न्याय', 'सत्य' आदि के बिम्ब।
(इ) भावात्मक बिम्ब, जो बौद्धिक की अपेक्षा अधिक सरलता से बिम्बरूप होता है, यथा 'लालसा' 'मोह' के बिम्ब आदि।

अन्त में अतिव्याप्ति तथा आवृत्ति को बचाते हुए उन्होंने व्यवहार-दृष्टि से निम्नलिखित पाँच वर्ग और उनके बिम्ब-भेद माने हैं—

१. वर्ग—१–दृश्य, श्रव्य, स्पृश्य, घ्रातव्य, और रस्य;
२. वर्ग—२–लक्षित और उपलक्षित;
३. वर्ग—३–सरल और संश्लिष्ट,
४. वर्ग—४–खंडित और समाकलित,
५. वर्ग—५–वस्तुपरक और स्वच्छन्द।

स्मृति-बिम्ब और काल्पनिक बिम्ब तथा मनोविश्लेषणात्मक स्वप्न-एवं आद्यबिम्ब इनमें निमित्त अथवा उपादान रूप रहकर काव्यमात्र के समवायी हैं, अतएव इनमे अन्तर्भुक्त हैं। काव्यार्थगत आधार पर वर्गीकृत एव विभाजित बिम्बों में से एकल एव संश्लिष्ट बिम्ब सरल और मिश्र या समाकलित मे सन्निविष्ट कर लिए गए हैं और प्रबधादि के अन्य बिम्ब, बौद्धिक बाह्य रूपाकृति माने जाकर, अथवा उपर्युक्त कोटियों में सन्निविष्ट हो जाने योग्य समझे जाकर उल्लिखित नही हुए हैं। पर 'प्रत्यक्ष बिम्ब' (टायड इमेज) गत्वर बिम्ब, मिश्रबिम्ब, श्रेण्यबिम्ब छूट गए हैं। अन्य विद्वानों के वर्गीकरण यथा—डॉ० शम्भुनाथ चतुर्वेदी[५०] का, जिन्होंने बिम्ब को दो भागो मे बाँटा है—ऐन्द्रिय और मानस, तथा डॉ० कैलाश वाजपेयी[५१] का जिन्होंने बिम्ब को छह —दृश्यबिम्ब, वस्तुबिम्ब, भावबिम्ब, अलकृतबिम्ब, सान्द्रबिम्ब और विकृतबिम्ब —भागों मे विभाजित किया है, युक्तियुक्त और वैज्ञानिक नही प्रतीत होते।

उपर्युक्त विवेचनों की रूपरेखाओं और विचारादि के मूलबिन्दु ग्रहण कर काव्यबिम्ब के व्यावहारिक वर्गीकरण के लिए प्रस्थान-बिन्दु होंगे—

(१) बिम्ब क्योंकि ऐन्द्रिय मानस प्रतीति है, अतएव विधायक तत्त्वगत ऐन्द्रिय आधार की दृष्टि से प्रथम वर्ग में निम्न भेद होंगे—१–दृश्य, २–श्रव्य, ३–स्पृश्य, ४–घ्रातव्य, ५–रस्य, ६–गति-सम्बन्धित एवं ७–मिश्रेन्द्रिय प्रतीति के दोनों प्रकार (क) इन्द्रिय-सहचरण मात्र एवं (ख) अन्तश्चेतना के संचरण से युक्त मिश्रेन्द्रिय बिम्ब।

(२) मानस-प्रतीति-रूप मे बिम्ब मूर्त्तामूर्त्त अथवा अमूर्त्तमूर्त्त गोचर प्रतीति है। अतएव उसकी दो कोटियाँ होंगी। (क) अमूर्त्त (किन्तु गोचर) और और (ख) मूर्त्त। मूर्त्तामूर्त्त इन दोनों मे यथाप्रसंग अन्तर्भुक्त होगा। इनके भी दो प्रभेद—१. स्थिर और २. गत्वर होंगे।

(३) चित्त के भोक्तृत्व-पक्ष से काव्यबिम्ब की प्रतीति बौद्धिक अथवा भावात्मक होती है। करमोड ने बिम्ब के तीन गुण बताये थे–अन्विति संवादिता और वैमल्य। ये गुण लिवीस मे छह हो गये हैं—निष्पादकत्व, तीव्रता, अद्वितीयता, परिचितता या प्रत्यभिज्ञता, उर्वरता और औचित्य। इन गुणो की संहति के अनुपात की दृष्टि से जो बिम्ब भावोद्‌बोधन मे अक्षम-से हों वे (अ) अपारदर्शी हैं, एवं (आ) जो भावोद्‌बोधनक्षम हैं वे पारदर्शी हैं। जिनमें कम गुण समाविष्ट हों, वे (क) सरल बिम्ब हैं, जिनमें कई गुण हों, पर पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हों, वे (ख) मिश्र बिम्ब हैं और जिनमें अधिक गुणों का संश्लेष या विषम-संगति हो, वे (ग) संश्लिष्ट या जटिल बिम्ब कहलायेंगे।

पुनः जो बिम्ब स्वावयवों में अनन्वित हों, अथवा अन्य पार्श्ववर्त्ती बिम्ब-पुंजों के सन्दर्भ से विच्छिन्न हों, वे खण्डित बिम्ब है, यद्यपि प्रयोजकत्व की दृष्टि से वे एकल, पर पूर्ण प्रतीति के संवाहक तो हो ही सकते हैं।

समाकलित बिम्ब पूर्णतः अन्वित, संवादी और विमल होते हैं। उनमे निष्पादन-क्षमता, अद्वितीयता, प्रत्यभिज्ञता, प्रगाढ भावोर्वरता और औचित्य के गुण अन्यों की अपेक्षा अधिक रहते है। हेनरी वेल्स का व्यंजक एवं अंतरंग बिम्ब तथा फाग्ले द्वारा निर्दिष्ट संजीवित बिम्ब और स्केल्टन द्वारा द्योतित पार्यन्तिक बिम्ब इसी कोटि में आते हैं। भाव, भावाभास, रसाभास, रस आदि के बिम्ब भी इसमें आयेंगे। इस प्रकार भावात्मकता

की दृष्टि से बिम्ब (अ) पारदर्शी एवं (आ) अपारदर्शी होंगे फिर (क) सरल (ख) मिश्र (ग) जटिल या सश्लिष्ट बिम्बों के प्रकार दूसरी ओर होंगे, तो (१) खडित और (२) समाकलित के भेद तीसरी ओर होंगे। बौद्धिक अथवा वैचारिक बिम्ब की कोटि और प्रकार भी उसी भाँति अलग होंगे।

(४) चित्त के ज्ञातृत्व-पक्ष की दृष्टि से बौद्धिक-प्रत्ययात्मक प्रवृत्तिवश बिम्ब का वर्गीकरण (क) शब्दशक्ति से सम्बन्धित वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तथा भाषा-वैज्ञानिक-वैयाकरणिक (ख) बौद्धिक स्थापत्यात्मक (ग) रीति, शैली, गुणादि के अनुसार (घ) काव्यवृत्ति-रूप एव तत्परिणामी कविदृष्टि-रूप, यथा—श्रेण्यवादी, वस्तुपरक, स्वच्छन्द अथवा धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, प्रकृतिप्रेमी, मानवप्रेमी आदि की दृष्टि से होगा।

फिर, बौद्धिक अथवा रागात्मक दृष्टि से सरल आदि भावात्मक बिम्ब के तीन प्रकार हो जाते है (क) रूपक (ख) प्रतीक और (ग) मिथक। इनमे सरल बिम्ब शुद्ध बिम्ब हैं, सश्लिष्ट बिम्ब रूपक या प्रतीक हैं और मिथक जटिल।

(५) मनोदैहिक स्पंदन और ध्वनन की दृष्टि से बिम्ब का वर्गीकरण नाद, लय, छन्द आदि के प्रवाह और प्रभाव के अनुसार छन्द.शास्त्रीय तथा सम, मद्धिम, तीव्र आदि प्रभेदों में होगा। उपर्युक्त रीति, शैली, गुणादि के बिम्ब भी इनमे प्रभावी होंगे।

(६) बौद्धिक दृष्टि से, फिर बिम्बो का वर्गीकरण उपात्त वस्तु के आधार पर भी किया जा सकता है, जिनमें (क) मानवेतर प्रकृति और (ख) मानव-जीवन के ग्रहण के अनुसार विभाजन होगा।

(क) मानवेतर प्रकृति में बिम्ब—१–आकाशीय, २–कालगत, ३–जल-सम्बन्धी, ४–पृथ्वी सम्बन्धी, ५–प्राणिवर्ग-सम्बन्धी एवं ६–वनस्पति-सम्बन्धी नाना विषय-वस्तुओ के ग्रहणादि की दृष्टि से वर्गीकृत होंगे। (ख) मानव-जीवन मे बिम्ब १–समष्टि-जीवन २–व्यष्टि-जीवन के वर्गों, जातियो, अवस्थाओ, नर, नारी, पर्व, उत्सव, आचारों आदि के ग्रहण की दृष्टि से वर्गीकृत होंगे।

(७) व्युत्पत्ति की दृष्टि से बिम्ब १–परम्परित अथवा रूढ और २–सृष्ट अथवा नवीन माने जायँगे। जिनके भी यथावश्यक प्रभेद होंगे।

इस प्रकार के वर्गीकरण का संकलन अगले पृष्ठ पर रेखांकन के द्वारा दिखाया गया है।

वाग्बिम्ब
क
बिम्ब मूल
वि
काव्यबिम्ब
का
व्य
गृ
ही
ता
की
बि
म्ब
ग्र
ह
ण
प्र
क्रि
या
प्रत्यक्ष
अचेतन मिथकीय स्मरण
चेतन स्मृति
चर्वणा = कल्पना = प्रतिभा
वर्णना
बिम्ब
गति से सम्बन्धित
रस्य
घ्रातव्य
स्पृश्य
श्रव्य
दृश्य
मिश्र
अवचेतन जादू + इन्द्रिय-संचरित [हमिटिक + सिनस्थेटिक]
इन्द्रिय-सहचरण [सिनस्थेटिक]
अमूर्त
मूर्त
क्रियात्मक
वर्ण्य
भाषिक
भावात्मक अथवा विचारात्मक
वाच्य
लक्ष्य
व्यंग्य
वैयाकरणिक गीति, शैली आदि
अपारदर्शी
पारदर्शी
सम
विषम
सरल
मिश्र
जटिल
संवादलय द्रुति
विरोधलय ओज
समतोललय दीप्ति
खंडित
समाकलित
सम
मद्धिम
तीव्र
प्रकरण घटनादि
चरित्रादि
स्थापत्यात्मक (काव्यरूप)
महाकाव्य
खण्ड काव्य
मुक्तकादि
गीतिकाव्यादि
कविदृष्टि-सम्बन्धी
वस्तुपरक
श्रेण्यवादी
स्वच्छन्द आदि
काव्यकवि
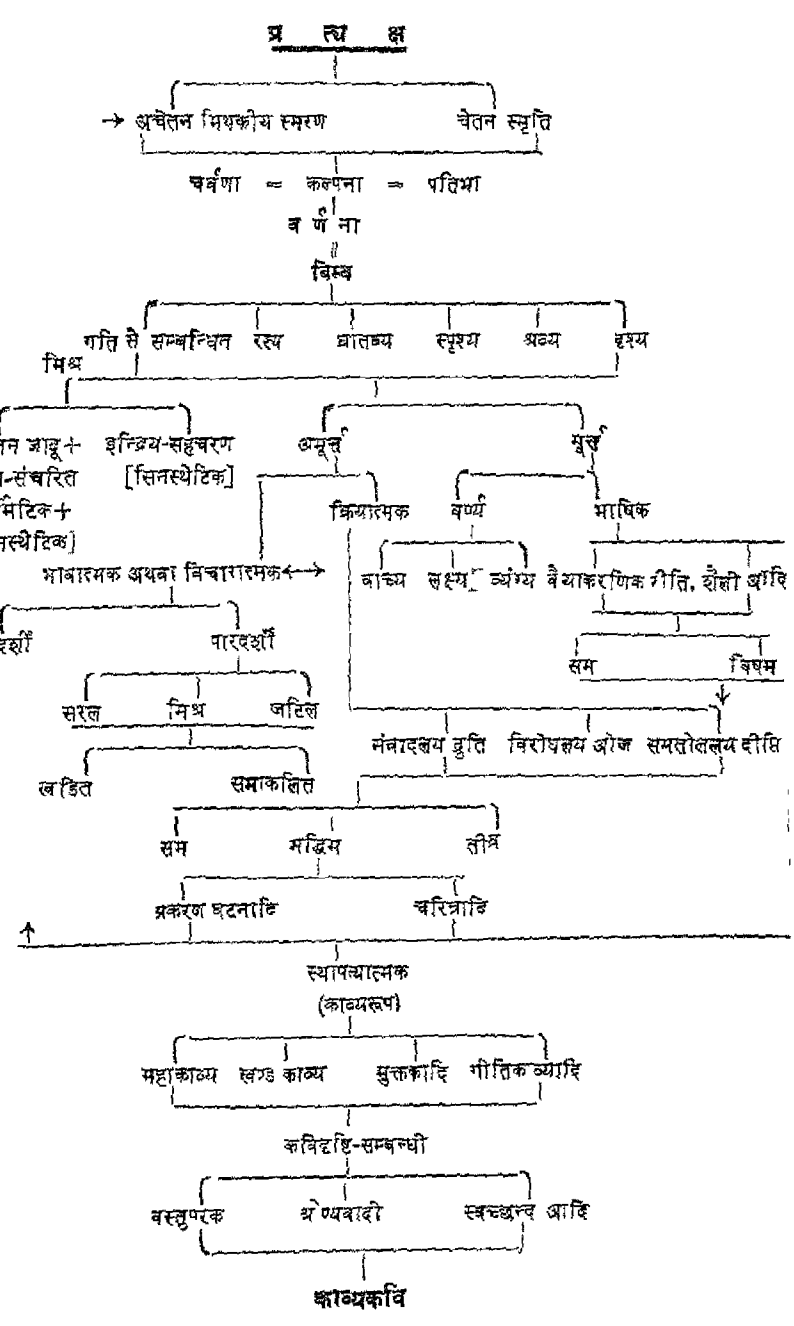
वर्गीकरण और प्रकार-भेदादि के विश्लेषण के साथ एक त्रुटि तो रहती ही है कि उसका कुछ-न-कुछ अविश्लेष्य शेष रह जाता है। उसकी भी यदि चीर-फाड़ की गई, तो खतरा शल्यचिकित्सक के जोखिम-भरे इस गरूर का होता है कि आपरेशन तो सफल हुआ, पर रोगी मर गया। काव्यबिम्ब के ऐसे विश्लेषण से यदि आगे की पीढ़ी को लाभ पहुँचे, तो जोखिम उठाए जा सकते हैं। पर, शर्त्त भी तो है।

वैसे काव्यबिम्ब स्वयं चैतन्य-धारा है। उसकी जीवनीशक्ति स्वतः उसमें नव चेतना, नई ऊष्मा और जीवनधारा के अनुरूप यथावश्यक नवीन प्राणशक्ति भरती जाती है। अपना संशोधन और विकास वह प्रकृत्या करता चलता है। अगले अध्याय में यह देखा जाय कि काव्यबिम्ब की जीवत चेतना बंधन है या कि मुक्ति।

८. सन्दर्भ ग्रन्थादि एवं टिप्पणियाँ

१ केदारनाथ सिंह : तीसरा सप्तक, पृ० १८४
२ ए० मैक्लिश : पोएट्री ऐंड एक्सपीयरिएंस, पृ० ५५
मार्जोराइ बाल्टन : दि ऐनाटमी ऑफ पोएट्री इस पुस्तक में फार्म या रूपाकार (बाह्य आकार एवं आन्तरिक रूप) दोनों के नाना प्रकारों की चर्चा है; यथा, १—नादात्मक (रीदम) २—भाषिक (फोनेटिक या ओनोमेटापोइए, आन्तरिक संरूप), ३—औच्चारणिक (इन्टोनेशन), ४—पुनरुक्ति (बौद्धिक प्रभावगत एवं जादुई प्रभावगत), ५—मानसिक रूप (१-काव्य-प्रकार की दृष्टि से एवं २, तर्कगत संगति की दृष्टि तथा ३, सहचर बिम्बों की दृष्टि से, ४, बिम्ब प्रकार की दृष्टि से) और अन्त में ६-छन्द-प्रयोग के रूप। इस प्रकार काव्य को एक रूपाकृति में उद्भूत अनुभूति मानने का सिद्धान्त रख कर लेखिका ने उसका विश्लेषण भी किया है।
३ बे० क्रोचे : एस्थेटिक्स, पृ० ६७;
४ वही : तत्रैव पृष्ठ ५० एवं ६६,
५ गिरिजा कुमार माथुर : नयी कविता : सीमाएँ और संभावनाएँ, पृ० २५;
६ निराला : परिमल, भूमिका, पृष्ठ-१८-२०, सुमित्रानन्दन पंत : 'पल्लव-प्रवेश', पृष्ठ-२७,
७ डा० बलबीर सिंह रत्न : हिन्दी की छायावादी कविता का कला-विधान, पृ० २७२—
'चूँकि छायावादी कवि काव्यसृष्टि के क्षणों में छन्द-विशेष के शास्त्रीय नियमों के प्रति अधिक सावधान नहीं रहते, अतः कहीं-कहीं वे भ्रांतिवश...एक छन्द के स्थान पर दूसरे छन्द का प्रयोग अनायास कर जाते हैं।' यह धारणा स्वयं भ्रांत है।
८ एस० कुम्स : लिटरेचर ऐंड क्रिटिसिज्म, पृ० ४६;
९ आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : साहित्य सहचर, पृष्ठ-४५-४६,
१० हिन्दी अभिनवभारती : पृ० ५०६;

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका ' भाग १०, पृ० ६६७ In general the external shape; appearance; configuration of an object in contradiction to the matter of which it is composed.
एलिजबेथ ड्रिउ : डिस्कवरिंग पोएट्री—पृ० ६३ . Form is the outward symbol *of that organisation* which we have already analysed as the function of poetry
मार्जोराइ बाल्टन : दि ऐनाटमी ऑफ पाएट्री, पृ० १-१६ दि इम्पार्टेन्स ऑफ फार्म, एव दि फिजिकल फार्म ऑफ पोएट्री । पिछले पृष्ठ ४४६ पर टिप्पणी ४० भी देखें ।
राजशेखर ' काव्यमीमासा, पृ० ११४,
आनन्दवर्धन ध्वन्यालोकलोचन ' पृ० ३५३;
डॉ० शकुन्तला दुबे : काव्यरूपो के मूलस्रोत और उनका विकास · १-प्रबंध, २-अबंध, ३-अधप्रबंध, पृ० ३१-४१,
डा० निर्मला जैन : आधुनिक हिन्दी काव्य में रूपविधाएँ, पृ० ११-३३;
डा० नगेन्द्र काव्य में उदात्त तत्त्व, पृ० १-१८,
अरस्तू ' पोएटिक्स टी० ए० मैक्सन, पृ० ४६-४७ और ४६,
हर्बर्ट रीड फार्म्स इन मार्डर्न पोएट्री पृ० ६३;
डब्ल्यू पी० कर : एपिक ऐंड रोमास, पृ० १७,
एल० एबरक्राम्बी : दि एपिक, पृ० ५२-५८;
इ० एम० डब्ल्यू० टिलियार्ड . दि इंग्लिश एपिक ट्रेडिशन, पृ० ४५;
डब्ल्यू० पी० कर : एपिक ऐंड रोमांस, पृ० ४;
आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र · वाङ्मय विमर्श, पृ० ३६;
डॉ० शकुन्तला दुबे : काव्यरूपों के मूल स्रोत और उनका विकास, पृ० १४४,
मिड्ल्टन मरी ' दि प्रोब्लेम ऑफ स्टाइल पृ० ७६-१०६;
डॉ० सुधीन्द्र ' हिन्दी-कविता में युगान्तर, पृ० ३३७-४०१,
श्री बाँके बिहारी भटनागर : बच्चन ' व्यक्ति और कवि, पृ० ८३;
अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ३५३-३५५
ए० ई० मापिर : लैंग्वेज, अध्याय ५, ग्रैमेटिकल कन्सेप्ट्स, पृ० १२६
इ० स्वीटलैंड क्लाम ' अलबा वारेन ' इगलिश पोएटिकल थियरीज, १८९८-६५, पृष्ठ-१३६-१४२ पर उद्धृत,
तुलनीय - पेटर : 'स्टाइल' 'The Artist' says Schiller, may be known by rather what he omits, and in literature too the true Artist may be best recognised by his tact of omission.'
रोस्ट्रेवर हैमिल्टन : क्रिस्चिन ब्रुकरोज : ए ग्रामर ऑफ मेटाफर्स, पृ० ३७ पर उल्लिखित
क्रिश्चिन ब्रुकरोज : तत्रैव, पृ० ४१;
डॉ० नगेन्द्र · भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका-२, पृ० २५२;
आ० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, भाग-२, पृष्ठ-३१२,
उपरिवत्, पृ० २५७;
आ० बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र-, खण्ड-२, पृ० ३१२-३१७,
क्रिश्चिन ब्रुकरोज ए ग्रामर ऑफ मेटाफर्स, पृ० १७-१६,
पाश्चात्य विद्वानों में, गुस्ताव स्टर्न (मीनिंग ऐंड चेंज ऑफ मीनिंग), डब्ल्यू० एम० अर्बन (भाषाविषयक ग्रंथ में संकेतित), एफ० बी० गम्मियर (दि बिगिनिंग्स ऑफ पोएट्री), एफ० ब्रिंकमैन (डाइ मेटाफर्न) आदि के प्रयास प्रारंभिक और आनुषंगिक ही है।

एफ० क्लाइबर ने चौसर के मेटाफर के अध्ययन में भाषावैज्ञानिक दृष्टि तो अपनाई, पर वह ब्रिकमैन से प्रभावित और भ्रांति की दिशा में एक कदम आगे भी है। डा० क्लिमेन्स ने 'शेक्सपियर के बिम्ब-विकास' पर भाषावैज्ञानिक अनुशीलन किया है; वह कैरोलिन स्पर्जन से पृथक् तो है परन्तु उनका विवेचन भाषा-पक्ष को शैली-रूप मान कर चला है। डा० डोनाल्ड डेवी का ग्रंथ 'एन इन्क्वायरी इनटू दि सिनटैक्स ऑफ इंगलिश पोएट्री (१९५५) भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्रकल्पित होकर भी, अर्थविज्ञान ही प्रस्तुत करता है।

३६ हर्मन पौग्स : वारेन एवं वेलेक द्वारा 'थियोरी ऑफ लिटरेचर', पृ० २१०, २१२-१३, एवं ३३२-३४ पर उद्धृत एवं नोट्स पृष्ठ-३३३ पर स्पष्टीकृत ।

३७ चार्ल्स बैली : जी० बी० रोज ' ए ग्रामर ऑफ मेटाफर, पृ० ९ पर उद्धृत,

३८ के० बासलर : स्पिरीट ऑफ लैंग्वेज इन सिविलिजेशन (अनुवाद), पृ० ४;

३९ हेनरी वेल्स दि पोएटिक इमेजरी, पृ० १२७;

४० रॉबिन स्केल्टन ' दि पोएटिक पैटर्न पृ० ९०-९५;

४१ वही : तत्रैव, पृ० १०५;

४२ वही तत्रैव, पृ० १०६;

४३ रिचर्ड हास्लर फॉग्ले : दि इमेजरी ऑफ कीट्स ऐंड शैली, पृ० ८४,

४४ फ्रैंक करमोड : दि रोमांटिक इमेज, पृ० ४३-४८;

४५ आ० रामचन्द्र शुक्ल चिंतामणि, भाग-२—पृ० १०१, ११, २, ३, भाग १,—पृ० ३१०-३१२ एवं रसमीमांसा, पृ० २१६;

४६ आ० रामचन्द्र शुक्ल : चिंतामणि, भाग–१,—३२६-३६१

४७ आ० रामचन्द्र शुक्ल . रसमीमांसा, पृ० २०२, चिंतामणि, भाग—२, पृ० २, १३८-१५१ एवं २१० तथा भाग—१,—पृ० २१०, ,२३८-२४०, ३३०;
गोस्वामी तुलसीदास, पृ० १५३,

४८ आ० जानकीवल्लभ शास्त्री : चिन्ताधारा, पृष्ठ—१४२-१५८;

४९ डा० नगेन्द्र ' काव्यबिम्ब, अन्तिम अध्याय;
डॉ०नगेन्द्र की 'काव्यबिम्ब' पुस्तक पर जगदीश शर्मा की 'आलोचना' त्रैमासिक अक्तूबर-दिसम्बर १९६७, पृ० १०३-६ पर टिप्पणी, जिसमें उन्होंने बताया है कि 'चरित्र-बिम्ब' का उल्लेख 'काव्यबिम्ब' में नहीं हुआ है, जब कि यह पृष्ठ १४ पर उल्लिखित और विवेचित है, तथा यह कि समग्र विवेचन में पाठक का पक्ष छूट गया है, जब कि वही सर्वत्र गृहीत है; तथा यह कि 'आद्यबिम्ब' का नहीं 'आद्य-प्रतीक' (आर्किटाइप्स) का ही व्यवहार 'आर्किटाइप्स' के स्थान पर होना चाहिए, जैसे काव्यग्रहण में प्रतीक और बिम्ब एकदम पृथक्-पृथक् हों आदि। यह आलोचना 'एकांगी' है। उस पुस्तक पर श्री गिरिजा कुमार माथुर की आलोचना उत्तम हुई है, द्रष्टव्य–साप्ताहिक हिन्दुस्तान २७ अगस्त, १९६७, पृ० ३७ एवं ४७;

५० डॉ० शंभुनाथ चतुर्वेदी ' नया हिन्दी काव्य और विवेचना, पृष्ठ-३३४;

५१ डॉ० कैलाश वाजपेयी : आधुनिक काव्य में शिल्प, पृष्ठ-८;

काव्यबिम्ब और
आत्ममुक्ति

अविशेषीकृत ध्वनियों से विशेषीकृत 'वाणी' जैसे ही फूटती है, अर्थों के नाना जाल उसे घेर लेते हैं। बहुविध अर्थच्छायाओं से घिर कर वह फिर से अविशेषीकृत हो जाती है। तब 'वाणी' दो अविशेषों के बीच एक विशेष स्पन्द, जीवंत अर्थमंडल-रूप प्रतिभासित होती है। स्वरों के समप्रवाह से व्यंजन छिटके नहीं कि स्वरों की नाना अनुगूँजें उन्हें परिवेष्ठित कर लेती हैं, जैसे—प, पा, पि, पु....आदि। 'व्यंजन' दो स्वर-स्पन्दों के बीच एक विशिष्ट आन्दोलन हो जाता है। जीवन है—

> हल्की टंकार के साथ एक तीर छूटा, सामने अन्तरिक्ष की ओर।
> तुम्हें सामने वह तीर जाता हुआ दिखाई देगा—उजला जगमगाता।
> सिर्फ एक तीर। और तुम खुद नहीं जानोगे कि तुम क्या देखना चाहते हो···
>
> —विजयदेव ना० साही : मछलीघर

अर्थात् गति ही जीवन है, पर दो स्थितियों के बीच, और भारतीय संस्कृति में वे हैं—सत्य और ऋत; अथवा शाश्वतता की ओर से जीवन स्थिति है, दो दुर्वह और प्रचंड गतियों के बीच; भारतीय संस्कृति में वे आनन्दमय

कोष और अन्नमय कोष के भी द्वारा द्योतित किये गये हैं। दो गतियो के बीच जीवन का 'स्थिति'-रूप दर्शन मूर्त्तता-प्रधान दृष्टि की प्रतीति है, दो स्थितियो के बीच 'गति'-रूप सदर्शन अमूर्त्तता-प्रधान दृष्टि की (द्रष्टव्य पृष्ठ-१२-१३)। कामायनी में 'स्थिति'-रूप दर्शन इस प्रकार मूर्त हुआ है—

> जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नील घनमाला मे।
> सौदामिनी-सधि-सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में।

यह मनु-द्वारा कल्पित जीवन-बिम्ब है, अतः दो गतियों के बीच का क्षुद्र अंश, क्षण भर का उजाला है, 'करुण स्थिति' है। श्रद्धा-द्वारा प्रस्तुत बिम्ब दो स्थितियों के बीच 'गति', कह लें उद्गति, का चित्र है—

> विधाता की कल्याणी सृष्टि सफल हो इस भूतल पर पूर्ण।
> पटें सागर, बिखरें ग्रह-पु ज और ज्वालामुखियाँ हो चूर्ण।
> उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प कुचलती रहे खडी सानन्द
> आज से मानवता की कीर्त्ति अनिल, भू, जल में रहे न बन्द।

भारतीय संस्कृति की धारणात्मक आदर्शवादी-अध्यात्मवादी विशेषता (श्रेण्यवाद, आभिजात्यवाद, नीतिवाद आदि के विविध नामों से ख्यात) और आदिम स्वच्छन्द मुक्तता की विशेषता (स्वच्छन्दतावाद, विभज्यावाद, रोमासवाद, कोणवाद आदि इसके भी अनेक नाम है) की विषम, क्रिया-प्रतिक्रिया में यहाँ के काव्य एवं कलाएँ प्रतिफलित हुई है। अतः आधुनिक कविता की—उसकी शुरुआत की तारीख भी हमेशा विवादास्पद रहेगी, और उसके प्रथम कवि का नाम भी, क्योंकि वह गत्वर अवधारणा है—प्रत्येक नई लहर मे पूर्व वृत्तियाँ अनुप्रविष्ट मिलती है। प्रतीति में यह लहर दो सम-प्रवाहो के बीच उभरी हुई मालूम पड़ेगी। दूसरे शब्दों में यह कि 'काव्यबिम्ब' जातीय चेतना अथवा कालप्रवाह मे देशगत उभार है (द्रष्टव्य पृष्ठ ६४, १००-१०१)। देशगत उभार की दृष्टि से वह रोमांटिक (डायोनीसियन) या त्रिकोणात्मक प्रतीत होगा, पर कालप्रवाह की उदय-अवसान की प्रक्रिया में उसकी गति क्लैसिकल, (अपोलोनियन) वृत्तात्मक मालूम पडेगी—दो नहियो के बीच एक संदिग्ध 'हाँ'।

छायावाद एक ऐसी ही लहर है—दो नहियों के बीच एक संदिग्ध 'हाँ'। उसका हाँ-पक्ष रोमासवादी, व्यक्तितावादी, ऐन्द्रियतावादी, शृंगारवादी आदि रूपों में उभर आया है; तो एक स्याद्वादी करुणा अगम शून्यता से उसे पूर भी गयी है। एक ओर तो 'अहंकृति में झंकृति' है, 'मैं-शैली' है, 'नयन-महोत्सव' के लिए समृद्ध रूप-रस-गंधादि की ऐश्वर्यदीप्त छवियाँ है, दूसरी ओर खिन्नता की अवश पीड़ा और विकल संप्रश्न है :

करुणा कलित हृदय में अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ।
—प्रसाद : आँसू

प्रवृत्त्या छायावाद बिम्ब-विधान की पिछले पृष्ठों पर वर्णित प्रायः समस्त विशेषताओं का काल रहा है। वैयक्तिक रागमयता, तीव्र ऐन्द्रियता और अकथ अभाव की पीडा 'आँसू' से लेकर 'कामायनी तक, 'उच्छवास' से लेकर 'अतिमा' तक, 'जूही की कली' से लेकर 'अणिमा' तक की रचनाओं मे बिम्व, रूपक, प्रतीक और कहीं-कहीं इन तीनों को अतिक्रांत करती हुई गहन मिथकीय चेतना का अद्भुत संगम प्रस्तुत कर गई है। 'आँसू' की वैयक्तिक और शृंगारी ऐन्द्रियता 'लहर' मे 'करुणा की नव अँगराई-सी' हो कर तन्द्रिल-स्वप्निल भावबिम्बों में सूक्ष्मीकृत होती है। मूर्त्तनप्रधान 'आँसू' से अमूर्त्तनप्रधान 'लहर' मे प्रयाण काव्यबिम्ब की सर्जना-प्रक्रिया के लिए एक ऐतिहासिक मोड है। उसी भाँति पतजी अमूर्त्तन और मूर्त्तन की पिछली छायावादी-प्रगतिवादी प्रक्रियाओं से उत्तीर्ण होकर जब 'उत्तरा' 'स्वर्णकिरण', 'अतिमा' 'किरण वीणा', 'शंखध्वनि' 'कला और बूढा चाँद' आदि कृतियो मे आरोहण और अवरोहण की प्रक्रिया में मग्न दीखते हैं, तो एक दूसरा ऐतिहासिक मोड़ घटित होता है। 'निराला' की कविता मे दोनो प्रकार की गतियो का आकुञ्चन है। फिर, 'बादल-राग', 'तुलसीदास' और 'राम की शक्ति-पूजा' आदि रचनाएँ निराला के 'आत्मबिम्ब' के आद्यप्रतीक-रूप भी है, पहला मन के गहन तल से निकलने वाला और शेष निजी अचेतन से। आधुनिक युग में निराला आद्यमातृका और आद्यपितृत्व अथवा प्रौढ़ विवेकी के प्रतीकत्व के महाप्राण उद्घाटक रहे हैं।

बाह्य अनेक बाहरी और भीतरी दबावों से उपजी छायावादी कविता मे राष्ट्रीय पीड़ा को वैयक्तिक वेदना, जीवन की रिक्तता को आन्तरिक अभाव और विवशता को रहस्यात्मक वैकल्य बना कर, अर्थात् युग-जीवन की वेदना, रिक्तता और अभावों की विवशता को वैयक्तिक भावो मे प्रतिफलित कर प्रातिभ कवियो ने ऐसे काव्यबिम्ब सृष्ट किए कि वे वैयक्तिक भी हैं, वैश्विक भी; ऐन्द्रिय भी हैं, अतीन्द्रिय भी, भावनामय होकर दैशिक भी हैं, तो कथा-प्रसरित होकर कालिक भी। किन्तु उनमें प्रधानता दैशिक तत्त्व की, दूसरे शब्दों मे आद्यमातृका के प्रतीकत्व की है। प्रकृत्या छायावाद प्रगीतात्मक काव्यधारा है, अमूर्त्तन-प्रधान प्रवृत्तियो का सघन अभि-व्यंजना है।

छायावादी कवियों की तुलना यदि हरिऔध, गुप्त जी, माखनलाल की कविताओ के स्थापत्यात्मक बिम्बों से की जाय, तो साफ मालूम पड़ेगा कि ये मूर्त्तन-प्रधान रचयिता है। पृष्ठ-६६० पर उल्लिखित गुप्त जी की 'भारत माता' और प्रसाद-कृत 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' का मिलान माखनलाल जी के निम्न राष्ट्रगीन 'प्यारे भारत देश'—

> गगन-गगन तेरा यश फहरा, पवन-पवन तेरा बल गहरा
> क्षिति जल नभ पर डाल हिंडोले चरण-चरण संचरण सुनहरा।
> तेरे पर्वत शिखर कि नभ की भ्रू के मौन इशारे
> तेरे वन जग उठें पवन के हरित इरादे प्यारे। आदि

से करने पर इसमे गुप्त जी से अधिक सांस्कृतिक व्यापकता दीखती है, पर 'प्रसाद' का भावात्मक वैपुल्य नहीं मालूम पड़ता। दूसरे शब्दो में, गुप्त जी मे बिम्ब और रूपक के दो आयाम है, माखनलाल जी में बिम्ब, रूपक और प्रतीक के तीन आयाम है और प्रसाद में बिम्ब, रूपक, प्रतीक और मिथक के चारों आयाम मिलते है। गुप्त जी तक काव्य का स्थापत्यात्मक बिम्ब, चाहे प्रगीत मुक्तक का हो या प्रबंध-काव्य का 'रूपकत्व' और 'बिम्बत्व' के मिश्रण को प्रस्तुत करता है, न कि उनके सश्लेष को। कारण जो भी हो, 'साकेत' मे और 'यशोधरा' में, और इसी प्रकार अन्य कृतियों में भी, जोड़-तोड़ इतना साफ झलकता है कि उनकी चरित्रमूर्त्तियाँ, प्रकरण-चित्र, शब्द की विच्छित्तियाँ आदि प्रस्तर और मृत्तिका दोनो से या दोनों मे उरेही, या चिपकाई गयी-सी ऊपरी मालूम पड़ती हैं। गुप्तजी 'मानवता' के कवि उतने नहीं है, जितने सास्कारिक-धार्मिक 'मानव' के कवि हैं। उनका मानव मध्ययुग की नैष्ठिक धर्मभावना के क्रोड में बैठ कर राष्ट्रवादी स्वर छेड़ता है। उसके स्वर में नये फूटते स्वर की हकलाहट और यत्नसाध्य अकृत्रिमता अथवा कृत्रिम, किन्तु सहज राग अवश्य है। खड़ी बोली की 'आकारान्तात्मकता' के विस्तार और 'है'-पन की ठोस स्पृश्य-सी विद्यमानता को उन्होंने एक साथ आमने-सामने भी कर दिया है। पर पारस्परिक चाप द्वारा खड़ी बोली में लोच ले आने के योग के लिए उनका युग और उनकी सांस्कृतिक-वैचारिक परम्परा सम्भवतः संयोग उपस्थित न कर सकी। यह काम सम्पन्न हुआ माखनलाल चतुर्वेदी,, बालकृष्ण शर्मा नवीन, मुकुटधर पांडेय, और फिर समवेत रूप से, छायावाद के कवियो द्वारा, और तदुपरान्त उनकी पीठिका पर 'दिनकर' के योगदान से।

माखनलाल 'आज की आग' से परिचित ही नही थे, उसकी लपट से दग्ध-हुए कवि हैं। फलतः गुप्त जी की भक्तिप्रवण पौराणिक राष्ट्रीयता से चतुर्वेदी जी की सक्रिय राजनैतिक राष्ट्रीयता में ताप अधिक है, जिसकी आँच से खडी बोली, काव्य-शिल्प, और समग्र कविता का स्थापत्य उत्तरोत्तर प्रखर, तीक्ष्ण और वक्र होता गया है (डा० रामखिलावन तिवारी, माखनलाल चतुर्वेदी : व्यक्ति और काव्य, पृष्ठ ४०५)। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' अपनी सामाजिक, राजनैतिक राष्ट्रीयता के कारण उनकी तुलना मे उत्तरोत्तर वक्र, तीक्ष्ण और प्रखर होते गए हैं। गुप्तजी के स्थापत्यात्मक, शिल्पीय एवं चरित्रादि के बिम्ब 'भक्त' की निमितियाँ हैं, चतुर्वेदी जी के 'कवि' की संरचनाएँ और 'नवीन' जी के 'विद्रोह की सृष्टियाँ'। वैष्णव सस्कार प्रथम के काव्य-मंदिर मे अभिनव स्फटिक मूर्त्तियाँ दे गया है, समस्त काव्यशिल्प भी जमी हुई प्रार्थना-मूर्त्तियाँ हैं। दूसरे के काव्य-लोक में विद्रोह और प्रार्थना की, आग और पानी की मृण्मयी मूर्त्तियाँ है, तीसरे मे अग्निमयी ज्वाला है—विध्वंस का राग है, लौह शस्त्रधारी शब्द-शिल्प हैं। ये तीन युगचरण राष्ट्रीय काव्यपुरुष के उत्तरोत्तर विकास के सूचक हैं। जितने व्यापक प्रसार में वे फैलते है, उतनी ही गहराई के तलों को भी आन्दोलित करते हैं। अतः, गुप्तजी की बिम्ब-रूपक-एकात्मकता 'नवीन' में आकर बाह्यतः जितनी प्रसरित और तीखी हो उठी है, अन्तस् को उतनी ही गहराई से मथ भी जाती है। (डा० धीरेन्द्र वर्मा एव डा० रामकुमार वर्मा, उपरिलिखित ग्रंथ मे उद्धृत, पृष्ठ ४१०)। गुप्त जी जातिवाचक संज्ञा-प्रधान स्थापत्य प्रस्तुत करते है, चतुर्वेदी जी विशेषणगर्भित भाववाचक सज्ञा-प्रधान और 'नवीन' क्रिया-प्रधान। आगे निराला आदि के मार्ग पर चल कर दिनकर जी ने इन तीनो का' प्रौढविवेणी'-सा विशिष्ट सयोग प्रस्तुत किया।

युग-जीवन के दबाव में पडे हुए कवियों को, अत. भावनात्मक अन्तर्मुखी वृत्ति (इन्ट्रोवर्ट, फीलिंग टाइप) के कवियों की सर्जना होने के कारण छायावादी काव्यबिम्बो मे आतिशय्य और अतिरंजना है। इस प्रकार के व्यक्ति भावना की बाढ मे अभिव्यजन-माध्यम को प्रवृत्त्या अक्षम और असमर्थ पाते है। इसके फलस्वरूप कवि अपने मे और भी अधिक डूबता और कल्पना आदि से अपनी भावना मे गहराई लाता है। प्रकाशन की रुद्धता के कारण उसकी वैयक्तिकता निर्वैयक्तिक आयामो मे फैलती है, उसमे रहस्यात्मकता आध्यात्मिक सूक्ष्मता, आदर्शवादिता, नैतिक आदि आभिजात्यभाव, धार्मिक

पवित्रता, स्व-पीडनवृत्ति, मौन प्रकृति के प्रति अमित आकर्षण और निष्कप बलिदान के भी प्रति ममत्व, सामाजिक-आर्थिक वैषम्य, पीड़ा, क्लेश, वेदना, अन्याय के प्रति सह-अनुभूति, करुणा अथवा विद्रोह आदि की भी प्रवृत्तियाँ उभरती हैं। आत्मलीनता के कारण प्रकाशन के ढंग-ढर्रे में भी चक्राकार आवृत्ति, प्रतीकात्मकता, विशेषण-बाहुल्य, अलंकरण, वक्रता और नादात्मक झंकृतियों की शिल्पगत विशेषताएँ विकसित होती चलती हैं। महादेवी की रहस्यात्मक अन्तर्वृत्ति और चक्राकार आवृत्ति, निराला की आध्यात्मिक सूक्ष्मता और प्रतीकात्मकता; और फिर सांगीतिक आलापवत् तीक्ष्ण और प्रखर अनुरणन तथा पंत का प्रकृति-प्रेम और 'रूप' और 'रंग' की सुनहली-रूपहली, सूक्ष्म और कोमल पकड़ आदि में इनके उदाहरण देखे जा सकते हैं।

ये प्रवृत्तियाँ 'निराला' की कृतियों में कुछ जमी अथवा दबी हुई हैं। पर 'कामायनी' में विशिष्ट स्तर पर तथा जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, धर्म और अध्यात्म के विविध आयामों में फैलती-सी प्रकट हुई हैं। विशिष्ट स्तर यह कि वहाँ सामाजिक (तत्कालीन भी) 'तथ्य'—अहंवाद अथवा अधिकार-लिप्सा—दो चापों, तात्त्विक, अथवा आद्यमिथकीय चेतना और आध्यात्मिक-धार्मिक मिथकीय चेतना, (द्रष्टव्य पृष्ठ—२६७-२७०) के बीच संवादित और गत्वर चित्रित किया गया है। 'अणु→मन'-रूप मनु का जीवन, जो आदिम 'शिशु'→'पशु'→'वीर' का प्रतीक है, (अर्थात् जिसमें 'आदिम शिशु' के आर्केटाइप की विपन्नता, अकेलेपन, परिताप, नगण्यता, भटकाव आदि और फिर 'पशु' तथा 'वीर' के आर्केटाइप की आदिमता, खूँख्वारपन, प्रतिशोध-भाव आदि की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं) वहाँ आदि-तत्त्वों में जल और अग्नि (यज्ञ, कर्म, वासना आदि) से सचरित और प्रेरित होकर 'नयन का इन्द्रजाल अभिराम' अर्थात् आद्यमाता-रूप 'श्रद्धा' और 'वह नयन महोत्सव की प्रतीक' अर्थात् आद्यकुमारी (किशोरी)—रूप 'इड़ा' के दो विषम वृत्तों के मध्य खुलता-खिलता अन्ततः 'समरसता' के ऊर्ध्वलोक में उद्गत और पर्युत्थित चित्रित किया गया है। 'अणु' (तत्त्व) किस प्रकार छलांग लगाकर 'चेतना' (जागतिक) बनता और फिर दूसरी छलांग से 'व्यस्त चेतना' कैसे 'समष्टि' अथवा 'समरस' चेतनता हो जाती है—इसका विभुबिम्ब (कॉस्मिक इमेज) 'कामायनी' अनुकूल, प्रतिकूल और अद्भुत (द्रष्टव्य पृष्ठ—६८ तथा १६८) तीनों विधियों से प्रस्तुत करती है। अतः वहाँ तथ्य अपनी तथता से अतिरिक्त होकर महद् को समर्पित चित्रित हो सका है। उसमें मृत्युबिम्ब जीवन ही नहीं, महत्तर जीवन के विभुबिम्ब में समर्प्यमाण दिखाया गया है।

कामायनी है मूलतः अमूर्त्तन प्रधान कृति, प्रगीतात्मकता और मनोवृत्तियों की नाट्य-प्रस्तुति उसके रूपात्मक स्थापत्य की मूर्त्तन-विधि को भग्न करती हैं। उसमें कथा-तत्त्व और घटनाएँ भी अल्प हैं और जो हैं भी वे स्थूलता का विघटन कर सूक्ष्म, चिरंतन की प्रतीक-सी हो गई हैं। उसमें तत्कालीन सामाजिक-राजनैतिक वैषम्य, क्षोभ आदि के जो भी संकेत (अर्थात् 'तथ्य') हैं; यथा—निम्न पंक्तियों के 'काले शासन' में जो तथ्य संकेतित है—

> इस अनंत काले शासन का वह जब उच्छृंखल इतिहास
> आँसू औ, तम घोल लिख रही तू सहसा करती मृदुहास।

और उसी तरह के अनेक सामाजिक-राजनैतिक उल्लेख जो 'संघर्ष', 'स्वप्न' 'रहस्य' आदि सर्गों में हैं; तथा साड़ी फाड़ने, हाँफने, खिलखिलाने, सिसकने आदि के जो पारिवारिक रम्य अभिप्राय (मोटिफ) हैं, वे भी हल्की सामाजिक अथवा वैयक्तिक तात्कालिकता उद्बुद्ध कर अपने व्यापक और गहरे भावादि की महाधारा में लीन हो जाते हैं। 'कामायनी' की तिरोभावी बिम्बनविधि का (द्रष्टव्य पृष्ठ-२८ यह भी एक प्रकार है। इन सबसे उसमें गहराई और गूँज आई है। उसके चरित्र भी पूर्वसंस्कृति के न-कार-रूप अधिक हैं, 'वर्त्तमान' के स्वीकार-रूप कम। उसमें वर्णित भाव-विचार आदि प्रधानतः जातिस्फोट हैं, न कि व्यक्ति-विशिष्ट। उसकी एक घटना, एक कथन, एक मनोवृत्ति, जैसे—इच्छा, राग, प्रेम, द्वेष, संघर्ष, आदि अपने समान-असमान अनेक घटनाओं, कथनों मनोवृत्तियों आदि के रूपक, प्रतीक आदि, अथवा उनकी ध्वनियाँ व्यंजित करती हैं। 'चिंता' मात्र 'मनु' की कथा-विवक्षित चिंता नहीं है, छायावादी युग की राजनैतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक आदि दुश्चिंता-भर भी नहीं है; वह 'विश्व-वन की व्याली' 'ज्वालामुखी-स्फोट' के 'भीषण कम्प-सी मतवाली' 'पहली रेखा' भी है। 'मतवाली' और 'पहली रेखा' क्यों? इस कारण कि वह भूतसमष्टि में चेतोदय के पहले धक्के की प्रतीक 'आद्यचिंता' है—'मन के आविर्भाव' और 'अहं' के पहले बोध की मस्ती है। यह तो इस ओर है, पर दूसरी ओर वह बुद्धि, मनीषा, मति, आशा-रूप 'विवेकीकृत आधुनिक चेतना' की प्राग्रूप भी है। उसी भाँति उसके प्रणय, राग, द्वेष आदि भी एक ओर तो आदिकर्षण-विकर्षण से और दूसरी ओर विवेकावृत उत्सर्ग-प्रधान प्रणयासक्ति अथवा ध्वंस-वृत्ति आदि के द्विध्रुवीय चाप से आन्दोलित रहते हैं। उसके प्रकरण, घटना आदि समाजशास्त्रीय अर्थ भी उद्बुद्ध करती हैं; यथा—मानव के अकेलेपन, भटकाव, आश्रय की खोज आदि के। संस्कारों-स्मृतिपुंजों पर ऐसे दुहरे-तिहरे दबावों के कारण 'कामायनी' का प्रेषण-व्यापार बिम्बों के माध्यम से प्रतीकों का प्रत्ययात्मक प्रेषण-सा हो गया है। इसलिए भी उसके बिम्बों में मिश्रेन्द्रिय-संचार और नाट्य गत्वरता के विशेष गुण भरे मालूम पड़ते हैं। यथा—

दृश्य-स्पृश्य—मृत्यु ! अरी चिर-निद्रे ! तेरी अ क हिमानी-सा शीतल !
रस्य-दृश्य-गत्वर—मधुमय चुम्बन कातरताएँ आज न मुख को सता रही;
श्रव्य-दृश्य-गत्वर—प च भूत का भैरव मिश्रण शपाओं के शकल निपात,
उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रही ज्यो खोया प्रात;

किंतु, प्रत्ययात्मक प्रेषण सामान्यवधारणात्मक न हो जाय इस हेतु सर्वत्र चेतनीकरण और मानवीकरण आदि की विशेषावधारणात्मक विधियाँ अपनाई गई हैं; यथा—उपर्युक्त पंक्तियो मे 'तेरा अक', 'मुख को सता रही', 'उल्का लेकर खोज रही' आदि मे मानवीय अंग अथवा क्रिया-व्यापार बिम्ब को रागात्मक प्रत्यक्षवत्ता प्रदान करते हैं। फिर, 'कामायनी' के ये बिम्ब नीलवर्ण की विविध आभाओं से युक्त पृष्ठाधार पर अन्य वर्णों की क्रीड़ा करते-से दिखाए गए हैं। नीलवर्ण अनेक प्रकार की अर्थच्छटाओं का प्रतीक, आदि-स्रोत है, यथा—'नील व्योम उतरा हो आलिगन के हेतु अशेष', 'नील नयनो की सृष्टि', 'नयनों की नीलम की घाटी' तथा 'नील परिधान बीच' आदि मे वह काम-स्रोत है, तो 'महानील इस परम व्योम', 'उस असीम नील अचल', 'विवर में नील गगन के', 'एक परदा यह झीना नील छिपाए है,' 'माया के नीले अंचल', 'मुक्त नील नभ के नीचे' आदि में वह रहस्यमय, दुर्ज्ञेय, अथवा नियति-रूप भी है। 'रहस्य' सर्ग में कर्म 'श्यामल', और कर्म-प्रेरित स्पर्धा, ईर्ष्या आदि के भावो से युक्त उसका रुद्र-रूप 'नील लोहित ज्वाला' बताए गए है। वहीं रगों का रहस्य भी प्रकट किया गया है—रागारुण = इच्छा; उज्ज्वल = ज्ञान। 'आनन्द सर्ग' में श्रद्धा की महाज्योति-स्मिति-रेखा से रंगो में सामजस्य आता है। 'धवल नग' ऊपर बताया गया है, जिसकी नलहटी में 'श्यामल तृण-वीरुध' और 'अरुण-पीत हरियाली'-रूप मजरियो का कानन है। उस 'जीवन वसुधा समतल' में जागतिक-प्रपंच का नीलवर्णी आधार तिरोहित हो गया है, जैसे वह अपने आधेय से एकाकार हो गया है, द्विधा मिटा कर कनक, पिंगल, अरुण मे पर्यवसित हो गया है। पूर्व पृष्ठ—२ पर बताए गए रगों के त्रिपार्श्वगत अनुक्रम 'कामायनी' में भी रम्य रूप से उन्मीलित-निमीलित होते मालूम पड़ते हैं। फिर रंगो के प्रस्फुटन और उनकी घुलावट में भी अमूर्त्तन-प्रक्रिया की ही प्रधानता है।

बात यह है कि 'कामायनी' का कवि काल का जितना तरल और भावात्मक द्रष्टा है, उतना तात्कालिक वर्त्तमान या सतत वर्त्तमानता का ठोस निर्माता नहीं। वह कल्पक तो है, पर सामान्य सुधारक नहीं। विराट् विभु-बिम्बो, भावनात्मक कल्पना-बिम्बों, सूक्ष्म विचार-बिम्बों आदि की वह महासृष्टि-लीला एक अद्भुत 'कल्पलोक' में पर्यवसित चित्रित भी की गई है, जहाँ—'आनन्द अखंड घना था'। 'था' की यह भूतकालिकता भी प्रत्यक्ष दृढ़ता को विगलित ही करती है। यही नही, उसके शब्द-प्रयोग में भी मधुर-मसृण ध्वनियो—क, म, र, ल, श…आदि—और फैलने गूँजनेवाले वर्णों की प्रधानता

है। विराम-चिह्नों के अभाव और अक्रम शब्द प्रयोग से भी वहाँ साकांक्ष गूँजे ही उद्बुद्ध होती हैं। भावों के मृदु, संयत प्रकाशन और भाषा के कोमल पक्ष के व्यवहार से 'कामायनी' के स्थापत्य में रुक्ष, खुरदरे, भारी, बेडौल भी आ जुड़े हैं जरूर, पर मार्दव को पुष्ट करते हुए। इससे कृति में रिक्तता की गूँज उठती है और वह अभाव, दूरी, नैराश्य, वियोग आदि की व्यंजना करती है। यह देश-प्रसारी भी नहीं होती, कालिक भी नहीं। इस प्रकार, कालातीत की व्यंजना करने वाली 'कामायनी' के विश्वसनीय, पर अद्भुत लोक में पाठक अपने को अर्न्स्ट कैस्सिरर के आदिम मानव की तरह (द्रष्टव्य पृष्ठ—२५२-२५३) प्रतीकों के बीच प्रवहमान् पाता है। वह अपने को अगम भाव-अभाव से स्पंदित महसूस करता है।

पर, बिम्ब-गठन की संघननशक्ति और बिम्बों के उद्भव-विलय की लीला से 'कामायनी' ने जीवन को अर्थवत्ता प्रदान की है—वह यह कि जीवन-जगत् अणु और विभु की, स्थिति और गति की अन्तरंग, गहन और गत्वर एकता है (द्रष्टव्य पृष्ठ—२९, ६० तथा ८२)। सकल और अखंड चेतना के द्वारा उसमें/से एकाकार हुआ जा सकता है। जीवन के 'संदिग्ध हाँ' को आन्तरिक आस्था और बाह्य कर्म की चैतन्य शक्ति के द्वारा 'निःसंशय हाँ' में और समर्पणपूर्ण निष्ठा के द्वारा पूर्ण वृत्त में पुनः पर्यवसित करना ही वास्तविक पुरुषार्थ है। 'कामायनी' में जीवन और जगत् का 'तरलीकृत-सा' सूक्ष्म अनुभव जो बिम्बित हुआ है, उसमें भी दर्शन, पुराण, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, विज्ञान, काव्य-कला आदि की विविध मान्यताएँ, अवधारणाएँ और यथार्थ जीवन की तत्कालीन, अथवा कुछ आधुनिक आदि भी, समस्याएँ लहरों की तरह उठती, विलीन होती चलती हैं, और इस प्रकार उसे चिर-पुरातन 'रूप', फिर भी चिर-नवीन आयाम देती रहती हैं। पर प्रतीति सब-कुछ की तरलायित-सी ही होती है। इससे उसमें समावेशिता आई है।

छायावादी अन्य काव्यबिम्बों की भी प्रधान वृत्ति अमूर्त्तन की है। आगे चलकर निराला, पंत, महादेवी, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, भगवती चरण वर्मा, जानकीवल्लभ शास्त्री, प्रभात, आरसी प्रसाद सिंह आदि की कृतियों में मूर्त्तन की विशेषता उभरने लगी। रुक्ष व्यंजन-ध्वनियों की झंकार, पौरुष-प्रधान उग्र स्वर, काव्यकृतियों के स्थापत्य का ठोसपन, कथा और कथ्य की प्रत्यक्ष सामाजिकता और दृढ़ यथार्थवादिता, कहा जाय राजनैतिक उद्वेग, भावादि की एककेन्द्रिकता, रचयिताओं की व्यक्तिपरकता, अतः इन सबके प्रभाववश काव्यबिम्बों की दृश्य ऐन्द्रिय (कहीं कहीं स्पृश्य ऐन्द्रियिक भी) प्रखरता आदि विशेषताएँ उत्तर-छायावादी और स्वच्छन्दतावादी कृतियों में प्रधान हो गईं—चाहे कृति प्रबंध काव्य हो, अथवा प्रगीत या मुक्तक। काम-मूलक इसका

उद्दाम प्रकाशन बच्चन, अंचल आदि की रचनाओं मे और सांस्कृतिक, भावनावादी विकास दिनकर आदि की कृतियो मे दिखाई पडता है।

दिनकर जी की महिमा यह है कि उन्होंने परम्परागत और तत्कालीन ही नहीं, उत्तरोत्तर विकासशील नई प्रवृत्तियो, यथा—प्रगतिशीलता आदि के भी सामंजस्य से अपने काव्य-स्वरूप को निर्मित होने दिया। इससे दिनकर-काव्य भारतेन्दु, मैथिलीशरण गुप्त, माखन लाल, नवीन आदि की परम्परा को भी उत्कर्ष पर पहुँचा सका; छायावादी रूढ आत्मकेन्द्रिकता और काल्पनिक हवाईपन को भी भग कर सका; तथा काव्य को सतुलित, सहज बोध-गम्य और कर्मण्य व्यक्तित्व दे सका। पौराणिक और ऐतिहासिक पोठिका उसमे गुप्तजी की तो है, पर गूँजें माखनलाल और नवीन की, बुलंदी सरदार भगत सिह की है और मिजाज इकबाल, नजरूल, जोश और रिल्के आदि का। फिर प्रेम की बेकली सूफियाने ढंग, या छायावादी और कुछ-कुछ बच्चन की है, तो तडप डी० एच० लारेंस आदि की तरह सहज मानवीय; राष्ट्रीयता का राजनैतिक आक्रामक ताव है, तो मानवीयता का शीतल गांधी-दर्शन भी। दिनकर का काव्यपुरुष जीवन को पूरे-का-पूरा स्वीकार कर बढता है; जरूरत हुई, तो ललकारता हुआ भी। वह 'भैरव हुंकार' फूँकने वाला विद्रोही भी है ('काल का चारण' होना 'राष्ट्रकवि' कहलाना आदि तो उसके चरणों की आधार-भूमि मात्र है) और करुणा, सौन्दर्य, प्रेम, अथवा वियोग-व्यथा के कालातीत मानवीय राग का (बाउल-सा) तन्मय गायक भी। उसके चेतन मानस से जितना दुर्दम पौरुष उबाले लेता हुआ फूटता है, अतल लोक में निवसित आद्यनारी की विह्वल टेर भी वैसी ही तीखी गूँजें उठाती हुई लहरा जाती है। एक ओर हुंकार, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, इतिहास के आँसू, कोयला और कवित्व, परशुराम की प्रतीक्षा जैसी पितृसत्ताक अन्तर्वृत्ति के त्रिकोणात्मक काव्यबिम्बों की रचनाएँ हैं, तो दूसरी ओर रसवन्ती, उर्वशी आदि मातृसत्ताक अन्तर्वृत्ति और वृत्तात्मक काव्यबिम्बो की। एक कोटि व्यापक है, उसमें पड़ी रेखा का प्रसार, पद्यबद्ध चिंतन है, दूसरी मे खड़ी रेखा की गहराई है। पहली कोटि शक्तिकाव्य की है, जिसमे आवेश है; गर्म विचारो का तर्क है; दूसरी है भाव-काव्य की, जिसमें बारीक संवेदना तक को सहज कोमल स्पर्श से प्रकट करती हुई स्पृश्य शीतलता अथवा गरमाई है। विचार अथवा भाव के अभिव्यंजन के तर्क, और शब्दादि के प्रयोग की ऐसी सफाई कि वे दृश्य और स्पृश्य-से हो उठें, सामान्य जन को तीर की तरह बेध भी दें—दिनकर-कलम की जबर्दस्त विशेषता है। अकाव्यात्मकीकरण की प्रक्रिया के प्रारंभिक नमूने के लिए भी यह रोचक है।

खून का गर्म उबाल 'कुरुक्षेत्र' आदि मे भी है, 'उर्वशी' आदि में भी। पर पहले में महालोला के विचार-बिम्ब हैं; वे हैं कर्मयोग, अग्नि का 'स्वाहा'-रूप; और 'उर्वशी है प्रतिपूरक—भोगयोग-संघात, सृष्टि की लास्य-लीला का राग-बिम्ब अग्नि का 'स्वधा'-रूप। संवेदन-प्रधान विचारात्मक अन्तर्वृत्ति से

परिचालित, अपेक्षया बहिर्मुखी कवि दिनकर के काव्यबिम्ब भावनात्मक-प्रज्ञात्मक अन्तर्वृत्ति से परिचालित अन्तर्मुखी छायावादी कवियों, खासकर निराला, प्रसाद से प्रकृत्या भिन्न होंगे ही। दिनकर-काव्य का मूलस्थ प्रतीक है, 'क्षिति→अग्नि→क्षिति'। यह छायावादी, खासकर 'कामायनी' के प्रधान प्रतीक 'जल→अग्नि→आकाश (सामरस्य) से तत्त्वतः भिन्न है। अतः 'उर्वशी' आदि के अग्नि-प्रतीक बन्धनयुक्त 'काम' के जो अग्नि-स्फुलिंग उगलते हैं, उनमें क्षिति-तत्त्व की रक्तिमा, दृढ स्पृश्यता और जादुई अच्छिन्नता है; जब कि 'कामायनी' के अग्नि-प्रतीक 'निर्बंध' अधिकार के ज्वलित कण छोड़ते हैं, जिनमें तारल्य और प्रवाहधर्मिता है। वे प्रज्ञा अथवा कल्पना के विविध क्षेत्रों में फैलते और अवकाश लाते हैं। दूसरे शब्दों में 'उर्वशी' में (कह लें, दिनकर काव्य में भी) खरी स्वीकार-वृत्ति है, कामायनी' में अन्तर्निहित नकार-वृत्ति। 'कामायनी' में पारदर्शिता विसर्जकत्व के कारण आई है; पर, 'उर्वशी' में उज्ज्वलता आई है खुलेपन के कारण। काल और अ-काल के पाश में बँधे पुरूरवा और उर्वशी की विकलता के सहारे नियति-बंधन में गिरफ्त छटपटाते प्राणियों की तड़प की खरी और खुली अभिव्यक्ति 'उर्वशी' में इतनी सफाई और निर्भीक मस्ती के साथ की गई है कि उसके पैने, ठोस और स्पृश्य बिम्बों में ऊर्ध्वोन्मुखता के स्थान पर 'उज्ज्वलवेशात्मकता' आ गयी है।

दोनों में मातृमूर्त्ति से विशीर्ण, आश्रय से भटके हुए आधुनिक मानव-समुदाय के प्रतीक-चरित्र हैं—चाहे वे पुरूरवा, मनु के हों, या कुमार और मानव के। संज्ञान आरोहण-प्रक्रिया में आत्ममुक्ति की भी प्रक्रिया है (इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साईसेज, भाग-११, पृष्ठ १७५)। मनु और पुरूरवा दोनों इस प्रक्रिया से गुजरते हुए चित्रित हुए हैं। 'अधिकार' और 'काम'-भावना की द्वयता से ('विषमता की पीड़ा से व्यस्त') आन्दोलित 'विश्व महान्', अथवा 'राग' और 'विराग' की द्विधा से विभाजित मानव-चेतना किस प्रकार 'अभेद सागर-रूप' 'अखण्ड आनन्द-रूप' चेतनता, अथवा 'अभग्न बहाव' में निश्चिंत हो सकती है, मातृमूर्त्ति की सम्प्राप्ति कर सकती है, यही दोनों ने अपने-अपने ढंग से बताई है। परंतु 'उर्वशी' में पौराणिक सम्मोहन के द्वारा जैविक चेतना की बात निपट मानुषी भाषा में रखी गई है, जब कि 'कामायनी' में मिथकीय रहस्य के सहारे आध्यात्मिक चेतना की बात भाव-वैपुल्य के साथ एक कल्पलोक के भी धरातल पर उठा कर प्रस्तुत की गई है। इसलिए 'कामायनी' के काव्यबिम्ब व्यंजक तो हैं, पर समग्रतः कृति का जागतिक 'फल' संदिग्ध-सा लगता है, और 'उर्वशी' के भास्वर तो हैं, पर उनमें आयाम उभरते प्रतीत नहीं होते। वैसे भी दिनकर काव्य में समभौमिक प्रसार तो अधिक है, पर लम्बवत् उत्थान या गहराई अपेक्षया कम है। दिनकर 'कामायनीकार की सीमाओं को अतिक्रान्त न कर सके हों' (जैसा कि डा० कुमार विमल 'मूल्य और मीमांसा' पृष्ठ १२८ पर 'कुरुक्षेत्र' और 'कामायनी' के एक सीमित प्रसंग को लेकर मानते हैं, जो

'अधिकार'- और 'काम-भावना' के संबंध में 'उर्वशी' की दृष्टि से भी सार्थक है।) फिर भी, दिनकर-काव्य में अन्तर्वृत्ति और अभिव्यंजन की जो वस्तुनिष्ठ, पौरुषपूर्ण एवं वैचारिक स्वच्छता है तथा समाज और विश्व-मानवता के प्रति जो उत्कट दायित्व-बोध है, वह ऐतिहासिक महत्त्व की देन है। उसमें गाँधी और नेहरू-युग की युवा-चेतना की पूरी धड़कन भी है, अधिकार मांगती जाग्रत जनता की खुली ललकार भी है और मानवीय नियति का विवश वैकल्य भी। यह उद्दाम पौरुष छायावादी काव्य को एक भराव तो दे ही गया, उसकी आत्मा और कलेवर में उसने नए प्राणरस भी डाल दिए। इससे दृष्टि ही बदल गई। स्वकेन्द्रिता (इगोसेंट्रिसिज्म) से सामाजिक यथार्थ की ओर, कर्तृत्व की अग्निभूमि की ओर प्रयाण काव्यपुरुष की निश्चय ही महत्त्वपूर्ण यात्रा है। निराला और दिनकर के दृढ़ चरण-न्यास से इसका समारंभ हुआ। आगे चलकर कवियों में लोक-सम्पृक्ति के भाव और भी सघन, जटिल और विविध होते गए। दिनकर का 'महाप्राण काव्य' उसके लिए 'मंगलमय महासेतु बंधन' भी है; फिर कर्माग्नि और निर्लिप्त विसर्जन, आत्ममुक्ति भी—

> बड़ी कविता कि जो इस भूमि को सुन्दर बनाती है,
> बड़ा वह ज्ञान जिससे व्यर्थ की चिन्ता नहीं होती,
> बड़ा वह आदमी जो जिन्दगी भर काम करता है,
> बड़ी वह रूह जो रोए बिना तन से निकलती है। —नीलकुसुम

लोक-सम्पृक्ति का भाव प्रगतिवादी और प्रगतिशील काव्य-प्रवृत्तियों में कुछ ठोस सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और मानवतावादी चेतना के साथ प्रबुद्ध, क्रियात्मक चेतना के साथ प्रकट हुआ। निराला, दिनकर, आदि के साथ-साथ नागार्जुन, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव, त्रिलोचन, नेमिचन्द्र जैन, मदन वात्स्यायन, आदि के व्यंग्य, ललकार, चुनौतियों से भरे, फिर भी मिट्टी की सोंधी गंध में बसे, टटके मानवीय चित्र, केदारनाथ अग्रवाल का (और मुक्तिबोध, नरेश आदि का भी) 'जीवन जोत कर किसान की तरह बोया और काटा गया' मानवीय चिंतन और प्रशस्त सौन्दर्य-बोध, लोक-जीवन के विविध पटलों, अंचलों, भंगिमाओं के साथ कवियों की सहज और सक्रिय एकतानता को प्रकट करते हैं। काव्य के तत्त्व, रूप, भाषा, प्रवृत्ति और लक्ष्य आदि सब-कुछ सामाजिक वस्तु माने गए और कवि भी सामाजिक चेतना को समर्पित उसका प्रबुद्ध श्रमिक, खम ठोकता योद्धा, विरूप यथार्थताओं के ध्वंस-राग का विप्लवी गायक और शुद्ध-बुद्ध मानव-समाज का व्रती उन्नायक-सा बनता गया। उसकी सौन्दर्य-भावना यथार्थमूलक, जनवादी, और दैनंदिन जीवन की सामान्य संवेदना, घरेलू सादगी हुई। कविता जैसे कड़ी और सख्त जमीन पर

खड़ी होने लगी। उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति, विधि और लक्ष्य में भी, मर्दानगी आई सीधी चोट और अचूक वार की विशेषताएँ उभरीं। वस्तु सत्ता का पक्ष जो उजागर हुआ, जिसमें प्रकृत मानवीय संवेदना पलती है, उससे उसके पालन-संरक्षण के लिए कर्म-चेतना भी सक्रिय हुई। ऐसी चैतन्य और कर्मण्य काव्य-विधा मे जो काव्यबिम्ब रचित हुए उनमे मनुष्य वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तःराष्ट्रीय आयामो में फैलता हुआ, दिक्काल विशिष्ट (साक्षात् सामाजिक, पर धर्मादि-निरपेक्ष) फिर भी निरवधि, सार्वभौम रूप मे प्रतिष्ठित होता गया। मूर्त्तता के भी विविध रूप-प्रकार और उनकी भंगिमाएँ-रीतियाँ आदि विकसित हुईं—प्रगतिवादियों की अपेक्षा प्रगतिशील कवियों के काव्य-बिम्बों मे अधिक। इससे उनमें रोमानियत भी आई तो खुलेपन के साथ, राजनैतिक आदि तंत्र भी आए तो वैज्ञिक और नाटकीयता के साथ। यह खुलापन मूर्त्त प्रखरता को अतिरिक्त आभा देता है। उसने 'कांति' आ जाती है। सामाजिकता और नाटकीयता उसे गत्वर भी बनाती है।

प्रयोगवाद और प्रयोगशील काव्यप्रवृत्तियाँ भी वास्तव में काव्यगत मूर्त्तता के अमूर्त्तीकरण की अदम्य वृत्ति से ही प्रेरित थी। वैज्ञानिक उपलब्धियाँ, औद्योगिक नागर सभ्यता और उन सबसे उत्पन्न सामाजिक, आर्थिक आदि नई उलझनों से कवि में नए प्रकार के दायित्व-बोध का अहसास हुआ। इससे काव्यभाषा, काव्यशिल्प आदि मे और विचार, भाव, संवेदना के संरूप प्रस्तुत करने की विधियों मे भी विविध प्रकार के प्रयोग हुए, तथा कुछ नवीन तथ्य, जीवन-दर्शन आदि भी स्थापित किए गए। इन सब के कारण परम्परित रूपविधानादि में परिवर्त्तन हुआ। इसमें अज्ञेय मुक्तिबोध, माचवे, धर्मवीर भारती, भारतभूषण अग्रवाल आदि अनेक कवियों के साथ प्रपद्य-वादियो का भी योगदान है। अमूर्त्तीकरण की यह प्रायोगिक विधि कुछ काल बाद रूढ़ और जड़-सी होने लगी, तो प्रयोक्ता कवियो ने, तथा साथ-साथ कुछ नवोदित कवियों ने भी, उसका अपने-अपने ढंग से भजन भी करना शुरू किया। 'नई कविता' की धारा उस व्यापक प्रवृत्ति को समेट कर चल रही है जिसमे मूर्त्तन और अमूर्त्तन की—राग और ध्वस की—युगपत् वृत्तियाँ है।

इन कवियों में 'अज्ञेय' पूरे साहित्य के क्षेत्र में 'आधुनिकता' के कल्पक, उसके आन्दोलन के नेता और रचनात्मक-आलोचनात्मक साहित्य-निर्माण द्वारा नवीन मूल्यों के अन्वेषक-प्रतिष्ठापक रहे हैं। देश-विदेश की यात्राओं से उनके कला-संस्कृति, विचार परम्परा आदि के संस्कार उदार, समावेशी और

गहन होते गए हैं। उन्होंने औद्योगिक महानगरियों की 'मृषा' 'तृषा' और भीति ('पश्चिम के समूह-जन') का साक्षात्कार किया, 'नंगे अंधेरों' में 'चौंधियाते तथ्य', 'उधार के समय में खरीदे हुए प्यार पर चुराई हुई मुस्कानें, चलती फिरती पपड़ाई सूरतें, इश्तहारों नंगी मूरतें' देखीं, और अपने देश की ठोस, पर उज्ज्वल विभूति, उत्सर्गपूर्ण पर व्यक्तित्व-मण्डित प्यार, यानी मिट्टी की बास में बासित सुनील शुभ्र गगन—'ऋत' और 'सत्य', 'धरती' और 'आकाश' के ऐकात्म्य की संस्कृति की गरिमा पहचानी। साथ ही मानवीय सभ्यता के विविध रूपों के साक्षात्कार से उनके मानव-बिम्ब में गहराई के साथ फैलाव भी आ गया। आत्मबोध समावेशी और गहन हुआ। फलतः उनके काव्यबिम्बों में वैश्विक विस्तार, बौद्धिक तार्किक रूप-गठन, निर्भाषिक स्तर की (इस सम्बन्ध में एडवर्ड सापिर का पृष्ठ-३३५-६ पर उल्लिखित मंतव्य देखें), अनुवाद-क्षम कलात्मकता और आदिम नदी तक को छेड़ने वाली सहज, सुबोध भाषिक भंगिमा की अन्तर्महादेशीय विशेषताएँ विकसित होती गई हैं। 'भग्नदूत', 'इत्यलम्' आदि प्रारंभिक कविता-संग्रहों की कैशोर भाव-प्रवण उद्दाम रूमानियत और तनाव के स्वमुग्ध, फिर व्यक्तिवादी विद्रोही तेवर—कहा जाय, व्यक्तित्वाभासी, छायात्मक, और आद्यनारी के पृष्ठ ५०४-५०६ पर वर्णित आर्केटाइप के प्रकाशन—धीरे-धीरे 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' में संतुलित मुद्रा में बदलते गए हैं और 'अरी ओ करुणा प्रभामय' से लेकर 'सागरमुद्रा' तक की रचनाओं में 'आँचल पसार कर लेने' और विराट में जुड़ने की विह्वल कृतज्ञता में—'कहीं मुझे तोड़ दो सागर, मुझको और मुझको, कहीं मुझसे जोड़ दो सागर' की रिरियाती टेर में—जैसे आद्यमातृका के आर्केटाइप में सहज और प्रकृतिस्थ होना चाहते हैं। इस प्रकार 'अज्ञेय' अपनी कविता-सर्जना की यात्रा में भी सामूहिक अचेतन के गहन मनोलोक तक का अवगाहन करते दिखाई पड़ते हैं। साथ-साथ उड़ सकने वाला 'अपना समकक्षी एकमात्र वह कंचन पक्षी' माँगने वाला 'हारिल' अब जैसे 'महाशून्य' के शिविर में 'महामौन दिग्विहीन बह रही सरिता के किनारे' आ गया है; जहाँ—

> नहीं भोर-सँझा उमगते-निमगते। वहाँ एक अन्तःस्थ आलोक अविराम रहता पुकारे
> यही ज्योति-कवच है हमारा निजी सच...। —सागर मुद्रा : विदाई का गीत

यह यात्रा ठोस धरती की वास्तविकता से शुरू होती है, पर धीरे-धीरे 'सारसों की जोड़ी' और 'बादलों की कौंध' के परस्पर ओझल होते हुए द्वन्द्व में, 'याद की ओट याद की ओट याद' में 'नभ की गहराई' भी महसूस करा जाती है; और 'लहर पर लहर पर लहर' के अविराम थपेड़े भी, जिसमें एक उन्मन, दुर्निवार पुकार गूँजती है—

> वह दूर, दूर सुनो, कहीं लहर लाती है और भी दूर, दूरतर का स्वर।'

यह अजब नहीं है कि 'अज्ञेय' के प्रारंभिक बिम्बों में जो आच्छन्नता, वेग, नवीनता का आक्रामक मोह—परपीडकता—थी, बद्धताएँ थीं, वे धीरे धीरे झरती, उदात्तीकृत होती गई हैं (और बाद की कविताओं में अन्तर्लीन भी) और उनमें एक स्निग्ध ठंडक, भक्ति-भावना-जैसी, पर विश्वस्त आस्था, और समर्प्यमाणता की कोमल गरमाई आती गई है। और यह भी अचम्भे की बात नहीं कि कविता की विकास-यात्रा में क्रमशः व्यक्तित्वाभासी, छायात्मक, आद्यमाता और प्रौढ़विवेकी के आद्यप्रतीकों का उत्तरोत्तर अधिकतलीय प्रकाशन होता गया है। और फिर अंततः वे 'मंडल-प्रतीक' में पर्यवसित भी होते हैं। तब उस विराटता अथवा 'गगन की उदधि की इकाई' में आदमी की सत्ता, उसकी साक्षात् उपस्थिति कम-से-कम होती गई है। परन्तु मानवीय भावना और उसकी चेतनता की सर्वोपरिता—'अविराम आंदोलन : शांति, ध्रुव आस्था, सनातन की ललकार'—अधिक-से-अधिक उभर सकी है। एक अकम्प, आत्मीय स्वर, आश्वस्त और साधनापूत वाणी गूँजती है—जैसे सबके ऊपर एक अलौकिक सुगंध व्याप्त हो रही हो—

> तुम से मैं कहता हूँ तुम्हारी ही बात जैसा तुम सुनकर जानोगे...
> तुम्हारी ही लाख-लाख प्रतिबिम्बों में कही जाती
> लाख-लाख स्वर-धाराओं में अविराम बही आती
> तुम्हारी ही बात पहचानोगे। या फिर पाओगे
> कि वह तुम्हारी से भी आगे सबकी बात है, ऐसी सबकी
> कि किसी की नहीं है, कभी की नहीं है।
> पर अपने में और अपने-आपमें स्वायत्त, स्वतः प्रमाण होने के नाते
> ठीक यहीं की है और ठीक अब की है। —सागर मुद्रा

निश्चय ही यह 'ऊपर' से अवतरित 'बात' है, मसीहा की है। पर मूल कथ्य यह, कि कला की मंत्रणा अहं-त्वां-(इदं) में ऐसा ही ऐकात्म्य लाती है। लेव्ही ब्रुह्ल ने इसे 'पार्टिसिपेशन मिस्टिक' नाम दिया था। उस जादुई और आदिम ऐकात्म्य-बोध के साथ 'अज्ञेय' की कविता में विकासमान विवेक से आलोकित और करुणा से अनुप्राणित लोक-सम्पृक्ति और भाव-तन्मयता के, समझदारी और साझेदारी के भी बिम्ब हैं। तन्मय क्षणों में सभी कृती कवियों की भाँति 'अज्ञेय' भी अनुभव की उस दशा का स्पर्श करते हैं, और आस्वादक को भी अनुभूत कराते हैं जो पृष्ठ ४४५ पर अनुभवैकगम्य, सार्वभौम और सार्वकालिक बताई गयी है, और जिसके सम्बन्ध में युंग 'माडर्न मैन इन सर्च आफ ए सोल' पृष्ठ १६४-१६८ पर बताते हैं कि, वहाँ—

> व्यक्ति-मानव नहीं रहता, 'शुद्ध मानव' रहता है। अकेले और एक व्यक्ति के निजी अनुभव की वहाँ कोई सत्ता नहीं है; वहाँ केवल 'मानवीय सत्ता' विराजती है। और आद्यप्रतीक 'मंडल' के गर्भ में कोई दैवी मूर्ति नहीं रहती, न उसके प्रति समर्पण या सहयोग का भाव होता है; लगता है देवता के स्थान पर 'मानव की सम्पूर्णता' विराज रही है।

अतएव वहाँ मानव की साक्षात् उपस्थिति न पा कर चौंकना बचकाना हरकत होगा।

बात यह है कि 'अज्ञेय' अपनी कविता-निर्माण में मूर्त्त स्पृश्य से लेकर अमूर्त-अगम तक को एकीकृत करते हैं। 'अज्ञेय के मुहावरे में कहा जाय—

मूर्तमानव, यह सही है, सब व्यर्थ है, पर इसी लिए कि मानवातीत कुछ अर्थ है।

उनके काव्यबिम्बों में एक अन्तःस्थित चेतन-शक्ति ऊर्जित प्रतीत होती है, जो मानव और मानवातीत, निकृष्ठ और श्रेष्ठ, पराक्रमी और दिव्य, जादुई भीति और रहस्याच्छन्न परमात्म-बोध, अहंपूर्ण व्यक्तिवादिता और निःसग, निर्लेप अन्तर्वैयक्तिकता, चुम्बन और यज्ञ-ज्वाला, खुला विद्रोह और विनत कृतज्ञता, 'मुँहझौसी चिमनियाँ' और 'धृति-पारमिता' (जैसे शब्द), ठोस स्पृश्य भौतिकता और अगम दूरी ..निर्धूम निर्वाक्-स्थिति सब को समेटे रहती है, सर्जना करती है, और फिर सबको लील जाती है कि पुनः सृष्टि-क्रम चल सके—रूप : रूप, रूपायमान रूपायित। और यह रूप-तृषा भी—

रूप-तृषा भी (और काँच के पीछे)
है जिजीविषा।

अज्ञेय की कविता का संसार तनावों के परमाणुओ से बना है। वास्तव में वह तनावों से भरे आधुनिक मानवीय जगत् का, तथ्यों का, साथ ही वैश्विक लोलाजगत् का, सत्य का बिम्बात्मक शाब्द प्रतिरूप है। 'काँच के पीछे हाँफ रही मछली' हो, चट्टान से टकराता, पछाड़ खाता सागर हो, 'अन्तहीन अकूल अथाह सागर का थपेड़ा सहने वाली' लहर हो अथवा रूप निहारने वाले 'हम' हों, या कि अनुभूति और कवि-कर्म, या अर्थ और शब्द ही क्यों न हो, सबकी 'जिजीविषा', स्व-चेतना यहाँ तनाव-भरी है। ध्रुवीयता अज्ञेय की कविता की शक्ति है, चैतन्य ऊर्जा है। काव्यबिम्बों की रचना में अमूर्त्तन और मूर्त्तन, भावनात्मकता और बौद्धिकता, छान्दिकता और गद्यात्मकता आदि के संयोग में भी वही प्रविधि है—ध्रुवीयता की। 'अहता' के तनावों का (टेन्सन ऑफ इगोज) यह काव्य-जगत् एकदम आधुनिक संसार-सा है।

छायावाद और नव-स्वच्छन्दतावाद के पूर्ववर्त्ती अथवा समकालीन कवियों के द्वारा छूछे कर दिए गए पौराणिक, साम्प्रदायिक, मजहबी प्रतीकों, प्रसंगों ऐतिहासिक, आदि नामों और 'मैले हो गए उपमानों' से 'अज्ञेय' की काव्य-भाषा प्रायः सचेत रूप से रिक्त होती जाती है, पर बावजूद इसके उसमें जो लीला-भंगिमाएँ, अभिप्राय (मोटिफ्स) हैं, 'गोएँठ पर देर तक गरमाए गए दूध की धुईली बास' और 'शुक तारे की थिर और स्वाती की कँपती जगमगाहट', के साथ 'पीपल तले छोटे दिवले की मनौती-सी डरी सहमी लौ' आदि हैं, वे सब भारतीय हैं। भारतीय परिवेश, परम्परा, कृषि-संस्कार, लावण्य, अभिजात्य, उत्सर्ग-भावना, श्रुति, और आत्मविश्वास से वासित-दीपित इस काव्यभाषा में शालीनता, पारदर्शिता और सहजता भी है। पुनः उसके अंदाज और मिजाज—

बाँकपन और ठंडापन 'अज्ञेय' के एकदम अपने हैं। अमूर्त्तन की प्रक्रिया से भी मूर्त्तन ले आना—यही अज्ञेय की काव्यभाषा की 'अस्मिता' है। बात यह है कि उसके शब्द-चयन में 'आलोक-छुआ अपनापन है', उसकी आनुपूर्वी ऐसी है कि जैसे 'अस्पृश्य छुवन' से 'मंत्रपूत वीणा' छेड़ी जा रही हो, जिससे पूर्व और पश्चिम, प्राचीन और आधुनिक, लोकगीत और प्रकृति की बहुत सारी लयें फूट चलती हैं, और विविध वाद, प्रविधि आदि का ठाठ बनता है और सब-कुछ मिलजुल कर कविता की भावमूर्त्ति अथवा विचार-बिम्ब प्रस्तुत करते हैं। भीतर से गढ़े गए या उपजे काव्यबिम्ब, और शब्द भी, 'अद्वितीय', चमकीले और पहलदार हो जाते हैं—रंगीन, लेकिन रंगतों की घुलावट में उज्ज्वल, रंगहीन। अपनी चमक, जमाव, टकराहट, बहाव और अपने बीच के फासले तथा व्यंजित दूरी से काव्यबिम्ब 'काल' की अप्रतिहत गति और 'देश' के साथ के टक्कर की भी व्यंजना करते हैं। उनके बीच से फूटती हुई पुकार ('तुम कहाँ हो नारि!'), सम्बोधन (ओ पिया पानी बरसा!) विस्मयादिबोधक (तुम्हें मैंने आह! संख्यातीत रूपों में किया है याद) या कि नादावृत्ति आदि के कारण काल-गति और दैशिक स्थैर्य के बीच की दुर्निवार ललकार का स्वर और भी बेधक और सघन होता है। हालाँकि अनुकरणात्मक और सम्पर्कगत जादुई आच्छन्नता के तत्त्व इन बिम्बों में अनेक हैं, यथा—ज्योतिर्मयता, विस्तार, 'सन्नाटा में चौंक नदी की जगी चमक'-जैसा नाट्यात्मक मानवीकरण, बूँद, मछली आदि की उछालें और चौके में आटे की उछलने की संभावना, तीव्र गति, फिर भी स्थैर्य, उदात्तता फिर भी चित्रात्मकता, खण्ड अथवा क्षण में निस्सीम और निरवधि का, लहर और चुप्पियों में पारावार और अमरताओं का परिदर्शन (विहुवन', रहस्य अथवा कुतूहल और विस्मय से भरे कथन आदि—किन्तु नादात्मक गूँजों से इन सबका असर बहुत बढ़ जाता है। यह प्रविधि 'निराला' की है, पर 'अज्ञेय' में वह उनकी अपनी जैसी हो गई है; अर्थात् वह भी 'अद्वितीय' है।

पुनः ऐन्द्रिय बिम्बों और नाद-व्यंजना की प्रतिस्पर्धिता से निर्मित काव्य-संरूप से ऐसा भी लगता है कि जैसे कविता पृथ्वी (क्षितितत्त्व) और आकाश, अर्थात् स्थिरता और गति—आद्यमातृका और आद्यपितृत्व-प्रतीक-का यौगपत्य प्रस्तुत कर रही है। तब 'अज्ञेय' की कविता 'पहाड़ी यात्रा'-सी प्रतीति देती है—

> मेरे घोड़े की टाप
> चौखटा जड़ती जाती है
> आगे के नदी-व्योम-पर्वत के आसपास
> मैं एक चित्र में
> लिखा गया सा आगे बढ़ता जाता हूँ।
>
> —अरी ओ करुणा प्रभामय

'घोड़े की टाप' यानी नाद और गति पितृत्वमूलक, तथा 'मैं' का 'चित्रत्व' मातृत्वमूलक आद्यप्रतीक के बिम्ब हैं। कवि और कविता दोनों आगे बढ़ते गए हैं, पर 'चित्र-लिखे-से'; अर्थात् स्थिर होते हुए, रुक-रुक कर ('सम्पराय', 'नदी के द्वीप' आदि में भी यह भाव है), पड़ाव का रस लेते हुए। पर, वास्तव में जीवन है गति; कविता भी है—

झरना · झरता पत्ता हरी डाल से
अटक गया ! —सागरमुद्रा

यहाँ भी 'झरना' और उसका 'झरता पत्ता'-रूप बिम्ब पितृत्वमूलक दान और मृत्यु, यानी गति (बहाव) के संकेतक है और 'हरी डाल' जीवन, यौवन, प्रकृति अर्थात् आद्यमातृका की व्यंजना करने वाली । 'अटक गया' गति में स्थैर्य को, उसी 'आनन्दलहरी' को सूचित करता है जो आद्यमातृका का जीवन-रस है। यह भी महत्त्वपूर्ण है कि आद्यपुरुष-रूप प्रतीक के बिम्ब—घोड़े की टाप=चौखटा, झरना=झरता पत्ता—ऊपर हैं, दाता की महिमा, निःसंगता के सूचक; और आद्यनारी के संकेतक बिम्ब नीचे है; पृथ्वी, धरती आदि के हैं, जो 'बीज' को ग्रहण करती, पोषण देती है । गति में स्थैर्य की श्री-सुषमा के लिए ललक, और स्थैर्य में गति की 'सनातन ललकार' के लिए उदग्र पर्युत्सुकी भाव—यह ध्रुवीय आन्दोलन, जैसा कि ऊपर निवेदित किया गया, बुनियादी ऊर्जा है । कवि ने इसके लिए 'युग्म' का नाटकीय विधान रखा है । जोड़े का प्रत्येक अपनी विशिष्टता में अद्वितीय है । अतः उनकी ऊर्जा अपनी-अपनी वृत्ति-प्रवृत्ति के अनुसार फूटती है । इस निरन्तराल द्वन्द्व के धरातल 'अज्ञेय' की कविता में जीवन-जगत् के व्यापक क्षेत्र और गहरे तल के हैं । इनमें से—

कुछ परम्परागत हैं, यथा—सागरXलहर; समुद्रXबूँद; मैंXतुम; व्यष्टिXसमष्टि आदि, जिनका नवीनीकरण किया गया है, और कुछ एकदम नवीन, यथा—मैंXहम; फूटता फूलXबुदबुदाता अंधकार; पौधे से फूल की याचनाXकवि से काव्य-याचना; शांतिXक्रांति, डाह से सिहरती चाँदनीXप्रस्फुटन आँक जाने वाली शेफाली; पुनः आऊँगाX'अरे यायावर रहेगी याद'; हैXहोता है,सत्य (अर्थ)Xशब्द; शब्द X शब्दातीत अर्थ; तेजोमय अकेलाXनिर्भीष, निरीह अकेली; प्रकृति-प्रदत्त सूर्यXमानव-निर्मित सूर्य; जो कहा गयाXजो कहा नहीं गया; इतिहासXअनाम अर्पित जीवन आदि ।

अधिकांशतः वे प्रकृति—जल, थल, आकाश—के क्षेत्र के तो हैं, पर कविकर्म तथा हृदय और मस्तिष्क के क्षेत्र के, मानवीय भावना और आध्यात्मिक भावना आदि के दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक क्षेत्रों के भी हैं । उनके रूप-संस्थान भी कहीं भाव-प्रधान है, कहीं विचार-प्रधान और कहीं मिश्र । उनके बीच के कर्षण-व्यापार में यौनवादी भंगिमा भी है, मिथुन-लीला की आनन्दलहरी (देखें पृष्ठ-६९) भी, अस्तित्ववादी परिताप और क्षणभंग निष्करुण अवसाद भी। वहाँ 'रहेगी बस एक मुट्ठी खाक !' की 'क्लान्त बेसुर डाक' भी है, विपन्नता भी है, तो ऋणस्वीकारी विनय भी—'किन्तु जब आए काल—खुली पाए प्राण की मंजूषा—विसर्ग महाप्राण है !' और फिर आश्वस्त, पर मस्त लापरवाही भी—

यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्तिनाशा घोर काल प्रवाहिनी बन जाय—
तो हमें स्वीकार है वह भी । उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम । जमेंगे हम । कहीं फिर पैर टेकेंगे ।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार ।
मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना । —हरी घास पर क्षण भर ।

सारांशतः उनमें है 'द्वार के आगे और द्वार : किन्तु हर बार मिलेगा आलोक झरेगी रसधार' की ईश्वर-भावित सम्पन्नता भी। उनके बिम्ब आणविक (माइक्रोस्कोपिक) प्रस्तुति करने वाले प्रतीक-जैसे भी हैं, विभु (कॉस्मिक) भी। प्रवाहधर्मिता तो ऐसी है कि एक स्थल पर जो अन्योक्तिपरक अथवा रूपक-जैसा एकार्थी प्रतीत होता है, दूसरे ही स्थल पर वह नानार्थी बनता है। 'सागर-मुद्रा' और 'असाध्य वीणा' उनकी लम्बी कविताएँ है जिनमे से प्रथम में यात्रा के दृश्य वृत्तान्त के चिंतन-भावन से उच्छ्रित और दूसरी में पुरावृत्तात्मक कथाधारा में प्रवहमान बिम्बों की दिक्काल-व्यापी प्रस्तुति की गई है। किन्तु दोनों का मूलभूत निष्कर्ष प्रायः समान है—'अस्मिता' का 'परमता' से संयोग—'क्षिति और सागर मिल जाते हैं, शब्दों से परे एक नाद मे,' अथवा 'महाशून्य, वह महामौन, शब्दहीन सब में गाता है।' रूपों के अरूप में लहरा उठने की कोमल से कोमलतर भंगिमाएँ और फिर अरूप के रूप-स्पर्श से खिल उठने, जुडने-बिछुडने की मौन मुग्ध लहरियाँ, अज्ञेय की कविता से अनवरत निकलती चलती हैं—कहीं दृश्य कहीं श्रव्य, कहीं स्पृश्य और मिश्र—सभी गत्वर, सभी नाट्यात्मक, सभी मानवीय भाव-दशाओं की हल्की, गाढी, रुखी, भीगी, शीतल, उष्ण आदि विविध मुद्राओं-भंगिमाओं से युक्त। एक चट्टान है, सागर उमड़ता है, उससे टकराता है, पछाड खाता है—न कहीं आदि है, न कोई समाधान, केवल—

परस्परता के तनावों का एक अविराम व्यापार—
हमें एक भव्यता का बोध है
विराट् सौन्दर्य की पहचान है।
आवेग निर्व्यतिरेक निरन्तराल

और इसमें
एक तृप्ति है, अहं की तुष्टि है, विस्तार है,
... ...
प्यार का अन्तहीन संग्राम : यही क्या प्यार है?
—सागर मुद्रा

एक तृप्ति, विस्तार, विराट् की पहचान—यह कार्ल यास्पर्स का ईश्वर-भावित—अस्तित्ववाद (देखे पृष्ठ ३५८-३६१) ही नहीं है, भारतीय भी है। हाँ यह अस्तित्ववादी या भारतीय, या जो भी, प्रश्न तो रह ही जाता है—यही क्या प्यार है ? प्यार तो यह है, पर उसके साथ 'अकेलापन, अकुलाहट, असमंजस, अचकचाहट...यह द्वैत... अंधकार में जाग कर सहसा पहचानना कि जो मेरा है, वह ममेतर है' (कितनी नावों में कितनी बार)—यह भी न लगा है। और 'अज्ञेय' की कविता में यही जीवन है—अन्तहीन खोज के संग्राम में लहर की भाँति अर्पित रहना। वे उस 'लहरिल प्रवाह' में 'गरमाई, मिठास, हरियाली, उजाला'...भी पाते हैं और 'बोध भव्य निर्व्यास निस्सीम का।' अब सवाल होता है, कि यह बोध है ही, तो फिर 'अस्मिता' का बोध क्यों ? अकेलापन क्यों ?

एरिक फ्रॉम के (सेन सोसाइटी, फियर फ्रोम फ्रीडम, दि आर्ट ऑफ लव्हिंग में प्रतिपादित) चारों के अनुसार—और वैसे विचारो का संकेत पृष्ठ ३५५-३६६ और ६६१-६६२ पर अन्य सूत्रों दिया जा चुका है—अकेलेपन से छुटकारे के लिए व्यक्ति मिथकीय चेतना, पूजाकृत्य, सामूहिक

त्योहार, आदि में तल्लीन होता या इलहाम-जैसी मत्तता अथवा रति-क्रीड़ा में डूबता है। ये सारे कृत्य गाढ़ी बेखुदी लाते तो हैं, किन्तु क्षणिक हैं। सामाजिक रीति-रिवाज, सत्ता-निष्ठा और प्रतिष्ठान-भक्ति से भी त्रास-मुक्ति होती है। यह ठढा और निर्णीत व्यवहार-पद्धति भी है। परन्तु इसके द्वारा जिस समबोध (सेमनेस) की दीक्षा मिलती है, वह एकत्व-बोध (युनिटी) के विपरीत पडती है। आतक और भयप्रेरित होकर यह समबोध स्तरीकरण और पंक्तिचालन की जडता भी लाता है। फलत अपने अकेलेपन के बोध से व्यक्ति अन्दर-अन्दर टूटता, और विद्रोही होता है, अन्तत॰ विस्फोटक भी। कलाकार अपनी कलारचना में, और द्वारा, वास्तविक एकता की प्राप्ति करता है। वह अकेलेपन से छूट निकलता है क्योंकि वह प्रकृति से तन्मय, अन्त-र्वैयक्तिक मिलन के लिए आकुल और आद्यचेतना एवं आधुनिक चेतना तक को एकीकृत किए रहता, अथवा ऐसा करना चाहता है। यह तन्मय प्रेम आधुनिक काल में आकर मध्ययुग तक के आत्म-विसर्जन-प्रधान प्रेम से प्रकृत्या भिन्न हो गया है। असल बात यह है कि प्रेमप्रधान एकता की दो कोटियाँ हैं—एक अभेदमूलक, यानी एकमूलद्वैत का मिलन, जैसे माता और पुत्र का प्रेम। इसमें एक ही मूल से निकलने वाला दूसरा (पुत्र) प्रतिक्षण वियुक्त होता हुआ भी बुनियादी रूप से एक ही है; अपने को वैसा ही समझता है। मातृत्वमूलक यह प्रेम निर्हेतु, अनायास और अवश्य लब्ध है; जैसे घर, प्रकृति, मिट्टी, जल-समुद्र, ··पृथ्वी। शिशु-प्रेम ऐसा ही होता है। मध्ययुग तक की धार्मिक भावना और प्रेम-पद्धति प्राय. मातृत्वप्रधान रही है। दूसरा प्रकार है, भेद-प्रधान, यानी व्यक्तिता-संवलित, सत्त्वपूर्ण और चेतन प्रेम। इसमें दो विषम चेतनाएँ संतुलित होने के लिए 'परस्पर तनावपूर्ण सघर्ष' करती हैं, जैसे भाई-भाई या पिता-पुत्र का प्रेम। यह प्रेम सहेतु, सायास-लब्ध है—प्रकृति का निर्झर-जगत् नही है, विचार, सभ्यता, नियम-व्यवस्था, साहस, यात्रा॰ आदि योग्यता के प्रतिमानो में खरा उतरने का विकट स्पर्धी ससार है। यह विवेकाश्रित परिपक्व और सक्रिय प्रेम है—दो विषम चेतनाएँ दो रह कर भी प्रतिपूरकता के सघात के लिए विकल रहती हैं। ऐसा समीकरण आधुनिक और वैज्ञानिक रूप से एकत्व-विधायक भी है। अखण्ड और व्यापक 'व्यक्तिता' की सम्प्राप्ति ऐसे ही सक्रिय प्रेम से संभव है। क्योंकि इससे स्वग्रस्तता से उत्तीर्णता और बद्धताओ से मुक्ति मिलती है। ऐसे प्रेम से 'अस्मिता' में जैसे बाढ़ आ जाती है; आत्मचेतना उत्तरोत्तर फैलकर 'परम' तक का सान्निध्य पा लेती है।

'अज्ञेय' की कविता में अभेदात्मक और भेदात्मक दोनो प्रकार के मिलन के काव्यबिम्ब हैं। यह एकदम अलग बात है कि इस प्रवृत्ति को बुद्ध के 'अप्पो देवो भव' से, तुलसी की 'भेद-भक्ति' और मध्ययुगीन संतों की भेदाभेदी प्रपन्नता आदि से जोड़कर समझा जाय या ईश्वर-भावित अस्तिवाद के साथ मिलाकर। इससे मूल बात में अन्तर नही पड़ता। उनकी मूल प्रकृति 'निजत्व' अथवा 'अस्मिता' को संवृद्धि करते हुए 'पर' और 'परम्' के प्रति समर्प्यमाणता की है। इस कारण ही उनका ससार खोज के निरन्तराल सघर्षों का संसार है। और फिर उनका अकेलापन वैभवपूर्ण (पृष्ठ-३६७-३६८ देखें) भी लगता है।

उनकी प्रारंभिक कविताओं में पितृत्वप्रधान आर्केटाइप विद्रोह, आक्रामकता, व्यंग्य आदि के वीरत्वाभासी (अतः भेदात्मक) तेवर में प्रकट हुआ था; धीरे-धीरे वह 'प्रौढ़ विवेकी' के तलीय स्फुरण से परिचालित बिम्बों में व्यक्त होने लगा है। मछली की तड़प, बूँद की उछाल, सागर-मुद्रा की चट्टान, बावरा अहेरी, आखेटक, सेतु, 'नदी के द्वीप' के भूखंड, 'धारा पर संतार दो' के स्वर, 'अनपहचानते पितर···आदिम रुद्र भाव' से बचने के

आदेश,' टेसू' के भ्रातृत्वमूलक दायित्वबोध में तथा अनेक कविताओं की शरारती हरकत, फक्कड़ाना मस्ती, दुनिया की बेमानी, विसंगत, चक्करघिन्नी (ऐब्सर्डिटि और नानसेंस) पर फब्तियों (आज मुझे हँसना चाहिए, कालूघड़ी, सोया नींद में को, छातियों के बीच, नशे में सपना आदि), सूक्ति-कथनों में और तार्किक, वैज्ञानिक रूपगठन आदि)में उसी के सम्प्रसारण हैं। आद्यमातृका के अगम क्षेत्र से रचनाएँ फूटती हैं। इसलिए ममत्व, दाक्षिण्य, प्रणति, मुदिताभाव, समर्पण और उन्मोचन के बिम्ब, प्रतीक, रूपक उसी की करुणा के रूप हैं, जो लहर, सागर, चाँदनी, प्रस्फुटन आँकनेवाली शेफाली, नदी, 'तुम-तुम सागर क्यों नहीं हो ?' पूछनेवाली तरुणी, 'मिट्टी की क्रियमाण सृष्टिशक्ति' आदि में प्रकट हुए हैं। इसी के प्रभाव से 'अद्वितीयत्व' 'निजीपन' 'यायावर' के पितृत्वप्रधान बुनियादी भाव 'दाता रूप' ग्रहण करते हैं; 'मृत्यु' की भी आश्वस्त भाव से स्वीकृति होती है। फलतः, इधर की कविताओं में अरूपता, रिक्तता, वस्तुत्वहीनता, और मौन भी 'दिक्कालविहीन' ही सही, स्थितिरूपता पा लेते हैं। दूसरे शब्दों में आद्यमातृका और पितृत्वप्रधान प्रतीक संतुलित हो गए हैं।

'निराला' की भाँति 'अज्ञेय' अन्तर्मुखी चिंतनात्मक-प्रज्ञात्मक वृत्ति के कवि हैं, अतः मूलतः गहराई के कवि हैं, न कि फैलाव के। वस्तु-तत्त्व के प्रति रागहीन निश्चेष्टता, किन्तु उसके भावनात्मक अरूप-तत्त्व के प्रति सचेत रागमयता, बिम्ब पर बिम्ब की रचना की चक्राकार गति, और अन्ततः ऐसे बिम्बों की सर्जना जिनका लगाव बाहरी वस्तु-सत्ता से कम, पर अगम, अज्ञेय के प्रतीकत्व से गहरा हो—उनकी वृत्ति के सहज-धर्म हैं। फलतः उनके काव्यबिम्बों में बदलते हुए समाज की सचाइयों से टकराने के जो ताप और मरोड़ प्रारंभिक कविताओं में थे, वे क्षीण होते गए हैं। पर, उनका 'सत्य' 'आँसू में गले, रक्त पर पले, अनुभव के दाह पर क्षण-क्षण उकसती चिता पर साथ-साथ जलने वाला और भस्म हो भभूत बनकर अंगों में रम जानेवाला' सत्य तो है। इससे काव्यबिम्बों में गहरी आत्मीय संवेदना और 'पारमिता करुणा' आ सकी है। और इसी कारण काव्यबोध तथा काव्य-रचना को वे नया आयाम भी दे सके हैं। जहाँ तक वे 'वस्तुस्थिति का बिना त्रस्त हुए सामना करते और अपनी क्षमताएँ खोलकर जीवन को अर्थ दे सके हैं' वहाँ तक वे अपनी साधना में वरेण्य हैं; क्योंकि, फ्रॉम के अनुसार 'इसके सिवा उसका कोई अलग अर्थ होता भी नहीं।' 'फूटे हुए पीपे से तेल-सी बूँद-बूँद अनदेखी चुई काल की मिट्टी में रची गई जिंदगी' को जो अर्थ 'अज्ञेय' के काव्यबिम्ब देते हैं वे हैं, अस्मिता की संवृद्धि, और मुक्तता की खोज; ऐसी कि 'सब हममें खो गया, हम भी हम में खो गए'...फिर लम्बी यात्रा और सागर का चट्टान से टकराना; और तब पुनः,—एक ही समीर से सिहरते एकराग होना, अर्थात् 'व्यक्तिता' की निरंतराल खोज, जिसमें तात्कालिक उपलब्धि का लघु तोष भी है, और बृहत्तर के लिए अनन्त वैकल्य भी। आत्ममुक्ति की यही प्रक्रिया 'प्रवृत्ति' है भी।

'अज्ञेय' के समकालीन और परवर्त्ती अनेक कवि अपनी-अपनी विधियों से 'अस्मिता' की खोज कर रहे हैं, आत्ममुक्ति की साधना में लगे हैं। उनके बिम्बों में भी निजी विशेषताएँ हैं। उनमें 'मुक्तिबोध' विशिष्ट चिंतक और मौलिक स्रष्टा थे। 'प्रतीक'-शैली और फैंटेसी की पद्धति अपना कर उन्होंने कविता के लिए एक नया मार्ग निकाला और महाकाव्यात्मक आयाम वाली कृति 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में उसका सशक्त रूप से प्रयोग किया। पिछले पृष्ठ ४६५-८ पर काल के स्वरूप और फिर पृष्ठ ४७७-४८६ और ५३४-६ पर कवि द्वारा उसके निर्मम, निरवधि प्रवाह के साक्षात्कार और उस पर विजय की विधियाँ बताई गई हैं। अज्ञेय ने समर्प्यमाणता द्वारा दिक्काल-सीमा से उत्तीर्णता और व्यक्तिता की सम्प्राप्ति की विधि बताई। 'मुक्तिबोध' अपने काल को त्रास समझते थे। उनकी नीति उससे जूझने की है। उनकी सामाजिक पीड़ा अधिक व्यक्तिगत, अतः गहरी और तलस्पर्शिनी है। 'फैंटेसी' उनके लिए 'अनुभव की कन्याएँ' हैं, क्योंकि—

जितना ही तीव्र है द्वन्द्व क्रियाओं का घटनाओं का बाहरी दुनिया में
उतनी ही तेजी से भीतरी दुनिया में चलता है द्वन्द्व

यह बात उन्होंने कई प्रकार से कही है,

मर गया देश, अरे, जीवित रह गए हम।
जन-मन-करुणा-सी माँ को हँकाल दिया
भावना के कर्त्तव्य—त्याग दिए
... ...
अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब
तब कहीं देखने को मिलेंगी बाहें
अरुण कमल एक
झील के हिम शीतल सुनील जल में

लो-हित-पिता को घर से निकाल दिया,
स्वार्थों के टेरियर कुत्तों को पाल लिया
हृदय के मन्तव्य—मार डाले
...
उठाने ही होंगे।
पहुँचना ही होगा दुर्गम पहाड़ों के उसपार
जिनमें कि प्रतिपल काँपता रहता
ले आने उसको धँसना ही होगा

—अन्धेरे में—

और मुक्तिबोध ने हिमशीतल जल की झील में साहस के साथ, मठ, गढ़ सारे तोड़ कर प्रवेश किया कि 'अरुण कमल' लाया जा सके। यह झील है, फैंटेसी। यद्यपि 'चाँद' का मुँह टेढ़ा है' की फैंटेसी पारिभाषिक फैंटेसी नहीं है, क्योंकि सचेत निर्मिति है; तथापि उसके मूल में तो वह है जरूर, जो (मनो) विश्लेषण से प्राप्त होगा। वैसे उसमें प्रत्यक्षतः फैंटेसी का प्राविधिक उपयोग तो किया ही गया है—विरूपण, संघनन, दिक्कालनिरपेक्षता, जादुई आच्छन्नता, मिथकीय परिदर्शन, आद्यप्रतीकत्व आदि के काव्यबिम्बात्मक प्रयोग तो किए ही गए हैं। इस प्रकार उसमें 'फैंटेसी' के अन्दर 'फैंटेसी' है। इस प्रविधि से कवि दिक् की अचल स्थिति और काल की क्रूर, अबाध गति

तोड़कर जैसे उन्हें अपनी मुट्ठियों में बाँध ले सका है और उनका अपने ढंग इस्तेमाल करने में समर्थ हुआ है। उसे अपनी समस्त कुण्ठाओं, भीतियों, ग्रणाओं को खोल कर रखने की और इतिहास-धारा पलटने की, मिथक ाण, इतिहास आदि से पात्र, घटना, प्रकरण आदि अपने इशारे पर यातित करने की स्वतंत्रता मिल गई है। वह 'स्रष्टा' हो गया है और 'चांद मुँह टेढा है' उसकी अद्‌भुत सृष्टि है। 'निराला' का विद्रोही तेवर यहाँ चढ़ाव पर है।

फैंटेसी की प्रविधि के इस्तेमाल से मुक्तिबोध के हाथों अतिमानवीय दुर्दम शक्ति आ गई। 'अज्ञेय' की कविता के मूल में, वैसे अन्यों में भी, एक शक्ति है जरूर, पर वह कारुण्यमूल, मातृत्वप्रतीक से प्रेरित, और पितृत्व-प्रतीक से अनुशासित भी रहती है। अत: संस्कार-प्रधान होती है, और जगत् का प्रतिरूपात्मक निर्माण करती है। मुक्तिबोध में वह मातृत्व-प्रतीक से अनु-प्राणित तो अवश्य है, पर उपचेतन से संश्लिष्ट, जैसे उसने वास्तव यथार्थ से युद्ध ही छेड़ दिया है। इसलिए वह 'विकृताकृति-बिम्बा' ('ग्रोटेस्क' की रचना करने वाली) हो गई है। ऐसी रचना के द्वारा संसार, काव्य और कवि, यहाँ तक कि अपने-आप से भी बदला लिया जाता है। दूसरे शब्दों में आद्यमातृका तब 'महाकाली' का रूप धारण करती है। 'चाँद का मुँह टेढा है' इस आद्यप्रतीकत्व का रूपायण है। भय, दुश्चिंता, विस्मय के साथ उसमें आकर्षण, प्रसन्नता, मुग्धता के भावों का, विषमताओं, असंगतियों और अद्‌भुत के तत्त्वों का विचक्षण गत्वर रूप मिलता है। विखंडित पितृमूर्त्ति के बिम्ब कविता के बाह्य परिधि में हैं, तो उच्छिन्न मातृमूर्त्ति के बिम्ब, जैसा कि पृष्ठ-५०६-५०८ पर उद्घाटित किया जा चुका है, केन्द्र में। सारी कविताएँ इन दोनों की विच्छिन्नता की वेदना के कर्षण से गतिशील प्रतीत होती हैं। कवि ने उन्हें 'सत्-चित्-वेदना' का काव्य माना भी है। कविताएँ रूपाकार में भी टूटी-फूटी, समाप्त हो कर भी असमाप्त रह जाने वाली, कुछ छोटी और सीमित, कुछ दीर्घ भाव-प्रसारी मालूम जो पड़ती हैं, वह इस कारण कि सपने टूटते-जुड़ते, समाप्त होते, फिर भी सिलसिला रखते चलते हैं, और स्वप्न-प्रक्रिया की प्रविधि 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में विन्यस्त तो है ही। अर्थात् रचना की अन्दरूनी माँग है कि स्वप्न-बिम्बों की तरह उनका एक साथ, अखण्ड और तत्क्षण ग्रहण-भावन किया जाय। और तब समग्रतः उसे निर्भ्रान्त रूप से 'महाकाव्य' मानना पड़ता है। वैसे भी, उसमें महाकाव्य के पृष्ठ ६३८ पर उल्लिखित गुण मौजूद हैं। काल के अनादि प्रवाह से निकल कर शून्य के अगम लोक में निरन्तराल बलते-बुझते, उलटते-पुलटते, टक्कर लेते, सृष्टि रचते, जो ब्रह्माण्डीय बिम्ब, रूपक, प्रतीक इस काव्यलोक में गत्वर हैं, वे निगूढ

और विविध-आयामी भी हैं। जो आद्यप्रतीक निरंतर आते हैं, वे भी कई स्तर —गाँधी, तिलक, तालसताय, आदि से लेकर पागल, ब्रह्मराक्षस, औरंगऊटांग, वटवृक्ष, झील-पुकार, अग्नि तक— के हैं। उसकी गहनता चेतना को ललकारती है, जिस प्रकार उसकी भाषाशैली, नाटकीय आरोहावरोह, रूपविन्यास आदि भी। इन सब के संघात से 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' वैकल्य की कविता हो गई है; उससे प्रवृत्ति—साक्षात् कर्म-चेतना, भाव-चेतना, ज्ञान-चेतना—जगती है। उसका अंतिम लक्ष्य वही है, जो सच्चे कवि का होना ही चाहिए— वियोग पर विजय; अर्थात् आदि-पिता और आद्यमातृका की विच्छिन्नता का एकाकरण, 'अस्मिता' और 'आत्मा' के बीच ऐकात्म्य लाने के लिये संघर्ष।

मुक्तिबोध की कलात्मक महिमा यह है कि फैंटेसी के अगम लोक में छलाँग लगा कर भी वे प्रत्यक्ष जगत् से कटकर अलग नहीं हो जाते। वास्तव यथार्थ अपने राजनैतिक सैद्धान्तिक-आर्थिक आदि षड्यंत्रों के साथ वहाँ भी है और उसके भी भयानक कांडों-कृत्यों के वे साझेदार हैं; वहाँ भी वे पिसते, बिलखाते, मरते हैं। फिर भी, फैंटेसी के भीतर का उनका व्यक्तित्व आश्चर्यजनक रूप से सतुलित है; वृत्ति तन्मय-ताटस्थ्य की है। रूप-विधान की जादुई ग्रस्तता को वे राजनैतिक-सामाजिक न्याय के प्रति अपने संवेदनशील और जागरूक दायित्व-बोध, कर्मण्यता और आत्मचरित्रात्मक संदर्भों के वृत्तान्त प्रस्तुत कर, तथा, इन सबसे बढ़कर, अपने ऊपर भी व्यंग्य-विद्रूप, फब्तियाँ कस कर तोड़ते भी चलते हैं। कविता के अन्दर ऐसी 'कुछ और कविता' की बुनावट से समग्र कविता सघन हुई है। यह 'कुछ और कविता' उसमें ताजगी, सचाई, और विश्वसनीयता लाती है। मुक्तिबोध ने चरितार्थ किया कि कवि रचनाकर्म में 'रचना-प्रक्रिया' भर तो होता है—रच्यमाण ही उसकी नियति हो चलता है, 'तब मानो वह एक बलि-पुरुष की तरह देवताओं का मनोनीत हो जाता है' (देखे 'अज्ञेय' पृष्ठ १५)। पर यदि वह 'आलोचना-प्रक्रिया' भी साथ-साथ होता चले, रच्यमाण नियति का भी भंजन करता चले तो उसकी कृति 'परस्परता के तनावों के निरन्तराल संग्राम' की भव्य और नश्वर प्रतिमूर्त्ति होगी। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' ऐसी ही कृति है— **मेरे भी फूल हैं तेजस्क्रिय, पर अतिशय शीतल।**

किन्तु, फैंटेसी की अमूर्त्तन की प्रविधि अपना कर और फिर, जैसा कि पृष्ठ-४१५ आदि पर बताया गया है, सामाजिक यथार्थ और आद्यप्रतीकत्व के रम्य विन्यास द्वारा उसकी विकृताकृति की एकरूपता भग्न कर भी मुक्तिबोध का बिम्ब-विधान मूर्त्तन-प्रधान हो गया है। यह मूर्त्तता कुछ ऐसी अगम, दुर्निवार है (द्रष्टव्य पृष्ठ ४५७, ४७०-४७४ आदि) कि 'महाप्राण निराला' की विप्लवी कृति हो, या कि दिनकर और 'अज्ञेय' की हुंकारती-फुत्कारती रचना हो, नई कविता हो, या नवगीत हो, या अवां गार्द युवा-कवियों की एक-से-एक

मूर्त्तता-ध्वंसक विधि-विधान वाली कविताएँ हों, सब में अपने-अपने ढंग से अमूर्त्तन→मूर्त्तन की प्रक्रिया एक लय-क्रम में गत्वर अथवा स्थित दिखाई पड़ती है। अमूर्त्तन के द्वारा अपनी ईजाद की गई प्रविधि, शैली, यहाँ तक कि अन्तर्दृष्टि और लक्ष्य से प्रतिबद्ध होना, मनोवैज्ञानिक—'रिपिटेशन मेकेनिज्म', 'कम्पलशन'–और स्वाभाविक प्रक्रिया है; कहा जाय प्राकृतिक बद्धता है (देखें पृष्ठ-४६४ भी)। कैलाश वाजपेयी ने ठीक कहा है—

लौटा तीर

पहले हम थे	घोड़े पर चढ़े हुए
अब घोड़ा	हम पर चढ़े बैठा है —तीसरा अँधेरा

व्यक्ति अपने आकार और रूप, मुद्रा और भंगिमा, लहजे और दृष्टि-कोण, परिवेश और धरती से छूट निकलना तो चाहता है, क्षितिज की गोलाई के कंधों से उड़ चलना तो चाहता है, सौर-मंडल के अगम विस्तार को चीर कर पार उतर जाना तो चाहता है, जो आद्यमातृका की कुक्षि से निकल कर 'अस्मिता' के अद्वितीयत्व और 'प्रतिभा' की निर्द्वन्द्व, निर्बन्ध्य अजेयता की ध्वजा फहराने की उसकी उत्कट जिजीविषा है, आदि-पिता सूर्य की दुर्दम ऊर्जा और चेतना की स्वाभाविक प्रतिक्रिया अथवा अभिव्यक्ति है। किन्तु आद्यमातृका और आदि-पिता की समाहित चक्रावृत्ति मे, उनकी समन्वित अनाहत लयगति से वह अपने को अजाने, निरायास आबद्ध भी पाता है। इस कारण विश्व वियुक्त होने की लालसा या प्रक्रिया को स्वाभाविक समझते है; और वियोग पर विजय पाने की अभिलाषा को चैतन्य मनस्विता, स्थितप्रज्ञता, समरसता, चित्तविश्रान्ति आदि महिमामय नाम देते है।

सृष्टि में व्याप्त आद्यमातृका और आदिपितृत्व-प्रतीक की अनाहत लय की अनुकूल, प्रतिकूल या अद्भुत प्रस्तुति से नवीन रचनाएँ फूटती हैं, और फिर वही लय उन्हे अनायास आच्छन्न और आबद्ध भी करती जाती है। इस कारण कविता में भी 'अमूर्त्तन से मूर्त्तन से अमूर्त्तन से मूर्त्तन···' की लयान्दोलित और स्वन-प्रसार की तरह उत्तरोत्तर फैलते जाने वाली वृत्ताकार प्रक्रिया दिखाई पड़ती है। इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंसेज, जिल्द–९ के सम्पादक मैक्सल्लर्नर और एडविन मिम्स बताते हैं कि—

कविता और साहित्य समाज के परिप्रेक्ष्य में संरूपों के घटक हैं, आचार-विचार, रीति-रिवाज, रूढ़ि-संस्कार आदि परम्पराओं और प्रविधियों की संघटना हैं। वे सावयविक, स्वतः विकसनशील, पूर्ण और अखंड इकाई हैं।

किन्तु वे अपने से सम्बन्धित संस्थाओं, विधि-विधानों के जीवन-वैविध्य में होने वाले आन्दोलनों और परिवर्तनों से सदा प्रभावित भी होते हैं। इस कारण अनुभव के भाषिक प्रकाशन को संगत और व्यवस्थित रूप देने के लिये उनकी विधियाँ आदि हैं। इनके द्वारा साहित्य अपने सामाजिक प्रकार्य सम्पादित करता है और भावना के धरातल पर जाति की व्यवहार-पद्धति के साथ अपनी मूल-भूत जीवन-दृष्टि का संयोग बिठाता है। वह, इस प्रकार, संस्कृति का निर्माण भी करता है और संस्कृति से ग्रस्त भी रहता है। कविता आदि का प्रयोजन है—मानवीय भावनाओं के आदि-स्रोत का उद्घाटन...जिसमें वे विशिष्ट संस्कृति की सीमाओं का अतिक्रमण भी कर जाती हैं। वस्तुतः साहित्य आदि मानव-हृदय की वैश्विक भाषा बोलते हैं। संस्कृति जो भी हो, उनके मूल प्रसंग प्रायः वे ही हैं—जन्म और मृत्यु, प्रेम और ईर्ष्या, राग और द्वेष, मिलन और संघर्ष, विजय और पराजय, यानी सामूहिक अनुभव-स्रोत। कवि इनका लगाव जैविक आधारों, मनोवैज्ञानिक विभेदों, जातीय अनुभव की आवश्यकताओं आदि से जोड़ता है। मार्के की बात यह है कि भिन्न संस्कृतियों के लोगों को भी उनके अर्थ और सौन्दर्य मग्न करते हैं। कारण यह कि वहाँ नगण्य भी जीवंत हो उठा रहता है, अमूर्त्त सूक्ष्म भी मानवीय और नाटकीय महिमा प्राप्त कर लेता है; विचार भी प्रतिमा की लौ से चमक जाता है। देवता हों या और कुछ, होमर के हों या अन्य—गुप्त, प्रसाद, अज्ञेय आदि—के वे अधिजीवित इसलिए हैं, और रहते हैं, कि मानवीकृत हैं। ..काव्यादि में समाज, संस्कृति, भाषा आदि नदी के कूल और धरातल हैं, मनुष्य का प्रवाह ही धारा है। कभी-कभी वैयक्तिकी-करण और विशेषीकरण की प्रवृत्ति के कारण कविता मूलधारा से कट-सी जाती है; दार्शनिक या वैज्ञानिक की तरह आत्मकेन्द्रित, आत्ममग्न दीखती है। बिम्ब, प्रतीक आदि असंप्रेष्य-से रचित होने लगते हैं। ये धुरी की तरह स्थिर होते हैं। इस सूक्ष्मीकरण के फलस्वरूप, फिर बर्बरीकरण की प्रक्रिया की जरूरत पड़ती है। नये अनुभव-क्षेत्र की ओर, मिट्टी की ओर, लोक-कथा, लोक-चेतना के रम्य आदि-स्रोत की ओर प्रयाण किया जाता है। मिथकों के द्वार खुलते हैं, प्रकृति का उत्फुल्ल रूप खिलने लगता है; भोली और नेक वन्य जातियों के रूप, गुण, व्यवहार विन्यस्त होते हैं। आदिमता आती है—वीरमुद्रा, शिशुसहजता, पशुनिःसंगता, पुराकालीन-व्यवहार-प्रणाली, खुला यौनाचार आदि पुनःबर्बरीकरण की प्रक्रिया के पदनिक्षेप हैं।...सारांशतः मूल प्रसंग, वर्ण्य विषय, विधि, भाषा-माध्यम और कवि-दृष्टि, वृत्ति, कर्म आदि पर विचार करने पर सभी क्षेत्रों में द्विध्रुवीय दोलन की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है—धार्मिकीकरण, आध्यात्मिकीकरण, दैवीकरण और मानवीकरण के साथ लौकिकीकरण, जादुई वशीकरण, पाशवीकरण और चेतनीकरण की; मानववाद के साथ आत्म-वाद को, शास्त्रीयता के साथ आदिम और वन्य स्वच्छन्दता को, शालीन-शब्द प्रयोग के साथ ग्राम्य, देश्य भाषा-व्यवहार को।

पिछले पृष्ठ ३८४-३८५ पर नीत्शे के द्वारा बताई गई अपोलोनियन और डायोनिसियन प्रवृत्तियाँ, वॉरिंगर के द्वारा निर्दिष्ट पृष्ठ-४५६ पर उल्लिखित भावतादात्म्य (सहअनुभूति) और ताटस्थ्य-प्रधान सूक्ष्मीकरण की वृत्तियाँ, उसी भाँति विलियम जेम्स के द्वारा प्रकल्पित रूक्ष और कोमल मानसिक वृत्तियाँ, युङ्ग की अन्तर्मुखी और बाह्योन्मुखी अन्तर्वृत्तियाँ तथा आधुनिक समाजशास्त्र की विवेकीकरण और अविवेकीकरण की प्रवृत्तियाँ दृष्टि-भेद से वही बात कहती हैं, जिसे ऊपर आत्मकेन्द्रिकीकरण और पुनर्बर्बरीकरण के द्विध्रुवीय दोलन के द्वारा बताया गया है। यदि छायावादी कवि, अज्ञेय और नई कविता के कुछ कवि आत्मकेन्द्रिक माने जायँगे, तो सामाजिक अन्याय से प्रताड़ित, अतः विखण्डित पितृत्व-प्रतीक से परिचालित मुक्तिबोध में, अ-कविता के अनेक कवियों और पृष्ठ-५९०-५९३ पर उल्लिखित अविवेकवादी युवा-कवियों में भी पुनर्बर्बरीकरण की प्रवृत्ति दीखेगी। निश्चय ही दोनों प्रतिपूरक हैं। सीधी बात यह कि मनुष्य और कलाकार आद्यमातृका, यानी धरती की प्रवृत्ति के कारण मूर्त्तनप्रधान और आद्यपितृत्वप्रतीक सूर्य के कारण अमूर्त्तन या सूक्ष्मीकरण की वृत्तियों से अनायास परिचालित रहते हैं। भारतीय मनीषा ने इन दोनों प्रवृत्तियों को 'स्वस्तिक प्रतीक' में, जैसा कि पृष्ठ ७०-७१ पर संकेतित किया गया है, समाहित किया है। स्वस्तिक पृथ्वी और सूर्य के कर्षण की निरन्तरता का, सूर्य की उदय-अस्त की चक्राकार गति और तज्जन्य वैश्विक व्यवस्था, अभ्युदय, निःश्रेयस् और कल्याण-भाव का तथा उर्वरता का प्रतीक माना गया है (देखें डॉ० ए० मेकेंजी: क्रीट ऐंड प्रिहेलेनिक युरप, पृष्ठ–२३७, एव मैन इन इंडिया, बारहवीं जिल्द, पृष्ठ ५९, ८३, ८७, १४१, १४२)। कविता में वस्तु का वस्तुत्व, पात्रादि की वैयक्तिकता, समाज की व्यवहार-पद्धति, संस्कृति का ऊपरी धरातल, जातीय अनुभवों की तात्कालिकता, रूढ़ि और परम्परा, प्रकृति का यथार्थ प्रकृतरूप, ऐन्द्रिय राग और प्रस्फुटन, शब्द और समरूप नाद आदि समभौमिक पड़ी रेखा हैं। वे काव्यबिम्ब के बुनियादी और प्राथमिक आधार हैं। यही आद्यमातृका है। अंतिम लय-रूप में अंधकार, रात्रि, प्रकृति और प्रतिभा-रूप में सृष्टि-विकास, दिन, प्रकाश इसीके अमूर्त्त-मूर्त्त दो पक्ष हैं (देखें पृष्ठ ७-१२)। वाक्-तत्त्व के रूप में यह उसी की वाणी है—

> जो मेरा साक्षात्कार करता है, मुझको अनुप्राणित करता है, मेरे वचन सुनता है, वह अन्न का उपभोग करता है।
> देव और मनुष्य मेरी उपासना करते हैं, मेरा आश्रय लेते हैं, मेरा उपयोग करते हैं।

मैं दया-दृष्टि से जिसे चाहता हूँ उसे उग्र बनाता हूँ, ब्रह्म बना देता हूँ,
ऋषि,, प्रतिभाशाली बना देता हूँ।
मैं ब्रह्मद्वेषी के लिए रुद्र को शक्ति-सम्पन्न करता हूँ, मानव-समाज को आनन्दयुक्त करता हूँ
आकाश और पृथ्वी में सर्वत्र व्यापक हूँ-
मैं ही वायु के तुल्य सर्वत्र गतिशील हूँ, समस्त विश्व का उत्पादक हूँ;
मैं द्यु लोक और पृथ्वी से परे हूँ, अनन्त महिमा के साथ सर्वत्र विद्यमान हूँ।

कवि उसका साक्षात्कार करता है; उसको अनुप्राणित करता है। तब कवि की प्रतिभा की सूर्यरश्मि से प्रस्फुटित होकर वह अभिनव अर्थों का उन्मीलन, नव-नव रूपसंस्थानों की सृष्टि करने लगती है। उसकी प्रतिभा कवि को सम्पन्न करती और कवि की प्रतिभा उसे समृद्ध करती है। मानव-जीवन पर होने वाले सामाजिक-वैश्विक परिवर्त्तन के कारण कवि उग्र होता है, ब्रह्म-द्वेषी बनता अर्थात् मनुजता के अन्यायियों के लिए रुद्र-रूप धारण करता है—यथा पृष्ठ-३६१-६७ और ५६०-५६२ पर बताए गए कवि भी। तो इसके साथ ही वह मानव-समाज को आनन्द भी प्रदान करता है। कभी कवि-सृष्टि मूर्त्तता-प्रधान होती है, कभी यथावश्यक अमूर्त्तता-प्रधान। मूर्त्तता आद्यमातृका से संबंधित होने के कारण यद्यपि अधिक बुनियादी और शक्तिशाली है, तथापि मूर्त्तता, और आद्यमातृका भी, वाक् की भांति 'द्यु लोक और पृथ्वी से परे' अर्थात् अगम, अनादि, अनंत हैं, और मूलतः अरूप भी। लोक-चेतना जब विशृंखल, विसंगत, न्याय और सत्य की भावना से विच्छिन्न होती है, तो पितृत्वमूलक 'प्रौढ़ विवेकी' जगता है और अमूर्त्तन की, फैन्टेसी की प्रवृत्ति जोर पकड़ती है (देखें पृष्ठ-६७-६८ और २१७-२१८)।

कवि अपनी प्रतिभा के कारण, और फिर वाक्-तत्त्व की प्रतिभा से अनुप्राणित होने के भी कारण, सामान्य जन से अधिक शक्ति रखता; और व्यय भी करता है। जीवन-जगत् के दृश्यों का, घटनाओं-दुर्घटनाओं का वह तटस्थ द्रष्टा ही नहीं होता, साक्षात् अथवा भावात्मक भोक्ता भी होता है; कभी-कभी स्रष्टा और विधाता भी। रच्यमाण को वह अर्पित तो होता है, परन्तु साथ ही साथ उससे जूझता भी रहता है। उसकी रचना उससे अधिक शक्ति-व्यय की माँग भी करती है। जीवन-शक्ति के अधिक स्रोतों से वह उसे सींचता-पालता है। यह आत्मदान उसकी मुक्ति है। उसमें काँपती-बलती अनुभूति जब काव्यबिम्ब के रूप में सृष्ट होकर प्रकट होती है, तो वह अनुभूति की भी मुक्ति है। अब वह लोक-जीवन के लिए प्रकाश की उछलती हुई किरण (पृष्ठ-७८), अक्षय लौ होती है; समाज की यज्ञाग्नि के लिए अग्नि-शिखा भी होती है। युग-जीवन को

कवि-रचित परिदर्शन, बिम्ब आदि मे अपनी भावनाओं, सपनों और आकांक्षाओ के दर्शन मे प्रत्यभिज्ञान का आनन्द मिलता है, बद्धताओ, वर्जनाओं, भीतियो से मुक्ति मिलती है। व्यक्ति और युग को मानसिक सतुलन प्राप्त होता है। वाक् की मुक्ति आद्यमातृका और पितृत्वप्रतीक के मिलन के चरम, मुक्त क्षण मे ही होती है।

काव्यबिम्ब से जिस मुक्ति की प्राप्ति होती है, (देखें पृष्ठ-५३६) वह मोक्ष तो है, पर कैवल्य नहीं है। वह कली का वृत्त पर प्रस्फुटन है, सौरभ का मुक्त प्रसार है, नदी का सागर में, व्यक्ति का समष्टि में महत्तर होना है। कविता में शब्द शब्दत्व से मोक्ष पाकर नि.शब्द नही होता; अपितु अपने शब्दत्व के उत्कर्ष को, अर्थविभुता को प्राप्त करता है; अपनी चरम महिमा मे चैतन्य होकर किसी विराट् अन्विति मे समर्पित रहता है। कला 'माध्यम' मे रह कर 'माध्यम' पर विजय होती है, काव्य तो और भी (द्रष्टव्य पृष्ठ-७०)। इसलिए काव्य मे 'वाक् द्वारा वाक् से उत्तीर्णता' (पृष्ठ-१५ पर) मनोज्ञ बताई गई है। सारांश यह कि काव्यबिम्ब अपनी ऐन्द्रियता, मूर्त्तता, ऊर्जिता मे भास्वर तो होता है, पर वृहत्तर से अन्वित भी रहता है। ऐसी ही प्रवृत्ति उसकी, कवि की और आस्वादक की भी मुक्तता की होती है (देखे पृष्ठ-५६, ७०,७८, ८२, ६६, १०८, ३२३, ४७२ आदि)।

तो, भविष्यत्काव्यबिम्ब कैसा होगा ?महर्षि अरविन्द ने 'भविष्यत् काव्य' (आलोचना-अंक ८) के सम्बन्ध में बताया है कि वह मन्त्र-प्रकृति का होगा—

> 'पुरुष और प्रकृति के गूढ़तम सत्यों के साक्षात्कार से समन्वित प्रेरणा, अवतरण और परिदर्शन वि्हजन) से युक्त चितन की वाणी...' कविता होगी। इस नये मंत्र-काव्य की नयी काव्यदृष्टि अतीत की भाँति जीवन से दूर, रहस्यमयी अस्पष्टता से युक्त, अन्तर्मुखी और हमारे ऐन्द्रिय अस्तित्व से विमुख न होगी; वरन् दिव्यताओं को धरती के निकट खींच लाने का प्रयास करेगी। फिर धरती से हमारे किसी प्रकार के वैराग्यवादी नकारात्मक संघर्ष शेष न रहेंगे। एक चेतना, जिसमें समग्र जीवन आश्रय पायेगा, क्योंकि वह समग्र जीवन से अधिक व्यापक होगी, इस नयी कविता का नया काव्य-सत्य बनेगी जिसमें हम अपनी समग्र शक्ति से अस्तित्व धारण करेंगे।

इधर के कवियों, खासकर अज्ञेय, माथुर, मुक्तिबोध, शमशेर, विजयदेव नारायण, भवानीप्रसाद मिश्र, माचवे, भारती, कुँवर नारायण, केदारनाथ, जगदीश गुप्त, सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी, श्याम परमार आदि ने एवं अनेक युवा-कवियों ने भी जो धर्मादि-निरपेक्ष, जातीय संस्कार-मुक्त,

निर्भाषिक स्तर की अन्तर्महादेशीय कविताएँ रची हैं, समग्रतः वे मानव जीवन से अधिक व्यापक हैं; क्योंकि उनमे एक शुद्ध चेतना है। वैराग्यवादी नकारात्मक तत्त्व उनमे निःशेष हो गया है। वे जीवन से घने रूप मे सम्पृक्त हैं और ऐन्द्रिय अस्तित्व से विमुख नहीं हैं। यद्यपि बाहर-बाहर से वे तार्किक तेवर की लगती है, तथापि अन्दर म वे मातृत्व-मूलक वैकल्य के गहरे तल को छू लेती हैं। उनमे शुद्धता, सहज स्पर्शिता, समावेशिता है; मिथ्या कविताई नहीं है। कलाओं का उनमें अन्तर्मिलन है; राजनीति और तंत्र उनमें वर्ज्य नहीं, जीवन की भाँति स्वीकृत है। उनमें मनत्व की सम्पन्नता और सह-अनुभूति द्वारा त्राण की भी विशेषताएँ हैं, (द्रष्टव्य पृष्ठ ३२०-३२१ और ३७३, टिप्पणी-६८)। अतः महर्षि अरविंद की वाणी चरितार्थ होती मालूम पड़ती है। आधुनिक काव्यबिम्ब जैसे कह रहे हैं—

मै तुम्हे निमंत्रित करता हूँ
कि मेरे साथ इस कल्पित खिडकी तक आओ
और ठंढे कॉच की इस दीवार को
होंठों से छुओ
यह स्पर्श तुम्हे परिशोधित कर देगा
ऊँचे शिखरों की हवा की तरह।
खिडकी के पार तुम्हे अपनी ओर तकती हुई
दो आसमान-सरीखी आँखें दीखेंगी
और जैसे-जैसे तुम नीचे से ऊपर टटोलते हुए
दीवार सहारे उठोगे
वे आखें तुम्हारे साथ उठेंगी।
अब तुम वापस चले जाओ
और नीची निगाहों से इस बन्द कमरे में खिले हुए
नाजुक फूलों, सफेद सीपियों और सदाबहार पत्तियों के बारे में विचारते रहो।

—विजयदेव नारायण साही : मछली घर

तब जिज्ञासु का प्रश्न तो हो ही सकता है—इससे आगे की कविता की प्रवृत्ति क्या होगी? कवि कैसे बिम्ब रचेंगे· ·?

—जी, तो ···पते की बात यह कि किसी पहुँचे हुए प्राचीन मसखरे ने एक पते की बात बताई है : पुरुष का भाग्य और त्रियाचरित्र दैव नहीं जानता, फिर मनुष्य क्या जानेगा? इसलिए कवि और कविता के सम्बन्ध में आखिरी बात यही कही जा सकती है कि आखिरी बात कभी कही जा नहीं सकती।···

—तो इतनी सारी बात···!

—जी, वह तो शुरू की बात-भर हुई! क्योंकि आज, यानी अभी तो—

कुहरे में डूब गए हैं कुछ तारे
धूल में पडे हैं
कुछ शब्द,
उठाओ, उन शब्दों को उठाओ,
क्रांति की प्रतीक्षा करती हुई
जनता सो गई है!
अमूर्त! कितनी अमूर्त है, कविता!

श्रीकान्त वर्मा : जलसाघर

कृपया सुधार लें

छापे की अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ इस पुस्तक में रह गई हैं। उनमे से निम्न गलतियाँ तो कठिनाइयाँ भी पैदा करेंगी। उन्हें कृपया ठीक कर लेंगे।

पृष्ठ	पंक्ति	गलत	ठीक
२१	११	कृति माना है[८]।	कृति माना है।[७]
२१	१६	'शिल्प' तत्व हैं।	'शिल्प' तत्व है।[८]
२२	४	सौन्दर्य	सौन्दर्य को
२३	१८	लका	कला
३४	१०	वह	सो
३४	१२	अवच्छिन्न	विच्छिन्न
३४	१८-१९	तनुमनस्क	विमनस्क
५१	६	ऋतु, काम	ऋतु, समय
५९	१२	/कोन्मुखता	/एकोन्मुखता
६६	२६	रूप लय मे करता	रूप आकारादि को कालगत क्रमस्थापन-रूप लय में विलीन करता
८०	६	निष्फल	निष्कल
१०१	२६	अर्थग्रहीताओ	अर्थगृहीताओं
१०७	२७	काव्यादि	काव्यादि के
११९	७	शब्द को	शब्द की
१२१	१	हो चुका है, कि वह जटिल	विचारणा जटिल
१४१	१६	आस्वादक को एक	आस्वादक को समान
१५९	१६-१८	३-शब्दानुकूलता	३-शब्दानाकुलता
१६३	२६	शब्दानुकूलता	शब्दानाकुलता
१६४	१	अनुकूल	अनाकुल
१९५	१५	जिनी	निजी
२३१	१५	लैप्टो	प्लैटो

पृष्ठ	पंक्ति	गलत	ठीक
२०४	५	स्वस्थ्य	स्वस्थ
२४५	१८	कर्म	काम
२६६	२२	चलता है	चलते है
२७२	११	स्वध	स्वत:
२६७	१६-२२	व्याकरणिक	वैयाकरणिक
२६८	१६	यहीं	नहीं
३११	१५	बन	बुन
३१६	२८	पड़ते	पड़ती
३१७	१०	तुक है	तुक-प्रयोग है
३२१	२	मंत्ररूपता है।	मंत्ररूपता है।[६८]
३२५	१	सम्मेलन	सम्मिलन
३२८	२	चाकत्कारिक	चामत्कारिक
३३८	२५	अप्रासंगिक	अप्रासंगिक को
३५२	२-१६	त्रिज्या	तिर्यक्
३५५	१७	उन्नाय	उन्नायक
३५७	२१	बनाया	बताया
३५८	२६	जैस्पर्स	यास्पर्स
३५६	७	जस्पर्स	यास्पर्स
३६५	१	माली देना	गाली देना
३७०	५	कृति	कृती
३७०	६	लय-संस्यास	लय-संस्थान
३८५	३	की, भारत	की। भारत
३८५	१६	उसे होगी	उसे होना
३८६	२६	तथा था	था, तथा
३६०	७	प्रयोग द्वारो	प्रयोग द्वारा
३६६	१३	प्रकृति का	प्रकृति की
३७६	२६	लिट्ब	लिट्ल
४०५	४	बिम्य	बिम्ब
४०७	३	विषय की	विषय को

पृष्ठ	पंक्ति	गलत	ठीक
४२०	८	मोहक	मोहक है
४२२	३२	वैचिव्य, गध्य	वैविध्य, गद्य
४४३	२७	'सहिता'	'सहितता'
४४६	११	व्यस्ता	व्यस्तता
४५६	२३	ने हीगेल में	में हीगेल ने
४६७	१८	और और	और उसकी
४६९	२१	परिमित	परिमिति
४७७	१२	खाल चला	खोल चला
४७७	१५	लाल रीन	लाल रिबन
४७७	२१	निबीडता	निविड़ता
४७९	३०	शेरेशेवस्की	शेरेशेवस्की की
४९९	२	ईडियस	ईडिपस
५१६	२७	समन्वित	समन्विति
५२१	४	सवेदनशील	सवेदनशीलता
५२५	३	स्तोक	स्तवक
५३८	२३	विद्वाम्	विद्वान्
५४०	१५	नियमो	नियम
५४२	३४	कल्पनीय	अकल्पनीय
५४३	२५	उत्पन्न करने	उत्पन्न होने
५५१	२४	सम भी) के	सम के भी)
५५३	३२	खर	स्वर
५५४	३४	कविल	कविता
५५४	३८	तो होना	तो उसे होना
५५९	४	सम्बोधित	सम्बोधित
५७४	२९	रस्यहवादी	रहस्यवादी
५९८	१६	जातने	जानते
५९८	१७	है, क्षेत्र भी होते है।	है—
६०६	१०	कथन उपर्युक्त 'भूषण' की भरत की	कथन भरत की

पृष्ठ	पंक्ति	गलत	ठीक
६०८	१६-१७	'हफैश' है)	फ्लैश। है
६५१	३६	आधुनातन	अधुनातन
६५६	३१	सर्प की	सर्प को
६७७	१४	तिरीभावी	तिरोभावी
६६७	१६	डा० नागेन्द्र	डा० नगेन्द्र
६६७	२२	बाह्य अनेक	अनेक
६७७	२३	वेदना, जीवन	वेदना, बाह्य जीवन
६९१	३१	निमित	निर्मित
६९९	१०	औेर	और
७००	३०	बर्ण्ण	वर्ण्य